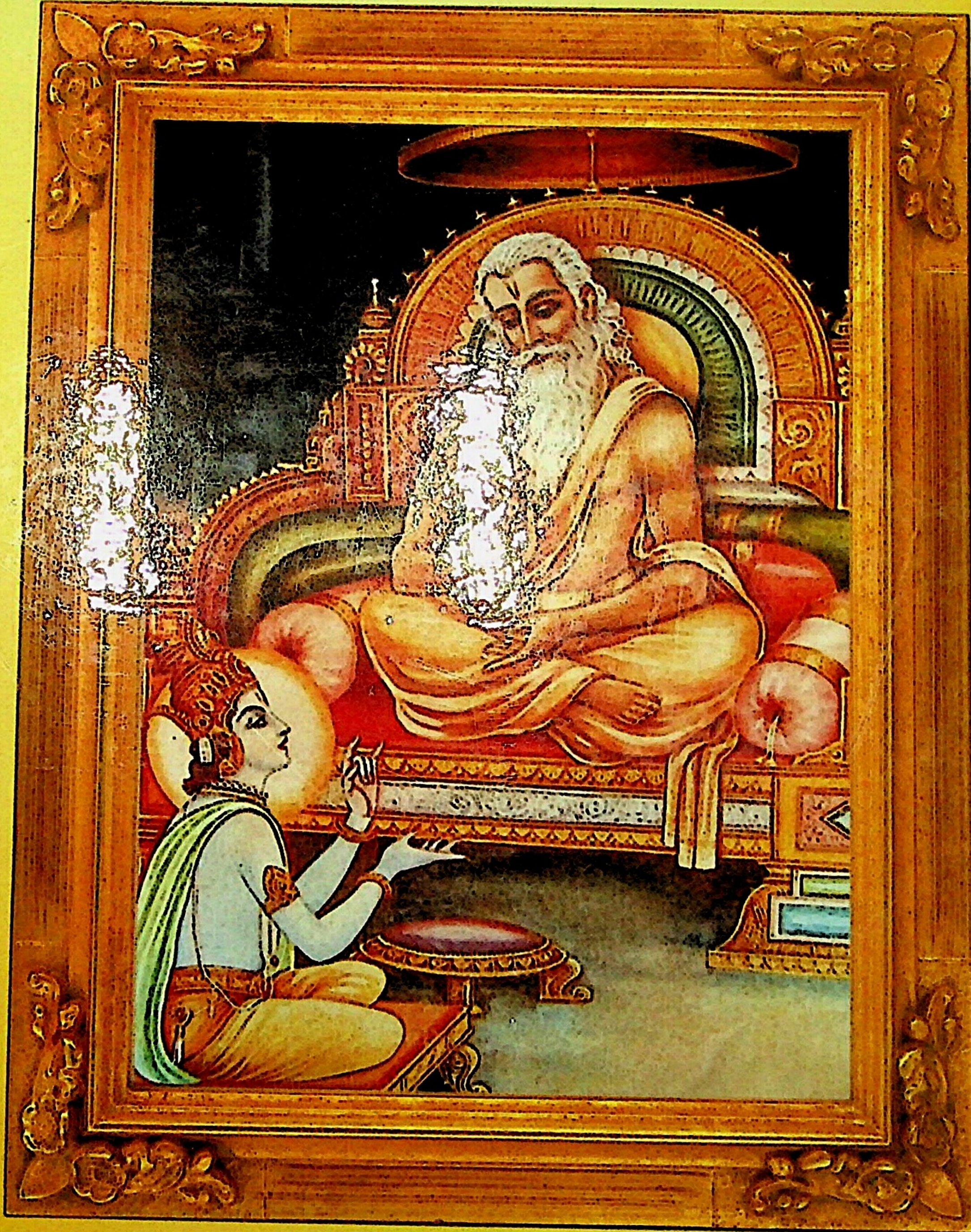
श्री योगवासिष्ठ महारामायण

भाग-३



श्री योग वेदान्त सेवा समिति, संत श्री आसारामजी आश्रम,
संत श्री आसारामजी बापू आश्रम मार्ग, अमदावाद-३८०००५.

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

भाग-3

(निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध और निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध सर्ग : ३८ तक)

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद



संपर्क : श्री योग वेदान्त सेवा समिति

संत श्री आसारामजी आश्रम

संत श्री आसारामजी बापू आश्रम मार्ग, अमदावाद-380005. फोन : (079) 27505010-11.

आश्रम रोड, जहाँगीरपुरा, सूरत-395005. फोन : (0261) 2772201-2.

वन्दे मातरम् रोड, रवीन्द्र रंगशाला के सामने, नई दिल्ली-60.

फोन : (011) 25729338, 25764161.

पेरूबाग, गोरेगाँव (पूर्व), मुंबई- 400063. फोन : (022) 26864143-44.

E-Mail : ashramamd@ashram.org Web-Site : www.ashram.org

Owned by : Mahila Utthan Trust

रु. 111.00

श्री योगवासिष्ठ महारामायण विषय-सूची

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

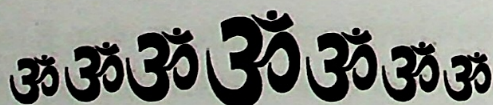
भाग-३

विषय सूची — II से XII तक

निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध

योगवासिष्ठ निर्वाणप्रकरण भाषानुवाद में पूर्वार्ध समाप्त

निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध



॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध

पहला सर्ग

मुनिवचन से श्रोताओं का उत्थान, उनकी आह्निकी क्रिया तथा
सुने गये विषयों का चिन्तन एवं निद्रा से रात्रि का यापन - यह वर्णन।

सबसे पहले पूर्व प्रकरण तथा उत्तर प्रकरण की हेतुतासंगति का सूचन कर रहे महर्षि वक्तव्य विषय की प्रतिज्ञा करते हैं।

महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा (📖) : भद्र, उपशम-प्रकरण के अनन्तर अब इस निर्वाण-प्रकरण का श्रवण कीजिए, जो कि ज्ञात हो जाने पर मोक्षरूप फल देता है ॥१॥ एकमात्र प्रस्तुत कथा का ही अवलम्बन करके प्रतिज्ञात अर्थ का वर्णन करनेवाले महर्षि उपशम-प्रकरण के उपदेश के बाद दशरथ-सभा में जो वृत्तान्त हुआ, उसे कहते हैं। जिस समय महाराज वसिष्ठ उस प्रकार के गम्भीर अर्थ के प्रतिपादक वचन कह रहे थे, उनके एकमात्र श्रवण आनन्द में विभोर होकर श्रीरामचन्द्रजी मौन होकर अवस्थित थे, महामुनि वसिष्ठजी की वाणी और उससे प्रतिपादित अर्थों का मन में धारणकर राजे लोग, जिन्होंने मानसी तथा बाह्य पदार्थों का दर्शन और शारीरिक चेष्टा का परित्याग कर दिया था, निश्चेष्ट होकर चित्रार्पित की नाईं अवस्थित थे, महामुनि वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट वाक्यों का बड़े आदर के साथ ऊपर उठाई गयी तर्जनी (उँगली) के विलक्षण अभिनय तथा भ्रूभंगपूर्वक श्रोता मुनिगण विचार कर रहे थे, परम आश्चर्यमय प्रत्यगात्मा के अवलोकन में अतिहर्ष के कारण विकसित नेत्ररूपवाला ललनाओं का समूह जब पुष्परसास्वादन में आसक्त भौंरों से युक्त कम्पन और शब्द से शून्य तरुमंजरीस्वरूपता प्राप्त कर रहा था, आकाश में जिस प्रदेश में दिवस का अवशिष्ट चतुर्थभागमात्र

(📖) उत्पत्ति, स्थिति और उपशम नामक पहले के तीन प्रकरणों से उत्पत्ति, स्थिति और लय के बोधक तथा 'अथात आदेशो नेति नेति' (सत्यस्वरूप के निर्देश के अनन्तर अब 'न, न' यों ब्रह्म का निर्देश किया जाता है) इत्यादि समस्त प्रपंच के निषेधक वेदान्त वाक्यों का अध्यारोप अपवादन्याय से आत्मतत्त्व के व्युत्पादक होने के कारण वासनाक्षय और मनोनाशपर्यन्त ज्ञान के द्वारा परमपुरुषार्थ में ही तात्पर्य है, यह बतलाया गया। अनन्तर अब 'यत्र नान्यत्पश्यति.', 'यतो वाचो निवर्तन्ते', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वम्', 'निष्कलं निष्क्रियम्' इत्यादि श्रुतितात्पर्यसिद्ध तथा पूर्वोक्त समस्त साधनों से प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञान के फलभूत मोक्ष के व्युत्पादनार्थ निर्वाणनामक प्रकरण का श्रवण कराने के लिए भगवान वाल्मीकि उपक्रम करते हैं।

लक्षित हो रहा था, उस प्रदेश में मानों वसिष्ठोपदेश का श्रवण करने के लिए सूर्य भगवान अवस्थित थे, इसी से वे मानों कुछ ज्ञानोदय से सौम्य यानी दृष्टिप्रिय और कुछ ताप का उपशम मानों प्राप्त किये हुए प्रतीत हो रहे थे। मुनि उक्त अर्थ के श्रवण के हेतु कुसुमवितानों के संस्पन्द से मालित (मालायुक्त) इसलिए मन्दार की मधुर सुगन्ध देनेवाला पवन मौन होकर बह रहा था, तत्त्वज्ञान हो जाने के कारण मानों उत्तम ध्यान कर रही बड़े-बड़े भ्रमरों की पंक्तियाँ पुष्पपंक्तियों के ऊपर सो रही थीं। मुक्तामय जालाकार (सरोवर के मोतियों की जाल के आकार के) वेष्टनों के मध्यस्थ भूमिप्रदेश में जल श्रवण के लिए मानों उत्कण्ठा से स्पन्दरहित होकर मुक्ता आदि की प्रभा से प्रकाशित हो रहा था, देशतः और कालतः अपरिच्छिन्न आकाशमार्ग की पथिक, चिरकालिक दीर्घ प्रवास से श्रान्त सूर्यरश्मियाँ शीतल घर के अन्दर (श्रवणशाला में) विश्राम के लिए छोटी खिड़की के मार्ग में प्रविष्ट हो रही थीं। शान्त हो रहे मोतियों के समूहों के प्रभाजालमय भस्म से धूलितस्वरूप श्रवणशाला के अन्दर प्रविष्ट तपस्वीरूपी दिवस के शरीरभूत सूर्य के प्रकाश अपने भीतर मानों शान्तिगुण सूचित कर रहा था, राजाओं के हाथों में तथा सिर के ऊपर लगाये गये लीला-कमल उत्तम रस से परिपूर्ण वसिष्ठजी के उपदेश को सुनकर आनन्द के आविर्भाव से श्रोताओं के मनों की नाईं मानों मिलने को उद्यत हो रहे थे, अज्ञानी बालकों को तथा पिंजड़े में स्थित शुक आदि पक्षियों को आदरपूर्वक भोजन देने के लिए स्त्रीजन त्वरित हो रहा था, चक्कर काट रहे भ्रमरों के पंखों से उत्थित वायु से उड़ाई गयी थोड़े विकास से युक्त कमुदसम्बन्धी धूलि चामर और आँख की बरौनी (पलकों के आगे के बाल) पर भली प्रकार चारों ओर विश्रान्त हो चुकी थी, पर्वतों की गुफाओं से निकले हुए छायासमूहरूपी अन्धकार के भय से मानों उड़ कर छोटी खिड़की के द्वारों में आश्रय के लिए सूर्यरश्मियाँ घर के भीतर प्रविष्ट हो रही थीं, उस समय दिन के चतुर्थभाग का सूचन करने में तत्पर दिशाओं के मुखों को पूर्ण कर देनेवाली नगारे, ढोल और शंख की ध्वनि हुई ॥२-१६॥ उक्त ध्वनि से मुनि वसिष्ठजी का उन्नत स्वर भी उस प्रकार तिरोहित हो गया, जिस प्रकार मेंघों के नाद से मयूरों का शब्द ॥१७॥ उस ध्वनि से पिंजड़ें में स्थित पक्षी क्षुब्ध पंखों से युक्त होकर चारों ओर से उस प्रकार क्षुब्ध हो गये, जिस प्रकार भूकम्प होने पर वेगपूर्वक तालपल्लवों से युक्त वनपंक्तियाँ चारों ओर से क्षुब्ध हो जाती हैं ॥१८॥ उस समय भय से त्रस्त हुए बालक धात्रियों के स्तनमध्य में रोदन शब्दपूर्वक ऐसे लिपट गये, जैसे वर्षाकालीन मेघ उन्नत शिखर के कोटर में लिपट जाते हैं ॥१९॥ क्षुब्ध हुए प्रवाह से युक्त नदियों से जैसे जलकण उड़ते हैं, वैसे ही उस ध्वनि से राजाओं के शिरोभूषणों से पुष्पधूलि से गौरवर्ण भ्रमरों की परम्पराएँ उड़ने लगीं ॥२०॥ उस प्रकार महाराज दशरथ के घर के प्रक्षुब्ध होने पर, चतुर्थ वय में दिवस के प्राप्त होने पर तथा धीरे-धीरे शंखध्वनि के शान्त होने पर प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए मुनियों में सिंहरूप महाराज श्रीवसिष्ठजी सभा के बीच में श्रीरामचन्द्रजी से मधुरवृत्तिवाले वचन कहने लगे ॥२१,२२॥

हे निष्पाप राघव, मैंने जो यह आपसे वाग्जाल यानी तत्त्वोपदेश के रूप में जो वचन कहे हैं, उनसे चित्तरूपी पक्षी को बाँधकर तथा हृदय में रोककर आत्मरूपता प्राप्त कीजिए ॥२३॥ श्रीरामजी, मेरी वाणी के इस प्रकार अविनाशी अर्थ का आपने क्या उस तरह ग्रहण किया, जिस तरह हंस जल से यानी दूध से मिश्रित जल में से जल का परित्याग कर दूध का ग्रहण करता है ॥२४॥ हे साधो, इसका अपनी

बुद्धि से आद्योपान्त बार-बार विचार कर इसी मार्ग से यानी पहले उपदिष्ट वासनाक्षय, मनोनाश, प्राणनिरोध तथा ज्ञानाभ्यासरूपी मार्ग से ही अब आपको जाना चाहिए ॥२५॥ श्रीरामजी, इस बुद्धि से (वृत्ति से) विहार कर रहे आप कभी भी बद्ध नहीं होंगे। यदि इस वृत्ति का परित्याग कर आप अन्य मार्ग से व्यवहार करेंगे, तो उस प्रकार आपका अधःपतन हो जायेगा, जिस प्रकार विन्ध्याद्रि के गर्त में हाथी का अधःपतन होता है ॥२६॥ श्रीरामभद्र, जैसे दीपक को त्यागनेवाला तथा अन्धपुरुष रात्रि में गर्त में गिर जाता है, वैसे ही बुद्धि से गृहीत मेरे अर्थ के अनुसार कार्य नहीं करोगे तो अवश्य ही आप नीचे गर्त में गिर जाओगे ॥२७॥ हे भद्र, मेरे द्वारा कथित अर्थ की सिद्धि के लिए आपको असंग होकर यथा प्राप्त यानी समयानुसार प्राप्त हुए व्यवहार का परिपालन करना चाहिए, समस्त शास्त्रों के परम तात्पर्यविषय सिद्धान्त का मन में दृढ़ीकरण करके आप उदारवान यानी अपरिच्छिन्न आत्मबोध से सम्पन्न हो जाइए ॥२८॥ हे सभ्यगण, हे महाराज दशरथ, हे श्रीरामजी, हे लक्ष्मण तथा अन्यान्य नृपवर्ग आप सभी आज अपने-अपने आह्निक कर्मों का (संध्या वंदन का) अनुष्ठान करें, क्योंकि प्रायः आज का दिन समाप्त होने जा रहा है, अब जो अवशिष्ट विचार है, उसका, जब आप प्रातःकाल सभा में आयेंगे, तब हम लोग विचार करेंगे ॥२९,३०॥ श्री वाल्मीकिजी ने कहा : महर्षि वसिष्ठ महाराज के द्वारा इस प्रकार संबोधित की गई वह सभा उठ खड़ी हुई, समस्त सभा का वदन पद्म की तरह था, अतएव वह विकासयुक्त कमलिनी के सदृश भली मालूम पड़ती थी ॥३१॥ अन्यान्य राजाओं ने महाराज दशरथ की स्तुति की, श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार किया तथा महर्षि वसिष्ठजी की खूब स्तुति की, अनन्तर वे अपने-अपने आश्रम में चले गये ॥३२॥ आकाशचारी देवताओं से वंदन किये हुए महाराज वसिष्ठजी विश्वामित्र महर्षि के साथ आश्रम जाने के लिए आसन से उठे ॥३३॥ दशरथ आदि राजे तथा मुनि लोग अपने अनुरूप उपदेष्टा मुनि वसिष्ठजी के पीछे-पीछे आश्रम पर्यन्त जाकर उनकी आज्ञा लेकर कोई आकाश की ओर, कोई अरण्य की ओर, कोई राजमन्दिर की ओर कमल से उत्थिर भ्रमरों की तरह चले गये ॥३४,३५॥ महर्षि वसिष्ठजी के चरणों में निर्मल पुष्पों की अंजलि समर्पण करके महाराज दशरथजी, भार्याओं से अनुगत हो, अपने राजमहल के भीतर प्रविष्ट हुए ॥३६॥ श्रीरामभद्र, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न अपने आश्रम में प्राप्त गुरुजी के चरणों की भक्तिपूर्वक पूजा करके दशरथ के मन्दिर की ओर आ गये ॥३७॥ अपने स्थान में आकर उन सब श्रोताओं ने स्नान किया, देवता और पितरों की पूजा की तथा विप्र और अतिथियों के अभिमुख हुए यानी अभिगमन आदि से पूजन के लिए उनका स्वागत किया ॥३८॥ इन क्रियाओं से निवृत्त होकर उन श्रोताओं ने ब्राह्मण आदि से लेकर नौकर पर्यन्त अपने-अपने परिवारों के साथ वर्ण-धर्म के क्रमानुसार भोज्यपदार्थों का भोजन किया ॥३९॥ दैनिक क्रियाओं के साथ सूर्य भगवान के अस्ताचल की ओर प्रस्थान करने पर तथा रात्रिक्रियाओं के साथ चन्द्रमा के उदित होने पर रेशमी चादरों से युक्त शय्याओं पर तथा आसनों पर बैठकर भूमि पर विहार करनेवाले मुनि, राजे, राजपुत्र तथा महर्षि लोग अत्यन्त आदरपूर्वक वसिष्ठ महर्षि के वदनकमल से निर्गत संसारतरण के उपाय का यथावत एकाग्र चित्त से विचार करने लगे ॥४०-४२॥ तदनन्तर प्रहरमात्र में वे श्रोतागण, जो रात्रि के निर्गमन की अभिलाषाओं के कारण दिनार्थी (रात्रि के अतिक्रमण की अभिलाषावाले) कमल के सदृश थे, सुन्दर स्वप्न से युक्त निद्रा को प्राप्त हुए ॥४३॥ श्रीरामभद्र,

लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न इन तीनों भ्राताओं ने तीन प्रहर तक महर्षि के उपदेश का निरन्तर विचार किया ॥४४॥ उन्होंने केवल आधे प्रहर (दो घड़ी) तक ही नयनों को मूँदकर उत्तम स्वप्न से युक्त तथा क्षणभर में श्रम का निवारणकर देनेवाली निद्रा प्राप्त की। *यहाँ पर सुन्दर स्वप्नयुक्त निद्रा प्राप्त हुई इस कथन का तात्पर्य भावी शुभ फल का सूचन करने में हैं, क्योंकि 'अथ यत्र देव इव' इत्यादि श्रुति से यह प्रतिपादन किया गया है कि स्वप्न में सर्वात्म्यदर्शन भावी मोक्षरूप फल का सूचक होता है*॥४५॥

इस प्रकार पवित्र मनवाले, विवेकी तथा आत्मतत्त्व प्रबोध के कारण विकासयुक्त आशयवाले उन रामचन्द्र आदि की रात्रि जब समाप्त हो गई तब उसने सूर्यकिरणों के सम्बन्ध से मलिन हुए चन्द्रमा को ही अपना मुख बना लिया ॥४६॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

श्रीरामचन्द्र आदि के द्वारा महाराज वसिष्ठजी का सभा में आनयन तथा
महर्षि द्वारा उक्त अर्थ के स्मरण से उनकी आत्मतत्त्व में विश्रान्ति-यह वर्णन।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : तदनन्तर चन्द्ररूपी मुख से तथा व्याकुल अन्धकाररूपी पैरों से युक्त रात्रि उस प्रकार मरणोन्मुखी हुई, जिस प्रकार विवेक का उदय होने पर वासना मरणोन्मुखी हो जाती है ॥१॥ अनन्तर पूर्वाभिमुख मनुष्यों द्वारा दिखाई पड़नेवाले पूर्वदिशास्थ पर्वतों के ऊपर शिखरों से प्रतिबद्ध होने के कारण उन-उन शिखरों के भीतरी भागों से दण्डायमान प्रकाश निकल रहा था, अतएव वहाँ पर उन अन्तराल भागों से निकल रहे किरणोंवाले सूर्य ने फैलाये गये हाथों के सदृश प्रकाश धारण किया है ऐसा प्रतीत होता था, और जो पश्चिम दिशा में मुख किये हुए प्राणी थे, उनके द्वारा दिखाई पड़नेवाले पश्चिम दिशास्थ पर्वत पर, तो सूर्य ने मिथ्याकल्पित शिरोभूषण की नाईं मानों आलोक धारण किया है – ऐसा प्रतीत होता था॥२॥ तदनन्तर बरफ के कणों का आकर्षण करनेवाला, चन्द्रमण्डल को आकृष्ट करनेवाला तथा सूर्यरूपी अपने चक्षु से निकले हुए आलोक से चन्द्रज्योत्स्नाओं को ग्रसित करनेवाला प्रातःकालीन मन्दपवन सुशोभित हुआ॥३॥ श्रीरामजी, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न अपने-अपने अनुचरों के साथ उठकर स्नान, सन्ध्या आदि कर्मों का अनुष्ठान करके महामुनि श्रीवसिष्ठजी के आश्रम पर चले गये ॥४॥ वहाँ जाकर सन्ध्याकर आश्रम से बाहर निकलनेवाले महर्षि वसिष्ठजी के चरणों में उन्होंने अर्घ्यसन्तति प्रदानकर प्रणाम किया ॥५॥ क्षणभर में महर्षि वसिष्ठजी का आश्रम मुनियों, ब्राह्मणों और राजाओं से तथा हाथी, अश्व, रथ आदि अन्यान्य यानों से इतना भर गया कि वहाँ तनिक भी अवकाश नहीं रहा ॥६॥ तदनन्तर मुनियों में सिंहरूप महाराज वसिष्ठजी उस सेना के साथ ही राम आदि से अनुगत होकर यथासमय दशरथजी के घर पर आ पहुँचे ॥७॥

वहाँ पर त्वरापूर्वक मिलने के उत्साह से सन्ध्या किये हुए महाराज दशरथ ने आदरपूर्वक दूर मार्ग में ही जाकर महर्षि का पूजन किया ॥८॥ पुष्पों, मोतियों तथा मणियों के समूहों से पहले की अपेक्षा पुनः अधिक सजाई गई सभा में प्रविष्ट होकर वे सब श्रोतागण आसनों की पंक्तियों पर आ गये ॥९॥ अनन्तर उसी समय पहले दिन के जो आकाशचर, भूचर आदि श्रोता थे, वे सब-के-सब आ धमके ॥१०॥

एक दूसरों का परस्पर अभिवादन करके सभा बैठ गई, उस समय राजाओं के अनुरूप आकार प्रकारवाली सौम्य वह सभा उस प्रकार सुशोभित हुई, जिस प्रकार वायु के शान्त हो जाने पर कमलिनी सुशोभित होती है ॥११॥ जब सभामण्डप में ब्राह्मण आदि–श्रोतागण प्रविष्ट हो गये, वे प्रत्येक दिन के लिए निश्चित अपने–अपने आसन के अनुसार बैठ गये, उनके परस्पर के कोमल स्वागत शब्द शान्त हो गये, सभा के कोनों में स्थित बंदीजनों के शब्द भी शान्त हो गये, उदित सूर्यरश्मियाँ मानों अतित्वरा से सुनने के लिए अभ्यागतों में खिड़कियों के द्वारा प्राप्त होकर प्रविष्ट हो गई और जल्दी–जल्दी सभा में प्रवेश कर रहे श्रोताओं के अंगों के आघात से उत्पन्न मोतियों के समूह से युक्त भूषणों का झनकार निद्रा की नाईं स्पन्दशून्य हो गया, तब शंकर के आनन (मुख) में कुमार की नाईं, देवगुरु के आनन में कच की नाईं, शुक्राचार्य के आनन में प्रह्लाद की नाईं और भगवान विष्णु के आनन में गरुड़ की नाईं श्रीरामचन्द्रजी ने महाराज वसिष्ठ के आनन में, विकसित कमल में आकाशप्रान्त में विहरण करनेवाली भ्रमरी की तरह, दृष्टि धीरे से लगाई ॥१२–१७॥ तदनन्तर वाक्य रचना में पटु महामुनि वसिष्ठजी, पहले से चले आ रहे क्रम से ही, वाक्यार्थ के विज्ञाता श्रीरघुनन्दन को कहने लगे ॥१८॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, मैंने जो कल सुन्दर पद्धति से अत्यन्त गहन अर्थवाला तथा परमार्थ का अवबोधक वाक्य कहा था, उसका क्या आप स्मरण करते हैं ? ॥१९॥ शत्रुनाशक श्रीरामभद्र, अब मेरे द्वारा कहे जा रहे इस अन्य ज्ञानहेतु अर्थ का श्रवण कीजिए, जिससे कि मोक्षरूप नित्यफल की सिद्धि होगी ॥२०॥ श्रीरामजी, वैराग्य के अभ्यास से तथा आत्मतत्त्व के विज्ञान से संसार तरा जाता है, अतः आप उन्हीं का अभ्यास करने में लग जाइए ॥२१॥ सम्यक् तत्त्व के अवबोध से अज्ञान का क्षय हो जाने तथा वासना–संस्थान का विनाश हो जाने पर शोकशून्य मोक्षपद प्राप्त हो जाता है ॥२२॥ देशतः, कालतः और वस्तुतः त्रिविध परिच्छेद से शून्य तथा देश और काल निबन्धन पूर्व और अपर दोनों सीमाओं या द्वैत के दर्शन से निर्मुक्त अद्वितीय परब्रह्म ही जगद्रूप से स्थित है, द्वित्व तो अज्ञान से प्रतीत होता है ॥२३॥ जिस अवस्था में समस्त भावों से अनवच्छिन्न, शान्त तथा गोत्वादि धर्मों में भी अनुगत होकर एकरूपतः भासनेवाले ब्रह्म की ही अस्तिता सर्वोपरि विराजित है, उस अवस्था में द्वैतपन कैसे रह सकता है ? ॥२४॥ उस प्रकार के ब्रह्मस्वरूप का निश्चय कर और 'अहम्' अभिमान का परित्याग कर आप मुक्त शरीर, महान, एकरूप, प्रशान्तात्मा तथा साक्षात् उत्तम आत्मस्वरूप (या आकाश या आनन्दरूप) हो जाइए ॥२५॥ चित्त नहीं है, अज्ञान नहीं है, मन नहीं है और जीव भी नहीं है, हे श्रीरामजी, ये ब्रह्म की अपनी खास कल्पनाएँ है ॥२६॥ भद्र, जो भोग्यरूप पदार्थ है, जो भोगार्थ व्यापार हैं, जो उनमें प्रतिबिम्बित चिदाभास या स्मृतियाँ हैं और जो उन भोगों की इच्छाएँ हैं इन सबके रूप में आदि और अन्त से शून्य ब्रह्म ही समुद्र की नाईं विकसित होता है ॥२७॥ पाताल आदि देश, स्वर्ग, तृण आदि वस्तु, भूत, वर्तमान आदि काल, प्राणी एवं आकाश सर्वत्र वह निरतिशय चिद्रूप ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है, दूसरा कुछ नहीं ॥२८॥ उपेक्ष्य, हेय, उपादेय, बन्धु, सम्पत्तियाँ, देह इन सभी रूपों से आदि और अन्त से शून्य परब्रह्म ही समुद्र की नाईं विकसित होता है ॥२९॥

क्या सदा ही ब्रह्म विकसित होता है ? नहीं, ऐसा कहते हैं।

जब तक अज्ञान की कल्पना रहती है, जब तक अब्रह्म की भावना रहती है, जगज्जाल में जब तक

आस्था रहती है, तब तक चित्त आदि की कल्पना रहती है ॥३०॥ जब तक देह में अहंभावना रहती है, जब तक इस दृश्य में आत्मरूपता रहती है, जब तक यह मेरा है, इस प्रकार की आस्था रहती है, तब तक चित्त आदि भ्रम रहता है ॥३१॥ जब तक पूर्णता का उदय नहीं होता है और जब तक सज्जनों के संसर्ग से मूर्खता का विनाश नहीं होता, तब तक चित्त आदि निम्नभाग की ओर जाते रहते हैं ॥३२॥ तब तक सम्यक् आत्मदर्शन के प्रभाव से यह जगत की वासना शिथिल नहीं हो जाती, तब तक विस्पष्टरूप से चित्त आदि रहते हैं ॥३३॥ जब तक अन्धता और मूर्खता रहती है, जब तक विषय की अभिलाषा से विवशता रहती है एवं जब तक मूर्खतावश मोह का ढेर बना रहता है, तब तक चित्त आदि की कल्पना रहती है ॥३४॥ जब तक हृदयरूपी अरण्य में आशारूपी विषगन्ध चारों ओर फैलती रहती है, तब तक उत्तम आत्मविचाररूप चकोर भीतर घुसने नहीं पाता ॥३५॥ जिसका अन्तःकरण भोगों में आस्था नहीं रखता, जिसका सुशीतल निर्मल पद प्राप्त हुआ है एवं जिसकी आशारूपी फाँसी का जाल छिन्न–भिन्न हुआ है, उसको चित्त विभ्रम नष्ट हो जाता है ॥३६॥ तृष्णारूपी मोह के परित्याग से अविनाशी सुशीतल आत्मज्ञान सम्पन्न तथा प्रशान्तचित्त पुरुष की आस्था से परित्यक्त चित्तभूमि प्रबोधरूपी फल से समन्वित रहती है ॥३७॥

चित्तका अनुदय ही चित्त त्याग है, इस आशय से कहते हैं।

उपयोग से रहित दूरवर्ती अवस्तु रूप अतएव भ्रमात्मक पुरुषाकृति की नाईं अपनी देह को आस्था छोड़कर देख रहे पुरुष के चित्त की उत्पत्ति होगी कैसे ? ॥३८॥ जिसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तन्मूलक आत्मसाक्षात्कार से परिष्कृत चिन्मात्रस्वरूप संसार प्रसिद्ध स्वरूप से भिन्नरूपवाला यानी आत्मस्वरूप बन गया है एवं जिसको अपने चित्त में ही जगत विलीन हो गया है, उस पुरुष के जीव आदि निखिल भ्रम शान्त हो जाते हैं ॥३९॥ भद्र, मिथ्या भ्रम को उत्पन्न करनेवाले आत्म–अन्धकार का विनाश तथा परमार्थभूत आत्मज्ञानरूप उत्तम सूर्य का उदय होने पर चित्त विगलित होकर उस प्रकार पुनः दर्शन नहीं देता, जिस प्रकार अग्नि में सूखा पत्ता या घी का अंश गिरने पर पुनः दर्शन नहीं देता ॥४०,४१॥

चित्त का अभाव हो जाने पर व्यवहार कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

सत्य एवं असत्य वस्तु का साक्षात्कार किये हुए जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं, जो उनकी, जल के सूख जाने पर बालू में जल रेखा की नाईं, चित्तप्रचार रेखा है, वही सत्त्व कहा जाता है ॥४२॥ जीवन्मुक्तों के शरीरों में जो व्यवहार करनेवाली वासना है, वह चित्त नाम की नहीं है, क्योंकि वह सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुकी है ॥४३॥ चित्तवर्जित, सर्वदा परब्रह्मपद में अवस्थित, जो तत्त्वज्ञानी महात्मा हैं, वे सत्त्व में स्थिति हो जाने के कारण प्राप्त हुई अनास्था से ही लीलावश व्यवहार करते हैं ॥४४॥

तब क्या तत्त्वज्ञों को वासना से व्यवहार और परमार्थ दोनों का अपरोक्ष ज्ञान होने के कारण द्वैत और अद्वैत दोनों रहते हैं ? नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।

सत्त्ववृत्ति में अवस्थित तथा निगृहितेन्द्रिय शान्त महात्मा लोग अद्वय ब्रह्मरूप ज्योति का सदा साक्षात्कार करते हुए रहते हैं, अतः उन्हें द्वैतता, एकता या वासना नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मप्रकाश के साक्षात् अवलोकन से उनका बाध हो चुका है ॥४५॥

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

'मैं सर्वात्मक हूँ' इस प्रकार की परिपूर्ण आत्मभावना से समस्त त्रिजगत–रूपी उपेक्षणीय तृणका चिदात्मक अग्नि में हवन कर रहे महामुनि के चित्त आदि विभ्रम दूर हो जाते हैं ॥४६॥

अतएव अज्ञानी के चित्त की अपेक्षा सत्त्व विलक्षण (भिन्न) है, इस आशय से कहते हैं।

विवेक से विशुद्ध हुआ चित्त सत्त्व कहा जाता है, विवेक निर्मल चित्त फिर मोहरूपी फल उस प्रकार नहीं देता, जिस प्रकार दग्ध हुआ बीज अंकुर नहीं देता ॥४७॥ जब तक विमूढ मनुष्यों के भीतर वासना चित्तशब्द से व्यवहृत होती है, तब तक वह पुनर्जन्म की हेतु होती है, तत्त्वज्ञान हो जाने पर तो वह सत्त्वरूप होकर उलटी हो जाती है यानी जन्मनिवृत्तिरूप विपरीत कार्य करती है ॥४८॥ श्रीरामजी, आप प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्त कर चुके हैं, आपका अन्तःकरण सत्त्वरूपता को प्राप्त हुआ है और ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध हो चुका है, अतः फिर वह अंकुरित नहीं हो सकता ॥४९॥

तब कैसा अन्तःकरण पुनः अंकुरित होता है ? तो इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार परशु से छिन्न अथवा अग्नि से दग्ध हुए भी तृण आदि यदि भीतर से बीजशक्ति से युक्त रहे तो उससे पुनः अंकुर आदि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पुत्र, वित्त और लोक की एषणारूपी बीजशक्ति से युक्त अन्तःकरण पुनः जनन आदि के प्रति हेतु हो सकता है, परन्तु ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध हुआ एषणादि बीजशक्ति से शून्य तथा प्रबोध से निर्मल अन्तःकरण पुनः जनन का हेतु नहीं होता ॥५०॥

ज्ञानरूपी अग्नि से कैसे बीजशक्ति का दाह होता है ? इस पर कहते हैं।

चूँकि, जगत अज्ञानवश आरोपितरूप से ब्रह्म की ही अभिवृद्धिरूप हैं, चूँकि, ज्ञान से वास्तव ब्रह्मस्वरूप अभिवृद्धिवाला जगत भी है तथा चूँकि, ब्रह्म और जगत का केवल अज्ञानमात्रकृत भेद चिद्घन और ब्रह्म के भेद की नाईं अज्ञान के नाश से नष्ट हो जाता है, इसलिए तत्त्वज्ञान होने पर अन्तःकरण प्रस्फुरित नहीं होता ॥५१॥ जिस प्रकार एकमात्र तीक्ष्णतारस से युक्त मिर्च के अन्दर तीक्ष्णता मिर्चरूप से विद्यमान है, उस प्रकार चित् के अन्दर तीनों जगत भी चिद्रूप से ही रहते हैं, इसलिए तत्त्वदृष्टि से चित् और जगत एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, यही कारण है कि सदसदात्मक वस्तुप्ररोह और उसका प्रलय मायाप्रयुक्त निरर्थक भ्रान्ति ही है ॥५२॥

तब क्या 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (सृष्टि के पहले यह जगत असदात्मक ही था) इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध और 'घटोऽस्ति', 'घटो नास्ति' इत्यादि लोक प्रसिद्ध सत् और असत् शब्द निरर्थक हैं ? नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।

यहाँ श्रौत और लौकिक व्यवहार में एक दूसरे से व्यावृत्त शब्द व्यावृत्त अर्थों में ही संकेतित हैं यानी व्यावृत्त (एक दूसरे से भिन्न–भिन्न स्वरूपवाले) शब्द भिन्न–भिन्न अर्थों में ही अपना संकेत रखते हैं, इसलिए वक्ता और श्रोता की वासना ही व्यावृत्ति (भेद) के आकार में भासती है। 'सदसद्' शब्द से उत्पन्न संवित् प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि असत्यरूप व्यावृत्ति शब्दार्थ नहीं हो सकती, यों व्यावृत्ति पदार्थ का निरास होने पर 'सदसद्' शब्द के वाच्यभूत दोनों अर्थ अव्यावृत्तानुगत चिदाकाशस्वरूप से ही परमार्थरूपतः भासित हो गये, अतः वही परमार्थ वस्तु शब्दार्थ है, यह भाव है ॥५३॥

इस प्रकार सत् और असद्रूपी विकल्पों के त्याग से चिन्मात्र का दर्शन होने पर देह में

आत्मत्वभ्रममूलक जन्म और मरण आदि अनर्थ-प्राप्ति से रोने का प्रसंग नहीं है, ऐसा कहते हैं।

'त्वम्' शब्द से व्यवहृत होनेवाला सदसद्स्वभाव रामनामक स्वतः आत्मा नहीं है, क्योंकि शरीर चिन्मय है नहीं। समस्त जगत का अचिन्मयत्व और अभाव निश्चित हो जाने पर आपको देह आदि की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? ॥५४॥ श्रीरामजी, यदि चित्-व्यावृत्तिरूप केवल जाड्य अंश का परित्याग कर समस्त जगत सदा चिन्मय ही है, ऐसा आप मानते हैं, तो आप चित्स्वरूप का भली प्रकार विचार कीजिए। यदि आप उसके विषय में भली प्रकार विचार करते हैं, तो वह विशुद्ध, त्रिविध (कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत) परिच्छेदों से शून्य तथा चिदेकरसस्वरूप ही हस्तगत होता है, ऐसी स्थिति में देह आदि अनर्थों की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? ॥५५॥ श्रीरामजी, अपने विशाल स्वरूप का आप स्मरण कीजिए, चित्स्वरूप का विस्मरण करके आप परिच्छिन्न मत हो जाइए। आप अंशशून्य (निरवयव) तथा पारावार से वर्जित चिदात्मस्वरूप ही हैं ॥५६॥ भद्र, उस परिपूर्ण चित्स्वभावस्थिति को प्राप्त होकर आप सर्वातिशायी उत्तम आनन्द के लाभ आदि से महान अभ्युदयवाले होकर परिच्छिन्न जगत अपरिच्छिन्न पूर्ण स्वभाव है, ऐसी भावना कीजिए। आप वही परिपूर्णरूप हैं, शान्त (उपद्रव शून्य) हैं, चैतन्यरूप हैं और ब्रह्मरूप हैं ॥५७॥ श्रीरामजी, आप चित्-शिला के उदरस्वरूप ही हैं, अनेक भावों के रूप में आप अवस्थित होनेवाले नहीं हैं, अनेक भावों के बाध की अवधिरूप से अवशिष्ट रहनेवाले भी आप हैं, समस्त वाणी और मन की प्रवृत्ति के हेतु का जहाँ अभाव हो जाता है, वह भी आप ही हैं। *(तब क्या अत्यन्त परोक्ष-स्वरूप हैं ? नहीं, यह कहते हैं।)* तत्स्वरूप आप परोक्ष-से नहीं है क्योंकि आप सदा स्वप्रकाशस्वरूप हैं ॥५८॥

आप सत्स्वरूप हैं और असत्स्वरूप है, इस अंश का विवरण करते हैं।

जो सम्पूर्ण पदार्थों का व्यावृत्तिस्वरूप भीतर का परिच्छेद है, वही असत् होने के कारण असत्-पदार्थ है, असत्पदार्थरूप आप नहीं हैं, अतः सत्स्वरूप हैं, 'सत्' शब्दार्थ ही असत्-व्यावृत्त सद्धर्मरूप से व्यावहारिक पुरुषों के द्वारा कल्प्यमान होने के कारण सत्ता कहा जाता है, वह भी आपमें नहीं है, अतः असत्-स्वरूप है, इसी आशय से 'आप सत् हैं, और असत् हैं' यह कहा गया है। हे स्वस्वरूप में स्थित रहनेवाले चिदघन ! आपको प्रणाम है ॥५९॥ हे श्रीरामजी, आदि और अन्त से शून्य विशाल स्फटिक शिला के अन्तराल की नाईं निबिड़ जो चिद्घन है, उसके सदृश स्वभाववाले आप दुःख आदि विक्रियावाले नहीं हैं, यह निश्चय करके स्वस्थ हो जाइए। चारों ओर के विस्तार से युक्त आपके चित्-शिलारूपी जठर में प्रतिबिम्बित पल्लवकोश की नाईं कल्पित माया की रेखा-सदृश वासना विशेषों में मन की कल्पना से स्थित अखिल जगतवाले हे श्रीरामजी, उक्त स्वरूपवाले आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥६०॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

ब्रह्म, जीव, मन, देह एवं जगत में एकता के दर्शन से
समस्त द्वैतभ्रम की शान्ति हो जाने पर परिपूर्ण एकरूप से स्थिति होती है, यह वर्णन।

सबसे पहले चित्स्वरूप आत्मा समस्त कल्पनाओं के प्रतिभास में हेतु है, यों आत्मा का

परिचय कराते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार समुद्र में होनेवाले असंख्य तरंगों का हेतु सामान्य जल का स्वरूप है, उसी प्रकार जो चैतन्यात्मक चिति है, वही असंख्य भुवन वहन करती है, वह आप हैं, यानी वही आत्मा है, यों भावना कीजिए ॥१॥

उक्त भावना के अनन्तर एकमात्र द्वैतभावना के परित्याग से ही प्रपंच तथा वासना से शून्य आत्मचैतन्य का स्वरूप अनुभवपथ में कराते हैं।

हे श्रीरामजी, यह भाव है और यह अभाव है, इस प्रकार की कल्पना से शून्य होकर द्वैतभावना से निर्मुक्त हो जाइए। हे चित्स्वरूप, बतलाइए कि आपमें वासना आदि कहाँ निवास करते हैं ? अर्थात् कहीं निवास नहीं करते, यह तात्पर्य है ॥२॥

आत्मस्वरूप का परिचय हो जाने पर जीव, वासना और जगत यह जो विभाग है, वह चित् का ही एक काल्पनिक भेद है, उसका पृथक् अस्तित्व अनुभव में आ नहीं सकता, यों कहते हैं।

हे प्रिय श्रीरामचन्द्रजी, यह जीव है, यह वासना है, इस प्रकार की जो प्रसिद्धि होती है, वह स्वतः चित् की ही होती है, अतः असत् शब्द और असत् अर्थ इन दोनों की आपत्ति ही चिद्रूप वस्तु में कैसे हो सकती है ? यह बतलाइए ॥३॥ रामनामक ऊर्मियों से प्रसन्न, एकरूप, आकाश की नाईं सौम्य, बड़ी-बड़ी सृष्टिरूपी जल लताओं से घन तथा प्रकाशमय आत्मचैतन्यरूप समुद्र आप ही हैं। रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनाऽसौ परं ब्रह्माऽभिधीयते ॥ (जिस नित्यानन्द चिदात्मा में योगी लोग निरन्तर रमण करते हैं, वह परब्रह्म राम पद से कहा जाता है) ऐसी व्युत्पत्तिवाले अन्वर्थ राम भी आप ही हैं, यों 'रामाभिधोर्मिरिस्तिमित' से कहा गया है ॥४॥

अब दृश्य पदार्थ द्रष्टा से पृथक् नहीं है, इसकी द्रष्टा के धर्मरूपता के उपपादनमुख से सिद्धि करते हैं।

जिस प्रकार अग्नि से उष्णत्व भिन्न नहीं है, कमल से सुगंधि भिन्न नहीं है, काजल से श्यामरूप भिन्न नहीं हैं, बरफ से शुक्लरूप भिन्न नहीं है, गन्ने से माधुर्य भिन्न नहीं है, तेज से प्रकाश भिन्न नहीं है, चिति से वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य भिन्न नहीं है, जल से तरंग भिन्न नहीं है, उसी प्रकार चित्स्वभाव ब्रह्म से जगत भिन्न नहीं है ॥५,६॥

अध्यास-क्रम के उद्घाटन द्वारा प्रतिपादित अर्थ स्पष्टरूप से बतलाते हैं।

चिति से (मूलाधिष्ठान ब्रह्म से) अनुभव भिन्न नहीं है, अनुभव से माया-वृत्ति में आरूढ़ चिदात्मा 'अहम्' से (व्यष्टि-समष्टिरूप अहंकार से) भिन्न नहीं है, 'अहम्' से जीव भिन्न नहीं है, जीव से मन भिन्न नहीं है, मन से इन्द्रिय भिन्न नहीं है, इन्दियों से देह भिन्न नहीं है, शरीर से (व्यष्टि-समष्टि देह से) जगत भिन्न नहीं है, जगत से भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है ॥७,८॥ श्रीरामजी, प्रस्तुत यह दृश्यमान जगत-रूपी चक्र चिति ने ही स्वरूपभ्रम से अध्यासपरम्परा से प्रवृत्त किया है, परमार्थ दृष्टि से तो कुछ भी स्वल्प या दीर्घकाल से प्रवृत्त नहीं किया है ॥९॥ भद्र, यथार्थ में तो यह सब कुछ अनन्त विभागवर्जित स्वचैतन्यरूप आकाश ही अपने में विद्यमान है और कुछ भी दूसरा नहीं है ॥१०॥

उसकी निरतिशय परिपूर्णरूपता का ही भंगिभेदों से निरूपण करते हैं।

शून्य में शून्य बढ़ा है, ब्रह्म में ब्रह्म बढ़ा हुआ है, सत्य में सत्य का ही प्रकाशन हो रहा है और पूर्ण में

पूर्ण की नाईं अवस्थित है ॥११॥ अनुपादेय बुद्धि से बाह्य इन्द्रियों और मन के व्यापारों को कर रहा भी ज्ञानी कुछ भी नहीं करता, इसलिए असलियत में उसमें कर्तृता है नहीं ॥१२॥

श्रीरामजी, जिन विषयों का उपादेयबुद्धि से ग्रहण करेंगे, वे ही आपके दुःख एवं सुख के लिए होंगे, उपादेय बुद्धि न होने पर कुछ ग्रहण करने योग्य नहीं रहता। जो अगृहीत रहता है, वह सुख या दुःख का उत्पादक नहीं होता, यह बात प्रसिद्ध है, इसलिए ज्ञानी पुरुष को सुख या दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥१३॥

नानारूप से प्रतीयमान भावों का अभाव कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार घट, पट, मठ आदि उपाधियों से अनेकरूप होता हुआ भी आकाश वास्तव में एकरूप ही है, नानारूप नहीं है एवं आकाश में अनेक आकाश हैं, इस प्रकार के शब्द प्रयोग अत्यन्त शून्यार्थक होते हुए भी घट आदि उपाधियों के कारण सार्थक होते हैं, उसी प्रकार आत्मा और जगत के क्रम के विषय में समझना चाहिए ॥१४॥ भद्र, आप भीतर से आकाश की नाईं निर्मल, बाहर से अपने वर्णाश्रमानुकूल सुन्दर आचरणों में निरत एवं हर्ष और अमर्ष के सम्पादक विकारों की सन्निधि में काष्ठ और लोष्ठ के सदृश स्थितिवाले हो जाइए ॥१५॥

शत्रु के शरीर में भी अपनी आत्मरूपता होने से अपने शरीर के सदृश वहाँ पर भी आत्मज्ञानी को स्वाभाविक प्रीति होती है, यह बतलाते हैं।

जो तत्क्षण मारने के लिए उद्यत अत्यन्त ही कठोर शत्रु है, उसे स्वाभाविक प्रियतम मित्र के रूप में जो देखता है, वही यथार्थ में देखनेवाला है यानी आत्मज्ञानी है ॥१६॥

उसी से हर्ष–अमर्ष दोष की निवृत्ति होती है, ऐसा कहते हैं।

जिस प्रकार तटवर्ती वृक्ष को नदी वेग से मूलोच्छेदनपूर्वक उखाड़कर फेंक देती है, इसी प्रकार जो महात्मा सौहार्द और मात्सर्य को वेग से समूल उखाड़कर फेंक देता है, वही हर्ष और अमर्षरूपी दोषों का विनाश कर सकता है, दूसरा नहीं ॥१७॥ भद्र, राग–द्वेष और उनके कार्यभूत विकारों के स्वरूप का (तत्त्व का) यदि विचार नहीं किया जाता, तो राग–द्वेषशून्यरूप से प्रसिद्ध महात्मा भी राग–द्वेष युक्त ही है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि राग–द्वेष का तत्त्व जाने बिना उनके मूल का उच्छेद न हो सकने के कारण उनको फिर राग–द्वेष की प्रसक्ति हो सकती है, उसका निवारण नहीं किया जा सकता, अतः ऐसे महात्माओं की सेवा करना भी असेवा ही है यानी वृथा है ॥१८॥

तब राग–द्वेष का स्वरूप क्या है ? अहंकार। अतः अहंकार का विनाश करने पर राग–द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायेगी, इस आशय से गीता–वाक्य का दृष्टान्तरूप से उद्धरण देते हैं।

जिस महात्मा को देह आदि अनात्म पदार्थों में अहंभावना नहीं होती और जिसकी बुद्धि राग–द्वेष आदि से युक्त नहीं रहती, वह महात्मा इन लोकों का विनाश भले ही कर ले, तथापि वह न विनाशकर्ता है और न विनाशजन्य दोष से आक्रान्त ही होता है ॥१९॥

अहंकार का तत्त्व अज्ञान ही है, उसकी निवृत्ति तो आत्मा के ज्ञान से हो जायेगी, इस आशय से अज्ञान में 'माया' शब्द की प्रसिद्धि बतलाते हुए कहते हैं।

श्रीरामजी, जिसका त्रिकाल में अस्तित्व है नहीं, उसी व्यावहारिकता का ज्ञान कराने के लिए

'माया' शब्द का प्रयोग किया गया है। वह माया एकमात्र आत्मज्ञान से ही निश्चित विनष्ट हो जाती है ॥२०॥ जिसका तैल आदि स्नेह से शून्य दीपक की नाईं अनन्त वासनासमूह विनष्ट हो चुका है, उसने सब रागादि के ऊपर विजय पा ली ऐसा समझना चाहिए। *(तब क्या वह विजय सत्य है ? नहीं, ऐसा कहते हैं।)* यथार्थ में जय-विजय भी काल्पनिक हैं, जिस प्रकार चित्र में लिखित शत्रु के सिर का छेदन कर रहा चित्रित राजा अपने शत्रु पर विजय पाता है, उसी प्रकार अविकारी ज्ञानी भी विजय पाता है ॥२१॥

जिस महापुरुष को ये समस्त भोग्यपदार्थ सत्-असत् अवस्थाओं में (आविर्भाव-तिरोभाव की अवस्थाओं में, वैभव-दारिद्र्य-अवस्थाओं में या अध्यारोप-अपवाद दशाओं में) मिथ्या अथवा तत्त्वतः आत्मरूप होने के कारण सदा प्राप्त होने से अनुपादेय होकर उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति प्रयुक्त दुःख-दाह एवं सुख के हेतु नहीं होते, वह जी रहा भी असलियत में मुक्त ही है ॥२२॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

अन्य बाह्य दृष्टियों का निरास कर तथा आत्मदृष्टि मे सुस्थिर बनाकर श्रीरामचन्द्रजी से महाराज वसिष्ठजी का संशयनिवृत्त्यर्थ पूछना, यह वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी की प्रत्यग्-दृष्टि का उदघाटन करनेवाले महर्षि वसिष्ठजी पहले आध्यात्मिक मन आदि पदार्थों में अनुगत, अखण्ड अद्वैत चैतन्य को दिखलाते हुए जीव आदि भेद के बाध का अनुभव कराते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे पापशून्य श्रीरामजी, मन, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रिय आदि सब कुछ विषयशून्य एकमात्र चित्स्वरूप ही है, ऐसी स्थिति में आपके जीव आदि कहाँ रहेंगे ? ॥१॥

उसमे युक्ति बतलाते हैं।

श्रीरामजी, एकमात्र महात्मा आत्मा ने ही अपनी सत्ता के संसर्गाध्यास से यह नानारूपता ऐसे प्राप्त कराई है, जैसे अकेला चन्द्रमा तिमिर (नेत्र का रोगविशेष), जलपात्र और दर्पणों के साथ सम्बन्धविशेष से नानारूपता प्राप्त कराता है ॥२॥

मन आदि में अनुगत प्रत्यक्-तत्त्व के एकमात्र अपरोक्ष साक्षात्कार से ही उसमें विश्रान्ति लेनेवाले महात्मा की बाह्यार्थ-भोग की तृष्णा चूर-चूर हो जाती है, तृष्णा के चूर हो जाने पर सम्पूर्ण बाह्य वस्तुओं में अनुगत सन्मात्र का भी प्रत्यगात्मा के अभेदरूप से स्वतः ही भान होने के कारण बाह्यअध्यास के हेतुभूत अज्ञान भी नष्ट हो जाता है, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, उस प्रकार प्रत्यगात्मा के साक्षात्कार से जब भोग-तृष्णारूपी विष का आवेश विनष्ट हो जाता है, तब अज्ञान उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार अन्धकार के नष्ट हो जाने पर चक्षु की अन्धता (विषयप्रकाशन में असामर्थ्य) नष्ट हो जाती है ॥३॥ भली प्रकार विचारित अध्यात्मशास्त्ररूपी मंत्र से तृष्णारूपी महामारी ऐसे क्षीण हो जाती है, जैसे शरतकाल से तुषार क्षीण हो जाता है ॥४॥ श्रीरामजी, जैसे आकाश में मेघ के शांत हो जाने पर शैत्य अनायास नष्ट हो जाता है, वैसे ही मूर्खता

का (अज्ञान का) विनाश हो जाने पर सपरिवार चित्त अनायास नष्ट हो जाता है ॥५॥ हे पापरहित श्रीरामजी, जैसे सूत्र के टूट जाने पर हार के मोतियों का सन्निवेश नष्ट हो जाता है, वैसे ही चित्त के अचित्तरूप हो जाने पर वासनाभ्रम नष्ट हो जाता है ॥६॥

इस प्रकार समस्त वेदान्त शास्त्र के रहस्यभूत आत्मदृष्टि का उद्‌घाटन कर अब उससे विपरीत शास्त्रार्थ के विघातक दर्शन की निन्दा करते हैं।

हे श्रीरामजी, मेरे द्वारा बतलाये ये उपर्युक्त शास्त्रीय रहस्य की उपेक्षाकर जो पुरुष उसके विनाश के लिए विपरीतरूप से भावना करते हैं, वे कृमि, कीट आदि रूपता के हेतुभूत पाप के लिए राग आदि दोषों की उत्पादक बुद्धि के साथ अपना सम्बन्ध करते हैं – ऐसा समझना चाहिए ॥७॥

उस दुर्बुद्धि का, जिसका आगे के व्यवहित सर्ग में निरूपण होनेवाला है, प्रतीक द्वारा उदाहरण दे रहे महाराज वसिष्ठजी अज्ञानक्षय से उसका क्षय होता है, यों बतलाते हैं।

जैसे वायु के शान्त हो जाने पर तालाब की चंचलता नष्ट हो जाती है, वैसे ही अज्ञान के नष्ट हो जाने पर स्त्री आदि के शरीरों में दुर्बुद्धि से कल्पित नवीन कमल के सदृश मनोहर लोचनों की चंचलता नष्ट हो जाती है ॥८॥

अब दर्शित प्रत्यगात्मदृष्टि में हेतुओं से श्रीरामचन्द्रजी की स्थिरता ताड़कर महर्षि वसिष्ठजी कहते हैं।

भद्र, जैसे विस्तृत आकाश में प्रभंजन वायु स्थिरता प्राप्त किये रहता है, वैसे ही आप भाव–अभाव की कल्पनाओं से निर्मुक्त होकर अत्यन्त परम पद में स्थिरता प्राप्त किये हुए हैं ॥९॥ हे रघुकुल के दीपक, अब मैं यह मानता हूँ कि आप मेरे वचनों से अज्ञाननिद्रा का त्यागकर आत्मज्ञानरूपी प्रबोध ऐसे प्राप्त किये हुए हैं, जैसे राजा बंदीजनों के वाद्यविशेषों से निद्रामुक्त होकर जाग्रत दशा प्राप्त करता है ॥१०॥

अब अपने उपदेश की सफलता देखकर महर्षि श्रीरामजी की और अपनी प्रशंसा करते हुए कहते हैं।

हे भद्र, जनसाधारण मनुष्यों में भी अपने कुलगुरू के वचन लग जाते हैं यानी ज्ञान पैदा कर देते हैं, तब आपके सदृश उदार (विशाल) बुद्धिवाले मनुष्यों में वे क्यों न लगें यानी उनसे प्रतिपादित अर्थ का ज्ञान क्यों न हो जाय ? ॥११॥ श्रीरामजी, चूँकि आपने अपनी बुद्धि से मुझमें उपादेय वाक्यता और आप्ततमता (श्रेष्ठतमता) का निश्चय कर लिया है, अतः मेरे वचन उस प्रकार आपके हृदय के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार तप्त क्षेत्र में जल प्रविष्ट हो जाता है ॥१२॥

अब महाराज वसिष्ठजी स्वकीय कुलपूज्यत्व और माननीय शासनत्व की प्रसिद्धि करते हुए फल में पर्यवसित अपने उपदिष्ट अर्थ का स्मरणमुख से धारण करना चाहिए, यों श्रीरामभद्र के प्रति विधान करते हैं।

हे महानुभाव श्रीरामजी चूँकि मैं रघुकुल के श्रेष्ठ पुरुष आप लोगों का सदा से कुलगुरु हूँ, इसलिए आपको मेरे द्वारा कहे गये शुभ वचनों को बारबार दृढ़ निश्चय कर हृदय में, हार की नाईं, धारण करना चाहिए ॥१३॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

मोक्षात्मक उत्तम सुख में विश्रान्ति प्राप्त कर लेनेवाले प्रबुद्ध
श्रीरामचन्द्रजी का गुरु महाराज के सामने सविस्तार अपने अनुभव का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, आपके द्वारा उपदिष्ट वाक्यों के अनुसन्धान से मैंने चैतन्यरूपता (चिदेकरसपूर्ण आत्मरूपता) प्राप्त कर ली, यह जगत-रूपी जाल सामने रहते भी विलीन हो गया ॥१॥ जैसे चिरकाल से चले आ रहे वर्षाप्रतिबन्ध से (ग्रीष्मादि से) सन्तप्त भूमितल वृष्टि से शान्त हो जाता है, वैसे ही मैं आपके द्वारा की गयी उपदेश-वृष्टि से भीतर अत्यन्त शान्त हो गया हूँ॥२॥ भगवन्, मैं अब एकमात्र उत्तम शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ और शान्त आनन्दित होकर सुखपूर्वक स्थित हूँ। विक्षुब्ध करनेवाले हाथियों से रहित सरोवर जिस प्रकार प्रसन्न रहता है, वैसे ही मैं प्रसन्नता प्राप्त कर रहा हूँ॥३॥ हे मुने, अब मुझे कुहरे से शून्य दिशाओं के मंडल की नाईं भली प्रकार प्रसन्न यह समस्त जगत यथार्थभूत सन्मात्रस्वरूप प्रतीत हो रहा है ॥४॥ भगवन्, मैं सन्देह से निर्मुक्त हो गया हूँ, मेरी आशारूप मृगतष्णा विलीन हो गई है, विषयसंसर्ग और उसके विरोधी वैराग्य वृत्तियों से रहित हो गया हूँ तथा कुहरे और धूलि से शून्य शरत्कालीन जंगल की नाईं स्वच्छ हो गया हूँ॥५॥ हे नाथ, मैं अपने आप से ही अविनाशी उस आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ, जहाँ पर अमृत का रसास्वाद भी तृण के सदृश नीरस होकर उपेक्षणीय हो जाता है ॥६॥ आज मैं अपने पारमार्थिक स्वभाव में स्थित हूँ, स्वस्थ हूँ, प्रसन्न हूँ, लोक जहाँ विश्रान्ति करते हैं, उस सुख का स्वरूपभूत मैं हूँ, अतएव मैं परब्रह्म राम हूँ, परब्रह्म रामस्वरूप को तथा उसके दर्शन करानेवाले आपको मैं प्रणाम करता हूँ॥७॥ भगवन, मेरे वे संशय, वे सब कल्पनाएँ (भ्रान्तियाँ) उस प्रकार नष्ट हो गई, जिस प्रकार रात्रि में बालक की भ्रान्ति से कल्पित वेताल का संचरण प्रभात का उदय होने पर शान्त हो जाता है ॥८॥ हृदय के निर्मल, विस्तीर्ण और हिम की नाईं शीतल हो जाने पर, शरतकाल में महान सरोवर के सदृश, मेरा अन्तःकरण विक्षेपवर्जित सुख को प्राप्त हुआ ॥९॥ चिदेकरस आत्मा में अज्ञान आदि कलंक किस निमित्त से आये, वे स्वप्रकाश आत्मा में किस तरह रह सकते हैं ? वे असंग अपरिच्छिन्न आत्मा को कैसे आवृत कर सकते हैं ? कूटस्थ आत्मा को सांसारिक विकारों का अनुभव कैसे ? इत्यादि संशय उसके हेतु अज्ञान के विनाश से निश्चितरूप से विनष्ट हो गये ॥१०॥ सदा स्फुरणाकार आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है, सब कुछ इस प्रकार के आत्मा का ही स्वरूपभूत है, यह दूसरा है, यह तदपेक्षया दूसरा है इत्यादि असत् कल्पनाएँ कहाँ से आई ? ॥११॥ भगवन्, अब ज्ञानी होकर मैं अनुभूयमान सर्वधर्मातीत आत्मा को ही छोड़कर दूसरा पहले उस प्रकार की तृष्णारूपी बेड़ियों से नियन्त्रित कौन था, यों स्मरण कर हँसता हूँ॥१२॥ अहा ! आपके अमृतप्रवाहों से स्नान किया यह मैं परमार्थरूप से जिस प्रकार का था, वह सब मैं ही हूँ। इस प्रकार स्मरण करता हूँ॥१३॥ अहो, मैं यहीं रहकर किसी अपरिच्छिन्न ब्रह्मलोक की भूमि पर अधिरूढ़ हो गया हूँ जहाँ पर सूर्य पाताल में स्थित की नाईं अत्यन्त अधःस्थित की तरह भी नहीं रहता, कार्य ब्रह्मलोक से सूर्य अधःस्थित होता है, न कि परब्रह्मलोक से।' 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि श्रुतियाँ भी इस अर्थ की पोषक हैं ॥१४॥ मैं भाव-अभावरूप संसार समुद्र तैरकर उसके पारभूत सर्वाधिष्ठान

सन्मात्ररूप ब्रह्म को प्राप्त कर चुका हूँ, चूँकि मैं अपने आपसे अपनी महिमा में सबसे बढ़–चढ़ कर विद्यमान हूँ, अतःसदा सबके नमस्कारयोग्य मत्स्वरूप आत्मा को नमस्कार है ॥१५॥ हे स्वामिन्, अपने हृदयकमल के कोश में भ्रमरवत सुस्थिर हुए आपके सुन्दर विस्पष्ट वचनामृतों से मैं यहीं पर यानी इसी देश और काल में स्वकीय अनुभववश शोकशून्य, चिरकाल से सदा उदित और मुदित जीवन्मुक्त दशा प्राप्त कर चुका हूँ ॥१६॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

देह और आत्मा का विवेक, देह में आत्मदर्शन से दुःख तथा
अंगनाओं के संग से मूढ़ों के मोह की अभिवृद्धि इन विषयों का वर्णन।

उक्त रीति से यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके थे, तथापि दूसरे श्रोताओं के वैसे ही ज्ञान की उत्पत्ति के लिए प्रवृत्त हो रहे भगवान वसिष्ठजी महाराज कहे जानेवाले देह और आत्मा के विवेक आदि के श्रवण के लिए श्रीरामजी को भी अनुकूल करते हुए कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, अब फिर भी आप मेरे उत्तम वचनों का श्रवण कीजिए, जिन्हें मैं उपदेश के तात्पर्य विषय निरतिशयानन्दरूप आत्मा के अनुभवरूपी प्रीति–के पात्र आपसे सब जनों के हित के लिए कहता हूँ ॥१॥

श्रोता, श्रवण करानेवाला, श्रोतव्य आदि भेद बाधित होने से मेरी श्रवण में प्रवृत्ति कैसे होगी या उससे फल क्या होगा ? इस पर कहते हैं।

हे भद्र, बाधितानुवृत्तिन्याय से भेद का स्वीकार कर बोध की अभिवृद्धि के लिए आप श्रवण में प्रवृत्ति कीजिए। अल्प ज्ञानवालों की भी इससे संसारिता नहीं होगी यानी आपके ज्ञान की वृद्धि और अल्प प्रबुद्धों का उद्धार श्रवण का फल है ॥२॥

सबसे पहले इन्द्रियों पर विजय पाने की सामर्थ्य श्रोताओं में न होने के कारण उन इन्द्रियों द्वारा आकृष्ट हो रहे मन की पूर्णात्मा में प्रतिष्ठा कैसे होगी ? इस जिज्ञासा को इंगितों से ताड़कर 'यस्त्वविज्ञानवान् भवति' तथा 'यस्तु विज्ञानवान् भवति' (卐) इन दो युक्तियों के द्वारा प्रतिपादित मार्ग से उक्त जिज्ञासा का क्रमशः परिहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, जिस अज्ञानी पुरुष को अज्ञानवश देह में ही आत्मभावना उत्पन्न हो जाती है, उस पुरुष को देहात्मभावना के अपराध से उत्पन्न अत्यंत क्रोध से इन्द्रियाँ शत्रु होकर पराजित कर देती हैं ॥३॥ जिस ज्ञानी पुरुष की ज्ञानवश त्रिकाल में अबाधित एकमात्र आत्मा में ही स्थिति रहती है, उस

(卐) 'यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥'

जो अज्ञानी पुरुष अवशीभूत मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ उस प्रकार वश में नहीं रहती, जिस प्रकार दुष्ट घोड़े सारथि के वश में नहीं रहते। जो ज्ञानी पुरुष सदा वशीभूत मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ उस प्रकार वश में रहती हैं, जिस प्रकार उत्तम घोड़े सारथि के वश में रहते हैं।

अनिन्दित पुरुष को आत्मदर्शनोपकार–जनित सन्तोष से इन्द्रियाँ मित्र बनकर विनष्ट नहीं करतीं, किंतु ज्ञान की अभिवृद्धि के अनुकूल आचरण से उसकी रक्षा करती हैं ॥४॥ व्यवहार कर रहे जिस ज्ञानी पुरुष को दोषदर्शन के कारण भोग्य पदार्थों में सर्वदा कुत्सा के सिवा प्रशस्तपन की बुद्धि उत्पन्न होती ही नहीं, वह पुरुष देह–प्रयुक्त दुःख के लिए आत्मरूप से देह का किस हेतु से ग्रहण करेगा, ग्रहण करने में कोई हेतु नहीं है, यह अभिप्राय है ॥५॥

अब देह और आत्मा की एकता के भ्रम के निरास के लिए युक्तियाँ बतलाते हैं।

श्रीरामजी, जैसे प्रकाश और अन्धकार एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण हैं, वैसे ही शरीर और आत्मा एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण हैं, इसीसे आत्मा न शरीर का सम्बन्धी है और न शरीर ही आत्मा में रहता है यानी जडता और चेतनता के कारण अत्यन्त विरुद्ध देह और आत्मा का जब आधार आधेयभाव आदि सम्बन्ध ही दुर्लभ है, तब तादात्म्य सम्बन्ध की तो कथा ही क्या ? यह भाव है ॥६॥

इसी प्रकार निर्विकारिता और सविकारिता आदि से जनित विरोध के कारण भी सम्बन्ध की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

समस्त भावविकारों से नित्यमुक्त एवं निर्लिप्त सर्वविध ऐश्वर्यसम्पन्न आत्मा न अस्त होता है और न कभी उदित ही होता है, क्योंकि वह सर्वदा उदित स्वभाव ही है ॥७॥ जड़, अज्ञानी, तुच्छ, कृतघ्न (आत्मा से अपनी प्रसिद्धि पाकर उसी को दुःखभागी बनाने के कारण कृतघ्न) तथा विनाशस्वभाव इस तुच्छ शरीररूपी पत्थर का जो कुछ भी होनेवाला हो वह भले ही हो, इससे आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥८॥

तब देह में ही चैतन्यरूप धर्म मान लीजिए, इससे कोई विरोध तो होता है नहीं, इस प्रकार की आशंका का उद्भावन कर कहते हैं।

यह शरीर उस सदा उदितस्वभाव अविनाशी चैतन्यरूपत्व का परिग्रह कैसे कर सकता है ? क्योंकि चित् और जड इनमें से किसी एक का परिज्ञान करने में भी एक जगह तो (परिशेषात् शरीर में ही) अवश्य ही जड़ता आ जायेगी। तात्पर्य यह है कि देह चिन्मय है, ऐसा परिज्ञान तभी हो सकता है, जब जड़भिन्न चेतनरूपता का भली प्रकार परिचय हो जाय, उसका ठीक–ठीक परिचय होने पर तो देह में ही जड़ता सिद्ध हो जाती है, ऐसी स्थिति में देह अपने स्वभावविरुद्ध चिद्रूपता का कैसे ग्रहण करेगा ? ॥९॥

यदि शंका हो कि आत्मा के मानस दुखों का उपभोग करने पर शरीर में कृशता उत्पन्न हुई देखी जाती है एवं देह में ताड़न आदि करने पर आत्मा में दुःख का अनुभव होता है, ऐसी स्थिति में शरीर और आत्मा दोनों में समान सुख–दुःखों के अनुभव से उनका तादात्म्य क्यों न माना जाय ? तो इस पर कहते हैं।

जो आत्मा और देह अग्नि और लोहपिण्ड की नाईं अविविक्त अतएव एक दूसरे के धर्मों का एक दूसरे में संक्रमण होने के कारण समानधर्मवाले प्रतीत होते हैं तथा विविक्त होने पर तो उस प्रकार के नहीं प्रतीत होते, उनकी किस प्रकार समान सुखदुःखरूपता वास्तव में सत्य कही जा सकती है ? ॥१०॥

किंच, असंग एवं परम सूक्ष्म आत्मा के साथ स्थूल शरीर का सम्बन्ध जब हो ही नहीं सकता, तब

अभेद की तो बात ही क्या ? यों कहते हैं।

जो एक दूसरे से अत्यन्त विविक्त यानी सर्वथा विलक्षण पदार्थ हैं, वे एक दूसरे से तादात्म्यरूप से या धर्मसंक्रमण द्वारा कैसे मिल सकते हैं, क्योंकि जो मेरु आदि स्थूल पदार्थ हैं, वे परमाणुस्वरूप कैसे हो सकते हैं या परमाणु आदि अणुभूत पदार्थ मेरु आदि स्थूलपदार्थस्वरूप कैसे हो सकते हैं ? ॥११॥

परस्पर उपघाती स्वभाव से युक्त होने से भी ऐक्य की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

एक दूसरे की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण दिन एवं रात दोनों में से किसी एक की सत्त्वदशा में दूसरे का जब अस्तित्व रह ही नहीं सकता, तब अन्योन्यरूपता की कथा ही क्या ? बस ठीक इसी प्रकार ज्ञान न अज्ञानरूप हो सकता है और अन्धकार न प्रकाशरूप है, दोनों एक दूसेर से अत्यन्त भिन्न हैं, अतः एक की सत्ता में दूसरे की सत्ता नहीं हो सकती ॥१२॥ विचित्र (विभिन्न) दृष्टियों में सद्रूप ब्रह्म कभी असद्रूप (देहादिरूप) नहीं हो सकता और आत्मा में अध्यस्त असत् देहादि के साथ सर्वव्यापक सद्रूप देहाधिष्ठान प्रत्यगात्मा का तनिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता ॥१३॥

दृष्टान्त बतलाने के लिए प्रतिपादित अर्थ का ही पुनः कथन करते हैं।

जैसे जल में स्थित कमल का जल से किंचिन्मात्र सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहाधिष्ठान आत्मरूपी ब्रह्म का भी देहसत्ता के साथ स्वल्पमात्र भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। भगवान भाष्यकार ने कहा भी है – 'यत्र हि यदध्यासस्तत्कृतेन गुणेन दोषेण वा अणुमात्रेणाऽपि स न संबध्यते'। जिस अधिष्ठान में जिस पदार्थ का अध्यास होता है, वह अध्यस्त पदार्थ के गुण या दोष से तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता ॥१४॥ जैसे निर्लिप्तस्वभाव होने के कारण लेपक पदार्थ से विलक्षण स्वभाववाले वायु आदि लेपक पदार्थों में प्रविष्ट हुए भी आकाश का वायु से शोष, कम्प, धूलिसम्बन्ध आदि दोषों का सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देह आदि से इस आत्मा में जरा, मरण, आपत्तियाँ, सुख, दुःख, संसार, संसारविनाश आदि कुछ भी नहीं होता, अतः आप सुखी हो जाइए। यद्यपि देह में आत्मदृष्टि से जन्म, मरण आदि भ्रम उत्पन्न होते हैं, तथापि, जल में तरंगों की नाईं, वे केवल ब्रह्ममात्रस्वरूप हैं, अतिरिक्त नहीं, आत्मा की सत्ता से उपजीवी होने के कारण, अपने में स्थित देहयन्त्रका स्वयं आत्मा ही, एकमात्र अपने में स्थित ऊर्मि का जल की नाईं अनुभव करता है ॥१५–१७॥ श्रीरामजी, जिस प्रकार प्रतिबिम्ब के आश्रय दर्पण आदि के हिलाने पर बिम्बभूत सूर्य आदि का तनिक भी क्षोभ नहीं होता, वैसे ही देहादि से चिदाभास के क्षुब्ध होने पर भी उसके साक्षी बिम्बभूत चैतन्य का तनिक भी क्षोभ नहीं होता ॥१८॥ आत्मा का भली प्रकार साक्षात्कार हो जाने पर परमार्थ सत्यरूप आत्मा में ही स्थिति हो जाती है और अज्ञानप्रयुक्त भ्रम नष्ट हो जाता है॥१९॥ अन्धकार और प्रदीप पदार्थ की नाईं परस्पर उत्थान स्वभाववाले देह और देहाधिष्ठान आत्मा इन दो निकृष्ट और परमार्थरूप पदार्थों का वास्तवस्वरूप जान लेने पर देह की असत्तात्मिका और उसके साक्षी आत्मा की सत्तात्मिका स्थिति प्रकट हो जाती है ॥२०॥

अब अज्ञानी के जगत–दर्शन–पद्धति की निन्दा करने के लिए कहते हैं।

जिस पुरुष को आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ है, उस पुरुष को देह के आविर्भाव और तिरोभाव के द्वारा निरवधि (असंख्य) वे मोहरूपी अर्जुनवृक्ष प्रस्फुरित होते ही रहते हैं ॥२१॥ आत्मा के अर्थ का (स्वरूप का) भली प्रकार पर्यालोचन जिन्होंने नहीं किया है, अतएव विज्ञानस्पर्श से शून्य मूढ़बुद्धि

लोग चैतन्य से निर्मुक्त होकर तृण की नाईं स्फुरित होते हैं, अचेतन देहरूप ही चेतन हैं, ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता, यह तात्पर्य है ॥२२॥

यदि देह आदि अचेतन हैं, तो वे किस तरह संभाषण करते हैं और तृण, काष्ठ आदि के आहरण आदि से किस तरह व्यवहार करते हैं ? इस पर कहते हैं।

वे देह आदि सब जड़ पदार्थ हैं, क्योंकि उनमें चैतन्यरूपता का कुछ भी रस नहीं है, अतः वे सब जड़ होने पर भी मुख, नासिका आदि छिद्रों तथा उन छिद्रों में संचरणशील वायुओं के द्वारा जैसे घास के तिनके चेष्टा करते वायु के द्वारा चेष्टा करते हैं वैसे ही स्फुरण और संचरण करते हैं। अथवा मूढ़बुद्धि लोंग चेतनता से रहित तृण के समान चेष्टा करते हैं तथा चेतनता का आस्वादन लेने से सब जड़ नासिका, कंठ आदि छिद्रों से संचारी पवनों के द्वारा जिस स्थान में अभिघात से आक्रांत होते हैं वहाँ स्फुरित होते हैं। वे खोखले बाँस जैसे हैं जो वायु के संसर्ग से हिलते डुलते हैं और ध्वनि उत्पन्न करते हैं ॥२३॥ वे तृण, काष्ठ लाते हैं और उनका परित्याग भी करते हैं, वे तरंगों के सदृश अतिचपल अवयवों से युक्त तथा शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों के लाभ से अपने आपको कृतार्थ समझते हैं ॥२४॥ देह आदि स्वयं जड़ ही हैं, तथापि चेतन–से होकर भोगाभिनिवेश रूपी मदिरावत् उन्मादक रस से घूर्णित रहते हैं, वे दुर्बुद्धि से भरे और नदियों की तरह विहार, आगम और अपाय आदि चेष्टाओं से युक्त रहते हैं ॥२५॥

तब क्या उनमें आत्म चैतन्य है ही नहीं ? नहीं, आत्मचैतन्य तो है, परन्तु अबोध के कारण व्यर्थ–सा हो गया है, ऐसा कहते हैं।

इन सभीमें अविनाशी यह चैतन्य रहता ही है, परन्तु इसका भली प्रकार परिचय न होने के कारण इसने कार्पण्य प्राप्त कर लिया है ॥२६॥ उन मूढ़ों से एकमात्र मूर्खतावश श्वाससन्तति ऐसे शीघ्र–शीघ्र निकलती रहती है,जैसे लोहार की धौंकनी से वायुसन्तति निकलती रहती है, वह श्वाससन्तति केवल जठराग्नि की क्रिया के लिए ही है और किसी अर्थ के लिए नहीं, क्योंकि मूर्खता अनर्थ करनेवाली है ॥२७॥

उस प्रकार मूर्खतावश उत्पद्यमान परतर्जन या गर्जन चैतन्य का ज्ञापक है, किन्तु धनुष की डोरी के चढ़ाने की नाईं मरण आदि अनर्थों का ही कारण है, यह कहते हैं।

मूढ़तावश उत्पन्न होनेवाला चैतन्यज्ञान से शून्य परतर्जन या गर्जन धनुष के दण्ड में लगी हुई डोरी के सदृश केवल मरण के ही हेतु होते हैं ॥२८॥ मूढ़ से होनेवाला जो फल लाभ है, वह जंगल के तरु की तरह है और उसमें जो विश्रान्ति है, वह तप्त पाषाण–शिला के ऊपर विश्रान्ति के सदृश ही है ॥२९॥ मूर्ख के साथ की जानेवाली संगति उस प्रकार की होगी, जिस प्रकार अरण्यभूमि में स्थाणु के (छिन्न वृक्षमूल के) साथ की जानेवाली संगति होती है और उसके लिए जो कुछ उपकृत होगा, वह भी आकाश को दण्डे से मारने के तुल्य ही होगा ॥३०॥

श्रीरामजी, इस अधम मूर्ख को जो दिया गया है, वह क्या कीचड़ में फेंका गया नहीं समझना चाहिए ? और उसके साथ की गई जो कथा है, वह क्या आकाश में कुत्ते का आह्वान (भौंकना) नहीं है ? ॥३१॥

अज्ञानी की निन्दा अज्ञान की हेयता प्रदर्शित हो जाय, इसलिए दयावश की गई है, न कि अज्ञानियों के प्रति द्वेषवश की गई है, इस आशय से कहते हैं।

अज्ञान ही आपत्तियों का आश्रय यानी स्थान है। भला बतलाइए तो सही कि कौन-सी आपत्तियाँ अज्ञानी को प्राप्त नहीं होती ? इस संसाररूप सरिता का जो प्रवाह है, वह एकमात्र अज्ञानी के प्रमाद से ही चल रहा है ॥३२॥ अज्ञानी को उग्र दुःख और सांसारिक क्षणिक सुख भी बार-बार आते और जाते रहते हैं, उनका उस प्रकार उल्लंघन नहीं कर सकते, जिस प्रकार हल या रथ पर्वत का उल्लंघन नहीं कर सकते ॥३३॥ देह, धन, स्त्री आदि में आसक्ति रखनेवाले अज्ञानी का यह दुष्ट दुःख कभी भी शान्त नहीं होता ॥३४॥ इस अनात्मभूत, शठ देह में आत्मभाव प्राप्त करनेवाले पुरुष में असत्यबोधमयी माया क्या किसी प्रकार भी नष्ट हो सकती है ? अर्थात् किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकती ॥३५॥ दुष्ट भावों से भली प्रकार व्याप्त हुई बुद्धि से युक्त आत्मरूप वस्तु के विषय में अन्ध तथा अनात्मभूत असत् अर्थों में दृष्टियुक्त पद-पद पर गिर रहे दुर्मति पुरुष को चन्द्र से भी विष उस प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार कुसुम से आमोद उत्पन्न होता है तथा क्षीर से कण्टक ऐसे उत्पन्न होता है, जैसे स्थल से दूब का अंकुर उत्पन्न होता है ॥३६,३७॥ मनरूपी हाथी की श्रृंखलाभूत देहरूप सेमल के वृक्ष-कोटर में रहनेवाली सर्पिणीरूपी आशाएँ अज्ञानी पुरुषों में राग आदि साँपों को उस प्रकार उत्पन्न करती हैं, जिस प्रकार उत्तम रीति से जोते गये खेत से किसान धान उत्पन्न करते हैं। अथवा मनोरूप मातंग की श्रृंखलाभूत आशाएँ दुःख उत्पन्न करती हैं, यों आन्तर और बाह्य विषयों के भेद की कल्पना कर दो रूपकों की योजना करनी चाहिए ॥३८॥ श्रीरामजी, पापरूपी सर्पों से वेष्टित अज्ञानी पुरुष की नरकरूपी लक्ष्मी उस प्रकार यहाँ प्रतीक्षा करती है, जिस प्रकार मयूरी मेघ की प्रतीक्षा करती है ॥३९॥ चपल नेत्ररूपी भ्रमरियों से युक्त प्रस्फुरित अधररूपी पल्लवोंवाली अंगनारूपी विषलता केवल मूर्खों के लिए ही विकसित होती है ॥४०॥ अज्ञानी पुरुष के मनरूपी उर्वराभूमि में ही विरल पल्लवों से युक्त अनर्थ हेतु पापादिरूप पक्षियों की छायाभूत रागरूपी दुष्ट वृक्ष उत्पन्न होता रहता है ॥४१॥ अज्ञानी के मनरूपी जलशून्य अरण्य में कम्पित हो रहे ओष्ठरूपी तरुपल्लवों पर प्रकाशमान निःश्वासरूपी धूओं से युक्त तथा शस्त्रसमूह की नाईं कटकटायमान दाँतरूपी उल्मुक (लाठी) से युक्त शरीर को संताप देनेवाला द्वेषरूप दावानल मानों भस्मीभूत होता रहता है ॥४२॥ अज्ञानी के मात्सर्यरूप जल से परिपूर्ण मन में दूसरे की निन्दारूपी पल्लवों से युक्त, चिन्तारूपी भ्रमरों से शोभित ईर्ष्यारूपी कमलिनी भली प्रकार विलास करती है ॥४३॥ मरणरूपी बडवाग्नि अज्ञपुरुष के प्रति ही, जिसने कि प्रतिजन्म में अनेक तरह के प्रतीकारोपायरूप तट के आश्रय से उग्रदुःखरूपी तरंगविभ्रमों का परिमार्जन किया है, बार-बार, समुद्र की नाईं, प्राप्त होता है ॥४४॥

जन्म आदि भी उत्तरोत्तर अनर्थों की ही प्राप्ति कराते हैं, ऐसा कहते हैं।

अज्ञ पुरुष का ही जन्म पुनः-पुनः बालपन प्राप्त करता रहता है, बालपन बारबार यौवन प्राप्त करता रहता है, यौवन बारबार वार्धक्य प्राप्त करता रहता है और वार्धक्य बारबार मरण प्राप्त करता रहता है ॥४५॥ अज्ञानी पुरुष ही इस जगतरूपी जीर्ण घटीयन्त्र में (रहट में) संसाररूपी रज्जु से बँधा

हुआ मज्जन और उमज्जन द्वारा कलशरूपता प्राप्त करता रहता है ।।४६।। जो यह जगत ज्ञानी महात्मा की बुद्धि से तुच्छ और गाय के खुरमात्र यानी स्वल्प जलाशय रूप प्रतीत होता है, वही अज्ञानी की बुद्धि से अगाध और असीम प्रतीत होता है ।।४७।। जिस प्रकार पक्षिणियाँ पिंजड़े से बाहर निकल नहीं पाती, वैसे ही उदर भरण में अति–आसक्तिरूपी बन्धन से बँधे अन्धपुरुष की नाईं अज्ञ पुरुष की बुद्धियाँ दीर्घसंसाररूपी समुद्र के पार नहीं जा सकतीं ।।४८।।

क्यों उनकी बुद्धियाँ संसारसागर का पार प्राप्त नहीं कर सकतीं, इस पर कहते हैं।

'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' । (स्वयंभू ने इन्द्रियाँ बहिर्मुख बनाई हैं, अतः बाहर देखता है, भीतर अन्तरात्मा को नहीं देखता) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार एकमात्र बाह्य विषयों में लगी हुई वासनाओं के भार से आक्रान्त हुए हृदयरूपी नाभि से युक्त हो रही विषयरूपी कीचड में फँसी हुई जन्मरूपी रथ के चक्र की इन्द्रियरूप नेमियों (पहिये की तीली) का अज्ञानी द्वारा पंक से निकालकर शोधन नहीं किया जा सकता ।।४९।। अज्ञानी व्याध ने इन्द्रियरूपी गीधों के लिए (यानी शिकार के योग्य श्येन आदि के लिए) रागवश (मृगया के व्यसन से) अपनी देहपरम्परा को संसाररूपी अरण्य में दूर तक यानी सर्वत्र और सर्वदा मांस के पिण्ड की नाईं फैलाया है ।।५०।।

'आमिषपिण्डवत्' यहाँ पर वतिप्रयोग भ्रान्तिदृष्टि से भेद का अभाव होने पर सादृश्य का अभाव होने से किया गया है, इस आशय से कहते हैं।

वास्तव में मांस के लवमात्र और मृत्तिका के लवमात्र रूप मनुष्य, पशु, मृग आदि प्राणियों से तथा हिमालय, विन्ध्याचल, मलय आदि पर्वतों से प्रचुर दृष्टियाँ मोह से (तत्त्व के अज्ञान से जनित कल्पना से) लक्षित होती हैं ।।५१।। असीम संकल्प–कल्पनारूपी कल्पवृक्ष सबसे बढ़कर है, क्योंकि अत्यन्त असत् भी पदार्थों से सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति–सामर्थ्य वह रखता है, अज्ञानवश उसीसे जगत–रूपी पत्तों की परम्परा विस्तृत हुई है ।।५२।। उस कल्पवृक्ष पर चित्र–विचित्र रचनाओं से युक्त भोगों में अत्यन्त आसक्त पक्षी रहते, प्रकाशते, प्रविष्ट होते और विलास करते हैं ।।५३।। उस कल्पवृक्ष पर जन्म ही पल्लव हैं, कर्मों का समूह ही कलिका है, पुण्य–पाप ही फल हैं और विभव सम्पत्तियाँ ही मंजरियाँ हैं ।।५४।। अज्ञानरूपी चन्द्रमा के उदय से ही इस संसारूपी अरण्य के भाग में स्त्रीरूपी लताएँ विस्पष्टरूप से उत्तम शोभा प्राप्त कर रहीं हैं ।।५५।।

अज्ञान में उक्त चन्द्रत्व का उपपादन करते हैं।

विवेकरूपी सूर्य के अस्त समय में उदित होनेवाला, जन्मसमूहरूपी कलाओं से परिपूर्ण, निष्प्रपंच ब्रह्म में प्रकाशित हो रहा दोषों का स्वामी अज्ञानरूपी चन्द्रमा ही संसार का सबसे बढ़कर हेतु है ।।५६।। वासनारूपी अमृत से युक्त आशारूपी चकोर पक्षियों का पोषण करनेवाले चित्तरूपी आकाशमणि के (सूर्य के) रस को (अमृत को) चाहनेवाले अज्ञानरूपी चन्द्रमा के प्रसाद से ही राजहंस की नाईं विलासयुक्त, हिमालय की नाईं शीतल अंगों से युक्त तथा चपलनेत्ररूपी भ्रमरों से समन्वित कान्तारूपी कुइयाँ प्रकाशित होती हैं ।।५७,५८।। सुन्दर केशरचनारूपी तिमिर के उल्लास से युक्त तथा सुशोभित श्वेत पयोधरों से युक्त रमणीरूपी रात्रियाँ जो राजित होती हैं, वह द्रष्टाओं की मूर्खता का ही प्रताप है

यानी मूर्खता ही रमणीशोभाकार से परिणत होती है, वास्तव में वहाँ कुछ भी शोभन पदार्थ नहीं है ॥५९॥

अज्ञान ही समस्त अनर्थों का हेतु है, यों बतलाते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कि विषयों में केवल ऊपर-ऊपर से दिखाई पड़नेवाली मधुरता, अनर्थपर्यवसायितां,आद्यन्तवत्ता, देशतः परिच्छिन्नता और समस्त अवस्थाओं में नश्वरता प्रसिद्ध है, वे सब अज्ञानरूपी वृक्ष के ही फल हैं, चूँकि उस प्रकार के नानाकृति अनेकविध फलबीजांकुर परम्परा से अज्ञान-वृक्ष से जगदाकार रूपतः फैले हुए हैं, इसलिए उनके मूलभूत अज्ञान का ही उच्छेद कर देना चाहिए ॥६०॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

अनर्थ आदि में काम आदि के द्वारा होनेवाली रम्यतायुक्त
अर्थरूपता अज्ञान की विभूतियाँ हैं इसका सविस्तार वर्णन।

सबसे पहले महाराज वसिष्ठजी सम्पूर्ण विवेक का अपहरण करनेवाली तथा तत्क्षण अनर्थ गर्तों में गिरानेवाली प्रस्तुत स्त्रियाँ ही अज्ञान और काम की महाविभूतियाँ हैं, इस आशय से उन्हींका पहले वर्णन करते हैं।

मदरूपी चन्द्र के उदित होने पर मोतियों से वेष्टित तथा रत्नों से सुशोभित स्त्रियाँ क्षुब्ध कामरूपी क्षीरसमुद्र के तरंगों की नाईं जो दिखाई पड़ती हैं, वह केवल अज्ञान की ही विभूति है ॥१॥

कपोल-तलरूप दोला से दोलित स्त्रियों की दृष्टियाँ सुवर्णमय कमल के कोश में अवस्थित चपल भ्रमरों के पटल की जो शोभा धारण करती हैं, वह अज्ञान की ही विभूति है ॥२॥ वसन्तकाल में वनखण्डों में, वृक्षों में और भूमि में कामदेव के अनुचर की नाईं कामियों को मद उत्पन्न करनेवाले जो सुन्दर पुष्प दिखाई पड़ते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३॥

कच्चे मांस का भक्षण करनेवाले गीध, गीदड़, कुत्ता आदि के कवल के (कौर के) योग्य अंगोंवाली स्त्रियों की चन्द्र, चन्दन और कमल के साथ उपमा दी जाती है, वह भी अज्ञान का ही विलास है ॥४॥ वास्तव में लहू या पीव (मवाद) की दुर्गन्ध ही जिसकी सुगन्ध है, ऐसी स्त्रियों की स्तन-श्रेणी जो लोक में सुवर्णकलश, कमल-की कली एवं बिजोरा नींबू के सदृश दिखाई पड़ती है, वह केवल अज्ञान की ही विभूति है ॥५॥ लार से भीगा ओष्ठनामक मांस का टुकड़ा जो रसायन, अमृत, मधु, बिम्ब और मद्य के साथ उपमा दिया जाता है, वह भी अज्ञान का ही विलास है ॥६॥ प्रत्येक का विभाग कर यदि देखा जाय, तो छोटे-छोटे पोर के सदृश आकारवाले जो भुजात्मक क्रूर हड्डीरूपी बर्छियाँ हैं, उनका सुन्दर भुजलता आदि उत्तम शब्दों से कवि लोग जो वर्णन करते हैं, वह भी अज्ञान की विभूति है ॥७॥

इसी प्रकार कदली के स्तम्भयुगलरूपी जंघाओं की सामग्री से युक्त सुन्दर रमणियों के द्वारा धारण की गई तथा स्तनरूप कलशों की शोभा से द्रष्टाओं के नेत्रों को आनन्द देनेवाली तोरणपंक्ति यानी काम-मन्दिर की तोरणमालारूप रूप करधनी सुशोभित हो रही है, इत्यादि रूप से कवि लोग करधनी का जो वर्णन करते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥८॥ आरम्भ-आरम्भ में मन्द लोगों को अत्यन्त

मधुर लगनेवाली अथवा ऊपर–ऊपर से थोड़ी मोठी, व्ययकाल में राग–द्वेष आदि द्वन्दों से पर्यवसित होनेवाली तथा शीघ्र क्षयस्वभाव होने या कुछ लोगों में ही दिखाई पड़ने के कारण विरल रूपता को धारण करनेवाली लक्ष्मीकी भी जो अभिलाषा की जाती है, वह भी अज्ञान का प्रभाव है ॥९॥ जो बुद्धि दुःख प्राप्त करती है, जो सुख हजारों शाखाओं के रूप में विभक्त हो जाता है तथा जो अनेक कर्मफलरूपी श्रियाँ, जो कि दुःखरूपी शाखाओं से विस्तृत हैं, उत्पन्न होती हैं, वह भी अज्ञान का ही प्रभाव है ॥१०॥

जब अनेक तरह की लक्ष्मियाँ अज्ञान की ही विभूतियाँ हैं, तब उक्त लक्ष्मियों के उत्पादक काम्य कर्मों में प्रवृत्ति करानेवाले कर्मकाण्ड के वचनों की भी अज्ञानविभूतिरूपता इसलिए सिद्ध ही हो जाती है, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामजी, कर्मकाण्ड की वाणी भी अज्ञान की विभूति ही है। वह (कर्मकाण्ड की वाणी) काम्य कर्मों के विस्ताररूपी जंगल में रहती है, जिस प्रकार लता जालों से घनाकृति रहती है, उस प्रकार यह भी अनेक फलाभिलाषाओं के जालों से घनाकृति (निबिडाकार) रहती है। अतएव वे देवता आदि के ऋणों से आक्रान्त कर्मप्रधान जीवों के कारागृह की रक्षार्थ एक प्रकार की रज्जुस्वरूप हैं एवं राग और चपलता से आक्रान्त ओठ के सदृश हैं। गीता में 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादि से इसी विषय का स्पष्टीकरण किया गया है ॥११॥

मोहवश स्वतः ही काम्य कर्मों में प्रवृत्त हो रहे पुरुषों को पुनः शास्त्र से भी प्रवृत्त कराना उसी प्रकार अनुचित है, जिस प्रकार स्वतः कुएँ में गिर रहे उन्मत्त या अन्धपुरुष को बलपूर्वक गिराना, इस आशय को रखकर मोह से स्वतः प्रवृत्ति होती है, यह बतलाते हैं।

जैसे स्वतः श्यामल, वर्षाकाल में रज से कलुषित और उसमें भी रात्रि में अन्धकार से अत्यन्त श्यामरूपता को प्राप्त हुई कालिन्दी स्वतः बहती है वैसे ही प्रवृत्तिरूपी आसारों से (धारासंपात वर्षा से) विस्तृत हुआ मोहरूपी कुहरा चिरकाल से स्वयं ही बह रहा है यानी पुरुष को अन्ध बनाकर विषयों में हठात् प्रवृत्त कराता है, यह भाव है ॥१२॥

भोग में प्रवृत्त हुए पुरुष को पुत्र, पौत्र आदि विषयों में राग की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती रहती है, ऐसा कहते हैं।

आपाततः अनेकविध सांसारिक सुखों में निपुण; परिणाम में दुख में पर्यवसायी; द्वेष, मात्सर्य, आदि चिन्ता का उत्पादक होने के कारण स्नेहशून्यतापूर्वक अन्तःकरण में कटुता पैदा करनेवाला और जन्मरूपी विषलता के पल्लवों, रस की नाईं, वृद्धि करनेवाला राग बढ़ता रहता है ॥१३॥

तदनन्तर क्रमशः पुत्र आदि का मरण होनेपर उनके वियोग की परम्परा होती है, इस आशय से कहते हैं।

व्याधि आदि से जर्जर पुत्र आदि कुटुम्बी जनसमूहरूपी पत्तों की पंक्तियाँ जिन्होंने गिरायी हैं और आँधी के कणों की नाईं, विवेक दृष्टियों का अपहरण करनेवाले विक्षेपविशेष जिन में विद्यमान हैं, ऐसे दुष्कर्मपरिपाकरूपी पवन जो बहते हैं, वह भी अज्ञान का विलास ही है ॥१४॥

तदनन्तर अपनी भी मृत्यु हो जाती है, इसलिए सर्वदा ही इसी प्रकार जन्मपरम्परा से मरण के मुख में प्रवेश होता रहता है, यों कहते हैं।

जिसने अनन्त जगतरूपी पके फलों को कवलित कर दिया है और जो सदा खाने की चेष्टा कर रहे उदर से युक्त है, ऐसा यह काल कल्पों तक जो तृप्त नहीं होता, वह भी अज्ञान का विलास है ॥१५॥

इस प्रकार परिवर्तमान अज्ञानी जीवों का सर्परूप से वर्णन करते हैं।

त्रिविध तापों से शून्य अचल ब्रह्म के प्रकाशरूपता को प्राप्त हो रहे जीव इस संसार में एक तरह के सर्प ही हैं, क्योंकि वे मोहरूपी वायु का अपने अन्दर पूरणकर, स्थित तथा फिर-फिर पृथक् हो जानेवाली नानादेहरूपी त्वचाओं से उपलक्षित होते हुए कुटिलगति से चलते-फिरते हैं। यह भी अज्ञान का विलास है ॥१६॥

उनके द्वारा प्रत्येक जन्म में प्राप्त किया जानेवाला यौवन भी-मोक्षहेतु विवेक, वैराग्य, श्रवण आदि में उपयोग न होने के कारण निरर्थक ही है, इस आशय से कहते हैं।

चिन्तारूपी पिशाचों से उपहत, विवेकरूपी चन्द्रमा के उदय से शून्य, अतएव अन्धकार की तरह प्रकाश रहित उनकी यौवनरूपा रात्रि जो निकल जाती है यानी व्यतीत हो जाती है, वह अज्ञान का ही विलास है ॥१७॥

इसी प्रकार उनकी जीभ आदि इन्द्रियाँ भी व्यर्थ और प्रयोजन शून्य हैं, ऐसा दिखलाते हैं।

कमल कोटर के कोने में अवस्थित भी सूत्र यानी कमलसूत्र से दृढ़ अवलम्बित भी भीतरी दल जैसे हिमप्रपातों से जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, वैसे ही स्त्री, पुत्र आदि प्राकृत यानी पामर जनों का क्षोभ निराकरण करने के लिए किये गये अनेक संतापों से जीभ एवं अन्यान्य चक्षु आदि इन्द्रियाँ जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥१८॥ दुःख और शोकरूपी महान ग्रन्थियों से युक्त, कष्टरूपी कण्टकों से आकीर्ण दरिद्रतारूपी दृढ़ शाल्मली वृक्ष जो हजारों शाखा-प्रशाखारूपता को प्राप्त होता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥१९॥ सत्य वस्तु का अवलम्बन न होने के कारण अन्तःशून्य (सारहीन) कोटरयुक्त, अपनी उन्नति के भार से विदीर्ण चित्तरूपी चैत्यवृक्ष में निवास करनेवाला लोभरूपी उल्लू जो अज्ञानरूपी कृष्ण-पक्ष की रात्रि में विशेषरूपसे गर्जन करता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२०॥ आरंभकाल में पहले कानों के संनिहित कपोल प्रदेश का ग्रहण कर चारों ओर से निश्चयपूर्वक स्फुरणशील जरारूपी जर्जर बिल्ली जो यौवनरूपी चूहों का भक्षण करती है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२१॥

अज्ञान से ही दूसरी बार सृष्टि का विस्तार होता है, यह दिखलाते हैं।

सारभूत वस्तु से सदा शून्य, रचना करने के लिए उपक्रान्त, पर्वतों की नाईं समुन्नत फेन की पिण्डिका के सदृश जो जगत-दृष्टि दृढ़ता प्राप्त होती है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२२॥ चिदाभास-प्रकाशरूपी पुष्पों से उज्जवल, व्यावहारिक सत्यतारूपी लता, जिसमें जगतरूपी पल्लव हैं और जो धर्म, अर्थरूपी फल धारण करती है एवं विकसित होती है, यह भी अज्ञान का विलास है ॥२३॥ जिसमें बड़े-बड़े पर्वत ही स्तम्भ हैं, सूर्य, चन्द्र ही झरोखे हैं, गगन ही छपरा या छत है, ऐसा जगत-त्रयरूपी घर जो स्थिति को प्राप्त होता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२४॥ अत्यन्त विस्तीर्ण संसाररूपी सरोवर में उत्पन्न शरीररूपी पुष्करों में (कमलों में) अन्तःस्थ चिद्रूप रस का

पान करनेवाले प्राणरूपी भ्रमर जो भ्रमण करते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२५॥ आकाशमार्गरूपी नीलमणि से निर्मित महान कृत्रिम भूभागरूपी निरन्तर शोभायमान भुवनोदर में दिव्यातिदीव्य सूर्यदीपिका जो जलती है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२६॥ आशारूपी सूत्र से बंधी हुई, अपनी वासना–शलाकारूप शरीर में जो जगत के अन्तर्गत जीवसमूहरूपी पक्षिणी निबद्ध है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२७॥ निरन्तर पतनों से युक्त पृथ्वी आदि भूतरूपी पत्रपरम्परावली सृष्टिलता जो प्राण–वायु से कम्पित होती हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२८॥ स्वात्मतादात्म्य अध्यास से जिन्होंने रक्त, मांस, मल, मूत्र आदि देहरूप उग्र नारकीय कीचड़ का तिरस्कार कर दिया है, ऐसे उक्त शंका से निर्मुक्त होकर 'हम कुलीन महाशय हैं' इस प्रकार अभिमान करके कुछ काल तक जो फूलकर स्थित रहते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥२९॥ नील मेघरूपी सेवार से युक्त, आकाशमार्ग में स्थित स्वर्गरूपी सरोवर में चन्द्रखण्ड की कणिका का उपभोग करनेवाले देवतारूपी सारस पक्षी जो प्रस्फुरित होते हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३०॥ विविध काम्य कर्मों के फलरूपी भ्रमरों से मलिन, वासनाओं के जालों से वेष्टित तथा स्पन्दरूपी सुगन्ध से प्रचुर जो क्रियारूपी कमलिनी विकसित हो रही है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३१॥ संसाररूपी स्वल्प जलाशय में प्रस्फुरित हो रही सृष्टिरूपी बिचारी क्षुद्र मछली को (सौरी नामक मछली को) शठ कृतान्तरूपी (काल) वृद्ध गीध जो पकड़ लेता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३२॥ जलतरंगों के फेनों की माला की नाईं भंगुर तथा एकमात्र तत्स्वरूप भी अन्य के सदृश प्रतीयमान प्रतिदिन पृथक् परिमाणवाली चन्द्रलेखा के सदृश जो सृष्टि–वैचित्र्य उदित होता है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३३॥ क्षणभर में विनष्ट हो जानेवाले अनेक भूतरूपी सकोरों का निर्माण कर रहा कालरूपी कुम्हार इस संसारचक्र का जो परिवर्तन करता है, वह भी अविद्या का विलास है ॥३४॥ अचल ब्रह्मरूपी पद में उत्पन्न सम्पूर्ण व्यवहारों में समर्थ असंख्य जगतस्वरूप जंगलों के जाल युगान्तरूपी अग्नि से जो दग्ध हो जाते हैं, वह भी अविद्या का प्रभाव है ॥३५॥ निरन्तर उत्पत्ति और विनाश से, दुःख और सुख की सैकड़ों दशाओं से उस प्रकार जगत्स्थिति जो विपरिणाम को पुनः–पुनः प्राप्त होती है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥३६॥

इस प्रकार की अनर्थ–परम्परा का परिज्ञान होने पर भी अज्ञानियों को वैराग्य क्यों नहीं होता, इस पर कहते हैं।

वासनारूपी जंजीरों से बँधी अज्ञानियों की दृढ़ मूर्खतारूपी धीरता क्षुभित युगों के आवागमन तथा कठोर वज्रों के आघातों से भी विदीर्ण नहीं होती, इसलिए अज्ञानियों को वैराग्य नहीं होता ॥३७॥

ज्ञान से अज्ञान का बाध होने पर भी जो वासना अधिकारप्राप्ति के अनुकूल प्रारब्ध के बल से इन्द्र आदि शरीर, दूसरे मनु के आगमन तक, धारण करती है, उसका दूसरे किस कारण से विनाश प्राप्त होगा ? इस आशय से दृष्टान्त देते हैं।

अपने पराक्रमों से सैकड़ों पराजित भी शत्रुओं का फिर युद्ध की अभिलाषा से पालन करनेवाली दानवपुत्रों द्वारा भी सब प्रकारों से प्रशंसित हुई इन्द्रदेह, जिसका पुनर्जन्म आदि विषय में वेग नष्ट चुका है, वासना अधिकारपर्यन्त (मन्वन्तर तक) जो धारण करती है, वह भी अज्ञान का विलास

है ॥३८॥ प्राणियों की सृष्टिरूपी धूलि की पंक्ति से युक्त नियतिरूपी आँधी कालरूपी सर्प के गले के भीतर सर्वदा प्रवाहरूप से जो प्रविष्ट होती है, वह भी अविद्या का नृत्य है ॥३९॥ विनाशरूपी बडवाग्नि के मुख में चारों ओर से सुख-दुःखात्मक फेनों से युक्त समस्त पदार्थरूपी जल अविरत ताप से जो गिरते हैं, वह भी अविद्या-नटी का नृत्य है ॥४०॥ एकमात्र अधिष्ठान ब्रह्म की सत्ता से अपने स्वरूप का लाभ करनेवाली तथा अतर्कित वासना के वैचित्र्य से प्रकम्पित हुई चित्र-विचित्र द्रव्यों की जो शक्तियाँ प्रस्फुरित होती हैं, वह भी माया का विलास है ॥४१॥ प्राणीरूपी गजमुक्ताओं से शोभित, अनन्त जगतरूपी बड़े-बड़े उन्मत्त गजों का कृंतान्तरूपी (कालरूपी) प्रचण्ड सिंह जो भक्षण कर डालता है, वह भी अविद्या का प्रभाव है ॥४२॥ उपभोग्य और महान होने के कारण जिनके लिए महेन्द्र, मलय आदि कुलपर्वत ही फलस्थानीय हैं; नभो गति और आकृति के सादृश्य से मेघ ही जिनके पंख हैं, ऐसे चारों ओर से फलों को बटोरनेवाले जगतरूपी पक्षी (उत्तरायण और दक्षिणायन मार्ग से निरन्तर परिभ्रमण कर रहे जगदात्मक जीवरूपी पक्षी) जो उत्पन्न होते, मृत होते और मरण तक जीवित रहते हैं, वह भी अज्ञान का प्रताप है। प्रकृत में मूल, मध्य और ऊर्ध्व भाग में क्रमशः नाग, मर्त्य और देवताओं के द्वारा महेन्द्र आदि कुलपर्वत उपभोग्य होने के कारण फलरूप से उत्प्रेक्षित किये गये हैं। दक्षिणायन मार्ग में धूम्ररूप से और अभ्रमेघरूप आदि से ऊर्ध्वगति के निर्वाहक होने के कारण मेघ पंखों के रूपमें उत्प्रेक्षित किये गये हैं, यह जानना चाहिए ॥४३॥

दृष्टि-सृष्टिपक्ष का अवलम्बन करके कहते हैं।

चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्तियों के सम्बन्ध से अति धवल चैतन्यदीवार में पाँच बाह्य इन्द्रियों के रंगों से विधातारूपी चित्रकार (दृष्टिमात्र से सृष्टि करनेवाला द्रष्टारूपी चित्रकार) संसाररूपी चित्र खींचा करता है ॥४४॥

उक्त दृष्टि-सृष्टि में स्थावर और जंगम पदार्थों के अनुभवों में जो विशेष है, उसका स्थावर पदार्थों में पहले दिग्दर्शन कराते हैं।

ये स्थावर जातियाँ-निरन्तर विनाशशील, समस्त पदार्थों का परिवर्तन कर देनेवाली, निमेष के शतांशभागरूपी अंग से युक्त, दुःखपूर्वक साधित असत्पदार्थरूप अंकुर से समन्वित तथा आत्मा का जगदाकाररूप से विर्वत करनेवाली सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल की कलना का एकमात्र भीतरी ध्यान से ही यानी बाहर के विस्पष्ट व्यवहार में असमर्थ अनुभव से प्रत्यक्ष कर अवस्थित रहती हैं ॥४५,४६॥

स्थावरों में विशेष बतलाने के बाद जंगमों में विशेष बतलाते हैं।

राग-द्वेष से उत्थित सुखदुःखात्मक जरामरणरूपी रोग से समस्त जंगमजाति जीर्ण-शीर्ण हो गई है ॥४७॥

जंगम जाति में भी कृमि, कीट आदि को दुःखानुभव अधिक होता है, यह उसके कारण प्रदर्शनमुख से बतलाते हैं।

भयंकर बड़े-बड़े पापों के कारण एकमात्र उनके फलों के ही उपभोग के अनुकूल ध्यान करना ही जिनका स्वभाव है, ऐसी कीटों की पंक्तियाँ इस जगतीतल में नियति के द्वारा पीड़ित होती रहती हैं ॥४८॥

'स यद्यद्देवासृजत०' (उसने जिस जिसका सर्जन किया, उस उसको भक्षण करने के लिए पकड़

लिया) इस श्रुति के अनुसार स्थावर और जंगम सबमें कालभक्ष्यत्व तुल्य ही है, इसे कहते हैं।

कभी भी ध्यान में न आनेवाले बिल में रहनेवाला, अतएव अदृश्य, महान फणधारी या प्रचुरभोग करनेवाला कालरूपी सर्प निर्भय होकर यह समस्त जगत क्षणभर में ही निगल जाता है ॥४९॥

इस प्रकार स्थावर पदार्थों में नियत समय पर फल, पुष्प आदि परिणाम का होना और अनिवार्य शीत, ताप आदि का सहना विशेष है, यह बतलाते हैं।

जिनके शरीर का मूलभाग पृथ्वी के छिद्र में प्रविष्ट हो गया है, ऐसे वृक्ष आदि स्थावर पदार्थ–भोगजंनक किसी स्वकीय या परकीय अदृष्ट को निमित्त बनाकर मनुष्य, पक्षी आदियों के द्वारा अपने शरीर में पीड़ित वसन्त आदि ऋतुविशेषों में विकसित कुसुम शोभा से सुशोभित तथा फलप्रद; शीत, वायु और ताप को सहने के कारण प्रौढ़ अतएव तप, शम, दम, तितिक्षा, औदार्य आदि उत्तम स्वभावों से सुसम्पन्न तपस्वी की नाईं–काल का अतिक्रमण किया करते हैं ॥५०॥

अब तीनों लोकों की तीन कमलों के रूप में कल्पना करके उसमें के प्राणियों की भ्रमर, समूह के रूप में उत्प्रेक्षा करते हैं।

जलपटल में अवस्थित त्रिलोकीरूपी कमल के कोटर में प्राणीरूपी भ्रमरों की पेटिका (समूह) बारबार गुंजाध्वनि जो किया करती है, वह भी अविद्या का विलास है। यद्यपि पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि एकमात्र पृथ्वी ही कमल के पत्ते की नाईं जल में स्थित है, न कि अन्तरिक्ष या स्वर्गलोक; तथापि अन्तरिक्ष एवं द्युलोक, त्रिवृत्कृत जल के कार्य होने के कारण, जलभाग में प्रतिष्ठित हैं ही, यह सूचन करने के लिए 'पटल' शब्द का उपादान किया गया है ॥५१॥

अब तत्–तत् फलों में नियत प्राणियों की क्रिया को काली के रूप में, ब्रह्माण्ड को उसके भिक्षा के पात्ररूप में अण्डज आदि चार तरह के प्राणियों को उसकी भिक्षा में प्राप्त द्रव्यरूप में उत्प्रेक्षित करते हैं।

जिसके करकमल में ब्रह्माण्डरूपी भिक्षा का पात्र है, ऐसी भगवती कालपत्नी काली पूर्वगृहीत भूतरूपी भिक्षा का अपने पति काल को पुनः पुनः समर्पण कर दूसरी–दूसरी भूतभिक्षा ग्रहण करने की इच्छा करती है ॥५२॥

अब क्रियाओं के फलभूत त्रिलोकी की वृद्धकामिनी के रूप में उत्प्रेक्षा करते हैं।

त्रिलोकी एक तरह से वृद्धकामिनी ही है, वह कैसी है ? स्वरूपाच्छादक तुच्छ अन्धकार ही उसके केशपाश हैं, चन्द्र और सूर्य ये दो उसके चपल नेत्र हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर–ये तीन उसके आन्तर चेतनात्मक स्वभाव हैं, पृथ्वी, हिमालय आदि श्रेष्ठ पर्वत उसका बाह्य स्थूल देहस्थानीय जड़ात्मक स्वभाव है। एकमात्र ब्रह्मतत्त्व ही हृदय में विस्फोट के (फोड़े के) सदृश बन्धनों से आवृत होकर स्थित हुआ नित्य गोपनीय उसका स्तनमण्डल है, चिदाभासरूपा चितिशक्ति ही पोषण करनेवाली उसकी धात्री है, अतएव वह मोटी–ताजी है, तरल है, मेघ ही उसका चापल्य है। तारे ही उसके दाँत हैं, सन्ध्या ही उसके अरुणतर ओष्ठ हैं, समस्त बिसलताएँ ही उसके हाथ हैं, नील आकाशरूपी उत्तरीय वस्त्र से वह आवृत्त है, जम्बूद्वीप उसकी महानाभि है, वनशोभा उसकी रोमपंक्ति है। इस प्रकार की त्रिलोकी रूपी महान विभ्रमकारक वृद्ध कामिनी बार–बार उत्पन्न हो होकर जो

नष्ट हो जाती है और नष्ट होकर बार–बार जो उत्पन्न होती रहती है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥५३–५७॥

अब काल का महासमुद्र के रूप में वर्णन करते हैं।

प्रत्येक कल्परूप क्षण में क्षीण हो जानेवाले ब्रह्माण्डरूप प्रस्फुट बुद्बुद् भयंकर कालरूपी महासमुद्र में जो उत्पन्न और विनष्ट हो जाते हैं, वह भी अविद्या का विलास है ॥५८॥

सैकड़ों भ्रम और तृष्णारूपी अगाध जल–प्रवाह जिसमें बह रहा है, ऐसे काल–रूप महानद में बार–बार स्थित हो–होकर कल्परूपी निमेषमात्र में जो कारणभूत हिरण्यगर्भरूपी सारस पक्षी उड़ जाते हैं, वह भी अविद्या का विलास है ॥५९॥

काल की मेघ के रूप में कल्पना करते हैं।

उत्पन्न हो–होकर नष्ट हो जानेवाली प्रतप्त सृष्टिरूपी ये बिजलियाँ, जिन्हें चित्प्रकाश के आश्रय से प्रकाशशक्ति प्राप्त हुई हैं, जो प्रस्फुटि होती हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥६०॥ अति उन्नत कालरूपी तालवृक्ष से ब्रह्माण्डरूपी फल की पंक्तियाँ, जिनके लिए प्राणीरूपी कौए उड़ते और निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं, गिर रही हैं, वह भी अविद्या–प्रभाव है ॥६१॥

श्रीरामजी, इसी ब्रह्मचैतन्य में निमेषमात्र में ब्राह्मी सृष्टि पैदा करनेवाले तथा क्षणमात्र में उसका संहार करनेवाले देवताओं के नियामक ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वररूपी कई जो देवाधिपति हैं, वह भी अज्ञान का प्रताप है ॥६२॥ हजारों बार निमेष के उन्मेषमात्र काल में जिन्होंने कल्पों के समूह नष्ट–भ्रष्ट कर दिये हैं, ऐसे कुछ रुद्र जो उस परमचित् में हैं, वह भी अज्ञान का विलास है ॥६३॥ वे देवनायक भी जिसके निमेष से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं, ऐसा भी कोई देवाधिदेव है, क्योंकि यह रुद्रपर्यन्त क्रियाओं की स्थिति यानी कर्म, उपासना और फलभाव की स्थिति अनन्त है। यह भी अविद्या–प्रभाव है ॥६४॥

यदि शंका हो कि यह सब किस तरह सम्भव हो सकता है ? तो माया में सभी का संभव होने के कारण इस विषय में असंभावना करना किसी प्रकार भी युक्ति युक्त नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

अनन्त संकल्पप्रचुर, समस्त विकल्पों से शून्य ब्रह्मरूप पद में सैकड़ों आश्चर्यों की पूर्ति करनेवाली ऐसी कौन–सी शक्तियाँ नहीं हैं ? अर्थात् सभी शक्तियाँ उसमें विद्यमान हैं ॥६५॥

अज्ञान–विभूतियों के विस्तार का उपसंहार करते हैं।

उस प्रकार सुदृढ़ संकल्पों से प्राप्त अर्थसमूह से देदीप्यमान जगत की जो यह कल्पना है, वह भी अज्ञान का विलास है ॥६६॥

कथित अर्थ का संक्षेप स्पष्टीकरण करते हैं।

श्रीरामजी, जो कुछ सम्पत्तियाँ हैं, जो कूछ निरन्तर चलनेवाली आपत्तियाँ हैं, जो बाल्य, यौवन, जरा, मरणरूपी महान सन्ताप हैं, जो सुख–दुःख की परम्पराओं में मंजन होता है, वह सब अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार की विभूतियाँ हैं ॥६७॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

जिस कारण अविद्या की जगद्रूपी विभूतियाँ है उसका पिछले सर्ग में
वर्णन करने के अनन्तर कार्य अविद्या का संसाररूपी वन की लता के रूप में वर्णन।

सबसे पहले विषय का निर्देश कर वर्णन–प्रकार की प्रशंसा करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस संसाररूपी अरण्य के एकदेश में विद्यमान कूटस्थ चिद्रूप पर्वत के तट में स्थित कार्यअविद्यारूपी लता कब और किस प्रकार विकसित हुई, इसका मैं वर्णन करता हूँ, आप सुनिये ॥१॥

यह कार्यअविद्यारूपी लता बड़े–बड़े मेरु आदि पर्वतरूप पर्वों (काण्ड की संधियों) से युक्त, चिदावारक ब्रह्माण्डरूपी त्वचा से आवृत और जनरूपी पत्र, अंकुर आदि विकासों से युक्त है, ये तीनों लोक इसकी देहयष्टि यानी अवयव संस्थान हैं ॥२॥

इस अविद्यारूपी लता में प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करनेवाले सुख, दुःख, जन्म, स्थिति, ज्ञान एवं अज्ञान–ये सब मूल और फल हैं ॥३॥

सुख आदि में मूलरूपत्व तथा फलरूपत्व का उपपादन करते हैं।

अनुभूयमान सम्पत्ति आदि सुखों से 'आगे भी मुझे इससे अधिक सम्पत्ति प्राप्त होवे' ऐसी रागस्वरूप अविद्या दृढ़तापूर्वक उत्पन्न होती है और वह अविद्या यज्ञ, दान आदि धर्मों द्वारा अन्त में सुखरूप फल प्रदान करती ही है, दारिद्रय आदि दुःखों से धन की तृष्णा आदिरूप अविद्या दृढ़तया उत्पन्न होती है और वह पापवासना से दुष्प्रतिग्रह, चौरी आदि अधर्मों में प्रवृत्ति द्वारा उससे भी अधिक दुःख रूप फल प्रदान करती ही है ॥४॥

जन्म से भी अविद्या उत्पन्न होती है और वह बाद में जन्मान्तररूप फल प्रदान करती ही है। जन्म से वह सत्ता प्राप्त करती है और बाद में स्थितिरूप फल प्रदान करती ही है ॥५॥ वह अविद्या अज्ञान से वृद्धि प्राप्त करती है और बाद में अज्ञानरूप फल देती ही है। ज्ञान से संवित्ति अर्थात् उत्तरोत्तर भूमिका की प्राप्तिस्वरूप ज्ञानवृद्धि प्राप्त करती है और अन्त में अर्थात् सप्तभूमिका में तत्त्वज्ञानरूप फल देती है ॥६॥

प्रसंगप्राप्त विषय का उपपादन कर प्रस्तुत लता का ही वर्णन करते हैं।

नानाप्रकार के उल्लासों से युक्त वासनारूप सुगन्धि से शोभित, घनीभूत पल्लवों से चंचल इस सृष्टिरूप लता का शरीर प्रकाशमान हो रहा है ॥७॥

'नाना प्रकार के उल्लासों से युक्त है' इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

यह लता दिवस समूहरूप पुष्पों से युक्त, रात्रिरूप चंचल भ्रमरों से समन्वित, रागादि दोषों के कारण दौड़ रहे यानी हिल रहे प्राणीरूप पल्लवों से भूषित और निरन्तर कम्पनशील है ॥८॥

कर्मरूप वायु के द्वारा पुनः–पुनः भ्रमित होकर यह सृष्टिलता कहींपर यानी किसी अधिकारी प्राणीरूप पल्लवभाग में स्थित विवेकरूप हथिनी के ऊपर गिर जाती है। तदनन्तर उस हथिनी द्वारा कभी विचाररूप सूँड़ के अग्रभाग से वह लता अपने आश्रयभूत विषयरूप वृक्ष से अलगकर कंपाई जाती है।

इस स्थिति में दुर्वासना रूप धूलि के नष्ट हो जाने पर भी यदि दैवात् सूँड़ से वह छूट जाती है, तो पुनः उसी विषयरूपी वृक्ष से लिपट जाती है ॥९॥ उत्पन्न होनेवाले मित्र, पशु आदि पल्लवों से पूर्ण, उत्पन्न हुए पुत्र, पौत्र आदि अंकुरों से दन्तुर (आनन्द से किंचित हास्ययुक्त मुखवाली), सब ऋतुरूप पुष्पों से शोभित तथा सम्पूर्ण प्रकारों के रसों से युक्त है। जन्मरूपी पर्वों में दुःख, रोग आदिरूप सर्पों से छिद्ररहित यानी भरी हुई, मरणरूप शाखाओं के सन्धिभूत छिद्रों में हठात् विदीर्यमाण होने से व्याकुल, विषयानूभव से उत्पन्न रागादि मकरन्दों से अर्थात् पुष्परसों से युक्त यह लता केवल विचाररूप घुन से नष्ट हो जाती है ॥१०,११॥

यह लता 'समस्त ऋतुरूपी पुष्पों से शोभित है' ऐसा पहले जो कहा गया है, उसका विवरण करते हैं।

प्रतिदिन आकाश में चारों ओर से विकसित हो रही चन्द्र, सूर्य आदि के सहित नवग्रहरूप ज्योतियों की जो पंक्तियाँ हैं। वे ही इस सृष्टिरूपी लता के वायु से चंचल हुए पुष्प हैं ॥१२॥

हे रघुकुल को आनन्द देनेवाले श्रीरामजी, आकाशमण्डल को पूर्ण करनेवाली अर्थात् व्याप्त कर स्थित हुई इस लता के ऊपर प्रस्फुरित आकारवाले नक्षत्र ही कलिरूपता को प्राप्त किये हुए हैं ॥१३॥ चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि के प्रकाश इस लता के उक्त पुष्पसम्बन्धी पराग हैं। इसी पराग से यह, शुभ्रांगी स्त्री के समान, लोगों के मनका आकर्षण करती है अर्थात् लोगों को मनोहर लगती है ॥१४॥

यह लता चित्तरूपी हाथी से प्रकम्पित, संकल्परूप मधुर कलनाद करनेवाली कोकिल से युक्त, इन्द्रियरूपी साँपों से वेष्टित और तृष्णारूपी चमड़े से आच्छादित, नील आकाशरूपी तमालवृक्ष के अवयवों के आश्रय से अत्यन्त विस्तार को प्राप्त, आकाश और पृथिवीरूप चारों ओर को जानुतुल्य संकुचित मूलस्तम्भों से युक्त, चतुर्दश भुवनरूपी वाटिकाओं से शोभित; सात समुद्रों की खाईरूपी सुन्दर आलवाल से आवृत एवं सम्पूर्ण समुद्रों के जल, क्षीर आदि से सिंचित होकर ब्रह्माण्डखण्डों के अधोभाग में विस्तृत जड़ों से बद्ध; काम्य कर्मों के बोधक तीनों वेदों से चंचल हुए कामीरूप भ्रमरों से युक्त, अतएव उन कामी जनों के भोग्यभूत स्त्रीरूप पुष्पसमूहों से शोभित, मनके स्पन्दरूप वायु से कम्पित, स्वाभाविक प्रवृत्तिवाले विपुलजनसमूहरूपी मूल, पत्र, काण्ड आदियों में भ्रमण कर रहे सूक्ष्म कीटों से युक्त, शास्त्रनिषिद्ध कर्मरूपी अजगर से व्याप्त, स्वर्ग की श्रीरूपी पुष्पमण्डप से शोभित तथा जीवों के जीवनोपायों से पूर्ण है। (इस सृष्टिरूप लता में प्रसिद्ध लता से विलक्षण अन्यान्य भी अनेक तरह के वैचित्र्य हैं, यह दिखलाते हैं–'नाना' से।) अनेक प्रकार के विषयवासनारूप गन्धों से अज्ञों को मत्त करनेवाली, विवेकियों के लिए तो अनेक प्रकार के उपशम–वैचित्र्यरूपी अनेक पुष्पों से प्रकाशमान, अनेक प्रकार के फलों की पंक्तियों से व्याप्त अनेक प्रकार के पुष्प एवं फलों के रस तथा पराग से विकसित, विभिन्न–विभिन्न आलवालों से (खाईयों से) वेष्टित, तरह–तरह के पक्षियों से युक्त, अनेक तरह की धूलियों से युक्त होने के कारण रूखी, नाना प्रकार के पर्वतरूप जालों से बद्ध, अनेक कलारूप कलियों से युक्त, अनेक वनसमूहों से ऊपर को उठी हुई, अनेक पर्वतों के तटोंपर आरूढ़ हुई तथा सदा अनेक प्रकार के दलों से शोभित है ॥१५–२२॥

वह अविद्यारूपी लता अनेक बार उत्पन्न हो चुकी है और उत्पन्न होनेवाली है; अनेक बार मर

चुकी है और मरनेवाली भी है। वह आधी कटी हुई है, और पूर्णरूप से भी कटी हुई है तथा प्रवाहरूप से न कटी हुई भी है ॥२३॥ वह अतीत काल में थी और वर्तमान काल में भी है, वह सर्वदा असत्पदार्थ के सदृश होती हुई भी सत्य पदार्थ के सदृश बार-बार अत्यन्त पल्लवित होती है तथा नित्य शोष को प्राप्त होती है ॥२४॥

यह कार्य अविद्या निश्चय ही महती विषलता है, क्योंकि अविचार से इसका आश्लेष यानी सम्बन्ध होने पर यह तत्क्षण संसाररूप विष से जनित मूर्च्छा देती है और पूर्वापर विचारित होनेपर तत्क्षण नष्ट हो जाती है ॥२५॥

कार्यअविद्या के स्वरूप का विचार करनेवाले तत्त्ववित् के प्रकाशमान पूर्ण आत्मा में वह अन्तःविलीन यानी बाधित हो जाती है और अज्ञानी पुरुष में तो भीतर चारों ओर से अनुवृत्त होकर अवस्थित रहती है। *(इस अनुवृत्ति का विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं – 'इतः' इत्यादि से।)* कहीं तो यह सृष्टिरूपा लता के समीप कहीं जल है, कहीं पर्वत है, कहीं तो नागों से युक्त है और कहीं देवताओं से सुशोभित है ॥२६॥ कहीं तो वह पृथिवीरूपता को प्राप्त हुई है और कहीं द्युलोकरूप से अवस्थित हुई है। उन्होंने कहीं चन्द्र और सूर्यरूपता प्राप्त कर ली है और कहीं तो तारों के आकार को धारण किया है ॥२७॥ यह सृष्टिरूपी लता कहीं तो तमरूप है, कहीं तेजोरूप है, कहीं आकाशरूप है, कहीं सस्यश्यामला (अशेष विशेष धान्यों से पूर्ण) है, कहीं पृथिवीरूप है, कहीं शास्त्ररूप है, कहीं वेदरूप है तो कहीं प्रलय और सुषुप्ति से विवर्जित है ॥२८॥

कहीं पक्षिरूप होकर उड़ती है, कहीं देवरूप होकर उत्थित होती है, कहीं स्थाणु होकर स्थित है और कहीं पवनभाव को प्राप्त हुई है ॥२९॥ कहीं पर नरकरूप होकर पातालकुहर में विलीन रहती है तो कहीं स्वर्ग में विलास करती है। कहीं देवपद को प्राप्त हुई है, तो कहीं कृमिरूप होकर स्थित हुई है ॥३०॥ कहीं विष्णुरूपा है, कहीं ब्रह्मारूपा है, कहीं रुद्ररूपा है, कहीं सूर्यरूपा है, कहीं अग्निरूपा है, कहीं वायुरूपा है, कहीं चन्द्ररूपा है तो कहीं यमरूपा है ॥३१॥

हे श्रीरामजी, इन समस्त भुवनों में उत्कृष्ट प्रभाव से चारों ओर व्याप्त हुए समस्त पदार्थों का संहार करनेवाले महादेव से लेकर अव्याकृतपर्यन्त अथवा अल्प प्रभाव के कारण जर्जर तृणरूपता को प्राप्त हुआ जो कुछ यह दृश्य प्रस्फुरित हो रहा है, उस सबको तत्त्वज्ञान द्वारा बाध करने योग्य अविद्यास्वरूप ही समझो, उसका अतिक्रमण अर्थात् बाध हो जाने पर आत्मा का लाभ यानी मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है ॥३२॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

तीन गुणों के विभाग, महादेव आदि की शुद्धसत्त्वरूपता, विद्या एवं
अविद्या के स्वरूप तथा उन दोनों से रहित वस्तु का वर्णन।

पहले सर्ग के अन्तिम 'दृश्यं स्फुरन्ननु' इत्यादि पद्य से जो महादेवजी आदि में अविद्यारूपता का प्रतिपादन किया गया है, वह एकदम असम्भव है, क्योंकि 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म',

'घृतरीतिघनीभूतसच्चिदानन्दविग्रहः' इत्यादि श्रुति-स्मृतियों में परब्रह्मरूपता तथा सच्चिदानन्दरूपता का उनके स्वरूपों में प्रतिपादन किया गया है। महादेवजी को अविद्यारूप मानने में 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित सर्वविद्याधिपतित्व का भी विरोध होगा। वासुदेव स्वरूप तुरीय तथा परब्रह्मरूप है, यह भी पुराणों में प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में महादेवादि की अविद्यारूपता नहीं हो सकती, यों शिवादि में अविद्यारूपता की असम्भावना कर रहे श्रीरामजी प्रसंगतः उसके रहस्य को भी जानने की इच्छा से पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, आकृतिमात्र से आविर्भूत अत्यन्त शुद्धस्वरूप' शिव, विष्णु आदि भी अविद्यास्वरूप ही हैं, इस प्रकार आपकी उक्ति का श्रवण कर मैं मिथ्या भ्रान्ति को प्राप्त हो गया हूँ, कृपापूर्वक आप उसका निवारण कीजिए ॥१॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, चूँकि निर्विकार शुद्धचित् का घी की नाईं स्वतः घनीभाव या मूर्ताकार हो नहीं सकता, इसलिए वे दोनों मायाधीन विर्वत युक्त ही हैं, यह मानना पड़ेगा। परन्तु श्रुतिप्रतिपाद्य निर्विकार परब्रह्मस्वरूपता के साथ विरोध न हो, इसलिए विवर्तत्व-प्रयोजक माया का अंश स्वच्छ, सूक्ष्मतम स्वरूप का अनावारक कहा जाता है, उसीको शुद्धसत्त्व कहते हैं, शुद्धसत्त्व अत्यन्त स्वच्छ, चित्प्रतिबिम्बका ग्राहक, सर्वविद्या का उद्दीपक, स्वरूप का अनावारक है, इसलिए प्रकृत में सर्वधिपतित्व का विरोध नहीं हो सकता। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केन कं पश्येत्', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्रुतियों से हम लोगों के तत्त्वज्ञान से बाध्य होने के कारण उक्त अंश में अविद्यारूपता है, इसलिए यहाँ पर कोई असंभावना है ही नहीं, इस आशय से उत्तर देने की इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी उक्त कल्पनाक्रम का उपक्रम करने के पहले सर्वप्रथम अधिष्ठान का दिग्दर्शन कराते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : संवेद्य से (जगदाकार से) रहित, सर्वविध उपद्रवों से वर्जित, समस्त जगत के संस्कार से संयुक्त माया से शबल होने के कारण सर्वात्मक अतएव सच्चित्प्रकाश से प्रचुर, कल्पनाओं से निर्मुक्त एकमात्र सत्स्वरूप ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति के पहले था ॥२॥

श्रीरामजी, सृष्टि के आरम्भकाल में अपनी सत्ता से स्थित हुई जगत-संस्कार के उद्बोधस्वरूप कला (चिदाभासस्फूर्ति), जल आदि में आवर्तलेखा के सदृश, कुछ पृथक स्वरूप की नाईं गुण और गुणी के भेदव्यवहार की योग्यतारूप से आविर्भूत होती है ॥३॥

जिस प्रकार मध्यान्ह प्रकाश, मन्द प्रकाश और छाया में सूर्य से विभिन्न तेज के अपकर्ष की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार उक्त कला की सूक्ष्म, मध्य तथा स्थूल यों तीन प्रकार से कल्पना की जाती है, सूक्ष्म कल्पना के पीछे उसकी कल्पना करनेवाले के द्वारा हिरण्यगर्भ के रूप से मध्य कला, फिर उसके बाद स्थूल विराट के आकार से स्थूल कला के रूप में ज्ञात होकर वह उसी प्रकार स्थित रहती है। चूँकि यह अव्याकृतोपाधिरूपा सत्त्व, रज और तमोरूपा प्रकृति त्रिधा अवस्थित है, अतएव इन सूक्ष्म आदि अवस्थाओं में भी तीन तरह से कल्पित होती है ॥४,५॥

प्रश्नोत्तरों की अनुरूपता के लिए प्रकृति की अविद्यारूपता बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, सत्त्व आदि तीन गुणस्वरूप धर्मों से युक्त प्रकृति ही अविद्या है, यही प्राणियों का

संसार है, इससे (प्रकृति से) पार पा जाना ही परमपद यानी मोक्ष कहलाता है ॥६॥

कार्य अविद्या और कारण अविद्या इन दोनों अविद्याओं में अनुगत एक–एक गुण के अवान्तर तीन–तीन भेद बतलाते हैं।

इस प्रकृतिरूपी अविद्या में जो तीन गुण बतलाये गये हैं, वे भी तीन प्रकार के हैं यानी सत्त्व, रज तम इनमें से प्रत्येक गुणका तीन–तीन प्रकार से भेद होता है ॥७॥

भद्र, इस प्रकार यह अविद्या गुणभेदों से नव प्रकार से विभक्त हो जाती है यानी सूक्ष्म, मध्य और स्थूल अविद्या का प्रत्येकशः तीन–तीन भेद होकर नव तरह की हो जाती है, जो भी कुछ यह दृश्य प्रपंच दिखाई पड़ता है, वह सब इसी अविद्या में आश्रित है ॥८॥

पहले विभाग में सत्त्वांश का उदाहरण देते हैं।

भद्र, ऋषि, मुनि, सिद्ध (देवयोनिविशेष), नाग, विद्याधर, देवता–ये अविद्या के सात्त्विक अंशस्वरूप हैं, यह आप जानिए ॥९॥

उसके अवान्तर विभाग में तीन विभागों का भी दिग्दर्शन कराते हैं।

श्रीरामभद्र, इस सात्त्विक विभाग के नाग, विद्याधर ये तामसिक अंशस्वरूप हैं, मुनि, सिद्ध ये रजोगुण के अंशस्वरूप हैं और शिव, विष्णु आदि देवता सात्त्विक अंशरूप हैं ॥१०॥

शिव आदि सत्त्वगुणान्तर्गत शुद्ध सत्त्वरूप हैं, इसमें युक्ति कहते हैं।

सत्त्वजातिरूप देवयोनि में शिव, विष्णु आदि अविद्या के प्राकृत गुणों से कभी भी अविद्यारूप आवरण को प्राप्त न होकर स्वाभाविक ही विद्या से स्व–स्वरूप पद को सदा ही प्राप्त हुए, अतः वे शुद्धसत्त्वस्वरूप हैं। इससे ब्रह्मा और शिव में राजस एवं तामसरूपता की मूर्ख मनुष्यों में जो प्रसिद्धि है, उसका खण्डन हुआ समझना चाहिए ॥११॥

इसीलिए उनके उपासकों को भी ज्ञानप्राप्ति के द्वारा पुनर्जन्म की निवृत्ति होती है, यह अत्यन्त प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, सात्त्विक शिवादि मूर्त्रित्रयात्मक प्राकृत अंश की जो उपासना करता है, वह पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह मुक्त कहलाता है ॥१२॥

इसीलिए शिवादि तीन मूर्तियों में आवरण न होने के कारण जीवन्मुक्तता स्वाभाविक है, इस आशय से कहते हैं।

हे महामते, उक्त हेतु से शुद्ध सत्त्वगुण के अंशभूत रुद्र आदि पुरुष (देवता) जगत्स्थितिकाल में, जब तक देह धारण किये रहते हैं, तब तक मुक्त होकर स्थित रहते हैं ॥१३॥ ये महात्मा देहस्थितिपर्यन्त जीवन्मुक्त होकर स्थित रहते हैं और देह का अन्त हो जाने पर विदेहमुक्त होकर शुद्ध ब्रह्मस्वभाव में स्थित हो जाते हैं ॥१४॥

प्रश्न के समाधान का उपसंहार कर प्रस्तुत विषय की प्रस्तावना करते हैं।

इस प्रकार विद्यारूपता को प्राप्त हुआ यह जो अविद्या का सात्त्विकस्वरूप बीज–भाग है, वह फलरूपता यानी कार्यअविद्यारूपता को प्राप्त होता है और उसका प्रलय होनेपर बीजरूपता यानी कारणअविद्यारूपता को प्राप्त होता है ॥१५॥

कार्यअविद्या के उदय और प्रलय का आधार होने से भी विद्याशरीरी वे शिवादि अविद्यारूप ही हैं, यों कहते हैं।

कारण अविद्या के अन्तगर्त जो शुद्ध सत्त्व–अंश है, वह विद्या है, उस विद्या से अविद्या (कार्यअविद्यारूप सृष्टि) उस प्रकार उदित होती है, जिस प्रकार जल से बुदबुदे उत्पन्न होते हैं और जिस प्रकार बुदबुदे जल में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस विद्या में ही कार्य अविद्यात्मक सृष्टि विलीन हो जाती है ॥१६॥

इसलिए विद्या और अविद्या का भेद भी कल्पित ही है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं।

जैसे जल और तरंग की द्वित्वभावना से ही भिन्नता है, वैसे ही विद्या और अविद्या की दृष्टि में भेदभावना से ही भिन्नता है, वस्तुतः नहीं; जिस प्रकार परमार्थतः जल और तरंग की एकरूपता ही है, उसी प्रकार अविद्या और विद्या भी एकरूप ही हैं, पृथक् कुछ भी नहीं है ॥१७॥

विद्यादृष्टि से विद्या और अविद्या दोनों का बाध होने पर सुतरां उनके भेद की प्रसक्ति नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

परमार्थतः सदधिष्ठान में विद्या और अविद्या नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, अतः विद्या और अविद्या–दृष्टि का यानी उनका भेद, विरोध आदि दृष्टि का परित्याग कर यहाँ जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वही वास्तव में विद्यमान है, दूसरा नहीं ॥१८॥

शंका हो कि विद्यादृष्टि से बाध्य होने के कारण अविद्या–दृष्टि का त्याग भले ही हो, परन्तु उसकी बाधिका विद्या–दृष्टि का त्याग किससे होगा ? तो इस पर कहते हैं।

हे रघूकुलभूषण, बाध के द्वारा अविद्या का अस्तित्व मिट जानेपर अविद्यानिरूपित (अविद्यानिष्ठ बाध्यता का आश्रय लेकर आनेवाली) बाधकता की सिद्धि ही नहीं हो सकती और विद्यमान प्रतियोगी के अधीन होने से व्यावृत्ति की (भेद की) भी प्रसिद्धि नहीं हो सकती, अतः विद्या और अविद्या–दृष्टि का अस्तित्व ही नहीं, इसलिए आप अवशिष्ट ब्रह्मरूप पदपर सुस्थिर हो जाइए ॥१९॥

न अविद्या नाम का पदार्थ है और न विद्यानाम का ही पदार्थ है, इसलिए यह कल्पना व्यर्थ है। (तब कौन वह अवशिष्ट वस्तु है उसको दिखलाते हुए बोध के पहले वही अविद्यारूप से कल्पित है, ऐसा कहते हैं।) वास्तव में आत्मा से अतिरिक्त अवशिष्ट कुछ भी नहीं है, यदि कुछ है, तो वह एकमात्र चित–वस्तु ही संवित रूप से अवस्थित है ॥२०॥

श्रीरामजी, वही अवशिष्ट चित्–वस्तु जब अज्ञातस्वरूप रहती है, तब वह अविद्या कही जाती है और जब विदित हो जाती है, तब वही सत्–स्वरूप एवं अविद्याक्षय इस नाम से कही जाती है ॥२१॥ छाया और धूप की नाईं परस्पर विरुद्ध विद्या और अविद्या दोनों में से विद्या का अभाव होने पर अपने मनोवांच्छिन्न चैतन्य में अविद्यानामक मिथ्या कल्पना का उदय होता है ॥२२॥

श्रीरामभद्र, उन परस्पर विरुद्ध विद्या और अविद्या दोनों में से अविद्या का बाध से चैतन्य में विलय हो जाने पर उक्त दोनों कल्पनाएँ क्षीण हो जाती हैं और उनका चैतन्य में अवस्थान हो जाता है, फिर परिपूर्णानन्दात्मक प्राप्तव्य चैतन्य परब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है ॥२३॥

शंका हो कि बाध न होने के कारण विद्या भी परिशिष्ट रूप से क्यों नहीं रहती ? तो इस पर

कहते हैं।

हे राघव, अविद्या के विनाश से विद्याकल्पना भी उस तरह क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार लकड़ी के विनाश से अग्नि। जो अवशिष्ट रहता है, वह सर्वबाधात्मक होने से कुछ भी नहीं है और परमार्थतः सद्–रूप होने से कुछ है भी, यह सब उसी से व्याप्त है ॥२४॥

अतएव उसका दर्शन ही तत्त्वतः सर्वदर्शन और सर्वबाधदर्शन है, ऐसा कहते हैं।

उक्त तात्त्विक रूप से वहाँ (परम चिति में) सब कुछ उस प्रकार दिखाई देता है, जिस प्रकार वटबीज में फल पुष्पादि से युक्त वटवृक्ष दिखाई पड़ता है और मायिकस्वरूप से कुछ भी नहीं दिखाई देता है; तात्पर्य यह है कि यद्यपि अज्ञानावृत दशा में वह अकिंचित्स्वरूपी है, तथापि वटबीज की नाईं, व्याकृत और अव्याकृत दोनों अवस्थाओं में स्थूल–सूक्ष्मीभूत सर्वात्मकत्वरूप किंचित्स्वरूपता प्रसिद्ध है ॥२५॥ सर्वविध शक्तियों का आश्रय ही किंचित् वस्तुरूपत्व है, वही समस्त पराक्रमों की पिटारी है। वह आकाश से भी बड़ा शून्यस्वरूप है और चिदात्मक होने से शून्यस्वरूप भी नहीं है ॥२६॥

जैसे सूर्यकान्तमणि में अग्नि है अथवा जैसे दूध में घी है, वैसे ही उस चिदात्मक शून्य में यह सब अवस्थित है, जैसे अग्नि से विस्फुलिंग बाहर निकलते हैं अथवा जैसे सूर्य से रश्मियाँ बाहर निकलती हैं, वैसे ही देश, काल और क्रम के उदयकाल में ये प्रसिद्ध सब जीवसंवित्तियाँ ब्रह्मचैतन्य से प्रस्फुरित होती हैं, इसीलिए 'अग्नि विस्फुलिंग' आदि न्याय से जीवों का उपाधियों के साथ चैतन्य से निकलना श्रुतियों में प्रसिद्ध है, यह आशय है ॥२७,२८॥

इसीलिए वह ब्रह्म समस्त जीवसंवित्तियों का कोश है, ऐसा कहते हैं।

जैसे समुद्र तरंगों का और निर्मल मणि रश्मियों का कोश (खजाना) है, वैसे ही अनन्त जीवसंवित्तिरूपी भ्रमस्थानीय रश्मियों का वह अविनाशी कोश है ॥२९॥

निर्गमन की अवधि के कथन और मणिप्रभा के दृष्टान्त से जीव और जगत की ब्रह्म से अन्यत्र स्थिति की प्रसक्ति का वारण करते हुए कहते हैं।

घटों में आकाश की नाईं समस्त वस्तुओं में बाहर और भीतर में सत्–स्वरूप अविनाशी (त्रिविध परिच्छेद से शून्य) चैतन्य वस्तु सदा सर्वदा विद्यमान रहती ही है। तात्पर्य यह है कि जैसे घट के उदर में व्याप्त आकाश का घट के आगमन और निर्गमन से आकाश में औपचारिक आवागमन होता है, वैसे ही जीव का भी आगमन निर्गमन औपचारिक ही है, वास्तविक नहीं ॥३०॥

इसी प्रकार जीव में कर्तृत्व भी औपचारिक ही है, इस आशय से कहते हैं।

जिस प्रकार लोहे में स्पन्दन होनेपर स्वतः क्रियाशून्य भी अयस्कान्तमणि (चुम्बक) में कर्तृता कही जाती है, उसी प्रकार स्वतः क्रियाशून्य भी आत्म–चैतन्य में कर्तृता कही जाती है ॥३१॥

श्रीरामजी, जिस प्रकार चुम्बक की एकमात्र सन्निधि से ही जड़ लोह स्पन्दित होता है, वैसे ही एकमात्र चैतन्सत्ता की सन्निधि से ही अचैतन्यरूप देह स्पन्दित होता है ॥३२॥

प्रतिपादित अर्थ का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

जगत के एकमात्र उपादानस्वरूप उस चिद्रूप अज्ञात् ब्रह्म में पूर्व–पूर्वानुभूत जगत्कल्पित वासना

से जनित उत्तरोत्तर कल्पना से ही यह जगत उस प्रकार अवस्थित रहता है, जिस प्रकार चित्र-विचित्र चंचल तरंगसमूह जल में स्थित रहता है, आकाश की अपेक्षा भी मूर्तअमूर्तरूपशून्य उस परब्रह्म के ज्ञात होनेपर कुछ भी भिन्न पदार्थ ज्ञातव्यरूप से बाकी नहीं रहता ।।३३।।

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

अविद्या से बन्धन की भ्रान्ति के द्वारा स्थावर पदार्थों में मन की स्थिति तथा बुद्धिपूर्वक विचार से बन्ध का मोक्ष, इसका वर्णन।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चूँकि जगत और जीव का भेद अज्ञात ब्रह्मस्वरूप ही है - इसलिए ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जो कुछ भी यह सब स्थावर-जंगमरूप जगत प्रतीत होता है, यथार्थ में वह कुछ भी नहीं है, कुछ भी पदार्थ भूतरूपता को प्राप्त नहीं हुआ है, यह आप जानिए ।।१।।

जिस परब्रह्म में भाव अभावात्मक (उत्पत्ति-विनाशात्मक) कुछ भी कल्पना नहीं हो सकती, उसी परब्रह्म के स्वरूपभूत ही जीव आदि सब कुछ प्रतीयमान पदार्थ हैं, अतः हे श्रीरामजी, आप निरर्थक मिथ्या पदार्थों की क्यों अभिलाषा करते हैं ? ।।२।।

हे श्रीरामजी, जिस प्रकार विमर्श करने पर रज्जु में हुए सर्पविभ्रम से किसी भी सर्प की उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार हृदय के भीतर यह देह में अहन्ता और बाह्य विषयों में ममतारूपी सम्बन्ध व्यपदिष्ट होता है, विचार करने पर उसकी किसी तरह उपलब्धि नहीं होती ।।३।।

भली प्रकार अपरिज्ञात अर्थात् न जाना हुआ आत्मा (ब्रह्म) ही जगत्भ्रान्ति को प्राप्त हुआ है और भली प्रकार परिज्ञात होने पर वह जीवादि-संविद् की सीमा की अन्तभूत आत्मरूपता को प्राप्त करता है ।।४।। चेत्य के बीजभूत मल का सत्ता के आरोप से आश्रय करती हुई चिति ही जगत में अविद्या नाम से कही जाती है और वही चेत्य के बीजभूत मल का अतिक्रमण करती हुई सम्पूर्ण उपाधियों से मुक्त होकर विद्या से आत्मरूपता को प्राप्त हो जाती है ।।५।।

इस प्रकार अविद्या का स्वरूप बतलाकर अब अविद्या-कार्यरूप उपाधि से आत्मा में बन्ध का विभ्रम दिखलाते हैं।

चित्त का तादात्म्य अध्यास होने से यह पुरुष चित्तप्राय है, इसीलिए चित्त के नष्ट होने पर वह पुरुष मानों नष्ट हो जाता है। और जैसे घट के रहने पर घटाकाश रहता है, वैसे ही चित्त के स्थित होने पर यह आत्मा भी स्थित रहता है ।।६।।

इसी प्रकार गति, स्थिति आदि चित्तधर्मों का भी अपनी आत्मा में पुरुष आरोप कर लेता है, यों कहते हैं।

अज्ञानी बालक की नाईं यह अज्ञान उपहित आत्मा चित्त के चलनेपर अपने आपको चलता हुआ देखता है, चित्त के स्थिर होने पर अपने को भी स्थिर देखता है, यह आत्मा इस तरह भ्रान्त इस चित्त को ही व्याकुल आत्मस्वरूप से देखता है ।।७।।

इसीलिए वह चित्तगत वासनाओं से अपने को बाँधता है, यों कहते हैं।

चूँकि यह चित्त बाल यानी विवेकशून्य है, इसलिए वह चित्तप्राय पुरुष मकड़ी की तरह अपने को चित्तगत वासनारूप दीर्घतन्तुओं से भीतर बाँधता हुआ भी नहीं जानता ॥८॥

पूर्व श्लोक में बालपदोक्त अविवेक के प्रसंग से, अविवेक की चरमसीमाभूत स्थावरों की चित्तस्थिति जानने की इच्छा कर रहे श्रीरामजी महामुनि वसिष्ठजी से पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे प्रभो, अत्यन्त घनीभाव को प्राप्त हुआ अविवेक (अज्ञान) स्थावर आदि शरीर को प्राप्त होता हुआ किस प्रकार अवस्थित रहता है, यह कृपा कर कहिए ॥९॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : अमनस्त्व को यानी सुषुप्ति की नाईं सुख-दुःख संवेदन की अयोग्यता के सम्पादक मन के लय को प्राप्त न हुए तथा पूर्वापर के विचार में समर्थ मननयोग्यरूप मनस्त्व से च्युत हुए मनस्त्व-अमनस्त्व के मध्यवर्ती मुग्धता रूप का आश्रय कर यह जीवचिति स्थावरों में रहती है ॥१०॥

हे ज्ञातव्य (ब्रह्म) के जाननेवालों में सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी, चित्‌अचित् का विवेक करने में असमर्थ बाह्य एवं आन्तर इन्द्रियों से युक्त, अतएव दुःख का प्रतीकार करने में अक्षम होने के कारण अत्यन्त दुःख देनेवाली चिति जहाँ स्थित रहती है, उन स्थावर शरीरों में मोक्ष अत्यन्त दूर रहता है, ऐसा मैं मानता हूँ; वहाँ कर्मेन्द्रियों से, ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से तथा मानस व्यापारों से शून्य होकर केवल सत्तामात्र से चिति रहती है ॥११॥

ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से शून्य होकर यदि सत्तामात्र से चिति स्थावर शरीर में रहती है, तो वैसी स्थिति में योगियों की तरह शीघ्र ही वासना का क्षय एवं मन का विनाश हो जाने से उनकी मुक्ति अदूरस्थित है – यही कहना उचित था, अतः 'दुरस्थिता मुक्तिः' यह कह रहे आपका क्या अभिप्राय है ? इस आशय से श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे वेद्यविदों में श्रेष्ठ, जिन स्थावर शरीरों में चिति एकमात्र सत्तारूप से स्थित रहती है, वहाँ मुक्ति तो अदूर ही स्थित है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१२॥

शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान से हुई चित्तशुद्धि और साधनचतुष्टय की सम्पत्ति से सहकृत श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से उत्पद्यमान तत्त्वसाक्षात्कार से जनित समूल वासनाक्षय एवं मनोनाश से हुई एकमात्र सत्तासामान्यरूप से चिति की स्थिति ही मोक्ष है, वह मोक्ष अनन्त पापरूप दुर्वासना बीजों से भरे हुए नारकीय स्थावरों को, शास्त्राधिकार योग्य जन्म दुर्लभ होने से अत्यन्त दुर्लभ है, इस प्रकार महाराज वसिष्ठजी अपनी उक्ति का अभिप्राय वर्णन करते हैं।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा : भद्र, शास्त्रों का बुद्धिपूर्वक विचार कर, आत्मा के यथार्थ अवलोकन से अर्थात् साक्षात्कार से जो सत्तासामान्य बोध होता है, वही अविनाशी मोक्षपद कहलाता है ॥१३॥ आत्मतत्त्व को जानकर वासनाओं का जो उत्तम यानी अशेष परित्याग है, उसे ही सत्तासामान्यरूप मोक्षपद कहा गया है ॥१४॥

ब्रह्मवेत्ता गुरु आदि के साथ शास्त्रों का विचार कर अध्यात्मभावना से अर्थात् मननपूर्वक निदिध्यासन से तत्त्व का साक्षात्कार करके सत्तासामान्य में जो निष्ठा होती है, उसी निष्ठा को मुनि लोग परब्रह्मपद कहते हैं ॥१५॥

स्थावर शरीरों में वह पद अत्यन्त दूर है, इसका उपपादन करते हैं।

श्रीरामजी, जहाँ भीतर बीज में अंकुर की नाईं अव्यक्त, अतएव सुप्त–सी वासना स्थित है, उसे ही आप पुनर्जन्म को देनेवाली सुषुप्ति की नाईं जानिए ॥१६॥ जिसके भीतर मानस व्यापाररूप मनन भली प्रकार लीन हो गया है तथा चारों ओर से जिसमें वासनाएँ तिरोहित हो गई हैं, वह पाषाणादि की तरह वृत्तिशून्य भी सुषुप्ति सैकड़ों जन्मरूपी दुःखों को देती है ॥१७॥ पत्थर की नाईं व्यापारशून्य ये सभी स्थावर आदि पदार्थ 'सुषुप्त' नाम को प्राप्त होने के कारण पुनः–पुनः जन्म के भागी होते हैं ॥१८॥

स्थावर आदि में वासना ही नहीं रहती, इस प्रकार किसी मन्दमति की शंका का परिहार करते हैं।

हे साधो, जिस तरह बीजों में अंकुर से लेकर पुष्प तक पदार्थ स्थित हैं एवं जिस तरह मिट्टी के ढेर में घट स्थित है, उसी तह स्थावरों के भीतर अपनी वासना भी स्थित है ॥१९॥ जहाँ वासना का बीज विद्यमान है, वह सुषुप्ति जन्म के लिए ही है, सिद्धि के लिए नहीं है और जिसमें ज्ञानाग्नि से वर्जित बीजशक्तिवाली वासना है, वह तुर्यपद मोक्षरूप सिद्धि को देनेवाला है ॥२०॥

अतएव स्वल्प भी वासना यदि अवशिष्ट रहे, तो अग्नि आदि के शेष की नाईं क्रमशः वह बढ़कर महान अनर्थ की जनक होती है, अतः उसका निःशेष क्षय करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

वासना का तथा अग्नि, ऋण, व्याधि और शत्रु का, स्नेह, विरोध एवं विष का जो शेष है, वह स्वल्प होने पर भी हानि पहुँचाता है ॥२१॥

ज्ञानाग्नि से निःशेष भस्म किया गया वासनाबीज से जिसने सत्तासामान्यरूपता प्राप्त कर ली है, ऐसा तत्त्ववेत्ता चाहे सदेह हो या विदेह हो, पुनः कभी दुःख का भागी नहीं होता ॥२२॥

स्थावरादि समस्त पदार्थों में चित् को आवृत करनेवाली चित्–शक्तिरूपा बीजस्वरूप वासना धान्यादि बीजों में अंकुरशक्ति जननस्वरूप रसकी नाईं सदा अवस्थित है ॥२३॥

वही चित्शक्ति बीज आदि आदि सभी कारणों में नानारूपसे स्थित है, यों कहते हैं।

वही चित्शक्ति बीज में उल्लासरूप से (पृथ्वी और जल के संयोग से होनेवाली प्रफुल्लता से अनुभूयमान अंकुरजनन शक्ति से), जड़धर्मवाले पदार्थों में जड़तारूप से, धन, रत्न आदि द्रव्यों में स्पृहणीयता में कारणभूत भव्यतारूप से, शिला आदि अन्य पदार्थों में कठिनता रूप से स्थित है ॥२४॥ और भस्म तथा धूलियों में प्राक्तन काष्ठ, पाषाण आदि के ध्वंसरूप तथा परमाणुरूप से, मलिनों में मालिन्य रूप स्थिति से एवं तलवार आदि में तीक्ष्णधारा के रूप से विद्यमान है ॥२५॥

घट, पट आदि सभी पदार्थों में आत्मा ही सत्तासामान्यरूपका ग्रहण कर जलाहरण, शीतनिवारण आदि नानाशक्ति होकर स्थित रहता है ॥२६॥ मेघजाल ही जिसका आच्छादक है, ऐसी वर्षा ऋतु जिस प्रकार आकाश को सर्वतः व्याप्त कर स्थित रहती है, उसी प्रकार यह अखिल चित्शक्ति सम्पूर्ण दृश्यदशा को व्याप्त करके स्थित है ॥२७॥

हे श्रीरामजी, इस अज्ञानावृत चित्शक्ति का यह अत्यन्त विचारा गया स्वरूप, जो असत्यभूत मायाविकार से तादात्मरूपता को प्राप्त होने पर भी सत् की तरह भासमान तथा असर्वात्मक होने पर भी सर्वतः व्याप्त के सदृश प्रतीयमान है, मैंने आपको बतलाया है ॥२८॥

हे श्रीरामजी, आत्मदर्शन के विरोधी अज्ञान से आवृत हुई यह आत्मदृष्टिरूपा चित्शक्ति संसाररूप भ्रम को देती है, और उसके विरोधी अज्ञान से अनावृत हुई सम्पूर्ण दुःखों का क्षय कर

देती है ॥२९॥ इस आत्मदृष्टि का जो अदर्शन (आत्मसाक्षात्कारविरोधी आवरणस्वरूप अदर्शन) है, उसे विद्वान लोग अविद्या कहते हैं, चूँकि अविद्या जगत की कारणभूत है, अतः उसी से सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति होती है ॥३०॥ आवरण आदि स्वरूप से शून्य यानी निस्तत्त्वरूप से अविद्या का ज्यों ही साक्षात्कार किया जाता है, त्यों ही तुरन्त वह उस प्रकार गल जाती है, जिस प्रकार धूप में तुषार का परमाणु गल जाता है ॥३१॥

अन्यान्य भी दृष्टान्त बतलाते हैं।

जिस प्रकार जिसकी नींद गलितावस्थ हो रही है, ऐसा पुरुष ज्यों ही बुद्धि से अपने चित्त के वृत्तान्त का तनिक विचार करता है, त्यों ही उसकी निद्रा नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार अविद्या के किंचित् विचारमात्र से अविद्या नष्ट हो जाती है ॥३२॥

रज्जु आदि के तत्त्व का पर्यालोचन करने पर होनेवाली सर्पादि भ्रम की निवृत्ति भी प्रस्तुत स्थल में दृष्टान्त है, इस आशय से कहते हैं।

ज्यों ही सर्पादि वस्तु का स्वरूप किस प्रकार का है –अर्थात् वह वास्तविक है या भ्रान्ति से केवल कल्पित है – यों विचार करते हैं, त्यों ही सर्पादि का भ्रम उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार द्वारा सम्पादित दर्शनशक्ति के प्रतिबन्ध का नाश होता है ॥३३॥ अंधकार का स्वरूप देखने की इच्छा से यदि कोई हाथ में दीपक लेकर आवे तो जैसे सम्पूर्ण तम नष्ट हो जाता है अथवा ताप से घी नष्ट हो जाता है, वैसे ही विचार से अविद्यासहित सम्पूर्ण जगत नष्ट हो जाता है ॥३४॥

तमोरूप अदर्शन–दृष्टान्त का ही विस्तृतरूप से विवेचन करते हैं।

दीप लाने पर जिस प्रकार अन्धकार के स्वरूप का निश्चय नहीं होता, किन्तु विशुद्ध स्वरूपवाला गाढ़ अन्धकार का नाश ही केवल उदित होता है, उसी प्रकार उक्त रीति से मन्द–विचार करने पर यह अविद्या मन्द हो जाती है और अच्छी तरह विचार करने पर न मालूम कहाँ भाग जाती है, यह अवस्तु अर्थात् कोई चीज न होने से असद्रूप है और विचार न करने से ही दीख पड़ती है ॥३५,३६॥

वह अवस्तु क्यों है ? इस आशंका पर अपना अनुभव ही उसके अवस्तु होने में प्रमाण है, यों कहते हैं।

प्रकाश के आने पर प्रसिद्ध अंधकार जैसे असद्रूप दीख पड़ता है, वैसे ही विचार से अविद्या भी असत्–रूप ही दीख पड़ती है। (यदि शंका हो कि अंधकार तम का प्रकाश से बाध नहीं होता, क्योंकि उसके निषेध में त्रैकालिकत्व की प्रतीति नहीं है, किन्तु उष्णता से जलकी शीतता की तरह तिरोधानमात्र होता है, क्योंकि प्रकाश के चले जाने पर पुनः उसका दर्शन होता है, इस पर कहते हैं।) अंधकार को अवस्तु मानने में वैसी भले ही आपत्ति हो, परन्तु त्रैकालिक बाध का अनुभव होने से अविद्या में अवस्तुत्व ही प्रतीत होता है। सारांश, अविद्या के अवस्तुत्व में अनुभव ही प्रबल प्रमाण है ॥३७॥ शुक्ति और रज्जु आदि अथवा रजत एवं सर्प आदि कोई भी वस्तु जब तक विचार कर नहीं देखी जाती, तब तक वह यथार्थरूप से नहीं दीख पड़ती और विचारपूर्वक देखने पर जिस स्वरूपकी अविद्या और जिस तरह वस्तुत्त्व रहता है, वह उसी तरह दीख पड़ता है ॥३८॥

किस प्रकार विचार कर देखना चाहिए, यह कहते हैं।

रक्त, मांस तथा अस्थिमय इस देहयन्त्र में 'मैं स्वयं कौन हूँ ?' इस प्रकार ज्यों ही विचार किया जाता है, त्यों ही सभी अविद्या-परिवार शीघ्र विलीन हो जाता है ॥३९॥

उस प्रकार के विचारवाले मन से आदि-अन्तवाले में असद्रूप सम्पूर्ण दृश्यमात्र का परिहार हो जाने पर जो शेष रूप से चिदात्मा रहता है, उसे ही विद्वान अविद्या का क्षय कहते हैं, क्योंकि अध्यस्त पदार्थ का बाध अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता ॥४०॥ वह शेषरूप ब्रह्म अविद्या के आवरणदशा में किंचित् वस्तुस्वरूप से प्रतीत नहीं होता, उसकी नाश दशा में किंचित् वस्तुरूप से प्रतीत होता है। वही शाश्वत सत्-स्वरूप ब्रह्म है, वही वस्तु और उपादेय है, क्योंकि उसीसे अविद्या निवृत्त हो जाती है ॥४१॥

बाध्य जगत की स्वरूपशून्यता अथवा उसके बाध की आत्ममात्ररूपता मानने में प्रमाणान्तर की अन्वेषणा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि माया अविद्या आदि नाम स्वरूपशून्य, बाध्य, स्वप्नावस्था में अनुभूयमान पदार्थों में ही रूढ़ हैं, यों कहते हैं।

'अविद्या' इस अपने नाम से ही इसके स्वभावरहित रूप का ज्ञान हो जाता है, जैसे जिह्वागत आस्वाद्य पदार्थों का रस और किसी दूसरे से प्रतीत नहीं होता ॥४२॥

अविद्यानाम की वस्तु भी नहीं है, यह सब जगत अखण्डित ब्रह्मस्वरूप ही है, जिसने सत् एवं असत् कल्पना के विस्तारभूत इन सम्पूर्ण जगत का निर्माण किया है ॥४३॥

ऐसी अवस्था में अविद्या और उसके क्षय का फलित निष्कृष्टस्वरूप कहते हैं।

'यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्मस्वरूप नहीं है' इत्याकारक निश्चय ही अविद्या का स्वरूप है और 'यह जगत ब्रह्मरूप है' यह निश्चय ही उसका विनाश है ॥४४॥

उक्त अर्थ का ही विवरण कर रहे महाराज वसिष्ठजी प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, घट, पट, शकट आदि रूप से अवभासमान यह जगज्जाल 'अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप नहीं है, किन्तु उससे अन्य है' यों आरोपित निश्चय यदि हुआ, तो अविद्या उदित हुई- यह आप जानिए, और इसकी अपवाद-भूत घट, पट, शकट आदि रूप से भासमान यह जगज्जाल 'अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप ही है, उससे भिन्न नहीं' यों अपरिच्छिन्न सन्मात्र दृष्टि यदि उदित हुई, तो अविद्या गलित हुई यानी उसका क्षय हुआ - ऐसा आप जानिए ॥४५॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

जिस दृष्टि से हरि, हर आदि जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं,
'सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही है' इत्याकारक उस दृष्टि का श्रीरामजी को उपदेश, यह वर्णन।

पूर्व में उपदिष्ट ही विषय का पुनः-पुनः जो विभिन्न प्रकारों से उपदेश दिया जाता है, वह उपदेश्य विषय के बोध की दृढ़ता के लिए है। जैसे दृष्टफलक अवघात आदि फल की उत्पत्तिपर्यन्त किये जाते हैं, वैसे ही दृष्टफलक श्रवण, मनन आदि भी फलोत्पत्तिपर्यन्त करने चाहिए। इसीलिए भगवान बादरायण ने लिखा है - 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (श्रवण आदि की आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि वैसा उपदेश है)। इस रहस्यभूत तत्त्वका आलस्य दोष के परिहार के साथ

उत्साह उत्पन्न करने के लिए उद्घाटन कर रहे महाराज श्रीवसिष्ठजी अविद्याक्षय होने पर परिशिष्टरूप से रहनेवाली दृष्टि का श्रवण करने के लिए श्रीरामजी को सावधान करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, आत्मस्वरूप के उत्तम परिज्ञान के लिए मैं बार–बार इस रहस्य का आपसे कथन (उद्घाटन) करता हूँ, क्योंकि हे साधो, अभ्यास के बिना आत्मभावना कभी उदित नहीं होती ॥१॥

आत्मभावना क्यों उदित नहीं होती ? इस पर कहते हैं।

भद्र, यह अज्ञान अत्यन्त बलवान है, इसीका दूसरा नाम 'अविद्या' है, वह अन्य असंख्य जन्मों से चला आ रहा है, अतएव वह दृढ़ स्थिति को प्राप्त है। अनन्त कोटि जन्मों में अभ्यस्त द्वैतवासनाओं से अत्यन्त दृढ़ीकृत होने के कारण उसका एक बार के उपदेश से भली प्रकार उच्छेद नहीं हो सकता, यह भाव है ॥२॥

बाह्य और आभ्यन्तर चक्षु आदि अत्यन्त बलिष्ठ अनेक प्रमाणों से गृहीत होनेवाले द्वैत से अभिन्न होने के कारण भी अज्ञान की प्रबलता है, यह कहते हैं।

देह की सत्तादशा में (जीवन, जाग्रत आदि अवस्थाओं में) समस्त इन्द्रियों से तथा देह के अभाव में (मरण, प्रलय आदि अवस्थाओं में) साक्षी से बाह्य और आभ्यन्तर सदा उस अज्ञान का अनुभव किया जाता है, अतः उसने अत्यन्त घनीभूत स्थिति (प्रबलता) प्राप्त कर ली है ॥३॥

ज्ञान की सामग्री की दुर्लभता भी दिखलाते हैं।

आत्मज्ञान तो सभी इन्द्रियों का अविषय है यानी किसी इन्द्रिय से आत्मज्ञान हो नहीं सकता। मनसहित छः इन्द्रियों का क्षय हो जाने पर वह केवल सत्ता प्राप्त करता है। इन्द्रियों से जनित वृत्ति का अतिक्रमण कर जो अवस्थित है, वह प्राणियों का प्रत्यक्ष विषय कैसे हो सकता है, क्योंकि वह प्रत्यक्षवृत्ति का अतिक्रमण कर स्थित है ॥४,५॥

अतएव पुनः–पुनः उपदेश और मनन आदि के अभ्यास की, अविद्या की, अविद्यारूपी लता की अनेक शाखाओं के छेदन द्वारा सार्थकता है, इस आशय से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, हृदय–वृक्ष पर लिपटी हुई इस प्रबल अविद्यारूपी लता को ज्ञानाभ्यासरूपी विलास की तलवार के प्रहारों से स्व–स्वरूप की सिद्धि के लिए आप काट डालिए ॥६॥

हे राघव, जिस प्रकार राजा जनक जी विदिततत्त्व होकर भूमण्डल में विहार करते हैं, उसी प्रकार आप आत्मज्ञान के अभ्यास में निरत होकर विहार कीजिए ॥७॥ जागते अथवा सोते तथा चलते या बैठते बाहर के व्यवहाररूप कार्य से तथा समाधिरूप अकार्य से विहार कर रहे उस राजा जनक का भी निश्चय मेरे अनुभव के अनुसार ही था। उक्त अभ्यास का ही फल आत्मज्ञान है और उक्त ज्ञान से अभिव्यक्त हुए स्वरूप की ही वास्तव में सत्यता होती है, ऊपर–ऊपर के ज्ञान से अभिव्यक्त फल की नहीं ॥८॥ भगवान नारायण, अपने विभिन्न–विभिन्न प्रकार के लीला चरण करने के जिस निश्चय के कारण पृथ्वीपर योनि में यानी गर्भवास आदि क्लेशों में अवतार लेकर भी दुःख आदि से सम्बद्ध नहीं होते, वही निश्चय आत्मज्ञान का स्वरूप कहलाता है ॥९॥

हे राघव, जगदम्बा पार्वती के साथ रहनेवाले त्रिनेत्र महादेवजी का या राग–वर्जित ब्रह्मा का जो भी

निश्चय है, वही आपको भी हो ॥१०॥

हे रामभद्र, देवताओं के गुरु बृहस्पति, दानवों के गुरु शुक्राचार्य, भगवान अंशुमाली सूर्य, चन्द्रमा, वायुदेवता, अग्नि, महामुनि नारद, महर्षि पुलस्त्य, मैं, अंगिरस प्रचेता, भृगु, क्रतु, अत्रि, शुक्र तथा इन्हीं के तुल्य अन्यान्य जीवित ही रहकर मुक्त यानी जीवन्मुक्त विप्रेन्द्रों और राजर्षियों का जो आत्मा के विषय में निश्चय है, वही निश्चय आपको हो ॥११-१३॥

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, जिस निश्चय के कारण ये पूर्वोक्त महाबुद्धिमान धीर सुरगुरु आदि शोकनिर्मुक्त होकर स्थित हैं, हे ब्रह्मन्, उसका मुझसे तात्त्विक रूप से वर्णन कीजिए ॥१४॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, हे राजकुमार, हे समस्त वेद्य पदार्थों के स्वरूप को जाननेवाले रामभद्र, जो आपने प्रश्न पूछा है, उसका उत्तर स्पष्टरूप से आप सुनिए, उनका यही निश्चय है ॥१५॥

उसी निश्चय को कहते हैं।

श्रीरामजी, को कुछ भी यह भोग्य जगज्जाल दिखाई पड़ता है, वह सब मायिक अव्यवस्थित स्वरूप का परित्याग कर परमार्थ स्वरूप में अवस्थित, निर्मल ब्रह्मस्वरूप ही है ॥१६॥

संक्षेप से कथित अर्थ को विस्तार कर विशेषरूप से दिखलाते हैं।

ब्रह्म ही चित् है, ब्रह्म ही चौदह भुवन है, ब्रह्म ही जीव-परम्परा है; मैं भी ब्रह्मस्वरूप हूँ, मेरा शत्रु भी ब्रह्मस्वरूप है, सन्मित्र, बन्धु-बान्धव आदि भी ब्रह्मस्वरूप हैं; तीनों काल भी ब्रह्मस्वरूप है और वह ब्रह्म में ही अवस्थित है ॥१७॥

जैसे समुद्र तरंगों की परम्पराओं से अपने स्वरूप में बढ़ता है, वैसे ही अनेकविध पदार्थलक्ष्मियों से यह ब्रह्म इस प्रकार बढ़ता है ॥१८॥

समस्त क्रिया, कारक और फल ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्म से ब्रह्म का ही ग्रहण होता है, ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म का ही उपभोग किया जाता है, ब्रह्म में ब्रह्म ही विवर्तों से ब्रह्मशक्ति अर्थात् माया के द्वारा मानों बढ़ता है ॥१९॥

इस दृष्टि से कहीं राग, द्वेष आदि की प्रसक्ति नहीं होती, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मस्वरूप मेरा अनिष्ट करनेवाले मेरे शत्रु का स्वरूप यदि ब्रह्म ही है, तो ब्रह्मनिष्ठ के प्रति किसी के द्वारा ब्रह्म में किया हुआ ब्रह्म को छोड़ और क्या हो सकता है ? ॥२०॥

इस परिपूर्ण ब्रह्म में आकाश-वृक्ष की नाईं, कल्पित राग आदि दोषों का अवस्थान-प्रसंग ही जब नहीं हो सकता, जो असंकल्प से नष्ट हो जानेवाले हैं, तब उनका बढ़ना ही क्या ? ॥२१॥ परिपूर्णस्वरूप इस परब्रह्म में ही गमन आदि सब कुछ है, चूँकि परिपूर्णात्मक ब्रह्म ही सुखैकरसरूप से स्फुरित होता है, अतः उसमें दुःख और सुख कैसे ? ॥२२॥ ब्रह्म ही ब्रह्म में भली प्रकार तृप्त है, ब्रह्म में ब्रह्म ही भली प्रकार अवस्थित है, ब्रह्म में ब्रह्म ही स्फुरित होता है, अतः मैं ब्रह्म से अतिरिक्त स्वरूपवाला नहीं हूँ ॥२३॥

श्रीरामजी, घट भी ब्रह्मरूप है, पट भी ब्रह्मरूप है, मैं भी ब्रह्मरूप हूँ, यह विस्तृत प्रपंच भी ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए मिथ्या राग, विराग आदि की यहाँ कल्पना ही क्या ? ॥२४॥

इस दृष्टि से आत्यन्तिक अभय–प्राप्ति होती है, यह कहते हैं।

भद्र, देहरूप ब्रह्म में मरणात्मक ब्रह्म अपने–आप जब मिल गया, तब रज्जु में भुजंग–भ्रम की नाईं होनेवाला दुःख मिथ्या कल्पना के अतिरिक्त और हो ही क्या सकती है ? ॥२५॥

इसी प्रकार भोग, राग आदि की आत्यन्तिक निवृत्ति भी सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं।

संभोगात्मक ब्रह्म में देहरूप ब्रह्म के सुखपूर्वक अवस्थित होने पर 'यह मुझे प्राप्त हुआ' यह व्यर्थ इच्छा किस तरह होगी ? ॥२६॥

हे राघव, जिस प्रकार वीचि (गमनशील तरंग) और जल के स्पन्दयुक्त होने पर भी जल से पृथक् कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार स्पन्दस्वरूप ब्रह्म के होने पर भी त्वत्ता और मत्ता कुछ भी नहीं है ॥२७॥ जैसे आवर्त के नष्ट होने पर जल में कुछ भी नष्ट नहीं होता, वैसे ही देहात्मक ब्रह्म में मरणरूप ब्रह्म के प्राप्त होने पर कुछ भी नहीं मरता ॥२८॥

जड़तारूपता के अपरित्याग से ही सब क्रमों में ब्रह्मरूपता का ग्रहण न करें, इसलिए उसकी जड़ता का निषेध करते हैं।

जिस प्रकार चंचल जलरूप में त्वत्ता और मत्ता नहीं रहतीं, उसी प्रकार परमात्मा में जड़तारूपता तथा प्रतियोगी के अप्रसिद्ध होने से तद्आवृत्तरूप अजड़ता भी नहीं रहती ॥२९॥

जिस प्रकार सुवर्ण में कटकरूपत्व और जल में आवर्तरूपत्व का होना सुवर्ण और जल का एक स्वभाव है, उसी प्रकार जड़अजड़रूप होना यह ब्रह्म का भी एक मायिक स्वभाव है ॥३०॥

मायिक स्वभाववश ही जीव और जड़रूप भेद की कल्पना है, इस आशय से कहते हैं।

'यह जीवभूत आत्मा है, यह जड़भूत पदार्थ है' इस प्रकार का मोह अज्ञानात्मा को ही होता है, ज्ञानात्मा को को कभी नहीं होता ॥३१॥

अतएव तत्त्ववेत्ता पुरुष को समस्त जगत एकमात्र आनन्दरसस्वरूप अनुभूत होता है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार अन्धे पुरुष को जगत अन्धकार रूप और सुदृष्टिवाले को प्रकाशस्वरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार अज्ञानी को यह जगत दुःख–समूहस्वरूप और ज्ञानी को आनन्दप्रचुर प्रतीत होता है ॥३२॥ जैसे बालक की दृष्टि में रात्रि स्वभ्रान्ति से परिकल्पित यक्षवाली और युवा, वृद्ध आदि पुरुषों की दृष्टि में विशुद्ध यक्षवर्जित प्रतीत होती है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को यह जगत एकमात्र आनन्दमय ब्रह्मस्वरूप अनुभूत होता है और अज्ञानी पुरुष को अत्यन्त दुःखद प्रतीत होता है ॥३३॥

सदा–सर्वदा चारों ओर अवस्थित, अमृतपूर्ण ब्रह्मरूपी घट में न कोई मरता है और न कोई जीता है ॥३४॥ जिस प्रकार महान सागर में उल्लास–विलास होने पर भी तरंग आदि न उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं, उसी प्रकार आत्मा में भूत–समूह न उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं ॥३५॥

'यह नहीं है और यह है' इस प्रकार की भ्रान्तिरूपी माया किसी तरह के प्रयोजन के बिना आत्मा के द्वारा आत्मा में ही उस प्रकार भीतर जगतरूप से और तत्–तत् पदार्थों की शक्तिरूप से स्फुरित होती हैं, जिस प्रकार स्फटिक की अनेक प्रतिबिम्बों का ग्रहण करने में योग्यतासम्पादक स्वच्छता–अनेक तरह के प्रतिबिम्ब और उसके गुण, क्रिया आदि वैचित्र्य के रूप से अन्दर–प्रस्फुरित होती है। श्रीरामभद्र,

जैसे जल में तरंगों के कणसमूहों से घन जल ही स्थित है, वैसे ही अपने आप में जगत की शक्ति के रूपसे ब्रह्म ही अवस्थित है ॥३६,३७॥ श्रीरामचन्द्रजी, शरीर के विनाश से ब्रह्म में मृतबुद्धि कैसे हो सकती है ? क्योंकि शरीर आदि ब्रह्म से उस प्रकार पृथक् नहीं हैं जिस प्रकार सागर में तरंगादि जल से अतिरिक्त नहीं हैं ॥३८,३९॥ जैसे जल में जो कण है, जो कणिका है, जो वीचि है, जो तरंग है, जो फेन है, और जो लहरी है, वे सब जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित जो देह है, जो इन्द्रिय-व्यापार है, जो भोग्य है, जो संपत्ति और विपत्ति है, जो हर्ष, विषाद आदि रचना है और जो पुरुषार्थभोग है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है ॥४०,४१॥ जिस प्रकार सुवर्ण से बनी विभिन्न-विभिन्न आकृति-रचनाएँ सुवर्ण से पृथक नहीं होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से हुई चित्र-विचित्र देहादि संस्थानों की रचना भी ब्रह्म से विभिन्न नहीं हो सकती, अज्ञानियों को वृथा ही उसमें द्वित्वभावना होती है ॥४२॥

मन, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रियाँ आदि सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं है, अतः सुख और दुःख का अस्तित्व ही नहीं हो सकता ॥४३॥

जिस प्रकार एक ही शब्द पर्वत की संनिधि में प्रतिध्वनि के रूप में द्विरुक्त की नाईं शोभित होता है, उसी प्रकार यह, वही मैं, यह चित्त, इत्यादि अर्थों को लेकर प्रवृत्त वाणी से आत्मा ही अपनी आत्मा में शोभित होता है ॥४४॥

अज्ञात ब्रह्म ही जीवरूपता और जगद्रूपता को मानों प्राप्त होकर स्थित है, क्योंकि स्वप्न में अपने आत्मस्वरूप अन्तःकरण से आत्मा ही अनेक पदार्थों के रूप में दिखाई देता है, इसी बात को भगवान बादरायण 'आत्मनि चैव विचित्राश्च हि' इस सूत्र से कहते हैं ॥४५॥

अज्ञान अत्यन्त विरुद्ध, असंभावित पदार्थ का निर्माण करता है, यह लोक में प्रसिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्मस्वरूप से न पहचाना हुआ ब्रह्म उस प्रकार अज्ञानरूप हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णरूप से न जाना हुआ सुवर्ण मृत्तिकारूप हो जाता है ॥४६॥

इसीलिए, ब्रह्म, अज्ञों की दृष्टि से ही अज्ञानस्वरूप है, ज्ञानियों की दृष्टि से नहीं, ऐसा कहते हैं।

ब्रह्मवेत्ता महामुनियों का यह मत है कि अज्ञात हुआ, स्वयंसमर्थ, महान आत्मा ब्रह्म ही अज्ञानियों द्वारा अज्ञानशब्द से व्यवहृत होता है ॥४७॥

ब्रह्मस्वरूप से ज्ञात ब्रह्म, तत्क्षण ही उस प्रकार ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णरूप से ज्ञात सुवर्ण तत्क्षण में ही सुवर्ण हो जाता है ॥४८॥

आत्मा समस्त शक्तियों से परिपूर्ण स्वयं ब्रह्म है, वह किसी तरह के प्रयोजन के बिना स्वयं जिस-जिस स्वरूप से यानी जीव और जगद्रूप से या तात्त्विक ब्रह्मरूप से जैसी-जैसी भावना करता है, भावना के बल पर शीघ्र ही उस-उस स्वरूप से अपने-आपको देखता है ॥४९॥

इसीलिए तत्त्वज्ञ पुरुष जीव या जगत के रूप में उसे नहीं देखते, यह कहते हैं।

कर्म, कर्ता और करणों से रहित, कारण से वर्जित, सर्वविध विकारों से शून्य, स्वकीय ज्ञान से अपनी स्थिति में समर्थ, महान आत्मा ही ब्रह्म है, यों ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं ॥५०॥

उक्त स्वरूप से ज्ञात न हुआ ब्रह्म अज्ञानियों द्वारा अज्ञानशब्द से व्यवहृत होता है, और परिज्ञात

हुआ, अज्ञानका विनाशक ब्रह्म ही ज्ञानशब्द से कहा जाता है ॥५१॥

जिस तरह भली प्रकार अपरिचित बन्धु ही अबन्धु कहा जाता है, परिज्ञात हुआ वही बन्धुशब्द से व्यवहृत होता है, क्योंकि अबन्धुभ्रम उससे विनष्ट हो जाता है, उसी तरह प्रकृत स्थल में भी जानना चाहिए ॥५२॥

तब जीव और जगत में ब्रह्ममात्रत्व की भावना सहसा सभी को क्यों नहीं होती ? यदि कहिए कि वैराग्य नहीं है, इसलिए, तो वैराग्य के हेतुओं का ही पहले निर्वचन करिए, इस पर कहते हैं।

यह समस्त जगत विचार के लिए अयोग्य है, यों अपने अन्दर भली प्रकार निश्चित हो जाता है, तभी वह ब्रह्मभावना उदित हो जाती है क्योंकि इसी एकमात्र विचारणा के द्वारा अयोग्य शुक्ति-रजत में मिथ्यात्व हो जाने से रजत की नाईं पुरुष भोग्यवर्ग से विरक्त हो जाता है ॥५३॥

जगत के विषय में उक्त विचारणा तत्पदार्थ के शोधन के रूप में पर्यवसित होती है, इस आशय से जगदंश में उक्त विषय को स्पष्ट कहते हैं।

'द्वैत असत्य है' इस प्रकार भीतर द्वैत में असत्यत्व का ज्ञान हो जाने पर वह ब्रह्मभावना उदित होती है, इसीसे द्वैत की असत्यता सिद्ध हो जाने के कारण पुरुष द्वैत जाल से विरक्त हो जाता है ॥५४॥

जीवांश में भी वह त्वंपदार्थ के शोधनरूप से पर्यवसित होती है, इस आशय से जीवांश में उसी को स्फुटतया कहते हैं।

'देह आदि कार्य--कारणसंघात मैं नहीं हूँ' इस प्रकार जब भीतर विचार उत्पन्न हो जाता है, तब ब्रह्मभावना उत्पन्न होती है, इसी से अहंभाव में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है और उससे पुरुष विरक्त होता है ॥५५॥

पदार्थ शोधक फलभूत अखण्ड वाक्यार्थबोधस्वरूप से भी उसका पर्यवसान होता है, इस आशय से उसमें जीव और जगद्रूपत्व के बाधस्वरूप लय का स्पष्टीकरण करते हैं।

मैं एकमात्र ब्रह्मस्वरूप हूँ, इस प्रकार सत्स्वरूप ज्ञान होने पर ब्रह्मभावना उदित होती है; उस सत्य निजरूपका परिज्ञान होने पर जीव-जगद्भाव लीन हो जाता है। अखण्डाकार ब्रह्म का अवबोध होने पर स्थित भी जगत सदेकरस ब्रह्मस्वरूप ही है, पहले की नाईं दुःखस्वरूप नहीं है, (इस आशय से कहते हैं) उस अखण्ड वाक्यार्थ के अपरिच्छिन्न स्वभाव से आविर्भूत हो जाने पर यह सब एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही है। ऐसा जानता हूँ ॥५६॥

अपरिच्छिन्न स्वभाव से अखण्ड वाक्यार्थ के आविर्भूत होने पर जब 'त्वम्' 'अहम्' और 'इदम्' स्वरूप का बाध हो जाता है, तब पूर्व में प्रसिद्ध सत्, चित्, प्रिय, नाम और रूप ये जो जगदगत पंचरूप वस्तुजात हैं, उन्हें ब्रह्मरूप से जानता हूँ ॥५७॥

मुझे न दुःख है, न कर्म है, न मोह है, न कुछ अभिलाषा है। (परब्रह्मस्वरूप में अवस्थान का परमपुरुषार्थ रूप से वर्णन करते हैं।) मैं एकरूप, अपने स्वरूप में स्थित, शोकशून्य तथा ब्रह्मस्वरूप हूँ – यह सत्य है ॥५८॥ मैं कलारूपी कलंकों से निर्मुक्त (तुम, 'मैं' आदि कल्पनाओं से शून्य) हूँ, मैं सर्वविध विकारों से शून्य और सर्वात्मक हूँ, मैं न किसी का परित्याग करता हूँ और न कुछ चाहता हूँ, मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ, यही नितान्त सत्य है ॥५९॥

आत्मा में परिच्छिन्नत्व और परोक्षत्व का एकमात्र निराकरण करने के लिए ही 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थ का परिशोधन किया गया है, उसका (परिच्छिन्नत्व एवं परोक्षत्व का) निरास करने पर आत्मा में जब सर्वात्मकत्व का लाभ हुआ, तब तो रक्त, मांस आदि रूप देह आदि भी आत्मस्वरूप ही सिद्ध हुए, अतः उनका निरास करना अपेक्षित नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

मैं ही रक्त हूँ, मैं ही माँस हूँ, मैं ही अस्थियाँ हूँ, मैं ही शरीर हूँ, मैं ही चितिशक्ति हूँ, मैं ही चेतन हूँ, मैं ही ब्रह्मस्वरूप हूँ, यह निश्चित सत्य है ॥६०॥ मैं द्यौ हूँ, मैं सूर्ययुक्त आकाश हूँ, मैं दिशारूप हूँ, मैं विविध पृथ्वीरूप भी हूँ, मैं घट एवं पट का आकार हूँ, मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, यह सत्य है ॥६१॥ मैं तृण हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं गुल्म (स्कन्धरहित वृक्ष) हूँ, अरण्य आदि भी मैं ही हूँ, पर्वत सागर और प्राणियों का समूह भी मैं हूँ, निश्चय ही एकमात्र ब्रह्मैक्य सर्वत्र स्थित है ॥६२॥ ग्रहण, परित्याग, संकोच आदि जो प्राणियों के व्यापार हैं, वह सभी कुछ तथा ब्रह्म में व्यापकरूप धारण करनेवाला चिदात्मा मैं ही हूँ ॥६३॥ अंकुर, टहनी, प्रतान, शाखा आदि का अविर्भाव चाहनेवाले लता, गुल्म, अंकुर आदि के भीतर स्थित रसात्मक शान्त परब्रह्मस्वरूप चिदात्मा मैं ही हूँ ॥६४॥ जिसमें सब कुछ स्थित है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जिसमें सब कुछ तिरोहित हो जाता है, जो चारों ओर व्यापकरूप से विद्यमान है अतएव जो सर्वात्मक अद्वितीय आत्मस्वरूप से सम्मत है, वही पर ब्रह्म है, यह निश्चय है ॥६५॥ चिदात्मा, ब्रह्म, सत्, सत्य, ऋत इत्यादि नामों से व्यापक, चेत्यशून्य, चैतन्मात्रस्वरूप ब्रह्मतत्त्व ही सर्वत्र कहा जाता है ॥६६॥ विषयसंसर्गशून्य चैतन्यमात्रस्वरूप, निर्मल, समस्त भूतों के स्वरूप का अवबोधक, सर्वत्र स्थित, शान्त, चिद्ब्रह्म का ब्रह्मज्ञानी अनुभव करते हैं ॥६७॥

यदि शंका हो कि प्रतिपुरुष मन, बुद्धि और इन्द्रियों की वृत्तियों का पार्थक्य होने के कारण आत्मचैतन्य में भेद का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, फिर वह अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप कैसे हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

मन, बुद्धि, इन्द्रियों के समूह तथा समस्त वृत्तियों में अनुगत, सर्वविध औपाधिक भेदों का परित्याग कर प्रत्यक्–स्वरूपात्म प्रमा का अवभासक (स्वप्रकाशस्वरूप), निर्विकार चैतन्य ब्रह्म ही मैं हूँ ॥६८॥ समस्त, शब्द स्पर्श आदि विषय; उनके हेतुभूत (आधारभूत) आकाश, वायु आदि तथा इनके द्वारा की गई जगत्स्थिति इन सबकी सत्ता का अवभासक (अस्तित्व प्रकाशस्वरूप), स्वच्छ, चैतन्यरूप ब्रह्म ही मैं हूँ, मेरा कभी विनाश नहीं है ॥६९॥

समस्त वृत्तियों में अनुगत तत्त्व का उपपादन कर रहे महाराज वसिष्ठजी उक्त अर्थ को ही विस्पष्टरूप से कहते हैं।

अग्नि से निकलनेवाले विस्फुलिंगों की (चिनगारियों की) धाराओं की नाईं वृत्तिरूप उपाधिधाराओं से निरन्तर निकल रही चित्–धाराओं की उत्पत्ति स्थानीय प्रत्यगात्मा के स्वरूपभूत, प्रकाशात्मक, योगियों के द्वारा अनुभूयमान होने पर भी निर्वचन करने के लिए असमर्थ तथा परम अमृतमय यानी सर्वातिशायी आनन्दरूप चैतन्य ब्रह्म मैं ही हूँ ॥७०॥

इसका भी पहले की नाईं उपपादन करते हुए उक्तार्थ को ही कहते हैं।

अहंकाररूपी अशेष भोक्ताओं के प्रति तत्–तत् भोग–वृत्तियों की धारारूपी उपाधियों से, मधुधारा

की नाईं, निरन्तर चू रहे स्वरूप से युक्त, निरन्तर कूटस्थ के नित्यानुभवआनन्दैकरसभूत एकरसस्वरूप तथा निर्लेपक परब्रह्मचैतन्यस्वरूप ही मैं हूँ ॥७१॥

'नित्यं चाऽनुभवामृतम्' इसका समाधिनिष्ठा के अनुभव से उपपादन करते हुए कहते हैं।

सुषुप्ति के सदृश समस्त विकल्पों से वर्जित, उपद्रवों से रहित, निर्मल प्रकाश स्वरूप, मनुष्य से लेकर हिरण्यगर्भ–पर्यन्त होनेवाले विषय सुखों से अत्युत्तम सुखस्वरूप चारों ओर से प्रकाशमान तथा वासनाओं से शून्य चैतन्यात्मक ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ ॥७२॥

'संभोगोत्तमम्' यह जो पहले कहा, उसे, उपपादन करके, अनुभव में चढ़ाते हैं।

रसना (जिह्वा) आदि इन्द्रियों के द्वारा जायमान मिश्री का टुकड़ा, शर्करा आदि स्वादु पदार्थों का परिज्ञान ईषन्मात्र–यानी शर्कराररस की जिह्वा से कण्ठप्रदेश प्राप्तिपर्यन्त स्वल्पतर देश और काल से परिच्छिन्न–होकर स्थित रहता है। वही ज्ञान–स्वप्रकाश एवं आनन्दैकरसस्वरूप से अपनी परिच्छिन्नता के हेतुभूत चित्त, चेत्य और चेतयिता के ज्ञात हो जानेपर परिच्छिन्न उपाधि की विच्युतिदशा में भी च्युतिशून्य आत्मस्वरूप हो जाता है, वही च्युतिशून्य निरतिशयआनन्दात्मक ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ ॥७३॥

विषयरूप उपाधि से निर्मुक्त होकर ज्ञानकी स्थिति हो ही नहीं सकती अर्थात् अप्रसिद्ध ही है, ऐसी आशंका कर उसे प्रसिद्ध करते हैं।

चूँकि कान्ता में आसक्त चित्तवाले पुरुष को रात्रि में चन्द्रमा का उदय होनेपर चन्द्रमा और कान्ता दोनों के दर्शन–समय में मध्यवर्ती प्रदेश में चिति का विच्छेद अनुभूत नहीं होता, अतः जब तक चन्द्रमा का ज्ञान होता रहता है, तब तक अविच्छिन्न सत्तावाला निर्विषयक चैतन्यात्मक ज्ञानस्वरूप ब्रह्म प्रसिद्ध है, तत्स्वरूप ही मैं हूँ ॥७४॥ आकाश में स्थित चन्द्रमा में लगे हुए भूमि में अवस्थित पुरुषों के नेत्रों की जो आकाशस्थ (मध्यवर्ती आकाश–प्रदेश में स्थित) चित्–शक्ति है, वही निर्मल चिद्ब्रह्म है ॥७५॥

उदासीन पुरुषों को सुख, दुःख आदि आकारवाली अन्य वृत्तियों के अभाव काल में निर्विशेष स्वात्मप्रकाश (स्वात्मज्ञान) प्रसिद्ध ही है, इस आशय से कहते हैं।

मैं सुख, दुःख आदि कल्पनाओं से रहित एवं निर्मल हूँ तथा सुख–दुःखाकार वृत्ति के अभाव–दशा में उदासीन पुरुषों को प्रतीत होनेवाला सत्य अनुभवरूप जो चैतन्य ब्रह्मस्वरूप है, वही अविनाशी मैं हूँ ॥७६॥ किसी एक देश में अवस्थित पुरुष का मन, जब अन्यत्र कहीं दूर देश में चला जाता है, तब वह मन अन्तराल मार्ग में पतित सामने के पदार्थों का विस्पष्ट प्रकाश नहीं कर पाता–उन पदार्थों का निर्विकल्प साक्षात्कार होता है। मन की उपयुर्क्त स्थिति होने पर अन्तराल देश में जो निष्पाप यानी विषयसंसर्ग से शून्य प्रतीति होती है, वह चैतन्यात्मक ब्रह्मस्वरूप है, वही सर्वव्यापक मैं हूँ ॥७७॥ पृथ्वी, जल, वायु और बीजों का संमेलन होने पर अंकुरादिरूप कार्यों में बाहर निर्गमन के अनुकूल जो चितिशक्ति भीतर विद्यमान है, वह व्यापक ब्रह्म है, वही मैं हूँ ॥७८॥ स्वयं अपने जड़स्वभाव में अवस्थित खजूर, निम्ब और बिम्ब आदि फलों के रसविशेषों में भीतर विद्यमान रसनावृत्ति से अभिव्यक्त हुई प्रकाशस्वरूप जो स्वाद–सत्ता है, वह चिदात्मक ब्रह्म है, वही मैं हूँ ॥७९॥

इष्ट की प्राप्ति और अप्राप्ति होने पर आनन्द और खेद से युक्त जो संवित्ति प्रसिद्ध है, वही यदि

शास्त्रानुसारी हुए मनन से विशोधित होने पर आनन्द एवं खेद से निर्मुक्त हो जाय, तो वह ब्रह्मस्वरूप हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

मननोदय से विशोधित हुई संवित्ति इष्टप्राप्ति और इष्ट अप्राप्ति दोनों अवस्थाओं में आनन्द और खेद से निर्मुक्त होकर यदि एक–स्वरूप हो जाय, तो वह चिदात्मक निर्विकार ब्रह्मस्वरूप ही है, वही मैं हूँ॥८०॥ सूर्य का प्रत्यक्ष कर रहे, पृथ्वी में स्थित पुरुष का पृथ्वी से लेकर सूर्यपर्यन्त विस्तृत हुआ जो जो चक्षुरूपी सूत्र है, वह यद्यपि विषय प्रकाशन में समर्थ है, तथापि यदि उसके मध्य के तुल्य (नेत्र और सूर्य दोनों से असम्बद्ध मध्यवर्ती भाग के सदृश) विषय प्रकाशन से निर्मुक्त हो जाय, तो वह शान्त, निर्मल, व्यापक, परब्रह्मस्वरूप चित् ही है, वही मैं हूँ॥८१॥

इसी प्रकार जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं का साक्षी आत्मा ही सुषुप्ति आदि का परित्याग होनेपर तुर्यभूत ब्रह्मस्वरूप है, यों कहते हैं।

जाग्रत, सुषुप्त तथा स्वप्न सभी अवस्थाओं में साक्षीरूप से निरन्तर उदित उन अवस्थाओं से शून्य आदि–अन्त से रहित तुर्यस्वरूप विकारवर्जित चिदात्मक ब्रह्म ही मैं हूँ॥८२॥ सैकड़ों खेतों से उत्थित गन्नों में भीतर स्थित स्वादुरस के सदृश सैकड़ों पुरुषों के भीतर एकरूप से अवस्थित हुआ वही चैतन्यात्मक ब्रह्म है, तद्‌रूप मैं हूँ॥८३॥ सूर्य की सर्वत्र व्यापक, स्वाभाविक स्वच्छस्वरूप प्रभा की नाईं प्रकाश करनेवाली कमनीय चिति ही ब्रह्म है, इन दृश्यमान पदार्थों के रूप से वही विस्तृत हुई है, तत्स्वरूप मैं हूँ॥८४॥ संभोगआनन्दरूपी अंश से युक्त, अमृत–स्वाद की शक्ति से समन्वित, अपने एकमात्र अनुभव के स्वरूपभूत जो अविनाशी ब्रह्म है, वही मैं हूँ॥८५॥

उसकी नखाग्र से लेकर सभी अंगों में व्याप्ति है और देह का छेद होने पर भी उसका विच्छेद नहीं होता, यह कहते हैं।

जिस प्रकार कमल के डंठल में (मृणाल में) विद्यमान सूत्र कमल के सारे शरीर में व्याप्त होकर रहने पर भी गुप्तमुख और छेदन एवं भेदन करने पर प्रस्फुरित रूप होकर दीखता है, उसी प्रकार सारे देह में व्याप्त होकर रहनेपर भी गुप्तमुख एवं शरीर के छेदन एवं भेदन होनेपर साक्षी होकर स्फुरितरूप होनेवाला, निर्विकार चिद्ब्रह्म मैं हूँ॥८६॥ समस्त जल को आक्रान्त करनेवाली वायु की गति से गतिशील और छोटे–छोटे जलकणों से रूप (अपना कल्पित आकार) ग्रहण करनेवाली विस्तृत मेघमाला के सदृश समस्त लोकों को आक्रान्त करनेवाली, वृत्तिरूप उपाधि के स्पन्दन से स्पन्दमान एवं सूक्ष्म जीवात्मक कल्पित आकारवाली जो विस्तृत चित्शक्ति है, वही मैं हूँ॥८७॥ जिसका सार अनुभवमात्र से गम्य है, जो स्नेह से (चिकनाहट और उत्कट प्रेम से) उपलक्षित है तथा जो दूध में घी की सत्ता की नाईं क्षयरहित चित्–सत्ता है, वही मैं हूँ॥८८॥ जैसे कंकण, बाजूबन्द एवं केयूर की रचना सुवर्ण में सुवर्णसत्ता की तरह ही स्थित है, वैसे ही इस देह में सर्वत्र व्यापक चिद्ब्रह्मात्मा की जो सत्ता स्थित है, वही मैं हूँ॥८९॥ पर्वत आदि पदार्थ–समुदाय के बाहर एवं भीतर सर्वदा अनुगतरूप से सत्तावाली जो चिति है, वही मैं निर्लिप्त आत्मा हूँ॥९०॥ निखिल अनुभववृत्तियों के भेदों का जो स्वाभाविक आदर्श अर्थात् दर्पण है और जो मललेखा यानी अज्ञान पंक्तियों का अविषय है, वह महान चित्तत्त्व मैं हूँ॥९१॥ जगत्स्वामी होने से ज़ो संपूर्ण इच्छाओं का फल देनेवाला है, अग्नि, सूर्य आदि तेजों का जो प्रकाशक है

और सभी ग्राह्य वस्तुओं के ग्रहण का प्रयोजनरूप होने के कारण जो संपूर्ण उपादेय पदार्थों की चरम सीमा है, ऐसे चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९२॥

जो संपूर्ण अवयवों में विश्रान्त एवं सम्पूर्ण अवयवों से परे है तथा जिसका सदा-सर्वदा विकसित स्वरूप है, ऐसे चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९३॥ घट, पट, तीर, कुआँ आदि में सद्रूप से स्थित; जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज-इन चतुर्विध शरीरों में स्फुरणशील अथवा इन चतुर्विध शरीरों की चेष्टाओं में निमित्तभूत तथा जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्ति की नाईं परमार्थतः निर्विकल्पस्वरूप से स्थित चिदाकार आत्मा की हम अभेद रूप से उपासना करते हैं ॥९४॥

अग्नि आदि में उष्णता आदि के सत्तास्वरूपों का चित् से ही स्फुरण होने के कारण परमार्थतः उष्णता आदि भी चित्स्वरूप ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

अग्नि में उष्णतारूप, हिम में शीतता रूप, अन्न में माधुर्यरूप, छेदन हेतु तीक्ष्ण छुरे में तीक्ष्णतारूप, अन्धकार में कृष्णतारूप और चन्द्र में श्वेततारूप चिदाकार आत्मा की हम अभेदरूप से उपासना करते हैं ॥९५॥ बाहर एवं भीतर सर्वत्र प्रकाशस्वरूप से विद्यमान, अपने आत्मपदार्थ में स्थित और प्रत्यगात्मरूप (साक्षीरूप) होने के कारण समीप में (हृदय-प्रदेश में) स्थित होनेपर भी अज्ञान से दूर-प्रदेश में स्थित हुए चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९६॥

मिश्री आदि समस्त मधुर पदार्थों में माधुर्यरूपता को, मिर्च आदि तीखे पदार्थों में तीक्ष्णरूपता को प्राप्त हुए चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९७॥

जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था एवं सुषुप्ति अवस्था में एकरूप से स्थित, तुरीय पद और उससे भिन्न अन्य पदों का अतिक्रमण कर परमपद में अवस्थित, सभी स्थलों में सर्वदा समरूप से रहनेवाले चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९८॥

जिसके सभी संकल्प अर्थात् मानस कर्म शान्त हो गये हैं, जो निखिल कामों से रहित है, जो सभी प्रकार के क्रोध से शून्य है, ऐसे चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥९९॥

विषय-भोग की उत्कण्ठा से शून्य, प्रयत्न से रहित, चेष्टा से वर्जित, एकमात्र परिपूर्ण तथा अंश और अहंकार से रहित चिदाकार आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥१००॥

जो सब भूतों के भीतर अवस्थित है, सर्वात्मक होते हुए भी जो दुरधिगम्य एवं एकरूप है तथा जो असंख्य प्रतिबिम्बभूत चैतन्यों का (जीवोंका) आरम्भक है, ऐसे चिदात्म-स्वरूप को मैं प्राप्त हो गया हूँ ॥१०१॥ जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति को करनेवाले, त्रैलोक्य में रहनेवाले देहरूप मोतियों की माला में व्याप्त तन्तुरुप से स्थित चिदात्मरूपता को मैं प्राप्त हो गया हूँ ॥१०२॥ बाहर और भीतर से अपने द्वारा व्याप्त हुए जगद्रूपी पक्षियों को, विचित्र बड़े जाल की नाईं, अपने भीतर फँसा करके गुप्तरूप से स्थित हुए चिदाकार आत्मरूपता को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१०३॥ एकमात्र जिसमें यह सब जगत विद्यमान है और जिसमें परमार्थतः कुछ भी नहीं है, ऐसे अद्वितीय, सृष्टिकाल में सबकी सत्ता का निर्वाहक होने से सद्रूप और प्रलयकाल में सबकी सत्ता का निर्वाहक न होने से असद्रूप उस चिदात्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१०४॥ अत्यंत विश्वास के योग्य अथवा चिदेकरस, पूर्णरूप, संपूर्ण सुख-लेशों के प्रतिष्ठाभूत और सभी प्रकार के विहारों में स्थित उस चिदात्मरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१०५॥ स्नेह अर्थात् तेल के

आश्रयी तथा वर्षाकालीन वायुओं से उत्पन्न भँवरों से न बुझे हुए दीपक की नाईं निरुपाधि प्रेमरूप स्नेह के आश्रयी, देह एवं प्राणवायु के अध्यास से जनित भ्रमों के द्वारा नष्ट नहीं हुए युक्त (भ्रान्तदृष्टि से उन देह, प्राण आदि के अध्यासरूप भ्रमों से युक्त) और मुक्त (तत्त्वदृष्टि से उनसे रहित) चिद्रूप दीप की हम लोग बाहर एवं भीतर से उपासना करते हैं ॥१०६॥

कमलिनी की जड़ की नाईं हृदयरूपी सरोवर में गुप्त होकर अवस्थित; हाथ, पैर आदि अंग-प्रत्यंगों के दृढ़ बन्धन में, सुन्दर रस्सी की तरह, हेतुभूत तन्तु; एवं जनसमुदाय के जीवन के उपायभूत चिदाकार आत्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१०७॥

प्रसिद्ध 'अमृत' पदार्थ से इसकी विलक्षणता बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, जो क्षीरसमुद्र से उत्पन्न अमृत से विलक्षण है, जो चन्द्रमा में स्थित अमृत से भी विलक्षण है, जो सदा–सर्वदा प्राप्त ही रहता है और जो गरुड़ आदि से अपहृत नहीं किया जा सकता, उस सत्य एवं अमृतरूप चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥१०८॥ जिसके द्वारा शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध – ये पाँच विषय अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं अर्थात् इनका अनुभव जिस साक्षीरूप चैतन्य से होता है, ऐसे, परमार्थतः उन विषयों से रहित, अतएव शान्त उस चिदात्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१०९॥

जो आकाश–मण्डल की नाईं विस्तृतरूपवाला है, जो अपनी व्याप्ति के द्वारा संपूर्ण लोकों की अभिव्यक्ति करता है, वस्तुतः जो किसीकी न अभिव्यक्ति करता है और न आकाश–मण्डल के सदृश ही है, ऐसे चिदाकार आत्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥११०॥

जो बड़ी–बड़ी विभूतियों से युक्त है और जो अद्वैत–दृष्टि से समस्त विभूतियों एवं महिमाओं से रहित है तथा जो मायाशबलित होकर जगत का कर्ता होते हुए भी यथार्थ में अकर्ता है, ऐसे चिदाकार आत्मस्वरूप को मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥१११॥ तादात्म्य के अध्यारोप की दृष्टि से यह सब जगत मैं ही हूँ, संसर्ग के अध्यारोप की दृष्टि से यह सब (जगत) मेरा ही है, अपवाद की दृष्टि से तो अहंता के आरोप में निमित्तभूत अहंकार भी मैं नहीं हूँ तथा देह आदि इतररूप तो मैं सुतरां नहीं हूँ, इस प्रकार अध्यारोप एवं अपवाद से आत्मतत्त्व को जान लेनेवाले मेरे लिए यह जगत कृत्रिम–मायामय–रहे चाहे अकृत्रिम–आत्मरूप–ही रहे, दोनों तरह से भी मैं सन्तापरहित हूँ ॥११२॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

बाहर से रोग एवं संग से शून्य और भीतर से स्वच्छ एवं आत्मस्वरूप से प्रकाशमान,
गुरु वसिष्ठ द्वारा कही गई जनकादि ऋषियों की स्थिति का श्रीरामजी ने ग्रहण किया – यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, पूर्वसर्ग में दर्शित निश्चयवाले अतएव पापरहित, सद्रूप ब्रह्म में निष्ठासम्पन्न वे जीवन्मुक्त महात्मा जनक आदि एकरूप, निर्विकार, सत्य पद में यानी शोधित तत्पदार्थरूप भीतरी परमपद में सुखपूर्वक अवस्थित हुए ॥१॥ बाहर से जिनकी बुद्धि पूर्ण है अर्थात् जिन्होंने त्वंपदार्थ का शोधन कर लिया है, अतएव बाहर एवं भीतर से सम और रागशून्य चित्तवाले तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त अपने जीवन एवं मरण की न स्तुति करते हैं और न निन्दा ही करते हैं ॥२॥

इस प्रकार वे जीवन्मुक्त महात्मा, नारायण की भुजाओं के सदृश, सूक्ष्मतम भी लक्ष्य का यानी ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेधन करने में पटुतारूपी चमत्कृति रखते हैं और सरल एवं नम्र-स्वभाव होते हुए भी मेरुपर्वत के समान अटल होकर स्थित रहते हैं ॥३॥

उनका समदृष्टि से विहार बतलाते हैं।

श्रीरामजी, जैसे देवता लोग स्वर्ग में रमण करते हैं, वैसे ही ये जीवन्मुक्त महात्मा लोग वन-खण्डों, द्वीपों, नगरों तथा देवताओं के उपवनों में अर्थात् उद्यानमालाओं में रमण करते थे यानी समदृष्टि होकर वे सर्वत्र समानभाव से विहार करते थे, यह भाव है ॥४॥

फूलों से पूर्ण, झूले के आन्दोलनों से चंचल चित्र-विचित्र वनों की पंक्तियों में एवं मेरुपर्वतकी चोटियों के ऊपर विहार करते थे ॥५॥

जिनमें शत्रुओं को जीत लिया गया है, जो छत्र एवं चामर से युक्त हैं, जिनमें धर्म, अर्थ एवं कामरूप त्रिविध पुरुषार्थों को देनेवाले त्रिविध वर्णाश्रम-धर्म एवं तदनुसारी आचार हैं, ऐसे राज्यों को भी वे जीवन्मुक्त महात्मा करते थे ॥६॥ वे अनेक प्रकार के शिष्टाचारों से अनुष्ठित इन सभी धर्मों का स्वयं अनुष्ठान करते थे। इसी प्रकार श्रुति एवं स्मृति से बतलाई गई कर्तव्यतावाले सांग यज्ञ आदि का भी अनुष्ठान करते थे ॥७॥ दृष्ट-अदृष्ट साधनसम्पत्तियों से रमणीय, स्त्रियों की हँसी के सदृश मनका अपहरण करनेवाले और विहार एवं आहार में सुन्दर भोगों के समूहों से वे भूषित थे ॥८॥

कमनीय आम्रवृक्षों से युक्त, मन्दार की मालाओं से परिवेष्टित, अप्सराओं के मनोहर गीतों से परिपूर्ण नन्दनवन की उद्यानभूमियों में प्रवेश करके वे जीवन्मुक्त उपभोग करते थे ॥९॥ चराचर भूतों से युक्त समस्त भुवनों में, निखिल प्राणियों के सुखों के साधन यज्ञादि क्रियाकलापों में एवं गृहकर्मों में वे तत्त्ववित् यथाक्रम प्रविष्ट होते थे ॥१०॥

जिनमें अनेक बड़े-बड़े हाथी मारे गये हैं, अनेक श्रृगाल (सियार) और श्रृगाली जिनमें परिभ्रमण कर रहे हैं और जो नगारों के झंकारध्वनियों से भयंकर हैं, ऐसे संग्रामरूपी समुद्रों के मार्गों को भी वे जीवन्मुक्त महात्मा पार कर चुके थे ॥११॥

जिनमें चित्त को क्लेश सहना पड़ता है, जो धन का अपहरण किये हुए शत्रुओं से पराभूत हैं तथा क्रोध, क्षोभ आदि से भयंकर हैं, ऐसी सभी शीतोष्णादि द्वन्द्वरीतियों में यानी विपत्तियों में वे महात्मा दृढ़तापूर्वक स्थित रहते थे ॥१२॥

उन जीवन्मुक्तों का मन राग से शून्य, उपाधिरहित, अभ्रान्त, आसक्ति से शून्य, मुक्त, चारों ओर से शान्त उत्तम सत्त्वरूपता को प्राप्त हुआ था ॥१३॥ इसीलिए बड़े-बड़े संकट भी उनके पास पहुँचे या सर्वातिशायी ऐश्वर्य को भी वे प्राप्त होवें, किसी भी दशा में वे-सरोवरों में हिमालय आदि कुलपर्वतों की नाईं व्यग्र नहीं होते थे ॥१४॥

हे रघुकुल शिरोमणे श्रीरामजी, जैसे पूर्णचन्द्र की कान्ति से समुद्र उल्लास को प्राप्त होता है, (ज्वार भाटों से युक्त होकर चंचलता को प्राप्त होता है), वैसे इन तत्त्ववेत्ता पुरुषों का मन अत्यन्त कमनीय लक्ष्मी और कामिनी से उल्लास को (चंचलता को) प्राप्त नहीं होता था। यहाँ समुद्र व्यतिरेक दृष्टान्त है, यह जानना चाहिए ॥१५॥ तत्त्ववेत्ता का मन दुःख एवं शोक से, ग्रीष्मकाल में वनस्थल की

नाईं, मलीनता को (मुरझाहट को) प्राप्त नहीं हुआ और न भोगों के समूहों से, ओस से औषधि की नाईं, प्रसन्नता को ही प्राप्त हुआ ॥१६॥

हे श्रीरामजी, वे तत्त्ववेत्ता महात्मा कर्तृत्वअभिमान से रहित होकर भोगरूपी मंजरियों का अनुभव करते हुए भी इष्ट एवं अनिष्ट फल की न अभिलाषा करते थे और न उन्हें छोड़ ही देते थे, यह आप निश्चय से जानिए ॥१७॥ वे शत्रुजय आदिरूप संपत्ति प्राप्त होनेपर न उत्कर्ष को प्राप्त होते थे और न शत्रुओं से आक्रान्त होनेपर अपकर्ष को ही प्राप्त होते थे। वे सुख पाने पर न हर्षित ही होते थे और न दुःख पाने पर खिन्न ही होते थे ॥१८॥ मोह के कारणभूत दुःखों के प्राप्त होने पर न मोहित होते थे और न विपत्तियों के आक्रमणों से विचलित ही होते थे। श्रीरामजी, वे महात्मा शुभों से अर्थात् अच्छे कार्यों से न प्रसन्न ही होते थे और न शोकों से आपकी नाईं रोते ही थे ॥१९॥ अपने–अपने वर्णाश्रमों के अनुकूल सदाचार से प्राप्त विषयों में केवल कर्म करते हुए क्रोधरहित होकर मानों दूसरे मेरुपर्वत की नाईं स्थित रहते थे ॥२०॥

हे राघव, पापों का नाश करनेवाली तत्त्ववेत्ता जीवन्मुक्तों की उस दृष्टि का अवलम्बन कर आप अहंकृतिरूप दोष से पृथक् किये गये शुद्ध चिन्मात्र में आत्मबुद्धि करते हुए यथा प्राप्त व्यवहार के अनुसार विहार कीजिए ॥२१॥

श्रीरामजी, इसी सृष्टि की परम्परा को यथास्थित दृष्टि से देखते हुए आप मेरुपर्वत की तरह स्थिर, समुद्र की तरह गंभीर एवं भ्रमशून्य होकर समतापूर्वक स्थिर रहिए ॥२२॥

वह यथाभूत दर्शन कैसा है ? इस शंका पर कहते हैं।

श्रीरामजी, इस प्रकार प्रतीत होनेवाला यह सम्पूर्ण जगत केवल चिन्मात्रस्वरूप ही है, यहाँ सत्य या असत्य कहीं कुछ भी पदार्थ नहीं है और न किसी का अस्तित्व ही है ॥२३॥

हे कल्याणकारी श्रीरामजी, ब्रह्मरूपता का पर्याप्त अवलम्बन कर और संसार का अनादरपूर्वक त्यागकर सर्वत्र अनासक्तबुद्धि होते हुए आप संसार का नाश करने वाले हो जाइए ॥२४॥

हे शान्त श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त उद्विग्नतापूर्वक आप क्यों रो रहे हैं, मूढ की तरह शोक क्यों कर रहे हैं और जल–भौंरों में तृण की नाईं भ्रान्त–चित्त होकर क्यों चलायमान हो रहे हैं ? ॥२५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, आपकी कृपा से मेरे अज्ञानरूपी मलका भली प्रकार क्षय हो गया है और मैं सूर्य के सम्बन्ध से कमल की नाईं प्रबुद्ध हुआ हूँ ॥२६॥ शरत्काल में कुहरे की नाईं मेरी भ्रान्ति नष्ट हो गयी है। अब सम्पूर्ण सन्देहों से शान्त हुआ मैं आपके वचनों का पालन करूँगा ॥२७॥

हे साधो, मेरा मद और मोह निकल गया, मैं मान एवं मात्सर्य अर्थात् डाह से रहित हो चुका। अत्यन्त चिरकाल के बाद मेरी आत्मा आनन्दयुक्त हुई और दीर्घकाल में मेरा शोक–शान्त हुआ। अब फिर मैं आत्मबन्धन रूप भ्रम को प्राप्त नहीं होऊँगा, अतः निश्चित बुद्धि से इस उपदिष्टार्थ के विषय में जिस किसी दृढ़ता के साधन का या अन्य किसी राज्यपालनादि कर्तव्य–विशेष का आप उपदेश देंगे, शंकारहित होकर मैं उसका अनुष्ठान करूँगा ॥२८॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

पहले तत्त्वज्ञान से वासनानाश का प्रकार बतलाने के अनन्तर अब प्राणनिरोधरूप योग से वासना विनाश का प्रकार बतलाने के लिए रची जा रही भूमिका का वर्णन।.

उपशम प्रकरण में दिखलाये गये वासनानाश के हेतुभूत ज्ञान और योग दोनों प्रकारों से उत्तम अधिकारी के विषय ज्ञानरूप उपाय से वासनाविनाशरूपी फल पाकर यद्यपि कृतार्थ हो चुके थे, तथापि मन्द एवं मध्यम अधिकारियों के उपकार के लिए योगरूपी उपाय से भी वासनाविनाश की रीति जानने की इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, तत्त्वज्ञान की महिमा से वासना का विनाश हो जाने पर जीवन्मुक्त पद में मैं भली प्रकार विश्रान्ति पा चुका हूँ। हे ब्रह्मर्षे अब कृपाकर मुझसे यह बतलाइये कि प्राणवायु की गति के अवरोध से वासना का विनाश हो जानेपर जीवन्मुक्त पद में विश्रान्ति कैसे पायी जाती है ? ॥१,२॥

प्रश्न का उत्तर कहने के लिए महाराज वसिष्ठजी भी उपशम-प्रकरण में कहे गये राजयोग और हठयोग इन दो प्रकारों का ही स्मरण कराते हुए प्रतिज्ञा करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, संसारसागर से पार उतरने में जो उपाय है, वही 'योग' शब्द से कहा जाता है, चित्त का विलय करनेवाला वह उपाय दो प्रकार का है, यह आप जानिए। इसका प्रथम प्रकार आत्मज्ञान है, जो संसार में प्रसिद्ध है और द्वितीय प्रकार प्राणनिरोध है, जिसे मैं कहता हूँ, (आप सावधान होकर) सुनिए ॥३,४॥

पहले 'उन दोनों में कौन-सा प्रकार सरल है' यों विशेषरूप से श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे गुरो, उपर्युक्त योगों के प्रकारों में ऐसा कौन प्रकार सरल और कष्टरहित होने से उत्तम है, जिसके कि एकमात्र अवगत होने पर विक्षेप फिर बाधा नहीं पहुँचाता, कृपाकर उसे बतलाइये ॥५॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, यद्यपि शास्त्रों में 'योग' शब्द से उपर्युक्त दोनों ही प्रकार (आत्मज्ञान और प्राणसंरोध) कहे गये हैं, तथापि यह योगशब्द प्राणनिरोध में ही अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है ॥६॥

संसारसागर से पार उतरने की पद्धति में एक योग अर्थात् प्राणनिरोध और दूसरा ज्ञान-ये दोनों एक फल देनेवाले समान उपाय हैं, यों मुनियों द्वारा कहा गया है ॥७॥

किसी के लिए यानी प्राणनिरोधजन्य दुःख के सहने में असमर्थ सुकुमारचेता, पुरुष के लिए योग-हठयोग-असाध्य है और किसी के लिए यानी विचार में अकुशल कठोरचेता पुरुष के लिए ज्ञाननिश्चयरूप दूसरा योग असाध्य है। परन्तु शुद्धचित्त और विचार में कुशल मुझे तो - ज्ञाननिश्चय दूसरा योग ही सुसाध्य है, ऐसा अभिमत है ॥८॥

ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप का विवेक करने की सामर्थ्य न रहने पर ही विचार में अपटुता होती है, परन्तु वह असामर्थ्य प्रमाण में कुशल पुरुष के लिए तो स्वप्न में भी नहीं रह सकती, इस आशय

से कहते हैं।

वह प्रसिद्ध अज्ञान स्वप्न में भी अज्ञात नहीं रह सकता और ज्ञान भी सभी अवस्थाओं में सदा ही स्वयं प्रकाशमान रहता है। चूँकि अज्ञान सदा ही साक्षी द्वारा भासित होता है, ज्ञान स्वयंप्रकाश होने से स्वतः हीं प्रकाशमान रहता है और इन दोनों का वैधर्म्य अनुभव से ही प्रस्फुरित है, इसलिए ज्ञान-अज्ञान का विवेक हो जाने से आत्मज्ञानरूप योग सरल है, प्राणनिरोधरूप योग वैसा न होने से दुष्कर है, यह भाव है ॥९॥

प्रशस्त देश, काल, विषय आदि बाह्य हेतुओं की अपेक्षा होने से भी योग दुष्कर है, यों कहते हैं।

चूँकि, यह प्राणसंरोधरूप योग धारणादेश (बाह्य पर्वत-शिखर, चन्द्र, तारा आदि देश और आन्तर हृदय, कण्ठ, तालुमूल, भ्रूमध्य आदि देश), आसन-देश (सम; पवित्र; कंकड़, अग्नि और बालुका से वर्जित; कलकल ध्वनि, जलाश्रय आदि से शून्य; मनोहर; चक्षु में पीडा न पहुँचानेवाला आदि विशेषणों से श्रुतिस्मृति में वर्णित आसनदेश) आदि से साध्य है, अतः सुख साध्य नहीं हो सकता। (निरुत्साह, मूढबुद्धि, मूर्ख कापुरुषों की नाईं पण्डित, समर्थ और प्रयत्नशील अधिकारी पुरुष को शास्त्रीय साधनों में सुखसाध्यत्व और कष्टसाध्यत्व का विकल्प कर चिन्ता करना उचित नहीं, इस आशय से कहते हैं।) श्रीरामजी, अथवा आपके लिए सुखसाध्यत्व और कष्टसाध्यत्व का विचार करना उचित नहीं है ॥१०॥

इस प्रकार अवान्तर प्रश्न का (बीच में आये हुए 'कतरः शोभनः' वाले प्रश्न का) निरास कर पहले प्रश्न का उत्तर देने के लिए उपक्रम करते हैं।

हे रघुवीर, ज्ञान और योग – ये दोनों ही उपाय शास्त्रों में कहे गये हैं। उन दोनों में से आत्मपदार्थरूप ज्ञेय को निर्मल करनेवाला सब ज्ञानों से परे स्थित आत्मज्ञान आपको बतलाया गया ॥११॥ हे साधो, अब आप यह योग सुनिए जो कि प्राण और अपान की समतारूप से प्रसिद्ध है, दृढ़ देहरूपी गुहा का आश्रय करनेवाला है, सिद्धि की इच्छा करनेवालों को खेचरत्व आदि अनन्त सिद्धियों को देनेवाला है और ज्ञान की इच्छा करनेवालों को आत्मसाक्षात्कार करानेवाला है, सुनिये ॥१२॥

समाधिसुख में विश्रान्तिरूप फल के कथन द्वारा भी प्रशंसा कर रहे महर्षि वसिष्ठजी वही योग श्रीरामचन्द्रजी से कहते हैं।

हे राजपुत्र श्रीरामभद्र, प्रयत्नशील चित्त से प्राण-गति के निरोध से होनेवाली निष्ठा को प्राप्त होकर यदि आप चित्तवृत्ति निरोध के अभ्यास से प्रत्यग्रूप, अक्षय, परमपद में भली प्रकार स्थिरता प्राप्त कर लेंगे, तो वाणी और मन के अगोचर, निरतिशय-आनन्दस्वरूप होकर आप स्थित रहेंगे ॥१३॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

देवसभा में विख्यात वायसराज काकभुशुण्डजी को देखने के लिए महाराज वसिष्ठ का मेरुपर्वत पर गमन और मेरु तथा उसके शिखर का वर्णन।

काकभुशुण्डजी की उक्ति के द्वारा प्राणायाम आदि प्रस्तुत योगक्रम का विस्तारपूर्वक वर्णन करने की इच्छा करनेवाले महाराज वसिष्ठजी भुशुण्डकथानक आरम्भ करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, योगियों के विश्रान्तिस्थानरूप से वर्णित उस निःसीम परम पद के किसी एक प्रदेश में (अविद्या से आवृत प्रदेश में), मरुभूमि में मृग तृष्णा की नाईं, ब्रह्माण्डाकार यह विवर्त प्रसिद्ध है ॥१॥ उस ब्रह्माण्ड में मनु, प्रजापति आदि की उत्पत्ति में कारणता को प्राप्त तथा प्राणियों के समूहरूप भ्रम को उत्पन्न करनेवाले कमलयोनि ब्रह्मा पितामहरूप से स्थित है ॥२॥ उस पितामह ब्रह्मदेव का मैं सदाचार–सम्पन्न वसिष्ठ नाम का मानस हूँ। और ध्रुवजी द्वारा धारण किये गये सप्तर्षिलोक में वैवस्वत मन्वन्तर तक निवास करता हूँ॥३॥ महाराज इन्द्रदेव की सभा में बैठे हुए मैंने किसी समय स्वर्गलोक में महर्षि नारदजी से अधिक दीर्घकाल तक जी रहे प्राणियों की कथा सुनी थी ॥४॥ चिरंजीवियों की कथाओं में किसी एक कथा के प्रसंग में मितभाषी, सम्माननीय तथा निखिल शास्त्रों में पारंगत विशाल बुद्धि महामुनि शातातप बोले ॥५॥

मुनि ने जो कुछ कहा, उसे बतलाते हैं।

मेरुपर्वत के ईशानकोण में स्थित पद्मरागमणि के सदृश चमकीले शिखर पर गगनचुम्बी एक शोभायमान आम्र विशेष नामक प्रसिद्ध कल्पतरू वृक्ष है ॥६॥ उस कल्पतरु के ऊपर सुवर्ण और रजतमय कल्पलताओं से घने दाहिने तने के खोड़रे में एक घोंसला है ॥७॥ उस घोंसले में ऐश्वर्यशाली वीतराग भुशुण्डनामक कौआ उस प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार विशाल कोशवाले अपने कमल में ब्रह्माजी ॥८॥ हे देवगण, जगत के इस कोश में वह वायसराज भुशुण्ड जिस प्रकार चिरकाल से जी रहा है, उस प्रकार चिरकाल से जी रहा कोई भी इस स्वर्गलोक में न हुआ और न होगा ही ॥९॥ वह (भुशुण्ड) दीर्घायु है, वह रागरहित है, वह ऐश्वर्ययुक्त है, वह विशाल–बुद्धि है, वह स्थिर–बुद्धि है और शान्त है एवं कमनीय और समयगति जाननेवाला है ॥१०॥ वह पक्षी (भुशुण्ड) जिस प्रकार दीर्घकाल से जी रहा है, उस प्रकार यदि कोई प्राणी यहाँ अपना दीर्घजीवन व्यतीत करे, तो उसका वह दीर्घजीवन साधनदशा में पुण्यमय और फलदशा में परमपुरुषार्थ रूप अभ्युदयसम्पन्न ही होगा ॥११॥

श्रीरामजी, कुछ समय के अनन्तर मैंने भुशुण्ड के विषय में फिर भी शातातप मुनि से पूछा था, द्वितीय बार पूछे गये उन मुनिराज ने उसी प्रकार से (जिस प्रकार से देवताओं की सभा में उसका वर्णन किया था, उसी प्रकार से) इस भुशुण्ड का वर्णन किया। इससे मालूम पड़ा कि भुशुण्ड के विषय में जो कुछ उन्होंने कहा था, वह सत्य ही कहा था, उनके कथन का तात्पर्य केवल प्रशंसा में ही नहीं था ॥१२॥ श्रीरामजी, कथा का अवसर समाप्त हुआ और देवतागण अपने–अपने निवासस्थान पर चले गये। तदनन्तर मैं अत्यन्त उत्कण्ठा से भुशुण्डपक्षी को देखने के लिए चला ॥१३॥ जहाँ भुशुण्डपक्षी की स्थिति थी, उस मेरुपर्वत के पद्मरागमणि की तरह चमकीले सुन्दर एवं विस्तृत शिखर पर मैं क्षणभर में ही पहुँच गया ॥१४॥ वह शिखर मधुर आसव से जनित मद की नाईं अग्नि के सदृश वर्चस्व रखने वाले पद्मराग आदि रत्न एवं गेरुमिश्रित सुवर्ण धातुओं के कमनीय तेज से दिशारूपी रमणियों को रक्तिम बना रहा था ॥१५॥ उसकी शोभा प्रलयक़ालीन अग्नि की पिण्डीभूत ज्वालाओं के पर्वत–सी प्रतीत होती थी, शिखा के सदृश ऊपर को उठी हुई इन्द्रनील मणि की प्रभा ही उसका धुआँ था, उसके लाल प्रकाश से समस्त आकाश–मण्डल लालिमा प्राप्त किये था ॥१६॥ मेरुपर्वत के ऊपर समस्त लालिमाओं का एक ढेर–सा होकर वह अवस्थित था या यों कहिए कि निखिल प्राणियों की

दर्शनाभिलाषाओं का एक पिण्ड बनकर वह स्थित था और निखिल सन्ध्याकालीन अभ्रजालों का घनीभूत एक आकर-सा प्रतीत होता था ।।१७।। सुषुम्ना-नाड़ी से उत्क्रान्ति नामक योग-साधन के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर निकलने की इच्छा कर रहे मेरुपर्वत के उदर से निकला हुआ शिरःप्रदेश में प्राप्त बडवाग्नि के सदृश मानों जठराग्नि ही स्थित था ।।१८।। वह लीला से आकाश में स्थित चन्द्रमा को पकड़ने के लिए लाक्षारस से (महावर से) रंजित शिखा के सदृश मिली हुई – मानों सुमेरु पर्वत की वनदेवी के द्वारा प्रसारित करांगुलियाँ ही थी ।।१९।। वह जड़ी गयी सोपान-पंक्तियों के सदृश अरुण ज्वालाओं के द्वारा मानों आकाश में जाने के लिए प्रवृत्त अतएव पर्वत पर चढ़ा हुआ दुग्धाहुति संपन्न मुखवाला ब्राह्मणसम्बन्धी अध्वाराग्नि की नाईं दीख रहा था ।।२०।। वह रत्नों के किरणों से चमक रहे नखाग्रों से युक्त तीन शिखराग्रभागरूपी अंगुलियों से अश्विनी आदि नक्षत्र मण्डलों को स्पर्श कर मानों गिनने के लिए आकाश को व्याप्त-सा करता हुआ उन्नत होकर स्थित था ।।२१।। वहाँ मेघरूप मृदंग आदि वाद्य बज रहे थे, वह वनभूमि से पुष्ट हुई वन-लक्ष्मियों का एक तरह से नृत्य-मंडप था, खिले हुए पुष्पगुच्छों से परिपूर्ण था और भ्रमर-समूहों से गुंजित था ।।२२।। वह परिहास से विकसित हो रही दन्तपंक्तियों के सदृश विकसित ताल पत्रों की पंक्तियों से अत्यन्त सुहावना लगता था । वहाँ झूलों पर झूल रहीं चंचल अप्सराएँ थीं और सभी प्राणियों का उन्माद और अभिलाषाएँ नवीनरूपता धारण किये हुई थीं, वहाँ की शिलाओं पर देवता विश्रान्ति ले रहे थे, उसकी गुफाओं का देवताओं के जोड़ों ने आश्रय किया था ।।२३।।

अब उस शिखर की तापसरूप से उत्प्रक्षा करते हैं ।

उसने सुन्दर आकाशरूपी मृगचर्म धारण किया था, शुभ्र गंगारूप यज्ञोपवीत से अलंकृत था और वह बाँसरूपी दण्ड धारण करने के कारण पीले वर्ण के तपस्वी की नाईं स्थित प्रतीत होता था ।।२४।। वहाँ पर गंगाजी के झरनों की कलकल ध्वनि हो रही थी, उसके लताकुंजों में देवता विराजित थे, वह गन्धर्वों के गीतों से रमणीय लगता था और वहाँ मधुर मनोहर सुगन्धित वायु बह रहा था ।।२५।।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आकाश में ऊँचाई की परम सीमास्वरूप उस प्रकार के पीले वर्ण के उस मेरुपर्वत के सिर पर मैं पहुँचा, वह तारारूपी रत्नों से विभूषित और विकसित स्वर्णकमलरूपी कर्णपूर से रमणीय था ।।२६।। श्रीरामजी, (मैं इसका अधिक वर्णन क्या करूँ !) वह प्रतिदिन श्वेत, हरित, पीत, रक्त एवं धवलवर्ण कानन के कुसुम-समूह रूपी नवीन रंगों से आकाश में मानों निर्दुष्ट चित्र खींचा करता था और देवताओं का वह क्रीडापर्वत था ।।२७।।

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

उस मेरुपर्वत के शिखर पर स्थित चूतनामक कल्पतरु और उसकी शाखा पर विद्यमान पुष्प, पक्षी आदि संपत्तियों, कौओं तथा भुशुण्ड का वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, प्रलयकालीन मेघरूपी कुसुमों से व्याप्त केशोंवाले उस शिखर के सिर पर प्राणियों के वांछित अर्थ की पूर्ति के लिए उत्पन्न हुए शाखा आदि अवयवों से युक्त चूतनामक वृक्ष को मैंने शाखाचक्र-सा (चारों ओर समरूप से फैली हुई शाखाओं के कारण शाखाचक्र-

सा) देखा ॥१॥ श्रीरामजी, चारों ओर से वह वृक्ष फूलों के परागों से धूसरित था, वह रत्नसदृश पुष्प-गुच्छों से दन्तुर था, उसने अपनी ऊँचाई से आकाश को मात कर दिया था, वह पूर्ववर्णित मेरुशिखर के ऊपर रखे हुए दूसरे शिखर के सदृश प्रतीत होता था ॥२॥

उसने केवल अपनी ऊँचाई से ही आकाश को मात नहीं कर दिया था, किन्तु तारा आदि मिलाकर द्विगुणित पुष्प आदि धारण करने के कारण भी उसने आकाश को मात कर दिया था, यों कहते हैं।

. उसने ताराओं को मिलाकर द्विगुणित पुष्प धारण किये थे, मेघरूप पल्लवों को मिलाकर द्विगुणित पल्लव धारण किये थे, किरणों को मिलाकर द्विगुणित पुष्परेणुरूप मेघ धारण किये थे बिजली को मिलाकर द्विगुणित मंजरियाँ धारण की थीं ॥३॥ वहाँ शाखा-प्रदेश में किन्नर युवतियों के गीतों को लेकर द्विगुणित भ्रमरों की गुंजार ध्वनि हो रही थी, उसने झूलों पर आरूढ़ चंचल अप्सराओं के होठ, हाथ एवं पदरूप पल्लवों को लेकर दूने पल्लव धारण किये थे ॥४॥ वांछितरूपों को धारण करने की शक्ति से संपन्न होने के कारण स्वच्छन्द विहार करने के लिए कल्पित विहंगम वेषवाले सिद्धों एवं गन्धर्वों के समूहों को मिलाकर द्विगुण विहंगम उस पर विद्यमान थे, उसने रत्नकान्ति के सदृश स्वच्छ हिमकणों को लेकर दूने हुए त्वचारूपी वस्त्र पहने थे ॥५॥ अधिक ऊँचाई के कारण जनित चन्द्रबिम्ब के सम्बन्ध से मानों अमृत-रस की पूर्ति होने के कारण द्विगुणित अंगोंवाले बड़े-बड़े फल उसमें लगे थे, तनों के मूल भागों में संलग्न कल्पभ्रमों से मानों द्विगुणित हुए उसके पोर थे ॥६॥ उसके तनों पर देवताओं ने आश्रय किया था, पत्रों पर किन्नर विश्रान्ति ले रहे थे, उसके लताकुंजों में मेघ समूह प्रविष्ट हुए थे,जलप्राय कोटर-प्रदेश में देवता आदि सोये हुए थे ॥७॥ उसका अपना निजीस्वरूप अत्यन्त विस्तृत था, उसके फूलों का भीतरी रस अपने कंकणों के क्वणितों से बाह्य भ्रमरों को हटाकर अप्सरारूपी भ्रमरियों ने चूस लिया था ॥८॥ श्रेष्ठदेव, किन्नर, गन्धर्व एवं विद्याधरों से वह समन्वित था, ब्रह्माण्ड की नाईं विस्तृत और असीम दस दिशाओं तथा आकाश को व्याप्त किये था ॥९॥ कलियों के समूहों से वह भरा हुआ था, मृदु पल्लवों से भरा हुआ था, खिले हुए पुष्पों से परिपूर्ण था और वनमालाओं से भी वेष्टित था ॥१०॥ उसके ऊपर घनीभूत मंजरीयाँ थीं, घनीभूत मणिरूप गुच्छे थे, घनीभूत रत्नरूपी परिधानीय दिव्य वस्त्रों से आद्य था अर्थात् अर्थियों की इच्छापूर्ति करनेवाला था, लताओं के नृत्य से व्याप्त था ॥११॥ श्रीरामजी, चारों ओर फूलों की बाढ़ से सर्वत्र फल और पल्लवों से तथा सभी का दिल बहला करनेवाले पुष्पपरागों के समूहों से अत्यन्त विचित्रता को प्राप्त हुए उस चूतनामक कल्पतरू को मैंने देखा ॥१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उपर्युक्त विशेषणों से युक्त उस वृक्ष के तने, शाखा आदि की सन्धियों में, लता से आवृत शाखाग्रभागों में, लतापत्रों में, पोरों या ग्रन्थियों में और पुष्पों में घोंसले बनाकर उसमें स्थित हुए पक्षियों को मैंने देखा ॥१३॥

पक्षियों में विशेष बतलाते हैं।

श्रीरामजी, (वहाँ) मृणाल के टुकड़ों की नाईं चंद्रमा की कला के खण्डों से वर्धित और शुभ्र कमलिनीकन्दों को खानेवाले ब्रह्मदेव के वाहनभूत हंसपक्षी मैंने देखें ॥१४॥ बाद में रहस्यभूत अर्थों के पर्यालोचन में सहायक होने के कारण प्रणव और वेद के मित्रभूत ब्रह्मदेव के वाहन हंसों के बच्चे, जो कि सामवेद का गान कर रहे थे एवं पर-अपर ब्रह्मविद्या का गुरुमुख से विधिवत् अध्ययन किये

हुए थे (मैंने देखें) ॥१५॥

वहाँ निवास कर रहे अग्नि के वाहनभूत शुकों का वर्णन करते हैं।

तदनन्तर मैंने अग्निदेव के वाहन शुक देखे, वे मन्त्र–समूह पढ़ रहे थे, उनके शब्द स्वाहाकार के समान थे। उनकी उपमा शंख, बिजलियों के अनेक समूह और नील मेघों के वर्णों से थी, देवता नित्य उनका दर्शन करते थे। यज्ञवेदियों में बिछाये गये हरित कुश–लताओं के दलों की नाईं वे हरे थे। (अब मयूरों के बच्चों का वर्णन करते हैं।) अनन्तर (मैंने) मयूरों के बच्चे (देखे)। अग्नि की शिखा की नाईं देदीप्यमान उनकी शिखाएँ थीं। जगज्जननी पार्वती से (जूड़े में पहनने के लिए) रक्षित उनके परों का समूह था, स्वामी कार्तिकेय द्वारा विस्तारित अशेष शिवसम्बन्धी विज्ञान में वे पण्डित थे ॥१६–१८॥ आकाश में ही उत्पन्न होकर वहीं पर नष्ट हो जानेवाले अर्थात् मरणपर्यन्त भूमि पर न उतरनेवाले और अधिक बलवान होने से महान इसीलिए व्योमपक्षी नाम से प्रसिद्ध पक्षियों को–जो कि नित्य–क्रीड़ा में सहायक होने से बन्धु थे, अपने अपने घोंसले बनाकर स्थित थे एवं शरत्कालीन मेघों के समान शुभ्र आकृतिवाले थे (मैंने देखा) ॥१९॥ ब्रह्मदेव के वाहन हंस से उत्पन्न और भी दूसरे हंसों को, अग्नि के वाहन शुक से उत्पन्न शुकों को, कुमार कार्तिकेय के वाहन मयूर से उत्पन्न और दूसरे मयूरों को तथा इनसे भिन्न भी अन्य आकाश पक्षियों से उत्पन्न पक्षियों को (मैंने देखा) ॥२०॥ श्रीरामजी, वहाँ (मैंने) दो चोंचवाले भरद्वाजनामक पक्षियों को, सुवर्ण की शिखावाले पक्षियों को तथा गौरैया, कौआ, गीध, कोयल, क्रौंच (कुराँकुल) और मुर्गा–इन पक्षियों को (मैंने देखा) ॥२१॥ हे राघव, उस कल्पतरू पर शकुन्तपक्षी, नीलकण्ठपक्षी, बलाकपक्षी (बकविशेष) आदि और भी अनेक पक्षियों को, जगत में विविध प्राणियों की नाईं मैंने देखा ॥२२॥ इसके बाद आकाश में स्थित हुए मैंने अत्यन्त दूर–प्रदेशस्थ घने पत्तोंवाले उस कल्पवृक्ष के दाहिने तने की शाखापर, उस शाखा को देखने के बाद, लोकालोकपर्वत के अरण्य में प्रलयकालीन मेघ–समूह की नाईं स्थित, मंजरीसमूह से वेष्टित द्रोण कौओं का मण्डल मैंने देखा ॥२३,२४॥ ज्यों ही मैंने वहाँ दृष्टि डाली, त्यों ही देखा कि एकान्त में स्थित दाहिने तने के उस कोटर पर जिसमें चित्र–विचित्र फूल बिछे हुए थे, अनेक प्रकार के सुगन्धों से जो सुगन्धित था तथा पुण्यात्माओं द्वारा उपभोग्य अप्सराओं के उपभोगों के योग्य स्वर्गस्वरूप था – सभा में शान्ति आदि गुणों से संपन्न होने के कारण अक्षुब्ध आकृतिवाले, पवन के द्वारा समभाग से छेदन कर कोटर में प्रवेशित किये गये मेघों की नाईं, मनोहर कुसुमगुच्छों से वासित कौए स्थित हैं और उनके बीच ऐश्वर्यशाली एवं अत्यन्त उन्नत शरीरवाला वायसराज भुशुण्ड बैठा है ॥२५–२७॥ वह भुशुण्ड सभा में उस प्रकार उन्नतरूप से स्थित था, जिस प्रकार काँच के टुकड़ों के बीच उन्नतरूप से इन्द्रनीलमणि स्थित हो। वह आत्मज्ञान से परिपूर्ण मनवाला, मान्य, समदर्शी एवं सर्वांग सुन्दर था ॥२८॥ वह प्राणक्रिया के निरोध से नित्य अन्तर्मुखवृत्तिवाला, सुखी और प्रसिद्धतम चिरजीवी होने से 'चिरंजीवी' नाम से प्रसिद्ध था ॥२९॥ जगत में विदित दीर्घायुवाला भुशुण्ड नाम से प्रसिद्ध वह वायसराज युगों की उत्पत्ति और विनाश की दशा के दर्शन से प्रौढ़मन था ॥३०॥ वह प्रत्येक कल्प में ईशान, इन्द्र और अग्नि आदि लोकपालों के जन्मों की चक्रपरम्परा को गिनता हुआ खिन्न होकर अवस्थित था ॥३१॥ वह सुदूर भूतकालीन सुर, असुर एवं राजाओं का भली प्रकार स्मरण करनेवाला, प्रसन्न और गंभीर मन से युक्त,

चतुर तथा स्निग्ध एवं मुग्ध वाणीवाला था ॥३२॥

वह भली प्रकार ज्ञाता होने के कारण सूक्ष्मतम अर्थों को विस्पष्टकर कहनेवाला, ममता तथा अहंकार से रहित, मृत्यु का पुत्र की नाईं परमप्रिय, बुद्धि में बृहस्पति से भी बड़ा, प्राणिमात्र का सुहृद, बन्धु एवं मित्र था। *(सब प्राणियों का वह सुहृद आदिरूप क्यों था ? इस शंका पर कहते हैं।)* चूँकि यह सबके वर्णन प्रसंग में–प्राणीमात्र के निखिल आरोपों का अधिष्ठानरूप हो जाने के कारण सब प्रकार से भी सर्वदा सर्वात्मक सत्यस्वरूप ही परिगणित होता था यानी वह सर्वात्मक और सत्यस्वरूप ही सर्वसंगत था, अतः सुहृद आदिरूप था ॥३३॥ जिस प्रकार सरोवर सौम्य, स्वच्छ मधुर जल से युक्त, मनोहर और भीतर से अखण्ड शीतल, मध्य कमल के आधारभूत कुहर से युक्त, पक्षियों की विश्रान्ति को जाननेवाला एवं निर्मलतम होने से प्रकटित भीतरी शोभावाला रहता है, उसी प्रकार सौम्य, प्रसन्न, मधुर, ब्रह्मरस से युक्त, मनोहर, भीतरी अखण्ड शान्ति से युक्त, हृदयाकाशरूप, सब व्यवहारों को जाननेवाला यह महात्मा भुशुण्ड भी गांभीर्य को न छोड़ता हुआ अन्तःकरण की शोभा महत्ता को प्रकटित कर अवस्थित था ॥३४॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

सामने उपस्थित हुए तथा आसन आदि से पूजित हुए
महाराज वसिष्ठजी द्वारा किये गये भुशुण्ड के जन्म, कर्म आदि के प्रश्नों का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, तदनन्तर मैं उस भुशुण्ड के सामने उस प्रकार गिरा (उतरा), जिस प्रकार पर्वत पर आकाश से नक्षत्र गिरता हो। मेरा शरीर अत्यन्त कान्तियुक्त था, गिरने पर मैंने सभा में कुछ हलचल भी पैदा कर दी ॥१॥

जिस प्रकार भूकम्प से सागर विक्षुब्ध हो जाता है, उस प्रकार मेरे पतन से जनित मन्द पवन से कौओं की सभा, जो नील कमलों के तालाब के सदृश थी, विक्षुब्ध हो गई ॥२॥ अनन्तर त्रिकालदर्शी होने के कारण उस भुशुण्ड ने देखने से ही – यद्यपि वहाँ मेरा जाना अतर्किक था, तथापि वहाँ गये 'हुए मुझको – 'यह वसिष्ठ आये हुए हैं', यों जाना ॥३॥ तदनन्तर जिस प्रकार पर्वत से छोटा मेघ उठे, उस प्रकार वह पत्तों के ढेर से उठ खड़ा हुआ और 'हे मुनिराज, आपका स्वागत हो', यों मधुरवाणी बोला ॥४॥ स्वागत वचनों के साथ ही साथ दोनों हाथों से अपने संकल्पमात्र से उत्पादित पुष्पांजलि भरकर मेरे ऊपर उस प्रकार बरसाई, जिस प्रकार मेघ हिम की महावृष्टि करता हो ॥५॥ तदनन्तर आपके बिराजने के लिए यह आसन है, यों कहकर वह कौओं का अधिपति भुशुण्ड आसन लाने के लिए चाकरवर्ग का परित्याग कर स्वयं खड़ा हुआ और कल्पवृक्ष का नवीन पत्ररूप आसन लाया। तदनन्तर मैं भुशुण्ड के साथ उस कल्पवृक्ष की लताओं से बने हुए आसनपर बैठ गया। भुशुण्ड के चारों ओर पक्षियों का समूह था मननशील मुझे उस आसन पर आसीन देखकर अपने कान्तिमण्डल से प्रसरणशील पंखोंवाले उक्त सभा के कौए अपने-अपने आसनों की ओर दृष्टि डालने लगे। भुशुण्ड ने अर्घ्य, पाद्य आदि सम्पादन कर मेरा सत्कार किया।

महान तेजस्वी वह भुशुण्ड अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर सुन्दर, सौहार्द से मधुर वचन मुझसे कहने लगा ॥६–९॥ भुशुण्ड ने कहा : भगवन्, बड़े सौभाग्य का विषय है कि दीर्घकाल के अनन्तर आज हम लोगों के ऊपर आपने अनुग्रह दर्शाया, क्योंकि आपके दर्शनामृतरूपी सिंचन से सिंचे गये हम लोग आज, पुण्यवृक्ष के सदृश, अत्यन्त पवित्र बन गये ॥१०॥ हे मुने, दीर्घकालिक मेरे पुण्य की राशि से प्रेरित तथा मान्यों में एकमात्र मान्यतम आपका इस समय किस प्रदेश से शुभ आगमन हुआ ? ॥११॥ महाराज, मूलभूत माया से बने इस जगत में दीर्घकाल से विचरण कर रहे आपके पावनतम चित्त में अखंडित समदर्शिता विराजती तो है न ? ॥१२॥

महाराज, आज आने का कष्ट उठाकर आपने अपनी आत्मा को क्यों दुःख पहुँचाया ? आज्ञादायी वचनों के श्रवण में उत्कण्ठा रखनेवाले हम लोगों को आज्ञा देने के लिए आप सर्वथा योग्य हैं ॥१३॥ हे मुनिवर, आपके चरणों के दर्शन से ही मैंने सब कुछ जान लिया, आपने अपने आगमन के पुण्यों से हम लोगों को दबा दिया है ॥१४॥

'सब कुछ जान लिया' यह जो पहले कहा गया था, उसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

इन्द्रसभा में चिरंजीवियों के विषयों में हुई विचारणाओं के कारण ही आपके स्मृतिपथ में हम आये और उसी से यह स्थान आपके चरणों का आस्पद हुआ, सचमुच आपने इस प्राणी को पवित्र बना दिया ॥१५॥ हे मुने, यद्यपि यहाँ आपके आने का प्रयोजन मैंने पहले से ही जान लिया, तथापि आपके वाक्यामृतरसास्वाद की अभिलाषा बढ़ रही है, अतः आपसे मैं पूछता हूँ ॥१६॥ तीनों कालों में निर्मल ज्ञान रखनेवाला चिरंजीवी इस भुशुण्ड ने जब वैसे कहा, तब वहाँ मैंने यह कहा ॥१७॥ हे पक्षियों के स्वामिन्, जो कुछ यह कह रहे हो, वह सब यथार्थ में सत्य ही है, चिरंजीवी केवल तुम्हें ही आज मैं देखने के लिये आया हूँ ॥१८॥ हे पक्षीराज, महान भाग्य से तुम्हारे अन्तःकरण में चारों ओर से शान्ति का राज्य है, तुम कुशल हो, ज्ञाततत्त्व होने के कारण तुम इस भयंकर जगज्जाल में प्रविष्ट नहीं हुए हो ॥१९॥ प्राणियों की उत्पत्ति, विनाश, गति, आगति, विद्या एवं अविद्या को जाननेवाले हे पक्षिराज, तुम मेरे इस संशय का सत्यरूप से छेदन कर दो कि किस कुल में तुम उत्पन्न हुए हो और किस प्रकार तुमने तत्त्व पहचान लिया ॥२०॥ हे साधो, तुम्हारी कितनी आयु है, तुम अपना कौन–सा इतिवृत्त (विगत कल्पान्तचरित्र) जानते हो और किस महानुभाव ने दीर्घदर्शी तुम्हारे लिए निवासस्थान रूप से इस वृक्ष को निश्चित किया है ? ॥२१॥ भुशुण्ड ने कहा : हे मुने, आप जो मुझसे पुछ रहे हैं, उस सबका मैं यह वर्णन (उत्तर) कर रहा हूँ। आप महानुभाव उद्विग्न न होकर प्रयत्नपूर्वक कथा का श्रवण कीजिए ॥२२॥ हे महानुभाव, तीनों लोकों के नियन्ता और परम पूज्य आपके सदृश उदारबुद्धि महात्मा जिस वृत्तान्त का श्रवण करते हैं, उस वृत्तान्त का भलीप्रकार कथन करने से वक्ता और श्रोता दोनों का पाप उस प्रकार विनष्ट हो जाता है, जिस प्रकार मेघावलम्बित वृष्टि, छाया, अरण्य आदि वैभवों से सूर्य का ताप विनष्ट हो जाता है ॥२३॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

जीवन्मुक्तों के उपयोगी गुणों से पूछे गये अर्थ का वर्णन कर
पक्षियों का स्वामी भुशुण्ड पुनः उसी को सविस्तार कहने के लिए प्रवृत्त हुआ, यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तदनन्तर वह पक्षीराज भुशुण्ड वक्ष्यमाण रीति से कहने लगा। वह अभीष्ट लाभ से न तो प्रसन्न होनेवाला था और न क्रूरमति था। वह सभी अंगों से सुन्दर और वर्षाकालीन मेघों के सदृश श्यामवर्ण था ॥१॥ उसके वचन स्नेहपूर्ण और गम्भीर थे। उसके अभिभाषण के पहले स्मित होता था। हाथ में बिल्व फल की नाईं तीनों जगत की इयत्ता (सीमा) उसे निश्चित रूप से विदित थी ॥२॥ समस्त भोगों को उसने तिनके की तरह तुच्छ समझ रक्खा था, इच्छित विषयों की ओर लोगों की दौड़-धूप का फल एकमात्र संसार ही है – यह रहस्य उसने भली प्रकार जान लिया था, वह परापर ब्रह्म का ज्ञाता था ॥३॥ उसका महान आकार धीर और स्थिर था। उसने विश्रान्ति तो उस प्रकार धारण की थी, जिस प्रकार मन्थन के अनन्तर मन्दराचल के चले जाने के बाद क्षीर-समुद्र ने धारण की थी। उसका मन मनोरथों से परिपूर्ण था और विशुद्ध था ॥४॥ बाहर से उसकी चारों ओर से बुद्धि में विश्रान्ति थी, वह शान्त था, भीतर से परमानन्द परिपूर्ण था, उसे संसार में जन्मधारी जीवों के आविर्भाव और तिरोभाव में हेतुभूत मायातत्त्व और आत्मतत्त्व का भली प्रकार ज्ञान था ॥५॥ प्रिय और मधुर सुनने योग्य वीणा-गान की नाईं मनोहर उसके वाक्य थे। दर्शनमात्र से संपूर्ण भयों का अपहरण करनेवाले स्वयं ब्रह्मा ने ही मानों अपना यह नवीन भुशुण्डशरीर धारण किया हो, ऐसा वह प्रतीत होता था, अतएव वह स्वाभाविक आनन्द से युक्त और प्रश्नों का उत्तर देने के लिए किये गये उद्योगयुक्त मुख के कारण अत्यन्त सुन्दर लगता था ॥६॥ उस प्रकार का पक्षियों का अधिराज भुशुण्ड शुद्ध, अमृतमय, परिपूर्ण स्व-स्वरूप का क्रमशः बोध कराने के लिए – निर्मल वाणी से उस तरह मेरे प्रति आगे का वृत्तान्त कहने लगा, जिस तरह सुन्दर मेघ अपनी गर्जना से मकरन्द (पुष्परस के) पान में रसिक भ्रमर के प्रति वही वृत्तान्त कहता हो। *तात्पर्य यह हुआ कि पहले से ही प्रबुद्ध ब्रह्मानन्द में रसिक मेरे प्रति भुशुण्ड की उक्ति अनुवाद मात्र थी, न कि उपदेश* ॥७॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

अपना जन्म कहने के लिए पहले महादेवजी, उनके गण, मातृका तथा
उनके पानोत्सव आदि का भुशुण्ड के द्वारा वर्णन।

'किस कुल में तुम उत्पन्न हुए हो' इस प्रथम प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहले भूमिका बाँधते हैं।

भुशुण्ड ने कहा : महाराज वसिष्ठजी, इस जगत में समस्त स्वर्गवासी देवताओं में श्रेष्ठ (ज्ञान, ऐश्वर्य, बल आदि गुणों से सर्वोत्कृष्ट), देवताओं के भी पूजनीय एवं उपासनीय, देवाधिदेव महादेवजी हैं, जो बड़े-बड़े देवों के देव ब्रह्मादि देवताओं के द्वारा भी अभिवन्दित और चारों ओर से पूजित हैं। *(इस श्लोक में उपर्युक्त तीन विशेषणों से सर्वांश में महादेवजी के ही उत्कर्ष की परमावधि बतलाई गई है, इससे वक्ष्यमाण ब्रह्मविद्या के आरम्भ में मंगल भी पक्षिराज भुशुण्ड ने कर दिया – यह अर्थतः सिद्ध*

हो जाता है, यह जानना चाहिए) ॥१॥ आम्रवृक्ष की नाईं उनके देहार्ध में भ्रमर-पंक्तियों के सदृश नेत्रोंवाली तथा उन्नत पुष्प-गुच्छों के सदृश स्तनधारिणी लता शोभित है ॥२॥ उनके एक गंगारूपी कुसुम - मालिका है, जो हिम और हार की नाईं अत्यन्त धवल लहरीरूपी पुष्पों से गुम्फित (गूँथी गई) है और जिसने जटाजूट को वेष्टित कर रक्खा है ॥३॥ क्षीर-सागर से उत्पन्न हुआ और अमृत का झरना बहानेवाला अत्यन्त कान्तियुक्त चन्द्रमा उनका दर्पणभूत चूड़ामणि (शिरोभूषणमणि) है ॥४॥ निरन्तर मस्तक में स्थित चन्द्रमा के अमृतप्रवाह से जिसकी विषशक्ति निकल गई है और जिसमें संजीवनशक्ति प्राप्त हुई है, ऐसा इन्द्रनील मणि की नाईं कालकूट महाविष उनके कण्ठ का भूषण है ॥५॥ जगत के प्रलय में हेतुभूत अपने चक्षुरूपी स्वच्छ अग्नि से उत्पन्न हुई, धूलियों की पंक्तिरूप बड़े-बड़े प्रलयकालीन झंझावातों की उत्पादक, परमाणुमय (स्थूल महाभूतों का सूक्ष्म-सूक्ष्म भूतों में प्रवेश-क्रम से परम सूक्ष्म अव्यक्तमात्र का परिशेष होने के कारण परमाणुमय), अतिशुभ्र एवं ज्ञानजलात्मक (उसके साक्षी चैतन्यस्वरूप जल से प्लावित होने के कारण ज्ञानजलात्मक) मायारूप भस्म उन मायाशबल महादेवजी का भूषण है ॥६॥ अत्यन्त निर्मल, तेजस्वी चन्द्रमा का भी तिरस्कार कर देनेवाली, मणियों के सदृश सानपर चढ़ाकर विशोधित की गई, माला आदि के आकार में गुँथी गई, संपूर्ण शरीरों में मनोरम ब्रह्मा आदि के शरीरों की विकारभूत हड्डियाँ ही उनके शोभाकारक रत्न हैं ॥७॥ सुधाकर चन्द्रमा की सुधाधारा से प्रक्षालित, नीलमेघरूपी पल्लवों से युक्त तथा तारारूपी बिन्दुओं से समन्वित आकाश यानी दिशाएँ ही उनके वस्त्र हैं ॥८॥ चक्कर काट रही लोमड़ियों, परिपक्व नर-मांसों और बलि के ओदनों से (भात से) व्याप्त; गाँवों और नगरों से दूर, हिम के सदृश धवल श्मशान ही उनका घर है। *(प्रकृत श्लोक में 'भ्रमच्छिवांगना०' और 'बहिर्भूतम्' से दो पद श्लिष्ट होने से कल्याणकारी वेष-भूषा को धारण कर इधर-उधर घूम रही रमणियों द्वारा पकाये गये प्रशस्ततम मांस, भात आदि भोज्य पदार्थों से व्याप्त तथा सब प्रकार के दोषों से रहित - इस अर्थ की कल्पना की जा सकती है।)* ॥९॥ जिसने कपाल-मालाएँ धारण की है, रक्त और चर्बी का आसव (मद्य) पान किया है, एवं जो आँतरूपी मालासूत्र से वेष्टित है, ऐसा वक्ष्यमाण मातृकागण उनका नृत्यादि में सदा सहायक बन्धुवर्ग है ॥१०॥ क्रमशः तत्-तत् अंगों के भूषण के लिए संचरणशील, सर्वांग से चिकने, प्रस्फुरित हो रही मस्तकमणियों से राजित तथा सुवर्ण के सदृश दीप्तिसम्पन्न कान्तिवाले सर्प उनके भुजा के कंकण हैं ॥११॥ दृष्टिपातमात्र से शैलेन्द्र हिमराज को दग्ध कर देनेवाला, जगत का ग्रास करने में लालायित तथा क्रीडामात्र से असुरों को त्रस्त कर देनेवाला भयंकर उनका चरित्र है ॥१२॥ महाराज, सत्य-संकल्प होने के कारण उनका अन्तःकरण एकमात्र कल्याण की भावना से ही जगत-समूह को अपनी प्रकृति में रखने के लिए समाधि में स्थित है। कदाचित समाधि का आकस्मिक भंग हो जाने पर उत्पन्न हुआ उनके हाथ का स्पन्दन असुरों के बड़े-बड़े नगरों को, असुरों के साथ, विनष्ट कर डालता है ॥१३॥

समाधिकाल में महादेवजी की जो प्रसिद्धतम एकाग्रता है, वह पृथ्वी, पर्वत आदिरूप उनकी मूर्तियों में विस्पष्टरूप से दिखाई पड़ती है, इस आशय से कहते हैं।

स्नेह, राग, द्वेष आदि सर्वविध दोषों से शून्य, रसयुक्त होते हुए भी (पृथ्वी और जल से युक्त होते हुए भी) नीरस, उत्तम भोजन करने के कारण भली-प्रकार तृप्त हुए जनों के सदृश खान-पान आदि

तृष्णाओं से शून्य प्रसिद्ध मेरु, हिमालय आदि पर्वत ही उनकी एकाग्रता ध्यान की मूर्तियाँ हैं ॥१४॥

अब सर्वांगों में समस्त शक्तियों से परिपूर्ण उनके गणों का वर्णन करते हैं।

जिनके मस्तक खुर की शक्तियाँ रखते हैं यानी दौड़ने-कूदने की शक्तियाँ रखते हैं, खुर हाथों की शक्तियाँ रखते हैं यानी चित्र-विचित्र शिल्पआदि निर्माण-शक्तियाँ रखते हैं, हाथ दाँत, मुख और उदर की शक्तियाँ रखते हैं यानी चवर्ण, भक्षण आदि शक्तियाँ रखते हैं तथा जिनके भालू, ऊँट, बकरी और सर्प के सदृश मुख हैं, ऐसे प्रमथों का गण उन महादेवजी के क्रीडन में सहायक है ॥१५॥ तीन नेत्रों के कारण चमक रहे मुखवाले उन महादेवजी के जिस प्रकार सर्वागों में सर्वविध शक्तियों से समन्वित प्रमथगण क्रीडा सहायक परिवार है, उसी प्रकार सर्वांगों में सर्वशक्तिसमन्वित निर्मल कान्तिवाली दूसरी-दूसरी नाना प्रकार की आकृति और मुखवाली माताएँ भी क्रीडा में सहायक परिवार हैं ॥१६॥ भूतगणों के ऊपर आधिपत्य रखने के कारण उनसे (भूतगणों से) नमस्कृत तथा चौदह भुवनों में उत्पन्न होनेवाले असंख्य प्राणियों का ही भोजन करने वाली मातृकाएँ उस देवाधिदेव के सामने नृत्य करती हैं ॥१७॥ उन मातृकाओं के मुखों की गदहे और ऊँटों के मुखों के सदृश आकृतियाँ है, रक्त, मेद और चर्बी उनका आसव के सदृश सर्वदा पेयपदार्थ है। चारों दिशाओं में वे विहार करती हैं और शव के हाथ, पैर आदि की मालाएँ पहनती हैं ॥१८॥ ये मातृकाएँ पहाड़ों की चोटियों पर, आकाश में, अन्य लोकों में, गर्तों में भी प्राणियों के शरीरों में निवास करती हैं ॥१९॥ जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, सिद्धा, रक्ता, अलम्बुसा और उत्पला – ये आठ मातृदेवियाँ सभी माताओं में मुख्य हैं। अन्य माताएँ इन्हीं आठों का अनुगमन करती हैं और उनका अनुगमन करनेवाली अन्य मातृदेवियों का और दूसरी माताएँ अनुगमन करती हैं ॥२०,२१॥ हे मानद मुनिनायक, महामहिमशाली उस मातृगण के बीच में 'अलम्बुसा' नामक सातवीं माता अत्यन्त विख्यात है ॥२२॥ वैष्णवी-शक्ति के वाहन गरुड़ की नाईं उस 'अलम्बुसा-शक्ति' का वाहन कौआ है, यह इन्द्रनील पर्वत के सदृश नीला है, इसका मुख वज्रतुल्य हड्डी से बना है तथा नाम है – चण्ड ॥२३॥ किसी समय विहारवश भयंकर चेष्टाकारिणी, अष्टसिद्धियों से संपन्न वे सब माताएँ आकाश में इकट्ठी हुई ॥२४॥ वाममार्ग में प्रतिपादित पराशक्ति के आराधन-प्रकार में निष्ठा रखनेवाली इन आठ मातृदेवियों ने तुम्बुरुनामक रुद्रमूर्ति का आराध्यरूप से आश्रय लेकर एकाग्रचित्त से समाधि में परमार्थभूत स्व-स्वरूप का प्रकाशन करनेवाला उत्तम पानोत्सव मनाया ॥२५॥ वे माताएँ, समस्त जगत के पूज्य तुम्बुरु और भैरवनामक देवताओं का पूजन अर्चन कर मदिरामद से सन्तुष्ट होती हुई आपस में चित्र-विचित्र अर्थों से पूर्ण वार्तालाप करने लगीं ॥२६॥ तदनन्तर उनकी कथाओं के प्रसंग से यह एक बात उठी कि भगवान उमापति हम लोगों को क्यों तिरस्कारपूर्वक देखा करते हैं ॥२७॥ इसलिए महादेवजी को हम लोग अपना वह प्रभाव दिखलाएँ, जिससे कि हम लोगों की महाशक्ति देखकर वे हमारी अवहेलना न करेंगे ॥२८॥ यों निश्चय कर परस्पर अभिनन्दित उन देवियों ने रूपान्तर में परिणत किये गये मुख आदि अंगोवाली रुद्रशक्ति उमा को अपने अधीन बनाकर, यज्ञ में पशु की नाईं, मन्त्रसहित जल से प्रोक्षित (बलि के संस्कार से युक्त) किया ॥२९॥ अनन्तर उन देवियों ने महादेवजी के अंश से माया द्वारा चुराई गई तथा मातृदेवियों के बीच में प्राप्त हुई चंचल केशवाली उमा को ओदनरूप (सबके भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेयरूप) बनाने के लिए मानों अभिशाप

दिया ॥३०॥ जिस दिन पार्वतीजी का प्रोक्षण किया, उस दिन वहाँ उन सब देवियों ने नृत्य, गेय आदि से मनोहर महान उत्सव मनाया ॥३१॥ अत्यन्त आनन्द और उन्नत घोष से युक्त आकाश–मण्डल ही उस समय जगमगाने लगा तथा उन देवियों की जंघा और उदर दीर्घ अंगों के उच्चावच प्रक्षेप से विकसित होने लगे ॥३२॥ पर्वत और अरण्यों को शब्दित कर रही कुछ अन्य देवियाँ करताल और सिंहनाद के कारण उद्दाम घनीभूत शब्द के उच्चार तथा कान्तियुक्त अंगों के विकारपूर्वक हँसने लगीं ॥३३॥ जगत–मण्डल की गुहा में मद्यपान से अतितृप्त हुई कुछ मातृकाएँ पर्वत एवं घरों को ध्वनियुक्त बनाती हुई, चन्द्र के उदयरागसे रंजित अतएव शब्दयुक्त हुए समुद्र,जल के सदृश, गर्जना करने लगीं ॥३४॥ लीला से जनित घुरघुर शब्दों से आकाश के कोने में कुछ देवियाँ मस्तक से लेकर खुरपर्यन्त अंगों को रक्त, चर्बी, आसव आदि से पुष्ट करने के लिए मद्यपान कर रही थीं ॥३५॥

उनके कुछ उन्मत्त वृत्तान्तों का कथन करते हुए प्रकृत विषय का उपसंहार करते हैं।

कुछ देवियाँ पेय पदार्थ पीने लगीं, कुछ तो उच्च स्वर से गर्जने लगीं, कुछ जल्दी से जाने लगीं, कुछ बोलने लगीं, कुछ हँसने लगीं, कुछ परस्पर रक्षा करने लगीं, कुछ एक दूसरे के मुख में या अग्नि में होमने लगीं, कुछ गिरने लगीं, कुछ ऊँचे से बड़बड़ाने लगीं, कुछ निरन्तर नाचने लगीं, कुछ स्वादु मांस खाने लगीं, यों उन्होंने उन्मत्त आचरण होकर त्रिभुवन को अपने व्यापार से सद्वर्तन से रहित कर दिया ॥३६॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

ब्रह्माणी की हंसी में चण्डनामक कौए के सम्बन्ध से भाईयों के साथ अपनी (भुशुण्ड की) उत्पत्ति, उसी ब्राह्मशक्ति के प्रसाद से ज्ञान और पिता के स्थान की प्राप्ति का वर्णन।

वायसराज भुशुण्ड ने कहा : ब्रह्मन, जब उन मातृकाओं का उत्सव चल रहा था, तब उनके उत्तम वाहनरूप चण्ड आदि भी उसी प्रकार उन्मत्त होकर हँसते थे, नाचते थे और रुधिर का पान भी करते थे ॥१॥ उस उत्सव में मद्यपान से उन्मत्त हुई कुछ ब्राह्मीशक्ति के रथ में जुतनेवाली हँसियाँ और 'अलम्बुसा' देवी का वाहन चण्डनामक कौआ – ये सब आकाश प्रदेश में इकट्ठे होकर नाचने लगे ॥२॥ समुद्रतट की समथल भूमि में भली प्रकार नृत्य और मद्यपान कर रही उन हँसियों को पुरुष–विषयक अनुराग उत्पन्न हुआ। *(इस श्लोक में 'अब्धितटानां तले' इससे उद्दीपन विभाव का कथन किया गया है, यह जानना चाहिए।)* ॥३॥ तदनन्तर उस समय उत्पन्न–रति वे सभी हँसियाँ उन्मत्त होकर क्रमशः निकृष्टजातीय भी कौए के साथ रमण करने लगीं, क्योंकि वे मत्त ही तो थीं। *(ऊँची जाति की हँसियों की रति अपने से निकृष्ट जाति कौए के साथ यद्यपि अनुचित है, तथापि उसके होने में एकमात्र कारण उन्माद ही है, यह सूचन करने के लिए इस श्लोक में 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है।)* ॥४॥ सात कुलहँसियों के वल्लभ इस चण्डनामक कौए ने क्रम से एक–एक हँसी के साथ तब तक रमण किया, जब तक कि एक दूसरे की इच्छा पर्याप्तरूप से शान्त नहीं हुई ॥५॥ रति से तृप्त हुई उन हँसियों ने गर्भधारण किया और वे देवियाँ उत्सव–कार्य सम्पादित हो जाने के अनन्तर अपनी ही माया का विलास समझकर क्रोध न करनेवाले महादेवजी के पास पहुँची ॥६॥ और उन देवियों ने

भोजन के लिए शूलपाणि महादेवजी को प्रिय उमा समर्पित की, जो ओदनरूपता (भात) को प्राप्त हुई थी ॥७॥ भोजन में मेरी प्रिया ही दी गई है, यों जानकर जब महादेवजी मातृकाओं के प्रति रुष्ट हुए, तब उन्होंने अपने–अपने अंगों से सिर आदि एक–एक अवयव की कल्पना द्वारा पार्वती का पुनः उत्पादन कर महादेवजी को फिर पाणिग्रहण विधि से उसे समर्पित किया ॥८,९॥ अनन्तर देवियाँ, महादेवजी और उनका परिवार – ये सब सन्तुष्टमन होकर अपनी–अपनी दिशा की ओर चल दिये ॥१०॥ हे मुनीश्वर, वे ब्राह्मीशक्ति के रथ की हँसियाँ गर्भवती हुई थीं, उन्होंने ब्राह्मी देवी के समीप में अपना यथास्थित वृत्तान्त कह दिया ॥११॥ ब्राह्मीशक्ति ने कहा : पुत्रियों, इस समय गर्भवती तुम सब मेरे रथकार्य के लिए असमर्थ हो, इसलिए अब यथेष्ट विचरण करो ॥१२॥ गर्भ से अलसाई हुई उन हँसियों को वैसा कहकर दयालु ब्राह्मी देवी – उनके ऊपर अनुग्रह के लिए विहार छोड़कर– निर्विकल्प समाधि में ही सुखपूर्वक स्थित हुई ॥१३॥ हे मुनीश्वर, गर्भधारण से अलसाई हुई वे राजहँसियाँ भगवान विष्णु के नाभिकमल के मूल में ब्रह्मा के कमल की उत्पत्ति–स्थान में विचरण करने लगीं ॥१४॥ तदनन्तर उस प्रकार विचरण करती हुई उन राजहँसियों का गर्भ परिपक्व हो गया। उन्होंने नाभिकमल के कोमल पल्लव में उस प्रकार मुलायम अण्डे दिये, जिस प्रकार वल्लियाँ अंकुर देती हैं ॥१५॥ अनन्तर समय पाकर उन्होंने इक्कीस अण्डे दिये और यथासमय भीतरी गर्भ पक जाने पर हँसियों के पग के प्रहार द्वारा वे उस प्रकार द्विधा विभक्त हो गये, जिस प्रकार सारयुक्त ब्रह्माण्ड सुवर्ण और चाँदी के खप्परों द्वारा द्विधा विभक्त हो जाता है ॥१६॥

हे मुने, उस प्रकार उन अण्डों के द्वारा ये हम चण्ड के पुत्र इक्कीस भाई कौए की जाति में उत्पन्न हुए ॥१७॥ उस कमल के पल्लव के ऊपर हुए वे हम क्रमशः बड़े हुए, हम लोगों को पंख आए और आकाश में उड़ने में समर्थ भी हुए ॥१८॥

तुमने तत्त्व कैसे जाना ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उपक्रम करते हैं।

महर्षे, हम लोगों ने अपनी माता हँसियों के साथ दीर्घकाल तक समाधि से विरत हुई भगवती ब्राह्मीदेवी की भलीप्रकार आराधना की ॥१९॥ अनन्तर उपयुक्त समय आने पर प्रसाद करने में तत्पर हुई भगवती ब्राह्मी ने स्वयं ही हम लोगों के ऊपर तत्त्वसाक्षात्काररूप फल के द्वारा वैसा अनुग्रह किया, जिससे हम लोग जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं ॥२०॥ हम लोगों का मन विलीन हो गया, इसलिए 'एकान्त प्रदेश में उपद्रवशून्य होकर समाधि में ही स्थित रहें' ऐसा निश्चय करके हम लोग अपने पिताजी के पास विन्ध्य–प्रदेश में गये ॥२१॥ वहाँ पिताजी ने हम लोगों का आलिंगन किया और तदनन्तर हम सबने भगवती अलम्बुसा की पूजा की। प्रसन्नतापूर्वक उस देवी के द्वारा देखे गये हम लोग विनय आदि सद्‌गुणों से नियन्त्रित होकर वहाँ रहने लगे ॥२२॥ पिता चण्ड ने कहा : 'हे पुत्रों, क्या तुम लोग इस संसाररूपी जाल से, जो असीम वासनारूपी तन्तुओं से गुँथी गयी है, मुक्त हो चुके हो ? यदि नहीं, तो उससे छुटकारा पाने के लिए सेवकवत्सल इस भगवती अलम्बुसा की हम प्रार्थना करें, जिससे तुम सब ज्ञान में पारंगत हो जाओगे ॥२३,२४॥ कौओं ने कहा : हे पिताजी, ब्राह्मीदेवी के प्रसाद से हम लोगों ने ज्ञातव्य विषय का भली–भाँति ज्ञान कर लिया है, किन्तु एकान्त में वास करने योग्य उत्तम स्थान की हम लोगों को अभिलाषा है ॥२५॥ पिता चण्ड ने कहा : हे पुत्रों, एक मेरुनामक अत्यन्त ऊँचा पर्वत है,

वह भाँति-भाँति के अनेक रत्नों का आधार है, उसका संपूर्ण देवता आश्रय करते हैं ॥२६॥ प्रकाशमान चन्द्र और सूर्यरूपी दीपक से युक्त अनेकविध प्राणियों के कारण विस्तृत हुए कुटुम्ब से परिवेष्टित ब्रह्माण्डरूपी घर का वह सुवर्णनिर्मित मध्यस्तंभ है ॥२७॥ वह पृथ्वी के द्वारा ऊपर को उठाया गया मानों एक हाथ है। उस हाथ में किंपुरुष आदि देश ही चन्द्राकृति सुवर्ण निर्मित केयूर हैं, रत्नरूप अँगूठियों से सुशोभित शिखर ही अंगुलियाँ है और शब्द कर रहे द्वीप और समुद्र ही कंकण हैं ॥२८॥ वह पर्वतों का राजा है, उसके चारों ओर हिमालय आदि सात कुलपर्वत सामन्तरूप से विराजित हैं; वह जम्बूद्वीप सिंहासन के ऊपर विराजमान है और पर्वतों की सभा में चन्द्र एवं सूर्यरूपी नेत्रों से दृष्टिपात करता है। तारावली (तारकाओं की पंक्ति) ही उसकी मालती-माला है, दिशारूपी पल्लवों से सुशोभित आकाश ही उसका एकमात्र वस्त्र है, वह सर्प और हाथी-इन दोनों का आश्रय-स्थान है, इन्द्र, उपेन्द्र आदि देवराज ही उसके आभूषण हैं ॥२९,३०॥ कमनीय दिशारूपी कामिनियाँ उसके चारों ओर जल की धारा युक्त शीतल अंगभूषण मेघरूप नील, श्वेत आदि चामर डुलाती हैं ॥३१॥ इसके पैर सोलह हजार योजन नीचे पृथ्वी में अवस्थित हैं, जिनकी नाग, असुर और बड़े-बड़े सर्प पूजा करते हैं ॥३२॥ इसकी देह सूर्य और चन्द्ररूप लोचनों से युक्त तथा अस्सी हजार योजन ऊँची स्वर्ग-स्थान तक पहुँची है, वहाँ देवता, गन्धर्व एवं किन्नर उसकी पूजा करते हैं ॥३३॥ इस पर्वतराज का आश्रय लेकर ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि, देव, पितर, गन्धर्व, किन्नर, अप्सराएँ, विद्याधर, यक्ष, राक्षस, प्रमथ, गुह्यक और नाग-ये चौदह प्रकार के प्राणी उस प्रकार जीवन निर्वाह करते हैं, जिस प्रकार प्रधान गृहपति का आश्रय कर इतर बन्धुगण जीवन-निर्वाह करते हैं। यह इतना बड़ा विस्तृत है कि वे एकत्र रहने पर भी एक-दूसरे का नगर या स्थान नहीं देख पाते ॥३४॥ इसके ईशानकोण में माणिक का बना हुआ एक विशाल शिखर है, जिसे देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानों दूसरा उदित हुआ सूर्य ही हो ॥३५॥ इसके पृष्ठभाग में अनेकविध प्राणियों से परिवृत एक महान कल्पवृक्ष स्थित है, जो कि शिखररूपी विद्रुम-दर्पण में जगत के प्रतिबिम्ब की नाईं प्रतीत होता है ॥३६॥ उसके दक्षिण तने पर एक शाखा है, जिसमें कनक के सदृश पीले पल्लव लगे हुए हैं, रत्नों के सदृश चमकीले पुष्प-गुच्छों के कारण तनिक भी अवकाश नहीं है और चन्द्रबिम्ब के सदृश प्रकाशमान फल भरे पड़े हैं ॥३७॥ हे पुत्रों, पहले जिस समय भगवती अलम्बुसादेवी ध्यान में आसीन थीं, उस समय मैंने चमकीली मणियों से जड़ा हुआ उस शाखा के ऊपर एक घोंसला बनाया और उसमें विलास किया ॥३८॥ वह घोंसला रत्नसदृश चमकीले पुष्पों की पँखुड़ियों से ढँका हुआ है, अमृत के समान स्वादु फलों से परिपूर्ण है और चिन्तामणि की शलाकाओं से उसके बाहरी दरवाजों की रचना की गई है ॥३९॥ वह (घोंसला) विचारपूर्वक व्यवहार करनेवाले कौओं के पुत्रों से व्याप्त है तथा भीतर से अत्यन्त शीतल, मनोहारी और भाँति-भाँति के पुष्पों से पूरित है ॥४०॥ हे प्यारे बच्चों, देवताओं से भी दुर्गम उस सुन्दर घोंसले पर तुम लोग जाओ, वहाँ निवास किये हुए तुम लोग निर्विघ्न एवं पर्याप्तरूप से भोग और मोक्ष दोनों को प्राप्त करोगे ॥४१॥ इस प्रकार कहकर हमारे पिता ने हम लोगों का चुम्बन और आलिंगन किया तथा भगवती के पास जो मांस लाया गया था, उसे भी हमें दिया ॥४२॥ उसे खाकर भगवती और पिताजी के चरणों में अभिवन्दन कर अलम्बुसा के निवासस्थान उस विन्ध्यप्रदेश से हम उड़ गये ॥४३॥ क्रमशः आकाश का उल्लंघन कर, मेघों के कोटरों से निकल

कर, पवन–लोक प्राप्त कर हम लोगों ने व्योमचारी देवताओं को प्रणाम किया ॥४४॥ हे मुनीश्वर, (इसके बाद हम लोग) सूर्य–मण्डल का अतिक्रमण कर स्वर्ग के अमरावती नगर में पहुँचे। स्वर्ग का अतिक्रमण कर ब्रह्मलोक में पहुँचे ॥४५॥ वहाँ पहुँचकर (हम लोगों ने) तत्क्षण ही माता और भगवती ब्राह्मीदेवी को प्रणामपूर्वक पिता द्वारा कथित अशेष वृत्तान्त अक्षरशः कह सुनाया ॥४६॥ उन्होंने स्नेहपूर्वक हम लोगों का आलिंगन किया और 'जाओ' यों आज्ञा तथा आर्शीवाद देकर उत्साहित किया। अनन्तर उन्हें प्रणाम कर हम लोग ब्रह्मलोक से चल पड़े ॥४७॥ आकाश–विहार में निपुण, अतिचपल हम लोग वायुलोक में गमन करते हुए सूर्य के सदृश देदीप्यमान लोकपालों की नगरियों का अतिक्रमण कर इस कल्पतरु पर आये और अपने घोंसले में प्रविष्ट हुए। हे मुने, यहाँ पर हम लोगों से समस्त बाधाएँ दूर रहती हैं और हम सदा समाधि में अवस्थित रहते हैं ॥४८,४९॥

कहे गये वृत्तान्त का उपसंहार करते हैं।

हे महानुभाव, 'तुम किस कुल में उत्पन्न हुए ?' 'किस तरह ज्ञातज्ञेय हुए ?' और 'तुम्हें यह निवास कैसे प्राप्त हुआ ?' – ये जो तीन प्रश्न आपने पहले किये थे, उसके उत्तर में जिस प्रकार हम उत्पन्न हुए, जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर हम लोग शान्त–बुद्धि होकर स्थित हुए एवं इस नीड में जिस रीति से हम लोग आये, यह सब वृत्तान्त आपको अविकलरूप से भली प्रकार कह सुनाया, इसके बाद 'तुम्हारी कितनी आयु है ?' और 'क्या अतीत वृत्तान्त जानते हो ?' –इन दो प्रश्नों के उत्तररूप से यदि आप कहने के लिए हमें आज्ञा देंगे, तो उसे भी मैं आपसे कहूँगा ॥५०॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

प्रत्येक कल्प में जगत की समता, भाईयों की मृत्यु और
प्रलयकाल में भी अपने चित्त की स्थिरता का भुशुण्ड द्वारा वर्णन।

'वृत्तं स्मरसि किंच वा', इस प्रश्न का विस्तार से उत्तर देने की इच्छावाला और 'इमं कल्पतरुं प्राप्य निजं नीडं प्रविश्य च' इत्यादि वृत्तान्त में पूर्वापर विरोध की शंका न हो जाय, इसलिए प्रत्येक कल्प में अवयवों की समता होने के कारण कल्पवृक्ष, मेरु आदि की एकता कही जाती है – यह आशय बतलाते हैं।

भुशुण्ड ने कहा : महाराज वसिष्ठजी, हम लोगों के जन्मनिमित्त कल्प में चिरकाल तक जो कुछ पदार्थसमूहात्मक जगत स्थित था, वह सब अवयवसंस्थान आदि आकृति–विशेषों से इस कल्प के पदार्थों के सदृश ही था, अतः वह आज भी अभेद आरोप से सन्निहित ही है, इसलिए बुद्धिपूर्वक ही 'इमं कल्पतरूम्' इत्यादि निर्देश किया गया है ॥१॥ इसलिए हे मुनीन्द्र, यद्यपि यह वृत्तान्त भूतकालीन है, तथापि 'जगत भ्रान्तिमात्र है' यों अभ्यास होने के कारण पूर्वजन्म की समता देखनेवाले मैंने बोध के लिए उसका, वर्तमान जगत के साथ एकता मानकर ही, वर्णन किया है ॥२॥

अब, लम्बी कथा का उपक्रम करने पर पूजा में विलम्ब न हो जाय, इसलिए पहले पूजन–स्वीकार की प्रार्थना करने के लिए स्तुति द्वारा महर्षि को अभिमुख करते हैं।

हे मुने, चूँकि दीर्घकाल से संचित किये गये मेरे पुण्य आज सफल हो गये, इसीलिए निर्विघ्नतापूर्वक आपका मैं दर्शन कर रहा हूँ ॥३॥ मुनिवर ! यह नीड़, यह शाखा, यह मैं, यह कल्पवृक्ष – ये सब आज आपके दर्शन से अत्यंत पवित्र हो गये ॥४॥ मुनिवर, विहंगों (पक्षियों) द्वारा समर्पित इस अर्घ्य और पाद्य का स्वीकार कर एवं हम लोगों को पवित्र बनाकर आप अवशिष्ट सेवा के निमित्त कुछ और प्रश्न कहने के लिए आज्ञा दीजिए ॥५॥ वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, दूसरी बार स्वयं उस भुशुण्ड पक्षी के द्वारा अर्घ्य, पाद्य देने पर मैंने यह कहा ॥६॥ हे पक्षिराज, वैसे बली और महाबुद्धिमान तुम्हारे वे भाई यहाँ क्यों नहीं दिखाई देते, तुम अकेले ही क्यों दिखाई देते हो ? ॥७॥ भुशुण्ड ने कहा : मुनिवर, हम लोगों को यहाँ रहते महान काल बीत गया । हे अनघ, दिवस-पंक्तियों की नाईं युगों की पंक्तियाँ क्षीण हो गई ॥८॥ इतना लम्बा काल होने के कारण सभी मेरे भाई, तृण के सदृश, शरीर छोड़कर शिवपद में परिणत हो गये ॥९॥ ब्रह्मन्, यद्यपि दीर्घायु हों, महान हों, सज्जन हों, बलवान हों, सभी को यह अलक्षितस्वरूपवाला काल अपने उदर में समा लेता है ॥१०॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : प्रिय पक्षिराज, माला की नाईं अपने कन्धे पर बारह सूर्य और चन्द्रमा को ढोनेवाले तथा प्रवह आदि वातस्कन्धों का अतिक्रमण करनेवाले प्रलय-वायुओं के अविरत बहने पर क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥११॥ भुशुण्डजी, चिरकाल से अत्यन्त आसन्न उदयाचल और अस्ताचल के अरण्यों को दग्ध कर देनेवाले सूर्य-किरणों से क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥१२॥ वायसराज, जल को पाषाण के सदृश कठोर बना देनेवाले शीतल चन्द्रकिरणों और निकट प्रलय के लिए हो रहे पाषाण के पतनों से क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥१३॥ प्रियवर, मेरु-शिखर पर विश्रान्ति किये प्रलयकालीन मेघ-मण्डलों से तथा परशु की धारा को भी क्षत कर देनेवाले शिलासदृश घनीभूत कुहरे से क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥१४॥ अत्यन्त ऊँचे स्थान पर स्थित हुआ यह उन्नत कल्पवृक्ष जगत के विषम क्षोभों से क्यों क्षुब्ध नहीं होता ? ॥१५॥

कठिन समय आने पर जब बड़े-बड़े लोगों को भी क्षोभ हो सकता है, तब पक्षी जैसी अधम योनि में उत्पन्न हुए मेरी तो बात ही क्या ? तथापि विवेक की सामर्थ्य से खेद नहीं होता, यों कहने के लिए दूसरों के जीवन की अपेक्षा अपनी जाति के पक्षियों के जीवन की क्षुद्रता बतलाते हैं ।

भुशुण्ड ने कहा : ब्रह्मन्, आकाश में आश्रित और सभी लोगों से तिरस्कृत यह पक्षियों का जीवन सब प्राणियों में अत्यन्त तुच्छ है ॥१६॥ ऐसी तुच्छ योनियों के लिए भी विधाता ने झरनों, वनों और शून्यसदृश आकाश में प्रीतिपूर्वक जो जीविका की कल्पना की है, यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है ॥१७॥ भगवन्, इस तुच्छ जाति में उत्पन्न, चिरकाल से जीवन बीता रहा और आशारूपी पाशों से निरन्तर बद्ध एक पक्षी किस तरह शोकवर्जित हो सकता है ? ॥१८॥ भगवन्, तथापि हम अपनी आत्मा में ही सदा सन्तोष मानकर अवस्थित हैं, इसलिए उत्पन्न हुए विभ्रमों से कभी भी परमार्थसत्ता से रहित इस जगत में मुग्ध नहीं होते ॥१९॥ ब्रह्मन्, हम लोग अपने सत्तास्वभाव में ही सन्तुष्ट रहते हैं, कष्ट पहुँचानेवाले परपीडन-व्यापारों से निर्मुक्त होकर अपने निवासस्थान इस घोंसले में रहते हुए केवल कालयापन करते हैं ॥२०॥ महाराज, हम लोग अपने जीवन से न देह की ऐहिक या आमुष्मिक फल के लिए कोई क्रिया चाहते हैं और मरण से न देह का विनाश ही चाहते

हैं। जिस तरह वर्तमान में नित्यसिद्ध निरतिशयात्मरूप से पूर्णकाम होकर स्थित रहते हैं, उसी तरह आगे भी स्थित रहेंगे ॥२१॥ महर्षे, हमने प्राणियों की जन्म, मरण आदि अनर्थ-दशाएँ देख लीं और मिथ्यात्व-निर्णायक स्वप्न आदि दृष्टान्त-दृष्टियाँ भी देख ली तथा हमारे मनने अपना चंचल स्वरूप भी सदा के लिए भली प्रकार त्याग दिया है ॥२२॥

कल्पवृक्ष के प्रभाव से ही कल्प-समाप्ति तक हम लोगों को खेद नहीं होता, यह कहते हैं।

निरन्तर शान्ति देनेवाले अविनाशी स्व-स्वरूप प्रकाश में स्थित होकर मैं इस कल्पवृक्ष के ऊपर सदा काल की कलन गति जानता रहता हूँ ॥२३॥

प्रकाश अधिक होने के कारण जब दिन और रात का विभाग ही ज्ञात नहीं हो सकता, तब यहाँ स्थित होकर तुम काल की कलनगति कैसे जानते हो ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

चमकीले रत्नों के प्रकाश से पूर्ण कल्पलता-गृह में उपस्थित होकर मैं प्राणायाम के प्रवाह से यानी स्वरोदयशास्त्र में बतलाये गये उपाय से अखण्डित कल्प जान लेता हूँ ॥२४॥ मुनिवर, दिन और रात जाने बिना ही इस उन्नत शिखर पर अपनी बुद्धि से ही लोकों के कालक्रम की स्थिति जानता रहता हूँ ॥२५॥

मन की स्थिरता के बल से मुझे खेद नहीं प्रतीत होता, इस आशय से कहते हैं।

मुनिवर, यह सारभूत वस्तु है और यह असारभूत वस्तु है, इस प्रकार के विवेकयुक्त बोध से उत्तम शान्ति को प्राप्त हुआ मेरा मन चंचलताशून्य, शान्त और भली प्रकार स्थिर है ॥२६॥ सांसारिक व्यवहारों से जनित असत्‌रूप आशारूपी पाशों से जिस प्रकार अल्पध्वनियों से प्राकृत काक भयग्रस्त हो जाता है, उस प्रकार मैं भयग्रस्त नहीं होता ॥२७॥

धैर्य के कारण भी हमें खेद प्राप्त नहीं होता, यों कहते हैं।

निरतिशय शान्ति पहुँचानेवाली और आत्मप्रकाश से शीतल हुई बुद्धि से जगत की माया देख रहे हम लोग धीरता को प्राप्त हुए हैं ॥२८॥ हे महाबुद्धे, दशाक्रम के अनुसार भयंकर दशाएँ भी प्राप्त हो जाय, तथापि स्थिर बुद्धिवाले हम, निश्चल पत्थर के सदृश, स्थिराकृति होकर अवस्थित रहते हैं ॥२९॥

जगत-तत्त्व के पुनः विमर्शबल से भी खेद नहीं होता, यों कहते हैं।

प्रारम्भ में रमणीय दीख पड़नेवाली, तरल इस संसार-स्थिति का बार-बार परामर्श किया जा चुका है, अतः वह हमें कुछ बाधा नहीं पहुँचाती ॥३०॥

'जातस्य ही ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' (उत्पन्न हुआ निश्चित मरता है दुःख अपरिहार्य है, यों निश्चय होने के कारण भी भयप्राप्ति नहीं होती, यों कहते हैं।

भगवन्, सभी प्राणी व्यवहारदृष्टि से आते हैं और जाते हैं अथवा परमार्थदृष्टि से न आते हैं और न जाते हैं, इसलिए हम लोगों को यहाँ भय ही क्या ॥३१॥

तत्त्वज्ञस्वरूप अपने में तटस्थता, समस्त भूतों के संसार का द्रष्टृत्व और संसार के प्रति आदर का अभाव होने से भी भय की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कालसागर में प्रवेश कर रही, प्राणि-समूह तरंगों से युक्त संसार-सरिता के तटपर अवस्थित हुए भी हम लोग उसमें आदर नहीं करते ॥३२॥ महर्षे, इस वृक्ष पर उपस्थित हुए हम लोग प्राप्त

वस्तुओं का न परित्याग करते हैं, एवं न अप्राप्त वस्तु के ग्रहण की चेष्टा ही करते हैं; व्यवहार दृष्टि से स्थित हैं एवं परमार्थदृष्टि से स्थित नहीं भी हैं। हम लोग एकमात्र व्यवहार की सिद्धि के लिए, कण्टकाकीर्ण भूमि की नाईं, सावधानी से चलने के कारण कोमल पगवाले हैं और तत्त्वदृष्टि से संसार का उच्छेदन कर देने के कारण क्रूर भी हैं ॥३३॥

बड़े लोगों के अनुग्रह से भी हम लोगों को खेद-प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

शोक, भय और आयास से वर्जित आपके सदृश सन्तुष्ट उत्तम पुरुष हम लोगों पर सदा अनुग्रह करते हैं, इसलिए भी हम लोग सदा दुःखों से निर्मुक्त होकर अवस्थित हैं ॥३४॥ भगवन्, व्यवहार चलाने के लिए इधर-उधर प्रेरित हुआ भी हम लोगों का मन राग आदि वृत्तियों में निमग्न और तत्त्व विचार से शून्य कभी भी नहीं रहता ॥३५॥ अपनी आत्मा के निर्विकार, क्षोभशून्य और शान्त हो जाने के कारण चिद्रूप (चारों ओर से ब्रह्माकार वृत्तिरूप चन्द्रमा का उदय होने पर उत्कट हुए बोधस्वरूप) तरंगवाले हम लोग, पूर्णिमा आदि पर्वकाल में समुद्र की नाईं, प्रबुद्ध हो गये हैं ॥३६॥ भगवन्, जिस अमृत के लिए मन्दराचल द्वारा सर्वांगों से क्षुब्ध हुए क्षीर-सागर का मंथन किया जाता है, आपके उसी अमृतरूपा आगमन से हम लोग अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो गये हैं ॥३७॥ समस्त एषणाओं की तिलांजलि देनेवाले सन्त, महात्मा अपने आगमन आदि से हम पर जो अनुग्रह करते हैं, मैं अपनी आत्मा का इससे अधिक दूसरा कुशल नहीं मानता ॥३८॥ ऊपर-ऊपर से रमणीय दिखाई पड़नेवाले विषय-भोगों से क्या प्राप्त होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। सत्संगरूपी चिन्तामणि से तो समस्त सारभूत ज्ञानवस्तु प्राप्त होती है ॥३९॥ हे मुनिवर, स्नेहपूर्ण, गम्भीर; मधुर, उदार और धीर वाणीवाले एकमात्र आप ही इस त्रिभुवनरूपी कमल की कली में भ्रमर के सदृश हैं ॥४०॥ साधो, यद्यपि मैंने परमात्मा को जान लिया है और आपके दर्शन से मेरे समस्त पाप नष्ट हो चुके, तथापि चूँकि महात्माओं का समागम भयों का अपहरण करनेवाला है इसलिए, यहाँ आज मेरा जन्म सफल (निरतिशय आनन्दरूप फल से युक्त) हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ ॥४१॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

कल्पवृक्ष का माहात्म्य, प्रलय में वारुणी आदि धारणाओं द्वारा अपनी स्थिति, ईश्वरीय नियमिका शक्ति और अनेक चित्र-विचित्र अर्थों के स्मरण का वर्णन।

अपने आश्रय कल्पवृक्ष के माहात्म्य वर्णनप्रसंग में युगविनाश काल में जनित उपद्रवों से अपने को क्लेश की प्राप्ति नहीं होती, यों कहते हुए 'वृत्तं स्मरसि किं च वा' इत्यादि प्रश्न का उत्तर देने के लिए पक्षिराज भुशुण्ड वक्तव्य का उपक्रम करते हैं।

भुशुण्ड ने कहा : महाराज वसिष्ठजी, युग समाप्ति के महान उपद्रवों में और भयंकर महापवनों में भी यह कल्पवृक्ष अत्यन्त स्थिर रहता है, कभी भी कम्पित नहीं होता ॥१॥ हे साधो, अन्य लोकों में विहार करनेवाले सभी प्राणियों का यह अत्यन्त अगम्य स्थान है, अतः यहाँ हम लोग अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हैं ॥२॥ मुनिवर, जिस समय हिरण्याक्ष ने सात द्वीपों से वेष्टित इस पृथ्वी का

वेगपूर्वक अपहरण किया था, उस समय पृथ्वी पर स्थित होने के कारण इसके भी हरण, कम्पन आदि की संभावना अवश्य थी, तथापि दिव्यप्रभाव की सामर्थ्य से इस कल्पवृक्ष में तनिक भी कम्पन नहीं हुआ ॥३॥ (वराह भगवान द्वारा किये गये पृथ्वी के उद्धार के समय) खम्भे की आधारभूत शिला की नाईं चारों ओर से समता के लिये आधाररूप से दिये गये पर्वतों से युक्त मेरुपर्वत जब कम्पित हुआ, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥४॥ दो भुजाओं के अवष्टम्भ (पकड) से मेरु को दबाकर जब चतुर्भुज भगवान नारायण ने इतर दो हाथों द्वारा समुद्र से मन्दराचल का उद्धार किया, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥५॥ जब देवासुर संग्राम के कारण चन्द्र-मण्डल और सूर्य-मण्डल गिर गया था तथा जगत में अत्यन्त क्षोभ पैदा हो गया था, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥६॥ जब पर्वतराज की शिलाओं का उन्मूलन कर देनेवाले और मेरुपर्वत के अन्यान्य वृक्षों को कम्पित कर देनेवाले प्रलय-कालीन वायु बह रहे थे, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥७॥ क्षीर-सागर में चंचल हुए मन्दराचल की गुहाओं के वायुओं से मानों कम्पित हुई कल्पान्त की मेघपंक्तियाँ जब संचरण कर रही थी, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥८॥ जब (तारकासुर युद्ध में) कालनेमि की भुजाओं में मेरु पर्वत चारों ओर से उन्मूलित होकर अवस्थित था, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ था ॥९॥ जिनके कारण बड़े-बड़े सिद्ध गिर रहे थे, ऐसे पक्षिराज गरुड (🕮) के पंखों के पवन जब अमृत हरण के युद्ध में बह रहे थे, तब भी यह वृक्ष गिरा नहीं ॥१०॥

आज भी जिसकी पृथ्वी धारणरूप चेष्टा समाप्त नहीं हुई है, ऐसी शेषाकृति को संकर्षण रुद्र जब प्राप्त हुए, तब और जब गरुड़जी पृथ्वी से उड़कर ब्रह्माण्ड को गये, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥११॥ प्रलयकाल में जब शेष ने फणाओं से, शैल, सागर एवं समस्त प्राणियों से सही न जानेवाली प्रलयाग्नि शिखाएँ बाहर निकालीं तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ। (पुराण में यह बात प्रसिद्ध है कि अन्त में प्रलय संकर्षण की मुखाग्नि से ही होता है।) ॥१२॥ हे मुनियों में सिंहरूप महाराज वसिष्ठजी, इस प्रकार के उत्तम वृक्ष पर निवास कर रहे हम लोगों को आपत्तियाँ कहाँ से हो सकती हैं, क्योंकि वे आपत्तियाँ दुष्टस्थान में निवास के कारण ही आती हैं ॥१३॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबुद्धि पक्षिराज, कल्पान्त हेतु उत्पातवायुओं के, जो चन्द्रमा, नक्षत्र और सूर्य को गिरा देते हैं, बहने पर तुम चिन्तानिर्मुक्त होकर कैसे रहते हो ? (क्योंकि उस समय प्रलय में भूलोकपर्यन्त सबका दाह होने से मेरु, कल्पवृक्ष आदि से कभी भी परित्राण नहीं हो सकता।) ॥१४॥ भुशुण्ड ने कहा : भगवन्, जब सहस्र महायुगों के अन्त में जगत की अवस्था में व्यवहार गिर जाता है, तब सन्मित्र का परित्याग कर देनेवाले कृतघ्न की नाईं मैं इस घोंसले का परित्याग कर देता हूँ ॥१५॥ (उस समय मैं) समस्त कल्पनाओं का परित्याग कर और निश्चल स्वभाववाले अंगों से

(🕮) गरुडस्य जातमात्रस्य सर्वे लोकाः प्रकम्पिताः। प्रकम्पिता मही सर्वा सप्तद्वीपाश्च कम्पिताः ॥
तदुत्पातान्निमज्जन्तीं भुवं नावमिवाऽम्भसि। दधौ सहस्रैः शिरसां संकर्षणवपुर्हरः ॥

'उत्पन्नमात्र गरुड को देखकर सब लोक कम्पित हुए, भूमि और सातों द्वीप काँपने लगे। इन उत्पातों से, जल में नाव की नाईं, डूब रही पृथ्वी का संकर्षण शरीर महादेवजी ने हजारों मस्तकों से धारण किया' इस कथा के अनुसार कहते हैं।

वस्तुओं का न परित्याग करते हैं, एवं न अप्राप्त वस्तु के ग्रहण की चेष्टा ही करते हैं; व्यवहार दृष्टि से स्थित हैं एवं परमार्थदृष्टि से स्थित नहीं भी हैं। हम लोग एकमात्र व्यवहार की सिद्धि के लिए, कण्टकाकीर्ण भूमि की नाईं, सावधानी से चलने के कारण कोमल पगवाले हैं और तत्त्वदृष्टि से संसार का उच्छेदन कर देने के कारण क्रूर भी हैं ॥३३॥

बड़े लोगों के अनुग्रह से भी हम लोगों को खेद-प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं।

शोक, भय और आयास से वर्जित आपके सदृश सन्तुष्ट उत्तम पुरुष हम लोगों पर सदा अनुग्रह करते हैं, इसलिए भी हम लोग सदा दुःखों से निर्मुक्त होकर अवस्थित हैं ॥३४॥ भगवन्, व्यवहार चलाने के लिए इधर-उधर प्रेरित हुआ भी हम लोगों का मन राग आदि वृत्तियों में निमग्न और तत्त्व विचार से शून्य कभी भी नहीं रहता ॥३५॥ अपनी आत्मा के निर्विकार, क्षोभशून्य और शान्त हो जाने के कारण चिद्रूप (चारों ओर से ब्रह्माकार वृत्तिरूप चन्द्रमा का उदय होने पर उत्कट हुए बोधस्वरूप) तरंगवाले हम लोग, पूर्णिमा आदि पर्वकाल में समुद्र की नाईं, प्रबुद्ध हो गये हैं ॥३६॥ भगवन्, जिस अमृत के लिए मन्दराचल द्वारा सर्वांगों से क्षुब्ध हुए क्षीर-सागर का मंथन किया जाता है, आपके उसी अमृतरूपा आगमन से हम लोग अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो गये हैं ॥३७॥ समस्त एषणाओं की तिलांजलि देनेवाले सन्त, महात्मा अपने आगमन आदि से हम पर जो अनुग्रह करते हैं, मैं अपनी आत्मा का इससे अधिक दूसरा कुशल नहीं मानता ॥३८॥ ऊपर-ऊपर से रमणीय दिखाई पड़नेवाले विषय-भोगों से क्या प्राप्त होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। सत्संगरूपी चिन्तामणि से तो समस्त सारभूत ज्ञानवस्तु प्राप्त होती है ॥३९॥ हे मुनिवर, स्नेहपूर्ण, गम्भीर; मधुर, उदार और धीर वाणीवाले एकमात्र आप ही इस त्रिभुवनरूपी कमल की कली में भ्रमर के सदृश हैं ॥४०॥ साधो, यद्यपि मैंने परमात्मा को जान लिया है और आपके दर्शन से मेरे समस्त पाप नष्ट हो चुके, तथापि चूँकि महात्माओं का समागम भयों का अपहरण करनेवाला है इसलिए, यहाँ आज मेरा जन्म सफल (निरतिशय आनन्दरूप फल से युक्त) हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ ॥४१॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

कल्पवृक्ष का माहात्म्य, प्रलय में वारुणी आदि धारणाओं द्वारा अपनी स्थिति,
ईश्वरीय नियमिका शक्ति और अनेक चित्र-विचित्र अर्थों के स्मरण का वर्णन।

अपने आश्रय कल्पवृक्ष के माहात्म्य वर्णनप्रसंग में युगविनाश काल में जनित उपद्रवों से अपने को क्लेश की प्राप्ति नहीं होती, यों कहते हुए 'वृत्तं स्मरसि किं च वा' इत्यादि प्रश्न का उत्तर देने के लिए पक्षिराज भुशुण्ड वक्तव्य का उपक्रम करते हैं।

भुशुण्ड ने कहा : महाराज वसिष्ठजी, युग समाप्ति के महान उपद्रवों में और भयंकर महापवनों में भी यह कल्पवृक्ष अत्यन्त स्थिर रहता है, कभी भी कम्पित नहीं होता ॥१॥ हे साधो, अन्य लोकों में विहार करनेवाले सभी प्राणियों का यह अत्यन्त अगम्य स्थान है, अतः यहाँ हम लोग अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हैं ॥२॥ मुनिवर, जिस समय हिरण्याक्ष ने सात द्वीपों से वेष्टित इस पृथ्वी का

वेगपूर्वक अपहरण किया था, उस समय पृथ्वी पर स्थित होने के कारण इसके भी हरण, कम्पन आदि की संभावना अवश्य थी, तथापि दिव्यप्रभाव की सामर्थ्य से इस कल्पवृक्ष में तनिक भी कम्पन नहीं हुआ ॥३॥ (वराह भगवान द्वारा किये गये पृथ्वी के उद्धार के समय) खम्भे की आधारभूत शिला की नाईं चारों ओर से समता के लिये आधाररूप से दिये गये पर्वतों से युक्त मेरुपर्वत जब कम्पित हुआ, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥४॥ दो भुजाओं के अवष्टम्भ (पकड़) से मेरु को दबाकर जब चतुर्भुज भगवान नारायण ने इतर दो हाथों द्वारा समुद्र से मन्दराचल का उद्धार किया, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥५॥ जब देवासुर संग्राम के कारण चन्द्र–मण्डल और सूर्य–मण्डल गिर गया था तथा जगत में अत्यन्त क्षोभ पैदा हो गया था, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥६॥ जब पर्वतराज की शिलाओं का उन्मूलन कर देनेवाले और मेरुपर्वत के अन्यान्य वृक्षों को कम्पित कर देनेवाले प्रलय–कालीन वायु बह रहे थे, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥७॥ क्षीर–सागर में चंचल हुए मन्दराचल की गुहाओं के वायुओं से मानों कम्पित हुई कल्पान्त की मेघपंक्तियाँ जब संचरण कर रही थी, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥८॥ जब (तारकासुर युद्ध में) कालनेमि की भुजाओं में मेरु पर्वत चारों ओर से उन्मूलित होकर अवस्थित था, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ था ॥९॥ जिनके कारण बड़े–बड़े सिद्ध गिर रहे थे, ऐसे पक्षिराज गरुड (☗) के पंखों के पवन जब अमृत हरण के युद्ध में बह रहे थे, तब भी यह वृक्ष गिरा नहीं ॥१०॥

आज भी जिसकी पृथ्वी धारणरूप चेष्टा समाप्त नहीं हुई है, ऐसी शेषाकृति को संकर्षण रुद्र जब प्राप्त हुए, तब और जब गरुड़जी पृथ्वी से उड़कर ब्रह्माण्ड को गये, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥११॥ प्रलयकाल में जब शेष ने फणाओं से, शैल, सागर एवं समस्त प्राणियों से सही न जानेवाली प्रलयाग्नि शिखाएँ बाहर निकालीं तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ। (पुराण में यह बात प्रसिद्ध है कि अन्त में प्रलय संकर्षण की मुखाग्नि से ही होता है।) ॥१२॥ हे मुनियों में सिंहरूप महाराज वसिष्ठजी, इस प्रकार के उत्तम वृक्ष पर निवास कर रहे हम लोगों को आपत्तियाँ कहाँ से हो सकती हैं, क्योंकि वे आपत्तियाँ दुष्टस्थान में निवास के कारण ही आती हैं ॥१३॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबुद्धि पक्षिराज, कल्पान्त हेतु उत्पातवायुओं के, जो चन्द्रमा, नक्षत्र और सूर्य को गिरा देते हैं, बहने पर तुम चिन्तानिर्मुक्त होकर कैसे रहते हो ? (क्योंकि उस समय प्रलय में भूलोकपर्यन्त सबका दाह होने से मेरु, कल्पवृक्ष आदि से कभी भी परित्राण नहीं हो सकता।) ॥१४॥ भुशुण्ड ने कहा : भगवन्, जब सहस्र महायुगों के अन्त में जगत की अवस्था में व्यवहार गिर जाता है, तब सन्मित्र का परित्याग कर देनेवाले कृतघ्न की नाईं मैं इस घोंसले का परित्याग कर देता हूँ ॥१५॥ (उस समय मैं) समस्त कल्पनाओं का परित्याग कर और निश्चल स्वभाववाले अंगों से

(☗) गरुडस्य जातमात्रस्य सर्वे लोकाः प्रकम्पिताः। प्रकम्पिता मही सर्वा सप्तद्वीपाश्च कम्पिताः॥
तदुत्पातान्निमज्जन्तीं भुवं नावमिवाऽम्भसि। दधौ सहस्रैः शिरसां संकर्षणवपुर्हरः॥

'उत्पन्नमात्र गरुड को देखकर सब लोक कम्पित हुए, भूमि और सातों द्वीप काँपने लगे। इन उत्पातों से, जल में नाव की नाईं, डूब रही पृथ्वी का संकर्षण शरीर महादेवजी ने हजारों मस्तकों से धारण किया' इस कथा के अनुसार कहते हैं।

युक्त होकर एकमात्र आकाश में ही, वासनाशून्य मन की नाईं, स्थित रहता हूँ ॥१६॥

सामान्यतः कथित आकाश स्थिति का धारणा भेदों से विशेष उल्लेख करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी, प्रलय के समय में जब पर्वतों को खण्ड–खण्ड कर देनेवाले बारह आदित्य तपते हैं, तब मैं वरुणसम्बन्धी धारणा बाँधकर निश्चिंत होकर स्थित रहता हूँ। *(तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जल के बीच रहनेवाले वरुण बाहर के ताप से जनित संताप का अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार भुशुण्ड भी 'अत्यन्त शीतल समस्त दिग्मण्डल में व्यापी अपरिच्छिन्न जल स्वरूप वरुण ही मैं हूँ' इस प्रकार चित्त में निरन्तर वरुण भावना के द्वारा वरुणरूपताको प्राप्त होकर बाहर के सूर्यादि–तापजनित संताप का अनुभव नहीं करते थे)* ॥१७॥ जब प्रलयकाल में बड़े–बड़े पर्वतराजों को मर्दित कर देनेवाले प्रलयकालीन वायु बहते हैं, तब मैं पर्वतसम्बन्धिनी धारणा बाँधकर आकाश–मण्डल में अचल होकर स्थित रहता हूँ *(तात्पर्य यह है कि प्रलयकाल में पृथ्वी पर स्थित पर्वतों के विनाशी होने के कारण उन्हीं पर प्रलयकालीन वायुओं का आघात होता है, इसलिए प्रलयकालीन वायुओं से होनेवाले आघात के अविषय ब्रह्माण्ड के बहिर्भूत आकाश में साधारण वायु से भी क्षोभ न होने के लिए पर्वतसम्बन्धिनी धारणा बाँधकर मैं स्थित रहता हूँ)* ॥१८॥ जब प्रलयकाल में जगत, जिसमें मेरु आदि पर्वत गल जाते हैं, एक समुद्रस्वरूप हो जाता है, तब वायुसम्बन्धिनी धारणा बाँधकर एकमात्र वायु में ही तादात्म्य भाव करता हुआ निश्चित–बुद्धि होकर ऊपर तैरता रहता हूँ ॥१९॥

'उस प्रकार कितने समय तक तैरते रहते हो ?' इस शंका पर कहते हैं।

महाराज, ब्रह्माण्ड के पार को यानी स्थूल, सूक्ष्म और समष्टिरूप ब्रह्माण्ड के परम अवधिस्वरूप अव्याकृत को प्राप्त कर समस्त पदार्थों के अन्तभूत एवं निर्मल आत्मपद में निश्चलात्मक सुषुप्ति के सदृश एकरस निर्विकल्प समाधि–अवस्था से मैं तब तक स्थित रहता हूँ, जब तक कमलोद्भव ब्रह्मदेव पुनः अपने सृष्टिकर्म में प्रवृत्त नहीं होते। पुनः सृष्टिरूप व्यापार के होने पर ब्रह्माण्ड में प्रवेशकर इस कल्पवृक्ष के स्थानापन्न मैं अपने आलय में फिर स्थित हो जाता हूँ ॥२०,२१॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे पक्षीन्द्र, प्रलयकाल में तत्–तत् धारणाओं के द्वारा अखण्डित होकर जैसे तुम स्थित रहते हो, वैसे दूसरे योगी क्योंकर स्थित नहीं रहते, क्यों वे शरीर त्यागकर मुक्ति प्राप्त करते हैं ? ॥२२॥

इस विषय में तत्–तत् प्रबल प्रारब्ध का अनुसरण करनेवाली सत्यसंकल्प स्वरूपा ईश्वरनियति ही व्यवस्थापक है, दूसरा कोई नहीं; ऐसा कहते हैं।

भुशुण्ड ने कहा : हे ब्रह्मन्, चूँकि इस परमेश्वरीय नियामिका शक्ति का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता, इसलिए हम इस प्रकार कल्पान्तों में स्थित रहते हैं और दूसरे (योगी) शरीरों का त्यागकर मुक्त हो जाते हैं ॥२३॥ महाराज, जो अवश्य भवितव्यता है, उसका बुद्धि से 'इदम्–इत्थमेव' इस प्रकार अवधारण नहीं कर सकते। जिस तरह के प्रारब्ध से जो जैसा प्राप्त होता है, वह वैसा ही रहता है। यह नियतिरूप स्वभाव का निश्चय है ॥२४॥

प्रत्येक कल्प में इस कल्पवृक्ष के निर्माण में भी भोगजनक अदृष्ट में हेतुभूत मेरा संकल्प ही कारण है, ऐसा कहते हैं।

कल्प–कल्प में बार–बार एकमात्र मेरे संकल्प से ही मेरुपर्वत के इसी शिखर पर इस तरह का यह

कल्पवृक्ष उत्पन्न होता है ॥२५॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तुम्हारी आयु मोक्ष के सदृश अत्यन्त अपरिच्छिन्न है, तुम सुदूर भूतकालीन पदार्थों का निर्देशन करने में सबसे बढ़–चढ़कर हो। तुम मोक्षहेतु तत्त्वज्ञान और लौकिक समस्त शास्त्रादि विज्ञानों से परिपूर्ण हो, धीर हो और तुम्हारे मनोव्यापार आत्मयोग में पर्याप्त रूप से योग्य हो चुके हैं। तुमने तरह–तरह की असंख्य सृष्टियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देखे हैं, इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम्हारे द्वारा देखे गये जगत मण्डल में आश्चर्यकारी किस–किस जगत–क्रम का तुम स्मरण करते हो ॥२६,२७॥ भुशुण्ड ने कहा : हे श्रेष्ठतर, इस पृथ्वी के विषय में मुझे स्मरण है कि एक समय इसमें शिला और वृक्ष कुछ नहीं थे; तृण, लता आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं हुए थे; पर्वत, अरंण्य और भाँति–भाँति के वृक्ष कुछ भी नहीं थे तथा यह पृथ्वी मेरु के नीचे स्थित थी ॥२८॥ मुझे भलीभाँति स्मरण है कि मेरुपर्वत के नीचे यह पृथ्वी ग्यारह हजार वर्षों तक भस्म–सार के भार से व्याप्त थी ॥२९॥ पहले मेरुपर्वत के नीचे पृथ्वी पर न सूर्य उत्पन्न हुआ था, न इसमें चन्द्र–मण्डल का भान ही होता था और न तो दिवस का हेतुभूत प्रकाश सुमेरुपर्वत के प्रकाश से विभक्त था–इसका भी मुझे भली प्रकार से स्मरण है ॥३०॥ सुमेरुपर्वत के रत्नों के तलप्रकाशों से इस पृथ्वी का आधा कोटर प्रकाशित होता था तथा इस पर कहीं–कहीं प्रकाशयुक्त पर्वत भी विद्यमान थे, इसलिए यह लोकालोक पर्वत के सदृश प्रतीत होती थी – इसका भी ठीक–ठीक स्मरण है ॥३१॥ यहाँ बल, ऐश्वर्य आदि से परिपुष्ट असुरों का संग्राम होने पर जब इस पृथ्वी का भीतरी भाग क्षीण हो गया था, तब यह पलायनमान जनों से व्याप्त हो गई थी – इसका भी मुझे अच्छी तरह से स्मरण है ॥३२॥ चार युगों तक मद–मत्त ऐश्वर्यशाली असुरों के द्वारा आक्रान्त हुई यह पृथ्वी उनके (असुरों के) अन्तःपुर रूपता को प्राप्त हो गई थी–इसका भी स्मरण करता हूँ ॥३३॥ एक समय इस जगत–रूपी कुटिया में मेरु को छोड़कर दूसरे सब देश समुद्र ने अंत तक आच्छादित कर दिये थे और उस समय इस मेरुपर्वत पर अविनाशी ब्रह्मा, विष्णु और शिव, ये देवत्रयी विराज रही थी – इसका भी मुझे ठीक स्मरण है ॥३४॥ दो युगों तक तो यह (पृथ्वी) जंगली वृक्षों से निबिड़ थी और इसमें उन्हें (वृक्षों को) छोड़ दूसरे किसी का निर्माण ही नहीं हुआ था – इसे भी स्मरण करता हूँ ॥३५॥ एक समय यह पृथ्वी चार युगों से अधिक काल तक निबिड़ पर्वतों से व्याप्त थी; उसमें मनुष्यों का संचरण भी नहीं होता था–इसका भी मुझे स्मरण है ॥३६॥ दस हजार वर्षों तक तो यह मृत दैत्यों के अस्थिपर्वतों से चारों ओर से व्याप्त एवं परिपूर्ण थी – इसका भी मैं भली–भाँति स्मरण करता हूँ ॥३७॥ एक समय अन्तरिक्ष आदि लोकों में भय के कारण समस्त विमानगामी देवता आदि तिरोहित हो गये थे और यह (पृथ्वी) सब वृक्षों से वर्जित होकर अन्धकार प्रचुर हो गई थी – इसका भी मुझे स्मरण है ॥३८॥

महाराज, एक समय मेरु–स्पर्धा से विन्ध्यमहापर्वत के बढ़ने पर दक्षिण दिशा से अगस्त्य महामुनि चले गये और यह जगत–रूपी कुटिया मलय, दर्दुर, सह्याद्रि आदि विभाजक पर्वतों के अभाव से एकपर्वतरूपता को प्राप्त हो गई थी – इसका भी मुझे स्मरण है ॥३९॥ ये और इनसे पृथक दूसरे भी बहुत वृत्तान्त हैं, जिनका मुझे संस्मरण है, परन्तु उनके विषय में अधिक कहने से क्या फल ? केवल सारभूत वस्तु का संक्षेप से श्रवण कीजिए ॥४०॥ हे ब्रह्मन्, सैकड़ों असंख्य मनु बीत गये, ये सब प्रभाव के आधिक्य से परिपूर्ण थे एवं सैकड़ों चतुर्युग भी बीत गये – इसका भी मुझे स्मरण है ॥४१॥

दूसरा आश्चर्य कहते हैं।

एक समय यानी जब ब्रह्माण्डशरीर विराट् उत्पन्न होकर अपने स्वरूप का आलोचन करने के लिए कुछ काल तक समाहित चित्त हुए थे, उस समय पुरुष एवं असुरों से वर्जित, स्वतःशुद्ध, प्रकाशस्वभाव तैजस पदार्थों का समष्टिरूप एक ही ब्रह्माण्ड था – इसका मुझे स्मरण है ॥४२॥

कलियुग की सृष्टि-स्थिति का स्मरण कर रहे पक्षिराज भुशुण्ड कहते हैं।

एक समय ऐसी उन्मत्त सृष्टि थी कि जिसमें ब्राह्मण लोग मद्य पीते थे, देवताओं की निन्दा करनेवाले असत्-शूद्र रहते थे, स्त्रियों के अनेक पति होते थे – इसका मुझे स्मरण है ॥४३॥

आश्चर्यान्तिर कहते हैं।

महाराज, मुझे किसी एक ऐसी सृष्टि का स्मरण है कि जिसमें यह भूपीठ वृक्षों से घनीभूत था, महासमुद्र की कल्पना भी नहीं की गई थी और स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के बिना अपने आप भृगु आदि मानस पुरुष उत्पन्न हुए थे *(समुद्र के सर्जक प्रियव्रत की उत्पत्ति के पहले यह मानस-सृष्टि हुई थी, यह प्रसिद्ध है)* ॥४४॥

जल में पृथिवी के निमग्न हो जाने पर जनलोक आदि प्रकाश प्रचुर लोकों के व्यवहारों से उपलक्षित हुए काल में जो सृष्टि-स्थिति थी, उसका स्मरण कर रहे पक्षीन्द्र भुशुण्ड कहते हैं।

एक समय ऐसी सृष्टि थी – जिसमें पर्वत और पृथिवी का नामशेष ही नहीं था, देवता और योगसिद्ध पुरुष आकाश में ही रहते थे तथा चन्द्र एवं सूर्य के अभाव में भी परिपूर्ण प्रकाश था – इसका मुझे स्मरण है ॥४५॥ महाराज, एक समय की सृष्टि में न इन्द्र था, न कोई राजा था, न उत्तम, मध्यम एवं अधम का भेद था, सब एकरूप था तथा समस्त दिक्-चक्र अन्धकार से व्याप्त था – इसका मुझे स्मरण है ॥४६॥

इस कल्प के वृतान्त का तो इस कल्प तक की आयुवाले बहुत से लोगों को स्मरण है, यों प्रपंच कर रहे पक्षिराज भुशुण्ड कहते हैं।

महाराज, पहले सृष्टि के उत्पादन के लिए सृष्टि का संकल्प हुआ। उसके बाद तीन लोकों में द्वीप आदि अवान्तर प्रदेशों का विभाग हुआ। उसके बाद सात कुलपर्वतों के लिए योग्य स्थान की कल्पना हुई। उसके बाद पृथक् स्थित हुए जम्बूद्वीप में प्रवेश कर स्रष्टा ने ब्राह्मण आदि वर्ण, उनके धर्म एवं उन-उनके लिए योग्य विद्याविशेषों की सृष्टि की। उसके बाद मण्डलरूप में पृथ्वी का विभाग किया, तदनन्तर नक्षत्र-चक्र का उपयोगी संस्थान एवं ध्रुव-मण्डल का निर्माण किया (मेरी अपेक्षा अत्यन्त स्वल्प आयुवाले आपके सदृश इस कल्प के मनुष्य भी इन सबका स्मरण कर सकते हैं।) ॥४७,४८॥ उसके बाद चन्द्रमा और सूर्य का निर्माण हुआ। तदनन्तर इन्द्र एवं उपेन्द्र की व्यवस्था हुई। बाद में हिरण्याक्ष ने पृथ्वी का अपहरण किया। बाद में उसका वराहरूपधारी भगवान ने उद्धार किया ॥४९॥ बाद में देव, दानव, मनुष्य आदि प्रत्येक में राजाओं की कल्पना की गई। पश्चात् मत्स्यरूप ग्रहण कर भगवान वेद लाये। मन्दराचल का उन्मूलन किया गया। अमृत के लिए क्षीर-सागर का मंथन हुआ। बाद में अजातपक्ष गरुड़ और समुद्रों की उत्पत्ति हुई-इत्यादि स्वल्प अतीत जगत्क्रम की जो स्मृतियाँ हैं, उनका मेरी अपेक्षा अल्प-आयुवाले वर्तमान काल में उत्पन्न आपके सदृश प्राणी भी स्मरण करते हैं, इसलिए उनमें आदर ही क्या ॥५०,५१॥

कल्पान्तरों में अपने द्वारा देखे गये अन्यान्य आश्चर्यों का कथन करते हुए तत्त्ववेत्ता भुशुण्डजी प्रकृत विषय का उपसंहार करते हैं।

दीर्घजीविता को प्राप्त हुए मैंने किसी समय यह रहस्य देखा–इस कल्प में प्रसिद्ध गरुडवाहन श्रीविष्णु, हंसवाहन चतुर्मुख ब्रह्मा बनकर देव, दैत्य आदि की सृष्टिरूप कार्य का सम्पादन करते थे, हंसवाहन ब्रह्माजी वृषभवाहन रुद्र बनकर संहार करते थे तथा वृषभवाहन महादेवजी विष्णु शरीर बनकर सृष्टि का पालन करते थे ॥५२॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

पुनः देखे गये वसिष्ठ के अष्टम जन्म आदि का, सम और
अर्धसम सृष्टि का तथा क्षीर-सागर के मंथन आदि का वर्णन।

भुशुण्ड ने कहा : भगवन्, (जब मुझे अनेक युगों की आश्चर्यजनक घटनाओं का वैसा अभ्रान्त स्मरण है, तब उनके बाद (कुछ पहले या आज के सर्ग में) उत्पन्न हुए आपको लेकर भरद्वाज, पुलस्त्य, अत्रि, नारद, इन्द्र और मरिचि इनके विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? यानी उनके विस्मरण की तो सम्भावना कभी हो ही नहीं सकती, यह भाव है (卐)) ॥१॥ पुलह, उद्दालक आदि तथा क्रतु, भृगु, अंगिरा आदि सिद्ध-ऋषि, सनत्कुमार आदि ब्रह्मर्षि एवं भृंगीश, स्कन्द, गजवदन आदि शिवजी के पार्षदों के विषय में तो स्मरण की गणना ही क्या ? ॥२॥ गौरी, सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री आदि अनेक उनकी शक्तियों तथा सुमेरु, मन्दर, कैलास, हिमालय, दर्दुर आदि पर्वतों के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥३॥ हयग्रीव आदि दानवों; हिरण्याक्ष, कालनेमि, बल, हिरण्यकशिपु, क्राथ, बलि, प्रह्लाद आदि दैत्यों के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥४॥ शिबि, न्यंकु, पृथु, उलाख्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप, नहुष आदि राजाओं के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥५॥ आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वात्स्यान आदि तथा उपमन्यु, मणीमंकि, भगीरथ, शुक आदि के विषय में स्मरण की तो गणना ही क्या ? ॥६॥ जो स्वल्पतर भूतकाल में उत्पन्न हैं, जो कोई कुछ दूर के हैं तथा जो आज के कल्प में उत्पन्न हैं, उनके विषय में स्मरण की गणना ही क्या ? यानी पूर्वोक्त सभी लोगों के विषय में विस्मरण हो ही नहीं सकता, यह भाव है ॥७॥ हे मुने, ब्रह्माजी के पुत्र आपका यह आठवाँ जन्म है। उस आठवें जन्म में आपकी और मेरी संगति हुई – इसका मैं पहले से स्मरण करता हूँ ॥८॥

'आठों जन्मों में क्या मैं ब्रह्माजी का ही पुत्र रहा ?' महाराज वसिष्ठ के इस प्रश्न पर पक्षीन्द्र भुशुण्डजी 'नहीं' यों उत्तर देते हैं।

हे मुने, आप किसी समय आकाश से उत्पन्न होते हैं, किसी समय जल से उत्पन्न होते हैं, किसी समय वायु से उत्पन्न होते हैं, तो किसी समय पर्वत और अग्नि से उत्पन्न होते हैं ॥९॥

समस्त कल्पों में तत्-तत् अधिकारी पुरुषों के नाम और स्वरूप एक से होने पर भी सब पदार्थों के

(卐) सप्तम श्लोकस्थ क्रिया के साथ सब सप्तम्यन्तों का सम्बन्ध है।

सब अवयव और आचरण एक ही होने चाहिए, यह नियम नहीं है, किन्तु काकतालीयन्याय से किसी समय एक-से ही हो जाते हैं, इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी, यह सर्ग जैसा है, इसका जिस प्रकार आचरण है, इसके जिस प्रकार के अवयव संस्थान तथा दिशागण हैं, ठीक इसी तरह के तीन सर्ग पहले हो चुके हैं-इसका मुझे स्मरण है ।।१०।। मुनिवर, मुझे ऐसे दस सर्गों का स्मरण है-जिनमें देवताओं के निखिल आचरण तथा अवयव-गठन एकरूप थे, उनकी आयु समान थी एवं अपने नियत तत्-तत् अधिकारपदों में उनकी स्थिति असुरों द्वारा चालित नहीं हुई थी ।।११।।

आचारों की समानता बतलाकर अब उनकी विषमता बतलाते हैं।

हे मुने, जल में डूबकर तिरोहित हुई पृथ्वी का समुद्र से भगवान कूर्म ने ही, न कि वराह ने, पाँच सर्गों में पाँच बार उद्धार किया ।।१२।। हे महाराज, मन्दराचल के आकर्षण के लिए किये गये भारी प्रयत्न के कारण व्याकुल हुए देवता एवं दानवों से युक्त यह अमृतार्थ समुद्र-मन्थन बारहवाँ हुआ-ऐसा मुझे स्मरण है ।।१३।। महाराज, पहले स्वर्गस्थ समस्त देवताओं से कर लेनेवाला, हिरण्याक्ष तीन बार समस्त औषधियों तथा रसों से परिपूर्ण इस पृथ्वी को पाताल में ले गया ।।१४।। रेणुका के उदर से जन्म लेकर भगवान नारायण ने, परशुराम-अवतार से शून्य अनेक सर्गों के व्यवधान से भी, यह छठी बार क्षत्रिय-विनाश किया ।।१५।। हे मुनिश्रेष्ठ, सौ कलियुग हुए और कीकटदेश के राजारूप से यानी महाराज शुद्धोधन के पुत्ररूप से भगवान नारायण ने सौ बार बुद्धदशा प्राप्त की-इसका मुझे स्मरण है ।।१६।। महाराज, चन्द्रमौलि महादेवजी ने कल्पों में तीस बार त्रिपुरों का विनाश किया, दो बार यानी प्रत्येक कल्प में स्वायंभुव और चाक्षुष मन्वन्तर में दक्षप्रजापति के यज्ञों का विध्वंस किया तथा अपराधी दस इन्द्रों को दण्ड दिया (उनके पदों से उन्हें च्युतकर पर्वत की गुफाओं में बन्दी बनाया अथवा वज्रसहित उनके हाथों का स्तम्भन किया)- इसका मुझे स्मरण है ।।१७।। मुनिवर, बाणासुर के लिए माहेश्वर एवं वैष्णवनामक ज्वरों और प्रमथगणों को शौर्य उत्साह बढ़ाकर प्रवृत्त करानेवाले तथा देवताओं की सेनाओं को प्रचुरमात्रा में क्षुब्ध करनेवाले हरि और हर के आठ संग्राम हुए-इसका मुझे स्मरण है ।।१८।। मुने, मैं युग-युग में अध्येता पुरुषों की बुद्धियों के न्यूनाधिकभाव के कारण क्रियाओं की (ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा, भूमिशयन आदि क्रियाओं की), अंगों की (शिक्षा, कल्प आदि अंगों की) एवं पाठों की (अवधानपूर्वक स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण रूप पाठों की) न्यूनाधिकप्रयुक्त विचित्रतता से युक्त वेदों का भी स्मरण करता हूँ ।।१९।। हे पापशून्य, युग-युग में प्रत्येक द्वापर के अंत में निर्माताओं के भेद से अनेक पाठवाले, एकार्थक तथा अत्यंत विस्तारयुक्त पुराण प्रवृत्त होते हैं - इसका मुझे स्मरण है ।।२०।। मुने, युग-युग में वेद आदि शास्त्रों के विद्वान व्यास, वाल्मीकि आदि महर्षियों द्वारा विरचित उन्हीं महाभारत, रामायण आदि इतिहासों एवं दूसरे इतिहासों का भी मैं स्मरण करता हूँ ।।२१।। महाराज, मैं आश्चर्यजनक महती घटनाओं से परिपूर्ण, प्रसिद्ध रामायण से भिन्न दूसरे रामायणनामक लक्षश्लोकात्मक ज्ञानशास्त्र का, जो ब्रह्मदेव द्वारा वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि को उपदिष्ट था, स्मरण करता हूँ ।।२२।। उस ज्ञानशास्त्र में मनोयोग देनेवाले महानुभावों के अन्तःकरण में हाथ में फल के सदृश, 'श्रीरामजी की नाईं व्यवहार करना चाहिए और रावण के विलास की नाईं विलास नहीं करना चाहिए' यह ज्ञान समर्पित किया गया

है ॥२३॥ उक्त ज्ञानशास्त्र के निर्माता महर्षि वाल्मीकि हैं और अब उनके द्वारा वसिष्ठ राम–संवादरूप दूसरे बत्तीस हजार श्लोकात्मक महारामायणरूप ज्ञानशास्त्र की जो रचना की जायेगी, उसका भी दिव्यज्ञान की सामर्थ्य से मैं स्मरण करता हूँ, आप भी समय आनेपर उसे जान जायेंगे ॥२४॥ महाराज वसिष्ठजी, इस भावी वसिष्ठ–राम–संवादरूप ज्ञानशास्त्र की पूर्वकल्प के अथवा दूसरे किसी और वाल्मीकिनामक जीव के द्वारा यद्यपि पहले ही रचना की गई थी, तथापि कल्प के अन्त में व्यवहारकर्ताओं की परम्पराओं के उठ जाने से वह उच्छेद को प्राप्त हो गया था, अतः वर्तमान में उसकी पुनः बारहवीं बार रचना की जायेगी ॥२५॥ महाराज, इसी ज्ञानशास्त्र के बराबर दूसरा ज्ञानशास्त्र था, जिसकी 'महाभारत' इस नाम से प्रसिद्धि थी एवं प्राक्तन व्यासजी के द्वारा रचना की गई थी और जो इस समय जगत में विस्मृति को प्राप्त हो चुका है–मैं उसका स्मरण करता हूँ ॥२६॥ उसी (पूर्वकल्प के) अथवा दूसरे किसी और व्यासनामक जीव के द्वारा किये गये तथा कल्पान्त में विस्मृति को प्राप्त हुए उस महाभारत की सातवीं बार रचना की जायेगी ॥२७॥ हे मुनिराज, युग–युग में प्रवृत्त हुए अनेक आख्यानों एवं शास्त्रों का, जो चित्र–विचित्र घटना–सन्निवेशों से परिपूर्ण थे, मैं स्मरण करता हूँ ॥२८॥ हे साधो, युग–युग में पुनः–पुनः उन्हीं–उन्हीं पदार्थों को तथा दूसरे–दूसरे पदार्थों को मैं जानता हूँ–इसका भी मुझे स्मरण है ॥२९॥ भगवन्, राक्षसों का विनाश करने के लिए पृथ्वी में अवतार ग्रहण करनेवाले महिमाशाली विष्णु का निकटवर्ती त्रेतायुग में ग्यारहवीं बार 'राम' इस नाम से जन्म होगा ॥३०॥ हे महर्षे, नृसिंहस्वरूप शरीर से भगवान ने हिरण्यकशिपु का, हाथी का मृगेन्द्र सिंह की नाईं, तीन बार हनन किया ॥३१॥ हे मुनीश्वर, पृथ्वी के भार की निवृत्ति करने के लिए भगवान विष्णु का सोलहवीं बार वसुदेवजी के घर में निकट द्वापर के अन्त में जन्म होगा ॥३२॥

बाहर यह उत्पन्न होता है, यह भ्रान्ति है, इस आशय से कहते हैं।

महाराज, जगद्रूपा इस भ्रान्ति का कभी भी (कल्पान्त में) अस्तित्व नहीं है, जल में बुद्‌बुदों की नाईं स्थित हुई यह किसी समय ही (कल्पान्त में) अज्ञानवश अस्तित्व रखती हुई–सी प्रतीत होती है ॥३३॥ जल में तरंगों की नाईं अति चपल, आत्मा के अन्दर रहनेवाली यह अनित्य दृश्य पदार्थों की भ्रान्ति संवित्–स्वरूप आत्मा में ही उत्पन्न और तत्क्षण लीन हो जाती है ॥३४॥

प्रत्येक सर्ग में भूलोक आदि की अवयवों से समानता का जो नियम है, वह भी औत्सर्गिक है, यों कहते हैं।

महाराज, ये तीनों जगत किसी कल्प में समान अवयव–सन्निवेश (आकार) वाले थे, किसी कल्प में अत्यन्त विषम थे तथा किसी समय आधे समानरूप थे – इसका मुझे स्मरण है ॥३५॥

मनु आदि अधिकारी पुरुषों के आकारों और चरित्रों की समता भी औत्सर्गिक ही है, ऐसा कहते हैं।

महाराज, किसी एक कल्प में जो प्राणी जिस रूप के जो आचार–व्यवहार करते थे, ठीक उसी रूप के वे ही प्राणी तत्परवर्ती कल्प में भी आचार–व्यवहार करते देखे गये तथा दूसरे प्राणी उन्हीं के आचार–व्यवहार करते देखे गये–इसका मुझे वर्तमान में स्मरण है ॥३६॥

ब्रह्मन्, प्रत्येक मन्वन्तर में जगत–क्रम का विपर्यास हो जाने पर, अवयव सन्निवेश का परिवर्तन हो जाने पर और प्रख्यात जनों का प्रलय हो जाने पर मेरे दूसरे ही मित्र दूसरे ही बान्धव, दूसरे नवीन

ही सेवक और दूसरे ही निवास–स्थान हो जाते हैं ॥३७,३८॥

निवासस्थान के भेद को ही विशदरूप से बतलाते हैं।

महाराज, किसी समय मैं एकान्त में विन्ध्य–प्रदेश में अपना स्थान बनाता हूँ, किसी समय सह्याद्रि में अपना स्थान बनाता हूँ, तो किसी समय दर्दुर–पर्वत पर निवास करता हूँ॥३९॥ किसी समय हिमालय–पर्वत पर वास करता हूँ, किसी समय मलय–पर्वत पर स्थिर होता हूँ, तो किसी समय प्राक्तन अवयव–सन्निवेश से ही इस पर्वत पर आकर इस कल्पवृक्ष की शाखा में घोंसला बनाता हूँ॥४०॥ हे मुनिनायक, असंख्य युगों के बीत जानेपर भी इस समय प्राक्तन अवयवों के सन्निवेश (रचना) से ही यह कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ है॥४१॥ हे साधो, इसीलिए अपने प्राक्तन शरीर का सूखपूर्वक त्यागकर यह वृक्ष पूर्वतन अवयवसन्निवेश की अपेक्षा दूसरे अवयव–सन्निवेशरूप परिणति को प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु उसी सन्निवेश से यह उत्पन्न हुआ है *(प्रकृत श्लोक के उत्तरार्ध से 'तुम्हारी नाईं यह कल्पतरू चिरंजीवी क्यों नहीं है' इस शंका का समाधान हो गया, क्योंकि उक्त कथन से पक्षिराज भुशुण्ड ने कल्पवृक्ष की चिरंजीविता नहीं बतलाई, किन्तु शोभा–सन्निवेश की समता से अभेद का उपचार ही बतलाया है।)* ॥४२॥ महाराज, मेरे पिता चण्ड के जीवनकाल में इस कल्पतरूप की जो शोभा थी, ठीक वही शोभा इस समय भी है तथा जो उस समय इसके प्राक्तन सन्निवेश (अवयव–विन्यास) थे उनके तुल्य दूसरे नवीन अवयव–विन्यास इसके विहित हैं, मैंने यहाँ इस समय स्थिति प्राप्त की है॥४३॥

इसी प्रकार दिशा और पर्वत की ऐक्य–प्रत्यभिज्ञा भी शोभा–सन्निवेश की समता के कारण ही है, ऐसा कहते हैं।

महाराज, पहले यहाँ (अतीत कल्प के इस प्रदेश में) न यह उत्तर दिशा थी और न तो यह पर्वत ही था, किन्तु पहले यह दूसरी ही उत्तर दिशा थी और यह दूसरा ही पर्वत था॥४४॥

तब उन दिशा आदि की नाईं तुम भी प्रत्येक कल्प में दूसरे और समान सन्निवेशवाले क्यों नहीं हो ? तो इस पर कहते हैं।

मैं एक ही रहा और एक ही अवयव–सन्निवेश से मैंने ब्रह्माजी की निशा का अतिक्रमण किया, क्योंकि कल्पान्त में पूर्वोक्त धारणाओं से स्थिर की गई निर्विकल्प समाधि के अवसान में पुनः उत्पन्न हुआ यह सर्ग देख कर मैं 'वही यह मेरु पर्वत है', 'वही यह कल्पतरुवृक्ष है' यों प्रत्यभिज्ञायमान पदार्थ के रूप में ही इस सृष्टि को जानता हूँ। यदि मैं दूसरा होता, तो तत्ततविषयिणी उक्त प्रत्यभिज्ञा (देखी हुई वस्तु को पहिचानना) नहीं होती, यह भाव है॥४५॥

इसी प्रकार पूर्व के अवयवों से भिन्न दूसरे अवयवों का ग्रहण करने पर भी 'उस प्रकार प्रत्यभिज्ञा कर रहे मेरा विनाश नहीं है' इस प्रकार के गर्भित आशयवाली 'दिगुत्तराऽभूत्' इत्यादि उक्ति का उपपादन करते हैं।

सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहों से एवं नक्षत्रों के उदय, अस्तमय आदि नियत संचरणों से नियत उत्तर दिशा में अवस्थित मेरु आदि स्थान को लेकर ही पूर्व आदि दिशाएँ व्यवहृत होती हैं। दूसरे सर्ग में तो वे दिशाएँ–उस मेरुपर्वत के ही दूसरे प्रकार से स्थित हो जानेपर, चित्रपट के परिवर्तन से उसमें चित्रित मेरुपर्वत आदि के अधीन पूर्व आदि दिशाओं के परिवर्तन की नाईं व्यत्यस्त–स्थिति प्राप्त करती हैं॥४६॥

इस प्रकार अनियत स्थिति से दिशाओं का मिथ्यात्व सिद्ध होने पर तदनुसारी नियत अवयव-सन्निवेश घटित सभी जगत में अनिवर्चनीयतारूप मिथ्यात्व दिखाई पड़ता है, ऐसा कहते हैं।

महाराज, यह जगत न सत् है और न असत् ही है - यही मैं मानता हूँ। आत्मा की मायिक विक्षेपशक्ति से उत्पन्न हुआ तथा बुद्धि को भ्रमित कर रहा यह प्रपंच केवल मिथ्या ही प्रकट हो रहा है ॥४७॥

जगत के पदार्थों में दिक्कृत व्यवस्था-व्यत्यास (विपरीतता) की नाईं कालकृत व्यवस्था का व्यत्यास भी दिखाई पड़ता है, ऐसा कहते हैं।

महर्षे, किसी कल्प में पुत्र पितृ-भाव को प्राप्त होता है, मित्र शत्रु-भाव को प्राप्त होता है तथा सैकड़ों पुरुष स्त्री-भाव को प्राप्त हो जाते हैं - इसका मुझे स्मरण है ॥४८॥ मुनि महाराज, किसी कल्प में कलियुग में सत्ययुग के आचार, सत्ययुग में कलियुग की अवस्था तथा त्रेता और द्वापर में सत्ययुग के आचार और कलियुग स्थिति हो जाती है-इसका मुझे स्मरण है ॥४९॥

संक्षेपतः कलियुग-स्थिति का वर्णन करते हैं।

मुनिराज, किसी कल्प में सत्ययुग में भी कुछ ऐसे मनुष्यों का मुझे स्मरण है कि जिन्होंने जो वेद और वेदार्थों का दर्शन तक नहीं किये थे। अपने संकेतमात्र से ही व्यवहार करते थे, उनका आचरण अत्यंत उच्छृंखल था। (सत्ययुग में भी पुष्कर ने महाराज नल के ऊपर द्यूत से विजय पाई थी और बिना अपराध पत्नी के साथ एक वस्त्र से उन्हें निर्वासित किया था, यह प्रसिद्ध बात है।) ॥५०॥

हे ब्रह्मन्, हजार चतुर्युगों की समाप्ति में ब्रह्माजी जब जगद्रूप के संहारक्रम से जल में शयनकर योगनिद्रा के व्याज से परमात्मा का ध्यान कर रहे थे, तब यह देवता, दानव एवं मनुष्य से युक्त जगत शून्य असत्स्वरूप की नाईं हो गया था - इसका मुझे स्मरण है ॥५१॥ उसी प्रकार जगत के लीन होने पर भी चन्द्रमा सम्बन्धी मन के मनन से निर्मित हुए पूर्वोक्त दस सर्गों का, जो स्थूल पार्थिवाकार से वर्जित तथा वायुप्राय भूतों से व्याप्त थे, मैं स्मरण करता हूँ ॥५२॥

कथित समस्त अर्थों का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

महाराज, ब्रह्माजी के दिवसरूपी कल्पों में हुए चित्र-विचित्र विशेष संस्थानों वाले देशों से युक्त; चित्र-विचित्र अनेक कार्यों में व्याकुल प्राणियों के कोशभूत तथा चित्र-विचित्र विन्यास, विलास एवं वेषों से युक्त समस्त सर्गों का मैं स्मरण करता हूँ ॥५३॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

जिन दोषों का परित्याग कर देने पर मनुष्य को मृत्यु बाधा नहीं पहुँचाती,
उन दोषों का तथा मन को जिसमें लगाना चाहिए - उसका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो श्रीरामजी, तदनन्तर कल्पलता के अग्रभाग में आसीन उस वायसराज भुशुण्ड को मैंने जिज्ञासा के लिए यह आगे की बात फिर पूछी ॥१॥

हे पक्षियों के श्रेष्ठ राजा, जगत-कोश में विचरण कर रहे और व्यवहार कर रहे भी प्राणियों की देह को मृत्यु किस उपाय से यानी कैसे दोषों का त्याग एवं कैसे गुणों का उपार्जन करने से बाधा नहीं

पहुँचाती ॥२॥ भुशुण्ड ने कहा : हे सर्ववित् ब्रह्मन्, आप यद्यपि सब कुछ जानते हैं, तथापि जो मुझसे, जिज्ञासु की नाईं, पूछते हैं, वह ठीक ही है, क्योंकि जो समर्थ होते हैं, वे प्रश्नों द्वारा अपने सेवकों की वाक्पटुता प्रसिद्ध कराते हैं ॥३॥ यद्यपि वैसी स्थिति है, तथापि आज जो मुझसे पूछते हैं, उसका आपको मैं उत्तर देता हूँ, क्योंकि आज्ञा का परिपालन करना ही सज्जनों की सबसे बड़ी सेवा है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं ॥४॥

उसमें समस्त दोषों की आश्रय वासना का विनाश ही मृत्यु पर विजय पाने के लिए मुख्य उपाय है, ऐसा कहते हैं।

महाराज, रागादि दोषरूपी मोती जिसमें पिरोये गये हैं, ऐसी वासनारूपी तन्तुसन्तति जिसके हृदय-कमल में ग्रथित नहीं रहती, मृत्यु उसे मारने की इच्छा नहीं करती अर्थात् जैसे हार आदि आभरणों का परित्याग किये पुरुषों को चोर मारने की इच्छा नहीं करते वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिए, यह भाव है ॥५॥ ब्रह्मन्, देह-वृक्ष का उच्छेद कर देनेवाले निःश्वासरूपी करवत जिनसे उत्पन्न होते हैं तथा समस्त शरीर-लता के (देह-वृक्ष शाखाभूत हाथ, पैर आदि के) लिए जो घुनरूप हैं, वे मानसिक-व्यथाएँ जिसका भेदन नहीं करतीं, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥६॥ ब्रह्मन्, शरीररूपी वृक्ष के कोटर में रहनेवाले सर्पों के समूहरूप तथा चिन्तारूपी फणविस्तारों को सिर में धारण करनेवाली आशाएँ जिसको भीतर से दाह नहीं पहुँचाती उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती। राग-द्वेषरूपी विष से परिपूर्ण अपने मनरूपी बिल में रहनेवाला लोभरूपी सर्प जिसको दंश नहीं करता उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥७॥ राग-द्वेषरूपी विष से परिपूर्ण अपने मनरूपी बिल में रहनेवाला लोभरूपी सर्प जिसको दंश नहीं करता, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥८॥ शरीररूपी समुद्र का वडवाग्निरूप अतएव समस्त विवेकरूपी जल को पी जानेवाला क्रोध जिसको दग्ध नहीं करता, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥९॥ महाराज, तिलों की बड़ी राशि को व्यग्र कर देनेवाले कठिन कोल्हू यन्त्र की नाईं उग्रतापूर्वक अनंग (कामदेव) जिसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसे मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥१०॥

ब्रह्मात्मा में विश्रान्ति ही आत्यन्तिक मृत्यु-विजय में हेतु है, ऐसा कहते हैं।

जिसने एक निर्मल परम पवित्र ब्रह्मपद में चित्त-स्थिति प्राप्त कर ली है, उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥११॥ शरीररूपी पुष्पित अरण्य प्रदेश में प्रवेश कर दौड़-धूप मचानेवाला बलवान जिसका मन, वानर की नाईं, चंचल नहीं है, उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती ॥१२॥

दोषों का उपसंहार कर रहे भुशुण्डजी-मृत्यु विजय में हेतुभूत गुणों का उपक्रम करने के पहले समाधान ही मुख्य गुण है, इस आशय से – समाधान की प्रशंसा करते हैं।

हे ब्रह्मन्, पूर्व में बतलाये गये ये महान दोष संसार रूपी व्याधि के कारणभूत हैं, वे दोष समाहित चित्त को तनिक भी विच्छिन्न नहीं करते ॥१३॥ शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओं से जनित तथा महान विभ्रमों से (पुत्र, कलत्र आदि विषम-व्यामोहों से) विचलित हुए दुःख एकमात्र समाहित चित्त को ही छिन्न-भिन्न नहीं कर पाते ॥१४॥ जिस महापुरुष का चित्त समाहित है, उसका चित्त न अस्त होता है, न उदित होता है, न उसमें स्मृति होती है, न विस्मृति होती है, न सुषुप्ति होती है, न जागृति ही होती है ॥१५॥ जिस महात्मा का चित्त समाहित है, उसकी काम क्रोध आदि विकारों से उत्पन्न तथा हृदयाकाश

को आवृत कर देनेवाली चिन्ता किसी तरह हिंसा नहीं करती ॥१६॥ जिसका चित्त समाहित है, शास्त्रानुसारी व्यवहारों को चलाता हुआ भी वह परमार्थतः न कुछ देता है, न ग्रहण करता है, न कुछ त्यागता है और न कुछ माँगता ही है ॥१७॥ जिस महापुरुष का चित्त समाहित है, उसे उपार्जन करने योग्य अनेक दुष्ट धनादि अर्थ; कृषि,गृह आदि दुष्ट आरंभ; राग, द्वेष आदि दुष्ट गुण; मर्मप्रकाशक दुष्ट उक्तियाँ; दुष्ट नीतियाँ–ये सब अपने दुष्परिणाम द्वारा खेद नहीं पहुँचातीं ॥१८॥ जिसका चित्त समाहित है, उसकी ओर अनेकविध अर्थों से युक्त एवं विविध गुणों से परिपूर्ण, निरतिशय प्रकाशमान सभी सुख दौड़ते हैं ॥१९॥ महाराज वसिष्ठजी, (चूँकि समाहित चित्त को किसी प्रकार के गुण–दोष अस्त–व्यस्त नहीं कर पाते, इसलिए) जो तत्त्व उत्तरकालिक सुख का हेतु; अबाध्य, अविनाशी, अविद्याशून्य एवं विषय की अभिलाषारूपी दृष्टि से वर्जित आत्म–लाभस्वरूप है, उसी एक तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२०॥ महाराज, चित्त को पुरुषार्थशून्य बनानेवाले, अपवित्र, द्वैत–दर्शनरूप पिशाच के द्वारा जो तत्त्व कभी भी आक्रान्त नहीं होता, उसी एक आत्म–लाभरूप तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२१॥ अनादिकाल से सबसे बढ़–चढ़कर जिसका औचित्य सिद्ध हो चुका है, तथा जो आरम्भ में सुन्दर, मध्य में (अर्ध–परिपाककाल में) मधुर और अन्त में समस्त दुःखों का निर्वतक है, उस आत्म–लाभरूप ज्ञानतत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२२॥ जो अविनाशी है, मन के लिए सदा हितकर है, अबाधितस्वरूप है, आदि मध्य एंव अन्त–इन सभी अवस्थाओं में अनुस्यूत है तथा जिसकी समस्त सन्तलोग प्रीतिपूर्वक उपासना करते हैं, उस आत्मलाभरूप तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२३॥ ब्रह्मर्षे, जो बुद्धि से परे है, प्रकाशस्वरूप है, सबका आदि कारण है, निरतिशय अमृतस्वरूप है तथा जिसकी अपेक्षा दूसरा उत्तम सौभाग्य (नित्य निरतिशय आनन्दरूप सौभाग्य) नहीं है, उस परम तत्त्व में मन को स्थिर करना चाहिए ॥२४॥

अब परम तत्त्व में सबसे बढ़–चढ़कर सौभाग्यरूपता है, इसका दूसरे सुखों में अनित्यत्व–प्रतिपादन द्वारा साधन करते हैं।

देवताओं, असुरों एवं गन्धर्वों से व्याप्त; विद्याधरों और किन्नरों से युक्त तथा देवता–रमणियों से सुशोभित स्वर्ग में कुछ भी सुस्थिर एवं उत्तम तत्त्व विद्यमान नहीं है ॥२५॥ हे प्रीतिपात्र, वृक्षों से राजित, राजा–महाराजाओं से युक्त; पर्वत, नगर एवं व्रजभूमि से शोभायमान तथा समुद्र से युक्त भूतल में कुछ भी स्थायी और शोभन तत्त्व नहीं है ॥२६॥ ब्रह्मन्, जहाँ नागों का निवास है, असुरों के समूह हैं तथा असुरों की स्त्रियों का समुदाय है, समस्त उस पाताल लोक में भी कुछ स्थिर एवं सुखरूप पदार्थ नहीं है ॥२७॥

यों तीनों लोकों की अशुभरूपता बतलाकर उसके अन्दर के जगत की भी अशुभरूपता बतलाते हैं।

महाराज, जिसमें स्वर्ग, देवलोक, पाताल एवं दसों दिशाएँ हैं, ऐसे इस सम्पूर्ण जगत में कुछ भी स्थिर सुखरूप तात्विक पदार्थ नहीं है ॥२८॥ आधि (मानसिक व्यथा) एवं व्याधि से अत्यन्त चपल तथा दुखःसमूह से परिवेष्टित सर्वदा तुच्छ क्रियाजन्य फलों में कुछ भी स्थिर और कल्याणकारक नहीं है ॥२९॥ जिन्होंने चित्त तरल कर दिया है तथा जो मन में आनन्द देते हैं, ऐसे बुद्धि के विकारभूत मानसक्रियाजन्य फ़लों में कुछ भी स्थिर कल्याण नहीं है ॥३०॥ मनरूपी क्षीर–सागर के मंथन में मन्दराचल का आचरण करनेवाले अपने संकल्प, विकल्प आदि मानसिक व्यापारों में भी कुछ स्थायी

कल्याण नहीं है ॥३१॥ निरन्तर उत्पन्न एवं विनष्ट होनेवाली, अत्यन्त अद्‌भुत, तलवार की धार के सदृश इन्द्रिय आदि की चेष्टाओं में भी कुछ स्थिर सुख नहीं है ॥३२॥

उस प्रकार अस्थिर एवं तुच्छ होने से जगत सम्बन्धी किसी भी सुख की विवेकी पुरुषों को स्पृहा नहीं करनी चाहिए, यों कहते हैं।

महाराज, सम्पूर्ण पृथ्वीतल में एकमात्रराजरूपता (सम्पूर्ण भू–मण्डल का एकच्छत्र सार्वभौम राजा होना) श्रेष्ठ नहीं है, सबसे बड़े अभिज्ञ इन्द्र, बृहस्पति (पाताल में) सम्पूर्ण पृथ्वी के धारण में समर्थ शेषनागरूप होना यानी पाताल का अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्णकाम होकर विश्रान्ति पाता है, वैसा वहाँ कुछ भी तात्त्विक सुख नहीं है ॥३३॥ दुरूह और विस्तृत होने के कारण मन को व्यग्र बनानेवाली चौदह प्रकार की विद्याओं का विचार (निष्कर्ष निकालने में समर्थतारूप पाण्डित्य) भी श्रेष्ठ नहीं है, दूसरों के कार्यों का बुद्धिसौष्ठव से विचार कर विवेचन करने की सामर्थ्य (लोकानुरंजनसामर्थ्य) भी श्रेष्ठ नहीं है, तथा सर्वश्रेष्ठ महाभारत आदि के कथाक्रमों का भली प्रकार वर्णन करने की सामर्थ्य भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्णकाम होकर विश्रान्ति पाता है, वैसा वहाँ कुछ भी तात्विकरूप वस्तु नहीं है ॥३४॥ आधि–व्याधियों से प्रचुर चिरंजीविता भी श्रेष्ठ नहीं है; समस्त व्याधियों का विनाशरूप मरण, अखिल दुःखों की निदान दृढ़ अज्ञतारूप होने से, भी श्रेष्ठ नहीं है। (तो भोग द्वारा सभी दुःखों का विनाशक होने से नरक ही श्रेष्ठ है ?' इस शंका पर कहते हैं।) महाराज, यतः नरक का परिणाम पुनः पाप योनि में जन्म ही है, अतः नरक भी श्रेष्ठ नहीं है तथा सर्वभुवन का आधिपत्य भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषों का मन पूर्णकाम होता है, तत्स्वरूप वहाँ कुछ भी नहीं है ॥३५॥ उस प्रकार के सम्पूर्ण विविध सृष्टियों के क्रम मनुष्य को बुद्धि में मूढ़ता के कारण ही रम्य प्रतीत होते हैं। (परन्तु विवेकी पुरुषों को इस प्रकार विचारित हुए ये सभी विविध सृष्टियों के क्रम तनिक भी रम्य प्रतीत नहीं होते) इसलिए जो विचारपटु बड़े–बड़े सन्त हैं, वे अनित्यत्वबुद्धि से गृहीत पदार्थों में आत्यन्तिक विश्रान्ति को किस तरह प्राप्त होंगे ? अर्थात् उनकी उनमें आस्था हो ही नहीं सकती ॥३६॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

देहनाड़ी के क्रम से युक्त षट्‌चक्र हृदय से अन्वित तथा
प्राण के स्पन्दनों के विभागों से आढ्य प्राणचिन्तन का वर्णन।

यदि जगत में कुछ भी सुन्दर और स्थिर नहीं है, तो वैसा कौन शोभन और स्थिर है, जिसमें विवेकी पुरुष की चित्त–विश्रान्ति होती है, इस पर कहते हैं।

महाराज, कभी नष्ट न होनेवाली, विभ्रमों से शून्य एकमात्र आत्मदृष्टि ही समस्त ज्ञानों के बीच में सब अंशों में श्रेष्ठ और सबसे उन्नत है ॥१॥ ब्रह्मन्, साक्षात्कार पर्यन्त किया गया आत्मा का विचार समस्त दुःखों का अन्त कर देनेवाला तथा अनादिकाल से लेकर आज तक चले आ रहे कामकर्मजनित वासनाओं से परिपूर्ण, दुःस्वप्न के सदृश, संसाररूपी भ्रम का विनाश करनेवाला है ॥२॥ ब्रह्मर्षे, वह

आत्मविचार एकमात्र निर्मल मनरूप मार्ग से प्राप्त होनेवाले निरतिशय भूमानन्दरूपी प्रांगण में विहार करता है तथा उपस्थित अनेक दुःखों का एवं भावी दुःखों के संस्मरणों से जनित चिन्ता आदि अनर्थों का विनाश कर देता है ॥३॥ भगवन्, चन्द्रिका के सदृश तथोक्त आत्मचिन्ता से अज्ञानरूपी अन्धकार का, उसके कार्यों के साथ भली प्रकार विनाश हो जाता है। वह सुन्दर आत्मचिन्ता समस्त संकल्पों से रहित है ॥४॥ महात्मन्, आपके जैसे उत्तम पुरुषों में वह आत्मदृष्टि सुलभ है और हम लोगों के सदृश पामरों में वह दुलर्भ ही है। महाराज, सामान्यबुद्धि यानी अविशुद्ध प्राकृत बुद्धिवाले प्राणी इस पद को, जो समस्त कल्पनाओं से परे और परम चरम सीमा को पहुँचा हुआ है, कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? ॥५॥

तब वह आत्म–दृष्टि तुम्हें कैसे सुलभ हुई, इस प्रश्नपर उसकी सखी के आश्रय से प्राप्त हुई, इस अभिप्राय से प्राणचिन्ता का वर्णन करने के लिए पक्षिराज भुशुण्ड भूमिका बाँधते हैं।

महामुने, उस आत्मचिन्तारूपी (साक्षात्कार तक होनेवाले आत्मविचाररूपी) विलासिनी की, कुछ समानता रखनेवाली तथा विज्ञानरूपी चन्द्रमा से शीतल हुई अनेक सखियाँ हैं ॥६॥ हे मुनिराज, आत्मचिन्ता से मिलती–जुलती विविध आत्मचिन्ता की सखियों के बीच में से एक प्राणचिन्तानामक सखी का, जो समस्त दुःखों का विनाश करनेवाली तथा समस्त सौभाग्यों को बढ़ानेवाली है, मैंने आश्रय लिया है, वही यहाँ मेरे जीवन की हेतु भी है ॥७,८॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, उस तरह कह रहे मननशील भुशुण्ड पक्षी से जानते हुए भी मैंने व्यग्र न होकर फिर कौतुकवश पूछा ॥९॥ समस्त सन्देहों को काटनेवाले हे अत्यन्त दीर्घजीवी साधो, तुम मुझसे ठीक–ठीक कहो कि प्राण–चिन्ता किसे कहते हैं ॥१०॥ भुशुण्ड ने कहा : हे मुने, आप समस्त वेदान्तों को जानते हैं, समस्त संशयों का विनाश भी करते हैं, तथापि केवल मेरे परिहास के लिये ही मुझ जैसे कौए से इस विषय का प्रश्न कर रहे हैं – ऐसा मैं मानता हूँ ॥११॥ अथवा हे भगवन्, आपके सदृश पूज्यतम लोगों की सन्निधि में इसी प्राणदर्शन की विशेष रूप से शिक्षा ग्रहण करने के लिए यदि मैं आपके प्रश्न का फिर उत्तर दूँ, तो मेरी क्षति ही कौन–सी उपस्थित होगी ॥१२॥ महाराज, भुशुण्ड को जिसने चिरंजीवी बनाया है तथा जिसने भुशुण्ड को स्वकीय आत्मा की प्राप्ति कराई है, उस प्राणसमाधि का, जो मेरे द्वारा देहरूपी घर के वर्णन–क्रम से आगे कही जायेगी, आप श्रवण कीजिए ॥१३॥ भगवन्, इस समस्त देहरूपी मनोहर घर को देखिए, इसमें वात, पित्त और कफ, ये त्रिविध दोष बड़े–बड़े विधारक काष्ठ यानी खंभे लगे हुए हैं और यह नव द्वारों से भलीभाँति आवृत है ॥१४॥ यह, पुर्यष्टकरूपी कलत्र से पुर्यष्टक–मात्रारूपी स्वजन यानी बन्धुवर्गों से एवं अहंकाररूपी गृहस्थ से रक्षित है ॥१५॥ महाराज, जिसका मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, उस देहरूपी घर का आप अपने भीतर साक्षीरूप से प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। उसमें सुन्दर दो कर्णविवररूपी दो चन्द्रशालाएँ यानी शिरोगृह (सबके ऊपर स्थित छोटे बँगले) है, केश–समूह उसका आच्छादन (खपरा) है और दो चक्षु ही उसमें बड़े झरोखे हैं ॥१६॥

उस देहरूपी घर का मुख ही सुन्दर प्रधान–द्वार है, दोनों हाथ एवं पार्श्वभाग उसके उप–मन्दिर हैं यानी उस घर के अगल–बगल में सम्बद्ध अंश (बुर्ज) हैं और दाँतों की पंक्तिरूप बकुल–मालाओं से उसके प्रधान दरवाजे का विवर निरन्तर सुशोभित हैं ॥१७॥ समस्त बाह्य विषयों का भीतर ज्ञान करानेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ ही उसमें निरन्तर द्वारपाल का कार्य करती हैं। लिंगदेह के सम्बन्ध द्वारा सर्वत्र प्रसृत आत्मप्रकाश

से वह व्याप्त है और वही आत्म–प्रकाश (विशेषरूप से जाग्रत–अवस्था में) उसके (देहगृह के) कनीनिकारूपी (आँखों की पुतलियाँरूपी) दो ऊर्ध्वतम द्वार के समीप की कोठरियों में गृहपति के रूप में स्थिति करता है (१) ॥१८॥ रक्त मांस और वसारूपी मानों जल, मृतिका एवं गोबर से वह उपलिप्त है, शिरारूपी रज्जु–समूह से वह बाँधा गया है, स्थूल हड्डियाँरूपी धरनें उसमें लगाई गई हैं और उसकी दीवारें मजबूत हैं, अतएव वह अत्यन्त सुस्थिर हैं ॥१९॥ मुनिराज, इडा और पिंगला नाम की दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ इस देहरूपी घर के बीच दाहिने और बायें भाग में अवस्थित कोष्ठ में यानी कुक्षि में रहती हैं। उनका किसी से भान नहीं होता, केवल नासापुट में प्राण–संचार द्वारा अनुमान होता है ॥२०॥

उसमें समस्त प्राण–शक्तियों के आधारभूत 'पुरीतत्' नामक तीन हृदयकमलयन्त्रों का, जो नालयुक्त संपुटित तीन कमल–जोड़ों के सदृश और पृथक्–पृथक् बहत्तर हजार नाडियों के मूल–जालस्वरूप हैं, दिग्दर्शन कराते हैं।

महाराज, उसमें यन्त्र के सदृश तीन कमल के जोड़े हैं, वे अस्थिमांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं। उनमें ऊपर और नीचे दोनों ओर से नाल–दण्ड लगे हुए हैं और वे संपुटित होकर एक दूसरे से मिले हुए कोमल सुन्दर दलों से सुशोभित हैं ॥२१॥ महाराज, नासिका के अग्रभाग से लेकर पैरतक समस्त शरीराकाश में संचरण कर रहे चन्द्रनामक अपान–वायुरूप अमृत के सिंचन से उसके पत्ते विकसित होते हैं (और प्राण–वायु के संचार से कुछ संकुचित भी होते हैं), इसलिए प्राण और अपान–वायु से व्याप्त हुए उस हृदय–कमलयन्त्र के पत्ते प्रत्येक उच्छवास–निःश्वास में संकुचित एवं विकसित हुआ करते हैं ॥२२॥

उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

मुनिवर, जब उक्त वायुओं से हृदय–कमल के पत्ते संकुचित एवं विकसित होते हैं, तब चारों ओर के प्रसार से पुरीतत् में सम्बद्ध सभी नाड़ियों के छिद्रों में प्रविष्ट होकर वायु उस प्रकार वर्धित होता है, जिस प्रकार अरण्य में लता, पत्र आदि के वायु द्वारा आहत होनेपर वह चारों ओर से वर्धित होता है ॥२३॥ तदनन्तर उस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुआ वह वायु हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ एवं समस्त अंगों को अनेक तरह से अपना आश्रय बनाकर प्राण आदि पाँच संज्ञावाला होता हुआ ऊपर–नीचे विद्यमान बहत्तर हजार नाड़ियों की प्रतिशाखा एक सौ एक नाड़ियों में प्रवेश कर इस शरीर में संचरण करता है ॥२४॥

उसे ही कहते हैं।

तदनन्तर चित्र–विचित्र संचरण और चेष्टाओं के कारण उसी हृदय वायु को पण्डित लोग प्राण, अपान, समान आदि नामों से कहते हैं ॥२५॥

उन प्राणों के साथ प्राण–शक्तियों का भी सब अंगों में संचरण होता है, यह बतलाते हैं।

हे मुने, देहगत उन तीन हृदय–कमलयन्त्रों में प्राण की समस्त शक्तियाँ ऊपर और नीचे की ओर उस प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार चन्द्र–बिम्ब से किरण ॥२६॥

अन्न–रस का सारे शरीर में सम्बन्ध कराने के लिए नाड़ियों में हुए उन प्राणशक्तियों के व्यापार को बतलाते हैं।

---

(१) इस विषय में 'इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेक्षन्पुरुषः', 'नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्' ये श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

वे प्राणशक्तियाँ ही शीघ्र गति, आगति, विकर्षण, हरण, विहरण, उत्पतन एवं निपतन करती हैं यानी शरीर और तदीय तत्-तत् अंशों में सर्वत्र अन्न-रस आदि की गति आदि का निर्वाह करती हैं ॥२७॥

उनका मुख्य स्थान हृदय ही है और उनमें मुख्य प्राण ही है, अपान आदि प्राण ही विशेष वृत्तियाँ हैं, अतः प्राण ही विभिन्न शक्तियों से वृत्तियों द्वारा समस्त शरीर, इन्द्रिय आदि का व्यापार करता है, ऐसा कहते हैं।

हे मुने, हृदय-कमल में स्थित यही वायु पण्डितों द्वारा प्राण कहा जाता है, इसकी कोई एक शक्ति नेत्रों को स्पन्दित करती है यानी नेत्रों में निमेष-उन्मेष करती है ॥२८॥ उसीकी कोई एक शक्ति स्पर्श का ग्रहण करती है, दूसरी कोई शक्ति नासिका द्वारा श्वास-उच्छवास का निर्वहन करती है, कोई एक दूसरी शक्ति अन्न का परिपाक करती है, तो कोई अपर शक्ति वाक्यों का उच्चारण करती है ॥२९॥ महाराज, इस विषय में अधिक कहने से क्या फल ? शरीर में जो कुछ यह क्रिया या व्यापार होता है, वह सब शक्तिसम्पन्न वायु ही उस प्रकार कराता है, जिस प्रकार यन्त्रचालक प्रतिमा आदि यन्त्रों की नृत्यादि चेष्टा कराता है ॥३०॥ हे मुने, उसमें ऊर्ध्वगमन और अधोगमन यों दो प्रकार के संकेतवाले जो दो वायु प्रसृत हैं, वे दोनों वायु प्राण एवं अपान नाम से प्रसिद्ध, श्रेष्ठ एवं प्रकट हैं ॥३१॥

उस प्रकार उपोद्घातसम्बन्धी सब वस्तुओं का वर्णन कर अब वायसराज भुशुण्डजी स्वयं जिसका अनुष्ठान करते हैं, उस प्राणचिन्ता का दिग्दर्शन कराते हैं।

हे मुने, मैं उनकी गति का सदा अनुसरण करता हुआ स्थित रहता हूँ (🜂)। उनका स्वरूप सदा शीतल और उष्ण रहता है एवं वे दोनों निरन्तर आकाश मार्ग के पथिक हैं ॥३२॥ मुनिराज, प्राण और अपान दोनों शरीररूपी महायन्त्र के दो घोड़े हैं, श्रम से (मृत्यु से) रहित हैं, हृदयाकाश के सूर्य एवं चन्द्रमा हैं और उनका स्वरूप अग्नि एवं सोम के सदृश है ॥३३॥ महाराज, शरीररूपी नगर के रक्षक मन के रथ के वे दोनों पहिये हैं और अहंकाररूपी इस राजा के सुन्दर एवं इष्ट दोनों घोड़े हैं ॥३४॥ महर्षे, उन प्राण और अपान नामक शरीर-वायुओं की-जो जीवनपर्यन्त अविच्छिन्न उपासित तथा जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति में सदा समानरूप, अधिक अभ्यास के कारण बाहर और भीतर बारह या सोलह अंगुलप्रदेश परिमित संचरणवाले हैं -गति का अनुसरण कर रहे मेरे दिन, सुषुप्ति अवस्था में अवस्थित की नाईं, व्यतीत हो रहे हैं ॥३५,३६॥

प्राणायाम के अभ्यास से उनमें अतिसूक्ष्मरूपता की प्राप्ति हो जाने के कारण भी उत्क्रमण आदि की प्रसक्ति नहीं है, यों अथवा मुखनासिका में जैसे इनका संचार लक्षित होता है वैसे नाडियों में लक्षित

(🜂) आध्यात्मिक परिच्छिन्नता का परित्याग कर आधिदैविक सूत्रात्मस्वरूप ही मैं हूँ, इस प्रकार की भावना द्वारा आसंग पाप से दूषित समस्त इन्द्रिय व्रतों का परित्याग कर एकमात्र प्राणव्रत का आचरण करना ही प्राण और अपान की गति का अनुसरण है। वाक् आदि इन्द्रियों की जो वचन आदि अपने अपने विषयों में व्यसनिता है, वही उनका व्रत है, ये आसंगरूपी पाप से दूषित हैं, अतः मृत्युरूप श्रम ने उन्हें नष्ट कर दिया। प्राण का व्रत मुख, नासिका आदि स्थानों में संचरण करना है, वह विषयासंग दोष से दूषित न होने के कारण मृत्युरूपी श्रम से नष्ट नहीं होता। अकेला प्राण ही व्रतभंगशून्य और मृत्यु के आक्रमण से रहित है, इसलिए प्राणरूपता की भावना और उसके व्रतानुष्ठान रूप प्राण-चिन्तन से मैंने मृत्युपर विजय पाई है, यह तात्पर्य है।

क्यों नहीं होता, इस पर कहते हैं।

एक हजार अंशों में विभक्त बिसतन्तु के लवमात्र की अपेक्षा भी अत्यन्त दूर्लक्ष्य नाडियाँ है, अतः उनमें विद्यमान भी इन प्राण और अपान दोनों वायुओं की गति दुर्बोध है। नाडियों की सूक्ष्मरूपता में 'यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठति' (एक हजार अंशों में विभक्त केश जिस प्रकार अतिसूक्ष्म रहता है, उस प्रकार यह नाडी अति सूक्ष्म है) यह श्रुति प्रमाण है ॥३७॥

वर्णन किये जानेवाले प्रकार के विषय में प्रश्न का अवसर दे रहे भुशुण्डजी वर्णित प्राणविज्ञान का उपसंहार करते हैं।

हे महात्मन्, हृदय आदि स्थानों में निरन्तर संचरण कर रहे प्राण और अपान वायुओं की अनेक श्रुतियों में तत्-तत् प्राणोपासना प्रकरण में अनेक तरह से विहित निर्दोषत्व, श्रमरहितत्व, अभग्नव्रतत्त्व, संवर्ग आदि अनेक गुणविशिष्ट गति का अनुसरण कर यानी आगे कहे जानेवाले प्रकार से उपासना कर पुरुष मृत्युरूपी फन्दों से छुटकारा पाता हुआ तत्त्वज्ञान से जीवन्मुक्त होकर पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता। *'हि' शब्द यह द्योतन करता है-निष्काम बुद्धि से अनुष्ठित प्राण आदि की उपासना भी ज्ञान द्वारा मुक्ति की हेतु है, यह श्रुतियों में प्रसिद्ध है ॥३८॥*

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

प्राण और अपान की गतियों में रेचक आदि की कल्पना तथा
उनकी उत्पत्ति और विनाश के स्थान ब्रह्म का वर्णन।

प्रश्नावसर के प्रदान से सूचित हुआ चिन्तनीय प्राणोपासना का विशेष प्रकार मैंने पूछा है, यों कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, उस प्रकार पक्षी कह ही रहा था कि उस विषय में मैंने उससे फिर यह प्रश्न किया-हे पक्षीन्द्र, प्राणवायु की गति का स्वरूप क्या है ? ॥१॥ भुशुण्ड ने कहा : हे मुने, सब कुछ जानते हुए भी आप मुझसे लीलावश पूछते हैं, यह मैं अनुमान करता हूँ। अच्छा, आपने जिस तरह प्रश्न किया है, उसका उत्तर मैं तदनुरूप देता हूँ, उस विषय में भी मेरे वचनों का श्रवण कीजिए ॥२॥ हे ब्रह्मन्, इस प्राण में स्पन्दन शक्ति तथा निरन्तर गतिक्रिया रहती है। इस प्रकार स्पन्द-शक्ति और सदा गति यह प्राण बाह्य एवं आन्तर सर्वांगों से परिपूर्ण देह में ऊपर के स्थान में निरन्तर स्थित रहता है यानी ऊर्ध्वभाग में सदा गमन करता है ॥३॥ हे ब्रह्मन्, इस अपानवायु में भी निरन्तर स्पन्दशक्ति तथा सतत गति रहती है। यह अपानवायु भी बाह्य एवं आन्तर समस्त अंगों से परिपूर्ण शरीर में नीचे के स्थान में निरन्तर अवस्थित रहता है यानी अधोभाग में गमन करता है ॥४॥

इस प्रकार प्राण और अपान दोनों वायुओं का लक्षण द्वारा पार्थक्य बतलाकर अब 'उनकी गतियों में किसी प्रकार के यत्न के बिना सर्वदा ही प्राणायामरूपता सिद्ध है' यों चिन्तन करना चाहिए, यह बतलाते हैं।

हे प्राणायाम के तत्त्वज्ञ, चूँकि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से युक्त पुरुषों को यह

कल्याण के लिए उत्तम साधनभूत प्राणायाम अयत्नतः प्रवृत्त होता रहता है, अतः उसे आप सुनिए ॥५॥

उसमें हृदय प्रदेश से लेकर मूर्धापर्यन्त (मस्तक तक) की आधी प्रश्वासगति में आन्तररेचकरूपता की भावना करनी चाहिए और मूर्धा से लेकर बाहर बारह अंगुल पर्यन्त की आधी प्रश्वासगति में बाह्यपूरकरूपता की भावना करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं।

मुनिवर, किसी प्रकार के यत्न के बिना प्राणों की हृदयकमल के कोश से होनेवाली जो स्वभावतः बहिर्मुखता है, विद्वान लोग उसे रेचक कहते हैं ॥६॥ बारह अंगुलपर्यन्त बाह्य प्रदेश की ओर नीचे जा रहे प्राणों का (प्राणवृत्तियों का) जो शरीर के अंगों के साथ स्पर्श होता है, उसे पूरक कहते हैं ॥७॥ ब्रह्मन्, बाह्य–प्रदेश से शरीर के भीतर की ओर अपान के प्रवेश करनेपर यत्न के बिना शरीर की पूर्ति करनेवाला जो यह स्पर्श होता है, उसको (नासिका से लेकर मूर्धा तक और मूर्धा से लेकर हृदयतक होनेवाले दोनों प्रकार के स्पर्शों को) विद्वान लोग पूरक (अन्तःपूरक) कहते हैं ॥८॥

अब कल्पित एवं अकल्पित दोनों तरह से अन्तःकुम्भक प्राणायाम का लक्षण कहते हैं।

महाराज, अपान वायु के प्रशान्त हो जाने पर जब तक हृदय में प्राणवायु का अभ्युदय नहीं होता, तब तक वह वायु की कुम्भक अवस्था (निश्चल स्थिति) रहती है, जिसका कि योगी लोग अनुभव करते हैं, क्योंकि इस अवस्था में शरीर के भीतर वायु कुम्भित रहता है ॥९॥

बाहर भी रेचक आदि प्राणायामों का दिग्दर्शन कराने के लिए उपक्रम करते हैं।

नासिका के अग्रभाग से लेकर बाहर के बारह अंगुलपर्यन्त नीचे अपानवायु की उत्पत्ति स्थल में रेचक, कुम्भक और पूरक यों तीन प्रकार का प्राणायाम होता है ॥१०॥ महामुने, जाग्रत आदि सभी समयों में स्थित रहनेवाले तथा किसी प्रकार के यत्न के बिना स्वतः होनेवाले जिन रेचक आदि का विशाल बुद्धि विद्वानों ने कथन किया है, उन्हें आप सुनिये ॥११॥ हे प्रभो, नासिका के अग्रभाग से बाहर के प्रदेश में बारह अंगुल तक अभ्युदित हुआ (अभिमुख होकर स्थित हुआ) जो वायु है, उन्हीं बाह्य प्रदेशों में उस वायु की बाह्यपूरक आदि के रूप में स्वभावतः भावना करनी चाहिए ॥१२॥

बाह्य वायु के अन्दर अपान वायु के एकीभाव से हुई निश्चल–प्राय स्थिति की कुम्भकरूप से कल्पना करते हैं।

ब्रह्मन्, मृत्तिका के अन्दर असिद्ध घट की स्थिति के सदृश नासिका के अग्रभाग से लेकर बराबर सामने बारह अंगुलपर्यन्त आकाश में जो अपानवायु की निरन्तर स्थिति है, उसे पण्डित लोग कुम्भक कहते हैं ॥१३॥

हृदय–प्रदेश से लेकर नासिका के अग्रभाग तक जो उसकी पूर्वप्राणस्वरूप से गति है, उसकी बाह्यपूरकरूप से भी कल्पना करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं।

महाराज, बाह्योन्मुख वायु की जो नासिकाग्रपर्यन्त गति है, वह पहला बाह्यपूरक है, यों योगशास्त्र के ज्ञाता लोग कहते हैं ॥१४॥

उससे बाहर हुई वायुगति की दूसरे बाह्यपूरकरूप से कल्पना करते हैं।

नासिका के अग्रभाग से भी निकलकर बारह अंगुलपर्यन्त जो प्राण–वायु की गति है, वह दूसरा बाह्यपूरक है, यों योगशास्त्र के विद्वान कहते हैं ॥१५॥ बाहर प्राण–वायु के होने पर जब तक अपान–

वायु का उद्गम नहीं होता, तब तक एकरूप से अवस्थित पूर्ण बाह्य कुम्भक रहता है, ऐसा विद्वान लोग कहते हैं ॥१६॥

अब बाहर के दो प्रकार के रेचक प्राणायामों की कल्पना का प्रकार बतलाते हैं।

ब्रह्मन्, अपान–वायु के उदय के (प्रस्पन्द के) बिना जो वायु की अन्तर्मुखता (प्रस्पन्दोन्मुखता) रहती है, वह बाह्य रेचक है, यह जानना चाहिए। उपासित हुआ वह उपासक को मुक्ति प्रदान करता है ॥१७॥ बाहर के बारह अंगुल के अन्तिम भाग से नासिका के अग्रभागतक अपानवायु की संचार द्वारा स्वरूपाभिव्यक्ति से जो विशाल स्थूलता प्राप्त होती है, वह दूसरा बाह्यपूरक है, यों विद्वान लोग कहते हैं ॥१८॥ मुनिवर, प्राण और अपानवायु के स्वभावभूत ये जो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भक आदि प्राणायाम हैं, उनका निरन्तर भली प्रकार ज्ञान रखनेवाला (उपासना करनेवाला) पुरुष पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता ॥१९॥ हे महाबुद्धे, ये देहवायु के स्वभावभूत बाह्य एवं आन्तर रेचक आदि के भेद से आठ प्रकार के प्राणायाम हैं, उनका रात–दिन निरन्तर अनुध्यान करने से पुरुष की अवश्य मुक्ति हो जाती है, यह मेरा कथन है ॥२०॥

इन प्राणायामों के अभ्यास से समय आने पर प्राणादि वायुओं का निरोध हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

जाते या बैठते, जागते या सोते सभी अवस्थाओं में अभ्यास करने पर स्वभावतः अतिचपल ये वायु समय आने पर निरुद्ध भी हो जाते हैं ॥२१॥

कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का अभिमान भी इससे नष्ट हो जाता है, यों कहते हैं।

मनुष्य अपने भीतर बुद्धिपूर्वक पर्याप्तरूप से इन कुम्भक आदि प्राणायामों का ध्यान करता हुआ यदि कुछ करता है या खाता है, तो उनमें वह कर्तृत्व आदि के अभिमान से तनिक भी ग्रस्त नहीं होता ॥२२॥

प्राणायाम के अभ्यास से बाह्यदृष्टि का परित्याग, तदनन्तर अन्तरात्मा के साक्षात्कार की उत्पत्ति, तदनन्तर परमपद–प्राप्ति, यों प्राणचिन्तन से परमपद की प्राप्ति भी होती है, ऐसा कहते हैं।

महाराज, इस प्राणचिन्तनरूप व्यापार में संलग्न होकर बाह्य अर्थों का परित्याग कर रहा मन कुछ ही दिनों में अद्वितीय परम पद को प्राप्त हो जाता है ॥२३॥ इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास कर रहे पुरुष का मन विषयाकार वृत्तियों के होने पर भी बाह्य विषयों में उस प्रकार प्रेम नहीं करता, जिस प्रकार ब्राह्मण कुत्ते के चमड़े की भाथी में स्थित खीर आदि में प्रेम नहीं करता ॥२४॥ महाराज, इस प्राण–दृष्टि का अवलम्बन कर जो कृतबुद्धि महात्मा स्थित हैं, उन्होंने समस्त प्राप्तव्य वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है और वे ही समस्त खेदों से विनिर्मुक्त हो गये हैं ॥२५॥ महाराज, बैठते, चलते, सोते और जागते–सदा–सर्वदा पुरुष यदि इसी दृष्टि की उपासना करें, तो वे कभी बन्धन को प्राप्त ही न हों ॥२६॥ प्राण और अपान की उपासना द्वारा प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान से सम्पन्न पुरुषों का मन, जो मलरूप मोह से वर्जित एवं स्वस्थ है, इस भीतरी प्रत्यगात्मा में ही भली प्रकार लगा हुआ रहता है ॥२७॥ समस्त कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान कर रहा स्वच्छ–चित्त विज्ञ पुरुष प्राण अपान गति को प्राप्तकर, उत्तम स्वस्थ होकर सुख प्राप्त करता है ॥२८॥ हे ब्रह्मन्, हृदय–प्रदेश में स्थित

पद्म-पत्र से प्राण का अभ्युदय होता है और बाहर बारह अंगुलपर्यन्त प्रदेश में इस प्राण का विनाश हो जाता है ॥२९॥ हे महामुने, बाह्य बारह अंगुल की चरम सीमा से अपान का उदय होता है और हृदय-प्रदेश में संस्थित कमल में उसकी गति अस्त हो जाती है ॥३०॥ मुनीन्द्र, जिस बारह अंगुल की चरम सीमा के आकाश-प्रदेश में प्राण की समाप्ति हो जाती है उसी आकाश-प्रदेश से यह अपान उसीके बाद उत्पन्न हो जाता है ॥३१॥

प्राण एवं अपान में अग्नि और सोमरूपता जो पहले कही गई थी, उसका उष्णत्व, शीतत्व, ऊर्ध्वमुखत्व एवं अधोमुखत्व के प्रदर्शन द्वारा उपपादन करते हैं।

महाराज, यह प्राण-वायु अग्निशिखा के सदृश बाह्य आकाशोन्मुख होकर बहता है और अपान-वायु जल के सदृश हृदयाकाशोन्मुख होकर निम्न भाग में बहता है ॥३२॥ ब्रह्मन्, चन्द्रमारूप अपान-वायु शरीर को बाहर से पुष्ट करता है और सूर्यरूप या अग्निरूप प्राण-वायु इस शरीर को भीतर से परिपक्व कर देता है ॥३३॥

प्राण और अपान में सूर्य और चन्द्ररूपता की भी भावना करनी चाहिए, इसका भी उपपादन करते हैं।

प्राण-वायु प्रतिक्षण हृदयाकाश को संतप्त कर पश्चात मुखाग्रभाग के आकाश को तपाता है, क्योंकि यह उत्तम सूर्य ही है ॥३४॥ अपान-वायुरूप यह चन्द्रमा पहले मुख के अग्रभाग को पुष्टकर उसके क्षणभर ही पीछे हृदयाकाश का (अपने अमृत-प्रवाह से) पोषण करता है ॥३५॥ अपानरूप चन्द्रमा के भीतर की एक कला का प्राणरूपी सूर्य के साथ जिस ब्रह्मरूप प्रदेश में सम्बन्ध हुआ है, उस ब्रह्म पद को प्राप्त कर पुरुष पुनः शोक को प्राप्त नहीं करता ॥३६॥ प्राणरूपी सूर्य के भीतरी एक कला का अपानरूपी चन्द्रमा के साथ जिस पद में सम्बन्ध होता है, उस पद को प्राप्तकर मनुष्य पुनः जन्म प्राप्त नहीं करता ॥३७॥

एक ही वायु में क्रमशः उक्त दोनों प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

एकमात्र प्राण-वायु ही बाहर एवं भीतर से युक्त आकाश में पहले सूर्यरूपता को प्राप्त करता है और तदनन्तर आनन्दकारिणी चन्द्ररूपता को प्राप्त करता है ॥३८॥ एकमात्र प्राण-वायु ही शरीर को आनन्द पहुँचानेवाली चन्द्ररूपता का परित्याग कर क्षणभर में शोषण करनेवाली सूर्यरूपता को प्राप्त करता है ॥३९॥ बाह्य-प्रदेश में बारह अंगुलपर्यन्त प्रसृत प्राण-वायु जब तक उष्णता का परित्याग कर शीतलता प्राप्त नहीं करता, तब तक वह प्राण और अपान की सन्धि-अवस्था रहती है। उस अवस्था में देह के बाहर प्राण का विलय हो जाने से निर्देहत्व, निष्क्रियत्व, निर्मनस्त्व आदि आत्मा के वास्तव स्वभावों की संभावना हो सकती है, अतः उनका वहाँ पर योगी लोग विचार करते हैं। बाह्य कुम्भक में देहादि देश का परिच्छेद एवं चन्द्र-सूर्यात्मक प्राण-अपान-क्रियाप्रयुक्त आयुरूप काल का परिच्छेद न होने के कारण देश-काल-शून्य (स्वात्मस्वरूप) पद में प्रतिष्ठित हुआ योगी कभी शोक नहीं करता ॥४०॥

उसी प्रकार अन्तःकुम्भक में भी हृदयगत प्राण और अपान की सन्धि में प्रतिष्ठित हुए मन मे

अपने अधिष्ठानभूत परमात्म–तत्त्व का साक्षात्कार अवश्यंभावी होने से जन्म आदि की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

हृदय में चन्द्र और सूर्य का प्रतिदिन उदय और अस्तमय का (प्राणरूप सूर्य एवं अपानरूप चन्द्र की तत्–तत् व्यान आदि वृत्ति–विशेषों का) परिज्ञान कर तथा मन के अधिष्ठानभूत परमात्मा का ज्ञानकर मन फिर उत्पन्न नहीं होता ॥४१॥

अथवा हृदयस्थ अपनी आत्मा ही प्राणात्मक सूर्य है, वही अपानात्मक चन्द्ररूप होकर उदय, अस्तमय और उनकी रश्मिभूत व्यानादि वृत्ति–विशेषों से विवृत होता है, इसलिए उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस प्रकार की उपासना ही आत्म–साक्षात्कार में कारण है, ऐसा कहते हैं।

उदय, अस्त, चन्द्रमा, रश्मियाँ, गमागम इन सबसे युक्त हृदयकाश में स्थित प्राणरूप सूर्यदेव का जो कोई तात्त्विकरूप से दर्शन करता है, वही असली तत्त्व को जानता है ॥४२॥

यदि शंका हो कि हृदय में आत्म–साक्षात्कार से क्या फल ? बाह्य अन्धकार से बाहर ही अपरिच्छिन्न आत्मा के आवृत होने के कारण बाह्य अन्धकार के विनाश के लिए बाह्यज्योति की ही अन्वेषणा क्यों नहीं करनी चाहिए ? तो इस पर कहते हैं।

यद्यपि हृदयस्थित आत्म–साक्षात्काररूप प्रकाश मोक्ष की सिद्धि के लिए बाह्य तम का न विनाश करता है न उसकी रक्षा ही करता है, तथापि हृदयगत अज्ञानरूप अन्धकार का तो विनाश करता ही है, उसीका विनाश होने पर उत्तम मोक्षरूपा सिद्धि प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि बाह्य अन्धकार की कल्पना के भी हृदयगत अन्धकार से ही जनित होने के कारण उसके हेतुभूत हृदयान्धकार के विनाश से बाह्यान्धकार का विनाश अर्थतः सिद्ध हो जाता है ॥४३॥

बाह्य प्रकाश के द्वारा हुआ बाह्य अन्धकार का विनाश एकमात्र रूप आदि के दर्शन में ही कारण है, बाहर आत्म–दर्शन में कारण नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे मुने, बाह्य अन्धकार के नष्ट हो जाने पर घटादिगत रूप आदि का प्रत्यक्ष होता है और हृदयगत अन्धकार के नष्ट हो जाने पर तो आत्मा का प्रत्यक्ष होता है ॥४४॥ ब्रह्मन्, प्रयत्नपूर्वक प्राणरूपी सूर्य का अवलोकन करना चाहिए, यही हृदयगत अज्ञानान्धकार का विनाश करता है, परितः ज्ञात हुआ उत्तम मुक्ति प्रदान करता है और इसका उदय एवं अस्त भी होता है यानी अज्ञानियों की दृष्टि में इसका अस्त है तथा ज्ञानियों की दृष्टि में उदय है ॥४५॥

रुचि के उत्पादन द्वारा अधिकारियों की प्रवृत्ति कराने के लिए उक्त बाह्य और आन्तर कुम्भकनिष्ठा का वर्णन कर रहे पक्षिराज भुशुण्डजी भूमिका बाँधते हैं।

ब्रह्मन्, जिस हृदय–कमलरूपी कोटर में अपान–वायुरूप चन्द्रमा अस्त हो जाता है, उस हृदय–कमलरूप कोटर से बाह्योन्मुख प्राणरूपी सूर्य का अपने भीतर उदय होता है ॥४६॥ अपान–वायु का अस्त हो जाने पर हृदय–कमल से प्राण का वहाँ उस प्रकार शीघ्र उदय हो जाता है, जिस प्रकार निशारूप छाया का विनाश हो जाने पर वहाँ सूर्य के प्रकाश का ॥४७॥ चारों ओर से सूर्य के प्रकाश के नष्ट हो जाने पर जिस प्रकार उसके पीछे क्षणभर में ही छायारूप अन्धकार का उदय हो जाता है, उसी प्रकार प्राणरूप सूर्य के प्रकाश का अस्त हो जाने पर क्षणभर में ही बाहर से अपान का

उदय हो जाता है ॥४८॥ हे सन्मते, जिस भूमि में प्राण की उत्पत्ति होती है, उस भूमि में अपान का विनाश हो जाता है और जिस भूमि में अपान की उत्पत्ति होती है, उस भूमि में प्राण का विनाश हो जाता है, यह आप निश्चित जानिए ॥४९॥ प्राण–वायु के अस्त हो जाने पर और अपान–वायु के उदयोन्मुख होने पर बाह्य कुम्भक का चिरकाल तक अवलम्बन करने से योगी फिर संसारूपी शोक से ग्रस्त नहीं होता ॥५०॥ अपान–वायु के अस्त होने पर और प्राण–वायु के तनिक उदयोन्मुख होने पर भीतरी कुम्भक का चिरकाल तक अवलम्बन करने से योगी पुनः इस संसाररूपी शोक से ग्रस्त नहीं होता ॥५१॥ ब्रह्मन्, जिस स्थान में अपान–वायु का उदय होता है, उस द्वादश अंगुलपरिमित स्थान से दूर कोटिगत यानी सोलह अंगुलपरिमित भाग में प्रसरणशील प्राण–रेचक का अवलम्बन कर स्वच्छ (निःशेष वायु के रेचन से निर्मल) कुम्भक का अभ्यास करने से पुनः योगी संसाररूप ताप से तप्त नहीं होता ॥५२॥ नासिका–छिद्र से अपान–वायु का भीतर प्रवेश होने पर बाह्य रेचक के आधारभूत, प्राण के पूरण के लिए भीतर प्रविष्ट देहान्तर्गत पूरक की उपासना करने से मनुष्य पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता ॥५३॥ जिस हृदयवर्ती ब्रह्मरूप स्थान में ये प्राण और अपान दोनों विलीन हो जाते हैं, उस शान्त, आत्मस्वरूप ब्रह्मरूप पद का अवलम्बन करने से योगी अनुतप्त नहीं होता ॥५४॥

अब 'अर्कतां संपरित्यज्य न यावच्चन्द्रतां गतः' इससे उत्तरार्ध में 'अदेशकाले न शोच्यते' यह जो कहा गया है, उसका विवरण करते हुए बाह्य कुम्भक में कहे गये देश–काल–बाध का अन्तःकुम्भक में भी अनुकर्ष बतलाते हैं।

अपान–वायु के प्राणभक्षणोन्मुख होने पर बाहर यानी प्राणलय के अधिष्ठानभूत चैतन्य में और भीतर यानी प्राणनिर्गम के अपादानभूत चैतन्य में बाध द्वारा देश, काल और उनमें रहनेवाले समस्त पदार्थ निरवयव चैतन्यात्म ब्रह्मस्वरूप ही हैं, ऐसा विचार करने से मनुष्य फिर शोक का भागी नहीं होता ॥५५॥ प्राण–वायु के अपानभक्षणोन्मुख होने पर बाहर और भीतर पूर्वोक्त चैतन्य में देश, काल एवं तदनन्तर्वर्ती समस्त पदार्थ निष्कल ब्रह्मस्वरूप ही हैं, ऐसी उपासना करने से पुरुष का मन पुनः उत्पन्न नहीं होता ॥५६॥ जिस परब्रह्मरूप चैतन्य में अपान के साथ प्राण का, प्राण के साथ अपान का तथा उन दोनों के साथ बाह्य एवं आन्तर देश–काल का विलय हो जाता है, उसी परब्रह्मरूप पद का आप दर्शन कीजिए ॥५७॥

प्राण और अपान के सन्धिकाल में सभी प्राणियों को उक्त अवस्था रहती है, परन्तु उसका अनुभव केवल योगी लोग ही कर पाते हैं, दूसरे नहीं कर पाते, ऐसा कहते हैं।

जिस समय अपान के आविर्भाव से वर्जित प्राण अस्त हुआ रहता है उस समय किसी प्रकार के यत्न के बिना सिद्ध हुई बाह्य जो कुम्भक अवस्था है उसी को योगी लोग 'तत्पद' कहते हैं ॥५८॥ किसी प्रकार के यत्न के बिना ही सिद्ध हुआ अन्तःस्थ कुम्भक सर्वातिशायी ब्रह्मरूप परम पद है ॥५९॥ यही आत्मा का असली स्वरूप है और यही अशेष मलों से निर्मुक्त सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थों की प्रकाशक परम चिति है, यही तत्–तत् जागतिक पदार्थों का अवभासक प्रकाश है और इसीको प्राप्त कर मनुष्य शोकग्रस्त नहीं होता ॥६०॥

उस प्रकार तत्-तत् भिन्न-भिन्न क्रियाओं के भेद से भिन्न-भिन्न हुए प्राणोपासना के प्रकार को कहकर अब उसकी दृढ़ता के अनन्तर प्राण, अपान आदि के अन्दर रहनेवाले उनके अधिष्ठानभूत चैतन्यात्मा की उपासना करनी चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मन्, जिस प्रकार पुष्प के अन्दर सुगन्धि रहती है, उसी प्रकार प्राण के अन्दर रहनेवाले चिदात्मा की, जो न सजीवस्वरूप है और न निर्जीवस्वरूप है (📖), हम लोग उपासना करते हैं ॥६१॥ जिस प्रकार जल के अन्दर माधुर्य रहता है, उसी प्रकार अपान के अन्दर रहनेवाले चिदात्मा की, जो सजीव और निर्जीव रूप नहीं है, हम लोग उपासना करते हैं ॥६२॥ जो प्राणविलय का और जो अपानविनाश का समीप एवं अन्त में रहकर प्रकाशक है तथा जो प्राण और अपान के अन्दर रहता है, हम लोग उस चिदात्मा की उपासना करते हैं ॥६३॥ ब्रह्मन्, प्राण के प्राणनव्यापार में सबसे बढ़ चढ़कर जो निमित्तभूत है, जीव के जीवनादि व्यापार में जो सबसे बढ़चढ़कर निमित्तभूत है, देह के धारण आदि व्यापार में जो सर्वप्रथम हेतुभूत है, उस चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥६४॥ महाराज, जो मन के मनन आदि व्यापार में हेतुभूत है, जो बुद्धि के बोधनव्यापार में निमित्तभूत है एवं जो अहंकार के अहंकरण के अहंकार व्यापार में निमित्तभूत है उस चिदात्मा की हम लोग उपासना करते हैं ॥६५॥ जिसमें यह समस्त पुरोवर्ती पदार्थ विद्यमान हैं, जिससे समस्त जगत उत्पन्न हुआ है, जो सर्वात्मक है, जो चारों ओर स्थित है और जो सर्वमय है, हम लोग उस चैतन्यात्मक तत्त्व की निरन्तर उपासना करते हैं ॥६६॥ ब्रह्मन्, जो सूर्य आदि समस्त अवभासक पदार्थों का भी अवभासक है, जो समस्त पावन पदार्थों में पावनतम पुण्यरूप है, जो मन, बुद्धि आदि के विकारों से तनिक भी अपने वास्तव स्वभाव से च्युत नहीं होता, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥६७॥

जिसमें अपानवायु अस्त हो जाता है और जिसमें तनिक भी प्राण का अभ्युदय नहीं होता, उस समस्त कल्पना कलंकों से निर्मुक्त चित्तत्त्व की हम लोग उपासना करते हैं {1}

जिसमें अपान का अभ्युदय नहीं होता और प्राण का अंत हो जाता है तथा जिसकी नासिका के अग्रभाग से उपलक्षित बारह अंगुल परिमित गगन सन्धि (प्राणापानप्रवाहसन्धि) है, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥६८॥

अब बाह्य और आन्तर प्रदेशरूप उपाधिभेद का परित्याग कर 'यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' इस श्रुत्यर्थ को मन में लेकर कहते हैं।

जहाँ पर प्राण विलीन हो जाता है, जहाँ अपान भी अस्त हो जाता है और जहाँ प्राण और अपान दोनों उत्पन्न भी नहीं होते, हम लोग उस चित्तत्त्व की उपासना करते हैं ॥६९॥ बाह्य और आभ्यन्तर प्रदेश में स्थित, योगियों द्वारा अनुभूत होनेवाले जो दो प्राण और अपान की उत्पत्ति के स्थान हैं, उन दोनों के अधिष्ठानभूत चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥७०॥ जो प्राण और अपानरूप रथ

(📖) इससे प्राणोपहित आत्मा की या प्राणलयोपलक्षित अपानात्मा की उपासना नहीं करनी चाहिए, यह सूचित किया गया। और 'प्राणस्यान्तरवस्थितम्' यह जो कहा गया है, वह एकमात्र आत्मा के परिचय के लिए ही कहा गया है, न कि उपासना के उपाधिरूप से, यह तात्पर्य है।

के ऊपर आरूढ़ होकर परिच्छिन्न होता हुआ प्राण और अपान की शक्तिस्वरूप हो जाता है एवं अन्यान्य चक्षु आदि करणों में स्थित शक्तियों का भी जो शक्तिस्वरूप है, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥७१॥

प्राण, अपान एवं कुम्भकरूप से तथा उनके विसर्ग रेचक आदि रूप से चित्तत्त्व ही विवर्तित होता है। इसलिए एकमात्र चित्तत्त्व की उपासना करनी चाहिए, यों कहते हैं।

महाराज, जो हृदयगत प्राण की कुम्भकावस्था का स्वरूपभूत है, जो बाहर अपान की कुम्भकावस्था का स्वरूपभूत है और जो पूरकांश से विसृष्ट है, उस प्रकाशमान चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥७२॥ जो प्राण और अपान के चैतन्य में हेतुभूत हैं, जो उनके अस्तित्व का ज्ञान करानेवाले है, जो स्वयं रूपवर्जित है एवं जो प्राणोपासना से प्राप्तव्य है, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥७३॥ ब्रह्मन्, जो प्राण वायु के स्पन्दन में हेतुभूत है, जो इन्द्रियों के होनेवाले विषयप्रदेश-पर्यन्त गमन में तथा उनके उपभोग में हेतुभूत है तथा जो कारणों का भी कारण है, उस चित्तत्त्व की हम उपासना करते हैं ॥७४॥ जो परमार्थ दृष्टि से समस्त कलनारूपी कलंकों से विनिर्मुक्त है, जो आपातदर्शी पुरुषों की दृष्टि से जीवोपाधिभूतप्राण आदि सोलह कलाओं से सदा परिवेष्टित है, जो प्रमात्मक अनुभवरूपी ऐश्वर्य से परिपूर्ण है तथा जो समस्त देवताओं से वन्दित है, उस सर्वश्रेष्ठ परमात्मरूप परमपद की हम उपासना करते हैं ॥७५॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

प्राणोपासना द्वारा इस प्रकार अपने स्वरूपविज्ञान का निरूपण करने के अनन्तर भुशुण्डजी अपनी चिरंजीविता में हेतुओं का निरूपण करते हैं, यह वर्णन।

भुशुण्ड ने कहा : महाराज वसिष्ठजी, मैंने प्राणोपासना द्वारा उक्त रीति से क्रमशः निर्मल हुए आत्मा में यह चित्त विश्रान्ति स्वयं प्राप्त की है ॥१॥ हे महामुने, मैं इस प्राणदृष्टि का अवलम्बन कर दृढ़तापूर्वक अवस्थित रहता हूँ। इसलिए सुमेरु पर्वत के विचलन से भी निमेषांशमात्रकाल के लिए भी विचलित नहीं होता ॥२॥

ब्रह्मन्, बैठते, जागते या सोते तथा स्वप्नानुभव करते किसी भी अवस्था में मेरी आत्मा में यह उत्तम समाधि-विचलित नहीं होती ॥३॥ निरन्तर विनाशशील, अतिचंचल, इष्ट और अनिष्ट स्वरूप इन जागतिक अवस्थाओं में मैं किसी प्रकार के विक्षेप के बिना ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहता हूँ। मेरी वृत्ति सदा अन्तर्मुख रहती है यानी मैं कभी तुच्छ बाह्य विषयों की स्पृहा नहीं करता। एकमात्र अपने स्वरूप से अपनी आत्मा में ही स्वच्छन्दवृत्ति से स्थित रहता हूँ ॥४॥

महाराज, किसी समय किसी कारणवश नक्षत्रचक्र का आधारभूत प्रवहनामक वायु बन्द भी हो जा सकता है, बड़ी-बड़ी महानदियों के जल अपने स्वाभाविक प्रवाह से विरत भी हो जा सकते हैं, परन्तु मुझे अपने इस प्राणचिन्तनरूप उपासना से विरत करा दे, ऐसा कोई भी पदार्थ इस संसार में नहीं है, इसका मुझे निश्चित स्मरण है ॥५॥

हे तपस्वियों में महान, प्राण और अपान के अनुसरण से प्राप्त परम तत्त्व के साक्षात्कार से मैं समस्त शोकों से वर्जित आदिकारण परम पद को प्राप्त हो गया हूँ ।।६।।

ब्रह्मन्, महाप्रलय से लेकर प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश का अनुभव कर रहा मैं धीरबुद्धि होकर आज भी जी रहा हूँ ।।७।।

महाराज, मैं कभी अतीत एवं अनागत विषयों का चिन्तन नहीं करता, एकमात्र नित्य वर्तमानस्वभाव साक्षिचैतन्यस्वरूप दृष्टि का अपने मन से अवलम्बन कर इस कल्पतरु वृक्ष पर अवस्थित रहता हूँ ।।८।। ब्रह्मन्, व्यवहारवश यथा समय जो भी कर्तव्य प्राप्त हो जाते हैं, उनका फल की अभिलाषाओं को छोड़कर निरभिमानबुद्धि से केवल अनुष्ठान करता रहता हूँ ।।९।। हे मुनिवर, इच्छा एवं अनिच्छा से निरन्तर अयुक्त इष्ट–अनिष्ट पदार्थों की चिन्ता का विचार कर यानी वे सर्वथा हेय ही हैं, ऐसा निश्चय कर केवल अपने स्वरूप में ही स्थित रहता हूँ। इसलिए मैं शोकरहित होकर चिरकाल से जी रहा हूँ यानी दीर्घजीवी हूँ ।।१०।। भगवन्, प्राण और अपान के सन्धिस्थान में प्रकाशित हो रहे आत्मतत्त्व का निरन्तर ध्यान करता हुआ मैं अपनी आत्मा में स्वयं ही सन्तुष्ट रहता हूँ। इसलिए शोकरहित होकर चिरकाल से जी रहा हूँ ।।११।। महाराज, मैंने आज यह प्राप्त किया और भविष्य में दूसरा सुन्दर प्राप्त करूँगा, इस प्रकार की मुझे कभी चिन्ता नहीं होती, इसलिए शोकरहित होकर चिरकाल से जी रहा हूँ ।।१२।। हे साधो, किसी समय कहीं पर अपने या दूसरे किसी के कार्यों की न तो कुछ स्तुति करता हूँ और न कुछ निन्दा ही करता हूँ। इसलिए मैंने यह दीर्घ जीवन प्राप्त किया है ।।१३।। महर्षे, मेरा मन इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होने पर न सन्तुष्ट होता है और न तो अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होने पर कभी खिन्न होता है, वह निरन्तर एकरूप ही रहता है, इसलिए मैं इस दीर्घ जीवन को प्राप्त हुआ हूँ ।।१४।। चूँकि समस्त द्वैत के बाध रूप उत्तम त्याग का अवलम्बन कर सर्वदा ही जीवन के अभिमान आदि सभी वस्तुओं का मैंने परित्याग कर दिया है, अतः इस दीर्घ जीवन को प्राप्त हुआ हूँ ।।१५।। हे मुने, मेरे मन की चपलता विलीन हो गई है। वह शोक से रहित हो गया है, स्वस्थ, समाहित एवं शान्त हो चुका है, इसलिये मैं विकारवर्जित होकर जी रहा हूँ ।।१६।। चूँकि मैं लकड़ी, विलासिनी रमणी, पर्वत, तिनका, अग्नि, हिम, आकाश इन सबमें एकरूपता ही देख रहा हूँ, इसलिये विकार वर्जित होकर जी रहा हूँ ।।१७।। आज मैंने क्या प्राप्त किया और कल प्रातः मुझे क्या प्राप्त होगा, इस प्रकार चिन्तारूपी ज्वर से मैं निर्मुक्त हूँ, इसीलिए अनामय होकर मैं जी रहा हूँ ।।१८।। जरा एवं मरण के सदृश कष्टों एवं राज्यप्राप्ति के सदृश सुखों के प्राप्त होने पर न तो मैं डरता हूँ और न प्रसन्न ही होता हूँ। इसलिए मैं अनामय होकर जीवित हूँ ।।१९।। हे ब्रह्मन्, यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा है एवं यह दूसरे का है, इस प्रकार की भिन्नता तो मैं जानता ही नहीं इसलिए अनामय होकर जीवित हूँ ।।२०।। महाराज, नानावस्तु के रूप में प्रकाशित होनेवाले समस्त वस्तुओं के अधिष्ठानभूत, आदि और अन्त से शून्य विकारवर्जित अवभासक आत्म–पदार्थ को तथा भासित होनेवाले इस समस्त प्रपंच को एकमात्र चित्स्वरूप ही मैं जानता हूँ इसी से मैं शोकरहित जीवित हूँ ।।२१।। ग्रहण कर रहा, विहार कर रहा, स्थिति कर रहा, उत्थान कर रहा, श्वास ले रहा तथा निद्रा ले रहा शरीर ही है, आत्मा नहीं, यह मैं जानता हूँ, इसलिये मैं चिरंजीवी हूँ ।।२२।। महाराज, विकारवर्जित अवस्था में स्थित हुआ मैं इस संसार में उत्पन्न घट आदि कार्यविशेषों

को तुच्छ–सा (मिथ्या) ही जानता हूँ, इसलिए विकाररहित होकर जी रहा हूँ ॥२३॥ प्रारब्ध के द्वारा प्रस्तुत किये गये उपभोग–समय में प्राप्त हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थ मेरी दृष्टि में, देहवर्ती हाथों की नाईं, समान ही हैं, इसलिये मैं विकारवर्जित होकर जी रहा हूँ ॥२४॥ अपने स्वरूप से किसी समय च्युत न होनेवाली मानसिक स्थिरतारूपी शक्ति के द्वारा हुई स्निग्ध एवं मुग्ध सुन्दर दृष्टि से यानी सब प्राणियों में आत्मा एक ही है, इस दृष्टि से सब स्थानों में कुटिलता रहितता का ही मैं अनुभव करता हूँ, इसलिए अनामय होकर जी रहा हूँ ॥२५॥ महाराज, मैंने अहंकाररूपी कीचड़ का परित्याग कर दिया है। इसलिए पैर से लेकर मस्तक तक इस देह में मुझे ममता नहीं है, यही कारण है कि मैं सब तरह के विकारों से रहित होकर जी रहा हूँ ॥२६॥ महाराज, मैं जो कुछ व्यापार करता हूँ, जो कुछ खाता–पीता हूँ वह सब कुछ अभिमान का परित्याग करके ही। इसलिए शरीर के कारण तादृश व्यापारयुक्त होने पर भी मेरा मन कर्तृत्व–भोक्तृत्वशून्य स्वभावरूपता का ही स्वीकार करता है। यही कारण है कि मैं अनामय होकर दीर्घजीवी हूँ ॥२७॥ हे मुने, जब–जब मैं कुछ जानता हूँ, तब–तब मेरा मन अविनीतभाव को प्राप्त नहीं होता। इसलिए अनामय होकर जीवित रहता हूँ ॥२८॥ महाराज, यद्यपि मैं दूसरों के ऊपर आक्रमण करने में समर्थ हूँ, तथापि मैं आक्रमण (परिभव) नहीं करता, दूसरों के द्वारा खेद पहुँचाये जाने पर भी सहनशीलता के कारण खिन्न नहीं होता एवं दरिद्र होने पर भी कुछ नहीं चाहता, इसलिए अनामयरूप से दीर्घजीवी हूँ ॥२९॥ चेतनप्राय इस शरीर के भासमान होने पर भी मैं एकमात्र चैतन्यात्मता का ही अवलोकन करता हूँ। इसलिए सब भूतों में चिदात्मता की समता होने के कारण सर्वभूतों के अन्दर स्थित आत्मस्वरूप हो रहा मैं उनको अपने शरीर के सदृश ही देखता हूँ। यही कारण है कि मैं अनामय होकर दीर्घजीवी हूँ ॥३०॥ ब्रह्मन्, निरन्तर समाधियुक्त मैं अनेकविध आशारूपी पाशों से बद्ध हुई चित्तवृत्ति को अपने हृदय के अन्दर तनिक भी स्थान नहीं देता, इसलिए निर्विकार होकर मैं चिरंजीवी हूँ ॥३१॥ ब्रह्मन्, बाह्य पदार्थों के विषय में सुप्त होकर मैं जगत की असत्ता देखता हूँ और अपने भीतर प्रबुद्ध होकर, हाथ में बेल की नाईं, आत्मा की सत्ता देखता रहता हूँ, इसलिए चिरंजीवी हूँ ॥३२॥ महाराज, जीर्ण, विदीर्ण, अवयवों से शिथिल क्षीण, क्षुब्ध, चूर्णित एवं विनष्ट हुए सब अतीत, अनागत और वर्तमान के पदार्थों को, विकारशून्य आत्मदृष्टि के कारण नवीन पदार्थों के सदृश देखता रहता हूँ, इसलिए विकारशून्य दीर्घजीवी हूँ ॥३३॥ महाराज, सुखी पुरुष को देखकर मैं सुखी होता हूँ, दुःखी जन को देखकर दुःखी होता हूँ, सभी के लिए मैं प्रिय मित्र हूँ, इसलिए विकारवर्जित चिरंजीवी हूँ ॥३४॥ मैं आपत्ति–काल में पर्वत की नाईं धीर रहता हूँ, सम्पत्ति–काल में समस्त जगत के प्रति मैत्री रखता हूँ, सम्पत्ति की वृद्धि या विनाश–दशा में तनिक भी अभिमान नहीं करता। इसलिए मैं चिरंजीवी हूँ ॥३५॥ न मैं हूँ, न मेरे लिए कोई दूसरा है और न मैं किसी दूसरे के लिए हूँ, इस प्रकार की भावना से मेरा चित्त भावित है, अतएव मैं अनामय होकर चिरंजीवी हूँ ॥३६॥ मैं ही जगत हूँ, मैं ही आकाश हूँ, मैं ही देश और काल की परम्परा हूँ, मैं ही क्रियारूप हूँ, इस प्रकार की मेरी बुद्धि है। इसलिए मैं अनामय होकर चिरंजीवी हूँ ॥३७॥

क्या सर्वत्र स्थल में विद्यमान जड़ता को लेकर ही तुम अहंबुद्धि करते हो ? नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।

घट चित्स्वरूप है, पट चित्स्वरूप है, आकाश चित्स्वरूप है, अरण्य और शकट भी चित्स्वरूप हैं,

चित् ही सब कुछ है, इस प्रकार मेरी भावना है, इसलिए अनामय होकर चिरंजीवी हूँ ।।३८।।

उपसंहार करते हैं।

हे मुनिशार्दुल, मेरुरूपी पद्मबीज के कोष में (कमल के छत्ते में) रहने तथा श्यामरूप होने के कारण मैं त्रिलोकीरूपी कमल का मानों एक तरह से भ्रमर हूँ और पूर्वोक्त विभिन्न-विभिन्न भावनाओं के कारण लोगों के द्वारा भुशुण्ड नाम का चिरंजीवी द्रोण कौआ व्यवहृत हुआ हूँ ।।३९।। हे ब्रह्मन्, ब्रह्मरूपी समुद्र में चलायमान, उत्पत्ति, वृद्धि, विपरिणाम और अपक्षयरूप अभिभावों से (एक दूसरे की टक्करों से) प्राप्त हुए चित्र-विचित्र रूपों से युक्त पूर्वोक्त रीति से बार-बार आविर्भूत एवं विलीन हुए तथा साक्षी द्वारा भासमान बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों के विषयीभूत भ्रमणशील त्रिजगत्‌रूपी तरंगों को व्युत्थानकाल में देखता हुआ और समाधि-काल में लय करता हुआ मैं चिरकाल स्थित हूँ ।।४०।।

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

जाने की इच्छा कर रहे वसिष्ठजी द्वारा भुशुण्ड की प्रशंसा,
भुशुण्ड द्वारा वसिष्ठजी का पूजन तथा आकाशमार्ग से वसिष्ठजी की स्वलोकप्राप्ति इनका वर्णन।

भुशुण्ड ने कहा : हे ज्ञान के पारंगत ब्रह्मन्, एकमात्र आपकी आज्ञा का परिपालन करने के लिए ही धृष्टता का अवलम्बन कर जिस प्रकार से मैं चिरंजीवी हूँ और जिस प्रकार से परमार्थरूप इस कार्यकारणसंघातरूप देह में मेरी स्थिति है, वह सब कुछ मैंने आपसे कह दिया ।।१।। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज, कितने हर्ष का विषय है कि आपने अपने प्राण-चिन्तन एवं चिरजीवन की कहानी, मुझसे कही जो सुनने योग्य कहानियों में भूषणस्वरूप तथा अनेकविध विस्मयों के उत्पादन में परम कारणभूत है ।।२।। पक्षिराज, वे महात्मा धन्य हैं, जो दूसरे ब्रह्मदेव के समान स्थित अत्यन्त दीर्घजीवी आपके दर्शन करते हैं ।।३।। हे पक्षिराज, ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं जो तब से लेकर अब तक आपके दर्शन करते रहे। आपने बुद्धि को पवित्र करनेवाला अखण्डित (अक्षरशः अपना सम्पूर्ण जीवनवृत्तान्त) ज्यों का त्यों ठीक ठीक कहा ।।४।। वायसराज, मैंने सब दिशाओं में परिभ्रमण किया और देवताओं एवं बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं की ज्ञान आदि सम्पत्तियाँ देखी, परन्तु इस जगत में आपके सदृश दूसरे किसी महान ज्ञानी को नहीं देखा ।।५।। वायसराज, प्रयत्न से दीर्घकाल तक परिभ्रमण कर कोई किसी महाव्यक्ति को किसी तरह प्राप्त कर सकता है, परन्तु आपके सदृश भव्यात्मा ज्ञानी इस जगत में कहीं पर भी सुलभ नहीं हो सकता ।।६।। जिस प्रकार एक बाँस के वन में कहीं-कहीं ही मोती उत्पन्न होता है, वैसे ही आपके सदृश ज्ञानी जगत के किसी एक कोने में ही दिखालाई देता है। (मोतियों की आठ खानों में बाँस का भी परिगणन है) ।।७।। भुशुण्डजी, पुण्य-देह एवं विमुक्तात्मा आपका जो यह अवलोकन किया, उससे मैंने तो आज अत्यन्त कल्याणकर एक बहुत-बड़ा कार्य सम्पादन कर लिया है ।।८।। पक्षिराज, तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपनी शुभ गुहा में प्रवेश करो, अब मंध्याह्न-कर्तव्य के लिए मेरा समय हो गया है, अतः मैं भी अपने घर सप्तर्षि लोक में जा रहा हूँ ।।९।। यह सुनकर इस भुशुण्ड ने वृक्ष से उठकर संकल्पजनित हाथों से प्राप्त सुवर्णपल्लव का

(सुवर्णपल्लवमय पात्रका) ग्रहण किया ॥१०॥ तदनन्तर पूर्णप्रज्ञ उस वायसराज ने कल्पवृक्ष की लता के पुष्प केसरों से युक्त हिम के सदृश कान्तिवाले अर्घोपयोगी मोतीरूपी जल से उस पात्र को भर दिया ॥११॥ श्रीरामजी, उक्त अर्घ्य, पाद्य और पुष्प से संसार में सबसे पहले उत्पन्न हुए यानी चिरन्तन इस भुशुण्ड ने तीन नेत्रवाले महादेवजी के सदृश मेरी पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की ॥१२॥ तदनन्तर हे खगेन्द्र, आप मेरे पीछे चलने के लिए अधिक श्रम न करें। इस प्रकार कहता हुआ मैं आसन से उठकर पक्षी की नाईं उड़ गया ॥१३॥ हे श्रीरामजी, मेरे पीछे-पीछे अनुगमन द्वारा आकाश में वह पक्षिराज एक योजन तक चलता रहा। इसके बाद मैंने अपने हाथ से उसका हाथ पकड़कर बलपूर्वक उसे रोक दिया ॥१४॥ क्षणभर में ही मैं आकाशमार्ग में जब अदृश्य हो गया, तभी वह पक्षिराज अपने स्थान के लिए लौटा। ठीक ही है, सज्जनों की संगति का बड़ी कठिनाई से त्याग होता है ॥१५॥ हे श्रीरामजी, आकाशमार्ग में कुछ दूर जाकर, समुद्र में तरंग की नाईं, हम दोनों ही एक दूसरे के प्रति कहीं अदृश्य हो गये। भुशुण्ड का निरन्तर स्मरण करते हुए अरुन्धती से पूजित मैंने भी सप्तर्षि-मण्डल को प्राप्त कर मुनियों का दर्शन किया ॥१६॥

उक्त भुशुण्ड-संगति का समय कहते हैं।

श्रीरामजी, सत्ययुग के प्रथम दो शतक जब व्यतीत हो चुके थे, तब मेरुपर्वत के तथाकथित कल्पवृक्ष पर भुशुण्ड के साथ मैंने पहले-पहल भेंट की थी ॥१७॥ हे श्रीरामजी, आजकल वर्तमान समय में सत्ययुग क्षीण होने पर त्रेतायुग चल रहा है और हे रिपुमर्दन, इस त्रेतायुग के बीच में आपने जन्म लिया है ॥१८॥ हे श्रीरामजी, आज से आठ वर्ष पहले सुमेरुपर्वत के उसी शिखर के ऊपर ज्यों-का-त्यों अजररूपधारी वह भुशुण्ड मुझसे फिर मिला था ॥१९॥

उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामजी, इस प्रकार का विचित्र उत्तम भुशुण्ड-वृत्तान्त मैंने आपसे कहा। उसका श्रवण और भीतर से मनन कर जो उचित हो, उसका अनुष्ठान कीजिए ॥२०॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : इस प्रकार की बुद्धिमान भुशुण्ड की उत्तम कथा का जो विशुद्धमति महात्मा भली प्रकार विचार करेगा, वह इसी शरीर में जन्मादि भयों से मलिन अतएव व्याकुल जीवों के द्वारा व्याप्त हुई इस माया-नदी को बलात् पार कर जायेगा ॥२१॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

भुशुण्डाख्यायिका का सम्बन्ध, देह की अनिश्चितता तथा देहादि में आपाततः भ्रान्तिरूपता का वर्णन।

वर्णित भुशुण्डाख्यायिका का उपक्रान्त उपदेश के साथ सम्बन्ध बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामजी, इस प्रकार का भुशुण्डवृत्तान्त मैंने आपसे कहा। आख्यायिका में वर्णित इसी तात्त्विक बुद्धि के कारण मोहसंकट से भुशुण्ड तैर गया था ॥१॥ हे महाबाहो, अपने प्राण के निरोध या उपासनापूर्वक इस दृष्टि का अवलम्बन कर आप भुशुण्ड की नाईं

विपुल महासागर से तैर जाइए ॥२॥ श्रीरामजी, निरन्तर प्राणोपासना से जनित ज्ञानात्मक योग से जिस प्रकार भुशुण्ड ने प्राप्तव्य ब्रह्म–पद प्राप्त किया, उसी प्रकार आप भी उस पद को प्राप्त कर लीजिए॥३॥ उक्त प्राण और अपान की उपासना करनेवाले सभी अनासक्त, भुशुण्ड की नाईं, परमपद में स्थिति प्राप्त करते हैं ॥४॥ हे श्रीरामजी, इस सब विचित्र विज्ञानोपासनाओं का आपने श्रवण किया। अब बुद्धि का अवलम्बन कर जैसा चाहें, वैसा करें यानी अपनी आत्मनिष्ठा योगपूर्वक या उपासनापूर्वक जैसी चाहें वैसी करें ॥५॥

योग और उपासना की कथा जाने दीजिए महाराज, हमें तो एकमात्र आपके उपदेश के श्रवण से ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हो चुका है, यों सूचन कर रहे श्रीरामचन्द्रजी कथा प्रसंग से प्राप्त हुए देहरूपी घर के केवल स्वरूप की ही जिज्ञासा से पुनः प्रश्न करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, पृथिवी में अवतीर्ण हुए दूसरे सूर्य के सदृश आपने ज्ञान की किरणों से हृदयगत समस्त अन्धकार का, जो अनात्मपदार्थों में स्वात्मबुद्धि तथा तज्जनित दुष्टचेष्टारूपी निरंकुश दुर्जनता का सम्पादक था, विनाश कर डाला ॥६॥ महाराज आपके ही सदृश दूसरे हम लोग भी प्रबुद्ध हो गये, प्रसन्न हो गये, प्राप्तव्य अपने आत्मपद में प्रविष्ट हो गये और ज्ञातज्ञातव्य होकर स्थित हो गये ॥७॥ भगवन्, उत्तम अर्थ का अवबोधक तथा आश्चर्यजनक सर्वश्रेष्ठ भुशुण्ड का चरित्र जो आपने कहा, उससे अहा ! मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ ॥८॥ हे ब्रह्मन्, आपके द्वारा कहे गये इस भुशुण्ड–चरित्र में मांस, चर्म और अस्थि से निर्मित शरीररूपी घर का जो उल्लेख किया गया है, उसकी किसने रचना की, कहाँ से वह उत्पन्न हुआ, किस तरह से स्थित हुआ और उसमें कौन रहता है ? *(शरीर का कर्ता, हेतु, उसकी स्थिति का प्रकार और उसमें रहनेवाला स्वामी – इन चारों के विषय में यहाँ प्रश्न किये गये हैं।)* ॥९,१०॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, परब्रह्मरूप परमार्थ तत्त्व को जानने के लिए तथा संसार हेतु अनेक दोषों के विनाश के लिए मेरे द्वारा तत्त्वतः कहे जानेवाले इस उपदेश को आप सुनिए ॥११॥

पहले प्रश्न का उत्तर देते हैं।

हे श्रीरामजी, इस शरीररूपी घर का जिसमें हड्डियाँ ही खम्भे हैं, मुख आदि नव दरवाजे हैं और जो रक्त और मांस से लिपा गया है – वास्तव में किसीने भी निर्माण नहीं किया है ॥१२॥

श्रुति और पुराण की आख्यायिकाओं में यह प्रसिद्ध है कि इस देह का निर्माण करनेवाला ईश्वर है और जीव तो अपने कर्मों के उपभोग के लिए इसका निर्माण करानेवाला है, फिर इन दोनों का अपलाप आप कैसे करते हैं ? यदि ऐसी कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं।

हे राघव, यह शरीर केवल आभासरूप (झलकमात्र) ही है, बिना निर्माता के ही अवभासित होता है, द्विचन्द्रविभ्रम के सदृश इसका स्वरूप मिथ्या है तथा प्रतीतिकाल में सद्रूप से और परमार्थदशा में असद्रूप से स्थित रहता है *(जैसे जल में गिरा चन्द्रप्रतिबिम्ब एवं चक्षु पर अंगुलि रखने से हुआ द्वितीय चन्द्रमा का विभ्रम निर्माता की अपेक्षा नहीं रखता, वैसे ही आभासमात्र यह शरीर भी निर्माता की अपेक्षा नहीं रखता। श्रुति में प्रसिद्ध जो ईश्वरनिर्मातृत्व है, वह पुरुष निःश्वास दृष्टान्त देखने से मुख्य प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार जीव का निर्माणकारित्व भी मुख्य नहीं है, क्योंकि वैसा निर्माण कराने में न कोई*

बुद्धि का उपयोग है और न कोई अनिष्ट का निर्माण ही कराता है।) ॥१३॥

देह में मिथ्यात्व तो प्रतीतिकालमात्रस्थायी होने के कारण चन्द्रद्वैतता की नाईं ही प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं।

जैसे चन्द्रमा की द्वैतता दो चन्द्रों के दर्शन की क्रिया के होने पर ही यानी चक्षु को अंगुलि से दबाने पर ही प्रतीत होती है, वास्तव में तो चन्द्रमा सदा एक ही है, वैसे ही आत्मा के देहवैशिष्ट्य–ज्ञानक्रिया के होने पर ही देह प्रतीत होती है, वस्तुतः आत्मा निरन्तर एक ही है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रतीयमान चन्द्रद्वैतता जैसे विभ्रममात्र है, वैसे ही प्रतीयमान यह देह भी विभ्रममात्र ही है ॥१४॥

उक्त अर्थ का ही स्पष्टीक़रण करते हैं।

यद्यपि वास्तव में देह असत् ही है, तथापि 'यह देह है', इस प्रकार देह प्रतीति के काल में अधिष्ठान–सत्ता को लेकर ही यह शरीर सत्–सा स्थित रहता है, इसलिये यह सदसदात्मक कहा गया है ॥१५॥

असत् में सत्त्व का भ्रम कहाँ देखा गया है, इस शंका पर कहते हैं।

स्वप्न–दशा में ही प्रतीयमान स्वाप्निक पदार्थ सत्–से प्रतीत होते हैं और दूसरे समय में स्वाप्निक पदार्थ मिथ्या ही हैं। बुद्बुदों के साक्षात्कार के समय बुद्बुदे सत्य–से प्रतीत होते हैं, पर दूसरे समय में तो वे मिथ्या ही हैं ॥१६॥ देह की प्रतीति होने पर देह सत्य–सी है और आत्मा की प्रतीति होने पर असत्य है। मृगतृष्णिका–जल भी मृगतृष्णा का प्रतिभास होने पर सत्–सा रहता है और अन्यकाल में असत् ही रहता है ॥१७॥ (उपर्युक्त विविध दृष्टान्तों से यह निश्चित हुआ कि) देह की प्रतीति होने पर ही देह सत्य–सी प्रतीत होती है, अन्य समय में असत् ही है, इसलिए यह शरीर आदि, जो केवल आभासरूप ही है, अज्ञानदशा में ही भासते हैं ॥१८॥

शरीर आदि में आभासमात्रत्व का उपपादन कर रहे महाराज वसिष्ठजी उसमें अभिमान का परित्याग कराते हैं।

हे श्रीरामजी, 'यह शरीर ही मैं हूँ' यह जो अनुभव होता है, वह पूर्व में गृहीत देहाकार मनन ही है यानी देहाकार मनन ही संस्कारों की दृढ़ता से बार–बार देह के आकार में स्थित रहता है; इसलिए मांस और अस्थि के विकारों से बना शरीर ही 'मैं हूँ' इस अभिमान कां आप परित्याग कर दीजिए। भद्र, मिथ्यासंकल्प से जनित ये हजारों की संख्या में देह विद्यमान हैं ॥१९॥

संकल्पजनित देहों की ही उदाहरणपूर्वक असत्यता बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, भला यह आप बतलाइए कि सुखशय्या पर सोये हुए आप जिस स्वप्न–देह से विविध दिशामण्डल में परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह किस स्थान में स्थित है ? ॥२०॥ जाग्रत–दशा में भी मनोराज्य में जिस देह से स्वर्गीय नगरों के अन्दर या मेरुपर्वत पर आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥२१॥ हे श्रीरामजी, स्वप्नों में भी जो दूसरा स्वप्न आता है, उस स्वप्न में जिस देह से बड़े–बड़े पृथिवी–तटों पर आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥२२॥ हे महाबाहो, मनोराज्य के भीतर कल्पित दूसरे मनोराज्य में बड़ी–बड़ी विभवपूर्णभूमियों में जिस देह से आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥२३॥ हे महाबाहो, कल्पनाविनाश के अनन्तर विनष्ट हो जानेवाली जिन देहों से मनोराज्य में चित्र–विचित्र

जागतिक व्यापारों का अनुष्ठान करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित रहती हैं ? ॥२४॥ हे श्रीरामजी, विलासनिपुण तथा अनुराग युक्त संकल्प कान्ता के साथ जिस देह से रति–सुख का अनुभव करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥२५॥

उन स्वप्न–देह आदि में मिथ्यात्व एवं कल्पितत्व आदि का निश्चय होने के कारण प्रस्तुत देह में भी उसका साधन करते हैं।

हे श्रीरामजी, ये शरीर जिस प्रकार मानसिक संकल्प से जनित सत् और असत्‌रूप हैं, ठीक उसी प्रकार यह प्रस्तुत शरीर भी मानसिक संकल्प से जनित, सद्रूप, असद्रूप है और वैसा ही आचरण करनेवाला है ॥२६॥

अहन्ताध्यास के विषय शरीर में दिखलाया गया न्याय ममता–अध्यास के विषय धन आदि में भी समान ही है, इस आशय से कहते हैं।

यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है, इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, वह भी विभ्रमात्मक ही है, क्योंकि धन आदि सभी कुछ चित्तजनित संकल्प का ही विलास है ॥२७॥

जाग्रत देहादि में स्वप्न देहादि से जो पार्थक्य प्रतीत होता है, वह एकमात्र दीर्घकालानुवृत्ति से ही होता है, न कि सत्यत्व, संकल्पजनितत्व आदि से, इस आशय से कहते हैं।

हे रघुनन्दन, आप इस संसार को एक तरह का दीर्घ स्वप्न, दीर्घ चित्तविभ्रम या दीर्घ मनोराज्य ही समझिए ॥२८॥

इसीलिए आत्मतत्त्व–साक्षात्कार से इस संसार की बाध्यरूपता भी उपपन्न हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, निजी परमात्मा की इच्छा से जब आप तत्त्वज्ञान को प्राप्त होंगे, तब आप इस संसार को इस तरह आत्ममात्ररूप देखेंगे। जिस तरह सूर्योदय होने पर प्रबुद्ध हुआ पुरुष स्वाप्निक पदार्थों को आत्मरूप देखता है ॥२९॥ हे श्रीरामजी, स्वप्न और संकल्पों से (मनोराज्यों से) जैसे एक विलक्षण ही जगत की स्थिति प्रतीत होती है, वैसे ही यह व्यावहारिक जगत की स्थिति भी एक प्रकार से संकल्पजनित एवं विलक्षण (अनिर्वचनीय) ही है ॥३०॥

कथित अर्थ के विषय में पहले उत्पत्ति–प्रकरण में विस्तार से जो कहा गया था, उसका स्मरण कराते हैं।

जैसे मैंने पहले कमलोद्भव ब्रह्मदेव की उत्पत्ति मन से कही है, वैसे ही यह जगत की उत्पत्ति भी स्वयं मन के भीतरी संकल्पकलन से ही हुई है ॥३१॥ जैसे चित्र–विचित्र रचनाओं से युक्त तथा अनेक प्रकार के विभ्रमों से ग्रस्त मन ही ब्रह्मा की उत्पत्ति में कारण है, वैसे ही यह जगत् अवभास में भी एकमात्र संकल्पकलनरूप मन ही कारण है ॥३२॥

ऐन्दव के उपाख्यान में जो कहा जा चुका है, उसका भी स्मरण करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, ब्रह्माजी के मन से संकल्पित चिदाभास जिस प्रकार ब्रह्माजी की स्वरूपता को प्राप्त हुआ है, उसी प्रकार पूर्व देह के उत्क्रमण के समय में संकल्पित जो शरीर होता है, उसी के सदृश दूसरा शरीर आगे के लिए स्थित रहता है ॥३३॥ सुदृढ़ वासना द्वारा पहले के शरीर प्रवाह में दीर्घकालतक

अभ्यस्त जिन–जिन अवयवों से सम्पन्न जैसी देह रहती है, उन्हीं अवयव–संस्थानों से सम्पन्न उसी प्रकार की देह पुनः दिखलाई पड़ती है ॥३४॥ हे श्रीरामजी, पुरुष के उत्तम प्रयत्न से मन को अन्तर्मुख बनाकर आत्मतत्त्व का जब साक्षात्कार हो जाता है, तब यह जगदाकार संकल्प चिद्रूप ही हो जाता है और यदि उसकी विपरीतरूप से भावना की जाय, तो विपरीत ही हो जाता है ॥३५॥ हे श्रीरामजी, 'यह वह है', 'यह मेरा है' और 'यह मेरा संसार है' इस प्रकार भावित होनेपर देहादि जगद्रूप संकल्प जो सत्य–सा प्रतीत होता है, वह केवल सुदृढ़ भावना से ही होता है ॥३६॥ हे श्रीरामजी, अत्यन्त प्रिय कान्ता की नाईं तीव्र वेग से जिसकी जिस रूप से भावना की जाती है, तत्काल ही वह तद्रूप सर्वत्र दिखलाई पड़ता है ॥३७॥ हे श्रीरामजी, जिस प्रकार दिन में अभ्यस्त व्यापार ही स्वप्न में दिखलाई पड़ते हैं, वैसे ही संसार भी भावना से अभ्यस्त ही दिखलाई देता है ॥३८॥ शीघ्रविनाशी जो क्षण आदि काल है, वह जैसे स्वप्न भूमि में तीस घड़ी के दिन के रूप में दीर्घ प्रतीत होता है, वैसे ही यह संसार स्वल्पकालस्थायी होने पर भी स्थिर (शाश्वत) लक्षित होता है ॥३९॥ जैसे सूर्यताप से सन्तप्त मरुभूमि के आकाश में मृगतृष्णा नदी दिखाई देती है, वैसे ही यह अविद्यमान भी पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं त्रिलोकी सभी संकल्पों से दिखाई देते हैं ॥४०॥ श्रीरामजी, दृष्टि में विषमता से आकाश में जिस प्रकार मोर पंखों का एक मुट्ठा–सा दिखाई देता है, वैसे ही भ्रम से यह जगत की शोभा प्रतीत होती है ॥४१॥ भद्र, विशुद्ध दृष्टि से जैसे आकाश में उक्त मोरपंखों का मुट्ठा दिखलाई नहीं पड़ता, वैसे ही आत्मतत्त्व–साक्षात्काररूप विशुद्ध दृष्टि से यह जगत की शोभा दिखलाई नहीं पड़ती ॥४२॥ हे श्रीरामजी, जिस प्रकार डरपोक होने पर भी पुरुष अपने मनोराज्य में कल्पित हाथी, बाघ आदि के रहते भय को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही तत्त्वज्ञ पुरुष अपने मानसिक संकल्पों से जनित इस संसार के रहते भय को प्राप्त नहीं होता ॥४३॥ चूँकि, बहिर्मुख दशा में यह अपनी आत्मा ही इस प्रकार जगद्रूप में भासती है, इसलिए कौन विद्वान इस संसाररूपी मार्ग की स्थिति में किससे क्योंकर डरेगा ? ॥४४॥ हे श्रीरामजी, उसीकी कुछ शुद्धि करनी चाहिए, जो कि भयभीत होता है। शुद्धि से विमल हुए अद्वय आत्मा में यह मोह, जो जगत के लिए स्थित है, दिखलाई नहीं पड़ता ॥४५॥

किस उपाय से आत्मा शुद्ध होता है, इस प्रश्न पर शुद्धि का उपाय बतलाते हैं।

भद्र, सम्यक् तत्त्वज्ञानरूपी एकमात्र प्रकाश से ही आत्मा शुद्ध हो जाती है, इस प्रकार शुद्ध हुई आत्मा फिर मोह आदि मल का उस प्रकार ग्रहण नहीं करती, जिस प्रकार भ्रान्ति के कारण ताम्ररूप से गृहीत हुआ सुवर्ण अग्नि से विशुद्ध होने पर पुनः ताम्ररूपता का ग्रहण नहीं करता ॥४६॥

दर्शनमात्र से आत्मा की शुद्धि कैसे होती है ? इस शंका पर दृश्यरूप मल एकमात्र आभासरूप ही है, इससे ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये तीनों जगत एकमात्र आभासस्वरूप ही हैं। वे न तो सद्रूप हैं और न असद्रूप ही हैं, इसलिए तत्त्वज्ञान ही आत्मा से अतिरिक्त कल्पित पदार्थों की निवृत्ति है ॥४७॥

तब सम्यक् ज्ञान कैसा है, उसे कहते हैं।

मरण, जीवन, स्वर्ग, ज्ञान और अज्ञान कुछ भी चैतन्य पदार्थ को छोड़कर दूसरा पदार्थ नहीं है, इसलिए चिन्मात्र–परिशेष ही तत्त्वज्ञान है ॥४८॥ त्वम् (अपने से भिन्न दूसरा चेतन), अहम् (अपनी

देह के सदृश परिच्छिन्न चेतन) आदि स्वरूप संसार और उनकी आधारभूत दसों दिशाएँ ये सब दृश्य मुझसे पृथक दूसरे नहीं हैं, किन्तु स्वप्रकाश आत्मस्वरूपभूत ही हैं और दूसरा तो एकमात्र आभास ही है, इस प्रकार का जो ज्ञान है, उसे विद्वान लोग सम्यक्ज्ञान कहते हैं ॥४९॥

सम्यक्ज्ञान का फल कहते हैं।

सत् और असद्रूप संसार में यानी ब्रह्म और माया दोनों से जनित विषयकलापों में यथाभूत आत्मतत्त्वदर्शनरूप सम्यक्ज्ञान से मन न उदित होता है और न अस्त ही होता है ॥५०॥ सम्यक् तत्त्वज्ञान के कारण घटादि समस्त पदार्थों की सत्ता और असत्ता का निर्णय करने के अनन्तर विषय–कामना से शून्य हुआ मन तत्त्वज्ञान के प्रभाव से शान्त हो जाता है ॥५१॥ सम्यक्ज्ञान के प्रभाव से मन सत्य और शीतल हो जाता है। वह न तो किसी की निन्दा करता है और न किसी की स्तुति। वह न प्रसन्न होता है और न शोक ही करता है ॥५२॥

अपनी मुक्ति होने पर भी बन्धुजनों के बन्धन की निवृत्ति न होने के कारण उनके मरण आदि के अवलोकन से जनित सन्ताप की निवृत्ति तो हो नहीं सकती, इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, चूँकि सभी बन्धुजनों को तो अवश्य ही मरना है, इसलिए उन बन्धुजनों का वियोग होने पर आप निरर्थक क्यों सन्तप्त होते हैं ? ॥५३॥

अज्ञानदशा में अपने मरण की आशंका से होनेवाला सन्ताप भी इसी उपाय से निवृत्त हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

हमें भी अवश्य ही मरना है, यह अटल निश्चय है, इसलिए अपने मरण का समय उपस्थित होने पर क्यों व्यर्थ खिन्न होते हैं ? ॥५४॥ उत्पन्न हुआ पुरुष कुछ न कुछ उत्तम वैभव आदि अवश्य ही प्राप्त करेगा, इसलिए हर्ष का अवसर ही क्यों ? ॥५५॥ इस संसार में व्यवहार कर रहे सभी मनुष्यों को दरिद्रता आदि आपदाएँ आनुषंगिकरूप से प्राप्त हुआ ही करती हैं, फिर शोक का अवसर क्या ? ॥५६॥ यह जगत–समूह वैसे ही उत्पन्न होता है, बढ़ता है और विकसित होता है, जैसे समुद्र में बुद्बुदों का समूह; फिर इस विषय में शोक ही क्या ? ॥५७॥ जो त्रिकालाबाधित सत्यरूप वस्तु है, वह सदा ही सत्यस्वरूप है और जो असत्यरूप वस्तु है, वह सदा ही असत्स्वरूप है, वह कभी भी सद्रूपता को प्राप्त नहीं होती, इसलिए मायारूप विकृति के वैचित्र्य से प्रतीयमान इस प्रपंच में ऐसी दूसरी कोन वस्तु है, जिसके विषय में शोक किया जाय ? ॥५८॥ मैं न वर्तमान में हूँ, न वह मैं भूतकाल में था और न भविष्य में रहूँगा ही। यह शरीर केवल काम, कर्म, वासना एवं अविद्यारूपी दोष से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, इसलिए किस दूसरे के विषय में शोक किया जाय ? ॥५९॥ हे भद्र, यदि 'अहम्' पदार्थ शरीर से पृथक ही है, यह मान लिया जाय, तो वह अविद्या–दोष से जनित चिदाभास ही है। वे देह और चिदाभास, जो सदसदात्मक हैं, मेरे कौन होते हैं, जिनके विषय में शोक किया जाय ? ॥६०॥ हे प्रिय श्रीरामजी, सम्यक्ज्ञान से युक्त मुनि का पूर्वोक्त प्रकार के निश्चयवाला अन्तःकरण न कभी अस्त होता है, न उदित होता है और न अन्त में दुःखित ही होता है ॥६१॥ श्रीरामजी, जिस प्रकार तित्तिरी घोंसला बनाने के लिए तिनकों के निम्नभाग के मोटे अंशों को छोड़कर ऊपर के कोमल भागों का ही ग्रहण करती है, उसी प्रकार सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मपद में स्थित हुआ तत्त्वज्ञानी द्वैतबाध से परिशिष्ट ब्रह्मरूपता का

ही अवलम्बन करता है, प्रतीतिकालीन जड़–स्वरूपता का नहीं ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, संसार की जड़ता का परित्याग करने के लिए असत्यभूत इस संसार में तनिक भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि आसक्ति से ही, दृढ़ रज्जु से बैल की नाईं, प्राणी बद्ध हो जाता है ॥६३॥ हे अनघ, इसलिए 'यह सब ब्रह्मरूप ही है' इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियों से सुदृढ़ निश्चय कर आप आसक्ति–शून्य बुद्धि से इस संसार में विहार कीजिए ॥६४॥

तब क्या आसक्ति का परित्याग कर यथेष्ट विहार करना चाहिए, इस शंका पर नहीं ऐसा उत्तर देते हैं।

भद्र, विवेक–बुद्धि से आसक्ति और अनासक्ति का परित्याग कर अनायास से शास्त्रविहित कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए, शास्त्र–अविहित कर्मों का नहीं अर्थात् उनकी उपेक्षा ही कर देना चाहिए ॥६५॥ यह दृश्यमान प्रपंच केवल आभासमात्र (झलकमात्र) ही है, इस प्रकार जिस महामति को भलीभाँति अवगत हो जाता है, वह अपने भीतर उस प्रकार शीतल हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य प्रकाश के शान्त हो जाने पर भूमण्डल शीतल हो जाता है ॥६६॥

सर्वानुगत सन्मात्र के दर्शन में उपाय बतलाते हैं।

हे पापशून्य श्रीरामजी, विशेषाकारता का परित्याग कर पाँच भूतों के समूहात्मक घट, पट आदि पदार्थों में सामान्यतः आभासमात्रस्वरूपता का (सन्मात्रस्वरूपता का) ही आप अवलोकन (ध्यान) कीजिए ॥६७॥

हे श्रीरामजी, सन्मात्ररूप आभास भी चित्त की विशेष कल्पना के कारण कलंकित ही रहता है, इसलिए उसका (सन्मात्रस्वरूप आभास का) भी परित्याग कर यानी स्व–स्वरूप–भिन्न बुद्धि से छोड़कर निराभास से युक्त (ध्याता, ध्यान और ध्येय इस त्रिपुटी से शून्य) हो जाइए ॥६८॥ भद्र, जब आप आभासमात्ररूपता का परित्याग कर देंगे, तब चैतन्याकाशरूप, अविनाशी, परिपूर्ण, अशेष विकारों से वर्जित तथा नितान्त निर्मलस्वरूप हो जायेंगे ॥६९॥

निराभासता की (त्रिपुटीशून्यस्वरूपता की) सिद्धि में हेतुभूत दो प्रकार की उपासना कहते हैं।

श्रीरामजी, न मैं सत्य हूँ और न तो मेरे भोग–विषय ही सत्य हैं, इस प्रकार अच्छी तरह भावना (चिन्तन) करने पर यह निरर्थक जगत–रूपी आडम्बर अनर्थ के लिए प्रतीत नहीं होता ॥७०॥ भद्र, अथवा 'मैं और यह सब प्रपंच चैतन्यात्मक परब्रह्मस्वरूप ही है' इस प्रकार चिन्तन करने पर यह निरर्थक जगद्रूप आडम्बर अनर्थ के लिए प्रतीत नहीं होता ॥७१॥ हे श्रीरामजी, ये दोनों भी दर्शन सत्यरूप और आत्यन्तिक–सिद्धि (मुक्तिरूप सिद्धि) देनेवाले हैं, इसलिये इन दोनों में से आप जिस एक को अपने लिए रम्य (योग्य) समझें, उसका अनुष्ठान करें ॥७२॥

इनका ऐच्छिक समुच्चय करने पर भी परस्पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि फलतः दोनों एकरूप ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे कल्याणरूप पापरहित राघव, अथवा इन्हीं दो भावनाओं का आश्रय कर इस संसार में विहार करते हुए आप राग, द्वेष आदि का विनाश कर डालिए *(जिस पुरुष में राग आदि दोषों का विनाश हो गया है, उसी पुरुष में उक्त दोनों चिन्तन सफल होते हैं, दूसरे में नहीं यह 'कुरु' इत्यादि वाक्य*

से दिखलाया गया है।) ॥७३॥

प्रधान फलों के द्वारा राग आदि दोषों के विनाश की ही स्तुति करते हैं।

हे श्रीरामजी, जो कुछ भी इस संसार में उत्तम वस्तु है और जो कुछ आकाश में या स्वर्ग में उत्तम वस्तु है, एकमात्र राग, द्वेष आदि के विनाश से ही उन सबकी प्राप्ति हो जाती है ॥७४॥ हे श्रीरामजी, राग आदि दोषों से आक्रान्त हुई बुद्धि के द्वारा जैसा जो कुछ किया जाता है, वह सब कुछ मूढ़ों के लिए तत्काल ही विपरीतरूप (दुःखरूप) हो जाता है ॥७५॥ भद्र, जिस प्रकार दग्ध हुई वनस्थलियों में हिरन अपना स्थान नहीं बनाते, उसी प्रकार द्वेष–दोषरूपी ऊर्मियों से आक्रान्त चित्तवृत्तियों में उत्तम गुण अपना स्थान नहीं बनाते ॥७६॥ हे प्रिय श्रीरामजी, जिस पुरुष के चित्तरूपी बिल में राग और द्वेषरूपी दो सर्प तिरोहित नहीं हो जाते, उस पुरुष को पूर्वोक्त कल्पवृक्ष से भी क्या दुःखरूप फल प्राप्त नहीं होते ? (यानी ऐसे पुरुष को उस कल्पवृक्ष से भी दुःख प्राप्त होते ही रहेंगे, यह भाव है।) ॥७७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष शास्त्रों में निष्णात, चतुर, कर्म निरत एवं प्राज्ञ होकर भी राग, द्वेष आदि से परिपूर्ण हैं, वे निश्चय ही अरण्य में प्रसिद्ध सियार हैं। उन्हें धिक्कार है ॥७८॥

समूल राग–द्वेष का क्रम बतलाते हैं।

मेरा धन दूसरे ने हड़प लिया, दूसरे से अवश्य लेने योग्य धन मैंने प्रमाद से छोड़ दिया – इस प्रकार प्राप्त एवं विनष्ट धन आदि विषयों में अभिनिवेश से उनके ग्रहण के लिए वध, बन्धन आदि दण्ड देने की इच्छारूप राग–द्वेषों के क्रम क्या हैं ? यानी तुच्छ हैं ॥७९॥

राग–द्वेषों के क्रम तुच्छ क्यों है ? इस पर कहते हैं।

धन, बंधुवर्ग, मित्र – ये सब बार–बार आते और जाते रहते हैं, इसलिए उनमें बुद्धिमान पुरुष क्या अनुराग करेगा और क्या वैराग्य ही करेगा ? ॥८०॥ जिसमें संसार की परिपूर्णरूपता प्रिय विषयों के अस्तित्व और अप्रिय विषयों के अभाव से ही बनी है ऐसी, समस्त संसार की रचनारूप यह परमेश्वर सम्बन्धिनी माया आसक्त पुरुषों को ही भली प्रकार से अनर्थ–गर्तों में ढकेल देती है ॥८१॥ हे राघव, न धन, न जन और न मन ही वास्तव में सत्यस्वरूप है, किन्तु आगे कही जानेवाली युक्ति से मिथ्यारूप से निश्चित हुआ सब यह प्रपंच मिथ्या ही दीख पड़ता है ॥८२॥

उसी युक्ति को बतलाते हैं।

आदि और अन्त में यानी पूर्व और उत्तरकाल में सभी पदार्थ असत् हैं और बीच में भी उत्तरोत्तर भाव–विकारों से ग्रस्त एवं दुःखप्रद हैं, इसलिए बुद्धिमान पुरुष दूसरे के कल्पित आकाश–वृक्ष के सदृश तुच्छ इस संसार में कहाँ प्रेम करेगा ? ॥८३॥ हे प्रिय श्रीरामजी, किसी एक ने तो आकाश में स्त्री की कल्पना की और दूरवर्ती दूसरा उसे भोगे, यह कभी बन सकता है ? ठीक इसी प्रकार यह संसार–रचना है यानी इस संसार की कोई एक तो कल्पना करता है और दूसरा उपभोग करने की चेष्टा करता है, इसलिए आप ऐसे असंगत भ्रम में मत पड़िए ॥८४॥ यह संसार प्राणियों के वेगपूर्वक गमनआगमन से पूर्ण, विस्तृत एवं उपद्रवों से भरा है, इसलिये विद्वान लोग उसे गन्धर्वनगर की रचना–विलास के सदृश तुच्छ कहते हैं ॥८५॥ श्रीरामजी, स्वप्न और संकल्प के नगरों की नाईं यह स्वयं असत् होकर भी उत्पन्न–सा प्रतीत होता है, सभी स्थानों में कल्पना का संभव और अधिष्ठान चैतन्य का अस्तित्व होने

से सभी जगह अवस्थित है और सुषुप्त की नाईं स्वप्नभावापन्न है ॥८६॥ हे श्रीरामजी, यह संसार दीर्घकालीन स्वप्न–नगर एवं स्वप्न–वृक्ष के सदृश है। अज्ञानरूपी निद्रा का लाभ लेकर आत्मस्वभाव का अपहरण करनेवाला एवं निरन्तर अनुस्यूत है, इसलिए आप संसाररूपी स्वप्न में भ्रमणशील होकर यहाँ अवस्थित हैं ॥८७॥ भद्र, उस घन अज्ञानरूपी विस्तृत इस निद्रा का आप उस प्रकार परित्याग कर दीजिए, जिस प्रकार निधि (संपत्ति) प्राप्त करनेवाला भाग्यवान पुरुष दरिद्रता का परित्याग कर देता है ॥८८॥ भद्र, अब आप प्रबुद्ध हो जाइए और सदा उदित–स्वभाव, अशेष विकल्पों से वर्जित चैतन्य–प्रकाशस्वरूप अपनी आत्मा को उस प्रकार देखिए, जिस प्रकार प्रातःकाल में कमल सूर्य को देखता है ॥८९॥ हे महाबाहो, मैं आपको बार–बार संबोधित करता हूँ कि आप जाग जाइए, जाग जाइए और अपने निर्मल आत्मरूपी सूर्य को देखिए ॥९०॥ हे श्रीरामजी, मधुर गर्जन के सदृश उपदेश के शब्दों से सम्पन्न, मेघ स्थानीय इस मेरे द्वारा बरसाये गये शीतल इसी ज्ञानरूपी जल से आप जगाये गये हैं ॥९१॥ हे राघव, आप आज ही प्रबुद्ध होकर आत्मज्ञान को प्राप्त कीजिए और इस तुच्छ जागतिक भ्रम का परित्याग कर त्रिकालाबाधित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कीजिए ॥९२॥ श्रीरामजी, न आपका जन्म है, न आपको दुःख है, न आपके दोष हैं और न आपके भ्रम ही हैं, (अतः) समस्त संकल्पात्मक इस संसार का उत्सर्ग कर अपने आत्मस्वरूप में दृढ़ आसन बाँध कर स्थित हो जाइए ॥९३॥

उपसंहार करते हैं।

हे महात्मन्, आपके समस्त संकल्प–विकल्पात्मक दोषों का समूह नष्ट हो चुका है, उत्तम सारभूत सुषुप्तिसदृश विक्षेपरहित दृष्टि भी आपने प्राप्त कर ली है, वास्तव में आप नित्य अपरोक्ष स्वभाव व्यापक परम ब्रह्मस्वरूप ही हैं। अतः उत्तम शुद्धि के लिए आप अपने आत्मस्वरूप में ही समाहित होकर स्थित हो जाइए ॥९४॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञान से रामचन्द्रजी की विश्रान्ति, कथित अर्थ का फिर विस्तार,
कैलास पर्वत पर शिवजी के द्वारा पहले उस प्रकार का अपने प्रति उपदेश इन सब विषयों का वर्णन।

कृपापूर्वक इस प्रकार के चमत्कारपूर्ण हुए उपदेशों से महाराज वसिष्ठजी द्वारा प्रतिबोधित हुए श्रीरामभद्र एवं दूसरे श्रोताओं को जो तत्त्वसाक्षात्कार उत्पन्न हुआ उससे आधे मुहूर्त तक उनकी अपने–अपने स्वरूपों में विश्रान्तिरूप समाधि से निश्चल स्थिति हो गई यों श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं।

श्री वाल्मीकिजी ने कहा : राजन्, जिस समय अपने स्वरूप में आपोआप विश्रान्ति एवं परमानन्द को प्राप्त हुए स्वस्थ और समचित्त श्रीरामभद्र उस प्रकार श्रवण कर रहे थे तथा उस सभा में स्थित शान्त चित्त सभी श्रोतागण अपनी आत्मा में परम विश्रान्ति का अनुभव कर रहे थे, उस समय श्रीरामभद्र की चित्तविश्रान्ति की सुदृढ़ स्थिति के लिए बरस रहा महाराज वसिष्ठजी का वचनामृत एकाएक ऐसे बन्द हो गया, जैसे वृष्टितर्पित सस्यों में (खेतों में) मेघमण्डल से जल का बरसना एकाएक बन्द हो जाय ॥१,२॥ राजन्, तदनन्तर जब आधा मुहूर्त व्यतीत हो गया और श्रीरामभद्र प्रबुद्ध हो गये यानी

समाधि से उत्थित हो गये, तब उसी अर्थ की पुष्टि के लिए वाग्मियों में श्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी उनसे पुनः कहने लगे ॥३॥ श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, आप भली प्रकार तत्त्वज्ञानी हो चुके हैं, अपनी आत्मा को प्राप्त कर चुके हैं, अतः इसी रीति से इस परमार्थ तत्त्व का अवलम्बन कर विश्राम कीजिए, इस तुच्छ संसार में आस्था मत कीजिए ॥४॥

उसमें उपाय बतलाते हैं।

हे रघुनन्दन, यह संसाररूपी चक्र भ्रमण से तभी रुक जाता है, जब कि एकमात्र संकल्परूपी नाभि का (पहिये के मध्य भाग का) भलीप्रकार अवरोध किया जाता है ॥५॥ भद्र, संकल्पात्मक मनोरूप नाभि को रागद्वेष आदि से विक्षोभित–भ्रमित यानी नचाये जाने पर यह संसाररूपी चक्र, प्रयत्न से रोके जाने पर भी, वेगपूर्वक नाचता ही रहता है ॥६॥ इसलिए उत्तम पुरुषार्थ का यानी ज्ञानाभ्यास एवं वैराग्य की दृढ़ता का अवलम्बन कर शास्त्रानुसारी युक्तियों से विवेकज्ञानरूपी बल प्राप्त कर चित्तरूपी संसार–चक्र की नाभि का अवरोध करना ही चाहिए ॥७॥ भद्र, कहीं पर ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध है ही नहीं, जो उत्तम बुद्धि तथा सौजन्य से परिपूर्ण शास्त्रसम्मत पुरुषार्थ से प्राप्त न की जाय ॥८॥ इसलिये बालबुद्धि से कल्पित एकमात्र दैवपराधीनता का परित्याग कर और असली प्रयत्न का आश्रय लेकर सबसे पहले पुरुष को अपने चित्त का निरोध करना चाहिए ॥९॥ हे अनघ, ब्रह्माजी से लेकर चले आ रहे इस अज्ञानरूपी विभ्रम से यह असद्रूप ही प्रपंच सत्–सा प्रतीत हो रहा है ॥१०॥ हे पापशून्य राघव, एकमात्र अज्ञानरूपी भ्रम से विस्तार को प्राप्त हुए दृश्य जगत के आधारभूत ये संकल्प से उत्पन्न शरीर यहाँ यत्र–तत्र घूम रहे हैं ॥११॥ हे श्रीरामजी, एकमात्र देह के विनाश से इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि देह के नष्ट हो जाने पर भी देह परम्परा का उत्पादक संकल्प तो फिर भी विद्यमान रहता ही है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को देह के लिए सुख–दुख की चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिए, किन्तु संकल्पोच्छेद के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए ॥१२॥ श्रीरामजी, दुःख से सदा मलिनमुख तथा अश्रु आदि से निरन्तर आर्द्र रहनेवाला यह देहधारी नर चित्रलिखित नर की अपेक्षा भी अत्यन्त तुच्छ कहा गया है, क्योंकि चित्रलिखित नर तो सुख–दुःख की चिन्ता से निर्मुक्त होने के कारण सदा प्रसन्न और स्वेद अश्रु आदि से वर्जित रहता है ॥१३॥ श्रीरामजी, आधि और व्याधि से निरन्तर दुःखित, अश्रु आदि से आर्द्र तथा स्वयं विनाशशील इस शरीर में उस प्रकार की स्थिरता नहीं रहती, जिस प्रकार की चित्रलिखित पुरुष में स्थिरता रहती है। यह बात सर्वविदित है ॥१४॥

इस प्रसिद्ध शरीर में निर्निमित्तविनाशिता भी चित्रलिखित देह की अपेक्षा अधिक दोष है, ऐसा कहते हैं।

श्रीरामजी, चित्रलिखित देह तभी नष्ट होती है जब किसी कारणविशेष से उसका विनाश किया जाय, अन्यथा नहीं। यह अवश्यविनाशी मांस–स्वरूप देह तो किसी कारणविशेष के बिना स्वयं ही नष्ट हो जाती है ॥१५॥ चित्रित मनुष्य की यदि भली–भाँति रक्षा की जाय, तो वह दीर्घकालिक स्थिर शोभा धारण करता है और यह प्रत्यक्ष शरीर तो अनेक यत्नों से रक्षित होने पर भी नष्ट ही हो जाता है, बढ़ता नहीं है ॥१६॥ इसलिए चित्रित देह ही श्रेष्ठ है,संकल्पजनित यह तुच्छ देह श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि जो चित्रदेह में गुण विद्यमान हैं, वे संकल्पजनित देह में नहीं हैं ॥१७॥ हे निष्पाप श्रीरामजी, अत्यन्त जड़

चित्रित शरीर की अपेक्षा भी जो यह संकल्पजनित तुच्छातितुच्छ देह है, उस मांसरूप देह में आपको आसक्ति ही क्या ? ॥१८॥ हे महामते, यह संकल्पजनित शरीर कुछ दीर्घकालतक ही टिकनेवाला है। उसमें तनिक भी आसक्ति नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह शरीर स्वप्न या मनोराज्य से जनित शरीर से भी अत्यन्त तुच्छ है ॥१९॥ भद्र, स्वप्न आदि शरीर स्वल्पकालीन संकल्प से जनित होने के कारण दीर्घ–कालीन सुख–दुःखों से आक्रान्त नहीं होता। यह प्रत्यक्ष शरीर तो दीर्घकालीन संकल्प से जनित होने के कारण दीर्घकाल के दुःखों से आक्रान्त रहता है ॥२०॥ संकल्पविकार यह शरीर न तो स्वयं है और न हम लोगों का सम्बन्धी (आत्मा का सम्बन्धी) ही है, अतः इस शरीर के निमित्त यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्लेश का भाजन क्यों बनता है ? ॥२१॥

अतः चित्र आदि के शरीरों की क्षति के सदृश इस शरीर की क्षति के विषय में भी शोक नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।

भद्र, जिस प्रकार चित्र में लिखित पुरुष के क्षत या क्षीण हो जाने पर आत्मा की क्षति नहीं होती, उसी प्रकार संकल्प से जनित पुरुष के क्षत या क्षीण हो जाने पर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती ॥२२॥ जिस प्रकार मनोराज्य में उत्पन्न अनेक शरीर आदि पदार्थों के क्षत या क्षीण हो जाने पर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती, अथवा जिस प्रकार दूसरे चन्द्रमा के क्षत या क्षीण हो जाने पर असली चन्द्रमा की या आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती, जिस प्रकार स्वप्न में उत्पन्न पदार्थों के क्षत या विनष्ट हो जाने पर आत्मा की क्षति नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णिका–नदी के प्रकाशरूप जल के क्षत या क्षीण हो जाने पर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती; उसी प्रकार एकमात्र संकल्प से उत्पन्न, स्वभावतः विनाशशील इस शरीररूपी यन्त्र के क्षत या विनष्ट हो जाने पर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होती। अतः शरीर के लिए शोक करना निरर्थक ही है ॥२३–२५॥ चित्त के संकल्प से कल्पित तथा दीर्घकालीन स्वप्न रूप इस देह के अलंकारों से भूषित या दोषों से दूषित हो जाने पर चैतन्यरूप आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ने पाता ॥२६॥

क्यों आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ने पाता ? इस पर कहते हैं।

रामभद्र, आत्म–चैतन्यरूप ब्रह्म न तो विनष्ट होता है, न चलित होता है, और न विकृत ही होता है, इसलिए देह का नाश होने पर चैतन्य का, आत्मा का या ब्रह्म का क्या बिगड़ गया ? ॥२७॥ घूम रहे चाक के ऊपर स्थित अत्यन्त मोहित पुरुष जैसे दिशाचक्र को स्वयं जिस चक्र पर चढ़ा हुआ रहता है, उस चक्र के सदृश या चारों ओर पास में स्थित बड़े चक्र के सदृश विपरीतरूप से घूमता हुआ देखता है, वैसे ही अकस्मात उत्पन्न हुए गर्जनशील मिथ्या अज्ञान के कारण मिथ्या अज्ञानरूप चक्र के ऊपर स्थित जीवात्मा देहपरम्परारूपी चक्र को देखता रहता है ॥२८,२९॥ उसी अज्ञानरूपी चक्र के ऊपर स्थित हुआ जीवात्मा जिस देह परम्परारूपी चक्र को देखता रहता है, वह उत्तरोत्तर अधिक भ्रान्ति को देनेवाला, स्वयं भ्रान्तिरूप, पतनोन्मुख स्वरूप से ग्रस्त, भली प्रकार अनर्थ–गर्तों में गिराया गया, हत एवं हन्यमान रहता है ॥३०॥ इसलिए हे भद्र, उत्तम धैर्य का भली प्रकार अवलम्बन कर इस अनादि दृढ़ीभूत भ्रम का परित्याग कर देना चाहिए ॥३१॥ भद्र, मिथ्या अज्ञान के द्वारा एकमात्र संकल्प से उत्पन्न हुआ यह शरीर प्रातीतिक रूप से सत्य–सा होने पर भी वास्तव

में असत्य ही है, क्योंकि जो वस्तु अज्ञान आदि से उत्पन्न हुई है, वह किसी समय भी सत्य नहीं हो सकती ॥३२॥ रज्जु में सर्पबुद्धि के सदृश असत्स्वरूप अज्ञान से उत्पन्न हुई देह असत्स्वरूप ही जगत-क्रिया को सत्-सी बना देती है ॥३३॥ श्रीरामभद्र, जब व्यवहार में यह बात प्रसिद्ध है कि जड़ता से भरे पदार्थों द्वारा जो कुछ किया गया होता है, वह उनके द्वारा किया गया नहीं माना जाता है यानी उनके द्वारा किये गये कार्यों से अपराध आदि दोषों का उनमें चेतन के समान आरोप नहीं किया जाता है, तब कुछ व्यापार कर रही भी जड़ता से भरी हुई यह देह किसी समय भी कर्ता नहीं कही जा सकती, क्योंकि इच्छाधीन ही कर्तृत्व रहता है ॥३४॥

इच्छा से ही कर्तृत्व होता है, वह इच्छा तो न जड़ देह में या न निर्विकार आत्मा में ही रह सकती है, यह कहते हैं।

जड़ देह तो इच्छा से रहित है और इस निर्विकार आत्मा में इच्छा रहती नहीं, इसलिए कोई कर्ता है ही नहीं, केवल आत्मा शरीर का द्रष्टा है ॥३५॥

आत्मा कर्ता नहीं है, इस निश्चय का फल कहते हैं।

जैसे वायुशून्य प्रदेश में रहनेवाला दीपक अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है, वैसे ही इस जगत्स्थिति में एवं समस्त भूतों में साक्षी के सदृश तटस्थ होकर अपने स्वरूप में ही स्थित रहना चाहिए ॥३६॥

तब राज्य-व्यवस्था कैसे चलेगी ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जैसे दूरातिदूर आकाश में स्थित रहकर ही सूर्यदेव दैनिक कार्य करते हैं, वैसे ही आप भी दूर रहकर यह राज्य-व्यवस्था कीजिए ॥३७॥

देह में सत्यबुद्धि होने पर तो देहाभिमानरूप अहंकार के आ जाने के कारण उसकी दासता बनी ही रहेगी, ऐसा कहते हैं।

इस असद्रूप संकल्पजनित देहरूप शून्य घर का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर उसमें अज्ञानी बालक द्वारा कल्पित असत्य यक्ष के सदृश, चित्तनामक अहंकाररूप दुष्ट वेताल, जो निस्तत्त्व एवं समस्त सज्जनों की संगति से वर्जित है, कहीं से भी आकर, प्रविष्ट हो जाता है ॥३८,३९॥ रामभद्र, आप इस दुष्टबुद्धि अहंकार की दासता को प्राप्त मत हो जाइए, क्योंकि इसकी दासता से नरकरूप फल की प्राप्ति होती है ॥४०॥

अहंकार के रहने पर दूसरा भी अनर्थ प्राप्त होता है, यह कहते हैं।

देहरूपी घर में अपने नानाविध संकल्पों के विलास से बीभत्स आकृतिवाला मदोन्मत्त चित्तरूपी वेताल लीला से चारों ओर मिथ्या गर्जन करता रहता है ॥४१॥ शून्य देहरूपी घर प्राप्तकर चित्तरूपी यक्ष ने वह काम किया है, जिससे कि बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी भय खाकर समाधि में तत्पर होकर स्थित हैं ॥४२॥ अपने तुच्छ शरीररूपी मन्दिर से चित्तरूपी वेताल को हटा देने से इस संसाररूपी शून्य नगर में पुरुष कभी भी नहीं डरता ॥४३॥ चित्तरूपी पिशाच से अभिभूत इस शरीररूपी घर में जो आसक्त हैं, वे अनन्तकोटि शरीरों के विनष्ट हो जाने पर भी अब तक देह में आत्मरूपता बुद्धि से समन्वित होकर क्यों स्थित हैं-बड़ा आश्चर्य है (निरन्तर शरीर घटना से जनित दुःखों का अनुभव होने पर भी

उसके विघटन में जो प्रयत्न नहीं करते यही आश्चर्य है, यह भाव है।)॥४४॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तरूपी पिशाच से ग्रस्त हुए देहरूपी घर में जो मर चुके हैं, उनकी जो बुद्धि है, वह पिशाच की–सी है, न कि अपिशाच की–सी ॥४५॥ हे साधो, अहंकाररूपी बड़े यक्ष के घररूपी त्रिविध तापरूप अग्नि से दग्ध हुए शरीर में आसक्ति से विहार कर रहा पुरुष पिशाच ही है, क्योंकि वह शरीर स्थिर नहीं है ॥४६॥ पहले विशद बुद्धि से अहंकार की दासता छोड़कर तदनन्तर योगभूमिका के अभ्यास से अहंकार का आत्यन्तिक विस्मरण कर शीघ्रातिशीघ्र अपनी आत्मा का ही अवलम्बन करना चाहिए ॥४७॥ नरक की चाह रखनेवाले जो जीव अहंकाररूपी पिशाच से आक्रान्त हैं, मोहरूपी मद से अन्धे उन जीवों के न कोई मित्र बनते हैं और न कोई बन्धु ही (क्योंकि अहंकारी जीवों में विनय की दुर्लभता और उद्धतता की अवश्यम्भाविता होने से उनके साथ कोई प्रेम नहीं करता, यह तात्पर्य है।)॥४८॥ जब अहंकार से परिपूर्ण बुद्धि से कोई क्रिया की जाती है, तब विषवल्ली के फल के सदृश उसका फल, कलह एवं जनशत्रुता के कारण, मरणरूप ही प्राप्त होता है ॥४९॥ विवेक एवं धैर्य से हीन जिस मूर्ख ने अपने अहंकाररूपी महोत्सव का अवलम्बन किया, उसे आप तत्काल विनष्ट ही जानिए ॥५०॥

अहंकार को परलोक में भी दुःख ही प्राप्त होता है, यों कहते हैं।

हे राघव, जिन बिचारों को अहंकाररूपी पिशाच ने अपने अधीन बना लिया, वे सब नरकरूपी अग्नियों के इन्धन ही बन गये ॥५१॥ जिस अपनी देहरूपी वृक्ष के कोटर में यानी हृदय में अहंकाररूपी सर्प चारों ओर फूत्कार करता रहता है, वह स्वदेहरूपी वृक्ष अधीर पुरुषों द्वारा तत्काल ही काटकर गिरा दिया जाता है ॥५२॥ हे महान व्यक्तियों में श्रेष्ठ रामभद्र, इस देह में अहंकाररूपी पिशाच रहे अथवा चला जाय, परन्तु आप उसकी ओर मन से तनिक भी दृष्टिपात न कीजिए ॥५३॥

केवल न देखने से ही क्या होगा। इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चित्त से ही बुरी तरह फटकारा गया, अपमानित तथा तिरस्कृत हुआ यह अहंकाररूपी पिशाच यहाँ तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता ॥५४॥

अहंकार का अनुसरण करने से ही आत्मा को अनर्थ प्राप्त होता है , उसकी उपेक्षा करने पर तो विद्यमान रहता हुआ भी वह कुछ नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, इस देहरूपी घर में चित्तरूपी पिशाच के स्फुरित होने पर भी असीम विलासों से सम्पन्न इस आत्मा में क्या आया ? ॥५५॥ हे श्रीरामजी, चित्तरूपी यक्ष से पराजित हुए पुरुषों को जो बड़ी–बड़ी आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं उनकी सैकड़ों वर्षों में भी गिनती नहीं की जा सकती (यहाँ अहंकार के स्थान में जो चित्तशब्द का प्रयोग किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि अन्यवृत्तियों में भी प्रकृत अहंकार ही अनर्थकारी है।) ॥५६॥ हे पापशून्य राघव, 'हा ! हा ! मैं मर गया हूँ, मैं जल गया हूँ' इत्यादि जो दुःखवृत्तियाँ हैं, वे अहंकाररूपी पिशाच की ही शक्तियाँ हैं, दूसरे की नहीं ॥५७॥

'अहम्' इस प्रतीति से आत्मा का ही अनुभव होता है। यह जो नैयायिकों की भ्रान्ति है, उसका निवारण करते हैं।

जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश यहाँ किसी से संश्लिष्ट नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहंकार से संश्लिष्ट नहीं होता ॥५८॥ हे श्रीरामजी, सूत्रात्मा प्राण से संयुक्त यह चंचल

देहरूपी यन्त्र जो कुछ करता एवं जो कुछ लेता है, वह सब अहंकार का ही कृत्य है ॥५९॥

जब समस्त चेष्टाओं का निमित्त अहंकार ही है, आत्मा नहीं; तब तो 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः', 'ऊर्ध्वं प्राणमुतिदतमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते' (*) इत्यादि श्रुतियों के साथ विरोध होगा, इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार कर्तृत्व से शून्य भी आकाश वृक्ष की उत्पत्ति में कारण है, वैसे ही अपने स्वरूप से स्थित आत्मा भी इन चित्त की चेष्टाओं में कारण है–यों श्रुतियों द्वारा गौणरूप से कहा जाता है ॥६०॥

उपचार में हेतु मन आदि में सत्ता एवं स्फूर्ति का प्रदान करना ही है, यह कहते हैं।

एकमात्र आत्मा की सन्निधि से ही सत्ता प्राप्त करनेवाला या स्थूल देह की कल्पना करनेवाला मन उस प्रकार स्फुरित होता है, जिस प्रकार एकमात्र दीपक की सन्निधि से निर्मल भीत का रूप प्रकाशित होता है ॥६१॥ हे श्रीरामजी, निरन्तर दूर रहनेवाले चैतन्यरूप और जड़रूप आत्मा एवं चित्त का, पृथिवी और आकाश की नाईं, कौन–सा सम्बन्ध हो सकता है ?॥६२॥

शंका हो कि आत्मा का मन आदि के साथ यदि सम्बन्ध न होगा, तो उनमें सत्ता का स्फुरण ही नहीं हो सकेगा। सम्बन्ध होनेपर तो आत्मा में असंगत्व ही सिद्ध नहीं होगा ? इस पर कहते हैं।

हे रघुनन्दन, अत्यन्त चंचल स्पन्दनों की प्रेरणा करनेवाली प्राणशक्तियों से वशीकृत चित्त अभेदाध्यासरूप मूर्खता से (अज्ञान से) ही 'चित्त आत्मा है'–यों प्रतीत होता है, वस्तुतः नहीं ॥६३॥

असंगत्व का उपपादन करने के लिए विरोध का ही सविस्तार निरूपण करते हैं।

भद्र, यह जो आत्मा है, वह प्रकाशस्वरूप, चैतन्यरूप, अविनाशी, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है तथा अहंकाररूप चित्त तो वंचक और हृदयवर्ती सबसे बड़ा अन्धकार है, यह आप जानिए ॥६४॥ श्रीरामजी, वस्तुतः आप सर्वज्ञ आत्मस्वरूप ही है, मनोरूप नहीं इसलिए तत्काल ही मनोरूप मोह को अत्यन्त दूर कर दीजिए, क्योंकि निरर्थक ही आपने उसके साथ संगति कर रक्खी है ॥६५॥ हे सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी, शून्यदेहरूपी घर में स्थित यह मनरूपी दुष्टात्मा पिशाच, वास्तव में आत्मा का स्पर्श न कर रहा भी 'मैं आत्मा का स्पर्श करता हूँ' यों चुपचाप भावना करता रहता है ॥६६॥ श्रीरामजी, संसार को देने तथा धैर्यरूपी सर्वस्व को चुरा लेने वाले अभद्र, मनरूपी पिशाच का परित्याग कर जिस विशुद्ध चैतन्य स्वरूपवाले आप हैं, उसी स्वरूप से स्थिर हो जाइए ॥६७॥ चित्तरूपी यक्ष से दृढ़तापूर्वक दबाये गये मनुष्य की न शास्त्र, न बन्धु और न गुरु ही भलीभाँति रक्षा कर सकते हैं ॥६८॥ जिस पुरुष का चित्तरूपी वेताल अपने दुष्ट व्यापारों से विरत हो चुका है यानी जिसका चित्त शुद्ध हो चुका है ऐसे पुरुष का गुरु, शास्त्र, धन और बन्धु ऐसा उद्धार कर सकते हैं, जैसा अल्प कीचड़ से बछड़े का ॥६९॥ इस जगतरूपी शून्य–नगर में सभी देहरूपी घर मदोन्मत्त तथा व्यर्थ की गर्जना करनेवाले चित्तरूपी यक्ष ने भलीभाँति दूषित कर दिये हैं ॥७०॥ भद्र, चित्तरूपी वेताल से वेष्टित तथा देहरूपी छोटे भाग में उत्पन्न

(*) किस इच्छा से प्रेषित हुआ मन विषयों की ओर दौड़ता है, पहले किससे प्रेरित हुआ प्राण अपने व्यापार के प्रति उद्यत होता है', 'जो प्राणवृत्ति को हृदय से ऊपर की ओर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर ले जाता है, उस हृदयाकाश में प्रकाशमान भजनीय देव की सब चक्षु आदि उपासना करते हैं।

हुई, शून्य यह समस्त जगद्रूपी बड़ी वनभूमि किसे भयभीत नहीं करती ? (अर्थात् सभी उससे भयभीत हो जाते हैं।)॥७१॥

उपर्युक्त श्लोक में 'समस्त' यह जो कहा गया है, वह उत्सर्ग है, क्योंकि उससे विपरीत भी कहीं पर देखा जाता है, ऐसा कहते हैं।

क्योंकि, जिसमें से चित्तरूपी पिशाच प्रशान्त हो गया है ऐसे–देहरूपी घर की, इस जगतरूपी नगरी में कुछ इने–गिने सज्जन ही सेवा करते हैं॥७२॥

इसलिए अज्ञानियों की देह श्मशान–भूमि के तुल्य ही है, यों निन्दा करते हैं।

हे रघुनन्दन, इस संसार में जो–जो दिशाएँ सुनाई देती हैं, वे सभी देहरूपी श्मशान–भूमि में मंगल मनानेवाले मदोन्मत्त मोहरूपी वेतालों से परिपूर्ण हैं॥७३॥ इस जगतरूपी महान अरण्य में, अज्ञानी बालक की नाईं, मोहित हो रही अपनी आत्मा का, स्वयं दृढ़ता से धैर्य को धारण कर, अपने से ही उद्धार कर लेना चाहिए॥७४॥ हे श्रीरामजी, संचरण कर रहे प्राणीरूपी मृगों से व्याप्त इस संसाररूपी अरण्य में, हिरन के बच्चे की नाईं, तृणों के सदृश निःसार विषय–रसों से आप अपने को कृतकृत्य मत मानिए॥७५॥ श्रीरामभद्र, इस पृथ्वीतल के अरण्य में दूसरे अज्ञानी जीव, हिरन के बच्चों की नाईं यदि विषयरूप कोमल तिनके चर जाते हैं, तो उन्हें भले ही चर जाने दीजिए, परन्तु आप तो अज्ञानरूपी हाथी का शिकार कर सिंह की वृत्ति धारण कीजिए॥७६॥ श्रीरामजी, दूसरे मनुष्य–मृग मुग्ध होकर अपने अरण्यरूप जम्बूद्वीप में जिस प्रकार (विषयरूपी घास चरकर) विहार करते हैं, उस प्रकार हे अनघ, रामभद्र, आप विहार मत कीजिए॥७७॥

समानस्वभाव होने के कारण बन्धुजनों के साथ सदा ही अवस्थान और उनसे सुख देखा गया है, फिर उसमें दोष ही क्या है ? इस पर कहते हैं।

भद्र, यह बन्धुवर्ग एक तरह से अत्यन्त थोड़े समय के लिए ठण्डक पहुँचानेवाला तथा आसक्तिरूप कीचड़ से चारों ओर लीप देनेवाला छोटा जलाशय है, अतः उसमें आपको, भैंसे की नाईं, डूबना नहीं चाहिए॥७८॥ श्रीरामजी, आपको विषयरूपी सर्पों का बहिष्कार कर देना चाहिए, आर्यों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ का भली प्रकार विचार कर अपनी अद्वितीय आत्मा का ही आश्रय करना चाहिए॥७९॥ अपवित्र, तुच्छ, भाग्यरहित तथा दुष्टरूपवाले शरीर के लिए आसक्तिरूपी कीचड़ में कभी फँसना नहीं चाहिए, क्योंकि उसमें फँसे हुए पुरुषों को चिन्तारूप क्रूर राक्षसी खा डालती है॥८०॥ इस देह की रचना एक ने (कर्म ने) की है, उसका आश्रय दूसरे अहंकार रूपी यक्ष ने किया है, दुःख किसी तीसरे को मिलता है और भोक्ता तो कोई चौथा ही (जीव) है, इस प्रकार की यह अज्ञान की चक्रिका (चल रही परम्परा) आश्चर्यरूप ही है॥८१॥

सत्यत्व और एकरूप होने से आत्मा में भी दुःख और उसके भोग, भोक्ता शरीर आदि रूपान्तर का अवकाश नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जिस प्रकार पत्थर की घनता सत्तासामान्य से पृथक् रूप नहीं है किन्तु एकरूप ही है, उसी प्रकार आत्मा की घनता भी एकमात्र सामान्यात्मक सत्तास्वरूप से पृथक् नहीं है किन्तु अभिन्नरूप ही है, क्योंकि सद्रूप से पृथक् दूसरा रूप ही नहीं है, अर्थात् जो सद्भिन्न है उसकी असत्, अलीक आदि पदों

से ही प्रसिद्धि है, यह तात्पर्य है ॥८२॥ जिस प्रकार पत्थर का काठिन्य पत्थर से पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, उसी प्रकार समष्टि-व्यष्टयात्मक मनःसमूह और तत्-तत् मन के कार्यभूत स्थूल प्रपंच भी आत्मा से पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, क्योंकि सत्तामात्रस्वभाव आत्मा से अभिन्न होने के कारण इन मन आदि की पृथक् अवस्थिति ही नहीं रह सकती ॥८३॥

यह न्याय प्रत्येक घट और घटाकार मानसवृत्ति आदि में भी लगाना चाहिए, इससे सद्रूप अद्वैत ही सिद्ध हुआ, यह कहते हैं।

जैसे पत्थर का पत्थरपन अथवा जैसे घट का घटपन सत्तास्वरूप सामान्य से अभिन्न ही है, वैसे ही समष्टि-व्यष्टि मन आदि आत्मा से अभिन्न ही हैं ॥८४॥ भद्र, इस अर्थ में आगे कही जानेवाली मानस-शिवपूजारूप इस दूसरी दृष्टि का आप श्रवण कीजिए, जो चन्द्रमौलि भगवान शंकर ने कैलासपर्वत की कन्दरा में संसार-दुःख की शान्ति के लिए मेरे समक्ष की थी ॥८५॥

उसमें पहले कैलास का वर्णन करते हुए कथा का उपक्रम करते हैं।

चन्द्रमा के किरणसमूहों की नाईं भासमान कैलासनामक एक पर्वतों का राजा है। वह अपनी ऊँचाई से आकाश को भी पार कर गया है और वह है – गौरीरमण भगवान श्रीशंकर का एक मन्दिर ॥८६॥ वहाँ पर चन्द्रकला धारण किये हुए स्वयंप्रकाशमान भगवान महादेवजी रहते हैं। पहले किसी समय उसी पर्वतपर उन देवाधिदेव की पूजा कर रहा मैं गंगाजी के किनारे आश्रम बनाकर रहता था। तप के लिए वहाँ पर मैंने दीर्घकाल तपस्वियों द्वारा अनुष्ठीयमान कृच्छ्र चान्द्रायण आदि में नियमपूर्वक निष्ठा की। वहाँ पर मेरे चारों ओर सिद्धों के समूह रहते थे। मैं उनसे विचारविनिमय कर शास्त्रीय दुरूह तत्त्वों का संग्रह करता था। मैंने फूल चुनने के लिए एक डलिया (टोकरी) रक्खी थी और अनेक शास्त्रीय पुस्तकों का संग्रह भी किया था ॥८७-८९॥ हे श्रीरामजी, उस तरह के गुणों से सम्पन्न कैलासवन के कुंजों में तपश्चर्या कर रहे मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया ॥९०॥ अनन्तर किसी एक समय की बात है-श्रावण कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि थी और रात्रि का प्रथमभाग यानी प्रदोषसमय पूजा, जप, ध्यान आदि से व्यतीत हो चुका था। प्राणियों के संचरण आदि व्यापारों का उपशम हो जाने से शान्तस्वरूप हुई दिशाएँ उस समय काठ की नाईं मौन-व्रत में *(हाथ आदि के व्यापारों से भी हृदयगत अभिप्राय को प्रकट न करने के कारण काठ की नाईं मौनव्रत में)* मानों अवस्थित थीं। गहन कुंजों में अन्धकार इतना घना था कि वह तलवार से काटने योग्य बन गया था ॥९१,९२॥ श्रीरामभद्र, इसी बीच प्रथम अर्धरात्रि के वहाँ व्यतीत हो जाने पर मैंने अपनी समाधि स्वल्प (कुछ बहिर्मुख) बनाकर बाह्य पदार्थों की ओर दृष्टि दौड़ाई ॥९३॥ उस समय उस अरण्य में तत्काल ही उत्पन्न हुआ एक बड़ा तेज मैंने देखा, जो शुभ्रातिशुभ्र सैकड़ों मेघों के तुल्य धवल एवं असंख्य चन्द्रबिम्बों के सदृश चमकीला था ॥९४॥ उस तेज की चकाचौंध से दिशाओं के समस्त कुंज चमक उठे। मैंने बड़े विस्मय के साथ देखा और देखकर भीतर की प्रकाशमान दिव्य-दृष्टि से उसके विषय में विचारा और तदनन्तर फिर बाह्यदृष्टि से तत्-तत् विशेष-अवयवों के अनुसन्धानपूर्वक उसका अवलोकन किया ॥९५॥ विचार कर ज्यों ही मैं सामने का शिखर-प्रदेश देखता हूँ, त्यों ही चन्द्रकलाधर महादेवजी उपस्थित हो गये। उन्होंने अपना एक हाथ भगवती गौरी के हाथ में रक्खा था और उनके गण नन्दी आगे चलनेवालों को हटा रहे थे ॥९६॥ वहाँ उपस्थित समस्त

शिष्यों को सम्बोधित कर तथा अर्घ्यपात्र लेकर सावधान एवं प्रसन्न-मन हुआ मैं उन गौरीपति की दृष्टि से पवित्र ऐसे उनके पुरोभाग में गया यानी उनकी पवित्र सन्निधि में पहुँचा ॥९७॥ वहाँ जाकर दूर से ही मैंने पुष्पांजलि समर्पित की और अर्घ्य प्रदान किया। अनन्तर तीन नेत्रवाले महादेव को साष्टांग प्रणाम कर उनका अभिवन्दन किया यानी उनकी स्तुति की ॥९८॥

अपने भाग्य के महान उदय तथा अपने ऊपर महादेवजी के सानुग्रह दृष्टिपात का वर्णन करते हैं।

तदनन्तर चन्द्रज्योत्स्ना की सखीभूत कोमल, शीतल तथा समस्त सन्तापों का अपहरण करनेवाली उस महादेवजी की दृष्टि का *(स्वानुभूत अलौकिक निरतिशयानन्द के आविर्भावभूत चमत्कार से परिपूर्ण दृष्टि का)* मैं दीर्घकाल तक भाजन बना रहा ॥९९॥ पुष्पों के शिखर पर स्थित तीनों लोकों के साक्षी उस देवाधिदेव को मैंने समीप जाकर अर्घ्य, पुष्प तथा पाद्य का समर्पण किया ॥१००॥ उनके सामने मैंने अनेक मन्दार-पुष्पों की अंजलियाँ बिखेर दीं और नानाविध नमस्कार एवं स्तोत्रों से शिवजी की अर्चना की ॥१०१॥ तदनन्तर मैंने शिवजी की पूजा के सदृश ही पूजा से सखियों से युक्त तथा गण मण्डल से परिवेष्टित भगवती गौरी का उत्तम रीति से पूजन किया ॥१०२॥ पूजा की समाप्ति होने पर उनकी आज्ञा से पुष्पमय शिखर पर बैठे हुए मुझसे अर्धचन्द्र की कला धारण करनेवाले भगवान उमापति परिपूर्ण हिमांशु-किरण के सदृश शीतल वाणी से कहने लगे ॥१०३॥

यद्यपि पहले कुशल प्रश्न ही किया जाता है, तथापि समस्त कुशलता की परम सीमाभूत परमात्मा में चित्त-विश्रान्ति का ही, अनुग्रह करने की इच्छा से, भगवान पहले प्रश्न करते हैं।

भगवान उमापति ने कहा : हे ब्रह्मन्, सर्वविध सांसारिक उपद्रवों के उपशम से विराजित, परमात्मरूप पर (ब्रह्म) वस्तु में विश्रान्ति ले रही तथा मोक्षरूप उत्तम कल्याण देनेवाली तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ अपने स्वरूप में अवस्थित तो हैं ? ॥१०४॥ तुम्हारा कल्याणकारी तप निर्विघ्नरूप से बराबर चल रहा है न ? प्राप्तव्य वस्तु प्राप्त कर ली है न ? और सांसारिक भय शान्त हो रहे हैं न ? ॥१०५॥ हे रघुनन्दन, समस्त लोकों के एकमात्र हेतु देवाधिदेव महादेवजी के उस प्रकार कहने के अनंतर विनययुक्त वाणी से मैंने उनसे निवेदन किया ॥१०६॥ हे महेश्वर, देवाधिदेव त्रिनेत्र की निरंतर स्मृति से प्राप्त हुए उत्तम कल्याण से सम्पन्न पुरुषों के लिए इस संसार में कोई भी वस्तु न तो दुष्प्राप्य है और न किसी तरह का भय ही हैं ॥१०७॥ आपके निरन्तर स्मरण से जनित आनन्द से जिनका चित्त चारों ओर से घूर्णित (मत्त) हो गया है, ऐसे पुरुषों के लिए इस जगत्कोश में वे प्राणी ही नहीं हैं, जो उन्हें प्रणाम नहीं करते अर्थात् सभी उन्हें प्रणाम करते हैं ॥१०८॥ भगवन्, एकमात्र आपके अनुस्मरण में निरन्तर जिनका मन लगा रहता है, ऐसे पुरुष जहाँ स्थित रहते हैं, वे ही देश, वे ही जनपद, वे ही दिशाएँ और वे ही पर्वत प्रशस्ततम हैं ॥१०९॥ हे प्रभो, आपका अनुस्मरण पूर्वसंचित पुण्य-वृक्ष के फल को अनन्तकोटि गुना बढ़ा देता है, वर्तमान देह से उत्पादित पुण्य-वृक्ष का मानों अमृतसिंचन द्वारा अभिवर्धन करता है और करिष्यमाण (किये जानेवाले) पुण्य की अभिवृद्धि के लिए बीज का विस्तार करता है ॥११०॥ हे प्रभो, आपका अनुस्मरण ज्ञानरूपी अमृत का एकमात्र आधारभूत कलश है, धृतिरूपी ज्योत्स्ना के लिए चन्द्रमा है और मोक्षरूपी नगर का द्वार है ॥१११॥ हे समस्त भूतों के अधिपते, आपके निरन्तर चिन्तनरूपी उदार चिन्तामणि से शोभित मैंने समस्त वर्तमान और भविष्य कालीन आपत्तियों के सिर

पर अपना पैर रख दिया है ॥११२॥ हे श्रीरामजी, सुप्रसन्न उन भगवान शंकरजी से यों कहकर नतमस्तक होकर मैंने जो कुछ वक्ष्यमाण रीति से कहा, उसे आप सुनिए ॥११३॥ हे भगवन्, यद्यपि आपकी अनुकम्पा से मेरे लिए समस्त दिशाएँ अभीष्ट पदार्थों से परिपूर्ण हैं; तथापि हे देवेश, एक मुझे जो सन्देह है, उसके विषय में आपसे निर्णय पूछता हूँ ॥११४॥ हे प्रभो, वह देवार्चन-विधान किस तरह का है ? जो समस्त चित्त-विक्षेप के हेतुओं से वर्जित, विकारशून्य, समस्त पापों का विनाशकारी तथा समस्त कल्याणों का अभिवर्धक होता है, उसे प्रसन्न-मति से आप मुझसे कहिए ॥११५,११६॥

'पूर्णा मे सकला दिशः' इस कथन से महर्षि वसिष्ठजी को विषयभोग की अभिलाषा नहीं है, ऐसा द्योतन हो जाता है। अतः 'सर्वपापक्षयकरं सर्वकल्याणवर्धनम्' इन दो विशेषणों से समस्त अनर्थनिवृत्ति से उपलक्षित निरतिशयानन्दस्वरूप मोक्षसाधन के विषय में ही यह वसिष्ठजी का प्रश्न है, यों सर्वज्ञ परम कारुणिक सदाशिव ने पहले निश्चय किया, अनन्तर सर्वतोभावेन शरणागत वसिष्ठजी को सर्वदेवार्चन के परम रहस्य-भूत परम पुरुषार्थ के साधन तत्त्वज्ञान के उपदेश की इच्छा से भगवान प्रतिज्ञा करते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे ब्रह्मज्ञानियों में अग्रगण्य मुनिवर, मैं तुमसे सर्वश्रेष्ठ वह देवार्चन का विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करने से तत्काल ही मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥११७॥

आगे कहे जानेवाले देवार्चन के अनुरूप अलौकिक देवस्वरूप का उपदेश देने के लिए शिष्य को उसकी जिज्ञासा करा रहे भगवान पहले वसिष्ठजी से प्रश्न करते हैं।

हे महाबाहो (卐) द्विजश्रेष्ठ, क्या तुम्हें यह अवगत है कि देवता कौन है ? न तो पुण्डरीकाक्ष ही देव है और न त्रिलोचन महादेवजी ही ॥११८॥ न तो कमलोद्भव ब्रह्माजी देवता हैं और न सर्वदेवताओं के अधिपति इन्द्र ही देवता हैं। न पवन, न सूर्य, न अग्नि और न निशाचर (चन्द्रमा) ही वास्तव में देवता है। (प्रकृत श्लोक में निशाकर शब्द चन्द्रकला के अधीन शरीरवाले तैंतीस करोड़ देव-शरीरों का उपलक्षण है।)॥११९॥ हे द्विजोत्तम, वास्तव में न ब्राह्मण देवतारूप है, न राजा देवतारूप है और न मैं (△) ही देवतारूप हूँ, न तुम देवतारूप हो, न आध्यात्मिकभाव से आपन्न देह आदि पदार्थ ही देवतारूप हैं (📖) और न चित्तरूपधारी व्यक्तिविशेष ही देवतारूप

(卐) यहाँ पर 'महाबाहु' शब्द का अर्थ है-निरन्तर देवार्चन से सफलीकृतबाहु। इससे यह सूचित हुआ कि बाहुसापेक्ष बाहर की केवल पूजा में ही शूरता बतलाने के लिए सम्बोधन किया गया है। यदि शंका हो कि पुण्डरीकाक्ष और त्रिलोचन आदि देवता तो प्रसिद्ध ही हैं, फिर भगवान इस साधारण विषय में मुझे अनभिज्ञ क्यों मानते हैं ? इस प्रकार के अभिप्राय वाले वसिष्ठजी की परिच्छिन्न पदार्थों में श्रद्धारूपी जड़ता का प्रथम अपाकरण करने के लिए यहाँ पर 'न देवाः' इत्यादि ग्रन्थ है, यह समझना चाहिए।

(△) 'नाहं न त्वम्' यह निषेध-रुद्र और वसिष्ठ में 'तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्राः' (उत्क्रमणकाल में सम्बन्धियों को रुलाते हैं, अतः प्राण रुद्रनामवाले हैं), 'यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' (जो मैं वाक् वसिष्ठत्व गुण से युक्त हूँ, उस गुण से तुम-प्राण-वसिष्ठ हो) इत्यादि श्रुतियों में मुख्य समष्टि प्राणरूपता की प्रसिद्धि से तथा 'कतम एको देव इति प्राणः' इत्यादि प्राण की ही सर्वदेवत्वरूपता प्रतिपादक श्रुति से प्राणभाव से प्राप्त हुए देवस्वरूपत्व का निवारण करने के लिए-किया गया है।

(📖) 'नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्' इत्यादि श्रुतियों में आध्यात्मिक चक्षु आदि के लिए देवशब्द के

है ॥१२०॥ देह की शोभा भी देवरूप नहीं है और मति भी देवरूप नहीं है; किन्तु क्रियासाध्य वस्तु से विलक्षण, आदि और अन्त से शून्य, निरतिशय आनन्दात्मक चित्प्रकाश ही देवस्वरूप है, यह तत्त्वज्ञों द्वारा कहा जाता है (卐) ॥१२१॥ देश और वस्तु से परिच्छिन्न तथा काल से परिच्छिन्न वस्तु में वह प्रकाश ही कहाँ रहता है ? (तात्पर्य यह है – 'दिवु क्रीड़ा–विजिगीषा–व्यवहार–द्युति–स्तुति–मोद–मद–स्वप्न–कान्ति– गतिषु' यों दस अर्थों में प्रसिद्ध दिव् धातु से 'पचाद्यच्' इस सूत्र से अच्प्रत्यय करने पर सिद्ध हुए देवशब्द के संकोच में प्रमाण न होने से वह मायिक निरंकुश ऐश्वर्य, स्वच्छन्द क्रीड़ा, महत्वकांक्षा, व्यवहार, स्तुति तथा आविद्यक मद, स्वप्न, इच्छा और गति का निर्वाहक है, अतः उक्त दशविध अर्थों में कौन मुख्य हैं; इसका विचार करने पर द्युति और मोद ही मुख्य अर्थ प्रतीत होते हैं और वे नित्य, निरतिशयानन्दस्वरूप, स्वप्रकाश परब्रह्मरूप में ही उपपन्न हो सकते हैं, परिच्छिन्न जड़ों में नहीं ।) इसलिए आदि और अन्त से शून्य, स्वाभाविक जो प्रकाशस्वरूप चित् है, उसी को मुनि लोग शिव और देव कहते हैं ॥१२२॥ चूँकि, जगत, जीव और उसका संसार – ये सब उसकी सत्ता से ही अस्तित्वरूप अपना स्वरूप धारण करते हैं, इसलिए एकमात्र वह चिति ही विद्यमान वस्तु है, दूसरी नहीं । वही देवशब्द से व्यवहृत होती है, इसलिए उसी की पूजा करनी चाहिए ॥१२३॥

तब क्या पुण्डरीकाक्ष आदि मूर्तियों की पूजा का जो विधान है, वह व्यर्थ है ? इस पर नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं ।

ब्रह्मन्, जो परम शिवतत्त्व से अपरिचित हैं, उन्हींके लिए पुण्डरीकाक्ष आदि मूर्तियों का पूजन विहित है । ठीक ही है, योजनपरिमित मार्ग में अशक्त पुरुष के लिए क्रोश–परिमित मार्ग की कल्पना की जाती है ॥१२४॥ पूजन आदि से प्रसन्न हुए रुद्र आदि देवताओं से इयत्ता आदि से परिच्छिन्न ही फल प्राप्त होता है और तत्त्वतः साक्षात्कारपर्यन्त पूजन से प्रसन्न हुई आत्मा से तो स्वाभाविक तथा आदि एवं अन्त से वर्जित निरतिशयानन्दरूप फल प्राप्त होता है ॥१२५॥

यदि शंका हो कि कृत्रिम विषयभोग अनात्म–पूजन से ही सिद्ध होते हैं, इसलिए उनके लाभार्थ कृत्रिम–पूजा करनी चाहिए ? तो इस पर कहते हैं ।

स्वाभाविक निरतिशयानन्दरूप फल छोड़कर जो पुरुष कृत्रिम फल की ओर प्रवृत्ति करता है, उसके विषय में यही कहना चाहिए कि वह देवतरु मन्दार का वन छोड़कर कंजा–वन की ओर प्रवृत्ति करता है ॥१२६॥

तो अकृत्रिम पूजन में कौन–सी सामग्री है ? इस शंका पर उस सामग्री का उल्लेख करते हैं ।

कौन पूज्य है इस विषय का तात्त्विक ज्ञान रखनेवाले विद्वान कहते हैं कि एकमात्र चित्स्वरूप निर्मल

प्रयोग से तथा 'त्वचे स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा' इत्यादि मन्त्रलिंग से देह आदि आध्यात्मिक भावों में प्राप्त हुई देवस्वरूपता का निवारण करते हैं ।

(卐) आध्यात्मिक पदार्थों का उपक्रम होने के कारण कमलाशब्द से यहाँ देहादि की शोभा ही ली गई है । मतिशब्द समस्त आध्यात्मिक पदार्थों का उपलक्षण है । इसी न्याय से समस्त आधिभौतिक पदार्थों में भी देवरूपता नहीं है, यह जान लेना चाहिए ।

शिव ही पूज्य है और उसकी पूजन-सामग्री में विवेक-ज्ञान, सर्वभूतों में आत्मबुद्धि और शम-ये सबसे श्रेष्ठ पुष्प हैं ॥१२७॥ हे महर्षे, प्रकाशमान आत्मदेव की शम, बोध आदि पुष्पों से जो पूजा की जाती है, उसीको आप देवार्चन जानिए, मूर्ति-पूजा को देवार्चन मत जानिए ॥१२८॥ जो मनुष्य आत्मज्ञानरूप देवार्चन छोड़कर कृत्रिम पूजनों में ही आसक्त रहते हैं, वे चिरकालतक क्लेश ही पाते हैं ॥१२९॥

हे ब्रह्मन्, जो विदिततत्त्व सन्त-महात्मा किसी समय आत्म-समाधि से व्युत्थित होकर साकार देवपूजन करते हुए पाये जाते हैं, वे बालक्रीड़ा के सदृश आनन्दार्थ ही साकार पूजन करते हैं, न कि कृत्रिम भोगों की अभिलाषा से ॥१३०॥ आत्मा ही प्रकाशमान देव, छः प्रकार के ऐश्वर्य से परिपूर्ण, शिव और परम कारणस्वरूप है। (अतः) ज्ञानरूप पूजन-सामग्री से उसीकी सर्वदा अविच्छिन्नरूप से निरन्तर पूजा करनी चाहिए ॥१३१॥ हे वसिष्ठजी, आप जीव को अपरोक्ष चेतनाकाशस्वरूप अविनाशी अकृत्रिम ब्रह्मस्वरूप ही जानिए, एकमात्र वही पूज्य है; दूसरा कोई आत्मा से अतिरिक्त पूज्य नहीं है। अतः आत्मपूजा ही पूजा है (८) ॥१३२॥

'तदेवाऽस्ति यतः सर्वम्' इत्यादि श्लोक से ब्रह्म ही जगत, जीव, जीवसंसार और उनके अस्तित्वरूप से स्थित है, यह जो पहले कहा गया था, उसमें उपपत्ति जानने की इच्छा से महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे प्रभो, यह जगत जिस उपपत्ति से चैतन्यप्रकाशमात्रस्वरूप होता है तथा जिस उपपत्ति से उसी चेतन में जीवादिस्वरूपता प्राप्त होती है, उसे (आप कृपाकर मुझसे) कहिए ॥१३३॥

समस्त चेत्य पदार्थों का प्रलय हो जानेपर भी 'चित्सत्ता' ज्यों की त्यों बनी रहती है, इससे 'चित्सत्ता चेत्य पदार्थों के अधीन नहीं है' यह बात भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है, अतः चित् के अधीन भासमान चेत्य का जिस प्रकार चिति से भिन्न दूसरा भान मानना युक्त नहीं है, उसी प्रकार चित्सत्ता के अधीन चेत्य की चितिसत्ता से पृथक सत्ता मानना भी युक्त नहीं है, ऐसी उपपत्ति बतलाते हैं।

ईश्वर ने कहा : चूँकि यहाँ सर्वत्र आर-पार से रहित-सर्वविध परिच्छेदों से शून्य-चेत्यनिर्मुक्त चिदाकाश ही विद्यमान है, इसलिए कल्पान्त में भी वह अवशिष्ट रहता है *('चिदाकाश सर्गकाल में भी चेत्यशून्य है, पार आदि परिच्छेदशून्य होने से, प्रलयकाल के समान' इस प्रकार अनुमानरूप उपपत्ति यहाँ बतलाई गई है, ऐसा समझना चाहिए।)*॥१३४॥

तब जगद्रूप प्रतिभास कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

सूर्य, चन्द्र, दीपक, इन्द्रिय, मन आदि जो-जो स्वयं प्रचुरप्रकाशवाले पदार्थ हैं, उनके अपने प्रकाश का अपने बिम्ब में समा न सकने के कारण स्वयं जो बिम्ब से बाहर प्रभाकर से-स्पन्दित यानी स्पन्दन-सा प्रसिद्ध है, वही नील, पीत आदि उसका विषयभूत जगत है। इसी प्रकार चिद्व्योम के अपरिच्छिन्न

---

(८) इस विषय में विद्वानों का अनुभवपूर्ण यह वचन है :

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सदाशिवः। त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥

देह ही देव-मन्दिर है और उसमें विराजमान जीव ही सदाशिवस्वरूप देवता है। उस पर से अज्ञानरूपी निर्माल्य हटा देना चाहिए और 'सोऽहं' इस रूप से उसकी पूजा करनी चाहिए।

होने से मायारूप आवरण के भीतर न समा सकने के कारण उसका मायिक वासना आदि मार्ग से जो एक तरह का स्पन्दन-सा प्रसिद्ध है, उसीसे यह जगत दिखलाई पड़ता है ॥१३५॥ उक्त रीति से एकमात्र चिदात्मस्वरूप ही सिद्ध हो रहा विचित्ररूप यह जगत स्वप्ननगर के सदृश भ्रान्ति से प्रतीत होता है। मेरी कथित रीति से परमार्थबुद्धि से विचार करने पर तो जगत का कोई स्थान ही सिद्ध नहीं होता, वास्तव में वह अमूर्त एवं स्वच्छ चिदाकाशमात्रस्वरूप ही है ॥१३६॥

तब क्या चिति ही चेत्य के आकार में परिणत अपने को देखती है ? इस शंका पर नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।

अपरिणामी और अद्वय होने से चैतन्य का परिणाम चेत्य हो ही नहीं सकता, अतः अत्यन्त असम्भव चेत्य भी आवृत चित्-स्वभाव से पृथक जो सृष्टि के आदि में चिदाकाशमात्रस्वरूप भासता है, वही दृश्य-जगत है, ऐसा मुनियों का स्मरण है ॥१३७॥ इसलिए स्वप्न-नगर के सदृश जो यह जगत भासता है, उस चिदाकाशमात्रस्वरूप जगत में भिन्नता का अवकाश ही कहाँ है ? ॥१३८॥

अतएव आरोपित रूप के चिन्मात्रस्वरूपता का प्रत्यक्ष करना चाहिए, यह कहते हैं।

चिन्मात्रस्वरूप ही पर्वत हैं, चिन्मात्र ही जगत और आकाश है, चिन्मात्रस्वरूप आत्मा एवं जीव है तथा भूतों की परम्परा भी चिन्मात्रस्वरूप ही है ॥१३९॥ महर्षे, सृष्टि के आरम्भ में ऊर्ध्व-लोक, अपना नगर तथा पाताल-इनमें कहीं पर भी चिदाकाशमात्रस्वरूप आत्मा से भिन्न ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सबके अनुभव में आती हो, उसे आप बतलाइए ? *(तात्पर्य यह है कि चिद्‌भिन्नं की स्वतः सत्तास्फूर्ति मानने पर अचित्त्व का व्याघात, सत्तास्फूर्ति के अभाव में अलीकरूपता, अलीक का चित् से भी उज्जीवन अनुभूत न होने से, असंग होने के कारण चित् का अचित् के साथ सम्बन्ध न होने से और साधकान्तर की अप्रसिद्धि होने से चिद्भिन्न पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती।)*॥१४०॥

यदि शंका हो कि जैसे 'यजति, ददाति, जुहोति' इत्यादि शब्दभेदों से कर्मभेद होता है, वैसे ही चित्, आकाश, जगत इत्यादि शब्दभेदों से उनका भेद हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।

आकाश, परमाकाश, ब्रह्माकाश (📖) जगत और चित्-ये सब प्रकार ब्रह्मरूप अर्थ के पयार्यशब्द हैं, जिस प्रकार पेड़ और वृक्ष शब्द पर्याय हैं ॥१४१॥ उक्त रीति से जब तत्त्ववेत्ता द्वारा स्वप्न, संकल्प और माया के सदृश मिथ्या द्वैत अनुभूत होता है, तब उसे चिदाकाश ही जगद्रूप से प्रतीत होता है ॥१४२॥ जिस प्रकार स्वप्न में चिदाकाश ही जगद्रूप भासता है, उसी प्रकार जाग्रत-नामक स्वप्न में भी वही चिदाकाश जगत्-रूप से हम लोगों को भासता है ॥१४३॥ जिस प्रकार स्वप्न-नगर में चिदाकाश को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ कहीं नहीं रहता, उसी प्रकार जाग्रत-काल में भी महाचैतन्य आकाश को

(📖) भूताकाश, अव्याकृत आकाश आदि तीन अर्थों का ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त हुए तीनों भी आकाशशब्द 'काश्रृ-दीप्तौ' इस धातु से बनाये गये हैं। इसलिए उनका जिस प्रकार चैतन्यरूप अर्थ हो सकता है, उसी प्रकार 'जो गमनार्थक धातु होते हैं, वे ज्ञानार्थक भी हैं, इस व्याकरण-नियम के आधार पर 'गम' धातु से 'वर्तमाने पृशद०' इत्यादि सूत्र से क्विपप्रत्यय होने पर निष्पादित जगतशब्द भी चैतन्यार्थक हो सकता है। अतः उपर्युक्त शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं - यह कहा गया है, वह ठीक ही है।

छोड़कर और कुछ भी दूसरा पदार्थ कहीं नहीं रहता ॥१४४॥ चूँकि चित् से भिन्न दूसरा कुछ भी चेत्यपदार्थ नहीं हो सकता, इसलिए चित्त और चेत्यात्मक समस्त जगत भी अचेत्यात्मक एकमात्र चिन्मात्रस्वरूप होकर ही स्थित है ॥१४५॥ परमाकाशस्वरूप ब्रह्म का संकल्प ही ('बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुति में दर्शित प्रथम संकल्प ही) तीनों जगत–रूप होकर चिदाकाश में स्वप्न के सदृश स्वयं ही उत्पन्न हुआ है, वास्तव में द्वैतवादी द्वारा स्वीकृत सत्यवस्तु के सदृश यह सत्य नहीं है, ऐसा समझिए ॥१४६॥

सामान्य जगत में कथित न्याय का घट, पट आदि विशेषपदार्थों में दिग्दर्शन कराते हैं।

जैसे स्वप्न में घट, पट आदि चैतन्याकाशमात्रस्वरूप हैं, वैसे ही इस सामान्य सृष्टि के आरम्भ में विशेषपदार्थ घट, पट आदि भी चैतन्याकाशमात्र स्वरूप ही हैं ॥१४७॥ जैसे स्वप्नकालीन प्रतिभासमात्रस्वरूप नगर में विशुद्धचैतन्यमात्ररूप आत्मा को छोड़कर दूसरा कुछ भी तात्त्विक पदार्थ नहीं है, वैसे ही इन तीनों भुवनों में आत्मस्वरूप विशुद्ध चैतन्यपदार्थ को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है ॥१४८॥ जो कुछ विभिन्न–विभिन्न दृष्टियाँ हैं तथा जो–जो तीनों कालों में रहनेवाले देश, काल और चित्त से युक्त भावात्मक और अभावात्मक पदार्थ हैं, ये सब एकमात्र चैतन्यात्मक आत्मस्वरूप ही हैं, उससे पृथक नहीं है ॥१४९॥ महर्षे, जो परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है, जो तुम्हारा, 'तत्' पदार्थ का, मेरा तथा समस्त जगत का स्वरूपभूत है एवं जो स्वयं परिपूर्णस्वरूप है, ज्ञानरूप सामग्री से पूजा करने योग्य उस देव का, प्रथम प्रश्न के उत्तर में, मैंने तुमसे कथन किया ॥१५०॥ सभी वस्तुओं का, समस्त जगत का, दूसरे का, तुम्हारा और मेरा चैतन्याकाशरूप परमात्मा ही पारमार्थिक स्वरूप है, दूसरा नहीं ॥१५१॥

कथित प्रकरण का, अनुवादपूर्वक, उपसंहार करते हैं।

हे मुने, जिस प्रकार संकल्पमय पदार्थों तथा स्वप्न–नगर में चैतन्याकाशको छोड़कर दूसरा कुछ भी पारमार्थिकस्वरूप पदार्थ नहीं है उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के प्रथमसर्ग से लेकर आजतक चले आ रहे इस संसार में चैतन्याकाशरूप पारमार्थिक शरीर को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है ॥१५२॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

चिति की सर्वात्मता सर्वभोक्तृभाव से स्थिति और
वह जिस प्रकार से जीवदशा को प्राप्त हुई – इन सबका वर्णन।

'चेतनाकाशमात्रात्म यथा सर्वमिदं प्रभो' यह जो तुमने पूछा था, उसका यह उत्तर दिया, यों कहते हैं।

ईश्वर ने कहा : ब्रह्मन्, इस रीति से यह समस्त संसार एकमात्र परमात्मस्वरूप ही है, ब्रह्म ही परम आकाश है और यही सबसे बड़ा देव कहा गया है ॥१॥

परिच्छिन्न देवका पूजन परिच्छिन्न फल ही देता है और इस परम अपरिच्छिन्न देव का पूजन तो समस्त कामनाओं के पर्यवसान की अवधिभूमि भूमानन्द की प्राप्तिरूप फल देता है, इसलिए इस देव का पूजन सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं।

इस परम देव का पूजन सबसे कल्याणकर है, उसीसे सब कुछ प्राप्त होता है, वही समस्त जगत–

सृष्टि के आरोप का अधिष्ठान है और उसी में यह सब व्यवस्थित है ॥२॥ स्वाभाविक, आदि–अन्त से रहित, अद्वितीय, अखण्ड तथा बहुवित्तव्यय, आयास आदि बाहरी, साधनों से सिद्ध न होनेवाला नित्य सुख उसी एकमात्र देव के अर्चन से प्राप्त होता है ॥३॥ हे मुनिश्रेष्ठ, चूँकि तुम विवेकी यानी मुख्य अधिकारी हो, इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि सबसे बड़े इस आत्मदेव की पूजा के लिए महान पुष्पों एवं धूपों का समूह योग्य नहीं है ॥४॥

मूर्ति आदिरूप साकार देव की अर्चना में कौन अधिकारी हैं ? इस प्रश्न पर उसके (मूर्तिरूप देवतार्चन के) अधिकारी बतलाते हैं।

जो विवेक–बुद्धि से सम्पन्न नहीं है तथा जो बालकों के सदृश कोमलचित्तवाले हैं, उन्हीं के लिए कृत्रिम प्रतिमा–प्रचुर देवार्चन का विधान किया गया है ॥५॥

उक्त कृत्रिम प्रतिमा–प्रचुर देवार्चन उत्तम चावल न मिलने पर कोदो खाने के समान है, ऐसा कहते हैं।

वे अव्युत्पन्नमति बालक शम और आत्मज्ञान के अभाव में मिथ्यारूप ही कल्पित पुष्प आदि से कल्पितस्वरूप उस प्रकार की प्रतिमा आदि की पूजा करते हैं ॥६॥ वे बालक आदरपूर्वक अपने संकल्प से रचित स्वल्प पुष्प, धूप आदि सामग्रीरूप उपायों से पूजनकर सन्तोष प्राप्त करते हैं ॥७॥ अपने संकल्पों से रचित पदार्थों से देवार्चन सम्पादन कर जिन कीन्हीं स्वप्न सदृश मिथ्याभूत विमान, अप्सरा आदि साधनों से मिथ्यारूप ही स्वर्गादि फल प्राप्त करते हैं ॥८॥ हे ब्रह्मन्, बालबुद्धि पुरुषों के लिए ही पुष्प, धूप आदि द्वारा अर्चन की कल्पना की गई है और आप जैसे अधिकारी पुरुषों के लिए जो योग्य देवार्चन है, उसे मैं कहता हूँ ॥९॥ हे बुद्धिमान में श्रेष्ठ महर्षे, हम लोगों द्वारा कल्पित प्रपंच के भीतर चक्षु आदि से दिखाई पड़नेवाला मूर्ति आदिरूप देव अनिर्वचनीय मायामय ही है और समस्त त्रिभुवन का आधारभूत एकमात्र परमात्मा ही पारमार्थिक देव है, दूसरा नहीं ॥१०॥ समस्त ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवताओं से तथा समस्त मनोवृत्तियों से परे एवं समस्त पदों से दुर्ज्ञेय शिव ही परम देव है और समस्त विषयभोगों के संकल्पों से वेष्टित ब्रह्मा, विष्णु आदि रूप जो देव हैं, वे साधन से भी पूर्ण नहीं हैं और सर्वविध सुखभोगरूप फलों से भी परिपूर्ण नहीं हैं। (क्योंकि अपने–अपने कर्म और उपासना के तारतम्य अनुसार ही भोगसामग्री और उसके फलभूत सुखका लवमात्र ही वहाँ पर रहता है, यह तात्पर्य है।)॥११॥

आत्मदेव तो पूजा और फल दोनों अवस्थाओं में नित्य, निरतिशय, परमार्थसत्य पूर्णानन्द स्वभाव ही है। इसलिए वही 'देव' यों कहने योग्य है, ऐसा कहते हैं।

हे मुने, दिक्कृत, कालकृत आदि परिच्छेदों से शून्य, समस्त घटादि कार्यों का प्रकाश करनेवाला, निर्मल चैतन्यमात्रस्वरूप परब्रह्म ही देव कहा जाता है ॥१२॥ समस्त कल्पनाओं से वर्जित, सकल भावपदार्थों के भीतर रहनेवाली, निखिल पदार्थों में सत्तास्फूर्ति प्रदान करनेवाली तथा अखिल पदार्थों की सत्ता का अपहरण करनेवाली जो संवित् देवी है, वही देव है ॥१३॥ हे ब्रह्मन्, सत् और असत् के (भाव–अभाव, वर्तमान और उससे अन्य काल, मूर्त–अमूर्त, कार्य–कारण अथवा व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक पदार्थों के) मध्यभूत (अन्तरालवर्ती साक्षिचिन्मात्ररूप अथवा अधिष्ठानरूप होने से मध्यभूत) वह ब्रह्मचैतन्य ही देव कहा जाता है। वही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, करण

एवं ज्योतियों की अपेक्षा बढ़े-चढ़े आत्मारूप सर्वावभासक रूपवाले प्रकाश से युक्त होता हुआ 'ॐ' पद से श्रुतियों में विराट आदि पादत्रयात्मक सम्पूर्ण प्रपंच के प्रविलापन द्वारा 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः' यों व्यवहृत हुआ है ॥१४॥ त्रिकाल अबाधित सर्वानुगत सत्त्व-स्वभाव से उसने सर्वत्र समरूपता प्राप्त की है, वह महाचैतन्य (प्रकाशकों का भी प्रकाशक) यों कहा जाता है और वही सबसे ऊँचा प्रयोजन है, यों श्रुतियों में प्रतिपादित है ॥१५॥ लताओं के अन्दर स्थित रस की नाईं वह सर्वात्मरूप देव व्यवहारकाल में सर्वत्र अनुगत होने के कारण सत्तासामान्य स्थित है। और सर्वबाधकाल में भी महासत्तारूप से स्थित है ॥१६॥

सभी देवता आदि की मुख्य आत्मा होने से वही मुख्य देव है, यों कहते हैं।

हे पापशून्य मुने, अरुन्धती का जो चैतन्यस्वरूप है, तुम्हारा जो चैतन्यतत्त्व है, पार्वतीजी का जो चैतन्यस्वरूप है, उनके गणों में जो चैतन्यात्मता है, जो मुझमें यह चैतन्यस्वरूप है और जो तीनों जगत में चैतन्यस्वरूप विराजमान है, उत्तममति तत्त्वज्ञ लोग उसे ही देवतारूप जानते हैं ॥१७,१८॥

विचार करने पर सम्पूर्ण देवताओं का सारभूत होने से वही देव है, यों कहते हैं।

ब्रह्मन्, हाथ, पैर आदि से युक्त जिस किसी अन्य देवता की कल्पना की जाती है, वह संविन्मात्रस्वरूपता का परित्याग कर दूसरी कौन-सी सारभूत वस्तु हो सकती है, इसे आप कहिए ॥१९॥ एकमात्र चिदात्मा ही इस दृश्य संसार का सार है, इसलिये सकल सारभूत वस्तुओं की भी साररूपता को प्राप्त हुआ वह परिपूर्ण देव ही मैं हूँ, उसीसे सब कुछ प्राप्त किया जाता है ॥२०॥ हे ब्रह्मन्, वह न तो दूर ही स्थित है और न किसी के लिए दुष्प्राप्य ही है। वह सदा इसी शरीर तथा सम्पूर्ण आकाश में सर्वत्र ही स्थित है ॥२१॥

वही सबका कर्ता और भोक्ता है, यों कहते हैं।

वही आत्मदेव क्रिया करता है, वही खाता है, वही पालन करता है, वही जाता है, वही श्वास लेता है, वही गाता है और वही अंग-अंग को जानता है ॥२२॥ हे मुनीश्वर, वही इन चित्र-विचित्र चेष्टाओं से युक्त, उसीके कारण चेतनावाली तथा उसीके स्वरूप से निबद्ध इस शरीररूपी नगरी में निवास करता है, इस विषय में प्रमाणतया यह श्रुति भी है – 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' ॥२३॥ शरीररूपी बड़े घर से युक्त उसके प्रसाद से संचरणशील तथा दुर्विज्ञेय अन्नमय आदि बहिःकोशों से समन्वित इस बुद्धिरूप गुहा में वही गुहेश्वर यानी आनन्दमयकोशरूप गुहा का ईश्वर होकर स्थित है ॥२४॥ जो मन को लेकर छः इन्द्रियों की प्रवृत्ति-सत्ता से रहित तथा निर्मल रूपवान है, उस आत्मदेव का उपदेशादि व्यवहार के लिए 'चित्' यह काल्पनिक नाम पड़ा है ॥२५॥ वही यह परमात्मा चिद्रूप, सूक्ष्म, सर्वव्यापी और मायारहित है। वही भास्य के आरोप-काल में इस भास्वर सांसारिक आभास का मानों निर्माण करता है और भास्य के अपवाद-काल में निर्माण नहीं भी करता है ॥२६॥ हे प्राज्ञ, वह चिति अत्यन्त निर्मल है और वह इन जागतिक क्रियाओं को जगत के लिए उस प्रकार शोभित करती है, जिस प्रकार वसन्त ऋतु रस से लता को शोभित करती है ॥२७॥ चैतन्य के जो सुन्दर चमत्कार (आरोप्य में सत्तास्फूर्तिप्रदान रूप) है, वे चैतन्य में मायाशबल द्वारा पहले के काम, कर्म और वासना के अनुसार जो कोई अवस्थित हैं, उनका आविर्भाव करते हैं। *(उन चित् चमत्कारों का ही कल्पना से नामोल्लेख करते*

हैं।) इसलिए उन चमत्कारों में कोई तो आकाश नामवाले हैं, कोई जीव नामवाले हैं कोई चित्त नामवाले हैं, कोई कला नामवाले हैं, कोई देश नामवाले हैं, कोई क्रिया नामवाले हैं, कोई द्रव्य नामवाले हैं और कोई यास्कमुनि द्वारा उक्त 'जायते, अस्ति, वर्धते' आदि भावविकार तथा विभिन्न गुणों की जाति के वैचित्र्य और औचित्य से अन्यान्य चित्र–विचित्र नामवाले हैं, कोई प्रकाश नामवाले हैं, कोई पर्वत, अन्धकार आदि नामवाले हैं, कोई सूर्य, इन्द्र आदि नामवाले हैं तो कोई यक्ष नामवाले हैं ॥२८–३१॥

तब क्या चैतन्य अपने भोग की इच्छा से जगत–सृष्टि करता है, इस प्रश्न पर 'नहीं' ऐसा उत्तर देते हैं।

जिस प्रकार अपने इच्छाशून्य स्वभाव से युक्त वसन्त ऋतु द्वारा अंकुर विस्तारित होता है, उसी प्रकार (🕭) इच्छाशून्य स्वभाववाले इस चिदात्मा द्वारा यह जगत की शोभा विस्तारित होती है ॥३२॥ इन संपूर्ण त्रैलोक्यरूपी समुद्रों के तात्त्विक स्वरूपोंका विचार करने पर अकेली चिति ही सदा उनके वास्तविक स्वरूपभूत जल समूह के स्थान में स्थित है, न कि कोई दूसरी वस्तु ॥३३॥

भोक्ता के अविवेक से उसमें मानसिक संकल्प से जनित भोक्ता आदि त्रिपुटी का प्रकाशकत्व ही भोक्तृता है, ऐसी कल्पना की जाती है, इस आशय से कहते हैं।

शरीररूपी कमल में भ्रमणशील मनरूप भ्रमर द्वारा संचित की गई संकल्परूपी मधुसत्ता का अपने में आरोपित समस्त पदार्थों के अवभासन में समर्थ चिति ही आस्वाद लेती है ॥३४॥

इसी तरह उसमें कर्तृत्व भी अपने में आरोपित कारकों के परिभ्रमणप्रकाश के निमित्तरूप ही है; इस आशय से कहते हैं।

देव, दानव और गन्धर्वों से युक्त तथा पर्वत, समुद्र आदि से समन्वित यह सम्पूर्ण जगत चैतन्य में स्थित होकर उस प्रकार घूमता रहता है, जिस प्रकार जल–भँवरी में जल ॥३५॥ बन्धन में डालनेवाले चित्तविकारात्मक (कर्तृत्व–भोक्तृत्वात्मक) आचार से सुन्दर एवं चपल व्यष्टि जीवों के संसरण–चक्रों से युक्त जीव समष्टि संसाररूप चक्र, जो भ्रम का आश्रय है, मायाशबल चक्र में घूमता रहता है ॥३६॥

(🕭) इस विषय में भगवान श्री गौडपादाचार्यजी ने कहा है : भोगार्थं सृष्टिरित्येके क्रीडार्थमिति चाऽपरे। देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ कोई लोग भोगार्थ सृष्टि मानते हैं और कोई लोग क्रीडार्थ सृष्टि मानते हैं, परन्तु परब्रह्म परमात्मा की स्वभावभूतअविद्या का विलास ही यह सृष्टि है, क्योंकि आप्तकाम परमात्मा को किसी प्रकार की इच्छा हो ही नहीं सकती। यदि शंका हो कि 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (परमात्मा ने इच्छा की कि प्रजारूप से मैं बहुत हो जाऊँ) इत्यादि श्रुति के साथ विरोध हो जायेगा, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादि अन्य श्रुतियों में इच्छा, प्रयत्न आदि निरपेक्ष परमात्मा के निःश्वासरूप ही ऋग्वेद आदि हैं, ऐसा कथन है। तथा 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि समान तात्पर्यवाली दूसरी श्रुति की अनुकूलता के लिए 'सोऽकामयत' इस वचन का तात्पर्य एकमात्र अचेतनरूप प्रधान आदि में कर्तृत्व-शंका का निवारण करना ही है। इसीलिए भगवान बादरायण ने भी कहा है 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' ('सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतियों में ईश्वर ने इच्छा की, ऐसा कथन होने से सांख्यशास्त्रोक्त प्रधान आदि जगत के कारण नहीं हो सकते।)

कथित लक्षणवाले चिति के ही समस्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व का विशेषरूप से वर्णन करते हैं।

चिति ने ही आयुधों से परिपूर्ण चतुर्भुजरूप से समस्त असुर समूह का उस प्रकार विनाश कर दिया था, जिस प्रकार वर्षाऋतु इन्द्रधनुष से युक्त मेघ-खण्डरूप से धूप का विनाश कर देती है ॥३७॥ हे ब्रह्मन्, चिति ने ही वृषभ और चन्द्रमा के चिन्हों से युक्त त्रिनेत्ररूप धारणकर गौरीरूपी कमलिनी के मुखपद्म में भ्रमररूपता प्राप्त की ॥३८॥ भगवान नारायण के नाभि-कमल में मानों भ्रमररूपता प्राप्तकर ध्यान में आसक्त मनवाली चिति वेदरूपी कमलिनी का महान सरोवरस्वरूप ब्रह्माजी की आकृति धारण करती है ॥३९॥ हे ब्रह्मन्, जिस प्रकार वृक्ष के अनेक पत्ते होते हैं अथवा जिस प्रकार सुवर्ण में चित्र-विचित्र केयूर आदि का निर्माण होता है, उसी प्रकार चिति के चित्र-विचित्र अनेक प्रकार के शरीर यहाँ दिखलाई पड़ते हैं ॥४०॥ समस्त देवताओं की सेना से चारों ओर वन्दित-चरणवाली इन्द्रलीला के द्वारा चिति ही त्रैलोक्य में वन्दनीयता धारण करती है ॥४१॥ त्रिलोकी के अन्दर आकाश में सूर्य आदि तेजोरूपता प्राप्तकर यह चैतन्य अपने स्वरूप में ही उस प्रकार उदित, चलित और विलीन होता है, जिस प्रकार समुद्र में जल ॥४२॥

साक्षात् भी चिति आनन्दप्रकाश में कारण है, यह कहते हैं।

चारों दिशाओं में प्रकाश का विस्तार कर रही चितिरूपी चन्द्रिका समस्त भूतसत्तारूपी कुमुदिनी का विकास करती है ॥४३॥ चितिरूपी दर्पण की महालक्ष्मी (स्वच्छ प्रकाशस्वरूप शोभा या वैष्णवी माया) अनुग्रहपूर्वक अपने ही भीतर उस प्रकार तीनों जगत का प्रतिबिम्ब धारण करती है, जिस प्रकार गर्भिणी अपने भीतर अपना गर्भ धारण करती है ॥४४॥ ब्रह्मन्, जिस प्रकार रसशक्ति जलसमूहरूप होकर समुद्र की स्वरूपसत्ता का सम्पादन करती है, उसी प्रकार चितिसत्ता भी चौदह भुवनों में अवस्थित भूतों के बड़े-बड़े समूहों की स्वरूपसत्ता का सम्पादन करती है ॥४५॥

अब उसी चिति का लतारूप से वर्णन करते हैं।

मायाकाशरूपी क्यारी में उत्पन्न हिरण्यगर्भ रूप से अंकुरित, घनीभूत संकल्परूपी पल्लवों से युक्त चित्र-विचित्र आलोकरूपी फूलों से सुशोभित और समस्त पदार्थों में सत्यस्वरूपतारूप फल देनेवाली यह चिति ही एक तरह की लता है ॥४६॥ चिद्रूपी यह लता अनेकविध जीवों के समूहरूप धूलि-पुंज में वासनारूपी जल से सिंचित है, उसके चारों ओर सविकल्प ज्ञानरूप छाल लगी है। चित्तवृत्तिरूप कलियों से वह भरी है। अतीतकालीन असंख्य त्रिजगत रूपी केसरों से उसका स्वरूप उज्ज्वल है। निरन्तर चंचल महाविलासों से जनित उल्लास ही उसका हास्य (विकास) है। समस्त ऋतुरूपी पोरों से वह अत्यन्त कठिन है, जड़ पर्वत आदि ही उसमें गुल्म हैं। जरायुज, अण्डज आदि चतुर्विध शरीररूपी ग्रन्थियों से वेष्टित तथा प्रवृत्तिरूपी प्रतानों से यह आमूलजूड आवृत है इस प्रकार की यह चितिरूपी लता विकसित होकर स्थित है, इसीके द्वारा-अत्यन्त कोमल, सत्असत्-आकृति, अतएव वास्तव में युक्तियों से सिद्ध न हो सकनेवाले, चित्र-विचित्र तथा चन्द्रकान्ति के सदृश अत्यन्त विस्पष्ट से दृश्यरूप अनेक कुसुमों का-सर्वत्र उत्पादन, अभिमान और विस्तार किया जाता है। इसीसे वस्तु का कथन और निर्माण भी होता है ॥४७-५१॥ इसी महाचैतन्य से सूर्य आदि सदा प्रकाशित होते हैं और उसी चिति के स्वरूपभूत सत्य, प्रकाश तथा शरीरादि जड़-पदार्थों के

अविवेक से जनित भोक्तृ–भोग्यतारूप विभ्रमों से दम्पती के शरीर, वास्तव में अमंगलरूप होने पर भी, एक दूसरे के प्रीतिभाजन होते हैं ॥५२॥ झंझावात के आवर्त में रहनेवाली, एकमात्र चिति से ही सिद्ध हुई और उसी की सत्ता के कारण दर्शनयोग्य आकार से युक्त हुई जगत्समूहरूपी धूलिरेखा चित् से व्यतिरिक्त–सी होकर नाचती रहती है ॥५३॥ त्रैलोक्य के प्रकाशन के लिए दीपक की शिखारूप यह चिति ही इस समस्त जगत के कार्यों को उस तरह भलीभाँति प्रकाशित करती है, जिस तरह प्रसिद्ध दीपक रूपवान द्रव्य को प्रकाशित करता है ॥५४॥

जगत का प्रकाश एकमात्र चिति के ही द्वारा होता है, इसका उपपादन करते हैं।

निर्मल चितिरूपी चन्द्रबिम्ब में खरगोश की नाईं सम्बन्ध प्राप्त कर यह जगत में अवस्थित पदार्थ–शोभा सर्वत्र दिखाई पड़ती है ॥५५॥ चितिरूपी अमृत के सिंचन से यह पदार्थ–समूहों की पंक्ति ही उस प्रकार रूप और फल धारण करती है, जिस प्रकार वृष्टि से सिंचित उत्तम लता फल धारण करती है ॥५६॥

शंका हो कि यदि चिति ही अमृत की नाईं पदार्थ–समूहों के चारों ओर व्याप्त होकर स्फुरित होती है तो उनमें जड़ता नहीं होगी, क्योंकि चारों ओर रस से आर्द्र होने पर शुष्कता की प्रसक्ति हो ही नहीं सकती ? तो इस पर कहते हैं।

चिति की छाया से ही इन सम्पूर्ण शरीरों के अन्दर जड़ता का ऐसे भलीभाँति उदय होता है, जैसे समस्त घरों के अन्दर प्रकाश–छाया से अन्धकार का भली प्रकार उदय होता है। *(तात्पर्य यह है कि पंचीकरण–प्रक्रिया के अनुसार यद्यपि घर भी चारों ओर तेज से व्याप्त है, क्योंकि उसमें तेज का भी संमिश्रण हुआ है, इससे उसके भीतर अन्धकार की स्थिति हो नहीं सकती; तथापि तेज की जो प्रकाशरूपता है उसके पंचीकरण में संमिलित अन्यान्य पृथ्वी आदि भूतखण्डों से तिरस्कृत होने के कारण बाह्य प्रदेश में अभिव्यक्त सूर्य–प्रकाश की व्याप्ति–दशा में तज्जनित छाया से भीतर उसका जिस प्रकार आविर्भाव होता है, उसी प्रकार घटादि के अधिष्ठानभूत चैतन्य की प्रकाशरूपता के भी अध्यस्त पदार्थ से अभिभूत होने के कारण बाह्य प्रदेश चाक्षुषवृत्ति आदि के द्वारा अभिव्यक्त हुई चिद्व्याप्ति के स्फुरण–काल में उससे जनित छाया से जड़ता का भीतर उदय होता है)* ॥५७॥

इस परिस्थिति में जैसे सूर्य आदि के प्रकाश से ही घर, महल आदि चित्रविचित्र आकृतियों की सिद्धि होती है, वैसे ही देह के अन्दर अभिव्यक्त प्रमातृचैतन्य के चमत्कार से ही गाय, घोड़ा, घड़ा, कपड़ा आदि चित्र–विचित्र आकृतियों की सिद्धि होती है, दूसरे प्रकार से नहीं, ऐसा कहते हैं।

यदि देह में ये चैतन्य के चमत्कार न रहेंगे तो तीनों लोकों में रहनेवाले साकार पदार्थ छाया और जड़ता का त्यागकर दूसरे किसी भी प्रकार की आकृति का स्पर्श न करेंगे, क्योंकि छाया और जड़ता का परित्यागकर आकृतिसाधक दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, यह भाव है ॥५८॥ जिसमें चैतन्याकाश का प्रकाश विद्यमान है, ऐसे इस देहरूपी घर में संकल्प रूपी लड़कों को धारण करनेवाली, विहित एवं निषिद्ध क्रियाओं में प्रवृत्तिरूप चंचल कुलवधू परिस्फुरित होती है ॥५९॥

कथित अर्थ का अनुभव कराने के लिए व्यतिरेकी दृष्टान्त से प्रसिद्ध उदाहरणों में समर्थन करते हैं।

हे मुने, किसी व्यक्तिविशेष की जीभ के अग्रभाग में व्याप्त हो रहा भी रस चित्प्रकाश के बिना किसी प्रकार किसी समय कहीं पर अनुभव में आता हो, ऐसा क्या देखा गया है ? ॥६०॥ हे भद्र, सुनो ! यद्यपि इस देहरूपी वृक्ष में हाथ, पैर आदि अपने अंग ही शाखाएँ हैं और केशों का समूह ही सुन्दर लताओं का समूह है; तथापि यह वृक्ष क्या पर्याप्तरूप से चैतन्य सम्बन्ध के बिना किसी तरह शोभित हो सकता है ? ॥६१॥

ऐसी स्थिति में जैसे जल के अधीन तरंग आदि समस्त भावपदार्थ परमार्थतः जलस्वरूप ही होते हैं, वैसे ही चैतन्य के अधीन जन्म, वृद्धि आदि समस्त भावस्वरूप जगत परमार्थतः चैतन्यमात्रस्वरूप ही है, यों उपसंहार करते हैं।

यह चिति बढ़ती है, लुढ़कती है और भक्षण करती है। चराचर पदार्थों का निर्माण करनेवाली भी यह चिति ही है, दूसरा नहीं। इसलिए एकमात्र चितिस्वरूप ही यह उत्पन्न जगत है ॥६२॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चन्द्रमा की किरणों के सदृश निर्मलवाणी से त्रिनेत्र श्रीशिवजी ने जब वैसा कहा, तब फिर मैंने भी चन्द्रमा की किरणों के सदृश निर्मल वाणी से उनसे पूछा ॥६३॥ महाराज, यदि अकेली चिति ही सर्वत्र व्याप्त है तो तत्स्वरूप यह देह निद्रा, मुर्च्छा, मरण आदि अवस्थाओं एवं अन्यान्य दृश्यों में मृत्तिकाप्रचुर भूतविकाररूप चक्षु आदि इन्द्रियों से शून्य दीवार की नाईं चमकती नहीं है, यह क्यों ? ॥६४॥

उसीका पुनः स्पष्टीकरण करते हैं।

ये देह आदि दृश्यभाव से पहले और जीवनदशा में चेतन होकर तदनन्तर दृश्य एवं मरण आदि दशा में चैतन्य से हीन रहते हैं यह प्रत्यक्ष अनुभवरूप कल्पना लोक में किस तरह होती है ? क्योंकि चैतन्य के अविनाशिस्वभाव और अपरिणामी होने से उसमें किसी तरह की जड़ता हो ही नहीं सकती ॥६५॥

'यथा तच्चेतनस्यैव जीवादित्वं तदुच्यताम्' इस पूर्व प्रश्न का उत्तर बिना सुने ही वसिष्ठजी ने यह एक और दूसरा प्रश्न किया है, तो भी एक साथ दोनों प्रश्नों का उत्तर देने की इच्छावाले भगवान श्री शंकर कहते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे ब्रह्मन्, जो आपने प्रश्न किया है, वह सब कुछ (पहले किये गये प्रश्नों के उत्तरों से युक्त सब कुछ) मैं आपसे कहता हूँ; इसे सुनिए। हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ, आपने यह एक बहुत बड़ा प्रश्न किया है ॥६६॥

कहे जानेवाले उपोद्घात से पहले शरीर में बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद से दो प्रकार का चैतन्य बतलाते हैं।

हे ब्रह्मन्, वस्तुतः इस शरीर में दो प्रकार की सर्वभूतमयात्मिका चिति है, एक तो व्यष्टि-समष्टि-बुद्धि में आसक्त स्वभाव रखनेवाली (विज्ञानमय शब्द से कही जानेवाली कर्ताभोक्तास्वभाव से युक्त) है और दूसरी अशेष विकल्पों से शून्य कूटस्थ ॥६७॥

जिस प्रकार चिति का चलस्वभाव उपाधि-प्रयुक्त है, उसी प्रकार उसका भेद भी उपाधि प्रयुक्त ही है, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, जैसे सुन्दर शीलवाली स्त्री स्वप्न में दूसरे उपपति से युक्त होकर दुःखस्वभाववाली होती हुई

अन्य–सी प्रतीत होती है, वैसे ही वह चिति ही 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादि श्रुतिप्रदर्शित संकल्प से अपनी आत्मा को ही जीवात्मा समझती हुई भीतर स्वयं अन्य–सी होकर अवस्थित है ।।६८।। जिस प्रकार इस संसार में वही (सुशील ही) पुरुष क्रोधवश क्षणभर में राक्षस–सा क्रूर हो जाता है, वैसे ही यह चिति भी संकल्प–विकल्पात्मक चिह्नों से युक्त होकर दूसरे स्वरूपवाली हो जाती है ।।६९।। हे ब्रह्मन्, उपर्युक्त रीति से विरुद्ध कल्पनाओं से भावित अपने स्वरूप से च्युत हुई चिति क्रमशः जड़तादात्म्य की भावनाकर अपनी ही कल्पना से सविकल्प बुद्धि की विषय हो जाती है ।।७०।। स्वयं चिति ही आकाशसहित सूक्ष्म भूतों की स्वरूपता; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक भोग्यों की बीजरूप चेत्यता यानी मायाउपलक्षित चैतन्य की विषयता प्राप्त करती है और उसके बाद समष्टि–प्राणरूपता प्राप्त करती है ।।७१।।

उस प्रकार की चिति में पंचीकरण प्रयुक्त स्थूलभूतात्मक समष्टि–व्यष्टि–स्थूल–देहरूपता, उसके अन्दर रहनेवाले लिंगदेह में जीवरूपता तथा उसमें बुद्ध्यात्मरूपता का अवलोकन कराते हैं।

पंचीकरण द्वारा सूक्ष्म भूतों से वेष्टित होती हुई क्रमशः यह चिति सातों द्वीप तथा चौहद लोकरूप देश विभाग एवं निमेष से लेकर दो परार्धपर्यन्त कालविभाग से युक्त हो जाती है। तदनन्तर वह प्राणधारण से जीवरूप होती हुई तत्काल ही बुद्धि, अहंकार, मन और चित्तस्वरूप हो जाती है ।।७२।। मनरूपता को प्राप्त हुई चिति उस प्रकार संसार का अवलम्बन कर लेती है, जिस प्रकार 'मैं चण्डाल हूँ' इस भावना से ब्राह्मण चण्डालरूपता का अवलम्बन करता है ।।७३।। ब्रह्मचिति ही अज्ञानयुक्त स्वरूप की प्राप्ति कर देह और जीव के आकार से संकल्पित होकर अज्ञानप्रयुक्त जड़तावश असर्वज्ञ हो जाती है। तदनन्तर बार–बार भोगों के संकल्पों से निरन्तर संसारभागिनी होती है ।।७४।। अनन्त संकल्पों से ओतप्रोत तथा जड़ता के संकल्प से स्थूल हुई यह चिति ही जड़ता से जीवनरूपता का भ्रम उस प्रकार प्राप्त करती है, जिस प्रकार जल पाषाणरूपता (बरफरूपता) प्राप्त करता है ।।७५।। हे मुने, तदनन्तर वही चित्त, मन, मोह, माया इन संज्ञाओं का निर्माणकर निपुणता से जड़ता का आश्रय कर संसार में उत्पन्न होती है ।।७६।। तदनन्तर मोहरूपी मन्दता को प्राप्त हुई, तृष्णारूपी हथकड़ी पड़ने के कारण पीड़ित हुई, काम, क्रोध एवं भय से ग्रस्त, वैभव और दरिद्रतारूपी गर्तों में स्वयं गिरी हुई, अपने असीम विस्तृत स्वरूप का परित्याग कर देनेवाली, स्त्री, पुत्र आदि के वियोगों में शोक आदि विकारों से ग्रस्त हुई, दुःखरूपी दावानल से निरन्तर सन्तप्त हुई, शोक और अशुभों से कृपण हुई, 'प्रत्यक्ष दुःख, मोह आदि स्वभाववाली ही मैं हूँ। – इस शून्यात्मक भ्रम से व्याकुल हुई, एकमात्र देह में आस्था रखनेवाली महान दीनता को प्राप्त हुई, मोहरूपी महाकीचड़ में जीर्ण जंगली हथिनी की नाईं फँसी हुई, वैभव और दरिद्रतारूपी लता–हिंडोलों से चारों ओर चंचल शरीरवाली, निःसार और असीम संसार के विकारों में व्यवहार करनेवाली, अनेक प्रकार के तापों से सन्तप्त हृदयवाली, राग और क्रोध से निरन्तर व्याप्त हुई, अपने झुण्ड से बिछुड़ी हुई हिरनी के सदृश परवश हुई, वैभवों या भूतमात्राओं के आविर्भावकाल में हृष्ट या अभिव्यक्त हुई और उनके तिरोभाव में दीनता या तिरोभाव को प्राप्त हुई, अपने संकल्प से प्राप्त हुई अन्य विभ्रमदृष्टियों में भयभीत होकर उस तरह भाग जाती है जिस तरह वेतालों के बीच से बालिका भाग जाती है ।।७७–८३।। जिस प्रकार ऊँटनी काँटे और नीम के पत्ते खाते समय अपनी

वासना से भावित स्वल्प मधुर रस की अभिलाषा करती है, उसी प्रकार दुःखमय विषयों के रहते चिति उनसे सुख की अभिलाषा करती है। बीच ही में भ्रष्ट होकर एक दोष से दूसरा दोष प्राप्तकर नीचे की ओर गिरती जाती है। अथवा जैसे ऊँटनी विषम ऊँचे तट पर उगे हुए वृक्ष के अग्रभाग में सम्बद्ध मधु-पटल में अवस्थित मधु-बिन्दु चाटने की इच्छा से वृक्ष पर चढ़ने की लालसा करती हुई किये गये एक साथ अगले पैरों के उन्नयन से ही अपने विशाल देहभार के कारण बीच में ही फिसलकर नीचे की ओर विषम प्रदेश में गिरती जाती है, वैसे ही यह चिति भी उन्नत विषम विषयवृक्ष के ऊपर सुखरूपी मधु-बिन्दु चाटने की अभिलाषा से चढ़ने की इच्छा कर रही बीच में ही फिसलकर नीचे की ओर गिरती जाती है ॥८४॥ अनन्तर एक संकट से दूसरे संकट को प्राप्त हुई, एक दुःख से दूसरे दुःख में गिरी हुई एक विपत्ति से दूसरी विपत्ति में पहुँची हुई चिति उत्तरोत्तर अत्यन्त विषम स्थिति प्राप्त करती है ॥८५॥ अनेक अनर्थ-समूहों से युक्त चेष्टाओं से परवश हृदयवाली वह चिति नरक आदि भूमियों में एक कष्ट से दूसरे कष्ट को प्राप्त होकर चारों ओर के तापों से निरन्तर सन्तप्त हुआ करती है ॥८६॥ तदनन्तर क्रमशः मनुष्य शरीर का लाभ होने पर भी बाल्यकाल से लेकर व्यवहार निपुणता के अभ्यास से प्राप्त कौशल द्वारा काव्य, नाटक, तर्क आदि के अभ्यास में तत्पर हुई यह चिति अपने बन्धन के (धन, घर, खेत, परिवार आदि के) निर्माण में अपेक्षित पराक्रम के ही पद को प्राप्त होती है, मोक्षोपयोगी विवेक-पद को प्राप्त नहीं होती ॥८७॥ उस क्रम से अन्तिम अवस्था प्राप्तकर प्राण-विनाशदशा को प्राप्त हुई यह चिति चारों ओर भयभीत होकर उस प्रकार शंकित हो जाती है, जिस प्रकार जल क्षीण होने से भूमि में लोटपोट होने में तत्पर मछली शंकित हो जाती है ॥८८॥

संक्षेप से उक्त अर्थ का विस्तार करते हैं।

बाल्यकाल में चिति के समस्त विषय पराधीन रहते हैं, यौवन काल में धनादि-चिन्ता से उसका विवेक आवृत हो जाता है। वृद्धावस्था में भी अनेकविध दुःखों से पीड़ित रहती है और समय आने पर अपने कर्मों से वशीकृत हुई मर जाती है ॥८९॥

कर्मगति का विस्तार करते हैं।

कर्मगतिवश कभी स्वर्ग-नगर में उत्पन्न होती है, कभी पाताल कुहर में नागिन हो जाती है, कभी दैत्यों के विवरों में आसुरी बन जाती है तो कभी इस पृथ्वी में मनुष्य-स्त्री बन जाती है ॥९०॥ राक्षसों के आश्रय-स्थान में राक्षसी बन जाती है, अरण्य के कोटर में वानरी बन जाती है, पर्वतराजों के शिखर में सिंहिनी बन जाती है तो कभी कर्मवश हिमालय आदि कुलपर्वतों पर किन्नरी बन जाती है ॥९१॥ कभी अपनी कर्मगति से सुमेरु पर्वत पर विद्याधरी बन जाती है, अरण्य बिलों में सर्पिणी बन जाती है, वृक्ष पर लता बन जाती है, घोंसले में चिड़िया बन जाती है, शिखर पर गुल्मिनी बन जाती है तो कभी वन में हिरनी बन जाती है ॥९२॥ चिति ही नारायण होकर समुद्र में नींद लेती है, ब्रह्मा होकर ब्रह्मपुर में ध्यान करती है, हिमालय पर्वत पर आधे अंग में कान्ता से संवलित महादेवजी का रूप धारणकर निवास करती है और स्वर्ग में सुरश्रेष्ठ हरि का रूप धारणकर विराजती है (卐) ॥९३॥ भद्र, संवित् ही सूर्य

(卐) 'पदमेव हि तन्नित्यमनित्याः पदिनः स्मृताः' (ब्रह्मपद ही नित्य है और दूसरे पदधारी अनित्य हैं) इत्यादि शिवपुराण के वचनानुरोध से नारायण आदि का भी जीवगति में ही निरूपण इस

बनकर दिवस का निर्माण करती है, मेघ बनकर जल बरसाती है, वायु बनकर वायुव्यापार करती है एवं पर्वत और महोदधि बनकर पर्वत और महोदधि का व्यापार करती है ॥९४॥ संवित् ही ऋतुघटित संवत्सर का चक्र घुमाती है, सहसा युग, मन्वन्तर आदि काल का निर्माण करती है एवं दिन और रात्रिरूप से क्रमशः प्रकाश एवं अन्धकाररूप बन जाती है ॥९५॥ चिति ही कहीं यानी वृक्ष आदि में बीजरूप तथा उसकी अंकुरता में हेतु रसात्मक उल्लास से परिपूर्ण हो जाती है, कहीं पाषारूपिणी होकर निश्चल पत्थर बन जाती है, कहीं पर जलपूर्ण नदी हो जाती है और कहीं पर कुमुदरूप से फैल जाती है ॥९६॥ कहीं पर फलपंक्तियों के पाकों से उपलक्षित रहती है,कहीं काठ, अनल आदि से उपलक्षित रहती है, कहीं पर शीततावश हिम के सदृश आचरण कर रहे जल से युक्त रहती है और कहीं आकाश और वायु बनकर रहती है और कहीं अन्यरूप बनकर रहती है ॥९७॥ चिति ही कहीं उज्ज्वलित आकारवाली, कहीं कुश–कण्टक आदि से दुर्गम, कहीं शिलारूप, कहीं नीलरूप, कहीं हरितरूप, कहीं अग्निरूप और कहीं महीरूप बन जाती है ॥९८॥ सबकी आत्मा, सर्वत्र एवं माया के योग से सर्वस्वरूप होने के कारण चिति उस तरह जगत–रूप ही हो जाती है। परमार्थ–दशा में तो वह परा चिति आकाश से भी अत्यन्त निर्मल एवं व्यापक ही है ॥९९॥ चिति जब–जब जहाँ पर जिस भाव से जिस तरह अपनी आत्मा का विवर्त द्वारा उपचय करती है, तब–तब वहीं पर उसी भाव का अनुभव उस तरह ऐसे करती है जैसे जल स्पन्द से तरंग आदि रूपंता का अनुभव करता है ॥१००॥

उन्हीं भावों का फिर विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं।

यह चिति हंसी, क्रौंची, बगुली,काकी, सारसी, घोड़ी, वृकी, ऊँचे पैर और चोंचवाली भिन्न जाति की बगुली, अत्यन्त धवल तूल कण्ठ जाति की बलाका, हिरनी, वानरी, किन्नरी, कुत्ती, वटिका, पिंगली, मैना, मक्खी, भौंरी, सुग्गी, धी, श्री, लज्जा, प्रीति, रति, माया, रात्रि और शशी इन तथा इनसे भिन्न अन्यान्य योनियों में यानी देह–विशेषों में इस विवर्तमान संसार में उस प्रकार घूमती रहती है, जिस प्रकार जलावर्त में तिनका ॥१०१–१०३॥ अपने शब्द से गदही की तरह यह चिति अपने ही संकल्प से डरती है इसके सदृश दूसरी कोई भी मुग्धा, चंचला एवं अर्बला बाला नहीं है ॥१०४॥ हे महामुने, यह तुमसे उस जीवशक्ति का निरूपण किया, जो बेचारी प्राकृत आचारों से पराधीन एवं पशुओं के सदृश अनियन्त्रित धर्मवाली है ॥१०५॥ मुनिवर, असीम दुःखपूर्ण विभ्रमों का स्वयं आश्रय करनेवाली 'कर्मात्मा' (कर्मानुसारस्वभावा) इस नाम को प्राप्त हुई इस परमात्मा की यह शक्ति सचमुच शोचनीय है ॥१०६॥ स्वभिन्न सत्ता–स्फूर्ति से रहित, अविद्या से अनियत, विनाशी और स्वाभाविक मलरूप असत् के ऊपर ही इसने ऐसे आक्रमण किया है, जैसे तण्डुल (चावल) ने तुष (भूसी) के ऊपर ॥१०७॥ असीम विभवों से भ्रष्ट हुई तथा दुर्भाग्यरूप परिताप से परितप्त हुई यह चिति जीवरूपता प्राप्त कर ऐसे शोक विमग्न हो जाती है, जैसे पतिविहीना नायिका ॥१०८॥ भद्र, जड़गति अविद्या की सामर्थ्य तो देखो ! जिससे कि पूर्णब्रह्मस्वभाव होती हुई भी शरीरावच्छिन्न चिति अपनी निरतिशयानन्द

श्लोक से किया गया है। अथवा नारायण आदि सारूप्य मुक्त जीवों के विषय में, इसकी योजना करनी चाहिए। अथवा यहाँ से लेकर जीवगतियों का निरूपण नहीं किया गया है, किन्तु चिति सब कुछ व्यापार करती है, यह कहा गया है इसलिए कोई दोष नहीं है।

पूर्णस्वभावता का स्मरण किये बिना मैं शरीरमात्र परिच्छिन्न हूँ, थोड़ा पुण्य क्षीण होने पर मैं न्यून हो गई, यों समझकर अपने पतन के लिए उस प्रकार नीचे की ओर गिरती जाती है, जिस प्रकार मेघ, समुद्र आदि से उपलक्षित समस्त जगत को अपने उदर में समा लेने की सामर्थ्य से युक्त होते हुए भी रहट की घरियों में प्रविष्ट आकाश अपने उक्त स्वभाव का स्मरण किये बिना घटीमात्र से परिच्छिन्न तथा अल्प जल गिरने से मैं खाली हो गया, यों मानकर बार–बार अपने पतन के लिए नीचे की ओर गिरता जाता है, यह बड़ा कष्ट है ॥१०९॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

जिससे मन, प्राण और इन्द्रियों के द्वारा बाहर और भीतर प्रकाश होता है,
उस शुद्ध चिति का जीवरूपता आदि के निषेध से प्रदर्शन।

ईश्वर ने कहा : जिस प्रकार स्वाप्निक मदिरा–मद से जनित मोह में गिरी हुई मुग्धा स्त्री सम्भ्रमकाल में 'मै दुःखी हूँ,' इस भावना से मिथ्या ही दुःख बटोरा करती है, उसी प्रकार अज्ञान–कीचड़ में फँसी हुई यह चिति भी अज्ञानकाल में 'मैं दुःखी हूँ, इस भावना से पूर्ववर्णितमिथ्या ही जीवजगद्भाव बटोरा करती है ॥१॥ जिस प्रकार विपरीत–मतियुक्त मुग्धा स्त्री मरी हुई न होने पर भी मैं मर गई, नष्ट न हुई भी मैं नष्ट हो गई, यों भावना करती हुई रोती रहती है, उसी प्रकार यह चिति भी मैं नष्ट हो गई, मैं मर गई, यों भावना करती हुई झूठमूठ रोती रहती है ॥२॥ विपरीत हुई बुद्धि कुम्हार के घूमते हुए चाक को भी जिस प्रकार बिना निमित्त के ही स्थिर देखती है, ठीक उसी प्रकार यह चिति भी अहन्ता के भ्रम से असत्य इस सम्पूर्ण संसार को बिना कारण ही सत्य देखती है ॥३॥ इस चिति के संसारानुभव में कारण चित्त ही है, लेकिन वह कारणरूप चित्त कोई पदार्थ ही नहीं है; क्योंकि वह चित् या उससे भिन्न अचित् दोनों में से कोई हो ही नहीं सकता। यदि अचित्–रूप मानेंगे, तो वह जगत के अन्तर्गत हो जाने से जगत्कल्पक ही नहीं हो सकता ॥४॥

चित्त की सत्ता सिद्ध न होने से ही उसके चेत्य (विषय) जगत की भी सत्ता सिद्ध नहीं है, यही कहते हैं।

इस प्रकार चित्तरूप कारण का अभाव सिद्ध होने से चेत्य का (जगद्रूप विषय का) भी अभाव सिद्ध ही है। इसलिए जिस चिति के द्वारा श्रमपूर्वक चित्त अनुभूत होता है, वह चिति चित्त और उसके अधीन चेत्य स्वरूप नहीं है, किन्तु शुद्धरूप ही है ॥५॥

चित्त के निषेध से ही चिति में चक्षु आदि इन्द्रियप्रयुक्त दृश्य, दर्शन और द्रष्टारूप त्रिपुटी का निषेध भी सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार पत्थर में तेल नहीं रहता, उसी प्रकार शुद्ध चिति में दृश्य, दर्शन और द्रष्टा का रूप नहीं रहता। जैसे चन्द्रमा में कालिमा (कालापन) नहीं रहती, वैसे ही चिति में कर्ता, कर्म और करण नहीं रहते ॥६॥ जिस प्रकार आकाश में नवीन अंकुर का अभाव है, उसी प्रकार चिति में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इन तीनों का अभाव है। जिस प्रकार नन्दनवन में खैर के वृक्ष का अभाव है, उसी प्रकार

चिति में चित्तवृत्ति, चेतन (चित्तवृत्ति के आश्रय) और चेत्य (उक्त वृत्ति के विषय) आदि का (🕮) अभाव है ॥७॥ जैसे आकाश में पर्वतत्व नहीं है, वैसे ही चिति में अहन्ता, त्वन्ता और तत्ता दूसरी परोक्षवस्तुता) आदि (🕭) नहीं है। जैसे काजल में शंखत्व नहीं रहता, वैसे ही चिति मे स्वदेहत्व और अन्यदेहत्व नहीं रहते ॥८॥ जैसे परमाणु के अन्दर सुमेरु नहीं रहते, वैसे ही इसमें अनेक प्रकार के जीव तथा प्रत्येक शरीर में आत्मा के अभेदाध्यास भी नहीं रहते। इसमें शब्द और अर्थ (नाम और रूप) की कथा तो इस प्रकार नहीं है, जिस प्रकार महा ऊसर भूमि में लता की ॥९॥

'अथा आदेशो नेति नेति' इत्यादि सर्वदृश्यों के शास्त्रीय निषेध भी तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्त ही हैं, क्योंकि चित्तत्त्व का साक्षात्कार होने पर तो प्रतियोगी की प्रसिद्धि न होने से उनका कभी संभव नहीं है, यही कहते हैं।

इस चिति में 'नेति नेति' इत्यादि निषेधपरक श्रुतियाँ ऐसे नहीं हैं, जैसे सूर्य–मण्डल में रात्रि। जिस प्रकार तुषार में उष्णता नहीं रहती, उसी प्रकार इसमें वस्तु से अतिरिक्त वस्तुत्व और अवस्तुत्वरूप धर्म भी नहीं रहते ॥१०॥ इसमें शून्यता और अशून्यता इस प्रकार नहीं है, जिस प्रकार शिला के गर्भ में वृक्ष। आकाश में अनाकाशता की नाईं भिन्न–भिन्न वादियों के द्वारा कल्पित प्रसिद्ध महती शून्यता और अशून्यता विचार करने पर जैसे नहीं रहती केवल केवलीभावलक्षण स्वरूपस्वच्छता ही अवशेष रहती है, न कि अणुमात्र भी उससे कुछ भिन्न, वैसे ही इस चिति में भी शून्यता और अशून्यता है ॥११॥

तब तो सम्पूर्ण अनर्थों का मूलकारण हिरण्यगर्भात्मक समष्टि–चित्त ही इस चिति का दोष है, क्योंकि एकमात्र उसी कारण से चतुर्विध शरीरों में उत्पन्न हुई यह चिति इन सब सांसारिक दुःखों को प्राप्त करती है। उनका हम लोग कभी उच्छेद नहीं कर सकते ? इस शंका पर कहते हैं।

चिति के दोषभूत हिरण्यगर्भ के चित्तरूप निमित्त से उत्पन्न हुई यह चिति इन दुःखों को प्राप्त करती है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु हिरण्यगर्भ द्वारा उत्पन्न किये गये जो देह, इन्द्रिय और उनके विषय हैं, उन सबमें 'अहम्', 'मम' तथा 'ये सब अर्थ सत्य हैं' इत्यादि केवल भावनामात्र से ही यह संसाररूप अनर्थ उपस्थित हुआ है ॥१२॥

इसीलिए तत्त्वज्ञ पुरुष में तथोक्त भावना के अभाव से ही सम्पूर्ण अनर्थों की शान्ति हो जाती है, इसे कहते हैं।

तत्त्वज्ञ पुरुष में तथोक्त 'अहम्', 'मम' तथा 'ये सांसारिक पदार्थ सत्य हैं' इस प्रकार की भावना के अभाव से ही यह सम्पूर्ण अनर्थ अपने–आप संशान्त हो जाता है और तत्त्वज्ञ पुरुष में भी तथोक्त सारी भावनाओं के अभाव के बिना सम्पूर्ण दुःख प्राप्त होते रहते हैं ॥१३॥

यही कारण है कि तृण की नाईं तिरस्कार के योग्य भी यह त्रैलोक्यपदार्थ केवल भावना के यानी वासना के बल से अज्ञानियों के लिए दुःसाध्य होकर स्थित है, इसे कहते हैं।

(🕮) आदिपद से मननकर्ता, मति और मति के विषय; बोद्धा, बोध और बोध के विषय तथा अहंकर्ता (अहमाभिमानकर्ता), अहंकार और अहंकार के विषयों का ग्रहण किया गया है।

(🕭) यहाँ पर आदि पद से स्वदेहत्व आदि धर्मों के आश्रय, उनके व्याप्य धर्म एवं उनके सम्बन्धों का ग्रहण किया गया है।

पूर्वोक्त प्रकार की तव–ममात्मक जो भावना है, वही इस दुःखादि की प्रसक्ति में कारण है, उस भावना में पुरुष की स्वतन्त्रता है यानी वह भावना कर सकता है और नहीं भी कर सकता है। ऐसी स्थिति में जैसे तृण का परित्याग दुःसाध्य नहीं है, वैसे ही त्रैलोक्य का परित्याग भी दुःसाध्य नहीं है ॥१४॥ तथोक्त भावना से स्थित हुआ यह संसाररूपी अनर्थ स्वाधीन होता हुआ भी दुःसाध्य है। *(यदि शंका हो कि अतिसुलभ भावनात्याग स्वयं ही सिद्ध क्यों नहीं होता ? तो इस पर कहते हैं।)* जो–जो कार्य हैं उनकी पुरुष अपने प्रयत्न से यदि सिद्धि नहीं करता, तो वे कहाँ कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? साधारण तृण भी बिना हाथ फैलाये प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥१५॥

केवल भावनामात्र का त्याग कर देने पर परम पुरुषार्थस्वरूप परमार्थ चिति सर्वत्र अनायास ही सुलभ है, इसी आशय से उस चिति का वर्णन करते हैं।

निर्विकल्प, अद्वितीय, परब्रह्मस्वरूपिणी सर्वव्यापक होती हुई सकल तेजों को भी प्रकाशित करनेवाली, स्वच्छ और अति उत्कृष्ट जो यह चिति है, वह पुरुष की केवल एक भावना से प्राप्तव्य है ॥१६॥ वह चिति सम्पूर्ण पदार्थों का अवभास करनेवाली सर्वव्यापक, नित्य, निर्मल, नित्योदित, मन से रहित, सकल विकारों से वर्जित और निरंजन है। एक वही घट और पट में, वट और दीवार में, शकट और वानर में, गदहे और असुर में, सागर और भूत में, तथा नर और नाग में सर्वत्र संस्थित है ॥१७,१८॥ जिस प्रकार दीपक पदार्थों के प्रकाशन के लिए कोई दूसरी क्रिया नहीं करता, केवल अपनी स्वरूपस्थिति से ही प्रकाशन में समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार यह चिति भी साक्षी की नाईं केवल चुपचाप अपने स्वरूप में बैठी रहती है, चलने–फिरने और हिलने–डोलने में समर्थ रहती हुई भी कहीं पर हिलने–डोलने या चलने–फिरने का नाम तक नहीं लेती ॥१९॥ ऐसी सामर्थ्य रखती हुई भी वह चिति केवल देहादिभाव से वास्तव में मलिन न होती हुई भी मलिन हो गई है यानी नानाविध रागद्वेषादि दोषों से संयुक्त हो गई है। इसमें यद्यपि किसी प्रकार का विकल्प है नहीं, फिर भी विविध विकल्पों से युक्त हो गई है। अजड़ होती हुई भी जड़–सी भासती है एवं सर्वगामिनी होती हुई भी असर्वगामिनी ॥२०॥

अब सर्वगामिनी और अत्यंत सूक्ष्म चिति का एक–एक शरीर के अन्दर नख से लेकर सिर तक जो विशेषव्याप्तिलक्षण संचय है, उसमें युक्ति बतलाते हैं।

विशेष प्रकार का अभिमान आदि कोई विकल्प न छूनेवाली, सर्वगामिनी एवं अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप परा चिति प्राणप्रधान लिंग शरीर में प्रतिबिम्बभाव से अनुगत होती हुई हाथ, पैर आदि जो अंग हैं एवं जो हृदय आदि स्थान तथा बहत्तर हजार नाड़ियों के (शिराओं के) भेद हैं, उन सबको व्याप्तकर यानी उनमें प्रवेश कर सर्वत्र पहुँची हुई अपनी संवित् का अपने उतने ही शरीर में मानों जबरदस्ती खींचकर उस प्रकार उपचय करती है, जिस प्रकार लम्बा और सूक्ष्म रेशम आदि तन्तु टेकुआ आदि के ऊपर वेष्टन करने पर अत्यन्त लम्बा होने पर भी अपने को उतने ही स्थान में उपसंहृत कर बेर आदि के आकार के सदृश उपचय प्राप्त करता है ॥२१॥ भद्र, इसी उपचय के कारण जाग्रत पुरुष की चिति बाह्यरूप आदि विषयों के अवलोकन एवं अन्दर मानसिक व्यापारों से वेष्टित होती हुई बोधपक्षपातिनी हो जाती है और निद्रा ले रहे पुरुष की चिति तो स्वप्न में वासनामय रूप आदि के अवलोकन एवं मनोव्यापारों से वेष्टित होती हुई दो पक्षों का यानी भीतर बोध और बाहर अबोध इन दो पक्षों का

अवलम्बन करती है। इसी प्रकार सुषुप्ति में अज्ञानमात्र की साक्षिणी एवं 'मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार उठे हुए पुरुष के स्मरण से सदसदात्मक होती हुई भी चिति असत्प्राय होकर अबोधपक्ष का ही अवलम्बन करती है ॥२२॥ जिस प्रकार साधु हुआ पुरुष भी दुर्जन–संगति से चिरकाल तक चित्त के संस्कृत होने पर दुर्जन की इच्छाएँ लेकर असाधु हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त स्वच्छ परा चिति ही देहादि में तादात्म्याभिमान करने से तदनुकूल–प्राप्ति की और प्रतिकूल परिहार आदि की चिन्ता करती है (और स्वयं जड़ देहादिरूप हो जाती है।)॥२३॥

इसीलिए चित्त के पुनः ब्रह्मरूपता से भावित होने पर वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है, इस आशय से दृष्टान्त कहते हैं।

जिस प्रकार मालिन्य से सुवर्ण ताम्ररूप हो जाता है और मल का शोधन करने से फिर सुवर्णरूप हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानरूप मल का शोधन करने से परमचिति अपने विशुद्ध स्वरूप में हो जाती है ॥२४॥ जिस प्रकार सुन्दर दर्पण अपने ऊपर आरोपित मल की शान्ति से प्रतिमा स्थिति (बार–बार प्रतिबिम्ब की अभिव्यक्ति के योग्य स्वच्छतारूप स्थिति) प्राप्त करता है, उसी प्रकार अज्ञान से जड़ता, जीवता आदि सृष्टि मानों प्राप्तकर स्थित हुई चिति भी तत्त्वज्ञान से अपना स्वच्छतारूप कैवल्यपद प्राप्त करती है ॥२५॥ असत्–रूप अज्ञान के लाभ से चिति का संसार बढ़ता जाता है और सच्चिदानन्दस्वरूप चितिस्वभाव के ज्ञान से यह संसार असत्–रूप ही होकर शान्त हो जाता है ॥२६॥ चयनस्वभाव होने के कारण जब चिति अपने भीतर असत्–रूप भिन्नता का संचय करती है, तब मानों अहन्ता प्राप्तकर स्वयं अविनश्वरस्वभाव होती हुई भी यह एक तरह से नष्ट हो जाती है ॥२७॥ जैसे थोड़े से स्पन्दन से यानी डण्ठल के वियोजक प्रच्युतिमात्र से पर्वत के तट प्रान्त–प्रदेश में स्थित वृक्ष से फल नीचे गिरता है, वैसे ही अज्ञान के स्पन्दन से संवित्ति का यह जीवभाव भी एक तरह का महान अधःपतन है ॥२८॥ रूप आदि विषयों की जो यह सत्ता है, वह चिति की ही है। चिति स्वयं निर्मल ही है। भेद और अभेदाध्यास तो एकमात्र अज्ञान से जनित हैं और वे ज्ञान से विलीन हो जाते हैं ॥२९॥ चित्तसाक्षी की केवलसत्ता से ही चित्त, इन्द्रिय आदि में ज्ञान ऐसे होता है, जैसे केवल आलोक–सत्ता से क्रियाओं में व्यवहार होता है ॥३०॥

सामान्यरूप से कथित विषय का विशेषरूप से चक्षु आदि इन्द्रियों में विभागशः उपपादन कर रहे भगवान शंकरजी सर्वत्र चिति की ही फलरूपता बतलाते हैं।

चिति–सन्निधि से प्रेरित हुए व्यानवायुरूप निमित्त से चक्षु की कनीनिकाओं में स्पन्द होता है। उसमें अवस्थित प्रकाश (तैजस इन्द्रिय) चक्षु कही जाती है। उस चक्षु के द्वारा, नाली के सदृश, बाहर की ओर प्राप्त कराये गये अन्तःकरण से व्याप्त घट आदि में उसी के समान आकारवाले नील, पीत आदि रूप एवं उसकी (घट आदि की) आकृति का जो बोध होता है, वह परा चिति ही है ॥३१॥ इस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय से होनेवाले त्रिपुटी–भानस्थल में भी त्वगिन्द्रिय और वायु दोनों जड़ एवं तुच्छ (स्वतः सत्तास्फूर्तिशून्य) हैं, इसलिए चिति की सत्तास्फूर्ति के बल से ही त्वचा और पवन का सम्बन्ध होता है और वही सम्बन्ध स्पर्शेन्द्रिय–कल्पना का निमित्त होने से स्पर्श कहा जाता है। उसके द्वारा उससे सम्बद्ध शीत–उष्ण आदि द्रव्यों में जो शीतादि आकार की मनोवृत्ति होती है, वह स्पर्शज्ञान कहा जाता

है और स्पर्शज्ञान से युक्त विषयपर्यन्त जो त्रिपुटी का प्रकाश है, वह परा साक्षी चिति है ॥३२॥ इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय और गन्धरूप से विभक्त हुए गन्ध-तन्मात्रा का नासापुट में प्रवेश करनेवाले पवन द्वारा किया गया जो उनका सम्बन्ध है, वही गन्धाकार अन्तःकरणवृत्तियों का निमित्त होने से गन्ध-संवित् कहलाती है। गन्धाकार अन्तःकरण वृत्तियों की त्रिपुटियों का अन्तःकरण से शून्य (विविक्त) जो प्रकाशात्मक ज्ञान है, वह साक्षी चैतन्य ही है ॥३३॥ शब्दतन्मात्रा और श्रवणेन्द्रिय का व्यानवायु के संसर्ग से उत्पन्न मनोवृत्ति रूप शब्दसंवित्तियों में मन का अंश छोड़कर सुषुप्ति के सदृश निर्विकार साक्षीरूपा जो संवित्ति है, वही परम चिति उदाहृत है। इसी प्रकार रसनेन्द्रियजनित त्रिपुटी के साक्षात्कारफल में भी साक्षी चैतन्य का पृथक्करण कर अनुभव करना चाहिए ॥३४॥

इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्तियों में हेतुभूत संकल्पस्वरूप मनोवृत्ति, उसके मालिन्य के साक्षीरूप से भी आत्मचैतन्य ही स्थित है, ऐसा विवेक करना चाहिए, यों कहते हैं।

कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति में तत्परता संकल्प से होती है, वह संकल्प मननजनित है, वह मनन चित्त की कलुषता के कारण होता है और उन सबका साक्षी आत्मरूपा चिति सर्वविध मलों से निर्मुक्त है ॥३५॥

ऐसी स्थिति में जब कि आन्तर और बाह्य समस्त द्वैतप्रकाश साक्षिचैतन्यमात्रस्वरूप ही है, तब सम्पूर्ण द्वैतप्रपंच उसी साक्षी चैतन्य में अध्यस्त है, यह अनायास फलित हुआ, यह कहते हैं।

जिस प्रकार स्फटिक-शिला अपने भीतर अरण्य पर्वत, नदी आदि का प्रतिबिम्ब धारण करती है, उसी प्रकार अपने स्वरूप में ही स्थित प्रकाशस्वरूप नित्य चिति भी अपने भीतर यह जगत धारण करती है ॥३६॥ किसी तरह के विकार आदि के बिना इस जगत को धारण कर रही अद्वितीया यह चिति न अस्त होती है, न उदित होती है, न स्पन्दित होती है और न बढ़ती ही है ॥३७॥ संकल्पशून्यस्वरूप यह चिति अपने-आप, संकल्प से जीवरूपता प्राप्त कर जड़ जगत का स्वरूप चैतन्य ही है, यों भावना करती हुई अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाती है ॥३८॥

अब चैतन्य के बाहर निर्गमन में रथ-परम्परा की कल्पना करते हुए कहते हैं।

इस चिति का रथ जीव है, जीव का रथ अहंकार है, अहंकार का रथ बुद्धि है और बुद्धि का रथ मन है ॥३९॥ मन का रथ प्राण है, प्राण का रथ इन्द्रिय समूह है, इन्द्रियसमूह का रथ देह है और देह का रथ कर्मेन्द्रिय-समुदाय है ॥४०॥ सभी रथों का कर्म संसार में परिभ्रमण ही है। जरा एवं मरणधर्मवाले देहरूपी पिंजड़े से युक्त जीवरूपी पक्षी का यह दोलाचक्र इसी प्रकार घूमता रहता है ॥४१॥

मायिकत्व का ही उपपादन करते हैं।

इस प्रकार का असदात्मक यह जगद्रूप चक्र विशाल स्वप्न की नाईं आत्मा में ही प्रतिभासित होता है, मृगतृष्णिका-जल के सदृश आभासरूप से स्थित यह तनिक भी सत्य नहीं हो सकता ॥४२॥

'मन का रथ प्राण है' यह जो कहा गया है, उसमें वक्ष्यमाण अर्थोपयोगी कुछ वैशिष्ट्य कहने के लिए उपपत्ति कहते हैं।

हे मुनीश्वर, मानस कल्पना का निमित्त होने से यहाँ पर मन का रथ प्राण कहा गया है। जहाँ पर प्राण-वायु रहता है, वहीं पर मननात्मक संकल्प की स्थिति रहती है ॥४३॥ जहाँ पर प्रकाशलक्ष्मी

स्थित रहती है, वहीं पर रूप प्रकाशित होता है। सूत्ररूप होने के कारण सबका धारण और संचालन करने में समर्थ बलवान प्राण-वायु जहाँ स्थित रहता है, वहीं स्पन्दित होता है। ठीक ही है, जिस वन की ओर आँधी जाती है, वही वन कम्पित होता है ॥४४॥

इसी प्रकार मन भी प्राण-क्रिया का निमित्त है, यों व्यतिरेक सहचर के प्रदर्शन द्वारा कहते हैं।

मन के हृदय-आकाश में विलीन हो जाने पर प्राण-वायु उस प्रकार कम्पित नहीं होता, जिस प्रकार तेज का अभाव हो जाने पर रूप प्रकाशित नहीं होता ॥४५॥

इसी प्रकार प्राण के निरोध से भी मन का निरोध होता है, यह कहते हैं।

प्राण-वायु के भली प्रकार शान्त हो जाने पर मन भीतर उस प्रकार तनिक भी कम्पित नहीं होता, जिस प्रकार आँधी के शान्त हो जाने पर धूलि ॥४६॥

इसीलिए मन का रथ प्राण है, यह कहा गया है, यों कहते हैं।

जहाँ पर प्राण-वायु जाता है, वहीं पर मन रहता है। ठीक ही है, जहाँ-जहाँ रथ गमन करता है, वहीं सारथि भी रहता ही है ॥४७॥ जिस प्रकार क्षेपण-यन्त्र से (गोफन से) फेंका गया पाषाण तत्काल देशान्तर में चला जाता है, उसी प्रकार प्राण के द्वारा प्रेरित हुआ चित्त उसी क्षण देशान्तर में चला जाता है। वहाँ प्राण का निरोध होने पर मन क्षीण हो जाता है ॥४८॥ जहाँ पुष्प रहता है, वहाँ गन्ध रहती है; जहाँ आग रहती है, वहाँ उष्णता रहती है; जहाँ समष्टि-व्यष्टि प्राण रहता है, वहाँ मन जाता है एवं जहाँ पर चन्द्र और चन्द्रांश मन रहता है, वहीं चाँदनी और मनोवृत्तियाँ रहती हैं ॥४९॥

इसीलिए चाक्षुष आदि संवित्तियों में प्रत्येक संवित्ति के प्रतिवायु भी निमित्त है, यह मैंने पहले ही बतला दिया था, इस आशय से कहते हैं।

संवित्ति वायु के स्पन्दन से होती है, उस वायु का समस्त अंगों में अन्नरस के प्रवेश के लिए सब नाड़ियों के साथ स्पर्श होता है और चित्त एवं मन से युक्त लिंग शरीररूप प्राण कोटर में चिति का, बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से द्विगुणीकरण द्वारा, जो विस्पष्ट रूप होता है, वह भी उसी वायु से होता है ॥५०॥ आकाश की नाईं अत्यन्त स्वच्छ संवित् सभी जड़ और अजड़ स्थलों में रहती है, परन्तु लिंग शरीर में प्राणों के स्पन्दन से स्पष्ट अभिव्यक्ति द्वारा वह एक तरह से संचलन कर रही-सी अनुभूत होती है ॥५१॥ सामान्यसत्तामात्रस्वरूप से सब जड़ पदार्थों में भली प्रकार स्थित हुई भी वह चिति एकमात्र जड़ देह में ही प्राण-वायु द्वारा उद्बोधित होकर आध्यासिक चित्तादात्म्य की सामर्थ्य से सृष्टि आदि को ज्ञानरूप से जानती है ॥५२॥ जो देह जीवनदशा में अनेक विस्तृत चमकीले उल्लासों से व्यवहार करती है, वही प्राण-वायु के चले जाने पर मन के न रहने से तत्क्षण ही कम्पनशून्य हो जाती है ॥५३॥ हे मुने यह परम चैतन्य अपने (♣) पुर्यष्टक में प्रतिबिम्बित होता है। ठीक ही है, स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिमा दिखलाई पड़ती है न कि मलिन पत्थर आदि में ॥५४॥

यदि शंका हो कि मन में प्राण के कारण चित् का प्रतिबिम्ब होता है, यह पहले कहा गया और अब

(♣) भूतान्तःकरणप्राणज्ञानकर्मेन्द्रियैर्युतम्। अविद्याकामकर्माढ्यं लिंगं पुर्यष्टकं विदुः ॥

पाँच भूत, अन्तःकरण, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से युक्त तथा अविद्या, काम एवं कर्मों से भरा लिंग शरीर पुर्यष्टक कहा गया है।

पुर्यष्टक में चैतन्य का प्रतिबिम्ब होता है, यह कहते हैं, ऐसी स्थिति में पूर्वापर विरोध क्यों नहीं होता ? तो इस पर कहते हैं।

महर्षे, समस्त कार्यों का एकमात्र कारण मन ही पुर्यष्टक है, यह जान लीजिए उसीको अन्य आचार्यों ने अपने अभिप्राय से कल्पित शिष्य बोधोपयोगी उपायों से पुर्यष्टक कहा है ॥५५॥

अब जीव, उसकी उपाधि तथा उसके भोग्यरूप विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय चिदेकरस सन्मात्र ब्रह्म के ही अधीन हैं, इसलिये परमार्थरूप से वे ब्रह्मस्वरूप ही हैं, यों अनुभव कराते हुए शंकरजी उपर्युक्त विषय का उपसंहार करते हैं।

महर्षे, चूँकि अनेक प्रकार की कल्पनाओं से ग्रस्त यह दृश्यसमूह चिति में ही उदित होता है, चूँकि उसी में स्थित और लीन हो जाता है एवं चूँकि मन ही देह दृष्टि से भ्रमग्रस्त होता है, यों ज्ञानियों द्वारा अनुभूत है, इसलिए यह सम्पूर्ण विश्व परब्रह्मस्वरूप ही है, दूसरा नहीं, यह जानिए ॥५६॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

पुर्यष्टक में प्रविष्ट हुई यह चिति जिस प्रकार देहादि को क्रियाशील बनाती है तथा जिस प्रकार देहान्तर को प्राप्त होती है, उन सबका वर्णन।

श्रीमहेश्वर ने कहा : हे मुने, पूर्वोक्त प्रकार से पुरुषों के पुर्यष्टक में प्रविष्ट हुई यह श्रेष्ठ चिति किस प्रकार ऐहिक एवं पारलौकिक कार्य करनेवाली होती है और उन कर्मों के अनुकूल देहादि में स्पन्दनशील होती हुई किस प्रकार अभिधा (जाती है, नहाती है, खाती है और याग करती है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं देवदत्त आदि शब्दों से व्यवहार करने की योग्यता) प्राप्त करती है, वह सब मैं कहता हूँ, आप सुनिए ॥१॥

देह–स्पन्दन में चित्प्रतिबिम्बभूत जीव का चलन कारण है और जीव के चलन में जीवोपाधिभूत पुर्यष्टकात्मक मनोरूप से परिणत हुई, चिति के वास्तविक स्वभाव का तिरोधान करनेवाली मायाशक्ति कारण है। उस मायाशक्ति की मनोरूप परिणति में पूर्व–पूर्व देहों के अन्तिम परिणाम से संचित कर्म–समूह ही कारण है, बृहदारण्यक में भी 'कर्म हैव तदूचतुः कर्मैव तत्प्रशशंसतुः (卐)' इत्यादि श्रुतियों से कर्म ही ग्रह (ऌ), अतिग्रहरूप बन्धन का कारण निश्चित किया गया है, इस आशय से कहते हैं।

हे ब्रह्मन्, अनादिमायारूप यह ब्रह्मशक्ति अपनी आवरणशक्ति द्वारा पहले अपने आश्रय ब्रह्म को 'नाऽस्ति', 'न भाति' इस प्रकार प्रतीति के योग्य बना ही देती है, तदनन्तर प्राक्तन परिपुष्टता को प्राप्त (अनादिकाल से लेकर किये गये संचय से परिपुष्टता को प्राप्त) विविध काम–वासनाओं से युक्त

(卐) विचारकाल में एकान्त में स्थित उन दोनों ने कर्म को ही कार्यकारण का उपादानकारण कहा। केवल कहा ही नहीं, अपितु काल और ईश्वर आदि से स्वीकृत अन्य कारणों में कर्म की ही उन्होंने प्रशंसा की यानी उसे ही प्रधान कारण माना। *(बृह. ३।२।१३)*

(ऌ) उपनिषदों में मुक्ति के प्रतिबंधक ग्रह और अतिग्रह बतलाये गये हैं। उनमें प्राण, जिह्वा, वाक् चक्षु, श्रोत, मन, हाथ और त्वचा ये आठ ग्रह तथा अपान, रस, नाम, रूप, शब्द, काम, कर्म एवं स्पर्श ये आठ अतिग्रह नाम से परिगणित है।

एवं अपने मन से किये गये मननों से चेष्टित कायिक–वाचिक चेष्टारूप विहित–निषिद्ध कर्मसमूहात्मक कारणवश पुर्यष्टकरूप मनोभाव से परिणत होती हुई वह अपने अधिष्ठानभूत चित्–सत्ता से चित् की नाईं और अपने स्वभाव के बल से जड़ की नाईं यों मिश्र–भाव को प्राप्त होती है। तदनन्तर ज्ञान और कर्म के व्यवहार योग्य होती हुई वह मायाशक्ति ही अपनी शक्तिभूत इस ज्ञानेन्द्रिंय, कर्मेन्द्रिय आदि इन्द्रिय–प्रणालिका से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आदि नव तरह के संसाररूप में नाचती है, इससे और दूसरा कुछ नहीं है ॥२,३॥ हे मुने, इसी मायाशक्ति के विचार एवं अविचारस्वरूप प्रसाद से इस संसार में क्रमशः कलंकयुक्त होती हुई वह चिति जगतरूपी गन्धर्वनगर का निर्माण करती है और नहीं भी करती है यानी अविचार से निर्माण करती है और विचार से निर्माण नहीं भी करती ॥४॥

तब ब्रह्म–चिति के सान्निध्य से देह ही सबका निर्माण करेगा, चित्त आदि की कल्पना की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं।

चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार के न रहने से यह देह दीवार की नाईं जड़ होकर मूक रहती है और उनके रहने से तो, आकाश में फेंके गये पत्थर की नाईं, यह स्फुरित (व्यापारशील) होती है ॥५॥

जीव के प्राण एवं कर्मेन्द्रियों से होनेवाले व्यापारों में सन्निधानमात्र से ब्रह्म साधारण कारण है, यों कहते हैं।

जिस प्रकार अत्यन्त जड़ लोहा लोह चुम्बक के सान्निध्य से स्फुरित (संचरणशील) होता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी सदात्मक इस परब्रह्म के सान्निध्य से यह जीवात्मा प्रस्फुरित होता है ॥६॥

बुद्धि आदि के प्रकाश और ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोजनों में (विषयों के ज्ञानों में) अपने प्रतिबिम्ब के समर्पण द्वारा चिति असाधारण कारण है, इस आशय से कहते हैं।

सर्वत्र स्थित आत्मरूप इस चित्शक्ति से ही यह जीव पर्याप्तरूप से अपने और दूसरे के प्रकाशन में समर्थ होता है। (यदि शंका हो कि भौतिक होने से द्रव्यस्वभाव में अवस्थित जीव का उपाधिभूत यह लिंग शरीर अद्रव्यस्वभाव *(गुण और कर्म के अनाश्रय) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कैसे ग्रहण करेगा, क्योंकि द्रव्य में द्रव्य का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, ऐसा नियम है, तो इस पर कहते हैं।)* द्रव्यस्वभाव में अवस्थित न हुए भी गुण, क्रिया, जाति आदि से दर्पणरूप द्रव्य प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। अतः द्रव्य द्रव्य से ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, यह नियम नहीं है ॥७॥

शंका हो कि यदि ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है तो उसे अज्ञान, निद्रा आलस्य आदि जाड्य का अनुभव कैसे होता है, सूर्य के प्रतिबिम्ब में अभास्वररूपता (अंधकार) का अनुभव कभी नहीं हो सकता तो इस पर कहते हैं।

चूँकि यह जीव अपना विशुद्ध चैतन्यात्मक स्वरूप भूल गया है, इसलिए उसने उस प्रकार जड़ता प्राप्त की है, जिस प्रकार मोह से अपना स्वभाव भूल जाने के कारण अभक्ष्यभक्षण आदि में प्रवृत्त सद्ब्राह्मण शूद्रता प्राप्त करता है ॥८॥ मोह से चित्त का तिरोधान हो जाने के कारण अपना स्वरूप भूल गये गाधि, लवण, हरिश्चन्द्र आदि बड़े–बड़े लोगों ने जिस प्रकार दीनता प्राप्त की है, उसी प्रकार अपना विशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव भूल जाने के कारण इस चिति ने चित्तत्व (चित्त के जड़ता, मलिनता आदि धर्म) प्राप्त किया है ॥९॥

चित्त के साथ अभेदाध्यास से चिति में जिस प्रकार चित्त के धर्म दैन्य आदि की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार प्राण के साथ तादात्म्याध्यास से चिति में प्राणधर्म देह संचालन हेतुता की भी सिद्धि हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

वातशक्ति (प्राण) के साथ एकता की प्राप्ति होने से प्राण के सदृश पराधीनता को प्राप्त हुई जड़रूप इस चिति के द्वारा यह देह उस प्रकार संचालित होती है, जिस प्रकार तरंग–पंक्ति से पानी संचालित होता है ॥१०॥ जिस प्रकार पाल आदि उपाधि के वशीभूत हुए वायु के द्वारा नाव में स्थित पत्थर अपने अभीष्ट स्थान की ओर संचालित किये जाते हैं, उसी प्रकार उक्त रीति से क्रियास्वभाव को प्राप्त, मनन–शक्तियुक्त इस जीव के द्वारा, जो कि उपाधि–परवश होने से अत्यन्त दीन है, देहरूप यन्त्र संचालित किये जाते हैं ॥११॥ हे ब्रह्मन्, परमात्मा ने ही शरीररूपी गाड़ी खींचने के लिए मनःशक्ति और प्राण–शक्ति ये दो सुदृढ़ नौकर या बैल उत्पन्न किये हैं ॥१२॥

स्वाप्निक व्यवहारों का भी संग्रह हो जाय इसलिए मन की ही रथरूप से कल्पना करनी चाहिए, मुख्य एवं अमुख्य प्राणों की तो घोड़ों के रूप से इस आशय से कहते हैं।

महर्षे, पहले जड़रूप स्वीकार कर और तदनन्तर जीव रूप प्राप्तकर प्राणरूप घोड़ों से खींचे जा रहे मनरूपी रथ पर आरूढ़ होकर यह चिति कहीं (जाग्रत एवं स्वप्न–अवस्था में) आविर्भूत पदार्थों की स्वरूपता, कहीं (उन्हीं अवस्थाओं में) बहुपदार्थता, कहीं (सुषुप्ति–अवस्था में) तिरोभूत समस्त पदार्थों की स्वरूपता एवं कहीं (उसी अवस्था में) एकमात्र अविद्यारूपपदार्थ–स्वरूपता को प्राप्त हुई–सी भिन्न–भिन्न–सी होकर स्थित रहती है। *(तब जैसे दधिरूपता प्राप्तकर दूध विनष्ट हो जाता है, वैसे ही वह क्या जीव और जगत–रूप प्राप्तकर नष्ट हो जाती है ? इस पर नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।)* इस प्रकार परिणत होने पर भी अपना पारमार्थिक स्वरूप न छोड़ती हुई यह चिति उस प्रकार स्थित रहती है, जिस प्रकार तरंग अपनी पारमार्थिक जलरूपता न छोड़ता हुआ स्थित रहता है और वही चिति तत्त्वदृष्टि से असत् जाग्रत–अवस्था की नाईं एवं व्यावहारिक दृष्टि से भी असत् स्वप्न की नाईं किंचित् विकसित होती है ॥१३–१५॥

आत्मा में अध्यस्त होने के कारण आत्मसत्ता का ही आश्रय कर मानसिक वृत्तियों में प्रतिबिम्बित आत्मचैतन्य के बल से मनोरूप जीव–जगत स्फुरित (प्रकाशित) होता है, यह कहते हैं।

जैसे इस सूर्य आदि प्रकाश का आश्रय कर घटादि पदार्थों में स्थित रूप शोभा प्रस्फुरित होती है, वैसे ही मन की वृत्तियों में प्रतिफलित आत्मा की चैतन्यसत्ता का आश्रय कर यह जीव–जगत प्रस्फुरित होता है ॥१६॥ पारमार्थिक चिन्मात्रस्वरूप से युक्त, विकाररहित परमात्मा की स्थिति रहने पर ही यह जीव अपना प्रकाशमय जीवन उस प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार दीपक की स्थिति रहने पर घर प्रकाशमय जीवन धारण करता है ॥१७॥

अब तक चिति देह–चेष्टा के प्रति कारण है, इसका उपपादन किया गया। अब उसकी देहान्तर में प्राप्ति का प्रकार बतलाने तथा वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए देह से होनेवाले दुःखों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

अज्ञान–अवस्था में इस जीव की आधियाँ एवं व्याधियाँ उस प्रकार उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करती

हैं, जिस प्रकार जल का तरंगरूप और उस तरंगरूप का फेनरूप उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करता है ॥१८॥ जैसे तरंगरूप के होने पर जल विषमता प्राप्त करता है, वैसे ही आधि एवं व्याधि से आक्रान्त शरीररूपी कमल का भ्रमर यह जीव दैन्य, दुःख आदि विषमता प्राप्त करता रहता है ॥१९॥ जिस प्रकार सूर्य दर्शक की दृष्टि में अपने ही द्वारा प्रकाशित हुए मेघों से अदर्शनीयता, मलिनता आदि विवशता प्राप्त करता है, उसी प्रकार सर्वशक्तिरूप होने पर भी वही चित्शक्ति मैं चित् नहीं हूँ' इस भावना से इस देह में दीनता आदि विवशता प्राप्त करती है ॥२०॥ उपर्युक्त मलिनता आदि विवशता के कारण ज्ञान की अनधिकारिणी योनियों में जन्म–ग्रहण कर रही यह चित्शक्ति मूढ़ता से अपना स्वरूप उस प्रकार नहीं जानंती, जिस प्रकार मदिरा आदि के घन मद से आक्रान्त हुआ पुरुष खड्ग आदि से अपना अंगच्छेदन नहीं जानता ॥२१॥

तब चिति का मोह कब नष्ट होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

जिस प्रकार मद आदि से जनित घनीभूत मोह में फँसा हुआ जीव कुछ समय के बाद अपने कर्मों का स्मरण कर मोहरहित हो जाता है, उसी प्रकार अपने स्वरूप का स्मरण कर इस चित्शक्ति का मोह नष्ट हो जाता है ॥२२॥

अब देहत्याग का प्रकार बतलाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

जिस प्रकार कोढ़ी पुरुष अपने गलित अंगुलि आदि अंगों के स्पन्दन की इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार जब प्राण की स्पन्दनशक्ति अंग संवित्तियों का (नखाग्रपर्यन्त लिंगोपाधि द्वारा प्रविष्ट हुए जीवविज्ञानों का) हृदय में लिंगोपसंहार से प्रमोष हो जाने के कारण हाथ, पैर आदि का अनुसन्धान नहीं करती तब देह के हृदय में स्थित भुशुण्डोपाख्यान में वर्णित पद्म–पत्र, देह में संवित्तियों का स्पन्दन न होने से प्राण–संचालन के अनुकूल होकर, वैसे कम्पित नहीं होता, जैसे कि लोक में यज्ञ में ऋत्विजों द्वारा अस्पृष्ट काष्ठपात्र कम्पित नहीं होता ॥२३, २४॥ हृदय–प्रदेश में स्थित उस पद्म–पत्र के कम्पनशून्य हो जाने पर ये प्राण भीतर तेज में उस प्रकार विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार लोक में पंखे के कम्पनशून्य हो जाने पर पवन की शक्तियाँ विलीन हो जाती हैं ॥२५॥ प्राण–वायु का दूसरों के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर यह जीव निष्पूर्ण–मूकता को (रूपात्मक उपाधियों के विलय से निराबाध पूर्ण तथा नामात्मक उपाधियों के विलय से मूक कारणात्मा के स्वरूप को) ऐसे प्राप्त होता है, जैसे आकाश–वायु के शान्त हो जाने पर रजःकण कारणरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥२६॥ हे मुने, रजोगुणप्रधान अपने आधारभूत प्राण–वायु के शान्त हो जाने से ही रजोगुण से शून्य और आधाररहित हुआ मन भी प्राण के ही साथ कारणरूप पद को प्राप्तकर उसी रूप से अवशिष्ट रह जाता है। *(तब क्या वह सर्वथा नष्ट नहीं हुआ ? इस पर कहते हैं।)* जल आदि भूतमात्राओं से मिश्रित पार्थिव वृक्ष–बीज जिस प्रकार दूसरा अंकुर उत्पन्न करने के लिए तत्पर होकर स्थित रहता है, उसी प्रकार यह मन भी दूसरी देह का आविर्भाव करने के लिए तत्पर होकर स्थित रहता है ॥२७॥

वही जीव का देह–त्याग है, यह कहते हैं।

हे महर्षे, इस प्रकार चारों ओर से कारण–समूहों के विलीन हो जाने के कारण पुर्यष्टक के शान्त हो जाने पर यह देह निश्चेष्ट होकर गिर जाती है ॥२८॥

तब पुर्यष्टक का किस हेतु से उद्भव होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हृदयकमल के स्पन्दन से उसका उद्भव होता है। हृदय–कमल का स्पन्दन पूर्व–पूर्वभोक्ता आदि के स्वरूपों के स्मरण से होता है। उक्त स्मरण वासना के स्पन्दन से होते हैं और वासना का स्पन्दन स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न चिति के चेत्याकारक ज्ञान से होता है, इसलिए तत्त्व की ओर अभिमुख होने के लिए पुरुष को ज्ञानात्मक बहिर्मुखतारूप चिति की चेत्याकारता ही पहले अपने प्रयत्न से रोकनी चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

मोह से यानी अपने स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न चिति में विषयाकारता के ज्ञान से वासनाएँ स्पन्दित होती हैं। उनसे (स्पन्दित वासनाओं से) प्रेरित हुई यह चिति अपने भीतर पूर्व–पूर्व काल के भोक्तृत्व आदि का स्मरण करती है और दूसरा अपना स्वरूप स्वयं भूल जाती है ॥२९॥ हृदयरूप पद्म–पत्र के स्फुरण से यह पुर्यष्टक विस्पष्ट हो जाता है और हृदय–कमलरूप यन्त्र जब चलने से रुक जाता है यानी निश्चल हो जाता है, तब वह भी विनष्ट हो जाता है ॥३०॥ हे द्विज, जब तक देह में पुर्यष्टक विद्यमान रहता है, तब तक देह जीवित रहती है (और जब) देह में से पुर्यष्टक विलीन हो जाता है, तब देह 'मृत' कही जाती है ॥३१॥ परस्पर विरुद्ध वात, पित्त और कफ नामक मलों तथा वासना के मलभूत राग, द्वेष आदि दोषों के प्रकोप से एवं शस्त्र आदि से किये गये देह के छेदनभेदन आदि अवस्थावश जब यह हृदयकमलरूप यन्त्र देह के अन्दर स्पन्दित नहीं होता तब यह पुर्यष्टक धीरे–धीरे उस प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार पंखा रोक देने पर हवा की परम्परा आकाश में विलीन हो जाती है ॥३२,३३॥ जब शरीर का हृदय–कमलरूपी यन्त्र सदा चलता रहता है तब यह जीव अपने संकल्पवश मरण आदि हजारों दुःख प्राप्त करता रहता है ॥३४॥

इसीलिए भोग की वासना से रहित पुरुषों में भोगसंकल्प का अभाव होने से वे मृत्यु के अधीन नहीं होते हैं, यह कहते हैं।

राग, द्वेष आदि मलों से रहित वासना जिनके हृदय से हटती नहीं, वे अटल एवं समान रूपवाले जीव जीवन्मुक्त होकर दीर्घायु रहते हैं ॥३५॥ पद्म–यन्त्र के रुक जाने तथा तेज में प्राण के विलीन हो जाने पर धृतिशून्य हुई यह देह पृथ्वी पर लकड़ी और ढेला आदि की नाईं गिर जाती है ॥३६॥ हे मुने, ज्यों ही हृदयाकाश के वायु में अर्थात् प्राण में यह पुर्यष्टक लीन हो जाता है, त्यों ही मन वहीं (प्राण में ही) विलय को प्राप्त हो जाता है ॥३७॥

उस प्रकार ही विलीन हुए पुनः स्वर्ग, नरक आदि का भोग करानेवाले अदृष्ट द्वारा बोधित हुए मन का हृदयाकाश में चक्षु से, मूर्धा से अथवा अन्य शरीर–प्रदेशों से निकलना; यमलोक आदि में जाना; स्वर्ग और नरक का भोग करना आदि उसकी अपनी कल्पना ही है, वास्तव में स्वर्ग आदि नाम के कोई दूसरे पदार्थ बाहर हैं ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे महर्षे, तत्–तत् भोग करने के योग्य शरीर आदि पदार्थों का चिरकाल से अभ्यास किया हुआ तथा वासना से परिपूर्ण यह मन जहाँ–तहाँ घूमता फिरता स्वर्ग, नरक आदि देखता रहता है ॥३८॥ जिस प्रकार घर के लोगों के घर छोड़कर दूर चले जाने पर घर शून्य हो जाता है, उसी प्रकार मन एवं प्राण से शून्य हुआ यह शरीर शवरूप हो जाता है ॥३९॥

अब चिति के शरीरान्तर–ग्रहण में क्रम बतलाते हैं।

सर्वव्यापक चिति ही मन में स्थित होकर चेतन से 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (इसी जीवरूप आत्मा से जगत में प्रवेश कर मैं नाम एवं रूप का व्याकरण करूँ) इस श्रुति में कहे गये चेत्य के आकार में अनुप्रवेश से जीव बनकर मनोरूप में स्थित हो जाती है। तदनन्तर पुर्यष्टक शरीर धारण कर आतिवाहिक देहवाली हो जाती है ॥४०॥ पंचतन्मात्राओं के समूहभूत आतिवाहिक देह नामवाले पुर्यष्टक चित्त को गोद में लेकर स्थित हुई (बैठी हुई) यह चिति ही अपने संकल्प से, स्वप्न भ्रम की नाईं, अपनी स्थूल आकृति देखती है ॥४१॥ इसके बाद दृढ़ भावना के द्वारा उसी स्थूल शरीर में अहंकारशक्ति से युक्त होकर यह चिति क्षण में ही सम्पूर्ण आतिवाहिक देहता भूल जाती है ॥४२॥ असत्–स्वरूप उक्त लक्षणवाले स्थूल शरीर में ही कृत्रिम अहंभावना किये हुई यह चिति असत्यभूत इस जगत में आरोप द्वारा सत्यता प्राप्त कराती है और सत्यभूत अपने ब्रह्मभाव में 'नाऽस्ति', 'न भाति' इत्यादि प्रतीति–योग्यतारूप असत्यता प्राप्त कराती है ॥४३॥

चित्त के संसरण में क्रम बतलाते हैं।

सर्वगामिनी इस चिति ने ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित अपने अंश से जीवरूप होकर मनरूपता प्राप्त की है। वह मन पुर्यष्टकरूपी रथ पर चढ़ जाता है। अनन्तर इस जगत में यत्र–तत्र घूमता रहता है ॥४४॥ और जब सूत्रात्मा प्राणवायु से भरे हुए इस पुर्यष्टकरूप शरीर को पर्याप्तरूप से और ऊपर उठाता है, तब हृदय में प्रवेशकर स्पन्दनशील हुए वेताल से युक्त शव की नाईं 'यह देह जीती है' यों लोगों द्वारा कहा जाता है ॥४५॥ एवं पुर्यष्टक के क्षीण हो जाने पर यह चित्त हृदयाकाश में जब विलीन हो जाता है तब यह देह काष्ठ, ढेला आदि की नाईं स्पष्ट अचेतन प्रतीत होती है और (उस समय) लोगों के द्वारा 'यह देह मर गई' यों भी कहा जाता है ॥४६॥ यह जीव अज्ञानवश अपनी अजर–अमर ब्रह्मरूपता भूलकर कालवश प्राप्त हुई वृद्धदेह में रहनेवाली अशक्तता स्वयं विवशता से उस प्रकार प्राप्त करता है, जिस प्रकार पत्ता जीर्णता को प्राप्त करता है ॥४७॥

इसके बाद वह पहले की तरह मर जाता है, यह कहते हैं।

हे मुने, जीवसम्बन्धिनी पूर्वोक्त पूर्व–पूर्व भोक्ता आदि भावों की स्मृतिरूप शक्ति से असम्बद्ध हो जाने पर, अतएव पद्म–यन्त्र के निश्चल हो जाने पर तथा प्राण के रुद्ध हो जाने पर यह मनुष्य मर जाता है ॥४८॥

पुनः पुनः नाना शरीरों का ग्रहण और उनमें संसरण जरा एवं मरण में ही पर्यवसायी है, यह जानना चाहिए – इस आशय से कहते हैं।

जिस प्रकार विभिन्न विभिन्न पत्ते उत्पन्न हो–होकर समय पाकर वृक्ष से झड़ जाते हैं, उसी प्रकार जीवों के ये शरीर भी झड़ जाते हैं ॥४९॥ जीवों के ये शरीर और वृक्षों के पत्ते उत्पन्न और नष्ट हुआ ही करते हैं (अतः) उनके विषय में शोक ही क्या है ? ॥५०॥ चैतन्य–समुद्र में ये देहरूपी बुद्बुदों की पंक्तियाँ यहाँ एक प्रकार की तो दूसरी जगह दूसरे प्रकार की होकर स्फुरित होती हैं, बुद्धिमान जन इनमें आस्था नहीं करते ॥५१॥

कथित अर्थ का ही उपसंहार करने के लिए अनुवाद करते हैं।

सर्वत्र व्याप्त भी यह चिति इसी चित्त में प्रतिबिम्बित होती है, क्योंकि दर्पण के बिना दूसरा कोई भी अपने भीतर पदार्थों का ग्रहण नहीं करता ॥५२॥ हे महर्षे, चारों ओर से परिपूर्ण इस निर्मल चैतन्याकाश में पहले के अपने शुभाशुभ प्रयत्नों के परिणामस्वरूप; अतएव सुख, दुःख आदि फलों के भोग-काल में हास्य, रोदन आदि कोलाहलों से मुखरित, चित् और अचित् से प्रचुर ये जीव-जगद्रूपी कल्पनाएँ आपाततः रमणीय होती हुई विविध शरीरों के द्वारा जन्म, मरण आदि भ्रान्ति से आत्मा को मोहित करने और संताप करने के लिए प्रतिभासित होती हैं ॥५३॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

मोह एवं तज्जनित संकल्पों से कल्पित जीव-जगद्भेदों का,
विचार-कसौटी में जिस तरह वे नहीं ठहरते उस तरह, तर्कों से वर्णन।

'सर्वत्र व्यापक भी चिति इस चित्त में प्रतिबिम्बित होती है' तथा 'पीछे दृढ़ भावना से उसी चित्त में आनन्द मनाती है', इत्यादि जो कहा गया है, उन दोनों ही स्थलों में महाराज वसिष्ठजी अनुपपत्ति की आशंका करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : मस्तक में अर्धचन्द्र धारण करनेवाले हे भगवन्, व्यापकस्वरूप अनन्त एवं अद्वितीयरूप चैतन्य-तत्त्व में द्वित्व (भेद) कैसे प्राप्त (📖) हुआ ? ॥१॥ हे महादेव, दूसरा यह प्रश्न है कि अनेक बन्धनों से ग्रस्त चिरकालिक अनुवृत्ति से रूढ़ हुआ वह भेद दुःख-विनाश के लिए तत्त्वज्ञान से निवारित कैसे (🔔) होगा ? ॥२॥

हम जीव जगत् आदि द्वैतप्रपंच का प्रमाणों से उपपादन करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए हैं, किंतु मोह

(📖) तात्पर्य यह है कि जो चितितत्त्व अनन्त यानी दिक्कृत, कालकृत एवं वस्तुकृत इन तीन प्रकार के परिच्छेदों से शून्य एकरूप यानी सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदों से शून्य है; उसमें सजातीय जीवरूप और विजातीय जड़-जगद्रूप द्वित्व (भेद) कैसे आया ? क्या वह स्वतः आया या परतः ? स्वतः भेद तो आ नहीं सकता, क्योंकि चितितत्त्व अविकारी एवं अनवयवी है। परतः भी नहीं आ सकता, क्योंकि द्वितीय वस्तु ही प्रसिद्ध नहीं है।

(🔔) इसका तात्पर्य यह है - यदि यह मान लिया जाय कि किसी तरह के निमित्त के बिना यों ही चितितत्त्व में यह भेद आ गया है तो संकोच में प्रमाण न होने के कारण कोटि-कोटि बन्धनों से व्याप्त तथा दीर्घकालीन अनुवृत्ति से रूढ़ वह भेद तत्त्वज्ञान से, जो एकत्व और आगन्तुकत्व से दुर्बलतम है, निवारित होकर आत्यन्ति दुःख का उपशम कैसे करेगा, क्योंकि निमित्त के बिना आकस्मिक हुए किसी एक पदार्थ का भी उच्छेद हो नहीं सकता, किसी तरह किसी एक पदार्थ का उच्छेद हो भी गया, तो भी दूसरे असीम बन्धनों के बच जाने के कारण बार-बार दूसरे निर्निमित्त बन्धनों की उत्पत्ति का निरसन हो नहीं सकता। यदि कहो कि पूर्वोक्त ब्रह्मशक्तिरूप माया-निमित्त से हुआ मिथ्यारूप ही वह द्वैत प्रपंच है, यह मानने पर किसी दोष की प्राप्ति नहीं हो सकती, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पर यह प्रश्न होता है कि क्या वह मायाशक्ति आगन्तुक है अथवा

के कारण अनादि काल से लेकर भ्रान्ति से प्राप्त हुए उस प्रपंच का, अध्यारोप अपवाद-न्याय का आश्रय लेकर, अपवाद करने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। अध्यारोप में जो सृष्टि के प्रारम्भ काल में काम, कर्म, वासना आदि निमित्तकारण; ब्रह्म, अविद्या आदि उपादान कारण; आकाश आदि पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम; व्यष्टि, समष्टि, स्थूल, सूक्ष्म आदि विभाग एवं अन्नमय आदि कोश-भेदों की कल्पना की जाती है वह सब स्वयं यद्यपि असत्य है, तथापि सत्यवस्तु का परिचय कराने के लिए उपयोगी होने के कारण श्रुति ने उसकी कल्पना की है और परमार्थ सत्य वस्तुरूप प्रयोजन के सर्वसम्मत होने के कारण इतरवादियों की अपेक्षा उत्कृष्ट है। अतः श्रोताओं का विश्वास सम्पादन करने के लिए लोकदृष्टि से ही युक्तियों द्वारा शास्त्रों में उसका समर्थन किया गया है। जब सर्वात्मक प्रत्यगात्मा का परिचय हो जाता है, तब सर्वात्मा में अद्वितीयत्व के बोधन के लिए परमार्थ दृष्टि का आश्रय लेकर प्रपंच का अपवाद किया ही जाता है। इसलिए आत्मा में एकत्व का स्वीकार कर उससे विरुद्ध द्वित्व के असम्भव का प्रतिपादन तुम्हारे अपने स्वीकृत पक्ष से विरुद्ध और सिद्धान्त से विरुद्ध है, इसके ऊपर दृष्टि क्यों नहीं डालते, इस आशय से भगवान कहते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे ब्रह्मन्, व्यवहार-दृष्टि से ब्रह्म सर्वशक्ति से समन्वित है और परमार्थ-दृष्टि से एक और सदात्मक ही है, यों जब व्यवस्थित दो दृष्टियों का अंगीकार किया जा चुका है, तब सर्वशक्तिरूप दृष्टि के एकदेश से उदित हुई द्वित्व-एकत्वरूप कल्पना से युक्त उक्त आक्षेप निर्मूल ही है। क्योंकि व्यवहार दृष्टि से परमात्मा में सब द्वित्व आदि कल्पनाओं का आरोप होता है और परमार्थदृष्टि से अपवाद होता है। व्यवहार-दृष्टि से 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि श्रुति से उपपादित सर्वज्ञ सर्वशक्तिसमन्वित परमात्मा से जीवजगद्रूप द्वैत का आविर्भाव मानने में कुछ भी अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि धर्मिग्राहक प्रमाण से सर्वशक्ति का वैसा स्वभाव ही है, यह निर्णीत हो चुका है। 'तदेतद्ब्रह्मापूर्व,

---

स्वाभाविक है ? प्रथम पक्ष में (आगन्तुक पक्ष में) भी वह स्वयं उत्पन्न हुई या दूसरे के सम्बन्ध से, यों जब विचार करेंगे, तो अनिर्मोक्ष एवं अनवस्था आदि दोषों की ही प्रसक्ति होगी। मायाशक्ति के स्वाभाविकत्वपक्ष में, अग्नि में से उष्णता की नाईं, ब्रह्म में से उसका निवारण न कर सकने के कारण एक तो अनिर्मोक्ष दोष और दूसरा एकरसरूपता की प्रतिपादक श्रुतियों के साथ विरोध होगा। मायाशक्ति मिथ्या है, यह मान लिया जाय तो वह अत्यन्त असत्पदार्थरूप हो जायेगी। ऐसी स्थिति में असत् के कार्योत्पादक न हो सकने के कारण फिर वही घुमा-फिरा कर बात आ गई कि द्वैतोत्पत्ति निर्हेतुक ही है। यदि उसे सत्य मान लिया जाय तो, ज्ञान से उसकी निवृत्ति न हो सकने के कारण अनिर्मोक्षदोष, यों दोनों ओर से रस्सी कसी जायेगी। पदार्थस्वरूपता निष्कर्ष निकालने में कोई सद्रूप और कोई असद्रूप ही ठहरता है। इन दो प्रकारों से भिन्न कोई तीसरा प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए उक्त मायाशक्ति सत् और असत् से भिन्न कोई तीसरे प्रकार की नहीं हो सकती। यदि तीसरे प्रकार की मान ली जाय, तो भी उसी प्रकार से ज्ञानोत्तर भी द्वैत का निरसन नहीं हो सकता। कोई ज्ञानी यह चाहे कि उस तीसरे प्रकार का पहले या दूसरे प्रकार रूप में हम निर्माण कर लेंगे, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान कारक नहीं है, अन्य अन्यरूप हो नहीं सकती, स्वरूप परिवर्तन देखा नहीं जाता, उत्पादित नश्वर होता है, अतः पुनर्बन्धन का निवारण भी नहीं हो सकेगा।

'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति' इत्यादि श्रुतिप्रदर्शित परमार्थदृष्टि से गम्य चैतन्य में तो कभी भी द्वित्व और द्वित्वविरोधी एकत्व की प्राप्ति हो ही नहीं सकती, इसलिए वहाँ द्वित्व और उसके विरोधी एकत्व आदि की अनुपपत्ति बतलाना भी अयुक्त ही है ॥३॥

'नेह नानाऽस्ति किंचन', 'न तु तदद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तम्', 'विभुं चिदानन्दम-रूपमद्भुतम्' इत्यादि श्रुतियों से द्वित्व का ही निषेध किया जाता है, एकत्व का नहीं। इसलिये अविरुद्ध एकत्व का, द्वित्वसमानकक्ष मानकर, कैसे निषेध करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

सद्ब्रह्म में द्वित्व के प्रसिद्ध हो जाने पर उसका निषेध करने के लिए एकत्व की कल्पना की जाती है एवं उसी ब्रह्म में एकत्व के सिद्ध हो जाने पर वही एकत्व दूसरे एकत्व को लेकर द्वित्व के रूप में कल्पित होता है, यों उन दोनों की कल्पना परस्पर सापेक्ष होने के कारण वे दोनों ही तुल्य कक्ष ही हैं। वे दोनों कल्पनाएँ चिद्रूप ही हैं। चिद्रूप होने के कारण वह द्वित्व-कल्पना अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखती। एकत्व धर्म भी यदि चैतन्य से अतिरिक्त माना जाय, तो चिदेकरसस्वरूपता का व्याघात हो जायेगा। अतः दोनों असत्-रूप हैं, यह तात्पर्य है ॥४॥ यहाँ पर एक वस्तु का अभाव होने से एकत्व और द्वित्व दोनों का भी अभाव है, क्योंकि एक के बिना द्वितीय नहीं होता और द्वितीय के बिना एकता नहीं होती ॥५॥

अब उपदेश आदि व्यवहार के लिए व्यवहार-दृष्टि और परमार्थ-दृष्टि दोनों का संमिश्रण मानने पर भी दो तरह की सत्ताओं की कल्पना से परमार्थ सत्-स्वरूप वस्तु में व्यावहारिक सत्तावश से जीव-जगद्रूप द्वैत की स्थिति का स्वीकार करने में विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं।

कार्य और कारण दोनों में परमार्थतः अनुगत कारण ही एकमात्र तत्त्व है, अतः उन दोनों की एकरूपता ही रहती है। जैसे बीज आदि के भी, जो फिर फल में पर्यवसित हुए हैं, 'वही यह है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञायमान अनुस्यूत द्रव्य में एकमात्र विकार से ही नानात्व की कल्पना होती है, वैसे ही प्रकृत में भी नानात्व की कल्पना होती है ॥६॥

यदि सब विकारों में पारमार्थिक सत्ता से भिन्न दूसरी व्यावहारिक सत्ता का स्वीकार नहीं करते तो द्वैत चिद्विकल्प ही है, यह फलित हुआ। ऐसी स्थिति में राहु और उसके मस्तक में द्वैत का विरोध उठाने के सदृश ही आपका आक्षेप है, यह कहते हैं।

चितितत्त्व जगद्रूप चेत्य के विकल्प से चेत्यमय होकर स्वयं स्फुरित होता है। विकार आदि जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब तत्स्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं; क्योंकि उन विकारों का भीतरी तत्त्व वही चिति है। इसलिये माया और उनके कार्यों की पृथक् सत्ता है, यह पक्ष; अपृथक् सत्ता है, यह पक्ष; असत्ता है, यह पक्ष; या वे किसी तीसरे प्रकार के हैं, यह पक्ष; या अनेकवादियों द्वारा कल्पित वे प्रधान, परमाणु, क्षणिक, अक्षणिक, विज्ञान और शून्यरूप इनमें से चाहे जिस किसी पक्ष का भी तुम अवलम्बन करो, फिर भी असंग, अद्वय, चिन्मात्रवस्तु से तनिक भी स्पर्श न कर रहे सब पक्ष एकमात्र चैतन्य से ही सिद्ध हैं। इसलिए जहाँ चिति को कभी भी बन्धप्राप्ति ही नहीं होती, वहाँ (उस पक्ष में) अनिर्मोक्ष की शंका का उद्भावन तो दूर से ही निरस्त है, यह भाव है ॥७॥

उसकी सारता का ही उपपादन करते हैं।

यतः षड्भावविकारात्मक तथा उनके आश्रय घट आदि स्वरूप यह प्रपंच विकल्पात्मक है, अतः

वह एकमात्र सद्वस्तु से ही आविर्भूत होकर जलाहरण आदि अनेकविध कार्यकारणता आदि से वस्तुओं में सार्थकता प्राप्त करता है अर्थात् उसका भोग में पर्यवसान हो जाता है। चिति में पर्यवसानतारूप ही भोग पदार्थ है, इसलिये चिन्मात्र ही सारभूत वस्तु है, यह भाव है ॥८॥

उस तरह जब जगत एकमात्र विकल्पस्वरूप ही सिद्ध हो चुका, तब उसमें कोई पदार्थ (जल, तरंग आदि) व्यावहारिकरूप, कोई (मरु–मरिचिका, जलतरंग आदि) प्रातिभासिकरूप और कोई (वन्ध्यापुत्र, खरगोश के सींग आदि) अत्यन्त असत्स्वरूप ही हैं, यों जो अवान्तर विलक्षणता के विकल्प होते हैं, वे भी अज्ञानी को ही होते हैं, यह कहते हैं।

जिस तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में खरगोश के सींग से समुत्पन्न धान और जौ आदि के अंकुर भी ब्रह्मस्वरूप होने के कारण जब सत्यरूप हैं, तब उसकी दृष्टि में जल में प्रसिद्ध जो तरंग हैं, वे भी पर्वत के मस्तक पर कल्पित जल के तरंग सदृश ही हैं और वह पर्वत भी खरगोश के सींग के समान असद्रूप ही है; क्योंकि स्वतः असत्त्व और ब्रह्म की सत्ता से सत्ता की कल्पना तीनों में भी समान है, यह भाव है ॥९॥ हे विप्र, इस संसार में अज्ञानजनित सम्पूर्ण पदार्थों में परस्पर व्यावृत्तिस्वरूप (परस्पर एक–दूसरे से भिन्नतारूप) जो व्यवच्छेद (पार्थक्य) है, उसे तत्त्वसाक्षात्कार ही एकता में पर्यवसित कर देता है यानी टूटे–फूंटे अनेक टुकड़ों को एक में जोड़ देने की नाईं एकता में पहुँचा देता है। (भाव यह है कि तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रहता।) ऐसे विषय में अनेकविध युक्तियों के उपन्यासों से भी कुछ होता नहीं। कारण यह है कि अज्ञान के निवृत्त न होने पर हजारों युक्तियों से भी अपरोक्ष (प्रत्यक्षात्मक) भ्रम से सिद्ध हुए व्यवच्छेद आदि द्वैत का उन्मूलन अत्यन्त असंभव है ॥१०॥ जैसे तरंग, कण, कल्लोल और जलप्रवाह जल से विभक्त नहीं रहते, वैसे ही तात्त्विक दृष्टि से देखने पर तो ब्रह्म की सर्वशक्तिता अर्थात् समस्त जगत के आकार में दृश्यमान मायिक रूपता वास्तव में ब्रह्म से विभक्त नहीं रहती यानी उसी में तिरोहित हो जाती है ॥११॥

तथाच 'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्, इस श्रुति प्रदर्शित न्याय से लता आदि में ऐक्य का दर्शन होने पर जैसे उसके पुष्प पल्लव आदि भेदों में अनृतत्व (मिथ्यात्व) सिद्ध ही हो जाता है, वैसे ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर जागतिक भेदों में अनृतत्व सिद्ध ही हो जाता है, इसलिए इस विषय में तुम्हारा प्रश्न निराधार है, ऐसा कहते हैं।

भद्र, जिस प्रकार फूल, कोंपल, पत्ता आदि लता से वास्तव में भिन्न नहीं हैं, वैसे ही द्वित्व, एकत्व, जगत्त्व, त्वन्त्व, अहन्त्व आदि भी चिति से भिन्न नहीं हैं ॥१२॥ चिति का देश काल, विकार आदि रूप जो भेद किया गया है, वह भेद चितिस्वरूप ही है। इसलिये जब चिति में द्वैत (भेद) है ही नहीं तब उसमें भेद आया कहाँ से ? यह तुमने असत् कहा है। ऐसें असद्विषय में तुम्हें प्रश्न करना उचित नहीं है ॥१३॥ चूँकि देश, काल और क्रिया की सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ स्वयं चिति की सत्ता से ही सत्तायुक्त होकर स्थित हैं, इसलिए (वे सब) चिदात्मक (चितिस्वरूप) ही हैं ॥१४॥ जैसे जल, तरंग आदि में अनुगत जलसामान्य वीचि आदि नामयोग्य होकर स्थित है, वैसे ही चित्त, चेत्य और उनकी चेष्टाओं का समूहरूप रूपप्रपंच एवं ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त नामप्रपंच भी चितिस्वरूप होकर अवस्थित है, यह तत्त्वज्ञों का कथन है ॥१५॥ जिसमें तरंगों की तनिक भी सम्भावना नहीं है, ऐसे चिद्विलासरूपी

महासागर का, तरंगवत्ता की नाईं, जो विवर्तनव्यापार है, वही उसका चेत्य के साथ सम्बन्ध है ॥१६॥ वही यह चितितत्त्व परम ब्रह्म, सत्य ईश्वर, शिव आदि तथा शून्य, एक, परमात्मा आदि अनेकविध नामों से कहा जाता है ॥१७॥

पारमार्थिक मेरा तत्त्व वही है, यह कहते हैं।

उन पूर्वोक्त नामों एवं रूपों तथा सामने दिखाई दे रहे साकाररूपों से अतीत जो परमात्मा का स्वरूप है तथा जो अशेष मलों से रहित अहंपदार्थ है, वह वाणी और मन का विषय नहीं है ॥१८॥ जो यह संसार दिखाई दे रहा है, वह चूँकि उस महाचितिरूपी लता के तत्स्वरूप फल, पल्लव तथा पुष्प आदि रूप ही है, अतः उससे भिन्न नहीं है ॥१९॥ यदि विवेक–ज्ञान के लिए अनृत ही जीव–जगद्भाव पूछ रहे हो, तो सुनो वह चिति जब अविद्यारूपी विचित्र वर्णों (रंगों से) से रंगे गये उपनेत्र पहन लेती है, तब जीव नाम धारण करती हुई वह बाह्य जीव–जगद्भाव को, दो चन्द्रमा की नाईं, देखती है ॥२०॥ 'मैं ब्रह्म से भिन्न अचिद्रूप हूँ' यों अज्ञान से भावना करके चिति स्वयं ही अपना संकल्पात्मक अन्यरूप मानों प्राप्त कर लेती है ॥२१॥ यद्यपि चिति कलंक निर्मुक्त रूप से ही सदा अवस्थित है; तथापि कलंकयुक्त जिस पुर्यष्टक रूप की उसने कल्पना कर रक्खी है, उस रूप से संसाररूपी नदी में पहुँचकर उपाधियुक्त चेतन से ही स्फुरित होती है। अपने निष्कलंक चेतन से नहीं, यह भाव है ॥२२॥ यह चैतन्य शरीर चिति ही स्वयं इस पूर्ववर्णित पुर्यष्टक शरीर के द्वारा तादात्म्यअध्यासस्वरूप जीवता प्राप्त करती है और चित्तत्त्व के प्रकाश से चित्प्रचुर होता हुआ जीव जीता है यानी प्राणन आदि क्रिया प्राप्त करता है ॥२३॥

'सर्वव्यापक होती हुई भी चिति इस चित्त में प्रतिबिम्बित होती है' (नि. ३२।५२) इस वचन पर किये गये आक्षेप का उक्त रीति से समाधान कर अब 'दृढ़ भावना से पश्चात उसी में चिति अहन्ताशक्तिवाली होती है' (नि. ३२।४२) इस वचन पर किये गये आक्षेप का समाधान करने के लिए चिति को स्थूल देह–प्राप्ति का क्रम बतलाते हैं।

जीवरूपता को प्राप्त हुई यह लोकान्तरगामी सूक्ष्मशरीररूप भी चितिपंचभूतात्मक–स्थूलदेहविषयक संस्कारस्वरूप होकर देह–प्राप्ति के लिए 'मैं धान, जव, तिल उड़द आदि द्रव्यरूप हो गई हूँ, यों भली प्रकार जानती है। इस विषय में 'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति (▲) जायन्ते') क्षीण कर्मा अनुशयी लोग इस पृथिवी में धान, जव, औषधि, वनस्पति, तिल, उड़द आदि भाविशरीरानुकूल द्रव्यरूप से उत्पन्न होते हैं) यह छान्दोग्य–श्रुति (५।१०।६) प्रमाणरूप है ॥२४॥ प्राणियों द्वारा खाया गया वह द्रव्य तत्काल ही धातुरूप (वृक्ष आदि में बीज आदि रूप) हो जाता है। तदनन्तर अनुभवात्मक ब्रह्म ही स्त्रियों में सेचनक्रम से 'मैं स्थूल देह स्वरूप हूँ' यों जानता है ॥२५॥ (अनुभवात्मक ब्रह्म ही) उक्त अहन्ता आदि क्रम से तत्कालजनित स्थूलदेहानुभवरूप भ्रम के कारण चक्षु आदि के द्वारा स्थावर–जंगमरूप समस्त बाह्य जगत जानता है। पुनः उसकी वासना से स्वयं भी

(▲) प्रस्तुत श्रुति में इति शब्द भावी देह के अनुकूल द्रव्यमात्र का उपलक्षण है। उससे स्थावर, स्वेदज आदि देहस्थल में तत्तत् बीज के अनुकूल जल आदि द्रव्यरूप भी यह होता है, यह द्योतन करने के लिए प्रकृत में 'द्रव्यमस्मीति वेत्ति' यों सामान्यरूप से कहा गया है, यह जानना चाहिए।

पर्याप्तरूप से तत्–तत् पदार्थ–स्वरूप हो जाता है ॥२६॥

यदि शंका हो कि जिस स्थल में मच्छर आदि सूक्ष्म देह का त्याग हुआ है, उस स्थल में उक्त देहाकारवासनात्मना सूक्ष्मरूप से स्थित हुए पुर्यष्टक के दृढ़ अभ्यस्त मच्छर के आकार की और सूक्ष्मपन की निवृत्ति कैसे होगी तथा उसे अनभ्यस्त स्थूल हाथी के आकार का और स्थूलता का लाभ कैसे होगा ? तो इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार कौए और तालवृक्ष के आकस्मिक सम्बन्ध में कौए के मरण में प्रयोजक हेतु कर्म ही है, दूसरा कोई नहीं, उसी प्रकार दृढ़ अभ्यस्त वासना के तिरोभाव में और चिरकाल से व्यवहित (दूर रहे) हाथी आदि में अहंभाव–वासना के आविर्भाव में कर्म ही निमित्त है। अतः वह अन्य उद्भूत हुई हाथी आदि की वासना के सम्बन्ध से चिरकाल से अभ्यस्त हुए भी सूक्ष्म मच्छर आदि आकार का त्याग करता है ॥२७॥

विरोधी वासना के आविर्भाव से पहले की वासना का तिरोभाव और उत्तरकालिक दूसरी वासना की अभ्यास से दृढ़ता होती है, इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं।

अपने ही द्वैतसंकल्प से एक में ही द्वैत की ऐसे प्रवृत्ति हो जाती है, जैसे पुरुष की वेताल–कल्पना से उसमें भयंकर भासुर वेताल प्रवृत्त हो जाता है ॥२८॥ जिस प्रकार 'मैं कुछ नहीं करता' इस तरह के संकल्प से पुरुष में कर्तृत्व निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का भी द्वैत, अद्वैत–भावना से निवृत्त हो जाता है ॥२९॥ द्वैतसंकल्प से अद्वितीय वस्तु में भी द्वित्व की प्राप्ति हो जाती है और अद्वैतभावना से तो अनेकात्मक जगत का भी द्वित्व नष्ट हो जाता है ॥३०॥ भद्र, विकार आदि से शून्य, सदा सर्वगामी तथा परमात्मा का स्वरूपभूत होने से आत्मा में कभी द्वैतभाव नहीं रहता ॥३१॥ हे मुने, अपने संकल्प से निर्मित मनोराज्य और गन्धर्वनगर की नाईं जो वस्तु अपने संकल्प से बनायी गई है, वह संकल्प के अभाव से नष्ट हो जाती है, यह प्रसिद्ध बात है ॥३२॥ मानसिक प्रयत्न के द्वारा किसी की रचना करने में तो श्रम होता भी है, परन्तु संकल्प का विनाश करने में तो कुछ भी श्रम नहीं होता। *(क्योंकि एकमात्र उदासीनता का अवलम्बन करने से अपने–आप संकल्प विनाश सिद्ध हो जाता है। यह बात प्रसिद्ध ही है, यह कहते हैं।)* ठीक ही है मन के मनोरथों से रचित नगरों के निर्माण में एकमात्र संकल्प ही, असंभावित रचना में समर्थ होने के कारण, दिव्य शिल्पी प्रसिद्ध है, परन्तु उन नगरों के विनाश में नहीं ॥३३॥ केवल दृढ़ संकल्प से जो यह संसाररूपी दुःख प्राप्त हुआ है, वह केवल संकल्प के अभाव से ही नष्ट हो जायेगा, फिर इस विषय में क्लेश ही क्या ? ॥३४॥ तनिक भी संकल्प कर मनुष्य दुःख में डूब जाता है और कुछ भी संकल्प न कर वह अविनाशी सुख पाता है ॥३५॥ महर्षे, जब तक तुम्हारी बुद्धि संकल्परूप सर्प से निःशेष मुक्त नहीं होती, तब तक सर्वविध गुणों से उत्कृष्ट नन्दनवन में उच्च स्थान पर स्थित हुए भी तुम क्लेशरहित होकर शोभित नहीं हो सकते ॥३६॥

तब संकल्पनाश का क्या उपाय है ? इस प्रश्न पर उसका उपाय बतलाते हैं।

हे मुने, अपने विवेकरूपी पवन से संकल्परूप मेघों का विनाशकर, शरत्काल में आकाश–मण्डल की नाईं, तुम उत्तम निर्मलता प्राप्त करो ॥३७॥ अविवेकरूप प्रबल प्रवाह से उमड़ रही उन्मत्त संकल्परूप नदी तुम मणिमन्त्र से सुखा दो। और उसमें बह रहे आत्मा को धैर्य देकर मन से रहित हो जाओ ॥३८॥

संकल्परूप पवन से कम्पित हुए, पत्तों एवं तिनकों के टुकड़ों की नाईं प्राणीमात्र के हृदयाकाश में भ्रमण कर रहे इस चिदात्मा का, विवेक का आश्रय लेकर, साक्षात्कार करो ॥३९॥ अपने–आप अपनी संकल्पात्मक कालिमा का निवारण करके आत्मा की उत्तम विशुद्धता प्राप्तकर अविनाशी आनन्दरूप हो जाओ ॥४०॥ चूँकि, यह आत्मा समस्त शक्तियों से परिपूर्ण है, अतः जब कभी वह किसी वस्तु की जैसी भी पर्याप्तरूप से भावना करता है, अपने संकल्प के विलास से उस वस्तु को उसी समय वैसा ही देखता है ॥४१॥ हे ब्रह्मन्, यह उत्पन्न हुआ मिथ्यारूप जगत एकमात्र संकल्पात्मक ही है, अतः केवल संकल्प के अभाव से ही, न जाने, कहीं भी विलीन हो जाता है ॥४२॥ संकल्परूपी पूर्वी हवा से व्यथित जन्मस्वरूप मेघों का समूह असंकल्परूप पश्चिमी हवा के स्पर्श से ब्रह्माकाश में विलीन हो जाता है ॥४३॥ हे महर्षे, संकल्परूप जड़ उखाड़कर अत्यन्त दृढ़ता को प्राप्त हुई इस तृष्णारूपी करंज लता को तुम सुखा डालो ॥४४॥

अविद्या, काम और संकल्प का विनाश होने पर भी यदि जगत का अवभास होता हो, तो वह केवल प्रतिभासरूप ही ठहरा, ऐसी स्थिति में जीवन्मुक्तों के अनुभवों से सिद्ध दृष्टि सृष्टि –पक्ष ही अवशिष्ट रह जाता है, इस आशय से कहते हैं।

जिस प्रकार गन्धर्वनगर की उत्पत्ति और विनाश एकमात्र प्रतिभास स्वरूप ही है, उसी प्रकार यह संसाररूप विभ्रम की उत्पत्ति और विनाश भी एकमात्र प्रतिभासस्वरूप ही है ॥४५॥

जब तक अज्ञान है, तभी तक जगत का प्रतिभास शोक में कारण है, अज्ञान का विनाश हो जाने पर तो वह शोक में कारण नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

'मैं राजा हूँ' यों अपना असली स्वरूप भूलकर तभी तक राजा शोक करता है जब तक कि उसके हृदय में 'मैं राजा हूँ' यों अपने वास्तव स्वरूप की स्मृति उत्पन्न नहीं हो जाती ॥४६॥

यदि शंका हो कि पहले के दीर्घकाल से अभ्यस्त संसार के अनेक संस्मरण तत्त्वज्ञानी के भी वर्तमानकालीन 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' इस स्मरण को ढक देंगे, ऐसी स्थिति में उसे पुनः संसार शोक बना ही रहेगा, तो इस पर कहते हैं।

हे ब्रह्मन्, जैसे उपस्थित शरद–ऋतु से निरस्त हुई वर्षाऋतु, मेघरूप जड़ता से शरद का आच्छादन करने में सामर्थ्य नहीं रखती, वैसे ही इस राजा और तत्त्ववेत्ता को गुरु के उपदेश से उत्पन्न हुई ' मैं राजा हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ' इस स्मृति से निरस्त प्राचीन दुःखों की स्मृति अपनी जड़ता से आच्छादन करने में सामर्थ्य नहीं रखती ॥४७॥

यही स्मृति प्रबल है, इसमें कारण क्या है ? तो मनन, निदिध्यासन के अभ्यासरूप पुरुष प्रयत्न से उसका सुदृढ़ बना रहना ही कारण है, इस आशय से कहते हैं।

चित्त की दो वृत्तियों में जो चित्तवृत्ति अकस्मात उत्तरोत्तर सुदृढ़रूप से होती जाती है, वही दूसरे को उस प्रकार दबाती जाती है, जिस प्रकार वीणा के तार और मन्द दो स्वरों में जो ही ऊँचा स्वर होता है, वही दूसरे को दबाकर कान पर आरूढ़ हो जाता है ॥४८॥

बिना विच्छेद के निरन्तर चल रही ' मैं ब्रह्म हूँ' यह स्मृति ही मेरी मुख्य मानस पूजा है, दूसरी नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे मुने, मैं अद्वितीय शिवरूप देव हूँ, वही देवस्वरूप अद्वितीय शिव तुम्हारे अहंकार से उपलक्षित, नित्य, अपरोक्ष, चिदेकरस–स्वरूप मैं ही हूँ, यों एकमात्र अविच्छिन्न स्मृतिधारा की तुम भावना करो। उस प्रकार की देवपूजारूप भावना से ही युक्त हुए तुम अवश्य ही उक्त शिवरूप हो जाओगे, दूसरी बाह्य–पूजा से नहीं ॥४९॥ महर्षे, उक्त रीति से (तुम अद्वितीय–ब्रह्मभावमयी ही पूजा करो, दूसरी बाह्यपूजा नहीं) यह बाह्य पूजा तुम्हारे जैसे ज्ञानियों को योग्य नहीं है, क्योंकि बाह्य पूजा तुच्छ फलों में इच्छा रखनेवाले अज्ञानी जनों के लिए ही प्रकाशमान है यानी उन्हीं के योग्य है। तुम्हारे योग्य उपास्य तो उत्तमपदस्वरूप परमार्थ सत्तात्मक परब्रह्म ही एकमात्र देव है, उसकी पूजा में पूजक (पूजा द्रव्यों का स्वामी), सुन्दर षोड़शोपचार से पूजन एवं पूज्य (प्रतिमा, लिंग आदि) कुछ भी नहीं है, वह सब उसके पूजन में तुच्छ पदार्थ–सा है, क्योंकि वह सामग्री मन की एकमात्र कल्पना ही है ॥५०॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

सौषुप्त तुर्य और तुर्यातीत पद का उपदेश देकर तुर्यातीतपद में ईश्वर ने विश्राम किया इसका वर्णन।

ईश्वर ने कहा : महर्षे, यों इस देवपूजा से पूजित हो रहा यह जगत बाध–दृष्टि से असत् एवं अधिष्ठान–दृष्टि से सत् और देवस्वरूप होकर स्थित है, यह कहना ठीक है। तथा परमार्थदशा में यह विश्व द्वित्व और एकत्व से विनिर्मुक्त एवं व्यवहारदशा में द्वित्व और एकत्व से युक्त भी है, यह कहना भी ठीक है यों सर्वविध विरोधों का परिहार हो गया, यह भाव है ॥१॥

यह जगत क्यों द्वैत एवं एकरूप है और क्यों उनसे निर्मुक्त है, इस शंका पर कहते हैं।

चितितत्त्व ने मोहकृत जड़ता की कल्पना से अपने में संसाररूपता (द्वैतरूपता) प्राप्त की है तथा मोहरूपी कलंक से रहित हुआ वह असंसारी देखा जाता है। इसलिये वह अभिन्न और अद्वयात्मक है ॥२॥

उसी बात का स्पष्टीकरण करते हैं।

'मैं दृश्य देहादिस्वरूप हूँ' इस प्रकार मोह को प्राप्त हुई चिति संसार में फँस जाती है और दृश्य के प्रकाशन में समर्थ इसी चित्कला का, जो अपने से अभिन्नरूप है, अनुभव कर संसार के बन्धन से निर्मुक्त हो जाती है ॥३॥ अर्थाकार की भावना से द्वैतभाव प्राप्तकर यह चिति अपनी अखण्ड सत्ता भूल जाती है और देह के सुख–दुःख आदि से मिली हुई असत्यरूप ही अपनी स्थिति को क्षणभर में 'सत्यरूप है' यों अवधारण कर लेती है (यही इसकी कलंकयुक्त स्थिति है।)॥४॥

अब कलंकवर्जित स्थिति कहते हैं।

विमल, अवयवों से रहित, सत्य या असत्य इस तरह के भिन्न–भिन्न सभी कल्पित नाम–रूपों से निर्मुक्त यह चिति, व्यवहार–काल में सम्पूर्ण नाम–रूपात्मक होती हुई भी, शून्यस्वभाव ही है ॥५॥

उक्त निष्कलंक स्थिति की प्रतिष्ठा बढ़ाने के निमित्त सुषुप्ति आदि भूमिकाओं का भेद दिखलाने के लिए उपक्रम करते हैं।

पूर्ण, अनुपम एवं शान्त स्वभाव ब्रह्म ही आकाश की नाईं पहले विकसित होनेवाली ब्रह्मशक्ति से

(अपनी मायाशक्ति से) जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति; सृष्टि, स्थिति और संहार या आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन मार्गों से प्रवृत्त हुए इस जगत के रूप में मन के द्वारा विस्तार को प्राप्त हुआ है ॥६॥

इसलिए मन का उच्छेद होने पर ही इस जगत का उच्छेद हो जायेगा, यह कहते हैं।

महर्षे, मन के द्वारा सत्यभूत ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार से अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों के व्यापारों में हेतुभूत मन के छिन्न–भिन्न हो जाने पर प्रच्छन्न जगतरूपी जाल विलीन हो जाता है और तदनन्तर कल्पनारूप जर्जर इस संसार की कलना नष्ट हो जाती है। (इस प्रकार तत्त्वज्ञान से कल्पनाओं के साथ मन के विनष्ट हो जाने पर जीवन्मुक्त की पहले जिस भूमिका में स्थिति होती है, उसे लक्षण एवं नामों से दिखलाते हैं।) उस अवस्था में जीव की भूँजे गये बीज की नाईं 'इति'(卐) नामवाली सत्ता होती है ॥७,८॥

इस रीति से उस दशा में समस्त दृश्यों का बाध हो जाने के कारण एकमात्र अपरोक्ष दृष्टि के ही बच जाने से उसका दूसरा नाम 'पश्यन्ती' भी है, यों कहते हैं।

शरत्काल के आकाशमण्डल की नाईं मानसिक मोहरूपी बादलों से निर्मुक्त उक्त अवस्था चित्त के विषयों की चर्वणाका (बार–बार प्रीतिपूर्वक अनुस्मरण का) परित्याग कर रही 'पश्यन्ती' नाम से योगियों द्वारा व्यवहृत होती है ॥९॥ पहले चित्त के संकल्प आदि विषयों से उपहित चिति चंचलता को प्राप्त हुई भी इस उपर्युक्त अवस्था में वह अपने एकमात्र चैतन्य–स्वभाव में स्थित होकर समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त हो जाती है और समस्त पदार्थों की सत्तारूप से अवशिष्ट होकर जीवित अवस्था में ही संसाररूपी समुद्र पार कर जाती है ॥१०॥ अविनाशी निरतिशयानन्दस्वरूप आत्मप्राप्तिरूपी पाण्डित्य से स्थूल हुई वह चिति उक्त दशा में परमपद प्राप्तकर समस्त श्रमों से निर्मुक्त होती हुई व्यापक ब्रह्मपद में विश्राम करती है। (इससे उसका 'महासुप्तपद' नाम भी सूचित हुआ।) ॥११॥

अब दूसरे स्थान का वर्णन करनेवाले भगवान शंकर वर्णित प्रथम स्थान का उपसंहार करते हैं।

हे विप्रेन्द्र, मन के विनष्ट हो जाने पर जो सबसे पहली स्थिति प्राप्त होती है, वह तुमसे कही गई। अब तुम इस चितिशक्ति की परम पवित्र दूसरी स्थिति सुनो ॥१२॥ मन से वर्जित यही चिति शक्ति

(卐) 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' (योगियों एवं कर्मियों के द्वारा सेवित, जीव से विलक्षण, सबके नियामक परमेश्वर को 'सर्वात्मरूप मैं ईश्वर हूँ' इस रूप से जब जानता है तब इस परमेश्वर की विभूति को 'ईश्वररूप मेरी ही यह जगद्रूपा विभूति है' यों जानता है, तब शोकरहित होकर कृतकृत्य हो जाता है।) इस श्वेताश्वतर श्रुति में तथा छान्दोग्य में 'स्वपिति' शब्द के निर्वचन समय में किये गये 'स्वम्' 'अपि' 'इति' इस विभाग में इस सत्ता का इतिपद से व्यवहार किया गया है, अतः इति' यह नाम ठीक है, यह जानना चाहिए। यद्यपि अज्ञ की सुषुप्ति में भी 'स्वपिति' शब्द का प्रयोग होता है, तथापि तत्त्वज्ञान से अज्ञान आदि का बाध हो जाता है, अतः जिस उपाधि का जिस अविद्या में लय होता है, उन दोनों के न रहने के कारण जब अप्यय–बोधक अपिशब्द की ही निवृत्ति हो गई तब स्वरूपप्राप्त्यर्थक इतिशब्द ही अवशिष्ट रह गया, अतः इति शब्द उसका नाम हो सकता है, यह भाव है।

शान्ति से राजित, सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियों से एवं अन्धकार, अज्ञान आदि जड़ता से विनिर्मुक्त तथा विस्तृत आकाश की नाईं परम सुन्दर है ॥१३॥

दूसरी अवस्था में पहली अवस्था की अपेक्षा चितिशक्ति के जो विशेष धर्म हैं, उन्हें कहते हैं।

निबिड़ सुषुप्ति-स्थिति की झलक के सदृश, पाषाणशिला के भीतरी अवयवगठन के सदृश, सैंधव नमक के अन्दर स्थित रस के सदृश और वायु के अन्तर्गत विद्यमान स्पन्दनशक्ति के सदृश जब पहली भूमिका अभ्यास के द्वारा समय पाकर खूब परिपक्व हो जाती है तब आकाश में विद्यमान शून्यशक्ति की नाईं चिदेकघन ब्रह्माकाशभाव प्राप्तकर वह उस प्रकार विषयोन्मुखता का परित्याग करती है, जिस प्रकार (वायु आदि क्षोभक पदार्थों के अभाव में) जल चंचलता का, वायु-कला चलन का और पुष्प लेखा सुगन्ध का परित्याग करती है ॥१४-१६॥ क्रियारूप काल-कला से तथा अवकाश की अपेक्षा रखनेवाली परिच्छिन्न वस्तुरूप आकाश की कला से युक्त कालरूपता और आकाशरूपता का, उन कलाओं के परित्याग से ही, परित्याग कर समस्त दृश्यमात्र की कल्पना न करनेवाली, जड़ता और अजड़ता से शून्य विशुद्धस्वभाव उक्त चिति शब्दों से निर्वचन के अयोग्य-वक्ष्यमाण सत्ता धारण करती है ॥१७॥ देशकृत एवं कालकृत परिच्छेद से रहित, सर्वातिशायी, त्रिकालाबाधित सत्ता पद को प्राप्त हुई जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से चतुर्थ जो विराट, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत से चतुर्थांश है, उससे प्रकाशमान सर्वविध कलंकों और रोगों से रहित सत्ता का उक्त चितिशक्ति परिग्रह करती है ॥१८॥ हे विशालनेत्र, उक्त स्वरूपवाली किसी एक ऐसी अनिर्वचनीय सत्ता का चितिशक्ति परिग्रह करती है, जो साक्षी की नाईं प्रकाशमान होकर अवस्थित रहती है और सबकी हेतु, सब काल में विद्यमान समस्त वस्तुओं के प्रकाशों तथा आनन्दों से श्रेष्ठ और स्पृहणीयतर है ॥१९॥

उक्त तुर्यरूप द्वितीय भूमिका का उपसंहार करके तृतीय भूमिका का अवतरण करते हैं।

हे उत्तम व्रत का आचरण करनेवाले, तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ महर्षे, यह द्वितीय भूमिका आपसे कही गई। अब मैं तृतीय भूमिका का निरूपण करूँगा, आप सुनिये ॥२०॥

तृतीय भूमिका में पहले की भूमिकाओं की अपेक्षा जो विशेषधर्म हैं, उन्हें कहते हैं।

यह चिति तृतीय भूमिका में ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति और उस वृत्ति का विषय ब्रह्म इन दोनों का नीरक्षीर न्याय से एकीकरण हो जाने के कारण ग्राहक अंश और ग्राह्य अंश से शून्यरूप स्थिति को प्राप्त हो जाती है, इसीलिए ब्रह्म, आत्मा इत्यादि शब्द और अर्थों से निर्मुक्त हुई विशुद्धरूप से उदित होती है। तात्पर्य यह है कि पहले की भूमिका संप्रज्ञातसमाधि से प्राप्य है और यह तृतीय भूमिका असंप्रज्ञात समाधि की सुदृढ़ स्थिति से प्राप्य है, यह विशेष हुआ ॥२१॥ यह तृतीय भूमिका जन्म आदि छः भावविकारों से शून्य होने के कारण काल से भी विचलित नहीं होती, अज्ञान आदि अन्धकार से विनिर्मुक्त वह स्वयं ही कलंकों से रहित है। तुर्यातीत आदि उनका नाम होने से भी वह सर्वातिशायी परमपुरुषार्थरूप है ॥२२॥ वह सभी उत्तमोत्तम अवस्थाओं की परम अवधि है, परम मंगलरूप होने के कारण समस्त मंगलों में प्रधान मंगल है, सर्वमुख्य विच्छेदशून्य चिति ही तृतीय पावनकारी स्थिति है ॥२३॥ इस भूमिका में जो चिरकाल तक स्थिति है, वह सब मार्गों से (शैवशास्त्रोक्त प्रसिद्ध छः मार्गों से और श्रुतिप्रसिद्ध धूम्र, अर्चि आदि मार्गों से) तथा उन मार्गों के द्वारा अपनी-अपनी उपासनाओं के अनुसार

तत्-तत् लोक को प्राप्त हुए उपासकों से भी दूरवर्ती है। इसलिए हे मुने, मेरी भी वाणी का वह विषय नहीं है, किन्तु वह स्वयं ही अनुभूत होती है ॥२४॥ हे मुने, जाग्रत् आदि तीन मार्गों से, कल्पना से तथा कल्पनासापेक्ष तुर्यत्व संख्या से अतीत पद तुमसे मैंने कहा, उसी पद में तुम सदा अवस्थित रहो। वह पद ही अविनाशी पूज्य देव है, दूसरा नहीं ॥२५॥ हे मुने, इस समस्त जगत् का उपादान वही (तृतीयपदरूप देव) है, इस विज्ञान से यह समस्त विश्व तन्मय ही बन जाता है। हे मुनीश्वर, उपादान से अतीत अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व के विज्ञान से यह नहीं है और यह नहीं भी नहीं है यानी 'अस्ति' और 'नास्ति' इन दोनों विकल्पों से वर्जित है ॥२६॥

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

वास्तव में यह न कुछ प्रवृत्त होता है और न कुछ निवृत्त ही होता है। अपने उदर की नाईं केवल शान्त, एकरूप से प्रतीयमान आकाश आदि एकरूप पदार्थों की अपेक्षा से भी अधिक एकरूप भासित होनेवाला वह केवल प्रकाशित होता है ॥२७॥

क्यों वह समानों से भी अधिक समान भासता है ? इस प्रश्न पर समानाभास में हेतु बतलाते हैं।

द्वैत के साथ एकता का अभाव, उक्त घनीभूत चेतनरूप होने के कारण संक्षोभ का अभाव, विकार आदि का अभाव, चिरकालिक नित्य भी काल, आकाश आदि की अनित्यता की सम्पादक तथा चिद्घन होने के कारण (♣) चिति के साथ सत्-पदार्थों का या असत्-पदार्थों का या बालकसदृश अज्ञानियों द्वारा कल्पित आकाश में शिलाकोश की नाईं अनिर्वचनीय सम्पूर्ण जगत् का तनिक भी भेद नहीं है। अतः समसमाभास जो कहा गया है, वह ठीक ही है ॥२८,२९॥

उक्त तुर्यातीतत्व का ही उपपादन कर रहे श्री महादेवजी उपसंहार करते हैं।

सम्पूर्ण संसार शान्त, सुशिव एवं वाणी के व्यापार से अतीत उक्त पदस्वरूप है। विराट् आदिरूप अकार आदि मात्रा-भेद से कल्पित चार पादों से विभक्त हुए 'ॐ' इस अक्षर की अर्धमात्रा की जो चार नाद, बिन्दु, शक्ति और शान्तानामक मात्राएँ हैं, उनमें जो चौथी शान्तानाम की मात्रा है, वही परमगति है ॥३०॥ श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : शंकरजी ने पूर्वोक्त प्रकार से उपदेश दिया, तदनन्तर इस वसिष्ठमुनि के तथा अन्य स्कन्द, नन्दी आदि सभी श्रोताओं के साथ जहाँ पर प्रणव की अर्धमात्रा का चरम भाग बिलकुल उपशान्त हो जाता है, ऐसे शान्तरवनामक सर्व-संसार के पारभूत तुरीय के तुरीय पद में भूमानन्दचितिरूपी विमलदृष्टि के साथ एकरसरूप हो जाने से परिणामतः वृत्तियों को विश्रान्त कर भगवान् शंकरजी उस वसिष्ठजी के आश्रम में क्षणभरतक निश्चेष्ट होकर चुपचाप बैठ गये, क्योंकि मन की परम पद में विश्रान्ति होने पर उसके अधीन सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार समाप्त हो गये थे ॥३१॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

(♣) प्रलयकालीन समुद्र के समान द्वैत के साथ ऐक्य का अभाव होने पर भी स्वात्मा में संक्षोभ होगा, इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं - 'असंक्षोभात्'। संक्षोभ क्यों नहीं होगा ? इस पर कहते हैं - 'घनचेतनया'। सैंधव-खण्ड के घनीभूत होने पर भी उसके रस में द्रवत्व आदि विकार जैसे देखा जाता है, वैसे ही यहाँ पर भी अवश्य कुछ विकार होगा, इस पर कहते हैं - 'अविकारादिमत्त्वाच्च'।

पैंतीसवाँ सर्ग

ब्रह्मा, विष्णु और शंकर आदि के जो परम पितास्वरूप महादेव हैं,
वे ही परमात्मा पूज्यों की चरम अवधि हैं इसका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, तदनन्तर क्षण भर में गौरीरूप कमलिनी के सरोवरभूत महादेवजी ने भक्त के ऊपर अत्यन्त वात्सल्यभाव रखने के कारण मुझे ज्ञान देने के लिए उत्सुक होकर अर्थात् मेरे भाग्योदय से प्रेरित होकर अपनी इच्छा से नेत्रोन्मीलन का स्वीकार किया यानी उन्होंने अपनी आँखें खोल दीं ॥१॥ भद्र, जैसे मेघसंपुट से यानी मेघों के बीच से अथवा आकाश और पृथिवी के बीच से उदित हुआ किरणों का समूहस्वरूप सूर्य दिवस को अभिव्यक्त करता है, वैसे ही भगवान् शंकर के निर्मल और त्रिपुण्डरूपी शरत्कालीन अभ्ररेखा से अंकित होने के कारण मुखरूपी आकाशतल में उदित हुए चन्द्र, सूर्य और अग्निरूपी नेत्रों के समूह ने समाधि का व्युत्थान अभिव्यक्त किया ॥२॥

तत्त्वबोध में उपयोगी होने के कारण भगवान् पहले उपाय और उपेय रूप सार बतलाते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे मुने, तुम पहले विचार को सन्निधि में लाकर अपने (प्रत्यगात्मा के) पारमार्थिक स्वरूप का ही प्रमाणों से शीघ्र निर्धारण करो। उक्त प्रत्यगात्मा में अनर्थभूत (बहिर्मुखता के आपादन द्वारा सम्पूर्ण अनर्थों के मूलभूत) त्वमर्थ का यानी युष्मत्-प्रत्यय के योग्य अचिदंश का ग्रहण मत करो, क्योंकि जैसे स्पन्दनशक्ति का नयन कर रहा पवन अचल ही आकाश को ताप, रज, जड़ता आदि से युक्त बनाता है, वैसे ही यह त्वमर्थ भी आत्मा को जड़ता आदि अनर्थों से युक्त बनाता है ॥३॥

त्वमर्थ में भी द्रष्टव्य, हेय और उपादेय बहुत है, फिर उसका आदर क्यों न किया जाय ? इस पर कहते हैं।

जो कुछ इस संसार में दर्शन योग्य है, उसे तत्त्वज्ञानी ने देख लिया; क्योंकि 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं भवति' (जिसका ज्ञान हो जाने पर अश्रुत श्रुत, अविचारित विचारित और न जाना गया जाना गया होता है) इत्यादि श्रुति के अनुसार आत्मदर्शन द्वारा ही सम्पूर्ण द्रष्टव्य पदार्थों का तत्त्वतः दर्शन हो ही जाता है। अतः उसे (तत्त्वज्ञ को) देखे गये या न देखे गये भ्रमों के साथ प्रयोजन ही क्या रहा ? भ्रम-विषयों में तत्त्वज्ञानी के लिए कोई हेय या उपादेय नहीं रहता, यह मैं ठीक जानता हूँ ॥४॥ स्वीकृत इष्ट और परिहृत अनिष्ट विषय जब चित्त के आश्वासन में हेतु होते हैं, तब वे शान्तिमय हो जाते हैं और जब विक्षेप के हेतु हो जाते हैं, तब वे ही अशान्तिमय हो जाते हैं। शान्तिमय और अशान्तिमय इन विकल्पों का यदि दलन करते हो, तो तुम धीर और तलवाररूप हो। यदि वैसा नहीं करते तो तुम धीर नहीं हो। इसलिए आस्था रखकर तुम आत्मदृक् और धीर बन जाओ (दृश्य आकारों का स्पर्श न करनेवाली चिदात्मस्वभाव से अवस्थिति ही मुख्य स्थिति है, यह भाव है।) ॥५॥

अथवा धीर-तलवार बनने में यदि तुम असमर्थ हो, तो उसकी प्राप्ति के लिए पुनः कुछ काल तक श्रवण आदि में अनुकूल कुछ थोड़ी-सी बाह्य-दृष्टि का अवलम्बन कर लगातार तत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो, प्रमाद से कभी भी प्रयत्न से विरत मत होओ, यही कहते हैं।

(यदि तुम तथोक्त धीर बनने में असमर्थ हो, तो) बाह्यज्ञान के (♨) यानी ब्रह्मज्ञान के लिए शीघ्र ही श्रवण आदि में अनुकूल इस बाह्यदृष्टि का आश्रय लेकर मेरे द्वारा जो कुछ कहा जाय उसे तुम सुनो। आत्मज्ञान के प्रयत्न के बिना चुपचाप बैठे रहने से कौन–सा पुरुषार्थ होगा ? ॥६॥

बाह्याकार दर्शनों के मध्य में देहात्मतादर्शन ही महान् अनर्थ और सम्पूर्ण अनर्थों का बीज है, अतः उसे ही मुझसे छुड़ाने के लिए भगवान् प्रवृत्त हुए, यों महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

त्रिशूलधारी भगवान् शंकर ने उस तरह का दूसरा कल्प कहकर आगे कहे जानेवाले देहात्मभ्रम के निरास के लिए फिर यह कहा कि तुम बाह्यदेह आदि में आत्मज्ञानी मत बनो। *(देह की क्रियाशक्ति जैसे पराधीन है, वैसे ही चेतनशक्ति भी पराधीन है। इसलिए देह में आत्मा की प्रसक्ति नहीं हो सकती, इस अभिप्राय से प्राण के अधीन देह की चेष्टा है, यह कहते हैं।)* यन्त्र की नाईं प्राण से ही यह देहरूपी घर स्फुरित होता है ॥७॥ प्राण–वायु से शून्य हुआ देहरूपी घर संचलन छोड़कर मूक के सदृश स्थित रहता है। देहरूपी घर में चलनानुकूल क्रियाशक्ति प्राणवायु प्रयुक्त है और संवेदन शक्ति तो आत्मचिति ही है ॥८॥

उनमें क्रियाशक्ति का मूल और आश्रय दोनों नष्ट हो जाते हैं, परन्तु चितिशक्ति नष्ट नहीं होती, यह कहते हैं।

वह चितिशक्ति अमूर्त और आकाश से भी स्वच्छ है। तीनों काल में कभी बाधित न होनेवाली उस चिति की सत्ता ही उसके अविनाश में हेतु है। क्रियाशक्ति का मूल प्राण और क्रियाश्रय देह दोनों नष्ट हो जाते हैं और देहवियोग से ही प्राण वायुस्वरूप हो जाता है ॥९॥ आकाश से भी स्वच्छ चिदात्मा नष्ट नहीं होता। (इसलिए अनेक प्रकार के) भ्रमों से क्या होगा ? *(चिदात्मा क्यों नष्ट नहीं होता ? इसमें उपपत्ति कहते हैं।)* क्योंकि लिंगदेह से संवलित मनःप्राणमय देह में आवरणरहित चितितत्त्व की ही अभिव्यक्ति होती है ॥१०॥

स्थूलदेहमात्र में तो मलिनता होने से चिति को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है, इसका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं।

हे मुनिनायक, निर्मल आभासवाले दर्पण में किसी तरह की प्रतिबिम्बक्रिया के बिना भी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है और जैसे मलयुक्त दर्पण में सामने उपस्थित विद्यमान वस्तु का भी प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, वैसे ही देह के विद्यमान रहने पर भी प्राण के निकल जाने से उसमें चिति का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता ॥११,१२॥

अतएव सर्वव्यापक होती हुई भी चिति मायाकलंक से आवृत होने के कारण लिंगदेह को छोड़कर अन्यत्र बाह्यक्रियाओं में और अपना असली स्वरूप जानने में समर्थ नहीं होती और लिंगदेह में आवृत न

(♨) सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ सम्पूर्ण लोकों के नेत्ररूप सूर्य जैसे बाह्य चक्षु के दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही एक और सब भूतों के अन्तरात्मा भी लोक दुःखों से लिप्त नहीं होता) इस श्रुति में अलेपकता के समर्थन के लिए समस्त प्रपंच के बाह्यरूप से बतलाया गया आत्मा 'बाह्य' शब्द का अर्थ है, उसके ज्ञान के लिए, यह 'बाह्यबोधाय' का अर्थ है।)

होने के कारण उनकी वृत्ति द्वारा उन दोनों में यानी बाह्य क्रियाओं में और अपना स्वरूप जानने में समर्थ होती है, यह कहते हैं।

सर्वव्यापक होती हुई भी चिति बाह्य घटादि–आकार से स्थूल हुई बुद्धिवृत्ति से देहस्पन्दन आदि के प्रति समर्थ होती है। और ब्रह्माकारज्ञान से तो मायाकलंक से निर्मुक्त होकर वह परमशिव यानी कैवल्यनामक परमकल्याणस्वरूप हो जाती है। अभिव्यक्त हुई वह चिति ही सम्पूर्ण पदार्थों की सत्तारूप स्फूर्ति का प्रदान करनेवाली है और वही देवतास्वरूप है ॥१३॥

चिति की अभिव्यक्ति में उत्कर्ष के कारण ही हरि, हर आदि देवताओं में भी उत्कृष्ट देवरूपता है, इस आशय से कहते हैं।

वही हरि है, वही शिव है, वही हिरण्यगर्भ है, वही चतुर्मुख ब्रह्मा है, वही देवताओं का पति इन्द्र है, वही वायु, अग्नि, चन्द्र एवं सूर्यरूप है और वही परमेश्वररूप है ॥१४॥ वही सर्वत्र व्यापक आत्मा है, सर्वचैतन्याकार चेतन है, देवेश देवभृत्, धाता, देवदेव और स्वर्गस्वामी है ॥१५॥ महाचैतन्य के जगदात्मक समुल्लास की ओर जो मुग्ध नहीं होते, ऐसे जो भी कोई हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि उत्तम देवताओं के स्वरूपों में प्रसिद्ध हैं ॥१६॥

जो परब्रह्मरूप देवता है, उसकी दृष्टि में तत्–तत् गुण में अभिमान रखनेवाले, ये ब्रह्मा आदि सृष्टि आदि कार्य के लिए आविर्भूत हुए हैं और अग्नि के विस्फुलिंग की नाईं लक्षित होते हैं, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, परम चिति से चारों ओर से निकले हुए ये ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि तपे हुए लाल–लाल लोहे के गोले से निकले अग्नि–कणों की नाईं और समुद्र से निकले जलबिन्दुओं की नाईं परमचैतन्य के ही एक अंशरूप हैं ॥१७॥

यह जो कहा गया है, वह अशास्त्रीय व्यवहारदृष्टि से कहा गया है, शास्त्रीय दृष्टि से नहीं। विचार से (शास्त्रीय दृष्टि से) तो ब्रह्मा आदि के आविर्भाव से लेकर सर्ग आदि की चेष्टा, अनुग्रहपूर्वक उपदेश देना, ब्रह्माण्डों का आधिपत्य स्वीकार करना आदि जितने तिरोभावपर्यन्त व्यवहार हैं, वे सब अविद्याकृत भ्रान्तिस्वरूप ही हैं, वास्तविक नहीं, यह कहते हैं।

यथार्थ में परमपदरूप ब्रह्म से उत्पन्न नहीं हैं, तथापि अज्ञानवश परमपदस्वरूप ब्रह्म से उत्पन्न की तरह प्रतीयमान, एकमात्र भ्रमस्वरूप उन पदार्थों की तथा भ्रमों में हेतुभूत उन्हीं अनेक कल्पनाओं के करनेवाले मन की स्थितिदशा में ही हजारों शाखा–प्रशाखाओं में फैलकर वेद, वेदार्थ सृष्टि के आदिम क्रम, सांगोपांग क्रियाकला, उपासनाएँ एवं ब्रह्मतत्त्व के बोधोपयोगी उपाय और वेद आदि में अधिकारी जीव तथा उनकी काम, कर्म और वासना, जन्म, मरण आदि अनर्थरूप जटा इन सबकी स्वरूपभूत यह अविद्या उत्तरोत्तर स्थूलतम होकर स्फुरित होती है ॥१८,१९॥

अनन्त होने के कारण अविद्या के विलासों का वर्णन नहीं किया जा सकता, इस आशय से कहते हैं।

इसीसे देश और काल की सम्पत्ति के अनुसार बार–बार कोटि–कोटि पदार्थों के स्वरूप में फैली हुई असीम उस स्थूलतम अविद्या का वर्णन करने में कौन पुरुष समर्थ हो सकता है अर्थात् कोई नहीं।

अथवा उस प्रकार असीम अविद्या का वर्णन करने पर कौन प्रयोजन सिद्ध होगा अर्थात् कोई नहीं सिद्ध होगा ॥२०॥ चूँकि ब्रह्मा, हरि, हर आदि देवताओं का भी देहरूप उपाधि का परिग्रह आविद्यक ही है, इसलिए यह चैतन्यस्वरूप महादेव उनका भी परम पिता है। जिस तरह पल्लवों का मूल बीज वृक्ष है, उसी तरह चैतन्यात्मा महादेव उनका मूल बीज है ॥२१॥ हे मुने, जिसने उक्त चैतन्यात्मक महादेव-तत्त्व का परिचय कर लिया है, उसके लिए तो वही तत्त्व वन्दनीय और पूजनीय है, क्योंकि सब प्राणियों का बल और अभिधान वही है। वही सर्वात्मक, प्रकाशरूप, समस्त ज्ञानों का एकमात्र उत्पादक और सबमें सत्तास्फूर्ति का प्रदान करनेवाला है ॥२२॥ तत्त्वज्ञानी को प्रत्येक इन्द्रिय और प्रत्येक वस्तु में प्रकाशरूप होने के कारण वही विषय होता है, दूसरा नहीं। वह सर्वत्र ही सदा उदितस्वभाव है एवं ज्ञानात्मक होने के कारण सर्वविषयक है ॥२३॥ समीप में बैठाने के लिए आह्वान और प्रकाशन के लिए मन्त्र आदि कुछ भी उसके लिए उपयुक्त नहीं होते, क्योंकि वह सदा आहूत एवं सर्वत्र ही स्थित है, अतएव अपने चैतन्यरूप से चारों ओर उपलब्ध हो जाता है ॥२४॥ हे मुने, यह शिवात्मक चिति जिस-जिस वस्तुस्थिति की ओर जाती है, वहीं पर विषय, विषयप्रकाश, विषयमननात्मक मन और उनकी साक्षीभूत दृष्टि इनका स्वरूप स्वयं ही धारणकर लेती है, दूसरा कोई धारण नहीं करता ॥२५॥

महर्षे, इन्हीं सब कारणों से समस्त पूजा आदि व्यवहारों में प्रथमोपस्थित पूजायोग्य, नमस्कारयोग्य, स्तुतियोग्य, अर्घ्ययोग्य और निखिल देवताओं का सवामी वही चितितत्त्व है, यह तुम जान लो। यही बड़े-बड़े ज्ञातव्य पदार्थों की भी चरम सीमा है ॥२६॥ वार्द्धक्य, शोक एवं भय के विनाशक इस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर मनुष्य फिर संसार में भूँजे गये बीज की नाईं अंकुरित नहीं होता ॥२७॥ हे विप्रेन्द्र, जो विदित हुआ समस्त जन्तुओं में अभय देता है, जो सबकी अपेक्षा आद्य है और जो अनायास उपासनायोग्य है, वह अज, परम एवं हस्तगत परमपदस्वरूप तुम्हीं हो, इसलिए बाह्य-दृष्टियों में क्यों मोह करते हो ? ॥२८॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

समस्त विश्व की उत्पत्ति के निमित्त, सर्वाकार से स्थित तथा
किसी से स्पर्श न होने के कारण विशुद्ध उस चितितत्त्व के सर्वैश्वर्य का वर्णन।

ईश्वर ने कहा : हे मुने, चूँकि इस चितिरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर पुरुष फिर संसार में उत्पन्न नहीं होता, इसलिए समस्त भावपदार्थों के भीतर रहनेवाले अपने अनुभवस्वरूप एकमात्र विशुद्ध प्रकाशमय चितितत्त्व को ही मुनिलोग संसार-रोग का अपहरण करनेवाला रुद्ररूप ईश्वर जानते हैं ॥१॥ हे मुने, तुम इसी निर्मल चितितत्त्व को अखिल बीजों का भी बीज, संसाररूप सृष्टि का परम सार और वेदोदित कर्मों में परम कर्म जानो ॥२॥ वह चितितत्त्व निखिल कारणों की क्रियाशक्तियों का कारण है और अपनी सत्ता से समस्त भावों में सत्ता प्रदान करनेवाला है। वास्तव में वह न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है, क्योंकि वह विशुद्ध और अजन्मा है ॥३॥ वही समस्त बुद्धिवृत्तियों का प्रकाशक, जीव के भी अन्दर रहनेवाला सारभूत चेतन, बाह्य वेद्यों का भी चेतन यानी बुद्धिवृत्ति के

सम्बन्ध से जनित अभिव्यक्ति से विषयों का प्रकाश करनेवाला प्रत्यक् रूप चेतन है, चेत्यों का परम अधिष्ठानभूत तत्त्व है और अपने को ही माया से अनेक रूप में भावना कर लेनेवाला है ।।४।। हे मुने उसी को मुनिलोग चक्षु आदि एवं सूर्य आदि प्रकाशों का प्रकाशक, स्वयं चक्षु, सूर्य आदि प्रकाशों से प्रकाशित न होनेवाला, अलौकिक, स्वयं अकेला ही समस्त बीजों के बीजरूप से स्थित, प्रकाश और निर्मल चिद्घन कहते हैं ।।५।। उस चितितत्त्व में पृथिवी, अप्, तेजरूप सत् और वायु एवं आकाशरूप त्यत् नहीं रहते। वह सद्रूप, शान्त एवं व्यावहारिक और प्रातिभासिक अवस्थाओं से वर्जित है। हे भद्र, जगत्सत्यता और अव्याकृतसत्ता के बाध–काल में उसके (बाध के) साक्षीरूप से विद्यमान जो चिन्मात्रस्वरूप वस्तु है, वह वही चितितत्त्व है, दूसरा नहीं, यह तुम जानो ।।६।। महर्षे, वही चितितत्त्व स्वयं ही रंजन बीजावस्था में रागात्मक, विषयस्मृतिकाल में चित्त–क्षोभक होने के कारण रंजकस्वरूप, विषयसम्बन्ध–दशा में रंजनरूप, विषयवियोग–दशा में चित्त की मलिनता का कारण होने से रजोरूप धूलरूप हो जाता है और वह स्वयं अमूर्तस्वरूप होते हुए भी शीघ्र ही चित्र आदि से रंजित मूर्तरूप हो जाता है ।।७।। भद्र, इस चितिरूपी विशाल चित्त में पहले कोटि–कोटि जगद्रूपी मरुभूमियों की मरीचिकाएँ प्रस्फुरित हो गई हैं, आगे प्रस्फुरित होगी और वर्तमान काल में भी प्रस्फुरित हो रही हैं ।।८।। इस स्वप्रकाशस्वरूप आत्मतत्त्व में अपनी एकमात्र सत्ता से जगत्नामधारी विलक्षणता यद्यपि प्रतीत हो रही है; तथापि वास्तव में वह कुछ भी नहीं है। जैसे अग्नि में ज्वाला, विस्फुलिंग, प्रकाश आदि विलक्षणता प्रतीत हो रही भी उष्णस्वभाव अग्नि से दूसरा कुछ भी नहीं है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए ।।९।।

इसी कारण 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (आत्मतत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से भी सूक्ष्मतम और बड़े से बड़े आकाश से भी बड़ा है।) वह श्रुति उस आत्मतत्त्व में अखिल विरुद्ध धर्मों का समावेश बतलाती है, इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मन्, इस चितितत्त्व ने महान् मेरूपर्वत को अपने उदर में समा लिया है और परमाणु के सदृश वह परमसूक्ष्म है ऐसा मुनि लोग कहते हैं। इसने महान् मेरूपर्वत को ढक दिया है और परमाणु के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म है ऐसा मुनि लोग कहते हैं ।।१०।।

इस चितितत्त्व में कालकृत दीर्घता और सूक्ष्मता का भेद नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

उस चितितत्त्व ने महान् कल्प जैसे काल को अपने उदर में समा लिया है और वह निमेषमात्र कालस्वरूप है, यह भी मुनिलोग कहते हैं। यद्यपि इसने महान् कल्परूपी काल के ऊपर अपना पैर जमा रक्खा है; तथापि अपनी निमेषमात्रस्वरूप कालरूपता का भी परित्याग नहीं किया है ।।११।।

उक्त अर्थ को ही विशदरूप से कहते हैं।

हे मुने, यद्यपि यह चितितत्त्व केश के अग्रभाग से भी सूक्ष्मतम है; तथापि इसने समस्त पृथिवी व्याप्त कर रक्खी है। सात समुद्ररूप वस्त्रवाली पृथिवी भी इसकी अन्तिम सीमा प्राप्त नहीं कर सकती ।।१२।। कुछ न करते हुए ही उसने इस महान् संसार–रचना के प्रति कर्तृता प्राप्त की है और यह बड़ा कर्म कर रहा भी कुछ करता ही नहीं ।।१३।। यह द्रव्यस्वरूप होता हुआ भी द्रव्यरहित, द्रव्यरहित होता हुआ भी द्रव्ययुक्त, शरीरवर्जित होता हुआ भी ब्रह्माण्डरूप शरीरवाला और ब्रह्माण्डशरीर वाला होता हुआ भी शरीररहित है ।।१४।। यह साठ घड़ी का अद्यस्वरूप होता हुआ भी निरन्तर प्रातःकालरूप

(प्रारम्भ के त्रिमुहूर्तात्मक कालरूप) है। प्रातःकाल स्वरूप होता हुआ भी अद्यस्वरूपता प्राप्त करता है। वास्तव में न तो वह मुहूर्तरूप है, न अद्यरूप है और न प्रातःकालस्वरूप ही है, अथवा सदा अद्यस्वरूप और प्रातःकालस्वरूप ही है ॥१५॥

उसी प्रकार उन्मत्त, अज्ञानी आदि द्वारा भाषित निरर्थक अपशब्दस्वरूप भी वही है, ऐसा बतलाने के लिए उनमें से कुछ का अनुकरण कर दिखलाते हैं।

उन्मत्त पुरुष निरन्तर निरर्थक जैसे भिंडि-भिंडि, खिल-खिल, पुरुपित्, छिलि, सालघ, विवित्, चलित्, लास, गुलुगुलु, शिली इत्यादि वाक्यों का जो उच्चारण करते हैं, वे निरर्थक वाक्य भी तत्स्वरूप ही हैं तथा सत्य यानी साथर्क वेदशास्त्रादि शब्दसमूहस्वरूप भी वही है। वस्तुतः ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो इस चितितत्त्व में आरोपित होकर सत्ता प्राप्त न करता हो। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो चितितत्त्वस्वरूप न हो ॥१६,१७॥

इस चितितत्त्व का पहले साक्षात्कार कर प्रह्लाद ने उसे प्रणाम किया था, इसका स्मरण कराते हुए उपसंहार करते हैं।

जिस परमात्मा में यह समस्त प्रपंच विद्यमान है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्वरूप है, जो चारों ओर से व्याप्त है एवं जो सर्वमय है, उस सर्वात्मक परमात्मा को बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥१८॥

'जिसमें आरोप करने से असद्वस्तु की भी सत्ता हो जाती है' ऐसा जो पहले कहा गया था, उसे सम्भव बनाने के लिए जैसे जहाँ निरर्थक भी श्लोक सार्थक हो जाते हैं' यों दृष्टान्त-प्रदर्शन के अभिप्राय से निरर्थक श्लोक का उदाहरण देते हैं।

(इस श्लोक की लोकतः और परमार्थतः सत्यार्थता बतलाई गई है। लोकतः इससे किसी वृक्ष का या भगवान् विष्णु का वर्णन किया गया है। वृक्षपक्ष में) न मुझयिे हुए पल्लवों और हरे पत्तों से मालित लताओं के प्रियतम अर्थात् चारों ओर लताओं से आलिंगित; अतएव तने, कोटर और शाखाओं के भीषण अन्तरालों में गहन यानी किसी के चढ़ने के अयोग्य एवं स्वयं म्लानि से वर्जित इस वृक्ष ने फूल, फल, कोंपल, भँवरा, पक्षी आदिरूप सम्पत्ति के कारण विलासपूर्ण अपनी शोभा से जिसने कि अपनी शोभा से अवहेलनापूर्वक मेघों के विद्युत्संवलन से स्निग्ध शिशिर-ऋतु की श्यामता से जनित सौन्दर्यातिशयरूप विभ्रम सर्जनों को तिरस्कृत कर दिया है - अन्य वृक्षों, अन्य वनों या समस्त जगत् में प्रसिद्ध लक्ष्मीलता को अपने अन्दर ही समा लेने के कारण उसे मानों बँधी मुट्ठी की नाईं संकुचित कर रक्खा है। (विष्णुपक्ष में) पल्लवों और पत्तों से जनित निर्मल माला से शोभित पुरुषों में श्रेष्ठ, परमार्थरूप से और वस्त्र, भूषण आदि से निर्मल, उदर में चौदह भुवनों को रखने के कारण अत्यन्त गहन भगवान् विष्णु ने जगन्मोहन, सौन्दर्य आदि विलासपूर्ण अपनी देहलक्ष्मी से जिसने कि अवहेलना पूर्वक मेघसर्जितों को तरलित कर दिया है। अपने को आलिंगन दे रही लक्ष्मीरूपी ललना भी बँधी मुट्ठी की नाईं अभिन्न कर रक्खी है। *(सर्जित के स्थान में गर्जितपाठ के अनुसार इसका पारमार्थिक अर्थ भी निकलता है, जो इस प्रकार है)* भीतर विचित्र काम, कर्म और वासना से गहन हुए अज्ञानस्वरूप मल से तथा पल्लवरूप सूक्ष्मभूतों, उनके कार्यरूप दलस्थानीय स्थूलभूतों और भुवन मदों से मालित जगत्

की जो लक्ष्मीलता है, उसे लीलावश आकाश में चंचल मेघों की गर्जना की नाईं गर्जन करनेवाली 'तत्त्वमसि' इस महाकाव्य श्रुति से विलास कर रही ब्रह्मविद्यारूपी हथिनी ने मल्ल के द्वारा प्रतिमल्ल को मारने के लिए बँधी हुई मुट्ठी की नाईं चिदेकरस स्वरूप कर दिया है (इसी तरह इस श्लोक के और भी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं, जिन्हें विद्वान अपनी कल्पना से कर लें।) ॥१९॥

छतीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

सद्वस्तु के योग से सत् की सत्ता, परम शिव की अनन्त विभूतियाँ और प्रदानशक्तिरूप नियति का नृत्य इनका वर्णन।

ईश्वर ने कहा : महर्षे, जिस परब्रह्म परमात्मा में भिण्डि,'भिण्डि,' (📖) इत्यादि पूर्व सर्ग के

(📖) 'इत्यादिकानाम्' इस श्लोक में आदि पद से अनर्थरूप से अत्यन्त प्रसिद्ध जरद्गव और दशदाडिम आदि वाक्यों का भी ग्रहण करना चाहिए। वहाँ पर – जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि। तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्घः ॥

इस श्लोक का भी लौकिक या पारमार्थिक अर्थ एकमात्र ब्रह्मसत्ता से ही किया जा सकता है।

उनमें लौकिक अर्थ इस प्रकार है – कोई एक मद्रासी, जो कम्बल और उपानहों से (जूतों से) युक्त बूढ़े बैल के समान गुण-धर्मवाला होने से जरद्गव वाहीक था, अपने घर के द्वार पर बैठकर मद्र देश में प्रसिद्ध गीतों को गाता था। उसे कोई ब्राह्मणी जो कि लहसुन से शान्त होनेवाले रोगग्रस्त पुत्र के साथ किसी आवश्यक कार्य से समुद्र की ओर जानेवाली थी और साथ-साथ वहाँ पर पुत्र का जीवन भी चाह रही थी-'यह (मद्रासी) लवणसमुद्र की ओर से आया है' यों लोगों से सुनकर अत्यन्त आदरपूर्वक सम्बोधित करती हुई पूछती है : हे राजन्, लवणसमुद्र में लहसुन का भाव क्या है अर्थात् क्या वहाँ लहसुन सस्ता है या महँगा है ? इसी श्लोक का पारमार्थिक अर्थ इस प्रकार है – कम्बल के समान आवरण करनेवाली अविद्या से तथा पादुकाप्राय लिंग शरीर से चक्षु आदि द्वारों पर विषय-भोग के लिए स्थित हुआ बूढ़े बैल के समान यह जीव वैषयिक स्त्री, पुत्र आदि के मंगल-गीतों को ही बहिर्मुख होकर गाता है, अपने स्वरूप को बिलकुल ही नहीं देखता। उसे इस प्रकार पाकर पुंनामक संसार-नरक से उद्धार करनेवाले ब्रह्मात्मरूपताज्ञानस्वरूप पुत्र की इच्छा कर रही, ब्राह्मणी की नाईं, ब्रह्मसम्बन्धिनी श्रुति उससे पूछती है – 'हे राजन् अर्थात् स्वयं प्रकाशरूप से विराजमान और अपने चैतन्य से सम्पूर्ण जगत् को रंजित करनेवाले हे आत्मदेव, सभी विद्या, काम और कर्म के बीजों का विनाशक होने से समुद्र की नाईं ऊशरप्राय, परमशुद्ध तुम्हारे स्वरूप के रहते हुए अत्यन्त अपवित्र होने से ब्राह्मण द्वारा अभोग्य लहसुनतुल्य भोज्यों के विषय में तुम मूल्य ही क्या विचारते हो ? अतः बाह्य दृष्टि छोड़कर स्वात्माराम हो जाओ। इस आशय से वह पूछती है – 'यह आत्मा कौन है, जिसकी हम लोग उपासना करते हैं, वह कौन-सा आत्मा है। जगत् के कारण ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? हम कहाँ से उत्पन्न हुए' इत्यादि। इसी प्रकार दश दाडिमादि वाक्यों में भी अर्थसत्ता समझनी चाहिए। 'भिंडि भिंडिम्'इत्यादि श्लोक की तो, जो कि बाल, मत्त आदि के अस्पष्ट कथन का अनुकरण करता है, अनुकार्य अर्थ से ही अर्थवत्ता जाननी चाहिए। अनुकार्य तो अव्यक्त ही है, अतः उसमें (अनुकार्य में) वाक्यता ही नहीं है।

अन्तिम भाग में दर्शित निरर्थक शब्दों की भी अर्थ श्री सत्यप्राय हो जाती है, समस्त जगत्सत्तास्वरूप मणि के पिटारी रूप मायाशबल सबके नियन्ता उस परमात्मा में जो बीजरूप शक्तियाँ अनेकविध चित्र-विचित्र जगत् का आरोप करती हैं, उनमें से ऐसी कौन हैं जो विस्पष्ट होकर आविर्भूत नहीं होती ? ॥१,२॥

उन्हीं शक्तियों का युक्तिपूर्वक उदाहरण देते हैं।

चावल आदि बीजकणों के अन्दर रहनेवाली यह देवी चितिसत्ता खेत में परिष्कृत मिट्टी, काल, जल आदि सहकारी कारणों को प्राप्तकर पहले-पहल अंकुर पैदा करती है और तदनन्तर क्रमशः तण्डुल (चावल) होकर स्वशरीरमय साक्षात्-पुरुष के खाने योग्य ओदन (चावल) बनाती है ॥३॥ फेन एवं आवर्तरूप विवर्त (रूपान्तर) जिसके भीतर रहते हैं वह रसरूपा ईश्वरशक्ति अथवा फेन आदि में अनुगत रससामान्यरूपा ईश्वरशक्ति कठिन शिलातल के साथ या जिह्वा इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर जल का निम्न प्रदेश में उपसर्पणरूप या उदर में उपसर्पणरूप स्पन्दन उत्पन्न करती है ॥४॥ पुष्पगुच्छों में मकरन्दयुक्त गन्धरूप से स्थित हुई यही ईश्वरशक्ति नासिका के पुटों में प्रकाशित होती है और उन्हें चारों ओर से आमोदित या विकसित कर देती है ॥५॥ मुने, जिस प्रकार विकारशून्य पर्वतराज तृण, वृक्ष, लता आदि कार्यों को धारण करता है, उसी प्रकार यह चित्सत्ता शिला के गर्भ में स्थित होकर शिला प्रतिमा की नाईं तत्त्वतः पृथक् सत्ता न होने पर भी व्यावहारिक सत्तावाली 'यह कार्य है और यह उसका आश्रय है' यों भेदविकल्पदशा को अविकृत होकर धारण करती है ॥६॥ जैसे पिता अपने पुत्र को अपने कार्य में प्रवृत्त कराता है, वैसे ही समस्त क्रियाओं के आधारभूत पवनप्राय हुई वह चितिशक्ति त्वगिन्द्रिय को स्पर्शग्रहण करने के लिए अनुकूल बना देती है। (इसी रीति से अन्य इन्द्रियों में भी प्रवृत्ति शक्तियाँ उसी चितिशक्ति के द्वारा होती हैं, यह जानना चाहिए।)॥७॥ जिस तरह वह चितिशक्ति प्रवृत्ति शक्तिवश संसारिणी होती है, उसी तरह निवृत्तिशक्तिवश समस्त जगत् की सत्ताओं के सघनरूप आत्मा को लेकर श्रवण, मनन आदि उपायों से अपने मोक्ष के लिए 'नेति नेति' इस प्रतिषेध से मानों सब जगत् को भलीभाँति शून्यात्मक आकाशरूप कर देती है ॥८॥ यही शक्ति महाकाश रूप दर्पण के अन्दर अपनी सत्ता के प्रतिबिम्ब के सदृश कल्प-निमेषनामक निर्मल कालात्मक शरीर धारण करती है ॥९॥

समस्त शक्तियों का एकीकरण कर उनके कार्यों की इयत्ता का निश्चय कराते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और ईशान इन उत्तरोत्तर उत्कर्षवाले देवताओं में पंचम ईशानपर्यन्त (सदाशिवपर्यन्त) सब उस चितिशक्ति के ही परिणामरूप हैं। यह इस प्रकार हो और यह इस प्रकार न हो यों सब कार्यों की व्यवस्था करनेवाली मूलशक्ति भी स्वयं चितिसत्ता है ॥१०॥

वह चितिसत्ता स्वयं ही उनकी नियामिका क्यों होती है ? इस शंका पर नियमतः उनके प्रकाशन में हेतु होने के कारण ही नियामिका होती है, यों कहते हैं।

जैसे घर में दीपक के रहने पर समस्त घरभर की क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही साक्षीरूपी उस प्रकाशात्मक अबाधित सत्यस्वरूप अपरिच्छिन्न चितितत्त्व के रहने पर ही जगद्-रूप चित्र की परम्पराएँ प्रकाशित होती हैं ॥११॥ वही चितिसत्ता गन्धर्वनगर के नाट्य-मण्डप की भूमिरूप जाग्रत् आदि अवस्थाओं में

अपनी शक्ति से जनित यह संसार देखती हुई साक्षी की नाईं उदासीन होकर अवस्थित रहती है ॥१२॥ महर्षि वसिष्ठजी ने कहा : हे जगत् के स्वामिन्, इस सदाशिव की सामान्यतः कौन–सी शक्तियाँ हैं, वे विशेषतः किस तरह से रहती हैं, उनकी क्या साक्षिता है, उनका वर्तन क्या है और वह कितना है ? ॥१३॥ ईश्वर ने कहा : हे उत्तम व्रत करनेवाले सौम्य, वास्तव में जिसका कोई भी आकार नहीं है, जो सर्वात्मक है तथा साधारण जन जिसका परिज्ञान नहीं कर सकते, उस शान्त, चिन्मात्ररूप सदाशिव परमात्मा की इच्छासत्ता, व्योमसत्ता उसी प्रकार तीसरी कालसत्ता तथा नियतिसत्ता और महासत्ता ये पाँच शक्तियाँ हैं। तात्पर्य यह है कि 'सोऽकामयत बहुस्याम्' इस श्रुति के अनुसार सबसे पहले इच्छासत्ता अभिव्यक्त हुई। तदनन्तर आकाश की अभिव्यक्ति होने पर आकाशसत्ता, तदनन्तर कालात्मक सूत्र की अभिव्यक्ति होने पर कालसत्ता, सद्रूप के नियत संस्थानवाले भूत, भौतिक पदार्थों का आविर्भाव होने पर नियतिसत्ता अभिव्यक्त हुई और तदनन्तर उनमें अनुगत महासत्ता अभिव्यक्त हुई ॥१४,१५॥

ईश्वर का असाधरण शक्ति–भेद बतलाकर अब जीवसाधारण शक्ति–भेद बतलाते हैं।

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, प्रवृत्तिशक्ति और निवृत्तिशक्ति–इस प्रकार सामान्यतः गिनती होने पर भी सदाशिवस्वरूप परमात्मा की इन शक्तियों का अन्त नहीं है यानी प्रत्येकरूप से उनकी गिनती नहीं की जा सकती। (इसी से चतुर्थ प्रश्न का भी उत्तर हो गया, यह जान लेना चाहिए) ॥१६॥

अद्वितीय वस्तु में शक्ति और शक्तिमत्त्व के भेद में ही जब किसी कारण विशेष का निर्वचन नहीं कर सकते तब अवान्तर चित्र–विचित्र शक्तियों के भेद की कथा तो दूर ही रही, यों माननेवाले वसिष्ठजी आक्षेप करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे देव, ये उपर्युक्त शक्तियाँ ही किस निमित्त से हुई ? उनमें बहुत्व कैसे आया ? उनका उदय कैसे हुआ ? एवं शक्ति और शक्तिमान् दोनों में परस्पर विरुद्ध और अभेद किस युक्ति से रह सकते हैं ? ॥१७॥

मायिक विकल्पों से जनित कल्पनाओं से होनेवाले चितिभेद ही शक्तियाँ हैं, वे वास्तव में परमचैतन्यरूप सदाशिव से किसी तरह भिन्न नहीं हो सकती; अतः विरोध का अवसर ही नहीं है, इस आशय से ईश्वर समाधान करते हैं।

ईश्वर ने कहा : अनन्त असीम आकारवाले सदाशिवरूपी आत्मा की जो यह चिन्मात्ररूपता है, वही माया है और यही उसकी शक्ति कही जाती है। (यह मायाशक्ति स्वरूपतः अनन्त, सदाशिवरूपी आत्मा को गुण, शक्ति और कार्यों से व्यापक बना रही उसकी अनन्तता मानों बढ़ाती ही है, न कि उसका घात करती है।) इसलिए एकमात्र कल्पना से ही वह चिति से तनिकमात्र भिन्न–सी प्रतीत होती है, वास्तव में कुछ भी भेद नहीं है ॥१८॥ ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि कल्पनाओं से परमात्मा की ये शक्तियाँ उस प्रकार विविध स्वरूप धारण करती हैं, जिस प्रकार तरंग आदि भेदकल्पनाओं से जल विविधरूप धारण करता है ॥१९॥ गमनशील ब्रह्माण्डरूपी नृत्य–मण्डप में ऋतु, मास आदि काल–नियति–क्रम द्वारा महाकालरूपी नट से उत्तम रीति से शिक्षित हुई उस प्रकार की शक्तिरूपिणी नटियाँ नाचती हैं ॥२०॥ दो परार्ध कालरूप और अवान्तर कल्प तथा उसके अवयवकालरूप जो यह मायाशक्ति है, वही नियति कही जाती है। ईश्वर की क्रिया, कृति, इच्छा या

काल इत्यादि उसके नाम वादियों द्वारा रक्खे गये हैं। हम लोग तो कलनामात्ररूप होने के कारण काल और कल्पनारूप होने से कल्प – यों विकल्पप्रयुक्त ही उसके नाम मानते हैं ॥२१॥

उस कालशक्ति में नियतिपद का व्युत्पादन करते हैं।

ब्रह्मन्, नियम दो तरह के होते हैं एक आकार नियम और दूसरा विकार नियम। उन दोनों नियमों के आधार पर यह कालशक्ति तृण से लेकर महारुद्रपर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं, उन सबमें 'इस पदार्थ को इस आकार के रूप में ही रहना चाहिए' एवं तृण से लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनमें 'इस पदार्थ में इस तरह का ही विकार होना चहिए' इस प्रकार आकार-स्थिति और विकार स्थिति का नियमन करने के कारण नियति कही जाती है ॥२२॥ ब्रह्मन्,जब तक नियति तत्त्वबोध से परिमार्जित नहीं होती; तब तक सर्वविध उद्वेगों को छोड़कर प्रतिदिन निरन्तर जगज्जालरूपी नाटकस्वरूप नाच नाचती रहती है ॥२३॥

उसके नृत्य में नाटक के लक्षण बतलाते हैं।

वह नृत्य नाना प्रकार के करुणा आदि रस-विलासों से परिपूर्ण और विवर्तरूप अभिनय से समन्वित है। प्रलय-क्षण में, जो कि उस नाट्य का उपसंहार काल है, विद्युत् के आघातों से बजाये गये पुष्करावर्तनामक मेघ ही वाद्य-विशेषों का कार्य करते हैं ॥२४॥ समस्त ऋतुरूपी कुसुमों से व्याप्त उस नियति का वह नाट्य वर्षा-धाराओं से ब्रह्माण्ड-गोलकरूपी महानाट्य-शाला में प्रवृत्त होता है। बार-बार गिर रहे वर्षण से जनित प्रचुर स्वेदरूपी जलराशि से वह निरन्तर आकुल रहता है ॥२५॥ मेघरूपी बड़े-बड़े किनारों से चंचल नील-आकाशरूपी वस्त्रों से दिन, रात्रि आदि अनेक तरह के वेष-भ्रम उसमें बनाये गये हैं और पूर्ण विशुद्ध सप्त-समुद्ररूप रत्नसमूहों से खचित कंकणों से उक्त नियति-नृत्य सदा ध्वनित होता रहता है ॥२६॥ उस नृत्य में आकाशमण्डल याम, पक्ष, दिन आदि प्रेक्षण-कटाक्षों से जगमगा रहा है। तिरोधान और उद्घाटन से व्यग्र कुलपर्वतरूप सिर के अग्रभाग के भूषण उसमें शोभित होते हैं ॥२७॥ घूम रहे चन्द्र और सूर्य से ग्रथित गंगारूपी मुक्तफलों के (मोतियों के) तीन हारों से युक्त तथा स्पष्ट और अस्पष्ट संध्याकालीन अभ्ररूपी चंचल कर पल्लवों से वह समन्वित है ॥२८॥ वह नृत्य निरन्तर शब्द कर रहे चंचल मनुष्य या चतुर्दश भुवनरूपी अलंकारों से अत्यन्त मंजुल लगता है। उसमें (नृत्य में) नियति-नटी के चरण-विन्यास का स्थान यह विस्तीर्ण भूतल, पाताल और नभस्तल है ॥२९॥ नियति-नृत्य में उदित और अस्तमित महान् चमकीले तारे ही स्वेद-बिन्दुओं का समूह है। वहाँ चन्द्र और सूर्यरूपी कुण्डलों के स्पन्दरूप हलकी मुस्कान से उस नटी का आकाशरूप मुखमण्डल झलक रहा है ॥३०॥ उस नृत्य में ब्रह्माण्डों की दीवारें ही कपाटक की नाईं परदे बनाये गये हैं। असुरों द्वारा व्याकुल किये गये ऊपर-नीचे के लोकों के समूह ही उस नृत्य की नर्तकी के शब्द कर रहे मोतियों से गुँथे हुए परिधानीय वस्त्र के भीतरी कपड़ों के पल्ले हैं। उसमें सुख-दुःख की आविर्भाव आदि दशा और उससे होनेवाले दोष ही स्थायिभाव, अनुभव, विभाव, संचारिभाव और शृंगार आदि रस के भेद हैं ॥३१॥

इस प्रकार नाटक का वर्णनकर उसे देखनेवाले परमात्मा को, जो कि विचार करने पर एकमात्र स्वयं ही अवशिष्ट रहता है, दिखलाते हैं।

महर्षे, नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध स्वेद, स्तंभ, रोमांच आदि विकारों से व्याप्त चिरकाल से प्रवृत्त हुए इस संसारनामक नाटक के नाट्यों में सारभूत नियति नटी के विलास में अधिपति होकर देखनेवाला सदा उदितस्वभाव यह प्रत्यक् रूप परमेश्वर अद्वितीय ही होकर स्थित है। वह परमार्थतः उस नटी और नाट्य से भिन्न नहीं है ॥३२॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

अनन्त चिन्मात्रस्वरूप महादेवजी का बाह्य ध्यान से पूजन और
ज्ञान से महापुण्यात्मक मुक्तिरूप फल इसका वर्णन।

श्री महेश्वर ने कहा : महर्षे, नियति के नाटक का साक्षीभूत यह चिदात्मा ही सबसे बड़ा देव है, यही देव सदा साधुजनों के पूजनयोग्य है। यही समस्त वस्तुओं का आश्रय, सर्वव्यापी, चिन्मात्ररूप तथा अनुभवात्मक है ॥१॥

आगे कही जानेवाली रीति से किये गये उसके पूजन में सम्पूर्ण देवताओं का पूजन अन्तर्भूत हो जाता है, इस आशय से उसकी सर्वरूपता बतलाते हैं।

यही देव घड़े में, कपड़े में, वट में, दीवार में, शकट में और वानर में स्थित है। वही परम देव शिव, हर, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर और यम स्वरूप है ॥२॥ सबके स्वरूपभूत, छः प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण इसी अपने आत्मदेव की आगे कहे जानेवाले बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकारों से तत्त्वज्ञों द्वारा निरन्तर पूजा की जाती है ॥३॥ हे महाबुद्धे, जिस बाह्य क्रम से इस आत्मदेव का पूजन किया जाता है, उसे पहले सुनो। और तदनन्तर हे तत्त्वज्ञ, तुम पूजन का आभ्यन्तर क्रम सुनोगे ॥४॥ महर्षे, पूजन के जितने क्रम हैं, उन सबमें पहले शास्त्रोक्त संस्कार एवं स्नान, आचमन आदि से पवित्र हुआ भी यह देहरूप घर प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए और देह के साक्षी परम पवित्र चित्प्रकाशस्वरूप का, प्रयत्नपूर्वक परिशोधन कर ग्रहण करना चाहिए ॥५॥ हे महर्षे, भीतर का ध्यान ही इस आत्मदेव की पूजा है यानी ध्यान ही पूजा की सामग्री और स्वयं पूजन–क्रिया है, इसके सिवा दूसरी कोई भी वस्तु इसकी पूजनसामग्री या पूजा नहीं है, इसलिए तीनों भुवनों के आधारभूत इस आत्मदेव की ध्यान से निरन्तर पूजा करनी चाहिए ॥६॥ चिद्रूप, लाखों सूर्यों के समान देदीप्यमान, सूर्य आदि समस्त प्रकाशक तेजों एवं बुद्धिवृत्तियों के अवभासक, अहम्भाव के सारभूत स्व–स्वरूप यानी अहम्भाव के परित्याग से अवशिष्ट विशुद्ध आत्मस्वरूप तथा सबसे परे विद्यमान चित्प्रकाश का आश्रय करना चाहिए ॥७॥ इस नियति–नाटक के साक्षी परमात्मा का इतना बड़ा स्वरूप है कि असीम सबसे बड़े आकाश का जो विपुल विस्तार है, वह उसका कण्ठप्रदेश है; असीम नीचे के आकाश का जो विस्तार है, वह तो उसका चरण सरोज है ॥८॥ सीमाशून्य दिशाओं के किनारों का यह जो विस्तार है, वही उसका भुजमण्डल है और उसी से वह राजित है; उन हाथों में उसने विविध ब्रह्माण्डों में विद्यमान बड़े–बड़े सत्य आदि लोकरूप श्रेष्ठ आयुधों का ग्रहण किया है ॥९॥ उसके हृदय–कोश के एक कोने में ब्रह्माण्ड–समूहों की पंक्तियों की पंक्तियाँ छिपी हुई हैं; वह प्रकाशस्वरूप एवं तम से परे है और उसके स्वरूप का कहीं पार भी नहीं पाया जा

सकता ॥१०॥ वह नीचे-ऊपर, चारों दिशाओं एवं उपदिशाओं में ब्रह्मा, इन्द्र, हरि, हर, आदि प्रमुख देवस्वामियों से निरन्तर परिवृत है। महर्षे, उस असीम आत्मचैतन्य की यह चतुर्विध भूतों की शोभा एक तरह की रोम-राजियाँ हैं, यों जानना चाहिए ॥११॥ इस जगत्-त्रय में विभिन्न-विभिन्न प्रकार के पदार्थों का निर्माण करने के लिए विनिर्मित यन्त्र रज्जुओं की सी ये इच्छा आदि शक्तियाँ उसके शरीर में रहनेवाली नाडियाँ हैं, यों जानना चाहिए ॥१२॥ नियति के नाटक का साक्षीभूत यह चिदात्मा ही वह परम देव है। यही समस्त पदार्थों का आश्रय, सर्वव्यापक अनुभवात्मक और चैतन्यमात्रस्वरूप है। चिदात्मा ही सज्जनों द्वारा सर्वदा पूजनीय है ॥१३॥ वही देव घट में, पट में, वट में, दीवार में, शकट में और वानर में स्थित है। यही परमदेव शिव, हर, हरि, ब्रह्मदेव, इन्द्र, कुबेर और यम स्वरूप है ॥१४॥ अनेक विध घट, पट आदि आकृतियों को लेकर असंख्य पदों से बोधित होनेवाली तथा उन आकृतियों को छोड़कर एक पद से ('अस्ति' पद से) बोधित होनेवाली सत्तारूप एकमात्र देह से युक्त इस जगज्जाल का उत्पादक महाकाल इस आत्मदेव का द्वारपाल है यानी अविशुद्ध-दशा में आत्मा के अन्दर प्रवेश करते समय मन को रोक देनेवाला और विशुद्ध-दशा में प्रवेश करते समय अनुकूल रहनेवाला एक तरह से द्वाररक्षक है ॥१५॥ पर्वतों एवं चौदह भुवनों के असीम विस्तार से युक्त यह ब्रह्माण्ड-मण्डल इस आत्मदेव के किसी एक देहकोण में स्थित होकर उसके अंग में अवयवरूप हो गया है यानी उसका एकदेश हो गया है ॥१६॥

अथवा सभी प्राणियों के जो कान, आँख, मस्तक, हाथ आदि अवयव हैं, वे सब इस आत्मदेव के ही हैं यों इसके विश्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, यह कहते हैं।

महर्षे, जिसे हजारों कान एवं आँखें हैं, हजारों मस्तक हैं और जो (स्वयं) हजारों भुजाओं से विभूषित है, ऐसे शान्तस्वभाव महादेवजी का चिन्तन करना चाहिए ॥१७॥ जो सभी जगह दर्शन-शक्ति से परिपूर्ण है यानी सर्वत्र देखता है; जो चारों ओर घ्राण-शक्ति से समन्वित है; जो सर्वतः स्पर्शन्-शक्ति से युक्त है, जो चारों ओर रसना-शक्ति से परिपूर्ण है, जो सर्वत्र मनन से अतीत है और जो सभी ओर सर्वश्रेष्ठ कल्याणस्वरूप है, उस आत्मदेव का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार विश्वरूप से चिन्तन करने पर भी वास्तव में वह (आत्मदेव) असंग एवं अद्वितीय ही है, यह भूल नहीं जाना चाहिए यह 'सर्वतो मननातीतम्' से प्रकृत में कहा गया है ॥१८,१९॥ निरन्तर समस्त पदार्थों के कर्ता, सबको अपने-अपने संकल्पों के अनुसार समस्त पदार्थों का प्रदान करनेवाले, सब भूतों के भीतर रहनेवाले और सभी के एकमात्र साधन अर्थात् सत्तास्फूर्ति प्रदान करनेवाले सर्वस्वरूप उस आत्मदेव का चिन्तन करना चाहिए ॥२०॥ उक्त प्रकार से ध्यानकर तदनन्तर उस देवाधिदेव की विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिए। हे ब्रह्मज्ञों में श्रेष्ठ महर्षे, अब मेरे द्वारा वक्ष्यमाण उस देव की पूजा का यह विधान तुम (सावधान होकर) सुनो ॥२१॥ महर्षे, स्वानुभवस्वरूप इस आत्मचैतन्य का पूजन न गन्ध आदि के उपहार से न दीप से, न धूप से और न तो फूल एवं धन के समर्पण से ही हो सकता है ॥२२॥ न तो अन्नदान आदि दानों से, न चन्दन के विलेपनों से, न कुंकुम, कर्पूर एवं नैवेद्यों से और न इतर यानी छत्र, चँवर, दर्पण आदि के समर्पण से ही इस देव की पूजा की जा सकती है ॥२३॥ महर्षे, किसी भी प्रकार के कष्ट के बिना प्राप्त होने योग्य शीतल, अविनाशी अमृतस्वरूप एकमात्र स्वरूप के

बोध से यानी साक्षात्कारात्मक अखण्डवृत्ति के प्रवाह में प्रतिबिम्बित स्वात्मस्वरूपबोध से ही सदा इस देव की पूजा की जा सकती है ॥२४॥

पूर्वोक्त चिन्तन भी इसी बोध का एक अंग है, अतः यही पूजा सर्वपूजाओं मे प्रधान है, इस आशय से कहते हैं।

जो यह हृदयप्रदेश में स्थित शुद्ध चैतन्यमात्रस्वरूप आत्मा का अविच्छिन्न संवेदन है, यही सब ध्यानों में श्रेष्ठ ध्यान है और यही सब पूजाओं में प्रधान पूजा कही गई है ॥२५॥

इस पूजा के लिए कालविशेष का नियम नहीं है, इसलिए वह सर्वदा ही अनुष्ठान योग्य है, यह कहते हैं।

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, खाते, जाते, सोते, श्वास-प्रश्वास लेते, बोलते, मलादि छोड़ते और इष्ट का ग्रहण करते किसी भी समय पुरुष को शुद्ध संविदात्मक आत्मा के ध्यान में ही तत्पर रहना चाहिए ॥२६॥ उत्कृष्ट आस्वाद से युक्त (ऽ) तथा कुसुम समर्पण आदि बाह्य-चेष्टाओं से निर्मुक्त ध्यानरूप अमृत से ईश्वरस्वरूप अपने इस आत्मदेव की स्वयं ही पूजा करके शुद्ध चैतन्यात्मक हो जाना चाहिए ॥२७॥ चूँकि, इस आत्मदेव के लिए शुद्धसंवेदनरूप ध्यान ही प्रियतम वस्तु है, अतः ध्यान ही उसके लिए उपहार है। उक्त ध्यान ही उसका अर्घ्य और पाद्य है ॥२८॥ ध्यान से अभिव्यक्त हुआ चैतन्य ही पुष्प-प्रयोजनस्वरूप होने से पुष्प है, पूजा के अन्यान्य सम्पूर्ण उपचार ध्यान के पीछे हैं यानी ध्यान की बराबरी नहीं कर सकते, ऐसा मुनि लोग कहते हैं। अतः ध्यान को छोड़कर और किसी भी दूसरे उपाय से यह आत्मदेव प्राप्त ही नहीं किया जा सकता ॥२९॥

हे मुने, यह आत्मदेव ध्यान से ही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति प्राप्त करता है और तदनन्तर वह मनुष्य से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सभी जीवों के विषयसुख की सम्पत्तियों का उस प्रकार उपभोग करता है, जिस प्रकार देहाभिमानी अपने घर में उक्त सम्पत्तियों का उपभोग करता है (देहाभिमानी को भी विषय सम्बन्ध से जनित वृत्ति में अभिव्यक्त आत्मसुख का ही अनुभव होता है, क्योंकि ब्रह्मात्मसुख में सभी सुख अन्तर्भूत हो जाते हैं।)॥३०॥

अब तत्त्व-साक्षात्कार के अभावकाल में एकमात्र पूर्वोक्त ध्यान से भी उसके उत्कर्षानुसार फल में उत्कर्ष होता है, यह बतलाते हैं।

हे सुमते, यदि अतत्त्वज्ञ पुरुष भी तेरह निमेष पर्यन्त इस ध्यान से आत्मदेव की पूजा करे, तो वह

(ऽ) यहाँ 'परमास्वादयुक्तेन' यह जो कहा गया है, उसका भाव यह है कि मनुष्य द्वारा भगवान् को जो फल आदि लौकिक विषयों का समर्पण है, वह साक्षात् अविच्छिन्न सुख का समर्पण नहीं है, किन्तु परम्परा से कुछ थोड़ा-सा उसका सुख अभिव्यक्त होता है। जैसे मुट्ठीभर धान देने से क्षुधा-पीड़ित की पूरी तरह से क्षुधा निवृत्त नहीं होती, किन्तु कुछ थोड़ी-सी उसे प्रसन्नता होती है, वैसे ही उक्त पूजा भी भगवान् को पर्याप्तरूप से प्रसन्न नहीं कर सकती। और यह पूजन तो जो कि प्रत्यगात्मा के स्वयं ही शोधन से उसमें उन निरतिशय आनन्दस्वरूपता का आविर्भाव कर नित्य, निरतिशय आनन्दैकरस रूप के साथ परम शिव को उसे समर्पण करनारूप है - परम आस्वादयुक्त है। अतः वही पूजन उस देव के लिए अनुरूप पूजन कहा गया है, न कि पुष्प आदि।

एक गो–दान करने का फल प्राप्त करता है ॥३१॥ एक सौ निमेषपर्यन्त इस प्रकार (इस ध्यान से) देव की पूजाकर मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है ॥३२॥ उक्त प्रकार से आधी घड़ी पर्यन्त इस अपने आत्मरूप ईश्वर की पूजाकर मनुष्य हजार अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त करता है ॥३३॥ ध्यानरूप बलि के उपहार से स्व–स्वरूप अपनी आत्मा की अपने–आप एक घड़ी भर जो पूजा करता है, वह राजसूययज्ञ (📖) फल प्राप्त करता है ॥३४॥ इसी प्रकार मध्याह्नकाल तक पूजन करने से एकलक्ष राजसूय यज्ञों का फल प्राप्त होता है। और इसी प्रकार दिनभर पूजन करने से तो मनुष्य परमधाम में वास करता है (क्योंकि चिरकाल तक एकाग्रता होने पर ज्ञान का उदय अवश्य ही होगा।)॥३५॥

महर्षे, जो यह आत्मदेव का उत्तम बाह्यपूजन मैंने तुमसे कहा है, यही परम योग है, यही वह परम (उत्तम) कर्म है ॥३६॥

उक्त बाह्य–पूजा की प्रशंसा कर रहे भगवान् शंकर उपसंहार करते हैं।

हे आत्मरूप, समस्त पापों के विनाश में हेतुभूत एवं पवित्र यह उक्त प्रकार का ध्यानरूप पूजन जो कोई मनुष्य विक्षेप और खेद से रहित होकर एक क्षण भी करेगा, क्रमशः समस्त बन्धनों से निर्मुक्त होकर ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त हुए उसकी जगत् में सुर एवं असुर लोगों का समूह जैसी मेरी वन्दना करता है वैसी ही वन्दना यानी अभिवादन, स्तुति आदि से पूजा करेगा ॥३७॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

(📖) शंका हो कि आधी घड़ी ध्यान करने से यदि हजार अश्वमेध का फल होता है, तो एक घड़ी ध्यान करने पर उससे अधिक फल बतलाना चाहिए। ऐसी स्थिति में एक घड़ी ध्यान का राजसूय फल कहना कैसे युक्तिसंगत होगा ? क्योंकि अश्वमेध फल की अपेक्षा राजसूय का फल कभी भी अधिक नहीं है। बृहदारण्यक के भुज्युप्रश्न में (३।३।२) 'क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्नयान्ययं लोकः' (अश्वमेघ यज्ञ करनेवाले यजमान कहाँ जाते हैं ? (इस प्रकार भुज्यु के प्रश्न करने पर उनकी गति बतलाने की इच्छा से महर्षि याज्ञवल्क्य भुवन–कोश का परिमाण बतलाते हैं।) यह लोक बत्तीस देवरथाह्नय–सूर्यरथ के अहोरात्र निरवच्छिन्न गमन से जितना देश नापा जा सकता है, वह एक देवरथाह्नय है, उसके बत्तीस गुने परिमाण का है) इत्यादि श्रुति से पृथिवी, समुद्र आदि का परिमाण बतलाकर उसके बाद 'तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशः' (व्यवहार में छुरे का अग्रभाग जितने परिमाण का होता है अथवा मक्खी का पंख जितने परिमाण का होता है, उतने ही परिमाण का ब्रह्माण्ड के कपालों की सन्धि में अवकाश है) इस श्रुति से ब्रह्माण्ड के दो कपालों की संधि बतलाकर 'तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि स्थित्वा तत्रागमयद्यत्राऽश्वमेधयाजिनोऽभवन्' (उन अश्वमेधयाजियों को इन्द्ररूप परमेश्वर ने पक्षी का रूप धारणकर वायु को समर्पित किया। पश्चात् वायु ने उन्हें स्वात्मस्वरूप बनाकर वहाँ पहुँचाया, जहाँ पहले के अश्वमेधयाजी थे) इत्यादि श्रुति से अश्वमेधयाजियों को सूक्ष्म ब्रह्माण्डकपाल की संधि से वायु ने बाहर निकालकर समस्त कर्मफलों के उत्कर्ष से युक्त श्रेष्ठ स्थान में प्राप्ति कराई है, यह विरोध हो गया। इसी प्रकार 'ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोः' (ब्रह्महत्या से बढ़कर कोई पाप नहीं और अश्वमेध से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है) यह भी प्रसिद्ध है। पूर्व रामायण के इलोपाख्यान में श्रीरामजी ने 'नाऽश्वमेधात् परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः' (अश्वमेध से बढ़कर कोई दूसरा यज्ञ नहीं है और महात्माओं को भी उसे छोड़ दूसरा

उनतालीसवाँ सर्ग

प्राप्त हुए शब्द आदि विषयों से अंग-प्रत्यंगों के प्रकाशक
प्रत्यगात्मस्वरूप शिव की अन्तःपूजा का वर्णन।

ईश्वर ने कहा : महर्षे, जो पवित्र करनेवालों को भी पवित्र करनेवाला है तथा जो सम्पूर्ण अज्ञानों का नाश करनेवाला है, आत्मदेव का वह अन्तःपूजन अब मैं आपसे कहता हूँ॥१॥ यह पूजा भी ध्यानात्मिका ही है और जा रहे, बैठ रहे, जाग रहे तथा सो रहे पुरुष के सभी व्यवहारों में सर्वदा अनुगत है॥२॥ शरीर में स्थित, सन्निधिमात्र से समस्त ज्ञानों के उत्पादक एवं बोधक परमकल्याणस्वरूप इस आत्मदेव का अपने अन्तःकरण से नित्य ही ध्यान करना चाहिए॥३॥ सो रहे अथवा जागे हुए, जा रहे अथवा बैठे हुए और चारों ओर स्पर्श आदि विषयों का उपभोग कर रहे अथवा उद्वेग के कारण उन्हें छोड़ रहे; विपुलता और जड़ता से पूर्ण भोगों का उपभोग कर रहे या उनका त्याग कर रहे, अपने अध्यारोप द्वारा जाग्रत् आदि विषयों का निर्माण करनेवाले,समस्त कार्यों मे अपनी सत्ता देनेवाले और देहस्वरूप (८) लिंगों में मिट्टी, लकड़ी, शिला आदिरूप विभिन्न लिंगान्तर आदि अन्य स्वरूपों का परित्याग कर विक्षेपरहित स्वरूप से अवस्थित हुए चैतन्यस्वरूप लिंग की प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुई अर्थज्ञानरूप सामग्री से पूजा करे॥४-६॥ प्रारब्ध के प्रवाह से प्राप्त हुए अर्थों में (भोगों में) स्थित, अशुद्धि के प्राप्त होने पर भी बार-बार असंग एवं विशुद्ध अपने ज्ञानस्वरूप स्नान से प्राप्त शुद्धि से युक्त होकर पुरुष निरन्तर ज्ञानरूप पूजा सामग्री से बोधात्मक लिंग की पूजा करे॥७॥

कोई यज्ञ प्रिय नहीं है) यह जो कहा है, उससे भी विरोध होगा। इसी प्रकार शारीरक भाष्य में भगवान् भाष्यकार ने 'इतरकर्मिणाम् धूमादिमार्गेण चन्द्रमण्डलप्राप्तिरेव, अश्वमेधयाजिन एकस्य त्वर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकावाप्तिः' इत्यादि सिद्धान्त किया है। अतः यह सिद्ध हुआ कि राजसूय की अपेक्षा अश्वमेध का फल अधिक है। तो उस पर यही समाधान किया जा सकता है कि बाद में कहे गये फल से पूर्व में कहे गये फल का बाध नहीं होता। इसलिए उपर्युक्त सभी वचनों की संगति लग सकती है। सारांश यह है कि जहाँ आधी घड़ी पूजन से हजार अश्वमेध यज्ञों का फल होता है, वहाँ एक घड़ी भर पूजन करने से उससे दुगुना यानी दो हजार अश्वमेघों का फल तो प्राप्त ही है और वहाँ राजसूय का स्वाराज्य-प्राप्तिरूप फल यदि कहा गया हो, तो वह इतर अश्वमेधयाजियों के ऊपर स्वाराज्य-प्राप्ति में पर्यवसित होता है। उससे तो जैसे प्रजाओं से राजा को भोग अधिक प्राप्त होता है, वैसे ही घटिकालपूजक का भोगोत्कर्ष ही सिद्ध होता है। इस पर शंका हो कि यहाँ 'तक्रकौण्डिन्य' न्याय का आश्रयण करेंगे तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वाक्य व्यर्थ हो जायेगा। ऐसी परिस्थिति में महाभाष्य में कहा है कि निश्चय ही संभव न होने पर सामान्य का विशेष से बाध होता है और यदि संभव हो तो दोनों ही होंगे - 'असति खल्वपि संभवे बाधनं भवति अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्'। यहाँ पर 'अपच्छेदाधिकरण' न्याय का भी अवसर नहीं हो सकता, अदक्षिणत्व और सर्ववेदसदक्षिणत्व की तरह ब्रह्मलोक और वहाँ का स्वाराज्य इन दो फलों में परस्पर विरोध नहीं है, यही विशेष सूचित करने के लिए प्रस्तुत श्लोक में 'तु ' शब्द दिया गया है।

(८) पद्मासन आदि आसन लगाकर स्थित हुई तथा सामने हाथ फैलाकर बद्धांजलि हुई यह देह शिवलिंग के आकार की हो जाती है, यह प्रसिद्ध है।

उस प्रकार के पूजन में यदि मन अन्धकार में डूबता हो, तो बाहर एवं भीतर सारे आकाश में व्याप्त अखण्डित और अद्वितीय आदित्यमण्डल की अपने में भावना कर लेनी चाहिए और यदि सन्ताप में वह (मन) डूबता हो, तो सम्पूर्ण आकाशमण्डल में उदित अखण्डित तादृश चन्द्रमण्डल की अपने में भावना कर लेनी चाहिए, यह कहते हैं।

अपने में आदित्यमण्डल की भावना करने के कारण कल्पित विस्तार से यानी विस्तृत अपने अवयव संस्थान से परिपूर्ण हृदय और बाह्य आकाश में देदीप्यमान, चन्द्रमण्डल की अपने में भावना करने के कारण कल्पित विस्तृत अपने अवयव संस्थान से परिपूर्ण उक्त आकाश में चन्द्ररूप से उदित हुए, बाह्य एवं आभ्यन्तर बुद्धिवृत्तिरूपी प्रतिभासों और उनसे प्रतिभासित हुए पदार्थसमूहों में अनुस्यूतरूप से निरन्तर अनुभूत हो रहे संविदात्मक ज्ञानरूप, शरीर के मुख आदि द्वारों से बाहर विषय–प्रदेशों में अपने आभासों को प्राप्त करानेवाले, मुख में प्राणस्वरूप, शब्द आदि विषयों को अपने आनन्दरूपी रस से ही मधुर बनाकर मानों स्वाद ले रहे, प्राण एवं मन रूपी दो उत्कृष्ट घोड़ों से युक्त, प्राण एवं अपानरूपी रथ पर आरूढ़, अन्दर से अत्यन्त गूढ़, हृदयरूपी गुहा में अवस्थित, ज्ञातव्य ज्ञानों के ज्ञाता, सम्पूर्ण कर्मों के कर्ता, सम्पूर्ण भोज्य पदार्थों के भोक्ता और समस्त ज्ञानों के स्मर्ता परम शिव का जिसने कि 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥' (📖) भगवान् द्वारा कही गई इस रीति से सम्पूर्ण अंग समूहों का भली प्रकार ज्ञान कर लिया है, जो विषयों की भावना और अभावना से लक्षित है, सम्पूर्ण प्रकाशों से भी अधिक प्रकाशरूप है तथा सर्वव्यापी है – ध्यान करे॥८–१२॥ निष्कर्ष निकालने पर यानी परमार्थतः कलाशून्य और व्यवहारतः कला से युक्त, देह–स्थित, हृदयाकाश में विचरणशील, परमार्थतः रागशून्य और व्यवहारतः रागयुक्त तथा निरन्तर अंग–प्रत्यंगव्यापी बोधस्वरूप (इस बोधलिंगात्मक परमशिव की पूजा करे।)॥१३॥

उसीका विवरण करते हैं।

जो मन की मननात्मिका शक्ति में अवस्थित है; प्राण एवं अपान के मध्य में उदित है; हृदय, कण्ठ और तालु के मध्य में अवस्थित है अर्थात् मर्मस्थान होने के कारण वहाँ विशेषरूप से अभिव्यक्त होता है तथा भौं और नाक के अग्रभागरूप पीठ पर आसीन है यानी वहाँ पर उपास्य है (उस बोधरूप लिंग की उपासना करनी चाहिए)॥१४॥ जो शैवशास्त्र में प्रसिद्ध छत्तीस तत्त्वों के चरमस्थान में यानी अन्तिम कोटि में स्थित है; काली, रौद्री, कलविकरणी आदि शक्तियों के विभाग में मनोन्मनी–नामक शक्ति की अन्तदशा को भी जो लाँघ गया है, अथवा शिवयोग में प्रसिद्ध सबीज समाधिरूप उन्मन्यन्त–दशा को जो पार कर गया है यानी जो निर्बीज समाधिरूप है; जो भीतर शब्द आदि विषयों को उत्पन्न करता है और मनरूपी पक्षी को प्रेरित कर रहा है (उस बोधरूप लिंग की उपासना करनी चाहिए)॥१५॥ जो व्यवहाररूप विकल्पदशा में वाच्यरूप तथा निर्बीज समाधि और मोक्षदशा में लक्ष्यरूप यों दो प्रकार के शब्दमार्गों में स्थित है एवं जो तिल में तेल की नाईं सभी अंगों के अन्दर अवस्थित है (उस बोधात्मक

(📖) जैसे एक होता हुआ भी यह सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, वैसे ही महाभूतों से लेकर धृतिपर्यन्त कहे गये सभी क्षेत्रों को एक होता हुआ भी यह क्षेत्री परमात्मा प्रकाशित करता है। (गीता १३.३३)

लिंग की उपासना करना चाहिए) ॥१६॥ जो कलाओं की कल्पनाओं से शून्य और स्थूल देह रूप से परिणत भूतमात्राओं से कठिन यानी मूर्त हैं, जो देह के एकदेशभूत सुन्दर हृदय-कमल में और सम्पूर्ण देह में स्थित है (उस बोधलिंग का चिन्तन करना चाहिए) ॥१७॥ जो चैतन्यमात्रस्वरूप और निर्मल आभासस्वरूप है,जो अध्यासरूप विकल्पों का अधिष्ठान है, जो सर्वत्र प्रत्यक्ष-दृश्य है तथा जो अपने अनुभव का स्वरूप है (उस बोधरूप लिंग की उपासना करनी चाहिए) ॥१८॥ जो स्वकीय प्रत्यगात्मस्वरूप है अपना स्वरूप भूल जाने के कारण जो भोगादिरूप से स्थित है और जो स्वयं ही अपने से अतिरिक्त पदार्थों का वेष धारण कर शीघ्र अपने संकेत से मानों द्वित्व प्राप्त कर स्थित है (ऐसे बोधलिंगस्वरूप शिव का ध्यान करना चाहिए)॥१९॥ यह परम शिवस्वरूप आत्मदेव हाथ, पैर आदि अवयवों से युक्त है, केश, नख एवं दाँतों से समलंकृत है और जिसकी स्वदेहसंवित्तियाँ ही परिचायिका हैं, ऐसे इस देव की उपासना करनी चाहिए ॥२०॥ बाह्येन्द्रियों की पृथक्-पृथक् व्यापारभूत, अतएव चित्र-विचित्र अनेक रूप, रस आदि का ग्रहण करने में सामर्थ्यरूप शक्तियाँ मेरी (समस्त इन्द्रियों में शक्ति एवं प्राण देनवाले जीवात्मारूप देव की) उस प्रकार सेवा करती हैं, जिस प्रकार पत्नी अपने पति की सेवा करती है ॥२१॥ जिसने तीनों लोक का वृत्तान्त विज्ञापित किया है, वह मन ही उक्त प्रकार के देवस्वरूप मेरा द्वारपाल यानी पहरेदार है और इस प्रकार बाह्यार्थविषयिणी चिन्ता ही द्वार पर स्थित सन्मात्रगोचर होने से शुद्धस्वरूपा अथवा परमविश्वसनीया मेरी अन्तःपुर पालिका है ॥२२॥ अपनी तरह दूसरों के भी प्रेम की विषय हुई ज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति दो मेरी (जीवात्मा की) पत्नियाँ हैं। चित्र-विचित्र शास्त्रीय एवं लौकिक ज्ञान ही मेरे शरीरगत आभूषण हैं। बाह्य प्रदेश में गमन हेतु होने से ज्ञानेन्द्रिय-समूहों के साथ वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ ही मेरे घर के द्वार हैं ॥२३॥ अपरोक्षरूप से प्रतीयमान मैं (जीवात्मा) वही शिवस्वरूप हूँ, और परिच्छेदशून्य आकारवाला, अनन्तस्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थों से परिपूर्ण, अन्तर्यामी होने के कारण सब वस्तुओं का पूरक एवं अखण्ड अद्वितीयरूप होकर मैं स्थित हूँ ॥२४॥ इस प्रकार स्वच्छ और अलौकिक प्रत्यक्तत्त्व का परिचय प्राप्तकर देवत्व से परिपूर्ण यह जीवात्मा भीतर खेदशून्य वस्तुस्वरूप होकर स्थित रहता है ॥२५॥

उस पूजा परिपाक के फल बतलाते हैं।

महर्षे, वह पूजक न तो अस्त होता है और न उदित ही होता है। वह न तो सन्तुष्ट होता है और न क्रुद्ध ही होता है। वह न तो तृप्ति को प्राप्त होता है और न क्षुधित ही होता है। वह न कुछ चाहता है और न कुछ छोड़ता ही है ॥२६॥ भीतर सम और बाहर जीवन्मुक्तों के समान आकारवाला, सब प्राणियों के चित्त में 'मेरा ही यह प्रिय है' यों एकरूप से अवभासमान, निर्विकार होने से सर्वदा समान आकृति से युक्त अतएव भली प्रकार जीवन्मुक्त-दशा को प्राप्त हुआ, चारों ओर सुन्दर आशय से शोभित और अद्वितीय ही यह जीवात्मा देहपातपर्यन्त अखण्ड तत्त्वज्ञान से युक्त होता हुआ चिरकाल तक रात-दिन यह देवपूजन करता ही रहता है ॥२७,२८॥

इसका कौन-सा देव है? और देहविनाश पर्यन्त किस प्रकार पूजा करता रहता है? इस पर कहते हैं।

चैतन्यतत्त्व से परिचालित शरीर ही इसका देव कहा गया है ॥२९॥ और अनायास प्राप्त सम्पूर्ण त्रिपुटीरूप (ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप) वस्तु से सम (रागादिशून्य) एवं सम्पूर्ण (सम्पूर्ण इन्द्रियों से

जन्य) ज्ञान के द्वारा इन्द्रियों की वृत्तियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य से पर यानी उसके बिम्बभूत चैतन्यमात्ररूप उस देव की वह (जीवात्मा) पूजा करता है ।।३०।। जैसे-तैसे प्राप्त व्यापारों से सिद्ध बाह्य एवं आभ्यन्तर वस्तुओं से उसकी भलीभाँति पूजा करनी चाहिए। इस देवपूजा में गन्ध, पुष्प आदि वस्तुओं को जुटाने के लिए किंचित् भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए ।।३१।। प्राप्त हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि रूप अपने शरीर के लिए उचित शास्त्रानुसार इन व्यवहारों से और देह-धारण के निमित्तभूत अन्न-पान आदि से उस सुन्दर आत्मदेव की नित्य पूजा करनी चाहिए ।।३२।। अनायास प्राप्त भक्ष्य, भोज्य और अन्नपान से तथा विविध ऐश्वर्य से युक्त शयन, आसन एवं सवारी से उस शिव की पूजा करे ।।३३।। स्त्री, अन्न, पान आदि संभोग-सामग्री के विलास से युक्त सब प्रकार के सुखों से आत्मा को तत्त्वतः जानकर उसकी पूजा करे। तात्पर्य यह है कि जब तक उसका ज्ञान नहीं होता, तब तक विषय-सुखों में आसक्त नहीं होना चाहिए ।।३४।।

इसी प्रकार दैव प्राप्त दुःखों का उपभोग करते समय भी आत्म-पूजा की ही बुद्धि करना चाहिए, उद्वेग नहीं, यह कहते हैं।

आधियों एवं व्याधियों से व्याप्त, मोह तथा क्रोध से परिपूर्ण यथा प्राप्त समस्त उपद्रवों एवं दुःखों से उस आत्मदेव की पूजा करे ।।३५।। यथाप्राप्त जगत्सम्बन्धी समस्त चेष्टाओं के फलों से तथा जीवन, मरण और स्वप्न आदि से उस आत्मदेव की पूजा करे ।।३६।। प्रवाहपतितस्वरूप (प्रारब्ध-प्रवाह से प्राप्त) दरिद्रता अथवा राज्य से और चित्रविचित्र चेष्टारूप फूलों से विशुद्धस्वरूप उस आत्मदेव की पूजा करे ।।३७।। नाना प्रकार के कलहों के तरंगों एवं कामिनियों के उल्लासों से शोभित राग और द्वेष के विलास से उस सौम्य आत्मदेव की पूजा करे ।।३८।।

तब क्या कलह करने में भी तत्पर होना चाहिए ? इस पर नहीं, ऐसा कहते हैं।

सज्जनों के हृदय में रहनेवाली, चन्द्रमा की नाईं, शीतल, मधुरस्वभाव रूढ़ मैत्री से हृदय-प्रदेश में स्थित उस आत्मदेव की पूजा करे ।।३९।।

कलह आदि के न होने में उपाय बतलाते हैं।

उपेक्षा से, दया से, हृदय में नित्य प्रसन्नता से, शुद्ध क्रोधादि के निग्रह की सामर्थ्य-पद्धति से और ज्ञान से उस आत्मदेव की पूजा करे ।।४०।।

इसी प्रकार विषय-भोगों में लम्पट भी न होना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

निर्निमित्त प्राप्त और अनियत स्थित भोग-समूहों के बीच प्राप्त हुए किसी एक के किसी समय के भोग से आत्मदेव की पूजा करे ।।४१।।

शास्त्र से अनिषिद्ध और निषिद्ध भोगों के सर्वदा त्याग से अथवा कहीं अनिषिद्ध भोगों में राग से शुद्धस्वरूप अपने आत्मदेव की पूजा करे (यहाँ पर पहला पक्ष मुख्य है और दूसरा पक्ष गौण है, यह जानना चाहिए।)।।४२।। अयुक्तात्मा से छोड़े गये और युक्तात्मा से ग्रहण किये गये इष्ट-अनिष्ट समूहरूप विषयों से विषयों के भोक्ता उस आत्मदेव की पूजा करे ।।४३।।

अब मुख्य पूजा का सार बतलाते हैं।

नष्ट पदार्थ तो नष्ट ही है, अतः उसकी उपेक्षा करे यानी उसका सोच न करे। और प्राप्त पदार्थ

प्राप्त ही है, अतः उसका ग्रहण करे। महर्षे, निर्विकार होकर ऐसा करना ही आत्मदेव की पूजा है (यह तुम जानो) ॥४४॥ सम्पूर्ण इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों में सर्वदा ही परम समानता का आश्रय कर निरन्तर आत्म–पूजारूप व्रत करना चाहिए ॥४५॥ 'यह जगत् ब्रह्मरूप ही है' इस दृष्टि से सब पदार्थ शुभ ही हैं, यों जानना चाहिए। ब्रह्म संवलित मायारूपता की दृष्टि से तो सब शुभाशुभसंमिश्र है, यों जानना चाहिए। इस प्रकार दोनों ही तरह से समता होने के कारण वैषम्यदर्शन का कोई कारण न होने से 'यह सब आत्ममय है अथवा आत्मप्रचुर है' यों भावना करनी चाहिए। इस प्रकार सदा आत्म–पूजारूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए ॥४६॥ जो आपाततः (ऊपर–ऊपर से यानी दृष्टिमात्र से) रमणीय (सुख या सुखसाधन) प्रतीत होता हो और जो आपाततः दुःखरूप या दुःखसाधन प्रतीत होता हो, उस सबको उक्त रीति से भली प्रकार समानरूप जानकर निरन्तर आत्मपूजास्वरूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए ॥४७॥ 'यह वही मैं हूँ' और 'यह मैं नहीं हूँ' इस प्रकार के भेद को छोड़ देना चाहिए तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार निश्चय कर निरन्तर आत्मपूजारूप व्रत का आचरण करना चाहिए ॥४८॥ यथा प्राप्त सब तरह के आकाररूप विकारों से युक्त सभी प्रकारों एवं समस्त रूप और नामों से सर्वात्मक उस आत्मदेव का सदा पूजन करना चाहिए ॥४९॥ मिथ्यात्व–दृष्टि से अभीष्ट वस्तु का परित्याग कर और अनभीष्ट वस्तु का भी परित्याग कर एवं 'सभी आत्ममात्ररूप हैं' इस बुद्धि से उन दोनों का (अभीष्ट और अनभीष्ट का) स्वीकार करके भी नित्य आत्मदेव की पूजा करनी चाहिए ॥५०॥ अप्राप्त वस्तु की इच्छा न करता हुआ और प्राप्त वस्तु को न छोड़ता हुआ स्वभावतः दैव से प्राप्त सुख–दुःख के हेतुभूत विषयों का उस प्रकार अविकृत होकर उपभोग करे, जिस प्रकार अविकृत होकर समुद्र नदियों का उपभोग करता है (📖) ॥५१॥ तुच्छ यानी अपमान आदि की तथा अतुच्छ अर्थात् वध, बन्ध, सर्वस्वनाश आदि की परिस्थितियों में प्रसक्त उद्वेग को पुरुष उस प्रकार न प्राप्त होवे, जिस प्रकार चिरकाल से अनुवृत्त सरल, टेढ़े, शीत, दाह आदि चित्र–विचित्र पदार्थों में आकाश उद्वेग को प्राप्त नहीं होता ॥५२॥ देश, काल और कर्म के सम्बन्ध से शुभ या अशुभ जो भी कोई वस्तु प्राप्त हो जाती है, किसी प्रकार की विकृति के बिना गृहीत उसी वस्तु से आत्मदेव का पूजन करे ॥५३॥

यदि शंका हो कि विचित्र दुःख, राग, द्वेष आदि विकारों की हेतुभूत; मधुर, खट्टी, कटु, तिक्त आदि विषम–रसोंवाली भोग्य–द्रव्यरूपी लक्ष्मियों का किसी प्रकार के विकार के बिना आत्मा किसी प्रकार ग्रहण कर सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि एक समरस से ही सभी में विषमता का निरासकर मधुरता बनाकर ही आत्मा उनका ग्रहण कर सकता है, इस आशय से कहते हैं।

महर्षे, इस आत्म–पूजा के विधान में जो द्रव्यसम्पत्तियाँ बतलाई गई हैं, वे सब एकमात्र समतारूप रस से भरी जानेपर न कोई खट्टी होती हैं और न कड़वी होती हैं, न तिक्त होती हैं और न कसैली ही होती हैं। ऐसी स्थिति में परस्पर विरुद्ध चित्र–विचित्र रसों से भरी हुई भी वे मधुर रसवती ही हो जाती हैं, यह आप निश्चित जानिए ॥५४,५५॥

(📖) इसी भाव में गीता में भी कहा है : आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥ *(गीता : २.७०)*

एकमात्र आनन्दरसस्वरूप परब्रह्म का विवर्त होने से अथवा समता के दर्शन से उन द्रव्य–सम्पत्तियों का अविकृतरूप से ग्रहण हो सकता है, इस आशय से कहते हैं।

रसशक्ति यानी 'रसो वै सः' इस श्रुति से प्रदर्शित आत्मा समता से मधुर है, आस्वादन करने योग्य है और अतीन्द्रिय है। उससे जो चेत्य भावित होगा, वह तत्क्षण ही अमृततुल्य मधुर हो जायेगा ॥५६॥ समतारूप अमृत से जो–जो भावित होता है, वह सब, चन्द्रमा से टपके हुए अमृत की नाईं, परम मधुरता को प्राप्त होता है ॥५७॥ ब्रह्मैक्यदर्शनस्वरूप समता से स्वयं आकाश की तरह विकारशून्य होकर मन के लयपूर्वक जो अनायास अवस्थिति है, वही मुख्य देवार्चन कहा जाता है ॥५८॥ चैतन्यमात्रस्वरूप, अद्वितीय ज्ञानी को भी पूर्णचन्द्र की नाईं परिपूर्ण, समता से समानप्रकाशयुक्त, स्वच्छ और स्फटिकशिला की नाईं निर्मल एवं दृढ़ होना चाहिए ॥५९॥ भीतर आकाश की तरह विशाल और बाहर प्राकृत कार्यों को करनेवाला, रंजनारूप हिम से मुक्त एवं पूर्ण जो तत्त्वज्ञ है, वही मेरा मुख्य पूजक है ॥६०॥ अज्ञानरूप मेघों के नष्ट होने पर स्वप्न में भी जिसमें काम आदि नहीं देखे जाते तथा जिसका अहन्तारूप कुहरा शांत हो चुका है, वह तत्त्वज्ञ शरत्कालीन आकाश की नाईं शोभित होता है ॥६१॥ आनन्दामृत से परिपूर्ण होने के कारण स्वयं चन्द्रमारूप होता हुआ भी जो अपने निष्कलंक प्रकाश के आधिक्य से सूर्य हो गया है, जिसमें से मनोवृत्ति (प्रमा), प्रमाता और प्रमेय यह भेद चला गया है, तत्क्षण उत्पन्न हुए बालक के ज्ञान की नाईं विकल्प विस्तार से शून्य, चिदाभास एवं चेतन के मूलभूत उस स्वात्मशिव को प्रशान्तचित्तपूर्वक देखते हुए तुम अत्युत्तम जीवन्मुक्त–पद में स्थित होकर उसी रूप से अवस्थित हो जाओ (वही परापूजा है) ॥६२॥

विस्तारपूर्वक कही गई बातों का ही संक्षेप कर उपसंहार करते हैं।

महर्षे, देश, काल और करण के (पुरुष व्यापारों के) क्रमों से उत्पन्न सम्पूर्ण वस्तुओं के सुख–दुःखात्मक विलासों से शरीर के अधिपति इस आत्मदेव की पूजा करो और जिससे सम्पूर्ण मनोरथ चले गये हैं, ऐसी बुद्धि से उपलक्षित होकर स्थित हो जाओ (वही मुख्य शिव–पूजा है) ॥६३॥

उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

पूज्य, पूजक एवं पूजा आदि विकल्पों से शून्य, शिवस्वरूप,
शुद्ध पूर्ण चिदात्मा ही देवताओं में सार है यह वर्णन।

आत्मज्ञानी द्वारा विहित और अविहित सभी प्रकार के कर्म शिवार्चनरूप ही हैं, यह कहते हैं।

ईश्वर ने कहा : महर्षे, यथा समय और यथा शक्ति तुम जो भी कुछ कर्म करते हो अथवा नहीं भी करते, वह चैतन्यमात्रस्वरूप शिवात्मक आत्मा का अन्तःपूजन है ॥१॥

किस कारण यह आत्मा का पूजन होता है ? इस पर कहते हैं।

उस प्रकार के पूजन से ही आत्मा अपने पारमार्थिक निरतिशय आनन्दस्वरूप की अभिव्यक्ति प्राप्त करता है और स्व–स्वरूप से ही स्वयं यह ईश्वररूप जीवात्मा आविद्यक आवरणों का अभाव भी प्राप्त करता है ॥२॥

सभी स्वाभाविक चेष्टाएँ राग–द्वेष की मूल होने के कारण अनर्थ की हेतु हैं, फिर वे आत्म–पूजनरूप कैसे होंगी ? इस शंका पर आत्मा से पृथक् राग–द्वेष आदि विकारों को न देखने से ही उक्त चेष्टाएँ आत्मपूजनरूप हैं, यह कहते हैं।

निर्मल आत्मा में राग, द्वेष आदि शब्द और उनके अर्थ आत्मा से अन्य होकर पृथक्–रूप से उस प्रकार नहीं रह सकते, जिस प्रकार अग्नि में अग्निकण ।।३।। महर्षे, अपने और पराये सम्पत्ति, दरिद्रता (दीनता), सुख, दुःख, भूख, प्यास आदि का जो–जो वेदनरूप यानी अध्यारोपणरूप समर्पण है, वह सब इस आत्मदेव का पूजन ही है (तात्पर्य यह है कि देवता पर फूल, पत्ती आदि का आरोप (चढ़ाना) ही देव–पूजा इस नाम से प्रसिद्ध है, प्रकृत में भी उसी प्रकार जानना चाहिए।)।।४।। ऐसी स्थिति में आकाश आदि स्वरूप एवं जाग्रत् आदि स्वरूप विश्व का जो अध्यारोप है, वही शिवस्वरूप आत्मा तथा प्रत्यगात्मा का पूजन है, (यह सिद्ध हुआ। क्योंकि) जिस प्रकार आकाशादि–क्रम से घटरूप होकर ब्रह्म उससे अलंकृत होता है, ठीक उसी प्रकार स्वयं प्रत्यगात्मा भी जाग्रत् आदि क्रम से घटादिस्वरूप होकर उससे अलंकृत होता है ।।५।। शिव, शान्त, अन्य से प्रकाशित न होनेवाला स्वप्रकाश ब्रह्मरूप या प्रत्यगात्मरूप आत्मा ही मानों जगत्–शब्दों से व्यवहृत हुआ है, अतः जगद्रूप यह समस्त प्रपंच उसी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित तथा उसीकी स्थिति से स्थित है ।।६।। अत्यंत आश्चर्य है कि प्रत्यगात्मा ही अपने भीतर का मानों अपना वास्तव स्वरूप भूलकर और जीव आदि के स्वभावों को अपना स्वभाव समझकर घट, पट आदि जगत् के रूप में व्यवस्थित है ।।७।।

यों तात्त्विक विचार करने पर पूज्य, पूजक आदि सभी त्रिपुटियाँ बाधित हो जाती हैं, यह कहते हैं।

सर्वस्वरूप, असीम, कल्याणमय आत्मा के भीतर पूज्य, पूजक और पूजारूप परिच्छेदात्मक त्रिपुटी का विभ्रम आया कहाँ से ? अर्थात् उक्त त्रिपुटीविभ्रम असत् ही है ।।८।। ब्रह्मन्, जिस परिच्छिन्न आकारवाली मूर्ति में पूज्य, पूजा आदि त्रिपुटी–क्रम की कल्पना की जाती है, उस मूर्ति आदि परिच्छिन्न संस्थान से (आकृति से) रहित ईश्वर में वह पूज्य, पूजा आदि का क्रम नहीं हो सकता ।।९।। महर्षे, जो देव पूज्य, पूजा आदि त्रिपुटी से युक्त है, वह सदा निर्मलस्वरूप, समस्त शक्तियों से परिपूर्ण एवं अनन्तस्वरूप ईश्वरत्व का आधार नहीं हो सकता ।।१०।। हे ब्रह्मन्, तीनों जगत् में फैले हुए स्वच्छातिस्वच्छ संविद्रूपी आत्मलक्षण ईश्वर की आकृति का वाणी से व्यवहार (व्यपदेश) भी नहीं किया जा सकता ।।११।। हे विद्वान, जिन विद्वानों के मत में देश, काल आदि से परिच्छिन्न ईश्वर माना जाता है, वे हम लोगों के तत्त्वोपदेश के पात्र नहीं हैं ।।१२।। इसलिए उनकी परिच्छिन्न दृष्टि का परित्याग कर और अपनी इस अपरिच्छिन्न दृष्टि का अवलम्बन कर सम, निर्मल मन, शान्त, रागशून्य, स्वस्थ और खेदशून्य बुद्धियुक्त होकर तुम विधिवश प्राप्त हुए सुख, दुःख, शुभ, अशुभ आदि कामोपभोगों से आत्मदेव की पूजा करते हुए स्थित रहो ।।१३,१४।। हे मुने, जहाँ सब अंगों में स्फटिक शिलाएँ जड़ी गई हैं तथा पास में चारों ओर नील, रक्त आदि दूसरी कोई भी वस्तुएँ हैं ही नहीं, ऐसे नवीन मकान में प्रतिबिम्ब या लेप दोनों तरह से जैसे नील आदि रंगों से कलंक नहीं लगते, वैसे ही जिसने शोधन के द्वारा देह से पृथक् जीव समझ रक्खा है, ऐसे अमानित्व आदि गुणों से युक्त, अतएव अनुरूप अद्वितीय अपने तत्त्व को (स्व–स्वरूप के) ऊपर कहे गये पूज्य,

पूजक आदि तत्त्व के विमर्श के साथ पहचान लेनेवाले, मायाकलंक से वर्जित और सर्वतः माया के कार्यरूप प्रपंच से शून्य आपमें जन्म आदि के कोई कलंक लगते ही नहीं ॥१५॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतालीसवाँ सर्ग

शास्त्र एवं आचार्य आदि की सफलता, नामभेदों की कल्पना, अध्यारोप का क्रम और तदनन्तर अपवाद इन सबका वर्णन।

'नेश्वरस्याऽऽकृतेर्ब्रह्मन् व्यपदेशो हि युज्यते' (यो.नि.४०।११) इत्यादि से जब पूज्यतत्त्व नीरूप और अव्यपदेश्य कहा गया है तब उसका 'शिव' आदि शब्दों से भला कैसे व्यपदेश (निरूपण) हो सकता है ? इस आशय से पूछते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे देव, यदि शिव आदि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्तक किसी धर्म का वह (पूज्यतत्त्व) स्पर्श ही नहीं करता तो फिर 'शिव' यह नाम किस निमित्त से कहा जाता है एवं परब्रह्म इत्यादि शब्द भी किस निमित्त से कहे जाते हैं ? हे नाथ, आत्माशब्द कैसे कहा जाता है और परमात्मा कैसे कहा जाता है ? ॥१॥ हे तीनों लोकों के स्वामिन् भगवन्, 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण स्त्रिविधः स्मृतः।' इत्यादि व्यपदेशों में 'तत्', 'सत्', 'किंचित्', 'न किंचित्', 'शून्य' और 'विज्ञान' आदि भेद यानी एक-दूसरे से एक दूसरे का भेद करनेवाले प्रवृत्ति निमित्त अर्थों से युक्त नामविशेष कैसे कहे जाते हैं (इसे कृपाकर बतलाइए) ॥२॥

पूछे गये नामों में 'सत्' इस नामका प्रवृत्तिनिमित्त (शक्ति अवच्छेदक धर्म) सत् से भिन्न कोई दूसरा मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'सत्' नाम के अर्थ में अन्य किसी दूसरे व्यावर्त्य (व्यावृत्ति के विषय) पदार्थ के प्रसिद्ध न होने से व्यावृत्ति की अपेक्षा ही नहीं है। और वह सत् स्वयं ही असत् से व्यावृत्त होने के कारण प्रवृत्तिनिमित्तक व्यावर्तक धर्म से की गयी व्यावृत्ति की भी अपेक्षा नहीं रखता। अन्यथा उस प्रवृत्ति निमित्त की भी, जो असद्रूप होने के कारण सत् की व्यावृत्ति नहीं कर सकता, सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी, ऐसी स्थिति में तुल्यन्याय से उस सद्रूप प्रवृत्तिनिमित्त में भी सत्शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त कोई दूसरा अवश्य ही कहना पड़ेगा, इस प्रकार उत्तरोत्तर में भी अन्य-अन्य प्रवृत्ति-निमित्त के मानने पर अनवस्था होती जायेगी। एवं 'किंचित्' और 'न किंचित्' ये दो शब्द भी इन्द्रियावेद्यार्थक हैं, इसलिए इन्द्रियवेद्य धर्मों से उनका निर्देश नहीं कर सकते, अतः व्यावृत्ति से निरपेक्ष होकर ही उनकी इन्द्रियावेद्यरूप अर्थ में प्रवृत्ति हो सकती है। अव्यावृत्त और व्यावर्तक धर्म से शून्य शब्द अर्थबोध ही नहीं कराते - यह तो आप कभी कह नहीं सकते, क्योंकि अव्यावृत्त एवं निर्धर्मक इन दो शब्दों की बोधजनकता सर्वानुभवसिद्ध ही है। 'वहाँ निर्धर्मकत्व ही धर्म है और अव्यावृत्त ही व्यावृत्तों से व्यावृत्त है' यह भी आप कह नहीं सकते, क्योंकि 'मेरी माँ वन्ध्या है' इसकी तरह वैसा कहना वदतोव्याघात होगा। एवंच तुल्यन्याय से शिव आदि शब्दों की भी निर्दोष, निरतिशय आनन्दस्वरूपमात्र में निमित्तनिरपेक्ष ही प्रवृत्ति उपपन्न हुई। अथवा तथोक्त आनन्दस्वरूप प्रयुक्त ही शिव में दुःख आदि की व्यावृत्ति भी हो जा सकती है, यों नामभेदों में किसी

प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है, इस आशय से समाधान करते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे मुने, आदि और अन्त के परिच्छेदों से (अवधि से) स्वतः पृथक्भूत प्रकाशान्तर की अपेक्षा न रखनेवाली, स्वयंज्योतिःस्वरूप जो सद्वस्तु अपनी महिमा में अपने आप विद्यमान है, वही किंचित् शब्दाभिधेय है यानी देश, काल, धर्म, जाति आदि दूसरों की अपेक्षा रखनेवाली सत्ता और पराधीन व्यावृत्ति से स्थित नहीं है। और चूँकि वह इन्द्रियों की गम्य नहीं है, इसलिए 'न किंचित्' शब्दाभिधेयरूप से भी स्थित है। यहाँ 'इव' शब्द मिथ्यात्व–प्रदर्शनार्थ है ॥३॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे ईशान, जो बुद्धि आदि से युक्त चक्षु, श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों की भी दृष्टि के बाहर चला गया है, उस परम ब्रह्म का अशंक (उपाय के असंभव की आशंका से रहित) अधिकारी द्वारा कैसे साक्षात्कार किया जाता है ? तात्पर्य यह है कि बुद्धि से भी गम्य न होने के कारण जिसके परिज्ञान में कोई उपाय ही नहीं है, उस ब्रह्म का सद्रूप होने पर परिज्ञान कैसे होगा ? ॥४॥

ईश्वर ने कहा : हे महर्षे, *(प्रमाणजन्य शुद्ध सात्त्विकभाग की परिणामस्वरूप जो ब्रह्माकारवृत्ति है, वह अविद्या का आवरण दूर कर देती है। अविद्या का परदा हट जाने पर तो स्वप्रकाशस्वरूप होने से ही ब्रह्म तत्त्वतः प्रकाशित होने लग जाता है। वही इसका साक्षात्कार है, बुद्धिवृत्ति में अभिव्यक्त चिद्व्याप्तिरूप नहीं।)* जो मोक्ष की चाह रखनेवाला मनःस्वरूप, शम, दम आदि साधन से परिशुद्ध होने के कारण केवल सात्त्विक अविद्यांश है, वह सत्शास्त्र, सद्गुरु और सत्संग आदि नामधारी सात्त्विक ही अविद्या–विभागों से सम्पादित श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से लेकर साक्षात्कारपर्यन्त अपनी वृत्ति–परम्परा से अनेक जन्मों के संचित यज्ञ दान आदि सुकृतों का संभार होने के कारण श्रेष्ठ स्वकार्यस्वरूप अविद्या का क्षालन करता हुआ इस संसार में चिरकाल तक उस तरह स्थित रहता है, जिस तरह युक्तिज्ञ (कपड़ा धोने में अत्यंत कुशल) धोबी मल से मल का अपहरण करता हुआ यानी गदहों की लीद, रेह (खाद युक्त मिट्टी) आदि से गन्दे कपड़ों को साफ करता हुआ संसार में स्थित रहता है ॥५,६॥

उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

तदनन्तर चिरकाल तक अभ्यास करने के कारण, काकतालीय–न्याय की तरह भाग्य के परिपाक से उत्पन्न हुई पूर्णब्रह्माकारवृत्ति से अविद्या का निःशेष उच्छेद हो जाने पर आवरणशून्य आत्मा स्वयं ही अपना स्वरूप देखने लगता है यानी वास्तविक अपने प्रकाशस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। आत्मा के स्वभाव का यही, उक्त स्वप्रकाशस्वरूप से परिशेष रहना ही, निश्चय यानी असंदिग्ध और अविपर्यस्त साक्षात्कार है, किसी दूसरे प्रकार का नहीं, यह अर्थ है। अथवा अविद्यास्वभाव का उक्त प्रकारवाला ही क्षय निश्चय है, किसी दूसरे प्रकार का नहीं, यह अर्थ है ॥७॥

अविद्यांश से ही अविद्या के क्षय तथा आत्मा से ही आत्मा की निर्मलता सिद्धि में दृष्टान्त कहते हैं।

कोयले के दो टुकड़ों को लेकर बालक, जो एक दूसरे को परस्पर घिसकर खेल खेलने का आदी है, खिलवाड़ करता हुआ उन दोनों कोयलों के नष्ट न होने तक हाथ साफ कर दिये जाने पर भी बार–बार उसे घिसते ही रहने के कारण हाथ की निर्मलता प्राप्त नहीं करता, परंतु यथाकथंचित् घिसने से उत्पन्न हुई धूलिपरम्परारूप कालिमा के साथ–साथ उन कोयलों के नष्ट हो जाने पर तो हाथ साफ

करता हुआ वही (लड़का) फिर दूसरे कोयलों के न मिलने से अपने आप हुई हाथ की निर्मलता (सुन्दरता) जैसे स्वतः ही प्राप्त कर लेता है; वैसे ही सात्त्विक और तामस अविद्याभाग अपने सहायक स्वरूप दूसरे शास्त्र आदि भागों से यथाकथंचित् यदि आत्मस्वरूप का विचार करें, तो दोनों भागों का नाश और निर्मल आत्मस्वरूप की प्राप्ति सिद्ध हो सकती है ॥८,९॥

यदि कोई शंका करे कि जब बुद्धि से आत्मा का विचारकर निश्चय किया जाता है, यह आप स्वीकार करते हैं तब आत्मा में बुद्धि दृश्यता क्यों नहीं है यानी आत्मा बुद्धि से ग्राह्य क्यों नहीं है ? तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि विचार आदि करने में जड़स्वरूप बुद्धि स्वतंत्र नहीं है, किंतु आत्मा ही बुद्धिआदिरूप उपायों से विचार आदि द्वारा अविद्या का बाध करके स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है, यही कहते हैं।

आत्मा ही आत्मा को देखता है और आत्मरूप से उसका विचार करता है। इस संसार में एकमात्र आत्मा ही विद्यमान है, न कि अविद्या, इसे ही अविद्या का क्षय कहते हैं ॥१०॥

अतएव गुरु, शास्त्र आदि नाना प्रकार के जो भेद दिखाई पड़ते हैं, वे न आत्मस्वरूप हैं और न आत्मज्ञान के कारण ही हैं, क्योंकि आत्मस्वरूपभूत आत्मज्ञान को किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती, इसी आशय से कहते हैं।

जो कुछ यह नानाविध वस्तु है, उन्हें आत्मा न समझिए और इन गुरुउपदेश आदि क्रमों को आत्मज्ञान में कारण न समझिए ॥११॥

उसमें दूसरी युक्ति बतलाते हैं।

क्योंकि इन्द्रियों से घटित (युक्त) जो पुर्यष्टक है, तत्स्वरूप तो गुरु है और ब्रह्म तो सम्पूर्ण इन्द्रियों के क्षय से प्राप्य है। जो वस्तु जिसका नाश होने पर प्राप्त होती है, वह वस्तु उसके उपस्थित रहते कभी प्राप्त नहीं हो सकती ॥१२॥

तब क्या गुरु आदि सब व्यर्थ हैं ? इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

हे विप्र, गले में पहने हुए विस्मृत हार की, उसे पुनः किसी अन्य के द्वारा जता दिये जाने पर हुई प्राप्ति की नाईं आत्मज्ञान के लाभ के लिए गुरु के उपदेश आदि क्रम कारणरूप न होते हुए भी अत्यन्त कारणता को प्राप्त हो गये हैं ॥१३॥ शिष्य के बोध के लिए गुरुउपदेशों का क्रम प्रवृत्त हो जाने पर अनिर्देश्य और अदृश्य भी आत्मा उसे स्वयं अभिव्यक्त हो जाता है ॥१४॥

इस तरह गुरु उपदेश आदि की आवश्यकता उपस्थित रहते उनमें अकारणता की उक्ति कैसे ? इस पर कहते हैं।

यह आत्मा न तो शास्त्रार्थों से और न गुरु के वचनों से ही अवगत होता है, किंतु यह स्वयं ही उक्त अपने बोधवश से जाना जाता है ॥१५॥ और गुरु के उपदेशों और शास्त्रार्थों के बिना भी यह आत्मा अवबुद्ध नहीं होता, क्योंकि इन सबके संयोग की सत्ता ही स्वात्मज्ञान की अभिव्यंजक है ॥१६॥ गुरु, शास्त्रार्थ और शिष्यों के चिर संयोग की सत्ता से, दिन में लोगों के आचार की नाईं, आत्मज्ञान प्रवृत्त होता है ॥१७॥

यही कारण है कि परमानन्दस्वरूप यह आत्मदेव, जिसने अपने बोध से सम्पूर्ण अमंगलों का नाश कर दिया है, अतएव शिव शब्द के योग्य है, प्रवृत्तिनिमित्त सापेक्ष नहीं ऐसा पहले कहा गया

है, यह कहते हैं।

कर्मेन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय आदि का नाश तथा सुख, दुःख आदि का क्षय होने पर 'तत्', 'सत्' इत्यादि नामों से शिवस्वरूप आत्मा ही कहा गया है ॥१८॥ जहाँ बाधकाल में यह सम्पूर्ण जगत् विद्यमान नहीं रहता और आरोप–काल में तद्रूप से ही विद्यमान रहता है, वह अधिष्ठान तत्त्व – जो व्यावहारिक सत् से विलक्षण होने के कारण सत् की नाईं त्रिकाल में भी विद्यमान है – आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ और अनन्त है ॥१९॥

जीवन्मुक्तों की 'शिव', 'ब्रह्म', 'सत्' इत्यादि नामों की कल्पना भी अधिकारियों के प्रबोधन के लिए ही है, यह कहते हैं।

परमार्थस्वरूप में विश्रान्त न होने के कारण अल्पज्ञानी, अधिकारी जीवों को सांसारिक बन्धनों से छुड़ाने की चाह रखनेवाले, विचित्र जगत् और शुद्धतत्त्व के मनन कलंक से युक्त मनवाले और परमार्थ के समीपवर्ती जीवन्मुक्त के दृष्टिपथ में स्थित हो रहे विशुद्ध अन्तःकरणवाले महापण्डित मुमुक्षु लोकपालों ने जिनमें ब्रह्मा, इन्द्र और रुद्र प्रमुख हैं – मोक्ष के लिए उपासना करनेवाले अपने भक्तों के बोध के लिए, शास्त्रार्थ की रचना के लिए (तत्त्व और तत्त्वज्ञान के उपायों के भलीभाँति उपपादन करने के लिए) एवं पुराण, वेद और भगवान वेदव्यास के सूत्रों की सार्थकता के लिए बिना संज्ञावाले इस ईश्वर में चिद्, ब्रह्म, शिव, आत्मा, ईश, परमात्मा और ईश्वर आदि पृथक्–पृथक् संज्ञाओं की कल्पना कर रक्खी है ॥२०–२३॥ हे वसिष्ठजी, इस तरह आकाश आदि जगत् के आरोप का अधिष्ठान होने से यह जगत्तत्त्व एवं तीनों अवस्थाओं के आरोप का अधिष्ठान होने से शिवनामक स्व–तत्त्व, जो सर्वदा सब तरह से सम्पूर्ण वस्तुओं के सब भावों का निर्वाहक है, केवल ब्रह्मसुखरूप ही है, अणुमात्र भी दूसरा नहीं है, यह निश्चय कर आप स्थित हो जाइए ॥२४॥ प्राचीन लोगों ने शिव, आत्मा और परब्रह्म इत्यादि नामों स भिन्नता की रचना की है, वस्तुतः उसमें कुछ भी भेद नहीं है ॥२५॥ हे मुनिनायक, इस प्रकार देवार्चन कर रहा ज्ञानी पुरुष उस परमपद में पहुँच जाता है, जिस परम शिवपद में एक–एक गुण के अभिमानी हम सभी अनुचरों की तरह सृष्टि आदि कर्मों में लगाये गये हैं ॥२६॥

अब शुद्ध चिति में जीवभाव और उसके संसरण आरोप क्रम की जिज्ञासा कर रहे महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे भगवन्, अविद्यमान ही यह जगत् विद्यमान की नाईं जिस प्रकार से स्थित है, वह सब कुछ संक्षेपरूप से मुझसे कहने की कृपा कीजिए ॥२७॥

उत्तरोत्तर आरोप में स्थूलता का आधिक्य (वृद्धि) कहने के लिए परम सूक्ष्मरूप मूल दिखलाते हैं।

ईश्वर ने कहा : हे मुने, जो यह अपरोक्षरूप से प्रतीयमान ब्रह्म, परमात्मा पर ज्योति इत्यादि शब्दों का अर्थ यानी प्रतिपाद्यवस्तु है, उसे विशुद्ध संवित् (चिति) ही समझिए। इसका प्रथम आरोपरूप आकाश इस प्रकार महान् है, जिस प्रकार अणु से मेरु (भाव यह है कि चिति की सूक्ष्मता और जड़ की सूक्ष्मता में मेरु और अणु के समान विस्पष्ट ही अन्तर है।) ॥२८॥

वास्तव में अवेद्यवती निर्विकल्प समाधि में प्रसिद्ध चिदानन्दैकरस–स्वभाव में स्थित होती हुई भी वह संवित् जब विषय–गोचर संस्कारों के उद्बोध से विषय कल्पनाओं में उन्मुख होती है तब

चेतनात् चित् यानी प्रकाशन करने से 'चित्' इस क्रिया निमित्तनाम के योग्य बन जाती है ॥२९॥ फिर तत्काल ही विषयों में तादात्म्यभावना से अहन्ता को (अहंकाररूप के) उस प्रकार प्राप्त कर लेती है, जिस प्रकार स्वप्न में पुरुष अपना पुरुषत्वधर्म छोड़कर हाथी की भावना से जंगली हाथी की रूपता को प्राप्त कर लेता है ॥३०॥ अहंकाररूपता को प्राप्त हुई इस चिति की पहले इयत्ता और पौर्वापर्य का अवगाहन करने के कारण देश-कालरूपता में प्राप्त हुई कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं। तदनन्तर वे शून्यरूप कल्पनाएँ स्वयं ही उसकी सखी के रूप में अवस्थित हो जाती हैं ॥३१॥ देश और काल की कल्पनाओं से संवलित वही चित्सत्ता 'अहम्' इत्याकारक अभिमान में हेतुभूत संस्कारों के उद्‌बोध से स्पन्दन और विज्ञान से युक्त होती हुई वायुलेखा के सदृश आभ्यन्तर प्राणस्पन्द-शक्ति से युक्त होकर 'जीव' संज्ञावाली हो जाती है ॥३२॥

इस तरह निश्चय के संस्कारों का उद्‌बोध होने पर बुद्धि आदि शब्दों की वाच्य भी वही शक्ति होती है, यह कहते हैं।

उस प्रकार की जीवशक्ति ही एकमात्र निश्चयरूप विलासवाली होकर बुद्धिरूपता का अनुसरण करती हुई अज्ञपद में स्थित हो जाती है ॥३३॥ तदनन्तर कायिक, वाचिक और मानसिक व्यवहारों के संस्कारों के उद्‌बोध से तात्त्विक आत्मस्वरूप को बिलकुल छिपा रखनेवाली शब्दशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति (८) ये तीनों ही शक्तियाँ अहन्ता का अनुगमन करती हैं यानी अहन्ता के पीछे-पीछे दौड़ती फिरती हैं, जिनमें प्रत्येक का हृदय के अन्दर स्फुरण हुआ करता है ॥३४॥ यह पूर्वोक्त अहंकारादि समूह शब्दशक्ति आदि से अनुगत होकर शीघ्र स्मरणशक्ति की भलीभाँति कल्पना करता हुआ संकल्परूपी वृक्ष का बीजभूत, पंचभूतात्मक मन बन जाता है ॥३५॥ ज्ञानी लोग उसे ही (मन को ही) 'आतिवाहिक देह है' इस उक्ति का विषय बतलाते हैं। वही भीतर में स्थित आवरणरहित साक्षीस्वरूप ब्रह्मशक्ति से व्याप्त होकर प्रमातृस्वरूप बन जाता है। और स्वसाक्षी आत्मा की स्वप्रकाशता के बल से आत्मा को जानता है ॥३६॥

इस प्रकार अन्दर की कल्पना बाह्य दृश्यसत्ता की कल्पना में कारण है, यह कहते हैं।

ये पूर्वोक्त कल्पनाएँ पहले इस चित्त में उत्पन्न होती हुई ही पीछे फिर इसमें, कहे जानेवाले बाह्य दृश्याकार में परिणत होकर, उदित न हुई भी उदित होती हैं ॥३७॥ तदनन्तर वायु की सत्ता तथा उसका प्रकाश करनेवाली स्पन्दसत्ता; स्पर्श की सत्ता और उसका प्रकाश करनेवाली त्वगिन्द्रिय की सत्ता एवं सम्पूर्ण तेजों की सत्ता और तेजःसत्ताओं का प्रकाश करनेवाली यानी प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाली चक्षुरिन्द्रिय की सत्तारूप हो जाती है ॥३८॥ एवं रूपसत्ता, जलसत्ता और वैसी ही स्वाद की सत्ता एवं स्वाद बतलानेवाली रसनेन्द्रिय की सत्ता और उसी प्रकार गन्ध की सत्ता बन जाती है ॥३९॥ एवं पृथ्वी की सत्ता, चाँदी और सुवर्णमय ब्रह्माण्डखप्परों की सत्ता एवं अत्यंत विपुल ब्रह्माण्ड-पिण्ड की सत्ता, देशसत्ता और समस्त आढ्य (सम्पन्न) आकारों से वर्जित काल की सत्ता बन जाती है ॥४०॥ इस उपर्युक्त इन सब सत्ताओं के समूह को अपने स्वरूप की नाईं गोद में लेकर

(८) शब्द व्यवहार में हेतु है। शब्द शक्ति, ज्ञान व्यवहार में हेतु है - ज्ञानशक्ति और क्रियाव्यवहार में हेतु है क्रियाशक्ति।

यानी तादात्म्यभाव से इन सबका संग्रह कर जैसे बीज अपने उत्तरोत्तर परिणाम से अंकुर, काण्ड, शाखा और प्रशाखाओं में पहुँचकर (फैलकर) पत्ते आदि का आश्रय करता हुआ अर्थात् पत्ते आदि को अपने से पृथक् न समझता हुआ स्फुरित होता है; वैसे ही जो यह स्फुरित हो रहा है, इसे यानी उपर्युक्त सब सत्ताओं को अपने से अभिन्न समझकर बैठे रहनेवाले को हे मुने, आप स्थूलादि तीन देहवाला पुर्यष्टक जानिए। यही वासनात्मक होने से आतिवाहिक देह भी कहलाता है। अपरिच्छिन्न चित्स्वरूप ब्रह्म ही उक्त प्रकार के विभागवाला होकर स्फुरित हो रहा है, न कि और कोई दूसरा ॥४१,४२॥

इस रीति से आरोप के क्रम का विस्तार कर अब उसका अपवाद–क्रम दिखलाते हैं।

हे महर्षे, अज्ञानियों की दृष्टि से यों कहा गया सब कुछ सम्पन्न है, परंतु तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि से तो वह कुछ भी संपन्न नहीं है। वास्तव में तो न कोई ज्ञान है, न पुर्यष्टकरूप आकृति है और न चिदाभास से अचित् का चेतन ही होता है ॥४३॥ जैसे जल के आधारभूत समुद्र के उदर में जल ही जलतरंग के विलास में परिस्फुरित होता रहता है, वैसे ही परब्रह्म में अद्वितीय सद्रूप ब्रह्म ही केवल परिस्फुरित हो रहा है ॥४४॥

यह कैसे समझ में आया ? इस पर कहते हैं।

क्योंकि सब दृश्यसमूह संवित्‌रूप ही है, इस प्रकार का संवेदन (ज्ञान) होने पर सब एकात्मक है। संविद् से पृथक् कर दिये जाने पर तो यह दृश्यसमूह, संकल्पनगर की नाईं, अचेतन यानी भासकशून्य परिज्ञात होता है। तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकार से इसमें जीवन नहीं है ॥४५॥

इसका ज्ञान होने पर इसमें वस्तुरूपता होगी या इसका ज्ञान न रहने पर वस्तुरूपता होगी ? दोनों तरह से भी नहीं हो सकेगी, ऐसा कहते हैं।

संवेदन से यानी यथार्थ परिज्ञान से सब दृश्य जगत् शिवरूपता को ही प्राप्त हो जाता है। जो ज्ञात है ही नहीं, वह वस्तुरूपता को कैसे प्राप्त करेगा ? ॥४६॥ इस पर यदि कोई कहे कि स्वतः चिन्मात्रस्वभाव होती हुई भी यह वस्तु 'बहु स्यां प्रजायेय' इस संकल्प के कारण अपने अन्दर ही दृश्यांशता को प्राप्त कर लेती है तो वह ठीक नहीं, क्योंकि संकल्पद्वारा कल्पित वस्तुएँ मिथ्या ही हुआ करती हैं, इसलिए परमसूक्ष्म उस आत्मा की सूक्ष्ममात्र स्वभाव से जो सत्ता है, वह प्रथमकल्पित सूक्ष्मदेह में ही चिरकाल के अभ्यास के कारण स्थूलता का अवलोकन करती है यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है ॥४७॥ और स्थूलदेह के सम्बन्ध से सब आन्तरिक कोशचतुष्टय तथा बाह्य विषय समूहों का, जो स्थूलता को प्राप्त हो चुके हैं, ब्रह्म ही तत्काल अपनी कल्पना से अवलोकन किया करता है। बाह्यरूप आदि के दर्शन में वह उस देह के चक्षुरिन्द्रिय आदि स्वरूप छिद्रों का यानी द्वारों का भी जो विषयों के अनुसार अपने–अपने कार्यों में व्यवस्थित भी हैं, भलीभाँति अवलोकन किया करता है ॥४८॥ तदनन्तर हाथ, पैर आदि अवयव समूहों तथा आन्तर कोशों में पुरुष के आकार के साथ तादात्म्य की भावना करने के कारण अपने में पुरुष की आकृति देखता है और उसे काकतालीय–न्याय से अकस्मात् व्यवहार में समर्थ देखकर अत्यन्त हृष्ट–पुष्ट हो जाता है ॥४९॥ इस अवस्था में स्थित हुए जीवन धारण कर रहे इस असत् तुच्छ शरीर को, असत् ही स्वप्नावस्था

के मनुष्य और गन्धर्वनगर की नाईं, देखता रहता है ॥५०॥

'यह सारा संसार मिथ्या है' ऐसा ज्ञान होने पर भी यह जगत् दुःख पैदा करता रहता ही है, इसलिए दुःख की औषधि मिथ्याज्ञान के सिवा कोई दूसरी ही बतलानी चाहिए, यह मान रहे महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भगवन्, यह जगत् भले ही गन्धर्वनगर के आकार का हो तथा इसकी उपमा भले ही स्वप्न के नर से दी जाय, फिर भी दुःख के लिए उपस्थित तो है ही। इसलिए दुःख के परिक्षय के लिए यहाँ कौन–सी युक्ति है ? ॥५१॥

जब तक वासना का क्षय नहीं हो जाता, तब तक मिथ्यात्व का दृढ़तर निश्चय ही दुःख की निवृत्ति में एकमात्र उपाय है, आपाततः मिथ्यात्वज्ञान से कुछ नहीं हो जाता, इस आशय से उत्तर देते हैं।

ईश्वर ने कहा : महर्षे, वासना के कारण दुःख उत्पन्न होता है और वह वासना विद्यमान वस्तु में हुआ करती है। यह जगत् तो मृगतृष्णा के जल के तरंग समान अविद्यमान (मिथ्या) ही है ॥५२॥

जगत् में अत्यंत असत्त्व का दृढ़ निश्चय हो जाने पर आश्रय और उसके विषय आदि का बिलकुल अभाव हो जाने से ही वासना की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, यह कहते हैं।

इसलिए किससे कौन वासित होगा और किसको कहाँ से वासना होगी ? हे महर्षे, स्वप्नावस्था का पुरुष भला कैसे मृगतृष्णा के जल का पान कर सकता है ? ॥५३॥ द्रष्टा के सहित, अहन्ता से युक्त और मन तथा मनन आदि के साथ इस जगत् का परिशेष में जब अस्तित्व ही नहीं रहता तब जो सद्वस्तु है, वही अवशिष्ट रह जाती है ॥५४॥ वहाँ पर न तो कोई वासना रहती है, न कोई वासक रहता है और न कोई वासना का विषय (वास्य) ही रहता है। किंतु एकमात्र केवलीभाव यानी चिन्मात्रस्वभाव ही रहता है, जिसमें कि कलना का भ्रम भलीभाँति शांत हो चुका है ॥५५॥ जिस प्रौढ़ की दृष्टि में व्यावहरिक या प्रातिभासिक दुष्ट संसारूप यक्ष शून्यस्वरूप होने के कारण नित्य विलीन ही है, उसकी दृष्टि में कैवल्य के सिवा कोई और दूसरा क्या अवशिष्ट रह सकता है ? ॥५६॥ इस प्रकार शून्य में ही वेताल की नाईं यह चित्तवासना उत्पन्न हुई है, जिसका नाम जगत् है। उसकी शांति हो जाने पर अक्षत शांति ही अवशिष्ट रहती है ॥५७॥ अहन्ता में, जगत् में तथा मृगतृष्णा के जल में जिस मनुष्य की आस्था बँधी हुई है, उस कलमुँहें को बार–बार धिक्कार है ! वह नालायक इस उपदेश के लायक नहीं है ॥५८॥

वह क्यों उपदेश के योग्य नहीं है ? इस पर कहते हैं।

इस जगत् में आत्मज्ञानी लोग विशिष्ट अधिकारप्राप्त जीव को ही उपदेश दिया करते हैं, न कि उस लड़के को, जो अधिकार प्राप्त न होने से अनेक प्रकार की भ्रान्तियों से ग्रस्त है, आर्यों द्वारा उपेक्षित है एवं असद्रूप देह आदि में अभिमान रखने के कारण असन्मय है। जो पुरुष ऐसे अनधिकारी अज्ञानी जीव को उपदेश देता है, वह मानों सोने–सी सुन्दरी कन्या स्वप्न में देखे गये पुरुष को देता है। वह भी एक बहुत बड़ा मूर्ख ही है, यह भाव है ॥५९॥

इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

ईश आदि से लेकर समष्टि-व्यष्ट्यात्मक जो संसार है, वह सब माया ही है,
यह उपदेश देकर भगवान् श्रीशंकर का अपने वासस्थान के प्रति गमन - यह वर्णन।

'जीवदेतदवस्थाकं स्थितं पश्यति देहकम्' इस वचन से पूर्व अध्याय के अन्त में जो अध्यारोप कहा गया है, उसके शेषांश की जिज्ञासा कर रहे महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे भगवन्, तदनन्तर सृष्टि के आदि में यानी कल्प के प्रथम अध्यासक्रम में देहविभ्रम को देख रहा वह जीव आकाश में स्थित होकर किस अवस्था को प्राप्त करता है ? ॥१॥

भगवान शंकर ने कहा : हे मुने, जिस प्रकार स्वप्नमनुष्य अतिसूक्ष्म नाड़ियों में अत्यंत विस्तृत ब्रह्माण्ड देखता है, उसी प्रकार वह जीव भी परम सूक्ष्म चिदाकाश में पूर्वोक्त क्रम के अनुसार बना हुआ शरीर देखता है ॥२॥

कथित दृष्टान्त के आशय का ही पुनः विवरण करते हैं।

जैसे आज भी स्वप्नमनुष्य चैतन्यघन आत्मा के सर्वत्र व्यापक होने से ब्रह्माण्डरूप कार्य करता है, वैसे ही शरीरधारी जीव भी ब्रह्माण्डरूप कार्य करता है ॥३॥

आदि सर्ग में वही जीव समष्ट्यात्मक उपाधि से युक्त होकर हिरण्यगर्भ नाम धारण कर अपने में और बाहर की वस्तुओं में नामभेदों का भी व्यपदेश (निरूपण) करता है, यह कहते हैं।

इसके बाद वह मैं सनातन अव्यक्त 'पुरुष' हूँ, इस प्रकार पुरुष-नाम का अपने ही स्वरूप में निर्माण करता है और उसी से प्राथमिक पुरुष के रूप में शीघ्र प्रकाशित होता है ॥४॥

वही सात्त्विक, राजस और तामस कल्पों में सदाशिव आदि मूर्तियों की पहले कल्पना कर फिर दूसरों की कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार वही जीव किसी सर्ग में पहला पुरुष सदाशिव होता है, बाद में किसी सर्ग में विष्णु तो किसी तीसरे सर्ग में विष्णु की नाभि से उत्पन्न ब्रह्मा कहा जाता है ॥५॥

'आकाशप्रभवो ब्रह्मा' (ब्रह्मा आकाश से उत्पन्न होता है) इस पूर्व रामायण की उक्ति से पितामह नाभि से ही उत्पन्न होता है, यह कोई नियम नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

किसी सर्ग में वह पितामह कहा जाता है तो किसी सर्ग में दुर्गा, भैरव, विनायक आदि कहा जाता है, परंतु वह सदाशिव आदि पुरुष संकल्पमय है यानी 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुति में उक्त मायिक संकल्परूप है और संकल्प से ही आकार प्राप्त करता है ॥६॥ सूक्ष्म भूतों की सृष्टि द्वारा पुष्ट हुआ प्रथम संकल्प ही उस समष्टिव्यष्टिस्वरूप मनोमय मूर्ति प्राप्तकर यानी हिरण्यगर्भ होकर जिस भुवन, प्रजा, सृष्टि आदि की जिस तरह से कल्पना करता है, उसे उसी तरह से व्यवहारयोग्य अनुभव करता है ॥७॥ जिस तरह शून्यस्वरूप वेताल तात्त्विक दृष्टि से असद्रूप और भ्रमदृष्टि से सद्रूप भासता है, उसी प्रकार यह समस्त प्रपंच तत्त्वदृष्टि से असत् और भ्रमदृष्टि से सद्रूप भासता है, इसलिए जगत् का विज्ञान केवल अहन्ता ही है ॥८॥ उक्त रीति से जो आदि पुरुष स्वरचित वस्तु के प्रति द्रष्टारूप हो जाता है, वह निमेषमात्र काल में ही एकमात्र अपने स्वरूप के पर्यालोचन से चिदाकाशस्वरूप

हो जाता है और स्वरूप का विस्मरण होने पर तो उसे निमेषमात्र काल ही अनन्त और असीम संसार के प्रति ले जाता है ॥९॥ वह निमेष ही कल्पना में समर्थ है, जो केवल प्रतिभास के विपर्यास से यानी पराक्प्रवणता से महाकल्पों की परम्परा का भलीभाँति अनुभव करता है ॥१०॥ परमाणु–परमाणु में, व्योम–व्योम में (महाकाश और सुई के छेद आदि आकाश में) तथा क्षण–क्षण में भी वे सृष्टि, कल्प और महाकल्प के आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करते हैं ॥११॥

वे सृष्टि–भेद जितने जीवों में समानसमय में समानविषयक वासना का प्रादुर्भाव होगा, उतने जीवों के परस्पर दर्शन आदि व्यवहारों से युक्त होंगे, दूसरों के लिए दर्शन आदि व्यवहारों से युक्त नहीं होंगे, यों ऐन्दव के उपाख्यान प्रकार का आश्रय लेकर कहते हैं।

कोई लोग वासनागति की समानता से अन्योन्य दर्शन आदि व्यवहार के योग्य देखे ज़ाते हैं और कोई अधिष्ठान सद्रूप आत्मा के ज्ञात हो जाने से परस्पर व्यवहार योग्य नहीं देखे जाते ॥१२॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं।

चूँकि सर्गरूप से स्थित जीव के द्वारा सम्भाव्यमान होकर ही वे सर्ग उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे परमचिदाकाशस्वरूप परमात्मा में उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि वहाँ पर वे चिदाकाशस्वरूप में ही पर्यवसित हैं ॥१३॥

सर्ग ब्रह्मसत्ता से निरपेक्ष होकर अपनी सत्ता से ही या देश–कालसम्बन्ध के बल से प्राप्तसत्ता से ही रहें ? इस शंका पर कहते हैं।

ये सर्ग स्वप्नकालीन पर्वत की नाईं सद्रूप और असद्रूप होकर विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार देश और काल भी सर्गों से पहले आक्रान्त नहीं थे और न सर्गों की कर्तृता ही थी ॥१४॥

तब सभी सर्ग प्रलयपर्यन्त स्वयं ही सत्स्वरूप होंगे ? इस पर कहते हैं।

ये सर्ग सत्स्वरूप नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर 'सर्ग' और 'सत्' दोनों पद एक दूसरे के पर्याय हो जाने से सर्ग की अविनाशापत्ति हो जायेगी 'नाभावो विद्यते सतः' इससे भगवान् ने सत् पदार्थों का अविनाश ही सिद्ध किया है। (तब सर्ग में अध्यस्त ही सत्त्व मान लिया जाय ? इस पर कहते हैं।) सर्ग में अध्यस्त भी सत्त्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्वयं असद्–रूप सर्ग में सत्त्वाध्यास की अधिष्ठानरूपता ही सिद्ध नहीं हो सकती। (तब वैनाशिक–मत के सदृश धारारूप से अनुगत तत्–तत् क्षणरूप ही सत्त्व सर्ग में मानिये, इसमें क्या आपत्ति है ? इस पर कहते हैं।) सर्ग में क्षणरूप सत्त्व भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि क्षणरूप सत्त्व प्रतीतिकालपर्यन्त ठहर नहीं सकता। यदि अत्यन्त अप्रतीत में सत्ता मान ली जाय तो गगनकुसुम आदि अलीक (असत्) पदार्थों में भी सत्त्व की आपत्ति हो जायेगी। *(इससे आद्यक्षण और अन्तक्षण के सम्बन्धरूप जन्म और विनाश भी सर्ग में निरस्त हो गये, इस आशय से कहते हैं।)* न तो यह सर्ग कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ विनष्ट ही होता है ॥१५॥

ऐसी परिस्थिति में हमारे सिद्धान्त की ही शरण लेनी चाहिए, इस आशय से पूर्वोक्त सिद्धान्त का स्मरण करांते हैं।

चिति ही सम्पूर्ण प्रपंच को संकल्परूप से अपने में उस प्रकार चमत्कृत करती है, जिस प्रकार स्वप्न में नगर का निर्माण, पतन और उत्पतन चमत्कृत होता है और तनिक भी देश और काल से

सम्बन्ध नहीं करता ॥१६॥

तब सर्ग में देश एवं काल दोनों से आक्रान्तत्व का अनुभव कैसे होता है ? इस पर कहते हैं।

जैसे संकल्पमय पर्वत से असीम देश, कालादि आक्रान्त होने पर भी वास्तव में वे आक्रान्त नहीं कहे जा सकते, वैसे ही व्यावहारिक सत्ता से युक्त इस जगत् से देश, काल आदि के आक्रान्त होने पर भी वे वास्तव में आक्रान्त नहीं कहे जा सकते ॥१७॥ जिस तरह उन्नतरूप से अवस्थित संकल्पमय मेरुपर्वत से वास्तव में आक्रान्त न हुए ही देश, काल आदि संकल्पकाल में आक्रान्त-से प्रतीत होते हैं, वैसे ही व्यावहारिक जगत् से अनाक्रान्त भी देश, काल आदि संकल्प-काल में आक्रान्त-से प्रतीत होते हैं ॥१८॥

इसीसे संकल्प के अनुसार ही पुरुष, कीट, स्थावर आदि जन्मवैचित्र्य होता है, ऐसा कहते हैं।

ऐहिक और आमुष्मिक सभी क्रियाओं में समर्थ जो यह पुरुष है, वह जिस क्रम से उत्पन्न होता है, उसी क्रम से यहाँ क्षण में कीट भी हो जाता है ॥१९॥ उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में स्थावरों की योनियाँ भी उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार अण्डज आदि चार प्रकार की जातियाँ और रुद्र से लेकर तृणपर्यन्त सभी पदार्थ मायाधिष्ठाता के संकल्पकाल में उत्पन्न हो जाते हैं ॥२०॥ कोई सर्ग वासना की सूक्ष्मता के कारण परमाणु के सदृश सूक्ष्म हैं और कोई सर्ग वासना के स्वल्प विकास से त्रसरेणु के सदृश बड़े हैं, यही क्रम भूत एवं भावी सर्ग के विषय में भी जानना चाहिए ॥२१॥

तब कैसे इस सृष्टि का उपरम होता है ? इस पर कहते हैं।

परमार्थतत्त्व का चिन्तन करने से अनिर्वचनीय इस संसारमाया का विभेद विनष्ट हो जाता है, तदनन्तर अभ्यास से शिवरूप पूज्यतत्त्व प्राप्त हो जाता है ॥२२॥

एक क्षण के सहस्रांश कालमात्र में भी यदि कहीं चिदात्मा बहिर्मुख हो जाय, तो करोड़ों कल्पों में फैले हुए असंख्य अनर्थ प्राप्त हो जाते हैं, यह कहते हैं।

निमेषमात्र के किये गये सौ भागों में से किसी एक के आधे भागमात्र कालपर्यन्त ही यदि परा चिति अपने वास्तव स्वरूप से गिर जाय, तो वही महान् अनर्थरूप से उदित हो जाती है ॥२३॥

चिति की स्वरूप प्रतिष्ठा ही ब्रह्मरूपता है, इसे कहते हैं।

तत्त्ववेत्ता पुरुषों के द्वारा अनुभूत होनेवाली, शिलाकाश की नाईं अपने स्वरूप में अवस्थित चिति ही सूर्य आदि प्रकाशों से प्रकाशित न होनेवाले जन्मशून्य ब्रह्मचैतन्यस्वरूप है, अतः वह ब्रह्मशब्द से कही जाती है ॥२४॥

अभिमान की अभिवृद्धि से उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों सृष्टि प्रौढ़ बनती जाती है, त्यों-त्यों चिदात्मा के प्रकाश का ह्रास और भेदाधिक्य से उत्पन्न क्षुद्रता आत्मा में प्राप्त होती जाती है, यों कहते हैं।

इस सर्ग के प्रौढ़ हो जाने पर महाचैतन्य का प्रकाश नहीं होता और मिथ्याभूत देश और काल से जनित परिच्छेदों से आत्मा में मशकपर्यन्त महान् सूक्ष्मता और क्षुद्रता प्राप्त हो जाती है ॥२५॥ हे प्रिय मुने, ब्रह्मचिति उपाधिवश जीवभाव को प्राप्त होकर देह, इन्द्रिय आदि के संवलन-क्रम से मृगी, लता, कीट, देव, असुर आदिरूप हो जाती है ॥२६॥

इसीलिए दृढ़ सूत्र में गुँथी गयी माला की नाईं यह विश्व सत् और असत्-रूप सूत्र में गुँथा गया

स्थित है, ऐसा कहते हैं।

नित्य, व्यापक, अनन्त, दृढ़ और विश्व के अन्दर रहनेवाले विश्व के कर्ता जिस परब्रह्म में माला की नाईं सत् एवं असत् से ग्रथित जगत् रहता है; विवेक होने पर वह न दूर है, न समीप है, न ऊपर है, न नीचे है, न तुम्हारा है, न मेरा है, न पहले था, न आज है, न प्रातःकाल में है, न सत् है, न असत् है और न सत् और असत् के मध्य में रहनेवाला यानी अनिर्वचनीय है ॥२७,२८॥

इसीलिए अपना अनुभव ही एकमात्र उसमें प्रमाण है, लौकिक प्रमाता, प्रमाण आदि की वहाँ गति है ही नहीं, ऐसा कहते हैं।

उक्त रीति से जब सभी विकल्प असद्रूप हैं तब इस आत्मतत्त्व का अनुभव करनेवाला स्वप्रकाश चैतन्य को छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं हो सकता। इस परम तत्त्व में बड़े–बड़े व्यवहार–विभवों का प्रसव करनेवाली लौकिक प्रमाणमाला उस प्रकार अपनी स्थिति नहीं बना सकती, जिस प्रकार जल में अग्नि अपनी स्थिति नहीं बना सकता ॥२९॥ हे मुने, जैसा तुमने पूछा, वैसा ही मैंने उत्तर भी दिया। तुम्हारा कल्याण हो। अब हम लोग अपनी अभिमत दिशा की ओर जा रहे हैं। हे पार्वतीजी, आइये, उठिये ॥३०॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, ये नीलकण्ठ भगवान् शंकर ऐसा कहकर, जिनके ऊपर मैंने उस समय पुष्पांजलि समर्पित कर दी थी, अपने परिवार के साथ आकाश कोटर की ओर उड़ गये ॥३१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, पहले से ही समाधि साधनों से सम्पन्न मैंने त्रिभुवन के अधिपति उमापति के जाने के बाद क्षणभर चुप रहकर उनके स्मरणपूर्वक उनके द्वारा उपदिष्ट नित्य अपरोक्ष आत्मरूप देवता का पूजन नवीन (परिष्कृत) और श्रद्धा आदि से पवित्र हुई बुद्धि से अंगीकृत किया और पहले का वह जड़ देवार्चन छोड़ दिया ॥३२॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतालीसवाँ सर्ग

वैराग्य से पूर्ण स्वात्मस्वरूप शिवजी का पूजन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी प्रबुद्ध हो गये और स्वयं कृतकृत्य होकर शिवार्चन में तत्पर हो गये यह वर्णन।

तत्त्वसाक्षात्कार में पर्यवसित, ईश्वर द्वारा उपदिष्ट, स्वात्मरूप शिवजी के पूजन की श्रीरामजी को श्रद्धाधिक्य होने के लिए प्रशंसा कर रहे वसिष्ठजी स्वयं उसका पुनः उपदेश देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, महादेव शंकरजी ने सर्वोत्कृष्ट यह स्वात्मशिवार्चनरूप पूजन मुझसे कहा और स्वयं मैं भी उसे जानता हूँ। जिस तरह का यह जगत् का स्वरूप अवस्थित है उसे आप भी जानते ही हैं ॥१॥ भद्र, जिस असद्रूप मायारूप भ्रम में असद्रूप उपाधि से घटित होने के कारण असद्रूप जीव असत् ही जगत् देखता है, उस असदात्मक संसारमाया में क्या सत्य हो सकता है और क्या असत्य हो सकता है ? ॥२॥

उसमें कवि द्वारा कल्पित मेरु–रूप से राजा आदि के वर्णन में उस प्रकार का अनुभव दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं।

अनेक तरह की कल्पना करनेवाले कवियों के द्वारा की गई जिन राजा आदि में मेरु आदि विविध

भावों की कल्पनारूप काव्य-रचना से जिस-जिस तरह कथन किया जाता है उस-उस तरह श्रवण कर वे राजा आदि अपने अन्दर मेरु-रूपता का या कल्पवृक्षता का भी अनुभव करते हैं। यदि उन्हें यह अनुभव नहीं होता तो काव्यार्थानुभव चमत्कार का आस्वाद नहीं होता और कवियों को अधिक द्रव्य लाभ, मान आदि भी नहीं होते, यह भाव है ॥३॥

विविधकल्पना अज्ञात आत्मा का स्वभाव ही है, इस आशय से और भी दूसरे दृष्टान्त बतलाते हैं।

जैसे जल में द्रवत्व स्वभाव है, जैसे वायु में स्पन्दनत्व स्वभाव है और जैसे आकाश में शून्यत्व स्वभाव है, वैसे ही आत्मा में सर्गत्वस्वभाव है ॥४॥

इस प्रकार स्वाभाविक ही विकल्परूप अध्यारोप में पूजनरूपता का चिन्तन मैं तभी से लेकर आज तक करता हुआ ही स्थित हूँ, ऐसा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, तबसे लेकर आज तक उसी क्रम से मैं व्यग्रता छोड़कर आत्मा का अर्चन करता हुआ अवस्थित रहता हूँ॥५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस पूजन-विधान से इन व्यवहारपूर्ण दिनों को भी मैं अखिन्न होकर बिता रहा हूँ॥६॥ जाग्रत्-काल में दिन-रात समयानुसार प्राप्त हुए क्रियाचाररूप कुसुमों से आत्मा का पूजन करता हूँ। सुषुप्ति-काल में वह उच्छिन्न हुआ प्रतीत होने पर भी वास्तव में किसी भी समय वह उच्छिन्न हुआ ही नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति-काल में भी 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्' उठने के बाद हुए इस स्मरण की हेतु अविद्यावृत्तिरूप पुष्प से अर्चन हो सकता ही है ॥७॥

तब तो अज्ञानियों को भी उक्त प्रकार का शिवार्चन सदा ही हो जाया करता है ? इस पर कहते हैं।

आयुष्मन्, सभी देहधारियों में यद्यपि ग्राह्य-ग्राहकसम्बन्ध साधारण ही है; तथापि योगियों की जो सावधानता है, वही आत्मा का अर्चन है। निष्कर्ष यह निकला कि हमारी सावधानता ही अज्ञानियों की अपेक्षा हममें विशेष है ॥८॥

वह सावधानता विषयासंग का त्याग करने पर ही प्राप्त होती है, यह बतला रहे महाराज वसिष्ठजी उक्त आत्मार्चन में दृष्ट-फलों की बहुलता बतलाकर श्रीरामजी को उसमें प्रवृत्त कराते हैं।

हे रघुपते, इस दृष्टि का अवलम्बन कर आसक्ति निर्मुक्त हुए चित्त से इस संसाररूपी विरल जंगल में विहार कीजिए, ऐसा करने पर आप खिन्न नहीं रह सकते ॥९॥

छोड़ी गई आसक्ति पुनः उत्पन्न न होने में विचार की दृढ़ता ही हेतु है, यह कहते हैं।

हे सुव्रत, धन और बन्धुओं के वियोग से जनित असीम दुःख के प्राप्त होने पर इस दृष्टि का अवलम्बन कर आप विचार कीजिए ॥१०॥ भद्र, धन और बन्धुओं का आगम और अपाय होने पर हर्ष और विषाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये सभी संसार के अनुभव सदा विनश्वर ही हैं ॥११॥ श्रीरामभद्र, वे व्यग्रता उत्पन्न करनेवाली विषयों की चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ पहले जिस तरह आती हैं, जिस तरह जाती हैं और जिस तरह स्वासक्त पुरुष को पराजित करती हैं, यह आप जानते ही हैं ॥१२॥ इसी प्रकार अविचारित हेतुओं से प्रेम और धन आते रहते हैं और यों ही चले भी जाते हैं ॥१३॥ हे निर्मल, वे जगत् के व्यवहार न तो आपके अन्दर हैं और न आप ही उनके अन्दर हैं। इस प्रकार यह जगत् तुच्छ ही है, इसलिए आप क्यों व्यर्थ संतप्त होते हैं ? ॥१४॥

यदि आप जगत् की तुच्छता नहीं चाहते, तो 'आत्मा ही जगत् है' यह भावना कीजिए। वैसा करने

से भी बन्धु आदि का वियोग होने पर अपने अवयव परिवर्तन की नाईं आपमें हर्ष और शोक की प्रवृत्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं।

चिन्मात्रस्वरूप विशाल आकृतिवाले श्रीरामभद्र, यहाँ आप जगद्रूप ही हैं, ऐसा अनुभव कीजिए। ऐसा अनुभव करने पर भी आपको अपने अवयवों के परिवर्तन की नाईं हर्ष और शोक का प्रसंग ही क्या है ? ॥१५॥ हे तात, आप चिन्मात्रस्वरूप हैं, यह जगत् आपसे पृथक् नहीं है। इसलिए आपको किस प्रकार और कहाँ हेय और उपादेय की कल्पना होगी ? ॥१६॥ उक्त रीति से चिन्मय जगत्-सागर में चिद्रूप जगदात्मक चक्र की चंचलता होने पर और समुद्र में तरंगसमूह होने पर हर्ष और शोक का प्रसंग ही क्या ? ॥१७॥

उक्त पूजन की अन्तिम सीमा में श्रीरामचन्द्रजी को स्थिर करते हैं।

हे श्रीरामजी, पहले एकमात्र चैतन्यस्वरूपता प्राप्तकर और तदनन्तर सुषुप्तिकालीन स्थिति प्राप्तकर आप आज ही से तुरीयावस्था स्वरूप हो जाइये ॥१८॥ स्वयं सर्वविध वैषम्यों से निर्मुक्त, ब्रह्म के साथ एकरस स्वरूपतापन्न जगद्रूप आभासों से युक्त, तेजस्वी-शरीर और उदार बुद्धि होकर सदा आत्म-पूजन में तत्पर होते हुए आप समुद्र की नाईं परिपूर्णरूप से स्थित रहिये ॥१९॥ हे रघुनन्दन, यह सब आपने सुना और परिपूर्ण बुद्धि होकर आप स्थित भी हैं। जो कोई दूसरा प्रश्न इस विषय में पूछना चाहते हों, तो उसे पूछिए और पहले विचारारम्भ में (वैराग्य-प्रकरण में) जो आपने प्रश्न किये थे, उनमें से यदि कोई उत्तर के बिना रह गया हो तो उसे भी आज आप पूछिये ॥२०॥ श्रीरामजी ने कहा : ब्रह्मन्, आज मेरा संशय विशेषरूप से निवृत्त हो गया। मैंने समस्त ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया और मुझे स्वाभाविक तृप्ति भी हो गई ॥२१॥ हे मुने, अब मुझमें न अज्ञान है, न जीव और ब्रह्म का भेद है, न चेत्य है और न मन ही है। पहले मुझमें जो अज्ञान था, वह इस समय नष्ट हो गया ॥२२॥ हे मुने, उक्त अज्ञानवश 'आत्मा में कलंक है' इस प्रकार की जो भ्रान्ति थी, वह आपके प्रसाद से इस समय निवृत्त हो गई ॥२३॥ न तो आत्मा उत्पन्न होता है, न मरता है और न कलंकयुक्त ही रहता है। 'यह सब जगत् ब्रह्ममय है' इस प्रकार का साक्षात्कार हो जाने से मैं भलीभाँति उदय को प्राप्त हो गया हूँ ॥२४॥ भगवन्, सब प्रकार के प्रश्नों से, संशयों से और इच्छित पदार्थों से यानी सभी ओर से निवृत्त हुआ मेरा मन निर्मल हो गया और उस प्रकार उज्ज्वल हो गया, जिस प्रकार बढ़ई द्वारा यन्त्र पर किये तक्षण (लकड़ी गढ़कर मूर्ति बनाने की क्रिया) से लकड़ी आदि सूर्य-बिम्ब से उज्ज्वल हो जाते हैं ॥२५॥ महाराज, जिस प्रकार सुमेरुपर्वत सुवर्णों की अभिलाषा न करता हुआ स्थित रहता है, उसी प्रकार साधुओं द्वारा समीप में आये हुए शिष्यों को कहे गये सभी तरह से साधनोपदेशों की भीतर आकांक्षा न करता हुआ मैं भी स्थित हूँ ॥२६॥ चराचरात्मक इस संसार में ऐसी कोई चिरलभ्य वस्तु नहीं है, जिसकी मुझे इच्छा हो, ऐसी कोई अनुपलभ्य वस्तु नहीं है, जिसकी मुझे अभिलाषा हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मेरे लिए हेय और उपादेय हो और ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है, जो उपेक्ष्य ही हो ॥२७॥ हे मुने, यह हेय है, यह उपादेय है, यह सत् है और यह असत् भी है, इस प्रकार का महान् चिन्तारूपी मेरा भ्रम निपुणतापूर्वक विलीन हो गया ॥२८॥ मैं न स्वर्ग की अभिलाषा करता हूँ और न रौरव नरक के साथ द्वेष ही करता हूँ, किंतु मन्दराचल की नाईं भ्रमशून्य होकर अपनी आत्मा में ही स्थित हूँ ॥२९॥ महाराज,

परमाणु की नाईं कण–कण बनाकर तीनों लोकों को नष्ट कर देनेवाले क्षीर–सागर की चारों ओर जो व्याप्ति है, उस व्याप्ति के सदृश व्याप्तिवाला यह रामरूप मन्दराचल जो चिरकाल से भ्रम में पड़ा था अब भ्रमशून्य होकर विश्रान्त हो गया है ॥३०॥ यह जगत् जिस स्वरूप का दिखाई देता है, उसी स्वरूप का है, उससे भिन्न उसका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है यों जो मूर्ख जानता है, उसके हृदय में ज्वाला के सदृश अधिक सन्तापदायी, कुत्सित संशय–समूहों से होनेवाली 'यह वस्तु है और यह अवस्तु है' इस प्रकार की कल्पनाएँ पर्याप्तरूप से उदित होती रहती हैं । हे मुनीश्वर, मेरे द्वारा कहे गये इस अर्थ को आप अपने अनुभव से भी प्रमाणित कीजिए और देखिए । उस प्रकार का मूढ़ पुरुष जिन धन आदि विषयों के लिए कार्पण्य करता है, जगत्–सम्बन्धी वे वस्तुएँ तात्त्विक विचार से हम लोगों को प्राप्त ही नहीं होतीं ॥३१,३२॥ हे भगवन्, आपके प्रसाद से हम इस भाव–सागर से, जो कि चित्र–विचित्र भूख, प्यास आदि से जनित व्याकुलताओं से परिपूर्ण (काम आदि रूप छः) तरंगों से युक्त तथा विशुद्ध चिदाकारवृत्ति से शून्य होने के कारण जड़रूप है, पार पा गये ॥३३॥ हे परमेश्वर, हमने सम्पत्तियों की अवधि जान ली, आपत्तियों की सीमा का भी अन्त देख लिया । हमें सर्वसारभूत भूमानन्द में भी दीनता न रही और अब हम परिपूर्णस्वरूप हो गये ॥३४॥ महर्षे, अब हमारा मन इस संसाररूप समरक्षेत्र में आशारूपी हाथियों का विदलन कर शत्रुओं से अभेद्य उत्कृष्ट वीरता को प्राप्त हो गया है ॥३५॥

परिपूर्ण मनःस्थिति का ही वर्णन कर रहे श्रीरामजी उपसंहार करते हैं ।

भगवन्, मेरे मन से समस्त विकल्प छिन्न–भिन्न हो गये हैं । इच्छाएँ भी निकल गयी । अकार्पण्य से उसकी स्थिरता भी दृढ़ हो गई है । तीनों लोकों में प्रसिद्ध पूर्णचन्द्र, क्षीर–सागर, शरदाकाश आदि जितने प्रसन्न–स्वरूप पदार्थ हैं, उन सबका उसने अतिक्रमण कर दिया है, भीतर से वह खिल उठा है । यही कारण है कि वह सर्वोत्तम होकर स्थित है ॥३६॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

ज्ञान की दृढ़ता के लिए इच्छा–त्याग से लेकर मनोविनाशपर्यंत आसक्तिविनाश के उपायों का कथन ।

यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी ने स्वकीय तत्त्वज्ञान–निष्ठा का वर्णन कर दिया तथापि उसकी परिपक्व–दशा के पहले प्रच्युति न हो जाय, इसलिए 'स्थाणुनिखनन' न्याय से जीवन्मुक्तलक्षणरूप पूर्वोक्त साधन परम्परा का ही प्रतिष्ठापन करनेवाले महाराज वसिष्ठजी पूर्वोक्त अयत्नलभ्य व्यवहारोपभोग आदिरूप शिवार्चन में भी 'सर्वारम्भा हि दोषेण' इत्यादि भगवदुक्ति के अनुसार प्रमाद से हिंसादि अनिष्टप्रसक्ति अवर्जनीयरूप से आ सकती है और उपभोग अनर्थ का बीज भी है, इसलिए पुनः जन्म आदि अनर्थों की प्राप्ति होगी इस आशंका का परिहार करते हुए कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इन्द्रियों के साथ रागादि से शून्य तथा कर्तृत्वाभिमानरूप क्रियासम्बन्ध से वर्जित वर्तमानकालीन प्राप्त पदार्थों का व्यवहार करनेवाले अन्तःकरण से यदि आप कुछ करते हों, तो वह किया गया नहीं माना जाता ॥१॥

विषय तो नियमतः तुष्टि के साधन हैं, अतः उनमें राग का परित्याग कैसे किया जा सकता है ?

इस आशंका पर कहते हैं।

भद्र, पहले प्राप्ति-समय में वस्तु जिस तरह तुष्टिसाधन होती है, उस तरह प्राप्ति के एक क्षण बाद तुष्टिसाधन नहीं होती, इस विषय का किसने अनुभव नहीं किया है। निष्कर्ष यह निकला कि प्राप्ति-क्षण छोड़कर पूर्व और उत्तर काल में विषयों में तुष्टिसाधनत्व का व्यभिचार हो जाने के कारण विषय तुष्टिसाधन हैं, यह नियम नहीं रहा ॥२॥

इसी से चिर-कालिक अनर्थ देनेवाले क्षणिक सुख में आसक्ति करना भी ठीक नहीं है, यह कहते हैं।

जिस तरह लाभ-काल में विषय तुष्टि के लिए होता है, उसी तरह दूसरे काल में नहीं होता। इसलिए बालक ही क्षणिक सुख देनेवाले विषयों में आसक्ति बाँधता है, दूसरा नहीं ॥३॥

जब विषय की प्राप्ति से जनित क्षणिक भी इच्छानिरोध सुख का हेतु है तब इच्छा का आत्यन्ति उच्छेद निरतिशय आनन्द का हेतु है, यह तो अर्थतः सिद्ध हो ही जाता है; ऐसी स्थिति में इच्छा ही अनर्थरूप है, इस आशय से कहते हैं।

हे रामभद्र, इच्छाकाल में जो वस्तु आनन्दसाधन प्रतीत होती है, उसमें एकमात्र कारण इच्छा ही है। परंतु वह आनन्द तभी तक बना रहता है जब तक इच्छा रहती है यानी आनन्दविरोधी अभिलाषा से ही आनन्द का विच्छेद होता है, इसलिए आप इच्छा का परित्याग कर दीजिये ॥४॥

महाराज, मैंने तो पूर्णानन्द पद प्राप्त कर लिया है, फिर मुझे विषयाभिलाषात्याग का जो आप उपदेश दे रहे हैं, वह क्या अर्थ रखता है? इस पर कहते हैं।

भद्र, यदि आप तत्पद प्राप्त कर चुके हैं, तो फिर किसी समय काल के विपर्यय से आप अहंभावनारूप कीचड़ में न फँस जायें। तात्पर्य यह है कि आप कालान्तर में भी अहंभावरूपी कीचड़ में फँस न जायें, इसलिए पूर्णानन्दस्वरूप पद में स्थिति की दृढ़ता के लिए मैं पुनः उपदेश दे रहा हूँ ॥५॥ हे श्रीरामजी, आपने आत्मज्ञानरूपी पर्वत की चोटी पर विश्राम कर लिया है, अतः अहंभावरूपी महागर्त में फिर गिरने योग्य नहीं हैं ॥६॥

दृढ़ता होने पर भी पुनः फँस जाने की आशंका क्यों नहीं करते हैं, इस पर कहते हैं।

उस प्रकार की आशंका न करने में कारण यही है कि जिसने निरंतर असीम सद्ब्रह्मदृष्टि का स्मरण कर लिया है और तत्त्वज्ञानरूप सुमेरुपर्वत के शिखर पर स्थान पा लिया है, उस पुरुष का गर्भानुसाररूप (गर्भ का अनुसरण कर जन्म आदि अनर्थ पैदा करनेवाले अहंभावरूप) अन्तःपाताल में पतन कैसे हो सकता है? दृढ़ीभूत ज्ञान अविद्यारूपी अनर्थ बीज का अवश्य उच्छेद कर डालता है, यह भाव है ॥७॥

अथवा दूसरों के उपकार के लिए मैंने फिर यह उपदेश दिया है, आपका तो अज्ञान नष्ट हो चुका है, यह मैंने समता आदि हेतुओं से जान ही लिया है, इस आशय से कहते हैं।

रामभद्र, यह आपका जो समता एवं सत्यतामय स्वभाव मुझे दिखाई देता है, इससे मैं अनुमान करता हूँ कि आप विकल्परहित और अविद्यारहित हो चुके हैं ॥८॥ हे सौम्य श्रीरामजी, अपने चैतन्यस्वभाव में भलीभाँति अवस्थित हुए आप मानों मुझे यह प्रत्यक्ष करा रहे हैं कि पूर्ण सागर का

प्रख्यापन करनेवाली यानी पूर्ण सागर के सदृश निर्मल समता आपमें विद्यमान है ॥९॥ भद्र, अनासक्ति से जी रहे आपकी आशा निराशा में परिणत हो जाय, भावना अभावना में परिणत हो जाय और मन अमनोरूप में परिणत हो जाय ॥१०॥

हम मनोरथ के विनाश से निराशत्व आदि की अभिलाषा नहीं करते, किंतु चारों ओर से निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म के लाभ से उनकी आशा करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

जिस–जिस वस्तुदृष्टि की ओर आप जाते हैं, उस–उस वस्तुदृष्टि में सामान्यसत्तास्वरूप से वृद्धिगत चिद्घनरूप ब्रह्म अवस्थित है ॥११॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आपको यदि आत्मा अज्ञात है तो आप पूरी तरह से बद्ध है और यदि आत्मा विज्ञात है तो आप बद्ध नहीं हैं, इसलिए मनन आदि की दृढ़ता से अपनी ही आत्मा द्वारा आत्मा को जागृत कीजिए ॥१२॥

अब वासनाशून्यता का स्वानुभवगम्य लक्षण बतलाते हैं।

जिस दशा में आत्मा भोगसुख का आस्वाद नहीं लेता और प्रारब्धवश प्राप्त हुए दुःख आदि का स्वाद लेता है, उसे आकाश के सदृश कोमल, समतारूप निर्वासनत्वदशा जानिये ॥१३॥ हे रामभद्र, आप भीतर से वासनारहित इन्द्रियों द्वारा व्यावहारिक क्रियाएँ कीजिए। ऐसा करने से आप सैकड़ों विक्षोभों के प्राप्त होने पर भी आकाश की नाईं विकार को प्राप्त नहीं होंगे ॥१४॥ शान्तात्मा होकर आप ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयरूप इन तीनों को और दुःख आदि को भी उक्त त्रिपुटी में एकीकरण कर एकात्मरूप से अपनी आत्मा में अनुभव कीजिए। इससे आप (उनकी प्रतिकूलता नष्ट हो जाने के कारण) फिर संसार के भागी नहीं होंगे ॥१५॥

अथवा दुःख आदि में प्रतिकूलत्व की कल्पना मनोजनित ही है, इसलिए भुशुण्डोक्त युक्ति से मन का ही निरोध करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

मन के उन्मेष और निमेष से संसार की उत्पत्ति और विनाश होते हैं, इसलिए पहले वासना और प्राण का निरोधकर तदनन्तर आप मन का निरोध कर दीजिए ॥१६॥ प्राण के उन्मेष और निमेष से संसार का उदय और अस्त होता है, इसलिए उसे अभ्यास और प्रकृष्ट योग से आप निरुद्ध कर दीजिये ॥१७॥

अथवा प्रवृत्ति द्वारा अज्ञान ही सब अनर्थों का निदान है, इसलिए दृढ़ आत्मज्ञान से उसीका निरास करना चाहिए, यह कहते हैं।

अज्ञान के आगम और अपाय से कर्मों का आगम और अपाय होता है, इसलिए बल से गुरुउपदिष्ट शास्त्रार्थ और संयमों से आप उसका विलय कर दीजिए ॥१८॥

'चित्तोन्मेषनिमेषाभ्याम्' इससे जो अर्थ कहा गया था, उसका दृष्टान्त से स्पष्टीकरण करते हैं।

जैसे आकाश वायु और रज के सम्बन्ध एवं स्पन्दन से मलिन, चलन आदि स्वभाववाला ज्ञात हो जाता है, वैसे ही चिति के चित्तरूप स्पन्दन से चेत्य रूपी यह अनर्थजाल उपस्थित हो जाता है ॥१९॥

उक्त अर्थ में अन्वय–व्यतिरेक दिखलाते हैं।

रामभद्र, दृश्य और दर्शन के सम्बन्धरूप स्पन्दन से यह संसार की गति उस प्रकार स्फुरित होती है, जिस प्रकार अनेक छिद्रों से प्रविष्ट सूर्यप्रकाश और दीवार के सम्बन्ध से चित्रविचित्र वर्णबुद्धि स्फुरित

होती है ॥२०॥ दृश्य और दर्शन के सम्बन्धरूप स्पन्दन का अभाव होने पर हृदय में जगत्‌रूप आभास की भावना उस प्रकार उत्पन्न नहीं होती, जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुष के हृदय में नहीं होती ॥२१॥

चित्त के स्पन्दन से जनित माया चित्तस्पन्दन का अभाव होने पर उस प्रकार विलीन हो जाती है, जिस प्रकार जलस्पन्दन से जनित तरंग जलस्पन्दन का अभाव होने पर विलीन हो जाता है ॥२२॥ वासनांश के त्याग से, बोध से अथवा प्राण के निरोध से चित्त के स्पन्दनरहित हो जाने पर कूटस्थत्वप्रच्युतिरूप स्पन्दन कहाँ से उत्पन्न होगा ? ॥२३॥ वृत्तिरूप चित्त-स्पन्दन के अभावमात्र से अथवा प्राण के निरोध से चित्त अचित्तरूपता प्राप्त करता है और वही परम पद है ॥२४॥

'बोधाद्वा' इससे जो मध्यम उपाय कहा गया था, उसका विवरण करते हैं।

विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर जो सुख अनुभूत होता है, वह परमार्थरूप से ब्रह्म-सुख ही है। उस सुख की परमावधिभूत निरतिशयानन्दपूर्ण आत्मा की एकान्त संवित्ति से यानी ब्रह्मदृष्टि से मन का क्षय सिद्ध हो जाता है ॥२५॥ जहाँ चित्त उदित नहीं होता वह सब सुख स्वाभाविक ब्रह्मसुखरूप ही है। मरूभूमि में ठण्डे जल से परिपूर्ण सरोवर की नाईं वह सुख स्वार्गादि भोगभूमियों में नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ चित्त काम, असूया आदि से कलुषित रहता है ॥२६॥ चित्तविलय से जनित विस्फारसुख वाणी से भी नहीं कहा जा सकता, केवल अपने अनुभव से ही जाना जा सकता है। विनाश और अतिशय से विनिर्मुक्त वह अनिर्वचनीय सुख न तो उदित होता है और न प्रशान्त ही होता है ॥२७॥ तत्त्वज्ञान से चित्त का अन्त होता है। भ्रान्तिवश से ही चित्त का सद्भाव ज्ञात होता है, बालकल्पित वेताल की नाईं भ्रान्ति से मोह भी घनरूपता प्राप्त करता है ॥२८॥

ज्ञानियों का भी व्यवहार दिखाई पड़ने के कारण उनका चित्त है ही, यह मानना पड़ेगा, फिर आप कैसे कहते हैं कि ज्ञान से चित्त नष्ट हो जाता है ? अस्तित्व और नष्टत्व ये दोनों विरुद्ध होने के कारण एक समय में एक स्थान पर रह नहीं सकते, इस पर कहते हैं।

विद्यमान भी ज्ञानी का चित्त बोध से विलीन हो जाता है और सुवर्णीकृत ताम्र की नाईं सत् होता हुआ भी असत्-सा भासता है ॥२९॥ ज्ञानी का चित्त चित्तनाम का नहीं कहा जाता, किंतु ज्ञानी का चित्त सत्त्व कहा जाता है। जैसे ताम्र सोना होकर नामतः और अर्थतः अन्य हो जाता है, वैसे ही बोध से ज्ञानी का चित्त नामतः और अर्थतःअन्य हो जाता है ॥३०॥ चित्त का स्वरूप वास्तव में किसी भी काल में नहीं है, उसका स्वरूप भ्रान्तिजनित है, इसलिए उसका विलय हो जाता है। भ्रान्ति तत्त्वज्ञान से शान्त हो जाती है। जो सद्रूप वस्तु होती है उसका विनाश कभी नहीं होता। इसलिए घट आदि का विनाश होने पर भी कपाल आदिरूप से उनका अवशेष दिखाई पड़ने के कारण सद्वस्तु का स्वरूपतः विनाश कहीं पर भी प्रसिद्ध है ही नहीं, यह कहना ठीक ही है ॥३१॥

वस्तु का तत्त्वज्ञान अवस्तुरूप कल्पितांशमात्र का बाधक होता है, इस प्रसिद्धि से भी सत्त्वांश के बाध की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं।

खरगोश के सींग की नाईं विकल्परूप चित्त आदि अवस्तुभूत ही हैं, वे सब पारमार्थिकरूप आत्मा के विवर्त हैं, इसलिए उनका आत्मज्ञान से विलय हो जाता है ॥३२॥

तब क्या जीवन्मुक्त के चित्त में व्यवहार क्षमावस्था परमार्थसत्यरूप है ? इस शंका पर नहीं, यह

उत्तर देते हैं।

सांसारिक अवस्था में कुछ काल तक सत्त्वरूपता को प्राप्त हुआ यह चित्त तुरीयावस्था में विहारकर तदनन्तर तुर्यातीत हो जाता है। विहार, समाधि और तत्त्वसाक्षात्कार पर्यन्त उसकी अवस्था पारमार्थिक नहीं रहती, किंतु प्रारब्ध से प्रतिबद्ध अविद्यावश से जनित बाधितानुवृत्ति ही है। विदेह कैवल्य में आविर्भूत तुर्यातीतअवस्था ही उसकी परमार्थ सत्ता है, यह तात्पर्य है ॥३३॥

तुर्यातीतस्वरूप ब्रह्म जब तक ज्ञात नहीं होता, तब तक चित्त, जगत् आदि मिथ्यावेष से स्थित होकर सर्वात्मक होता है। वास्तव में चित्त आदि कुछ भी दूसरी वस्तु नहीं है। इस प्रकार के ज्ञानमात्र से चित्त आदि का ब्रह्ममात्रस्वभाव से अवशेष युक्त ही है, इस आशय से कहते हैं।

हे प्रिय रामजी, जैसे मनोरथ से कल्पित महल, उपवन, वापी आदि का सन्निवेश हृदय में समावेश न हो सकने के कारण ही वास्तव में कुछ नहीं हैं, वैसे ही परम सूक्ष्म छिद्रशून्य चिदेकरसघन ब्रह्म में भी समावेश न हो सकने के कारण जगत् भी नहीं है। ब्रह्म ही अनेक भुवनरूप भ्रम–विभ्रमों के समूह से स्वयं सम, सर्वात्मक और एकरूप होता हुआ भी इस तरह अनेकरूप से स्थित हुआ है। वास्तव में दूसरा कुछ नहीं है ॥३४॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

स्व–स्वरूप आनन्दात्मक रस से परिपूर्ण,
तीनों लोकों की कल्पना के आश्रय परब्रह्म का बिल्वफलरूप से वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तत्त्वज्ञान के लिए इस विषय में आप आश्चर्य और उल्लास की जनक, अपूर्व, रम्य यह बिल्वोपाख्यायिका संक्षेप से सुनिए ॥१॥ श्रीरामजी, हजारों योजन विस्तृत विमल स्पष्ट एक बहुत बड़ा बिल्वफल है, जिसका स्वरूप युगों से भी जीर्ण–शीर्ण नहीं हुआ है ॥२॥ वह बिल्वफल अविनाशी रसका आश्रय है, उसका सार अमृत की तरह अथवा अमृत से भी बढ़कर मधुर है, वह पुराना होने पर भी बालचन्द्र की प्रतिदिन बढ़नेवाली कलाओं की नाईं मृदुलता से त्वचा और नेत्रों को सुखकर स्पर्श देने के कारण सुन्दर है ॥३॥ वह भुवन–समूहों के मध्य में स्थित मेरुपर्वत की नाईं प्रधान स्तम्भ है, मन्दराचल की नाईं दृढ़ है और महाप्रलय के प्रचण्ड वायु के वेग से भी चलित नहीं होनेवाला है ॥४॥

पूर्वोक्त 'योजनानां सहस्राणि' इस में कहे गये सहस्रपद का 'असंख्य' अर्थ में व्याख्यान करते हैं।

सैकड़ों कोटि लक्ष गुने दस हजार करोड़ योजनों के विस्तार से भी अर्थात् असंख्यात योजनों के विस्तार से भी नापा नहीं जा सकनेवाला वही बिल्वफल इस जगत् के धारण एवं नियमन का आद्य मूल है ॥५॥ भद्र, वह ऐसा बिल्वफल है कि जिसके समीप में उन्नत सभी ब्रह्माण्ड ऐसी शोभा धारण करते हैं, जैसी पर्वतों के नीचे सूक्ष्मभूत सरसों के कणों की पंक्तियाँ शोभा धारण करती हैं ॥६॥ हे राघव, इस बिल्वफल से चू रहे रस से परिपूर्ण अत्यंत स्वादयुक्त रस चमत्कार का कोई भी षड्–रस यानी छः इन्द्रियों से भोग्य ब्रह्मलोकतक का सुखांश अथवा प्रसिद्ध षड्रस अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥७॥ वैसे

रस से परिपूर्ण होने पर भी पाक से वह कभी गिरता नहीं। *(तब क्या वह अपने स्थान में ही जीर्ण हो जाता है? इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।)* भद्र, सर्वदा ही पके हुए भी उस बिल्वफल को जीर्णता बाधा नहीं पहुँचाती ॥८॥ ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदि कोई भी चिरंजीवी लोग इस बिल्वफल की उत्पत्ति को नहीं जानते और न इसके मूल (जड़) और टहनी को ही जानते हैं ॥९॥ जिसका अंकुर और वृक्ष नहीं देखा गया है, जिसके फूलों का आकार भी नहीं देखा गया है, स्तम्भ, मूल और शाखा से रहित, महान् आकारवाले तथा एकमात्र पिण्डीभूत चिद्घनाकार अत्यंत विस्तृत स्वभाव इस फल की उत्पत्ति, विकार, परिणाम आदि कभी भी नहीं दिखाई पड़ते ॥१०,११॥ समस्त फलों एवं पुरुषार्थों में श्रेष्ठ, महान् आकारवाले इस फल में न गुद्दा है और न गुठली ही है, अतः अत्यंत विस्तृत यह निर्विकार एवं निरंजन ही है ॥१२॥ वह शिला के भीतरी प्रदेश की नाईं छिद्ररहित यानी घनीभूत (ﷺ) है और अमृत का स्राव कर रहे चन्द्रबिम्ब की नाईं स्वानुभव से अमृत की तरह स्वाद लेने योग्य यह बिल्व निरतिशय आनन्दस्वरूप रस बहा रहा है ॥१३॥ यह बिल्वफल सम्पूर्ण सुखों का मानों एक निधि है, शीतल प्रकाश देनेवाला है, पर्वत के समान शोभा से युक्त है, अमृत के गोले की कांति धारण करता है और आत्मा के कर्मफलों की स्थिति का यानी मनुष्य के आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्दपर्यन्त (🔔) कर्मफलों की स्थिति का सारभूत पदार्थ है ॥१४॥ हिरण्यगर्भ के आनन्द से भी बढ़कर जो आत्मा की चमत्कृति है, वही इस परम अव्यक्त की मज्जा है यानी सारभूत वस्तु है; देश, काल और वस्तु से जनित त्रिविध परिच्छेदों से शून्य स्वभाव से उसकी रक्षा हुई है। वास्तव में स्व-स्वरूप आत्मा ही इस बिल्वफलरूपता को प्राप्त हुआ है, अतः वह अद्वितीय ही है ॥१५॥

अनन्यत्व का (अद्वयता का) ही उपपादन करने के लिए चमत्कृतिपद का स्वारस्य प्रकट करते हैं।

(चूँकि) सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, महान् से भी महान्, पुराना होने पर भी वृद्धि आदि-विकारों के न होने से अत्यंत बालस्वरूप तथा अपने में अध्यस्त भेदमात्र की फलरूपता में पर्यवसित एकमात्र चैतन्यात्मक रस के सारभूत पारमार्थिक स्वकीय सन्निवेश (रचना) वैचित्र्य का त्याग न करती हुई उस स्वात्मचमत्कृति ने 'यह देहादि मैं हूँ' इस प्रकार की कल्पना के द्वारा (卐) असत् और अन्यता की आपादक अविद्यारूप मल का (📖) इस तरह के असंभावित भूत, भुवन आदि भेदों के रूप से स्वयं ही उत्पादन कर केवल भावना कर रक्खी है, वास्तव में भावनानाम की कोई वस्तु ही नहीं है। (अतः यह अद्वितीय (अनन्य) ही है, यह भाव है।) ॥१६,१७॥

(ﷺ) इस विषय में 'विज्ञानघन एव' यह श्रुति प्रमाणतया उद्धृत की जा सकती है।

(🔔) इस विषय में 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' यह श्रुति प्रमाण है।

(卐) यदि देह ही असत् है, तो उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? इस शंका पर 'इयमस्मि' यह कहा गया है। एवंच इदन्ताशून्य में इदन्ता का अध्यास ही भेदोत्पत्ति का प्रयोजक है, यह भाव है।

(📖) 'असंभवत्' इससे यह द्योतित किया गया है कि स्वयं प्रकाश एवं एकमात्र चैतन्यरसात्मक आत्मचमत्कृति में यदि मल यानी अविद्या का ही संभव नहीं है, तो सुतरां उस अविद्या के कार्यभेद का (पृथक्त्व का) भी संभव नहीं है।

वही आत्मचमत्कृति स्वोत्पादित भूत, भुवन आदि भेदों से अहन्ता के उत्पादन द्वारा आभिमानिक संवलन प्राप्त करती है, यह कहते हैं।

व्यष्टि–समष्टिरूप से अहंकार की उत्पत्ति होने के अनन्तर ही वह आत्मचमत्कृति आकाश और आकाश के गुण शब्दरूपी अंगों से युक्त समष्टिरूप शरीरों के परमाणुओं से संयुक्त हो जाती है ॥१८॥

अपने स्वरूप के त्याग के बिना उस प्रकार के स्वरूपों की प्राप्ति कर लेना ही इस चिति की बहुत बड़ी आत्मचमत्कृति है। इसीका मैंने पूर्वोक्त रीति से वर्णन किया है, यों उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, अपने पहले के चैतन्यात्मक सारस्वरूप संनिवेश को (रचना को) न त्यागती हुई यह चिति इस प्रकार क्रमशः व्यवहार में समर्थ स्वरूपता को प्राप्त कर लेती है ॥१९॥ श्रीरामजी, व्यवहार समर्थ स्वरूपता प्राप्त करने के अनन्तर चंचल स्वरूपवाली उस चितिशक्ति ने अपने निर्विकार रूप में ही इस तरह की जगदाकार दृष्टि फैलाई है ॥२०॥

ऐसी स्थिति में आकाश आदि सभी कुछ चितिशक्तिस्वरूप ही है, इसे छोड़ दूसरा कुछ भी नहीं है यों जानना चाहिए, यह कहते हैं।

यही चितिशक्ति महान् एवं अनन्त आकाशरूप है, यही काल की क्षण, घड़ी, दिन, मास, वर्ष, कल्प आदिरूप कला है। यही 'नियति' इस नाम से कही गई है और यही स्पन्दनरूपिणी क्रिया है ॥२१॥

इसी प्रकार आध्यात्मिक विषय भी यह है, यह कहते हैं।

यही (🔔) (चितिशक्तिस्वरूप ब्रह्म) संकल्प का विस्तार है, यही दूसरी दिशा में दूसरी दिशा का भ्रम है, यही चितिशक्ति राग–द्वेष की अवस्था है और यही हेय और उपादेय बुद्धि है ॥२२॥ यही चितिशक्ति त्वत्ता यानी त्वद्रूप है, यही 'मत्ता' यानी अहंरूप है और यही स्वयं 'तत्ता' रूप अर्थात् ब्रह्मरूप होकर स्थित है। हे श्रीरामजी, यही चितिशक्तिस्वरूप आत्मा ऊपर के ब्रह्माण्डों का समूह है और स्वयं यह ऊपर तथा नीचे भी स्थित है ॥२३॥ यही चितिशक्तिस्वरूप आत्मा आगे है, यही दोनों ओर यानी दायें–बायें, पीछे, समीप और दूरतर है। यही ब्रह्मभूत एवं वर्तमान वस्तुरूप है और यही भविष्यत् भी है ॥२४॥ इसी ब्रह्म में कल्पनारूपी कमलों के आश्रय अनन्त जीव भीतर अवस्थित हैं, यही ब्रह्माण्ड–मण्डप का ऊपर का शिखाभूषण है और उसकी क्रीड़ा के मण्डप का मण्डल है ॥२५॥ यही चितिशक्ति अनन्त रचनाओं के रहस्यों से चारों ओर पल्लवित नारायण का हृदय–कमल और लोकरूपी कमलगट्टों की माला का छत्ता है ॥२६॥ इस चितिशक्ति के कोटर चारों ओर व्याप्त महारुद्र के गणों से भरे हैं, यही लम्बी आकाशरूपा सरणी (मार्ग) है और विषयों में लम्पट स्वर्गस्थ जनों के अधःपात में निमित्त होने के कारण उनके ऊपर प्रभाव जमानेवाली भी यही है ॥२७॥ यही इस उत्तर दिशा में स्थित मेरुपर्वत है और जगत्–रूपी कमल का वह छत्ता है, जहाँ स्फुरित हो रहे चन्द्ररूप मधु के अमृत–मकरन्द में देवतारूप भ्रमर लम्पट हैं ॥२८॥ रजोगुण के कार्य राग आदि से एवं नरकों से यानी दुःखों से जिसका मूल (जड़) बना है, ऐसे जगद्रूप पुराने वृक्ष के उत्कट सुगन्ध से युक्त स्वर्ग–शोकरूप फूलों की मंजरी यही चितिशक्ति है ॥२९॥ और यही चितिशक्ति तारा–गणरूप केसरों से

(🔔) चितिशक्ति के वर्णन–प्रसंग में उसके विशेषणों में जो लिंगभेद (पुलिंग एवं नपुंसकलिंग) जहाँ–तहाँ किया गया है; उसकी आत्मा, ब्रह्म आदि विशेष्य पदों का अध्याहार कर उपपत्ति कर लेनी चाहिए।

समन्वित, ब्रह्माण्डरूपी समुद्र के तीर पर स्थित, ऊपर और चारों ओर अपार सीमावाली मानों व्योमाकार कमलिनी अथवा सरोवर ही है ॥३०॥ जिसमें चारों ओर कर्मस्वरूप ही मगर विद्यमान हैं; तरंगों की नाईं चंचल, मास, ऋतु आदि की पँक्तियाँ जिसमें हैं; प्रजोत्पादनरूप भँवरों के कार्यों में स्थित भूत-परम्पराओं से जो युक्त है; प्राणियों के आयुःपरिमाण से विस्तृत; क्षण, कल्प आदि पल्लवों से युक्त; तेजों से यानी अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि से केसरोंवाली और आकाशरूप कमलों से समन्वित कालरूपी नलिनी (सरोवर) यही चितिशक्ति है ॥३१,३२॥ ये जो भाव-विकारों से परिपूर्ण जरा-मरणरूपी विषूचिकाएँ (महामारियाँ) हैं, वे सब यह चितिशक्ति ही है। और विद्या एवं अविद्या के विलास से पूर्ण जो ये शास्त्रीयविषयों की दृष्टियाँ हैं, वे सब भी यही चितिशक्ति है ॥३३॥ श्रीरामजी, अभी तक वर्णित सभी प्रकार उस बिल्वफल के स्वकीय सार की चमत्कृति ही है अर्थात् वे सब प्रकार आत्मचमत्कृति स्वरूप ही हैं। और उसीने ऊपर कहे गये प्रकारों से व्यष्टि एवं समष्टि के संकल्प-सन्निवेश के भीतर ही अपनी स्थिति की है ॥३४॥ सर्वोपद्रवों से वर्जित, अपने स्वरूप में स्थित, सर्वविध पीड़ाओं से शून्य, सौम्य तथा कल्पनाओं से रहित यह चितिशक्ति वास्तव में पदार्थों की रचना न करने के कारण कृतिशून्य होती हुई भी मानों पदार्थ रचना कर कृतियुक्त-सी होकर अवस्थित है ॥३५॥

बिल्वाख्यायिका की समाप्ति कर अब चिति का स्वरूपतः वर्णन कर रहे महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं।

वास्तव में एकस्वरूप (अद्वितीयस्वरूप) भी यह चितिशक्ति अज्ञानियों द्वारा नाना प्रकारकी-सी (सद्वितीय-सी) कल्पित की जा रही है। (एकत्व संख्या भी द्वित्व-संख्या की जननी होने से) वह न एकात्मिका है और न विविध ही है, किंतु वह (चितिशक्ति) एकत्वरूप है और एकत्व भी तत्स्वरूप ही है। अथवा सजातीय एवं विजातीय से रहित है। वह सत्यस्वरूप होकर अवस्थित है, द्वैत-विकल्पों की शांति हो जाने से सम, एकरूप और सर्वात्मिका है। हे श्रीरामजी, मैंने आपसे अत्यन्त महान् ब्रह्मशब्द से लक्षित होनेवाली चितिशक्ति का इस प्रकार वर्णन किया ॥३६॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

छियालीसवाँ सर्ग

चित्रकार के मन की कल्पना से चित्रित,
कमलिनीवन से शोभित शिलागर्भ की नाईं प्रपंचरूप आभास से युक्त ब्रह्म का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी अपना उक्त बिल्वोपाख्यान का तात्पर्य ज्ञान दिखलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : निखिल तत्त्व को जाननेवाले हे भगवन्, अभी आपने (जो बिल्वोपाख्यान कहा है, उसमें) बिल्वफल के रूप से महाचैतन्यघन की सत्ता का ही वर्णन किया है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥१॥ महर्षे, जो कुछ विस्तार को प्राप्त ये अहन्ता आदि पदार्थ हैं, वे सब चैतन्यसारस्वरूप हैं, (अतः) द्वित्व-एकत्व की कल्पनारूप भेद तनिक भी नहीं है ॥२॥

केवल अहन्ता आदि ही चैतन्यात्मक बिल्वफल की मज्जारूप नहीं हैं, किंतु ब्रह्माण्ड आदि सभी पदार्थ उस चैतन्यात्मक बिल्वफल की मज्जारूप (सार) हैं, यों निःसंकोच समझिए, इस आशय से

महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, जिस प्रकार ब्रह्माण्डरूप पेठे की मज्जा यानी सार मेरुपर्वत आदि की स्थिति है, उसी प्रकार चैतन्यात्मक इस बिल्वफल की मज्जा ब्रह्माण्ड आदि जगत् की स्थिति ही है ॥३॥

चैतन्यात्मक उस बिल्वफल की ब्रह्माण्ड आदि जगत्–स्थिति मज्जा है, ऐसा कहने पर किसीको यह भ्रम हो सकता है कि वह मज्जा भीतरी प्रदेश में स्थित अवयवों का रसमय परिणाम विशेष ही होगा, तो उसका निवारण करते हैं।

जैसे बिल्वफल का खप्पड़ उस फल की मजा का यानी गुद्दी का आधार होता है, वैसे ही सृष्टिस्वरूप चैतन्यात्मक इस बिल्वफल की मज्जारूप आधेय से खप्परस्थानीय स्वाधार यदि कोई दूसरा हो तो मज्जा उसके अन्दर की परिणामस्वरूप हो सकेगी। (परंतु स्थिति वैसी नहीं है; किंतु मज्जा और उसका आधार दोनों एक ब्रह्मरूप ही हैं)। यदि सर्वव्यापी इस चिदात्मा को सर्वावयव अवच्छेदेन अथवा एकदेशावच्छेन परिणामी मानेंगे तो उसकी नाशापत्ति कभी हटाई नहीं जा सकती। औरं इस निरवयव चिदात्मा में न कोई मुख्य अन्तःप्रदेश है और न परिणाम ही हो सकता है। अतः यहाँ मज्जा शब्द परिणाम का वाचक नहीं है, यह भाव है ॥४॥

तब मज्जाशब्द किंपरक है यानी किसका वाचक है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विवर्त–स्वरूप चमत्कार का ही वह वाचक है, इस आशय से कहते हैं।

मिर्च–बीज की तरह चिति की जगत्–नामक यह चमत्कृति सुषुप्ति के सदृश विकार–रहित शांत चिति में एक शिल्पकार के मन से कल्पित शिला के अन्दर पद्म–वन की रचना की नाईं, विवर्तरूप से ही स्थित है ॥५॥

उक्त दृष्टान्त का ही विवरण करने के लिए ब्रह्मशिलाख्यान की भूमिका बाँधते हैं।

चन्द्र से बढ़कर आह्लादकारी मुखवाले हे श्रीरामजी, इस प्रसंग में कभी न सुनी गयी, अतएव आश्चर्यजनक, रमणीय और अन्य दूसरी इस आख्यायिका का (ब्रह्मशिलाख्यायिका का), जिसका अभी आगे मैं वर्णन करूँगा, आप (सावधान होकर) श्रवण कीजिए ॥६॥ चित्त–प्रेम का आस्पद होने से स्निग्ध (चिकनी), स्वयंप्रकाश होने से स्पष्ट प्रतीयमान सुख ही हेतु होने से मृदुल स्पर्शवाली, असीम होने के कारण महाविस्तार से युक्त, सन्तत होने से निबिड़, नित्य एवं अक्षुब्ध स्वभाववाली कहीं (📖) एक महती शिला है ॥७॥ उस महा–शिला के भीतर मनःकल्पनाओं से अनन्त वे सभी भुवनादिरूप कमल (🔔) वैसे विराज रहे हैं, जैसे सरसी में खिले हुए अधिक रमणीय कमल विराजते हैं ॥८॥ उनमें से कुछ तो परस्पर गुँथे गये पत्तों से युक्त हैं अर्थात् परस्पर सम्बद्ध हैं, कुछ परस्पर सम्बन्धरहित हैं और

(📖) इस ब्रह्म–शिला का आधार ब्रह्म से अतिरित कोई दूसरा कह ही नहीं सकते, अतः इस श्लोक में 'क्वचित्' कहा गया है। इस विषय में यह श्रुति प्रसिद्ध है– 'स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' (वह भगवान् कहाँ प्रतिष्ठित हैं ?) (इस पर उत्तर है) अपनी महिमा में।

(🔔) प्रस्तुत श्लोक में 'पद्मानि' इससे पद्मसदृश भुवनादि ही विवक्षित है, क्योंकि वे भी संकोचविकासशाली हैं और जीवरूप भ्रमरों के आश्रय भी हैं, यह जानना चाहिए।

कुछ परस्पर एक-दूसरे से साक्षात् संश्लिष्ट (आलिंगित) हैं। वे कुछ गुप्त हैं तो कुछ प्रकट भी हैं ॥९॥ उनमें कुछ नीचे मुँहवाले हैं, कुछ ऊर्ध्वमुखवाले भी हैं और कुछ तिरछे मुँहवाले भी हैं। कुछ परस्पर मिले हुए मूलों से युक्त हैं तो कुछ परस्पर गुँथे मुँहवाले भी हैं ॥१०॥

दिखाई पड़नेवाले पदार्थों से विपरीत भी मन की कल्पना हो सकती है, अतः यह कहते हैं।

कुछ के मूल तो कमलों के छत्तों में (बीज कोशों में) हैं तो कुछ ऐसे हैं, जिनके मूल के अन्दर ही बीज कोश हैं। उन भुवनरूप कमलों के बीच किन्हीं के मूल ऊपर हैं, (क्योंकि स्वर्ग आदि भुवनों का आश्रय ऊपर स्थित ध्रुव-मण्डल ही है,) तो किन्हीं के मूल नीचे की ओर हैं (क्योंकि पाताल लोक, भूलोक आदि भुवनों का आश्रय बाह्य-स्थित कूर्म ही हैं।) (शिवलोक, विष्णुलोक आदि के नित्य होने से) कुछ मूलरहित हैं तो और कुछ दूसरे तिरछे मूलवाले हैं (क्योंकि कई ऐसे भी भुवन हैं, जिनका धारण तिर्यग्गति पवन ही करता है) ॥११॥ और उन्हीं कमलों के समीप सैकड़ों-हजारों कमल-मुकुल के समान आकृतिवाले महाकार शंख हैं तथा विकसित कमल की नाईं आकृतिवाले बड़े बड़े चक्रसमूह भी हैं ॥१२॥ (卐)

तीर्थयात्रा के समय शालग्राम-क्षेत्र में देखी गयी शिला का गुरुवसिष्ठजी के उपर्युक्त वचन से स्मरण कर रहे श्रीरामचन्द्रजी उसी शिला का यहाँ गुरुदेव भगवान् ने जगत् की कल्पना आदि से- वर्णन किया है', यों मानते हुए कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : गुरुदेव, आपने उक्त शिला का जो वर्णन किया है, वह सच है। (तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में) शालग्रामनामक हरि के क्षेत्र में उपर्युक्त प्रकार की एक महाशिला स्थित है, जो कि पद्म-वन के चिह्न से युक्त है, वह मैंने अपनी आँखों से देखी है ॥१३॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का सम्बन्ध आपने भलीभाँति जान लिया है, यों अनुमोदन कर रहे महर्षि वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, मैंने जिस शिला का दृष्टान्त दिया है, वह मैंने देखी है, इस प्रकार आप जो स्मरण कर रहे हैं, वह ठीक ही है, और दार्ष्टान्तिक चिदात्मा जिस स्वभाव का है यानी जैसा छिद्रशून्य चिद्घन, सम, प्राण का भी प्राण-निरतिशयानन्दस्वरूप -है, उसके विषय में भी जो आपने देखा है, उसका भी आप स्मरण करते हैं ॥१४॥

मैंने जिस शिला का दृष्टान्त दिया है, वह आपके द्वारा देखी गयी प्राकृत शिला नहीं है, किंतु ब्रह्म की ही शिलारूप से कल्पना कर प्रथमोपदिष्ट बिल्वफल की नाईं, किसी अपूर्व शिला का दृष्टान्त दिया है, इसलिए उपाय में तात्पर्य का विसंवाद होने पर भी उपेय में विसंवाद नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, यहाँ पर मैंने यह कोई अपूर्व शिला ही दृष्टान्तरूप से आपके समक्ष उपस्थित की है, जिसकी महाकुक्षि के भीतर यह सब प्रपंच व्यवहारकाल में विद्यमान रहता है और बाधकाल में अविद्यमान भी

(卐) प्रस्तुत श्लोक में शंख शब्द से नक्षत्र, ग्रह, तारकागण आदि ज्योतिर्मण्डल ही विवक्षित हैं, क्योंकि समुद्र की नाईं नीले आकाश में वे शंख-समूह की नाईं भासते हैं। इसी प्रकार चक्रशब्द से मण्डलाकार द्वीप ही विवक्षित हैं, क्योंकि वे चक्रधारा की तरह आभासमान समुद्रों से उपलक्षित हैं, यह जान लेना चाहिए।

रहता है ॥१५॥ श्रीरामजी, आपसे उस चितिरूप शिला का ही मैंने कथन किया है, जिसके भीतर ये सब जगत् विद्यमान हैं। लौकिक शिला के सदृश इसमें निबिड़ता, एकरूपता, अभेद्यता आदि गुण होने के कारण यह चिति भी एक तरह की शिला ही है ॥१६॥ भद्र, जैसे आकाश में विपुल पवन रहता है, वैसे ही अत्यंत घनीभूत अंगोंवाली और छिद्रशून्यस्वरूपवाली होती हुई भी इस चितिरूप शिला के अन्दर मायावश यह जगत्–समूह रहता है ॥१७॥ यद्यपि मायावश उस चितिरूप शिला में स्वर्ग, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ विद्यमान हैं; तथापि उसमें तनिक भी छिद्र नहीं है ॥१८॥

उस शिला में जगत् की ही पद्म–वनरूप से मैंने उत्प्रेक्षा की है, यह कहते हैं।

इसी चितिरूप शिला में घनीभूत अवयवोंवाला जगद्रूपी कमल विकसित हो रहा है। वह यद्यपि उससे पृथक्–सा भासित होता हैं; तथापि वास्तव में उससे पृथक् नहीं है और न शुद्धचित्स्वरूप ही है, किंतु केवल मायारूप ही है ॥१९॥

'तेषां च निकटे सन्ति' यह जो ऊपर कहा गया है, उसका अब तात्पर्य बतलाते हैं।

श्रीरामजी, जैसे पत्थर में चित्रकार की मनःकल्पना से शंख, कमल आदि चित्र निर्मित किये जाते हैं, वैसे ही एकमात्र मन की कल्पना से इस चितिरूप शिला में, भूत, वर्तमान और भविष्यत्–सब प्रपंच चित्रित किया गया है। प्राकृत शिला में जैसे शालभंजिका (पुतली) आदि वास्तव–से प्रतीत होते हैं, पर वास्तव नहीं हैं, किंतु शिलारूप ही हैं; वैसे ही चिति–शिला में उक्त सभी संस्थान वास्तव–से प्रतीत होने पर भी वास्तव नहीं हैं, किंतु चितिरूप ही हैं ॥२०॥ भीतर स्थित शंख, कमल आदि आकारों से युक्त पत्थर अनेकरूप से प्रतीयमान हो रहा भी जैसे घनीभूत एकपिण्डरूपता को स्वीकार करता है, ऐसे ही कल्पित आकारों से युक्त होकर अनेक आकृतियों के रूप में प्रतीत हो रही भी यह चिति वास्तव में घनीभूत एकपिण्डरूपता को ही स्वीकार करती है ॥२१॥ जिस प्रकार पाषाण–शिला के भीतर शिल्पी द्वारा लिखित कमल, उस शिलाकोश से अभिन्न होने पर भी अपने परिच्छिन्न आकार से युक्त होकर उससे भिन्न–सा भासता है, उसी प्रकार चिति के स्वरूप से अभिन्न होने पर भी यह सर्ग (सृष्टि) उससे अन्य परिच्छिन्न आकारवाला होकर उससे भिन्न–सा भासता है, वास्तव में भिन्न नहीं है ॥२२॥ जैसे टाँकी से (पत्थर काटने की छेनी से) छेदन करने के पूर्व शिला के भीतर चक्र, पद्म आदि की पंक्तियाँ अनभिव्यक्त अवस्था से अवस्थित रहती हैं, वैसे ही मन की कल्पना से पूर्व इस चितिशिला के भीतर ये जगत्रूपी पंक्तियाँ अनभिव्यक्त (अव्याकृत) अवस्था से अवस्थित हैं ॥२३॥ जैसे शिला और मिर्च के रहते शिला के भीतर कल्पित पद्म–लेखा की पंक्ति एवं मिर्च के भीतर स्थित तीक्ष्णतारूप चमत्कृति (कटुरस की स्फूर्ति) स्वाभाविक होने से न उदित (उत्पन्न) होती है और न वह अस्त (नष्ट) ही होती है (क्योंकि अपने आश्रय शिला आदि की जब तक स्थिति रहेगी तब तक दोनों का न उदय ही हो सकता है और न नाश ही हो सकता है); वैसे ही इस चिति में भी यह सर्ग न उदित होता है और न अस्त ही होता है ॥२४॥ जिस प्रकार सच्चरित्र पतिव्रता स्त्री के मन में उसका प्रिय पति सदैव रहता है, अथवा बिल्वफल के अन्दर मज्जा सदैव रहती है वैसे ही इस चिति में अनंत विकारों से परिपूर्ण ब्रह्माण्ड–समूह सदैव रहता है ॥२५॥ भद्र, ब्रह्माण्ड के विकार आदि चैतन्यमात्रस्वरूप हैं – यह कहना अर्थशून्य है, अतः तथोक्ति व्यर्थ ही है क्योंकि जब विकारी ब्रह्माण्ड चैतन्यमात्रस्वरूप है तब ब्रह्माण्ड के विकारभूत

भुवन, शरीर आदि की चिन्मात्रस्वरूपता तो अर्थतः ही सिद्ध हो जाती है, फिर अर्थशून्य होने के कारण वैसा कहना निष्फल ही है। *(कैसे अर्थशून्य है ? इस पर कहते हैं।)* चूँकि ये विकार आदि तत्क्षण ही (ब्रह्माण्डों में चैतन्यमात्ररूपता का साक्षात्कार करने के क्षण में ही) जल में जलबिन्दु की नाईं चैतन्यमात्रस्वरूप हो जाते हैं, अणुमात्र भी उससे पृथक् नहीं रह जाते, इसलिए वह उक्ति अर्थशून्य ही है, यह भाव है ॥२६॥ और 'चिति के अनंतशक्ति होने के कारण विकार आदि की यह सृष्टि उस चिति से विकार आदि नामपूर्वक ही हुई हैं' इसलिए (卍) उक्तिमात्र से जो सिद्ध होगा, वह उक्ति के प्रलय से लीन हो जायेगा (कवि-वर्णित विचित्र गन्धर्वनगर आदि की तरह केवल उक्ति से सिद्ध हो जाने से भी विकार प्रमातृचैतन्यमात्ररूप ही हो जायेंगे, यह तात्पर्य है।)॥२७॥ ये भुवन आदि विकार विकारादि अर्थों से शून्य ब्रह्मरूप ही हैं। विषयों का ग्रहण और अग्रहण भी ब्रह्मरूप ही है, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है ॥२८॥ विकार आदिरूप से ब्रह्म ही अवस्थित और ब्रह्म ही क्रमशः विकार आदि के रूप में उत्पन्न किया गया है। इस चिति-शिला के भीतर दूसरा जो यह विकारादि अर्थ प्रतीत हो रहा है, उसे आप मृगतृष्णा जल के सदृश ही जानिए यानी उसे असद्रूप ही जानिए ॥२९॥

फूल से लेकर फलपर्यन्त अपने कार्यों में बीज की अनुवृत्ति दिखलाई पड़ने के कारण जैसे फूल आदि बीजरूप ही होते हैं, वैसे ही सभी जगह चितिसत्ता की अनुवृत्ति दिखलाई पड़ने के कारण सब चितिस्वरूप ही हैं, यह कहते हैं।

फूल से लेकर फल तक अपने कार्यों में बीज अनुस्यूतरूप से रहता है, अतः बीज के भीतर फूल, फल आदि बीज को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है; क्योंकि अंकुर आदि पूर्व-पूर्व विकारों में जो बीजशक्ति विद्यमान रहती है, वही उसके बाद उत्तर-काल में काण्ड, शाखा, पल्लव आदि रूपों में परिणत हो जाती है ॥३०॥ चिद्घन इस आत्मा में जो चिद्घनत्व है, वही तीनों जगत् का बीज है; *(एकत्व-कल्पना के अधीन ही द्वित्व-कल्पना होने से भी अकल्पित चिन्मात्र ही तत्त्व है – यह कहते हैं।)* अतः चिद्घनरूप बीज और उसके कार्य जगत में एकत्व ही द्वित्व है, क्योंकि एक के अभाव में दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥३१॥ बीज और उसके कार्य जगत की उत्पत्ति चिति से अतिरिक्त जाड्य की कल्पना से ही होती है। चिति का वह रूप तो कभी भी जड़स्वभाव हो नहीं सकता और न चिति ही कभी अचित् हो सकती है। अतः बिल्व के भीतर मज्जा आदि की नाईं ये बीज और कार्य एक-दूसरे से अभिन्न (अद्वितीय) ही हैं ॥३२॥ जैसे महाशिला के भीतर विद्यमान अनेक तरह का भेद लेखनात्मक ही है, वास्तव में नहीं, वैसे ही चिद्घन बिल्वफल में मज्जादिरूप त्रिजगत् कल्पनावश उससे भिन्न है, वास्तव में उससे अनन्य ही है ॥३३॥ जिस प्रकार रेखा एवं उपरेखाओं से संवलित एक ही स्थूलशिला दीखती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म ही त्रैलोक्य से संवलित प्रसिद्ध जगत्-रूप से दीखता है ॥३४॥ जैसे इस लौकिक शिला के भीतर सर्वदा स्थित शिल्पी के वासनास्वरूप कमल आदि न उदित होते हैं और न अस्त ही होते हैं, वैसे ही इस चितिशिला में अहंकार और जगत् की गति भी न उदित होती है और न अस्त ही होती है ॥३५॥ जिस तरह शिला के भीतरकी रेखा आदि शिला के आभ्यन्तर से भिन्न नहीं हैं,

(卍) भुवन आदि की सृष्टि नामपूर्वक ही है, इस विषय में यह श्रुति प्रमाणरूप है-'स भूरिति व्याहरत्, भुवमसृजत। एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत असृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितन्'।

(किंतु शिलामय ही हैं); उसी तरह जीव एवं ईश्वर का रूप और कर्तृत्व आदि जगत् एकमात्र चैतन्यरूप होने से चिति से भिन्न नहीं हैं, किंतु चितिरूप ही हैं ॥३६॥ शिला के भीतर स्थित कमलों की गति एवं अगति, आविर्भाव और तिरोभाव शिला के तत्त्वसाक्षात्कार से जैसे शिला से पृथक् विषयता को प्राप्त नहीं होते यानी वे शिला से भिन्न सिद्ध नहीं होते, वैसे ही आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से जगत् के कर्ता जीव, ईश्वर आदि कोई भी उससे पृथक् सिद्ध नहीं होते ॥३७॥ वस्तुतः पर्वतकूट की नाईं उत्पत्ति, उल्लास एवं विलास रूप विकारों को प्राप्त न करनेवाला ब्रह्म का स्वरूपभूत यह जगत् न कभी किसी से किया गया है यानी उत्पादित है और न कभी नष्ट ही होता है ॥३८॥

इसलिए जैसे शिला अनेक शिल्पियों की विविध मानसिक कल्पनाओं के रहनेपर उस-उस रूप से स्थित रहती है, वैसे ही ब्रह्म भी नाना जीवों की अनेक विरुद्ध कल्पनाओं के रहने पर तत्-तत् रूप से अवस्थित रहता है, यह कहते हैं।

जिस तरह के जिस आकार में जहाँ कल्पना की जाती है, वहाँ पर उस तरह के उस आकार में ब्रह्म हो जाता है। यह सब जगत् ब्रह्मसत्तात्मक ही है और सुषुप्तस्थ की नाईं स्थित है यानी जैसे प्रत्येक जीव विचित्र स्वाप्निक विषयों की कल्पनाओं के भेदों को अविरोध से सहता है, वैसे ही वह ब्रह्म भी कल्पनाप्रयुक्त सब भेद सहन करता है ॥३९॥ प्रभूत भावविकारों से परिपूर्ण जो यह जगद्रूप महान् भ्रम है, उसे उस प्रकार अनुन्मिषित वासनामात्र ही जानिये, जिस प्रकार शिला के भीतर कमल आदि ॥४०॥

आख्यायिका के तात्पर्य का संक्षेप में उपसंहार करते हैं।

श्रीरामजी, यह जगत् का विलास सर्वदा अनुन्मिषित (सुषुप्त) वासनामात्र ही है, क्योंकि वह भलीभाँति शांत एवं सम चिद्घन ब्रह्माकाशस्वरूप ही है। शिला के भीतर स्थित कमलों की नाईं तुच्छ सर्गादि-दशाएँ आत्मा के भीतर देखी गयी भी कभी स्वरूप-स्थिति प्राप्त नहीं कर सकती ॥४१॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

मोर के अण्डे के रस में उसके पँख, वर्ण तथा
अन्य अवयवों की रचना के भेद की नाईं बिल्वशिलाख्यान के तात्पर्य का वर्णन।

बिल्वफल का दृष्टान्त देने के कारण वह अचिद्रूप ही है, और उस बिल्वफल के भीतर के बीज, मज्जा आदि की तरह स्वगत-भेद से वहाँ चित्-समसत्ता ही सर्गोत्पत्ति है यानी जब तक चिति रहेगी तब तक सृष्टि की उत्पत्ति होती रहेगी, यह वर्णित है, यों तात्पर्य का भ्रम न हो, इसलिए उसका तात्पर्य बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, फलसदृश चितितत्त्व के गर्भ में स्थित यह जगत् प्रसिद्ध स्वाप (अज्ञान निद्रा) से अन्य एक तरह से चिति का स्वाप ही है, वह क्रम से यानी युग, वर्ष आदि क्रम से चितिसत्ताद्वारा कल्पित सन्निवेश से (अवयव-विन्यास से) प्रवृत्त है और वह चिति की समसत्तावाला चिद्गत भेद स्वरूप नहीं है। तात्पर्य यह है कि जब तक चिद्रूपतत्त्व स्व-स्वरूप के ज्ञान से रहित है तब तक ही उसके गर्भ में सर्ग है, यह बतलाने के लिए अचेतन फल का दृष्टान्त दिया गया है ॥१॥

तब क्या चिति–तत्त्व से अन्य ही सर्ग है ? इस पर 'यह भी नहीं कहा जा सकता, यह कहते हैं।

चूँकि देश, काल क्रिया आदि भी अपने अधिष्ठानभूत चैतन्यमात्रस्वरूप ही हैं, अतः 'यह अन्य है', 'यह अन्य है' इस प्रकार की कल्पना यहाँ नहीं की जा सकती ॥२॥

तब क्या ये सर्ग आदि असत् ही हैं ? इस पर 'यह भी नहीं कहा जा सकता', यह कहते हैं।

निखिल शब्दों, उनके अर्थों, उनकी वासनाओं और तत्प्रयुक्त संकल्प–विकल्प आदि कल्पनाओं को जाननेवाला जब तीनों अवस्थाओं में (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति में) भी एकरूप होने के कारण सत्यस्वरूप है, तब 'यह सर्ग असत् ही है' यह भी कैसे कहा जा सकता है ? ॥३॥

इससे प्रातिभासिक अनुक्रमों के वैचित्र्य चिति के अधीन हैं, इस आशय से ही उसकी फलरूप से उत्प्रेक्षा की गई है, यह कहते हैं।

जैसे फल के भीतर वृक्ष, अंकुर आदि की रचना का अनुक्रम रहता है, वैसे ही चिति की अपनी चिद्घनरूप सत्ता अनाना और नानारूप होकर स्थित है ॥४॥

उनमें अनानात्व आदि अंश ही प्रथम होने से सत्य हैं, यह कहते हैं।

वह चिति अद्वितीय होने पर भी नाना–सी है और क्षोभरहित होती हुई भी क्षुब्ध–सी है। जैसे फल के भीतर विद्यमान अंकुर, मज्जा आदि की फल से अतिरिक्त सत्ता नहीं है, वैसे ही इस चिति के भीतर विद्यमान जगद्–रूप सिद्धियों की अतिरिक्त सत्ता नहीं है ॥५॥

शिलाख्यान का तात्पर्य दिखलाते हैं।

'शिलान्तःसन्निवेशवत् जगत्' (शिला के भीतर चित्रित कमल आदि की नाईं यह जगत् दीखता है) यह जो कहा गया है, उसका भी एकमात्र तात्पर्य यही है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर की नाईं चिति का अपना रूप ही प्रतिबिम्बित होता है, जो कि वास्तव में प्रतिबिम्बित भी नहीं होता ॥६॥

अथवा जैसे चिन्तामणि में चिन्तकों के सभी मनोरथरूप फल विद्यमान रहते हैं, वैसे ही चिति में मायिक अनन्त शक्तियों के रहने के कारण यह सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है, यों उसका तात्पर्य लगाना चाहिए, यह कहते हैं।

जिस प्रकार चिन्तामणि में चिंतकों के अनन्त फल पर्याप्तरूप से समर्पित रहते हैं, उसी प्रकार परमचितिस्वरूप मणि में सौ करोड़ जगत् भी रहते हैं ॥७॥

किंवा, मोती के सीप के संपुट में कल्पित विकाररूप अंशांशिभाव से जैसे मोती रहते हैं, वैसे ही चिति में भी कल्पित अंशांशिभाव से जगत् रहता है, यह तात्पर्य है, ऐसा कहते हैं।

चितिरूप मुक्ता–कोष में ही यह विस्तृत जगत्–रूपी मोती उसी के गर्भ में मानों उत्पन्न होकर उसके अंशरूप होता हुआ भी अन्य–सा भासता है ॥८॥

जैसे सूर्य अपने में ही स्व–स्वरूपाविर्भावरूप दिन एवं स्व–स्वरूपतिरोभावरूप रात्रि का विभाग करता है, वैसे ही चितिरूप मणि–शिला भी जगदात्मक द्रव्यों का स्वसंवेदनरूप (स्वानुभवरूप) प्रकाश एवं स्व–असंवेदनरूप अप्रकाशन अपनी आत्मा में ही करती है, इस अर्थ में उसका तात्पर्य है, यह कहते हैं।

दैदीप्यमान यह चितिरूप सूर्य अनुभव और अननुभव रूप दिन–रात का विभागकर जगद्रूप द्रव्यों

को भलीभाँति प्रकाशित कर रहा अपनी आत्मा में ही स्थित है ॥९॥

अथवा, समुद्र के भीतर स्थित आवर्त (भँवर), तरंग आदि स्पन्द–भेद जैसे समुद्ररूप ही हैं, वैसे ही चिति के भीतर स्थित जगत् आदि भेद एकमात्र चितिरूप ही हैं, यों तात्पर्य जानना चाहिए, यह कहते हैं।

समुद्र के गर्भ में स्थित आवर्त, तरंग आदिरूप जलस्पन्दन के विलास की नाईं और शिला के भीतर खोदे गये कमल की नाईं अद्वितीय ही यह चिति जगद्रूप से नाना भासती है। तात्पर्य यह है कि वह जगदादि भेद चितिरूप ही है ॥१०॥

अथवा, वर्तमानकालीन सृष्टि और अतीत एवं अनागतकालीन (भूत एवं भविष्यत्कालीन) सृष्टि की परस्पर समानता होने से उनकी एकमात्र चैतन्यरूपता के प्रदर्शन में ही उसका तात्पर्य है, यह कहते हैं।

जो वर्तमानकालिक जगत् है, वह चिति में एक तरह से मानों पाषाण–शिला में खुदी गई प्रतिमा के सदृश है। और जो जगत् वर्तमानकाल में नहीं है यानी भूत एवं भविष्यत्कालिक जो जगत् है, वह एक तरह से मानों चिति में पाषाणशिला में न खुदी गयी प्रतिमा के सदृश है ॥११॥

इसी प्रकार बिल्वाख्यान का भी जगत् की चिन्मात्रसारता में ही तात्पर्य है, इस आशय से कहते हैं।

भावपदार्थ एवं अभावपदार्थ में जो सत्यभूत चिनि–तत्त्व है, वह मज्जासदृश ही है। बिल्व आदि पदार्थों की जो शोभा है, उसका तत्त्व मज्जा ही है, इसलिए वह जगत् आदि मज्जामय ही है ॥१२॥

अथवा पद्म आदि शब्दों और उनके नाना अर्थों को शिलोदर से पृथक् करने पर जैसे उनकी कुछ भी सत्ता नहीं रहती, वैसे ही जगत् आदि नाना विकल्पों को चिति से पृथक् करने पर उनका अस्तित्व कुछ भी नहीं रहता, यों तात्पर्य जानिए, यह कहते हैं।

कमल आदि शब्द और उनके अनेक अर्थ शिलोदर को छोड़कर जैसे नाना–से प्रतीत होते हैं, वास्तव में शिलोदर से उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, वैसे ही अद्वय चितिशिला को छोड़कर यह जगदादिशब्द और उनके अर्थ नाना–से भासते हैं; वास्तव में चितिशिलोदर से पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है, किंतु चितिशिलामय ही है ॥१३॥ यदि चिति से अविभक्तस्वरूप ही यह जगत् आदि है यानी इसे चिति से पृथक् नहीं करते तो नाना होने पर भी एकमात्र चिति–शिला के भीतर स्थित हुआ वह (जगत्) चैतन्यात्मा की एकता से उस प्रकार अद्वितीय हो जाता है, जिस प्रकार प्राकृत शिला के भीतर का पद्म–बिम्ब ॥१४॥ श्रीरामजी, मरु–मरीचिका मृग की दृष्टि में निर्मल जल–राशि ही है और 'यह स्थल ही है' यों विवेक–बुद्धिवाले विद्वानों की दृष्टि में तो वह सूर्य का प्रकाश ही है। वहाँ जैसे सत्स्वरूप ही प्रकाश आदि असत् जल–राशि आदिरूप से भासते हैं, वैसे ही सद्रूप चितिस्वभाव आप भी असत् जगत आदिरूप से भासते हैं। परमार्थतः सद्रूप आप असत् जगद्रूप नहीं हैं ॥१५॥ जिस प्रकार समुद्र मध्य में द्रवत्व होने से भलीभाँति प्रस्पन्दित (संचलित) होता है, उसी प्रकार स्पन्दरहित भी चितिशिला का मध्य कल्पना से उन्मुख होकर संचलित–सा (स्पन्दित–सा) होता है ॥१६॥

तब जैसे वहाँ पद्म आदि शिलामय प्रतीत होते हैं, वैसे ही जगत् के शंख, पद्म आदि भी चिन्मय प्रतीत क्यों नहीं होते ? इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, कमल आदि पदार्थों से युक्त इस जगत् को चिति-शिला के भीतर ही स्थित जानिए। चिति-शिला के भीतर रहनेवाले ये शंख, पद्म आदि के संघात परमार्थतः चिन्मय होने पर भी अविद्यावश अचिन्मय-से भासते हैं ॥१७॥

दृष्टान्तरूप से कही गयी प्राकृत शिला भी परमार्थ-दृष्टि से चिति-शिला का उदर ही है यानी चितिरूप ही है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, यह दृष्टान्तरूप से कही गयी महाशिला भी चिद्घन में स्थित शिलोदर है यानी चितिरूप ही है। (चूँकि उसके चितिरूप होने से शिल्पकार के हजार प्रयत्न करने पर भी उसमें छिद्र आदि की संभावना नहीं है, इसलिए) छिद्ररहित, अद्वितीय निर्मल, नित्य और शांतस्वरूप वह मिथ्या सन्निवेश की नाईं भासती है ॥१८॥

जिस प्रकार 'शरत्-काल तपता है', 'अमृत टपकानेवाला सोम स्फुरित हो रहा है' यों एकमात्र कालस्वरूप सूर्य और सोम में अवान्तर भेदों की कल्पना द्वारा क्रिया-कारणभाव से व्यवहार होता है, उसी प्रकार 'ब्रह्म जगत् को प्रकाशित करता है', 'वह (ब्रह्म) जगद्रूप से स्फुरित हो रहा है' यह व्यपदेश भी होता है, ऐसा कहते हैं।

'निर्मल यह ब्रह्म इस जगत् को प्रकाशित करता है' ऐसा जो व्यवहार होता है, वह शरत्काल की तरह है यानी 'शरत्-काल प्रकाशित करता है' इस व्यवहार के अनुसार ही होता है। और 'यह ब्रह्म जगद्रूप से स्फुरित होता है' यह भी जो व्यवहार होता है, वह नयनानन्दकारी अमृतद्रुत सोम के समान है यानी 'अमृत टपकानेवाला सोम स्फुरित होता है' इस व्यवहार के अनुरूप ही है ॥१९॥

ऐसी स्थिति में 'जगद्रूप से यह जगत् मानों सदा नष्ट है' अथवा 'ब्रह्मरूप से मानों सदा स्थित है' ऐसी उत्प्रेक्षा कर सकते हैं, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शिला-कमल कमलरूप से नित्य ही असत् है, वैसे ही वासनामात्रस्वरूप होने से सुषुप्ततुल्य यह जगत् भी अपने जगद्रूप से ब्रह्म में नहीं है यानी असत् है एवं ब्रह्मरूप से सत् भी है, (क्योंकि) जिस प्रकार ब्रह्मत्व ब्रह्म में स्थित रहता है, उसी प्रकार यह जगत् भी ब्रह्मरूप होने से ब्रह्म में स्थित है ॥२०॥

चिदात्मरूप से जगत् का अस्तित्व मानने पर 'जगत्' और 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ में भेद नहीं है, यह कहते हैं।

जिस तरह 'तरु' और 'पादप' (वृक्ष) शब्द के अर्थ में भेद नहीं है, उसी तरह 'जगत्' और 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ में भी भेद नहीं है, क्योंकि यहाँ जो जगत् दीख रहे हैं, वे सब चिदात्मा से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं हैं ॥२१॥ चिति के स्वरूप की नाईं जगत् के भी भाव, अभाव आदि विकार कभी नहीं होते, क्योंकि जिस प्रकार मरु-मरीचिका जलरूप से भासती है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगद्रूप से भासता है ॥२२॥ श्रीरामभद्र, चूँकि-जैसे धूप से बर्फ आदि केवल जलरूप ही हो जाते हैं, वैसे ही मेरु आदि अत्यंत स्थूल-पदार्थ भी तत्त्व-दृष्टि से देखने से शुद्धत्व एवं अस्थूलत्व आदि धर्मयुक्त ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं-इसलिए तृण, गुल्म आदि से लेकर ब्रह्माण्डान्त बाह्य-जगत् का और चित्त से लेकर हिरण्यगर्भान्त आन्तर जगत् का जो, जल के सदृश उत्तरोत्तर परमसूक्ष्मतम

भूतसूक्ष्म से अव्याकृत अक्षर तक के विभाग द्वारा, अंत में रूप अवशिष्ट रहता है; वही परब्रह्म है, यों ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं ॥२३॥

विचार करने पर स्थूल पदार्थ भी एकमात्र सूक्ष्मरूप ही हो जाते हैं, इसमें युक्ति बतलाते हैं।

पंचीकृत मेरु, तृण आदि स्थूल–भूत अपंचीकृत सूक्ष्म–भूतों का समूह ही है और अपंचीकृत भूत तो चित्त ही है, यों जोरों से यानी दृढ़ता से क्रमशः विचार करने पर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। जो सूक्ष्म वस्तु में साररूप से अनुभूत होता है, वह निश्चय स्थूल वस्तु में सारतररूप से अनुभूत होता है ॥२४॥

इसीलिए जल–परमाणुगत रसशक्ति जिस प्रकार स्थूल–जल में प्रत्यक्षगोचर होती है, उसी प्रकार घट आदि में ब्रह्म–सत्ता भी प्रत्यक्षगोचर होती है, यह कहते हैं।

हे पापशून्य श्रीरामजी, परमाणुरूप से विद्यमान रसस्वरूपा जलशक्ति स्थूल जल में स्थित होकर जैसे प्रत्यक्ष विषय होती है, वैसे ही जगत् के स्थूलपदार्थों में स्थित होकर ब्रह्मशक्ति भी प्रत्यक्ष विषय होती है ॥२५॥

स्थूल पदार्थ के वैचित्र्य से सत्ता के अवान्तर धर्मरूपों से ही सत्ता का जो वैचित्र्य होता है, उसमें भी ऐसे दृष्टान्तों की कल्पना की जा सकती है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे तृण, गुल्म आदि पदार्थों में स्थित नाना जलों में पदार्थों के वैचित्र्य से रसशक्ति नानारूपों से उदित होती है, वैसे ही वही ब्रह्मरूपता नानारूपों से उदित होती है ॥२६॥ नील, पीत आदि चित्र–विचित्र रूपों में जो यह आलोक परमाणुता यानी सूक्ष्मभूत सत्ता है, वह ब्रह्मसत्तारूप ही है। ब्रह्मसत्ता भी इन घटादिव्यक्तियों के गुण, गुणी आदिस्वरूप अवान्तर विजातीयता की सिद्धि के लिए उपयुक्त सत्तारूप हो जाती है ॥२७॥

जैसे आविर्भाव–दशा में कार्यरूप से कारण ही स्थित रहता है, वैसे ही तिरोभावदशा में कारणस्वरूप से कार्य भी स्थित ही रहता है, यह भी दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं।

सर्वथा तिरोभाव–दशा में मायाशबलित चिति में और अर्ध–तिरोभाव–दशा में चित्त में, जो कि स्थूल–कार्यों के अभिव्यंजकस्वरूप है, मेरु आदि स्थूल–कार्यों का समूह उस प्रकार स्थित है, जिस प्रकार मोर के उपादान–कारणरूप अण्डे के रस में चित्र–विचित्र मोरपंखों का समूह एवं कठिनता स्थित रहती है ॥२८॥ जिस प्रकार मोर के अण्डे के रस में चित्र–विचित्र पंखों का समूह भासता है, उसी प्रकार जगत् के अभिव्यंजनस्वरूप चिति–तत्त्व में भी नानारूपता भासती है ॥२९॥ जैसे मोर के अण्डे का रस और मोर–पंख काल्पनिक भेद–दृष्टि से भिन्नरूप भासते हैं, वैसे ही जगत् और ब्रह्म भी काल्पनिक भेद–दृष्टि से भिन्नरूप भासते हैं, वास्तव में जगत् ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥३०॥

ऐसी स्थिति में जैसे वहाँ (मयूराण्डरसरूप दृष्टान्त–स्थल में) कल्पित भेद वास्तव में अभेद का विरोधी नहीं है, वैसे ही यहाँ (दार्ष्टान्त–स्थल में) भी समझना चाहिए, यह कहते हैं।

जिस तरह वह मोर के अंडे में रसात्मक मयूर कल्पित नानारूप होने पर भी परमार्थतः एकरूप होने से द्वैताद्वैतात्मक होता है, उसी तरह ब्रह्मात्मक जगद्भ्रम भी कल्पित नाना रूप होने पर भी परमार्थतः एकरूप होने से द्वैताद्वैतात्मक है ॥३१॥ तब क्या ब्रह्म द्वैत एवं अद्वैत दोनों रूप है ? ऐसी शंका पर कहेंगे कि उसके दोनों रूप मानने में कोई आपत्ति नहीं दी जा सकती; क्योंकि जैसे ब्रह्म सत्यरूप है और

जगत् भ्रमरूप है, वैसे ही उसका द्वैत एवं अद्वैत रूप भी हो सकता है। ऐसा मानने से कोई विषमता भी नहीं आ सकती, क्योंकि जैसे सत्ता की समता में (सत्तासामान्यरूप में) सत् एवं असत् की अवस्थिति होती है, वह कहा ही जा चुका है। (इस पर कोई शंका करें कि विषमता का परिहार करने के लिए आप सत्ता की समता में ही अवस्थान क्यों मानते हैं, क्योंकि अभावमात्रता आपत्तिरूप शून्यता मानने पर भी विरोध का परिहार हो सकता है ? तो इस पर कहते हैं।) चूँकि अभाव का (असत् का) निरूपण भी सत्पदार्थ के बिना नहीं हो सकता, इसलिए सत्-असत् दोनों का तत्त्व सद्वस्तुरूप भाव में ही पर्यवसित है, न कि शून्यरूप में। और उस भाव को यानी सद्रूप में पर्यवसित को आप परब्रह्म ही जानिए ॥३२॥ और उस तत्त्व का स्वरूप, अद्वितीय होने के कारण, भिन्न एवं अभिन्न स्वभाव से अनुभूत जगत् हो नहीं सकता यानी वस्तुतः वह अनुपपन्न ही है। *(इस प्रकार उक्त जगद्रूपता की अनुपपत्ति होने पर भी मयूराण्डरस के दृष्टान्त से ही एकरूपता लानी चाहिए, इस आशय से कहते हैं।)* जैसे आप मयूराण्ड में रस और मयूर एकरूप और नानारूप देखते हैं, वैसे ही चैतन्य और जगदात्मक माया को एकरूप और नानारूप देखिए ॥३३॥ श्रीरामजी, जैसे जगत् में चैतन्यात्मक तत्त्व अनुस्यूत है, वैसे ही मयूर में मयूराण्डरस भी अनुस्यूत है और जैसे चिति-तत्त्व में जगत् लीन है, वैसे ही मयूराण्डरस में मयूर भी लीन है, यह आप देखिए। वह नानारूप भी है और अनानारूप यानी एकरूप भी है ॥३४॥

उपमा द्वारा कहे गये अर्थ को रूपक से एकीकरण कर दिखलाते हुए भेद का निरास करते हैं।

अनेकविध पदार्थ-भ्रमरूप पंखों से परिपूर्ण आद्य ब्रह्म-चिति ही जगद्रूप मोर के अण्डे का रस है। उसमें भासनेवाली मयूरस्वरूप जगदात्मक जो वस्तु है, उसे तो मयूर भिन्न सत्तास्वरूप परमार्थवस्तु ब्रह्म जानिए। वहाँ भेद का अवसर ही कहाँ है ? ॥३५॥

सैंतालीसवाँ सर्ग

अड़तालीसवाँ सर्ग

कल्पित जगत् में जिसकी सत्तास्फूर्ति और आनन्द प्रतिबिम्बित होते हैं,
सच्चिदानन्दघन उस ब्रह्म का असाधारणरूप से वर्णन।

मयूराण्ड-रस के दृष्टान्त से किसी को यह भ्रम न हो जाय कि जिसके गर्भ में जगद्रूप वैचित्र्य तिरोभूत है, ऐसा चित् और अचित् से संवलित, बीजशक्ति से युक्त अव्याकृत ही परमतत्त्व यानी ब्रह्म है, उससे ऊपर कोई दूसरा शुद्ध-तत्त्व नहीं है-इसलिए निर्विशेष भूमानन्दरूप जगत् के उस अधिष्ठान का असाधारणरूप से परिचय कराने के लिए महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, मयूराण्ड के भीतर मयूर की नाईं पूर्व में वर्णित भीतरी अहंता आदि और बाह्य दिशा आदिरूप यह सब व्यापक जगत् जिस शुद्ध पदार्थ में तीनों काल में भी अनुत्पन्नस्वरूप होकर स्थित है। *(वही तत्त्व मेरे द्वारा दिये गये मयूराण्डरस-दृष्टान्त के तात्पर्य का विषय है, न कि मायाशबल अव्याकृत, यह आप जानिए।)* ॥१॥ जहाँ पर परमार्थतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है, उसी में मायावश बाह्य, आन्तर आदि सब जगत् रहता है। और इस देह में भी वही तत्त्व अंगों का रसरूप प्राण होकर स्वर्ग आदि वैषयिक सुखों के सार से (चित्त-वृत्तियों के भेद से होने वाले

विचित्र भोगों के आकार से), स्फटिक, दर्पण आदि में चन्द्रबिम्ब की नाईं, निरतिशय आनन्द के अस्तित्व का अनुमान कर लेना चाहिए ॥२॥

उस तत्त्व के सद्भाव में सर्वसाधारणरूप से अनुमानप्रमाण बतलाकर अब विद्वानों का अनुभवरूप प्रमाण भी कहते हैं।

अपने आत्मस्वरूप भूमानन्द का आस्वाद ले रहे मुनि, देवता, गण, सिद्ध और महर्षि लोग सर्वदा तुरीय पद में स्थित हैं ॥३॥

तब सभी लोग क्यों उसका अनुभव नहीं करते ? यदि ऐसी शंका हो तो उसका समाधान यह है कि दृश्य और दर्शन के (इन्द्रियों के) सम्बन्ध से तथा प्राणस्पन्दन से जनित विक्षेप होने से उसका अनुभव नहीं करते। अतएव उन दोनों प्रतिबन्धकों का परिहार करने के लिए योगी लोग नासिका के अग्रभाग में निरुद्ध दृष्टि तथा प्राणनिरोध में तत्पर दिखाई देते हैं, यह कहते हैं।

निमेषरहित वे योगीजन, जिनके नेत्रगोलक तथा तद्‌गत इन्द्रियाँ स्थिर हैं, दृश्य एवं दृष्टि के सम्बन्धत्यागप्रयुक्त स्पन्द–त्याग के लिए सन्नद्ध हैं ॥४॥

यह तो उनके लिए कहा गया है, जो छठी आदि भूमिकाओं में नहीं पहुँचे हुए हैं। छठी और सातवीं भूमिका में पहुँचे हुए योगी लोग तो व्यवहार करते हुए भी पूर्व भूमिकाओं में प्राप्त हुए योगियों के समान आत्म–सुख का सर्वदा ही स्वाद लेते हैं, यह कहते हैं।

व्यवहार में निरत भी छठी आदि भूमिकाओं में स्थित जो लोग बाह्य विषयों में सत्यता की भावना तनिक भी नहीं करते, पूर्व भूमिकाओं में स्थित जो पुरुष विषयेन्द्रिय–सम्बन्धों के परित्यागरूप समाधि में निरत हैं, चित्रलिखित देहधारियों की नाईं जिनका प्राणस्पन्द नहीं होता और चित्रलिखित देहधारियों की नाईं जिनका मन भी गतिशील नहीं रहता; वे सब उस अपने भूमानन्दपद में जिसमें कि चित्त एवं चेत्य की आसक्ति का त्याग है–समान रूप से स्थित हैं ॥५, ६॥ जैसे जगदीश्वर भीतर सर्वदा ही अपने स्वरूपानन्द में स्थित होता हुआ भी बाहर माया द्वारा जगत् की व्यवस्था का पालन करता है; वैसे ही षष्ठादि भूमिकाओं में पहुँचे हुए योगीजन भीतर ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति–धारारूप स्पन्द से उसी अंश द्वारा निरतिशय आनन्द का आस्वादनस्वरूप परमपुरुषार्थ जिस प्रकार साधते हैं, उसी प्रकार बाहर भी चित्त, चेत्य आदि के स्पन्दन से व्यवहार–मर्यादा को चलाते ही हैं ॥७॥ उन लोगों के व्यवहार में बाह्य विषयों में बुद्धिवृत्तियों का संगम होने पर भी त्रिपुटी में अभिव्यक्त हुआ निरतिशय आनन्दरूप आत्मा उस प्रकार आह्लाद पहुँचाता है, जिस प्रकार चन्द्रकिरणें वृक्षों के पल्लवों के भीतर घुसकर आह्लाद पहुँचाती हैं। इससे ज्ञानी का समस्त व्यवहार सुखरूप ही है, यह भाव जानना चाहिए ॥८॥

उन महात्माओं का भीतरी स्वरूपसुख तो सुतरां विक्षेपरहित है, इस विषय में भी दृष्टान्त बतलाते हैं।

चन्द्ररूप बिम्ब से दूर तक फैली हुई तथा दीवार में अपतित, शुद्ध आकाश प्रदेश में रहनेवाली चन्द्रमा की ज्योत्स्ना का जो रूप है, वही परमात्मा के विक्षेपरहित आह्लाद का रूप है, उपर्युक्त योगी महात्मा उसी रूप का अनुभव करते हैं ॥९॥ आत्मा का वह शुद्ध चिद्रूप न तो दृष्टि का विषय है और न उपदेश के ही योग्य है, न तो अत्यन्त समीप है और न दूरवर्ती ही है; किंतु केवल योगियों के अनुभव से ही गम्य है ॥१०॥

वही रूप देह आदि समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त आत्मतत्त्व है, यह कहते हैं।

शुद्ध चिदात्मा का अनुभवगम्य वह रूप न देहस्वरूप है, न इन्द्रिय एवं प्राणरूप है, न चित्तस्वरूप है न वासनारूप है, न जीवरूप है, न स्पन्दस्वरूप है, न ज्ञानरूप है और न जगद्रूप ही है ॥११॥ वह रूप न सद्रूप है, न असद्रूप है और न सत् एवं असत् के मध्यवर्ती यानी अनिर्वचनीय ही है। वह न तो शून्यस्वरूप है और न अशून्यस्वरूप ही है। वह देश, काल एवं वस्तु से जनित परिच्छेद आदिरूप भी नहीं है, किंतु ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं है ॥१२॥ उपर्युक्त देह आदि समस्त पदार्थों से ब्रह्म विनिर्मुक्त है और अनन्त भूत एवं भावी देह-कोशों से युक्त चित्त में जिसके रहने पर यह दश्य जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदिरूप से स्पन्दित होता है, वह सन्मात्रस्वरूप आत्मपद (ब्रह्म) ही है, दूसरा नहीं, यह संभावित है ॥१३॥

इसी प्रकार कार्य-कारण से विलक्षण उसकी संभावना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

वह ब्रह्म न महाकल्प के आदिकाल में विद्यमान अव्याकृत नामक कारणरूप है और न प्राकृतादि प्रलयस्वरूप ही है। सृष्टिकाल में भी इहलोक अथवा परलोक में वायु, अग्नि आदि से जनित शोषण, दहन, क्लेदन, भेदन आदि विकारों से कहीं भी सद्रूप से च्युत न होने के कारण वह सविकारवस्तुरूप और विकाररूप भी नहीं है ॥१४॥

यदि शंका हो कि देहादि विकारों से उसमें अनुगत सद्रूप ब्रह्म का भी विकार क्यों नहीं होता ? तो इस पर कहते हैं।

ये हजारों देहरूप घड़े उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं, किंतु बाहर एवं भीतर व्याप्त इस आत्मस्वरूप आकाश का खण्डन यानी नाश नहीं होता ॥१५॥

तब क्या देह आदि ब्रह्म से पृथक् हैं ? इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, वह देहादि सम्पूर्ण जगत् आत्मरूप ही है, वह एकमात्र बोध की विरूपता से यानी भ्रमात्मक ज्ञान से ही किंचित् पृथक्-सा स्थित भासता है, यह आप जानिए ॥१६॥

श्रीरामचन्द्रजी, चारों ओर से श्रवण, मनन आदि उपायों से परिष्कृत बुद्धि से आपने यह विश्व आत्मस्वरूप है, यह जान लिया है ॥१७॥

इसीलिए व्यवहार करते हुए भी आप निर्विकार आत्मा के दर्शन से (साक्षात्कार से) नित्यमुक्तस्वरूप होते हुए स्थित हो जाइए, यह कहते हैं।

अतएव अपने राज्य शासन के योग्य व्यवहारों में दीप्ति सम्पन्न होते हुए भी आप शांत एव ममताशून्य हो जाइए। स्थावर एवं जंगम स्वरूप जो कुछ यह जगत् दीखता है, वह सब धर्मशून्य, गुणरहित, निर्मलस्वरूप, निर्विकार, आदि एवं अंत से रहित, सर्वदा शांत तथा समस्वभाव ब्रह्मरूप ही है, यह जानिए ॥१८,१९॥ श्रीरामजी, 'काल, क्रिया, करण, कर्ता, कारण, कार्य, जन्म, स्थिति, प्रलय, स्मरण आदि सब जगत् ब्रह्म ही है' इस प्रकार आत्मदृष्टि से देख रहे आपका क्या फिर भी संसार में भ्रमण हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता; क्योंकि आप वस्तुतः समंग (सम ब्रह्म) ही हैं यानी सदा ही अविषम ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त कर चुके हैं ॥२०॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

विकारों से विवर्त में विलक्षणता, प्रबोध के अभाव से अविद्या की स्थिति और
प्रबोध हो जाने पर अविद्या का अभाव-इनका वर्णन।

विकार और कार्य से स्वरूपतः विवर्त में भेद की जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, नित्य निरतिशय वृद्धि से युक्त यानी त्रिविध परिच्छेदों से शून्य ब्रह्म में यदि विकार और आरम्भ नहीं हैं तो भाव और अभाव स्वरूप इस संसार का भान कैसे होता है ? ॥१॥

कारण में कार्य की उत्पत्ति पाँच प्रकार की होती है, १-पहली में पूर्वावस्था तिरोहित नहीं होती, २-दूसरी में पूर्वावस्था प्रतिबद्ध हो जाती है, ३-तीसरी में पूर्वावस्था छिप जाती है, ४- चौथी में पूर्वावस्था छिप नहीं जाती और ५-पाँचवी में पूर्वावस्था विनष्ट हो जाती है। इनमें प्रथम-मिट्टी आदि में घड़े आदि की उत्पत्ति, द्वितीय-जल में हिमोत्पत्ति, तृतीय-रज्जु में सर्पोत्पत्ति, चतुर्थ-जल में तरंगोत्पत्ति और पंचम - दूध में दही की उत्पत्ति समझनी चाहिए। इनमें केवल अन्तिम ही जन्मादिभावविकार और परिणाम स्वरूप है, अवशिष्ट चार तो विवर्त के ही भेद हैं; इस आशय से महाराज वसिष्ठजी पहले-पहल विकार का लक्षण बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : तात, दूध आदि में दही आदिरूप जो कार्य पुनः दूध आदिरूप अपनी पूर्वावस्था से रहित तथा दूध आदि के स्वरूप से विपरीत रहते हैं, वे ही विकार, संस्कार और परिणाम आदि शब्दों से कहे जाते हैं॥२॥ दही बन जाने से दूध पुनः अपनी पयोरूपता में (दूधरूप पूर्वावस्था में) नहीं आता। *परब्रह्म में तो जगद्रूप कार्य विधर्मी होने से विकारादि शब्दवाच्य नहीं हैं, यह कहते हैं।* आदि, मध्य और अंत किसी भी दशा में ब्रह्म तो निर्विकार ब्रह्मरूप ही अवगत होता है ॥३॥ इससे दूध आदि के समान ब्रह्म में विकारिता नहीं है। *(जैसे परमाणुओं से द्व्यणुक आदि अवयवियों का आरम्भ होता है, वैसे ही यहाँ पर भी मान लिया जाय तो इस पर कहते हैं।)* आदि और अंत के विभाग से रहित ब्रह्म में यह अवयवी का आरम्भ-क्रम भी नहीं हो सकता। आदि एवं अंत रूप देशकृत परिच्छेद तथा क्रिया, संयोग, विभाग आदि से युक्त अवयवों में ही अवयवियों का आरम्भ-क्रम (📖) होता है, न कि उनसे विलक्षण ब्रह्म में यह भाव है ॥४॥

तो परिशेषात् यह सिद्ध हुआ कि जगत् ब्रह्म का विवर्त ही है, यही उसके लक्षण से दिखलाते हैं।

(📖) इससे वैशेषिक-मत में स्वीकृत आरम्भकत्व का लक्षण भी सूचित किया गया है। वे उसका इस प्रकार लक्षण कहते हैं- अनेक संयुक्तों या समवेतों का अपने में या अपने आश्रय में समवेत (समवायसम्बन्ध से विद्यमान) पदार्थों में समवायसम्बन्ध से किसी एक कार्य के प्रति जनक होना ही आरम्भकत्व है। जैसे पटात्मक कार्य का तंतु आरम्भक है। वहाँ संयुक्तद्रव्यभूत तन्तु अपने में समवाय सम्बन्ध से पटात्मक कार्य का जनक है। तंतु का रूप पटगत रूप का आरम्भक है। तंतुरूपाश्रय तंतु में समवेत पट में समवायसम्बन्ध से पटगतरूप के प्रति तंतु का रूप जनक है। इसी आशय को लेकर महर्षि कणाद ने यह सूत्र रचा है- 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (अवयवभूत द्रव्य अवयविभूत द्रव्यों के आरम्भक हैं और अवयवगत गुण अवयविगत गुणान्तरों के आरम्भक हैं)।

श्रीरामचन्द्रजी, समस्वरूप ब्रह्म का आदि और अंत में जो क्षणभर के लिए विकार (अन्यथाभाव) दिखलाई पड़ता है, उसे आप संवित् का संभ्रम (विवर्त) ही जानिए, क्योंकि अविकारी ब्रह्म में कोई विकार नहीं हो सकता (निष्कर्ष यह निकला कि आदि और अंत सभी दशाओं में एकरूप से रहनेवाले ब्रह्म में उसका स्पर्श न करनेवाली विषमता का प्रतिभास ही विवर्त है) ॥५॥

ब्रह्म में वैषम्य–संस्पर्श का अभाव दिखलाते हैं।

उस ब्रह्म में न तो संवेद्य (विषय) विद्यमान रहता है और न संवित्ति ही विद्यमान रहती है यानी ब्रह्म में दृश्य–दर्शन का तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्धरहित होने पर भी 'निःसम्बन्ध', 'चिदात्मा' आदि शब्दों की नाईं वह 'ब्रह्म' शब्द से भी कहा गया है ॥६॥

मध्य में ब्रह्म का विकार से स्पर्श नहीं होता, यह कैसे मालूम पड़ता है ? ऐसी यदि कोई शंका करे तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि आदि और अंत में विकार स्पर्श न करने का जो स्वभाव निश्चित है, वही मध्य में भी विकार के असंस्पर्श में हेतु है, यह कहते हैं।

आदि और अंत में जिस स्वरूप की वस्तु विद्यमान रहती है, उसी स्वरूप की वह कही जाती है। यदि मध्य में उसकी अन्यरूपता दिखलाई पड़ती है, तो वह केवल अज्ञान के कारण ही दिखाई देती है ॥७॥

स्वप्रकाशस्वभाव होने से आत्मा में तो समता सर्वानुभव सिद्ध है, अतः उसमें अनात्मरूपता की तनिक भी संभावना नहीं है, यह कहते हैं।

आत्मा तो आदि, अन्त और मध्य में सर्वत्र सदा एकरूप है। स्वस्वरूप आत्मतत्त्व कभी भी विषमभाव को प्राप्त नहीं होता ॥८॥ नीरूप, एक तथा नित्यस्वरूप होने के कारण यह परब्रह्म परमात्मा भावविकारों के वश में कभी भी नहीं जाता ॥९॥

चित्प्रकाशैकरस ब्रह्म में उससे विरुद्ध स्वभाववाली अविद्या की भला कैसे प्रसक्ति हो सकती है, जिससे कि उसमें जगद्रूप विवर्त की सिद्धि हो, यों ज्ञानियों की दृष्टि से श्रीरामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, निरंतर एकरूप तथा अत्यंत निर्मलस्वरूप सदात्मक ब्रह्म में चिति–भ्रमरूप अविद्या का आगमन ही कैसे होगा ? ॥१०॥

हम ब्रह्म में अविद्या का सद्भाव ज्ञानियों की दृष्टि से नहीं कहते, किंतु अज्ञानियों को ज्ञानी बनाने के लिए केवल कल्पना से वैसा कहते हैं, इस अभिप्राय से महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, विकाररहित, आदि और अंत से शून्य यह पूर्ण ब्रह्मतत्त्व पहले था, इस समय है और आगे चलकर भी रहेगा। अविद्या का तनिक भी अस्तित्व नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥११॥

'ब्रह्म' इस शब्द से वाच्य एवं वाचक का जो एक प्रकार से उपक्रम करते हैं, वहाँ पर भी हम अन्यरूपता का अस्तित्व नहीं कहते; किंतु उपदेश देने के लिए केवल इस क्रम की कल्पना करते हैं ॥१२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आप और मैं, यह संसार और दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी अथवा अग्नि आदि (जो कुछ भी आप देख रहे हैं, वे) सबके सब आदि और अंत से शून्य केवल ब्रह्ममात्र हैं, अविद्या तो तनिक भी नहीं है ॥१३॥ मुनि लोग 'अविद्या' इस नाम को ही भ्रममात्र और असद्रूप कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, जो विद्यमान ही नहीं है, भला वह किस तरह सत्य हो सकती है ? ॥१४॥

जब अविद्या का अस्तित्व ही नहीं है तभी तो आपने उपशम–प्रकरण में 'यथा भ्रान्तिरविद्येयं तथेत्थं च विचार्यते' – यों अविद्या का अस्तित्व स्वीकार कर कहा है । इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, कल के उपशम–प्रकरण में तो आपने कहा था कि मनुष्य को जैसी भ्रान्ति होती है, वैसी ही यह अविद्या है, इसका इस तरह मैं वर्णन करता हूँ ॥१५॥

वह तो आपकी अज्ञानता–दशा में आपकी बुद्धि के अनुसार कल्पना से मैंने कहा था । अब तो आप भलीभाँति प्रबुद्ध हो चुके हैं, इसलिए उस प्रकार की कल्पना करने का अब अवसर ही नहीं रहा; अतः पूर्वापर में कोई विरोध नहीं है, यह कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रघूद्वह, इतने काल तक आप अज्ञानी होकर स्थित थे । अब तो कल्पित इन अपनी युक्तियों से ही आप प्रबुद्ध हो चुके हैं ॥१६॥ श्रीरामचन्द्रजी, वेदरूप वाणी का रहस्य जाननेवालों में सर्वश्रेष्ठ विद्वानों ने 'यह अविद्या है और यह जीव है' इत्यादि कलना–क्रम की जो कल्पना कर रक्खी है, वह अज्ञानी जनों को बोध देने के लिए ही है ॥१७॥ जब तक मन प्रबुद्ध नहीं हो जाता तब तक अविद्या आदि शास्त्रीय व्यवहारों की कल्पना के बिना सैकड़ों आक्रोशों से भी वह प्रबोध को प्राप्त नहीं होता ॥१८॥ केवल एकमात्र युक्ति से ही बोध कराकर इस जीव को आत्मा में नियुक्त कर सकते हैं, क्योंकि जो कार्य युक्ति से सुसम्पादित होता है, वह सैकड़ों अन्य उपायों से भी नहीं होता । भाव यह है कि पुरुषों में असंभावना आदि जो अनेक दोष विद्यमान रहते हैं, उनका एकमात्र युक्तियाँ ही भलीभाँति निरसन कर देती हैं ॥१९॥

दोषों के विद्यमान रहते तत्त्वोपदेश देना व्यर्थ है, इस आशय से कहते हैं ।

अज्ञानी दुर्मति के सम्मुख 'यह सब कुछ ब्रह्म है' यों जो विद्वान् उपदेश देता है मानों वह अपना मित्र समझकर एक ठूंठे वृक्ष के समक्ष दुःखनिवेदन करता है ॥२०॥ मूर्ख युक्ति से प्रबोधित होता है और प्राज्ञ तत्त्व से । युक्ति से बोध कराये बिना मूर्ख प्राज्ञदशा को प्राप्त नहीं होता ॥२१॥ श्रीरामचन्द्रजी, इतने काल तक अप्रबुद्ध रहे आपको मैंने युक्तियों से प्रबोधदशा में पहुँचा दिया है । प्रबुद्ध हुए आप अब जिस प्रकार के उपदेश से बोधित किये जायेंगे, उसे आप सुनिए ॥२२॥

वही कहते हैं ।

मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म है, आप ब्रह्म हैं और यह दृश्य पृथिवी ब्रह्म ही है; ब्रह्म से पृथक् कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है । इसलिए जैसा आप चाहें वैसा ही कीजिए । ('यथेच्छसि' इससे यह सूचित होता है कि ऐच्छिक व्यवहार से वास्तविक ब्रह्मरूपता में कोई हानि नहीं पहुँचती) ॥२३॥ समस्त भ्रान्तियों के बाध की चरमसीमाभूत, लौकिक ज्ञान की अविषय महाचिति के स्वरूपभूत ही ये तीनों जगत् हैं । श्रीरामचन्द्रजी, अपने हृदय के भीतर इस जगत् और उस महासंवित् में एक प्रतीति से युक्त होकर सांसारिक कार्यों का सम्पादन कर रहे भी आप उनसे लिप्त नहीं हो सकते । इस विषय में यह श्रुति भी प्रमाण है–'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'॥२४॥ हे श्रीराघव, स्थित हो रहे, जा रहे, श्वास ले रहे तथा शयन कर रहे आप अपने हृदय में 'सर्वव्यापी चैतन्य प्रकाश स्वरूप यह परमात्मा

मैं ही हूँ' ऐसा अनुभव कीजिए ॥२५॥ हे श्रीराघव, यदि उत्तम रीति से आप अभिमान से शून्य, ममता से रहित और बुद्धिमान हैं तो सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित, सर्वोपद्रवशून्य, शांत, चिदेकरस ब्रह्मरूप हो जाइए ॥२६॥ सर्वव्यापी, एकरूप, शुद्ध संवित्स्वरूप हुए आप वह श्रुतिप्रसिद्ध, आदि और अन्त से रहित, प्रकाशात्मक परमपदस्वरूप होकर स्थित हो गये हैं ॥२७॥ ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति तथा जगत् आदिरूप से जो प्रसिद्ध पदार्थ हैं; वे सबके सब उस प्रकार अभिन्न सन्मात्ररूप हैं, जिस प्रकार सैकड़ों घड़ों में मिट्टी ॥२८॥ जैसे घट से मृण्मयता पृथक् नहीं है वैसे ही आत्मा से प्रकृति पृथक् नहीं है। और जैसे घट के अन्दर रहनेवाली मृण्मयता सद्रूप मृत्तिकामात्र है, वैसे ही प्रकृति में रहनेवाली सद्रूपता आत्ममात्र ही स्थित है ॥२९॥ जल के आवर्त की नाईं जो यह आत्मा का विवर्तन है, वही प्रकृति शब्द से कहा गया है और सन्मात्रस्वभाव से अपने विवर्त में वह आत्मा ही है, दूसरा नहीं ॥३०॥ जैसे वायु और उसका स्पन्दन एक ही पदार्थ हैं और नाम से दोनों भिन्न होते हुए भी सत्ता से वे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही आत्मा और प्रकृति ये दोनों एक हैं और नाम से भिन्न होते हुए भी वे सत्ता से भिन्न नहीं हैं ॥३१॥ जैसे अबोध से सन्मात्र सर्पभ्रम रज्जु में रूपान्तर को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही बोध न होने से इनमें भेद मालूम पड़ता है और वह भेद बोध से ही पुनः विलीन हो जाता है ॥३२॥ चिद्रूपी खेत में जो यह कल्पनारूपी बीज गिरता है, वही चित्तरूपी अंकुर होकर उससे स्फुरित होता हुआ भावी संसाररूपी जंगल का एक खण्ड तैयार हो जाता है ॥३३॥ आत्मज्ञान से दग्ध हुआ यही कल्पनारूपी बीज (चिद्रूपी खेत में) वासना रूपी जल से यत्नपूर्वक भलीभाँति सींचा गया भी अंकुर के उत्पादन में समर्थ नहीं होता ॥३४॥ यदि चिद्रूप खेत में कल्पनारूपी बीज न बोया जाय तो उससे उन चित्तरूपी अंकुरों की उत्पत्ति भी न हो, जिनसे आगे चलकर सुख–दुःखरूपी अनेक फल देनेवाले शरीररूपी वृक्ष बन जाते हैं ॥३५॥

प्रस्तुत उपदेश–रहस्य का उपसंहार करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि आप ज्ञान प्राप्त कर चुके है, इसलिए जगत् में भ्रांति से गृहीत असत् द्वित्व का (भेद का), जो अज्ञान से जनित और ज्ञान से विनाशी है, आप परित्याग कर दीजिए। भद्र, अब आप आत्मैकत्वरूप निरतिशयानन्दरूपी विभव से अभयात्मा हो जाइये। आपमें तो तीनों काल में भी दुःख है ही नहीं, यही हमारा उपदेश है ॥३६॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त

पचासवाँ सर्ग

कल्पना द्वारा जीव में लिंगदेहात्मक पुर्यष्टक की (सूक्ष्मशरीर की) उत्पत्ति तथा इन्द्रियों से उसके बाह्य विषयों का ग्रहण-क्रम- इनका वर्णन।

यद्यपि 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इस श्रुति के अनुसार श्रीरामजी के सभी संशय तत्त्वसाक्षात्कार से नष्ट हो चुके थे; तथापि दूसरों के उपकार के लिए– दूसरों को जिस विषय में संशय है – उसे पूछने की इच्छा कर रहे श्रीरामभद्र पहले अपना अनुभव विशेषकथनपूर्वक दिखलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, मैंने निखिल ज्ञातव्य (जानने योग्य) पदार्थ जान लिये और अविनाशी द्रष्टव्य वस्तु का अवलोकन भी कर लिया। अब हम लोग आपके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानरूप अमृत से

(अमृत–पान से) भलीभाँति परिपूर्ण (तृप्त) हो चुके हैं ॥१॥

अपने अनुभव के साथ – पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ इस श्रुति का मेल भी है, यों बतलाते हैं।

पूर्णब्रह्म से निकलकर एवं शरीररूप उपाधि में प्रवेशकर नख के अग्रभागपर्यन्त व्याप्त हुआ यह जीव परमार्थतः पूर्णब्रह्मरूप ही है; क्योंकि पूर्ण से (ब्रह्म से) आकाशादि क्रमपूर्वक व्यष्टि–समष्टि–उपाधिरूप जो उत्पन्न होता है, वह पूर्णरूप ही उत्पन्न होता है। और महावाक्य से उत्पन्न 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस ज्ञान से उपाधिजनित परिच्छिन्नता का समूल विनाश हो जाने के कारण, जब पूर्णब्रह्म से पूर्ण ही जीवतत्त्व अखण्ड ऐक्य से पूरित हो जाता है, तब कल्पित अपूर्णता भ्रम के नष्ट हो जाने से पूर्ण की (ब्रह्म की) पूर्वस्थित पूर्णता ही अवस्थित रह जाती है ॥२॥ ब्रह्मन्, बहुत लोगों के ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए लीलावश मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ। महाराज, बालक के लीलाप्रश्न में पिता के सदृश आपको क्रोध करना युक्त नहीं है ॥३॥

चूँकि अर्थों के अनुभवों का उल्लेख सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में ही देखा जाता है ('मेरे हृदय में अमुक अर्थ का अनुभव हुआ' यों सभी प्राणी अपने–अपने अनुभवों का उल्लेख करते हैं, ऐसा दिखाई पड़ता है), प्रियअप्रियदर्शनजनित सुख–दुःखों का अनुभव हृदय में ही होता है और दीर्घकाल के अनुभूत बाह्य विषयों का स्मरण भी हृदय में ही देखा जाता है; इसलिए यह कहना आवश्यक है कि बाह्य विषयों का अनुभव हृदय में ही होता है। इस स्थिति में चक्षु आदि जितनी इन्द्रियाँ हैं, उनमें बाह्य स्थित अर्थों को हृदय में लाने की शक्ति नहीं है, और वे स्वयं जड़ होने के कारण बाहर जाकर, अनुभव कर और फिर लौटकर बाह्य अर्थों का वर्णन करने में समर्थ भी नहीं हैं; अतः चक्षु आदि के गोलकों को छोड़कर इन्द्रियों का दूसरा स्वरूप मानना निरर्थक ही है। यहाँ पर यह मानना भी अयुक्त है कि अन्तःकरण से अवच्छिन्न जीवचैतन्य ही इन्द्रिय द्वारा बाहर निकलकर, घट आदि बाह्य विषयों से सम्बद्ध होकर उन बाह्य विषयों का अनुभव करेगा ? क्योंकि ऐसा मानने पर 'मेरे हृदय में विषयानुभव हुआ' यह न कहकर लोग ऐसा कहने लगेंगे कि 'मेरे बाहर विषयानुभव हुआ', इसी तरह प्रियअप्रियदर्शन प्रयुक्त सुखदुःखानुभव भी हृदय से बाहर ही होगा और कालांतर में अनुभूत बाह्य विषयों का हृदय में स्मरण न होकर बाहर ही होने लगेगा–जो सर्वथा विपरीत है, जब तक विषयों का हृदय में प्रवेश नहीं होगा तब तक उनका हृदय के अंदर अनुभव हो ही नहीं सकता। यदि इस विषय पर यह कहें कि बाहर निकली हुई अन्तःकरण वृत्ति विषयों के सम्बन्ध से विषयाकारता–लांछन, जिसका नाम संस्कार है, लेकर भीतर प्रवेशकर, नट के सदृश विषयाकार का अनुकरण कर रही विषयों का अनुभव अथवा स्मरण कराती है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि घटादि विषयों का अनुभव यदि आपके कथनानुसार घटाकारक संस्काररूप लांछन से युक्त होगा तो भ्रम और प्रमा दोनों में कोई भेद न हो सकने से सर्वत्र ज्ञानों में विश्वास उठ जायेगा; और घट आदि विषयों में बाह्यत्व का जो अनुभव होता है, वह भी नहीं होगा। इन सब तर्कों से यह निष्कर्ष निकला कि अनुभव तो एक भीतरी पदार्थ है और घटादि बाहर के पदार्थ हैं, इन दो वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध न हो सकने के कारण बाह्यार्थों को किसी भी तरह अनुभव पर चढ़ाया नहीं जा सकता। इसीलिए नैयायिक आदि अनुभव का विषयों के साथ विषयविषयिभावरूप एक

स्वरूपसम्बन्ध मानते हैं, न कि संयोग आदिरूप; परंतु उनका यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि विषयविषयिभावरूप स्वरूपसम्बन्ध किसी खास विषय के साथ सम्बद्ध तो है नहीं, सबके साथ समानरूप है, इसलिए अमुक अनुभव में अमुक ही विषय है—इस प्रकार ज्ञान में विषयों की व्यवस्था नहीं हो सकती। इस पर यदि यह कहा जाय कि 'पहले आत्मा मन के साथ सम्बद्ध होता है, अनन्तर मन इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है और फिर इन्द्रियाँ विषयों के साथ सम्बद्ध होती हैं' – इस क्रम से ज्ञानाश्रय-आत्म-संयुक्तमनःसंयुक्त-इन्द्रियसंयोग आदि रूप परम्परासम्बन्ध से ज्ञान में विषयव्यवस्था हो सकती है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का परम्परासम्बन्ध अनुगत न होने के कारण स्मृति, अनुमिति आदि में अनुगत तत्-तत् विषयों की व्यवस्था नहीं कर सकता। अपिच, यह परम्परासम्बन्ध बाह्य अर्थों में अपरोक्षत्व सम्पादक है, फिर भी आप जब उसे विषयव्यवस्थापक मानते हैं तब तथाकथित स्वरूपसम्बन्ध मानना व्यर्थ ही है। इसी युक्ति से सम्बन्ध द्वारा विषय जिस ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है, वही अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है—यह बात भी खण्डित हो जाती है, क्योंकि इन्द्रिय आदि जो भी ज्ञानाभिव्यक्ति में हेतु हैं, वे सब उस ज्ञान के विषय हो जायेंगे। इसलिए अघटित घटना में समर्थ मायाशक्ति की सामर्थ्य से ही हृदय में बाहर के विषयों का अनुभव होता है – यही कहना होगा; ऐसी स्थिति में चक्षु आदि गोलकों को छोड़कर अतिरिक्त इन्द्रियों को मानने में फल ही क्या है ? अतः अनुभवानुसार गोलक द्वारा ही चिदात्मा बाह्य अर्थों का अनुभव करता है, यही सिद्धान्त स्वीकृत होगा। इस परिस्थिति में मृत देह में भी चक्षु आदि गोलक एवं सर्वगतसदात्मा दोनों का अवस्थान रहने से वहाँ भी चिदात्मा बाह्य अर्थों का अनुभव क्यों नहीं करता ? – यों श्रीरामजी शंका करते हैं।

ब्रह्मन्, मृतप्राणी के शरीर में यद्यपि श्रोत्र-गोलक, चक्षुर्गोलक, त्वग्गोलक, रसना-गोलक और घ्राण-गोलक-सब विद्यमान और स्पष्ट दिखाई देते हैं, फिर भी वे अपने-अपने विषयों का ग्रहण कैसे नहीं करते और जी रहे प्राणी के शरीर में वे सब अपने-अपने विषयों का ग्रहण कैसे करते हैं ? ॥४,५॥ महर्षे, जडस्वरूप भी ये इन्द्रियाँ शरीर के भीतर घटादि बाह्य पदार्थों का अनुभव कैसे करती हैं और पुनः अनुभव क्यों नहीं करतीं ? तात्पर्य यह है कि यदि कोई कहे कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ स्वयं बाहर निकलकर घट आदि की बाह्यता का अनुभव कर तदनन्तर भीतर प्रवेश कर फिर उन्हें कहती हैं तो इस पर यही समाधान है कि उनमें (इन्द्रियों में) न पृथक् चैतन्य है और न कहने की सामर्थ्य ही है, अतः आपका कथन असंगत ही है। इसी प्रकार यदि कोई यह भी कहे कि वे इन्द्रियाँ ही हृदय में बाह्यार्थों को लाकर स्थापित करती हैं तो इस पर भी यही समाधान है कि हृदय में बाह्यार्थों का स्थापन हो जाने पर तो पुनः पुनः उनका (घटादि बाह्यार्थों का) अनुभव होने लगेगा, क्योंकि फिर उनका (घटादि बाह्यार्थों का) बाहर निकलना नहीं देखा जाता ॥६॥

इस पर शंका हो कि पहले घट आदि बाह्य विषय चक्षु आदि इन्द्रियों को अपने प्रदेश में खिंचते हैं। बाद में खिंची गयी वे इन्द्रियाँ अपने विषयों को बाँधकर हृदय स्थित भोक्ता के लिए किसी अंशविशेष से भीतर ऐसे लाती हैं, जैसे घ्राणेन्द्रिय गन्ध को, यों कल्पना करेंगे तो इस पर कहते हैं।

भिन्न-भिन्न प्रदेश में गड़ी हुई दो लोह-शलाकाओं की नाईं परस्पर अत्यंत असम्बद्ध (न मिले हुए) घटादि विषय एवं इन्द्रियों की आपसे कही जा रही परस्पर आकर्षणशीलता और उसमें भी नेत्र

आदि अल्प विवरों के भीतर घट आदि स्थूल पदार्थों का प्रवेश होना, यह कैसे ? यानी सर्वानुभवविरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के साथ संश्लिष्ट होकर ही विषय उनका (इन्द्रियों का) आकर्षण कर सकते हैं, असंश्लिष्ट होकर नहीं; क्योंकि घट आदिसे असंश्लिष्ट रज्जु कभी उनका (घटादि का) आकर्षण करती हुई दिखाई नहीं पड़ती। और गोलक प्रदेशों के समीप न जानेवाले घटादि का उनसे सम्बन्ध भी नहीं हो सकता तथा न तो रज्जु की नाईं इन्द्रियाँ घट आदि का संश्लेष या आकर्षण करती हैं – यह प्रसिद्ध ही है; क्योंकि भिन्न–भिन्न प्रदेशों में गड़ी हुई दो लोह–शलाकाओं की नाईं वे दोनों भिन्न देशस्थ हैं ॥७॥

यदि शंका हो कि तत्त्वज्ञान से समस्त संशयों से रहित हुए आपको मायामय, सब प्रकार की अनुपपत्तियों से ग्रस्त इन व्यवहारों में ऐसा संशय क्यों होता है ? तो उस पर कहते हैं।

महर्षे, यद्यपि मैं इन विशेषों को जान रहा हूँ; तथापि अज्ञानियों पर अनुग्रह करने के लिए ही फिर–पिर सैकड़ों बार आपसे जो पूछता हूँ, उसे आप कृपापूर्वक पूर्णरूप से कहिए ॥८॥

यह आप बहुत ही थोड़ा कहते हैं कि गोलकों से भिन्न दूसरी इन्द्रियाँ नहीं है; क्योंकि वास्तविक विचार करने पर तो चिति से भिन्न प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयों का कोई भी विभाग किसी वादियों द्वारा निरूपित नहीं हो सकता, इस आशय से महर्षि वसिष्ठजी पहले समाधान करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस व्यवहार–भूमि में निर्मल चिति के सिवा इन्द्रिय आदि भी, चित्त आदि और घट आदि किसी भी अन्य पदार्थ का पृथक् संभव नहीं है ॥९॥

यदि कल्पना द्वारा द्रष्टा और दृश्य की उपपत्ति मानते हो तो इन्द्रिय आदि से घटित पुर्यष्टकरूप से भी पूर्व–पूर्व वासनाओं के अनुसार चित्स्वरूप की कल्पना युक्त हो जायेगी, ऐसी स्थिति में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं रह जाती, इस आशय से कहते हैं।

गगन से भी अत्यन्त निर्मल जो चिति है, उसने चित् होने के कारण मायाशबल–स्वभाव इन्द्रियादिघटित पुर्यष्टकरूप से अपने स्वरूप की पूर्व–पूर्व वासनाओं के अनुसार कल्पना की है ॥१०॥

कहे गये अर्थ में मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ इस श्रुति को प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं।

वही मायाशबल कल्पितरूप जगत् के अवस्थान में प्रकृति बन गया है। उसी प्रकृति के अवयवों से इन्द्रिय आदि प्रमाण एवं घट आदि प्रमेय उत्पन्न हुए हैं ॥११॥

इन्द्रियों द्वारा बाहर निकला हुआ पुर्यष्टकघटक चित्त पहले घटादि से सम्बद्ध होता है। बाद में उस सम्बन्ध से हुई घटादि विषयाकार अपनी वृत्ति में प्रतिबिम्बित हुए घटादि को बाह्यत्वाकार से ही हृदय में ले जाकर वह उनका प्रदर्शन कराता है। उसी प्रकार कालान्तर में स्मरण होता है और स्वप्न में भीतर स्थित वस्तुओं का ही बाह्यरूप से अनुभव होता है, यों सबकी उपपत्ति हो जा सकती है; इस आशय से कहते हैं।

इस प्रकार पुर्यष्टकरूपता को प्राप्त हुआ जो चिद्रूप तत्त्व है, वही अपने चित्त आदि से घटित स्वभाव के कारण स्वयं ही चित्त वृत्ति नाम का अवयव हो जाता है। उस चित्तवृत्तिनामक अवयव में घटादि बाह्य विषय बाह्याकार से ही प्रतिबिम्बित होते हैं। मृत–देह में तो पुर्यष्टकघटित लिंग देहात्मक

जीव के अपनी कल्पना से ही लीलोपाख्यान में प्रदर्शित रीति के अनुसार बाहर निकल जाने के कारण दर्शन आदि की सामर्थ्य ही नहीं रहती; यों सर्वविध विरोध का परिहार हो जाता है, यह भाव है ॥१२॥

यदि ऐसा ही है तो उस पुर्यष्टक का ही स्वरूप क्या है ? जो पंचीकृत भूतांशरूप जगत् के आकार में परिणत हो रहा है और अपंचीकृत भूतों के कार्यरूप लिंगांश से उनका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर रहा एक तरह से दर्पणतुल्य है-वही कहिए, यों श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : भगवन्, हजारों जगत् के निर्माण की महिमावाले और उन जगत् के लिए दर्पणभूत उस पुर्यष्टक का स्वरूप किस प्रकार का है ? यह आप कहिए ॥१३॥

उस पुर्यष्टक का स्वरूप बतलाने के लिए महाराज वसिष्ठजी पहले उसके मूलभूत अज्ञात ब्रह्मतत्त्व का निर्देश करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, आदि और अन्त से शून्य, विकारवर्जित, प्रकाशस्वरूप, शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप, माया के आक्रमण से रहित तथा जगत् का कारण जो ब्रह्मतत्त्व है वह पहले आकाश आदि सूक्ष्मभूतों की रचनाकर अनन्तर अपंचीकृत उन भूतों से लिंगदेह और पंचीकृत उन भूतों से ब्रह्माण्ड की रचना करता है। अनन्तर वह ब्रह्मतत्त्व ही उस ब्रह्माण्ड के भीतर प्रतिबिम्बात्मक कल्पना की उन्मुखता प्राप्त कर अभिमानवश जब सूत्रात्म-प्राणों को धारण करता है तब वह 'जीव' यों कहा जाता है। अनन्तर वह इस देह में वासनाओं तथा अंगों के उपचय से पुष्ट होता है और पुष्ट हुआ वही जीव बाह्य एवं आभ्यन्तर व्यापाररूप चेष्टाएँ भलीभाँति किया करता है ॥१४,१५॥

अभिमान, मनन आदि व्यापारों के भेद से उसके अहंकार, मन आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं, यह कहते हैं।

अपने शुद्ध चैतन्यमात्रस्वरूप का विस्मरण होने पर देह आदि में 'अहम्' अभिमान से वह 'अहंकार' कहा जाता है, संकल्प आदिरूप व्यापार से 'मन' कहलाता है, बोध के निश्चयात्मक व्यापार से 'बुद्धि' कहलाता है और इन्द्ररूप आत्मा द्वारा दृष्ट यानी तत्तत् कर्मों से उपार्जित होने के कारण 'इन्द्रिय (♨) कहलाता है। वही देहरूप भावना से 'देह' बनता है और घटाकार भावना से घट। उक्त समस्त व्यापारों में साधारणस्वभावरूप यह आत्मा विद्वानों द्वारा 'पुर्यष्टक' कहा गया है ॥१६,१७॥ (ॐ) अध्यासवश ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि धर्मों से युक्त (ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से 'मैं कर्ता हूँ', उन ज्ञान कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से जनित सुख-दुःखों का आश्रय होने से 'मैं भोक्ता हूँ', उदासीन होकर सबका प्रकाशन करने से 'मैं साक्षी हूँ' इत्यादि अभिमानयुक्त) जो चैतन्य है, वही चैतन्यांश की प्रधानता से 'जीव' कहा गया है। और जडांश की प्रधानता से उसे ही विद्वान् लोग 'पुर्यष्टक' भी कहते हैं ॥१८॥

इसीलिए स्व-स्वरूपभूत समझी गई बुद्धिवृत्तियों का कालभेद से भेद होने के कारण जीव भी

(♨) 'इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्रदृष्ट इत्यादि (५-२-९३) सूत्र से इन्द्रियशब्द 'इन्द्रदृष्ट' इस अर्थ में ही निपातित है।

(ॐ) 'अहंकारकलायुक्तं बुद्धिजीवसमन्वितम्। तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदः ॥' इस लक्षण से लक्षित पुर्यष्टक का ही यह प्रकारान्तर से वर्णन है।

काम, क्रोध, हर्ष, विषाद आदि से युक्त होकर अनेक–सा हो जाता है, यह कहते हैं।

तदनन्तर अध्यासवश स्वात्मरूप जानी गई बुद्धिवृत्तियों से वही जीव समय–समय पर काम, क्रोध, हर्ष, विषाद आदि द्वारा स्वयं ही अनेकरूप–सा हो जाता है। और काल पाकर अपने पुर्यष्टक स्वभाव उस आकार को प्राप्त करता है, जिसमें अनन्त वासनारूपी कणिकाओं का उदय होता है ॥१९॥

जैसे बीजों के आकार अंकुर, काण्ड, पल्लव आदि होते हैं, वैसे ही उसी समष्टिव्यष्टयात्मक जीव के ये सब जगत् आकार होते हैं, इस आशय से कहते हैं।

जैसे सिंचन से बीज के पल्लव आदि आकार होते हैं, वैसे ही वासना के अनुसार समष्टि–व्यष्टयात्मक उस जीव के भी मैं, शरीर आदि, स्थावर आदि एवं जंगम आदि सब जगत् आकार होते हैं ॥२०॥ इसीलिए 'आद्य चिदात्मा मैं नहीं हूँ, किंतु शरीर आदि आकारवाला ही मैं हूँ', यों मिथ्याज्ञान से यह देखने लगता है ॥२१॥ वासनाओं से वेष्टित हुआ यह जीव चिरकाल तक स्वर्ग–नरक में आवागमनों द्वारा जगत् में उस प्रकार घूमता ही रहता है, जिस प्रकार समुद्र में तरंगों से ताड़ित काष्ठ ॥२२॥ सनक आदि के सदृश कोई तो विशुद्ध जाति के प्रभाव से कल्प के प्रारम्भ में ही यानी पूर्वकल्प के सांसारिक बन्धन के बाद प्रथम जन्म में ही आत्मा का तत्त्वतः ज्ञानकर आदि एवं अंत से शून्य परम पद को प्राप्त हो जाते हैं (🔔) ॥२३॥ बहुत काल तक अनेक योनियों में प्राप्त सुख–दुःखादि भोगों के अनंतर व्याकुल हुआ कोई पुरुष आत्मज्ञान द्वारा अपना परमपद प्राप्त करता है ॥२४॥

'कथं घटादिबाह्यत्वमिन्द्रियाणि जडान्यपि' यह जो प्रश्न श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा था, उसका सामान्यतः समाधान हो जाने पर भी विशेषरूप से समाधान करते हैं।

सुमते श्रीरामजी, शरीररूपता को प्राप्त हुआ उक्त–स्वरूप यह जीव नेत्र आदि द्वारा घटादि बाह्य विषयों का जिस रीति से भीतर अनुभव करता है, वह रीति (आप) सुनिए ॥२५॥ श्रीरामभद्र, पुर्यष्टक में प्रतिबिम्बित होने के कारण परिच्छिन्न आकार से युक्त तथा जीवरूपता को प्राप्त हुए चैतन्य का मन के साथ छः इन्द्रियों से समन्वित यह शरीर नख के अग्रभागपर्यन्त व्याप्ति में परिमाता होकर स्थित रहता है। उसी से जीवचैतन्य सर्वदा देहपरिमित होकर देह के अन्दर रहनेवाले सुख, दुःख आदि का सम्बन्धवश अनुभव करता है, देह से बाहर रहनेवाले का नहीं ॥२६॥ जब आन्तर वस्तुओं से अन्य बाह्य घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष करना होता है तब तालाब से झटके से उछला हुआ जल नाली द्वारा क्यारियों में जिस प्रकार पहुँचता है, उसी प्रकार सब देहों से उद्रिक्त हुआ जीवचैतन्य चक्षु आदि इन्द्रियरूप द्वारों से घटादिपर्यन्त बाह्यविषय तक के आकाश में जाता है। उस स्थिति में उन घटादि विषयों का नेत्र आदि द्वारों से निकले हुए जीवचैतन्य के साथ स्वाकारवृत्तिव्याप्ति द्वारा सम्बन्ध हो जाने से वे विषयता (जीवचैतन्य के साथ अध्यासजनित चित्तादात्म्य) प्राप्त करते हैं ॥२७॥ श्रीरामजी, बाह्य विषयों के ज्ञान में इन्द्रियसन्निकर्ष ही सदा कारण है और वह इन्द्रियों का सम्बन्ध चित्त से युक्त जी रहे पुरुष में ही संभव है, मृत अथवा मुक्त पुरुष में कभी नहीं ॥२८॥

बाहर ऐसा ही होता है, यह हम मान लेते हैं, परंतु फिर भी उसका भीतर अनुभव कैसे होता है ?

(🔔) ये सब प्रकार के विभाग (भेद) उत्पत्ति प्रकरण के सात्त्विक, राजस आदि जीवों के भेद–वर्णन–प्रसंग में विस्तृतरूप से कहे जा चुके हैं।

यदि ऐसी शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

अन्तःकरणवृत्तिरूप या नयनरश्मिरूप जो–जो अत्यंत स्वच्छ वस्तु है, उसी में बाह्याकाश में स्थित घटादि विषय प्रतिबिम्बित होते हैं, और वह प्रतिबिम्ब अन्तःकरणवृत्ति के अन्तर्गत जीव चैतन्य के साथ संश्लिष्ट हो जाता है। *(तब 'बाहर स्थित हुआ ही मैं घट का साक्षात्कार करता हूँ' यों सब लोग क्यों अनुभव नहीं करते ? इस पर कहते हैं।)* यद्यपि जीव बाहर विद्यमान है; तथापि वह बाहर प्राणों को धारण नहीं करता। तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ प्राण की व्याप्ति रहती है, वहीं अहन्ताभिमान होता है, बाहर नहीं ॥२९॥

उक्त रीति से भले ही घट में ज्ञानरूप फल की उपपत्ति हो जाय, फिर भी हृदय के अन्दर घटाकार का प्रवेश कैसे होगा ? इस पर कहते हैं।

आवरण आदि दोषों से शून्य होने के कारण जब आँखों के तारे, सान पर घिसे गये नवीन नीलम–मणि की नाईं, चमकते रहते हैं तब उनमें घटादिप्रतिबिम्बयुक्त चित्तवृत्ति प्रवेश करती है, इसीसे बाहर–स्थित घटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, यह कहा जाता है ॥३०॥ श्रीराघव, तदनन्तर उस प्रकार आँखों के तारों में प्रविष्ट हुआ घटादि पदार्थ, हृदय में प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण अहमभिमानी जीव के साथ संयुक्त हो जाता है। इस रीति से बाहर ही भासमान घटादि बाह्य–वस्तु अहंकारी जीव द्वारा हृदय में ज्ञेय हो जाती है ॥३१॥

चेतन का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान होता है, यह नियम बालक, पशु आदि में भी प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

जो वस्तु सम्बन्ध को प्राप्त होती है, उसे बालक भी अथवा पशु भी जान लेता है। किं बहुना ? जब स्थावर पदार्थ (*) भी अपने साथ सम्बद्ध वस्तु को जान लेता है तब जीव अपने से सम्बद्ध वस्तु को क्यों नहीं जान लेगा ? ॥३२॥

दूरस्थ विषयों का इन्द्रियगोलकों के साथ सम्बन्ध कैसे होता है ? इस प्रकार की पामर शंका का निरास कर रहे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

पूर्वोक्त रीति से जीवचैतन्य के साथ सम्बद्ध हो रही गोलक से भिन्न, स्वच्छतम चक्षुरिन्द्रिय की रश्मियाँ पुरोवर्ती दृश्य घटादि विषयों का पूर्णरूप से आलिगंन कर लेती हैं, और तदनन्तर जीव उन्हें तत्त्वतः जान लेता है ॥३३॥

चक्षुरिन्द्रिय के विषय में कहे गये पूर्वोक्त क्रम का त्वगिन्द्रिय आदि में भी अतिदेश करते हैं।

त्वगिन्द्रिय आदि स्थल में जीव संस्पर्श से होनेवाला यह पूर्वोक्त प्रकार का स्पर्श, रस और गन्ध का परिज्ञान कराने में सम्बन्ध यानी हेतु कहा गया है ॥३४॥

शब्द में विशेष बतलाते हैं।

और शब्द तो आकाश में रहता है, अतः तत्काल ही उसका वृत्तिप्रतिबिम्ब के बिना भी साक्षात्

(*) 'लजालु' नाम का एक पौधा स्पर्शमात्र से अपने पत्तों को सिकोड़ लेता है–यह देखा जाता है। इसीसे अनुमान कर यह जाना जा सकता है कि सब स्थावर अपने से सम्बद्ध वस्तुओं का परिज्ञान करते हैं।

श्रोत्र द्वारा भीतर जीवाकाश में प्रवेश हो जाता है। *(इसी रीति से गन्ध का भी पवन के द्वारा अन्तःप्रवेश कथंचित माना जा सकता है, इस आशय से यथासंभव उक्त न्याय का उपसंहार करते हैं।)* इसी रीति के अनुसार इन्द्रियों से विषयों का परिज्ञान होता है ॥३५॥

प्रसंगवश सभी प्रतिबिम्बों का स्वरूप जानने की इच्छावाले श्रीरामभद्र पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, मानसवृत्ति दर्पण, मणि, जल, और यन्त्र घृष्ट काष्ठ में घट, मुख, प्रभा आदि के जो प्रतिबिम्बि दिखाई पड़ते हैं, उनका स्वरूप क्या है ? यह आप मुझसे कहिए ॥३६॥

चैतन्य–प्रतिबिम्बभूत व्यष्टि–समष्टि रूप जीवों का भ्रान्तिमात्र से सिद्ध हुआ बिम्बातिरिक्त स्वरूप बिम्ब के सत्य होने पर भी जब हम नहीं कह सकते, तब अत्यन्त जड़स्वरूप मुख एवं दर्पण का या घट एवं चित्तवृत्तियों का परस्परसापेक्ष प्रतिबिम्बस्वरूप हम कह नहीं सकते–इसमें तो कहना ही क्या ? इस आशय से महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, जिस प्रकार चिति के प्रतिबिम्बस्वरूप समष्टि–व्यष्ट्यात्मक जीवों का स्वरूप बिम्बभूत चित् के सत्य होने पर भी चैतन्यात्मा की भ्रान्ति है, उसी प्रकार अत्यन्त जड़स्वरूप मुख एवं दर्पण का या घट एवं चित्तवृत्ति का परस्परसापेक्ष प्रतिबिम्ब भी चैतन्यात्मा की भ्रान्ति ही है, यह आप जानिए ॥३७॥

केवल प्रतिबिम्ब ही भ्रान्ति नहीं है, किंतु जगत् भी भ्रान्ति है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, यह जगत् भी भ्रान्तिमात्र ही है, इसलिए आपको इस जगत् में विश्वास नहीं करना चाहिए। यह अहंकार आदि प्रपंच एक तरह से तरंग स्थानीय है, अतः चिति–जल से पृथक् उसकी सत्ता कभी नहीं हो सकती; सत्तावान् तो सर्वदा चिति जल ही है ॥३८॥ परमचितिरूप समुद्र में तो देश, काल, क्रिया आदि सदा एकमात्र तद्रूप होने से पृथक् हैं ही नहीं। आत्मा सदा सब जगह सबमें रहनेवाला है ॥३९॥ श्रीरामभद्र, सदा विषयासक्त बुद्धि से शून्य, प्रसन्नात्मा, हृदय में मिथ्याभूत सुख–दुःख का अनुभव करनेवाली बुद्धि से रहित, समस्त संसाररूप रोगात्मक माया से वर्जित तथा ब्रह्मस्वभाव समता में प्रविष्टमति होकर अपने स्वरूप में स्थित रहिए ॥४०॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

अज्ञानवश ही जीव, इन्द्रिय, मन, देह पुर्यष्टक आदि भ्रम उत्पन्न होते हैं,
तत्त्वज्ञान होने पर तो एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है–यह वर्णन।

'पूर्व में असत् अहंकार, देह, इन्द्रिय आदि की कल्पना, जैसे जीवसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ की है, वैसे ही व्यष्टिरूप आपकी भी है' ऐसा 'कलनोन्मुखतां यातम्' इत्यादि से वर्णित तात्पर्य आपने जान ही लिया, यों आगे कहे जानेवाले विषय के उपोद्घात के लिए अनुवाद करते हैं।

महराज वशिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, कमलजन्मा हिरण्यगर्भ की नाईं सृष्टि के पहले 'अनाद्यन्तम्' इस श्लोक से कहे गये ब्रह्मस्वभाव में स्थित आपके भी चक्षु आदि उत्पन्न नहीं हुए थे, यह सब मेरे कथन का तात्पर्य आपने जान ही लिया है ॥१॥

इस प्रकार पुर्यष्टक की कल्पना के अनन्तर व्यवहार योग्य अर्थों की कल्पना भी जैसे समष्टि की है, वैसे ही व्यष्टियों की भी है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार हिरण्यगर्भात्मक समष्टिपुर्यष्टक का सर्ग के आदि में व्यवहार योग्य अर्थ–ज्ञान उदित होता है, उसी प्रकार सभी व्यष्टिपुर्यष्टकों का भी अर्थज्ञान सर्वदा उदित होता है ॥२॥

गर्भावस्था से लेकर उसीका दिग्दर्शन कराते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, जो व्यष्टि–जीव छठे महीने में गर्भ में ही चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रादुर्भाव से सम्पन्न पुर्यष्टकस्वरूप हो जाता है, वह तभी से लेकर जिस व्यवहर्तव्य वस्तु की जिस प्रकार भावना करता है; उसी प्रकार उसे अपनी भावना से तत्काल ही देखने लगता है, यह आप जानिए ॥३॥ एवंच, हिरण्यगर्भ के मनोव्यापार में उसका निजी संवेदन (चैतन्य) जिस प्रकार इन्द्रिय और इन्द्रियों का विषयस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार व्यष्टिजीवरूप आपका भी संवेदन हो जाता है, यही मैंने कहा – यह फलतः निकलता है, यह आप जानिए ॥४॥ श्रीरामचन्द्र, व्यष्टि एवं समष्टि के रूप में आ रही संवित् सृष्टि के पहले एकरूप और शुद्ध ही थी। तदनन्तर सृष्टिकाल में वह संवित् भले ही अहमभिमानी असंख्य जीवपुर्यष्टकों से समन्वित हो जाय; तथापि उसका संवेदनस्वरूप तो निष्कलंक ही रहता है ॥५॥

विषयों के दोषों से संवेदन का वह स्वरूप कलंकित क्यों नहीं होता ? इस शंका पर परमार्थतः वेद्यपदार्थ का अस्तित्व ही न होने से वह कलंकित नहीं होता, यह कहते हैं।

अद्वितीय, असीम और अवेद्य होने से निर्विकार इस चिति में दूसरे किसी पदार्थ का (अस्तित्व) है ही नहीं; क्योंकि वे दूसरे पदार्थ देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेदों एवं स्थूलता से युक्त हैं ॥६॥

यदि शंका हो कि 'चिति ही मन आदिरूप हो जाती है' ऐसा जब आप कह चुके हैं तब मन आदि की असत्यता में चिति ही असत्य क्यों नहीं हो जाती ? तो इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, 'चिति मन आदिरूप हो जाती है' इत्यादि जो कुछ कहा गया है वह केवल चिन्तनीय, मननीय आदि वस्तुविषयक बुद्धिवृत्ति के अध्यारोप से ही कहा गया है; इसलिए चिति परमार्थतः मनोरूपता को प्राप्त कभी नहीं होती। इसी तरह वह न तो जीवरूपता को प्राप्त होती है और न पुर्यष्टकरूपता से ही युक्त होती है ॥७॥

तब तत्त्वज्ञान से आविर्भूतस्वरूप होने से पहले संवेदनस्वरूप भी असत् क्यों नहीं होता ? इस पर कहते हैं।

श्रीरामभद्र, तत्त्वज्ञानात्मिका विद्या और चरमप्रमाणभूत मनन आदि का विलास अपना कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता; 'है ही नहीं' ऐसा अज्ञानियों द्वारा जो तर्कित होता है, वह सदा ही विद्यमान है; वही 'परमात्मा' इस नाम से कहा गया है और वही मन के साथ इन्द्रियों का अविषय है ॥८॥

यदि वह परमात्मा अद्वितीय ही है तो 'तस्मात् सर्व एव आत्मानो व्युवच्चरन्ति' (उसी परमात्मा से सभी जीवात्मा निकलते हैं) इस श्रुति से 'अग्नि–विस्फुलिंग' न्यायानुसार जीवसम्पत्ति कैसे कही गई ? इस शंका पर शिष्यों को समझाने के लिए कल्पना से वैसी कही गयी है, यह कहते हैं।

'उस परमात्मा से चैतन्यस्वरूप जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्यों

को समझाने के लिए ही कही गई है ॥९॥

अतएव आप अविद्यारूप रोग के मूल के विषय में चिन्तन न करें यानी उसकी जड़ खोजने में न लगें, किंतु उसकी समुचित चिकित्सा का ही चिन्तन करें; क्योंकि मूल की चिन्ता आदि चिकित्सा के वास्तव उपाय हैं ही नहीं, यह कहते हैं।

विचार द्वारा उपदेश्य को उपदेश देने के अनन्तर हुए चरमप्रमाण मननात्मक विचार से जिस किसी अज्ञात मूल से उत्पन्न अविद्या रूप रोग के शांत हो जाने पर उस दशा में सम्पूर्ण आकारों से वर्जित ऐसा स्वरूपज्ञान अवशिष्ट रहता है, जहाँ पर परमाणु में सुमेरु पर्वत की नाईं आकाश भी स्थूलरूप हो जाता है ॥१०,११॥ श्रीरामजी, निष्पन्न होनेवाले व्यवहारों के लिए क्रियाश्रय होने के कारण व्यावहारिक सत्यभूत भी पदार्थ जहाँ शून्य की नाईं स्थित हैं, उस निर्मल सत्यस्वरूप ब्रह्मपद में जगत् में उत्पन्न विषयों को छोड़कर आप जीवन्मुक्त होकर स्थित रहिए ॥१२॥

अब अविद्या का स्वरूप बतलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, अतः भली प्रकार देखी जा रही भी अविद्या नहीं दीख पड़ती, किंतु नष्ट ही हो जाती है; इसलिए उस अविद्या का वही प्रसिद्ध असद्रूप ही स्वरूप है ॥१३॥

भद्र, (हम यह मानते हैं कि) मृगतृष्णा जल दिखाई दिया, पर उसे प्रयत्न से भी किन्हीं लोगों ने कहीं पाया क्या ? अर्थात् किसी ने कहीं नहीं पाया; ठीक इसी प्रकार (मृगतृष्णाजल के सदृश) जो अवस्तुभूत पदार्थ हैं, भ्रान्तिवश देखे गये भी वे किस तरह पाये जा सकते हैं ? वास्तव में तो दृष्टान्तभूत मृगतृष्णाजल भी अप्रसिद्ध है, यह भाव है ॥१४॥ असत् पदार्थ ही सत् भासित होता है। उसकी सत्यता असद्रूप अविद्या से ही है। ज्ञान से तो जो वस्तु जिस प्रकार की रहती है, वह उसी प्रकार की दिखाई देती है और भ्रान्ति नष्ट हो जाती है ॥१५॥ श्रीरामजी, सत्य आत्मा के सन्निधान से अत्यन्त असद्रूप भी अविद्या की जीव, पुर्यष्टक आदिरूप कल्पना की गई है, यह विचार भी अविद्या से होता है ॥१६॥ श्रीरामभद्र, आप जैसे अधिकारी जीवों को उपदेश देने के लिए उस अविद्या की ही जीव आदिरूप कल्पना शास्त्रों ने की है। इसलिए प्रबोध के लिए एकचित्त होकर आप उसे सुनिए ॥१७॥ जीवरूपता को प्राप्त हुई–सी, पुर्यष्टकरूप पद में स्थित, अतएव मायारूपी कलंक से वेष्टित तथा जीव को बाह्य विषयों का दर्शन कराने के लिए उत्सुक यह चिति जिसकी जैसी भावना करती है, भलीभाँति उसका वैसा ही अनुभव कर लेती है ॥१८॥ रात्रि में बालक द्वारा कल्पित यक्ष की नाईं, फिर वह सत्य हो या असत्य ही हो, यह जीवचिति 'पंचतन्मात्राओं के पंचीकरणरूप शरीर की कल्पना सत्य ही है' यों संभावना करती है ॥१९॥ और उस देहरूप आत्मा में उसी प्रकार उत्पन्न यानी उपर्युक्त दृष्टान्त की नाईं उत्पन्न इन्द्रिय द्वारों को भी उस प्रकार देखती है ॥२०॥ इन्हीं पंचतन्मात्राओं से उत्पन्न बाहर–स्थित पंचमहाभूतों को, जो परमार्थतः उससे दूसरे नहीं हैं यानी चितिरूप ही हैं, इन्द्रियरूप द्वारों से उस प्रकार वह अन्य–सा देखती है, जिस प्रकार सैकड़ों शाखाओं को अंकुर ॥२१॥ तदनन्तर यह जीव, जिसे 'ये इन्द्रिय, मन, प्राण आदि आन्तर पदार्थ हैं और ये घट आदि बाह्य पदार्थ हैं' यों निश्चय हो चुका है, जिसकी जैसी वासना कर लेता है, उसे वैसी ही यानी उसी रूप से दृढ़ कर लेता है ॥२२॥

वहाँ विषय एवं इन्द्रिय के सन्निकर्ष से अभिव्यक्त स्वात्मसुख की ही विषयसुख के रूप से वह

कल्पना करता है, यह कहते हैं।

चन्द्रमा की किरणों की नाईं आत्मा का जो सुखरूप से ज्ञान होता है, उसे ही इस जीव ने बाह्य विषयों के सुखानुभवरूप से शीघ्र स्वीकार कर लिया है ॥२३॥

उसी प्रकार वह स्वाभाविक आत्म–वेदन ही विषयसन्निकर्ष से अभिव्यक्त अहमाकार आत्मा का धर्म है, ऐसी भावना कर लेता है, यह कहते हैं।

मिर्च से अभिन्न मिर्च की प्रसिद्ध जो तीक्ष्णता है और आकाश से अभिन्न आकाश की प्रसिद्ध जो शून्यता है, इन दोनों के सदृश आत्मा से अभिन्न प्रसिद्ध जो आत्मा का ज्ञान है, वही अन्य–सा होकर स्थित है यानी स्वाभाविक आत्मज्ञान ही अज्ञानवश भिन्न–सा अहमाकार आत्मा का धर्म बनकर स्थित है ॥२४॥ सांसारिक विषयभोगों में ही पुरुषार्थ की परिसमाप्ति है, यह मत बाँधकर नश्वर सुख को लक्ष्यकर उसने 'इन लौकिक कर्मों से यह सुख होता है और इन पारलौकिक कर्मों से यह सुख होगा' इस नियम को सुदृढ़ कर दिया है ॥२५॥ श्रीरामजी, (उन दोनों प्रवृत्ति नियमों में एक तो स्वाभाविक राग आदि दोषों से जनित है और दूसरा शास्त्रजनित है। उक्त दोनों प्रकारों के भी ये नियम संकल्परूप हैं।) उन दोनों में से कदाचित् कोई एक ही स्वाभाविक पुरुषप्रयत्न से ही दूसरे को जीतकर होता है, अन्यथा नहीं, यह भाव है ॥२६॥

उन दोनों स्थलों में भी स्वभाव या शास्त्र इन दोनों में से किसी एक का अनुसरण करनेवाले अज्ञ आत्मा का ही तत्तत् व्यापारसाधनफलरूप से विवर्त होता है, यह कहते हैं।

श्रीरामभद्र, द्वैत एवं अद्वैत रूप यह सम्पूर्ण जगत् उस प्रकार आत्मा से ही बना है, जिस प्रकार ईख के रस से खाँड़ और मिट्टी से महाघट ॥२७॥

यद्यपि खाँड़ और घट ये दोनों अपने प्राक्तन द्रव और पिण्डावस्था के विनाश से विकारस्वरूप हैं; तथापि उनके माधुर्य और मिट्टी के स्वरूप का विनाश नहीं होता, अतः उतने अंश में ही वे विवर्त के दृष्टान्त हैं। ब्रह्म में तो उनकी तरह (किसी अंश में भी) विकार का संभव नहीं है, क्योंकि वह उनका विधर्मी है, यह कहते हैं।

खाँड़, घट आदि में– देश, काल आदि से परिच्छिन्न होने के कारण अवयव विन्यास, विकार आदि हो सकते हैं; परंतु ब्रह्म में तो देशकृत, कालकृत आदि परिच्छेदों के न होने से वे विकार आदि नहीं हो सकते ॥२८॥

अथवा 'खण्डो मधुरसेनेव' इस वाक्य में खण्डशब्द वनखण्ड का वाचक है और 'मधुरसेनेव' का अर्थ 'वसन्तद्रव की नाईं' ऐसा मानिए। एवंच वृक्ष विकार का हेतुभूत जलभाग, जो कि अविकारी रूप ही है, दृष्टान्तरूप से कहा गया है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे वृक्ष में प्रविष्ट जल, 'यहाँ मैं पत्र हूँ, यहाँ 'मैं फूल हूँ' इत्यादि विचित्ररूप से उदित होकर एक होने पर भी अनेकता को धारण करता हुआ देखा गया है, वैसे ही हम लोगों की आत्मा में प्रसिद्ध सत्तावाले ब्रह्म ने भी 'यहाँ मैं पट हूँ', 'यहाँ मैं दीवार हूँ' इत्यादि भेदों से सम्पूर्ण जगदाकार से आत्मा में द्वित्व को धारण कर लिया है, यह आप जानिए ॥२९,३०॥ जैसे मेघ कालभेद से – पहले ग्रीष्म–ऋतु में 'मैं सूर्यतापरूप हूँ' यों अभेदभावना कर सूर्यतापरूप से, फिर वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में वृष्टि करने के

समय 'मैं जल बरसानेवाला हूँ' यों जलप्रदरूप से और फिर पृथ्वी में प्रवेश द्वारा अंकुर के अन्दर जलरूप से उसका प्रवेश होने पर 'मैं अंकुररूप हूँ' यों अंकुररूप से स्थित रहता है; वैसे ही यह आत्मा भी कालभेद से भाव और अभाव का आकार होकर स्थित रहता है ॥३१॥

जगद्रूप विवर्त का नियम–क्रम यद्यपि कल्पित ही है; फिर भी कोई उसे अन्यथा नहीं कर सकता, यह कहते हैं।

इस वस्तु से यह कार्य इस प्रकार होवे (जैसे अग्नि से उष्णता और जल से शीतलता), यों परब्रह्म में कल्पित प्रसिद्ध क्रम को इस जगत् में ऐसा कौन जीव है, जो तोड़ सकता हो अर्थात् कोई तोड़ नहीं सकता ॥३२॥

इसी प्रकार वस्तुस्वभाव का नियम भी वस्तुभेद से भिन्न ही है और न उसे कोई अन्यथा ही कर सकता है, इस आशय से आकाशादि के स्वभाव की और अज्ञात ब्रह्म के स्वभाव की परस्पर विलक्षणता बतलाते हैं।

दर्पण की नाईं स्वच्छ आकाश में अपना भाग (आकाश–भाग) या अपना कार्य प्रतिबिम्बित नहीं ही होता, क्योंकि आकाश में या उसके कार्यभूत अन्य भूतों में आकाश का भेद नहीं रहता (भिन्न वस्तु में प्रतिबिम्ब पड़ता है–इस सिद्धान्त के अभिप्राय से यह कहा गया है), किंतु केवल आकाश प्रतिबिम्बशून्य दर्पण के मध्य के समान निर्मलरूप से शोभित होता है। *(अविद्या से समन्वित ब्रह्म तो वैसा नहीं है, यह कहते हैं।)* और अविद्या संवलित ब्रह्म में तो अपने स्वरूप से स्थित आत्मा ही समस्त वस्तुशक्ति आदि रूप से शोभित होता है, जीवरूप से प्रतिबिम्बित होता है और चूँकि वह स्वभावतः चिन्मय है, इसलिए देहरहित होता हुआ भी वह भेदबुद्धि से द्वितीय–सा होता है ॥३३,३४॥

ऐसा भले ही मान लिया जाय, परंतु उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

सर्ग के आदि में जिस वस्तुस्वभाव से आत्मा का प्रकाश हुआ, असत्य भी उस स्वभाव को सत्य आत्मा द्वारा सत्यरूप से जानता है। और वह नियम कभी भी व्यभिचरित नहीं होता, अतः सभी प्रकार के नियम सिद्ध हो जाते हैं, यह भाव है ॥३५॥

सत्य और अमृत के मिथुनीभाव से 'वाचारम्भण' श्रुति में दर्शित न्याय से दृष्टान्त बतलाते हैं।

जिस प्रकार भूषण में स्थित सुवर्ण में यानी सुवर्ण के आभूषण में सत्य एवं असत्यरूप सुवर्णत्व और कटकत्व दोनों रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में भी चित्त्व और अचित्त्व दोनों रहते हैं ॥३६॥

इसीलिए उसके प्रथम कार्यभूत मन में चिद्रूपता तथा जड़ता–ये दोनों दिखाई पड़ती हैं। उनमें जो नित्य है, वही सत्य है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार कटक में नित्य ही सुवर्णरूपता रहती है, उसी प्रकार चिति के सर्वव्यापी होने से उसके सर्वप्रथम कार्य मन में सर्वदा चितिरूपता रहती है। और जडरूपता तो किसी समय यानी अध्यास समय में विद्यमान रहती है ॥३७॥ चेतन और जडस्वरूप (🕭) यह चित्त स्वयं जब भी जिस किसी पदार्थ

(🕭) कहीं–कहीं 'चित्तजाड्यात्मकम्' ऐसा भी पाठ मिला है। उसके अनुसार चित्त का जांड्य यानी 'जड़देहविषयाकार, तत्स्वरूप' यह अर्थ समझना चाहिए।

की जिस प्रकार दृढ़ भावना करता है, यानी जभी देव, नर, स्थावर आदिरूप से देवादि के स्वरूप की भावना करता है, तभी उस प्रकार का वह हो जाता है ॥३८॥

अतएव कालभेद से जीव में अहमाकारभेद का अनुभव होता है, यह कहते हैं।

चैतन्य से भीतर वासनारूपी कलियों का विकास होता है; उसी से यह जीव विचित्र तरह से भावित आकारवाला होकर समय-समय पर स्वयं भिन्न-भिन्न रूप का हो जाता है ॥३९॥ जैसे स्वप्न में दिखाई पड़ा ग्राम वनादिसत्तारूपी भिन्नता के अवलोकन से वनादिभाव को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही देहभूत यह जीव भी एक देह से दूसरी देह को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि यह स्वप्न के समान ही प्रतिभासात्मक है ॥४०॥ जैसे स्वप्न में दिखाई दे रहा मनुष्य शीघ्र ही दीवार बनकर पट बन जाता है, वैसे ही मरण-मूर्च्छा में भी प्रतिभासमान असत्यरूप ही यही शरीर वह दूसरा शरीर अपने-आप बन जाता है ॥४१॥

यदि कोई यह शंका करे कि देह तो प्रत्यक्ष ही मरती और भस्मीभूत हो जाती है, भला वह फिर दूसरी देह कैसे बन जायेगी ? तो इस पर कहते हैं।

स्वप्न में अपने प्रतिभास से अपनी दूसरी देह की तरह यह जीव असत्य ही मरता है और फिर असत्य ही उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि मरनेवाले का मरण और जन्म भी प्रातिभासिक ही है। जी रहे लोगों को तो अपनी अविद्या से कल्पित ही उसकी देह के दाह आदि का दर्शन होता है न कि उसकी वासनामय देह का ॥४२॥

तब क्या युवावस्था और वृद्धावस्था की नाईं देहान्तर-प्राप्ति भी इस देह का कालिक परिणाम ही है ? इस शंका पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

देह का यह वर्तमान स्वरूप समय पाकर युवावस्था के सदृश देहान्तररूप हो जाता है ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वर्तमान शरीर बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओं के भिन्न होने पर भी 'वह यही शरीर है' इस प्रत्यभिज्ञात्मक निश्चय का विषय होता है। परंतु ये भूत एवं भविष्यत् शरीर तो वैसी प्रत्यभिज्ञा के विषय नहीं हैं, उक्त प्रत्यभिज्ञा के न होने से दूसरों द्वारा 'कालतः अन्य हैं और वस्तुतः अन्य नहीं हैं' इत्यादि भ्रान्ति को प्राप्त होते हैं। अतः उनकी जीव से ही उत्पत्ति है यानी वासना से ही उनका उद्भव है ॥४३॥

यदि शंका हो कि जिन्हें पहले कभी देखा ही नहीं, उन देवादि शरीरों में इस जीव की वासना ही कैसी ? तो इस पर कहते हैं।

हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ श्रीरामभद्र, ('तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' (▲) इस श्रुति के अनुसार) यह जगद्रूप तो जीवस्वप्न के अन्तर्गत ही है यानी जीव का एक स्वप्न ही है, यह आप जानिए। और चूँकि स्वप्न में इस जन्म में दृष्ट एवं अदृष्ट वस्तुओं का अनुभव होता है, (इसलिए पूर्व में अदृष्ट देवादि शरीरों की वासना होने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।) (📖) ॥४४॥

(▲) उस स्रष्टा ईश्वर की पितृशरीर, मातृगर्भाशय और अपना शरीर ये तीन अवस्थाएँ एवं जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक तीन स्वप्न हैं।)

(📖) वस्तुतः अनादि संसार में अननुभूत कुछ भी नहीं है, अतः मरणकाल में भावि देह के आरम्भक कर्मों से उद्‌बुद्ध हुई वासना के अनुसार देहान्तर की उत्पत्ति हो सकती है।

तब महावाक्यों से जनित ब्रह्मसाक्षात्कार से प्राप्य ब्रह्मभाव भी देहान्तर की नाईं वासनामय स्वप्न ही क्यों नहीं है ? इस पर कहते हैं।

जो 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इस श्रुति में उक्त शिवादि स्वनाम आदि से कथित है और तुरीय दृष्टि से दृष्ट है, उस परमात्मा को उक्त तीनों लक्षणोंवाला स्वप्न ही नहीं हो सकता। जाग्रत् काल में कभी भी उसका अनुभव न होने से उसकी वासना ही अप्रसिद्ध है, अतः वह वासनामय नहीं हो सकता। इसलिए यह निर्मलात्मा एकमात्र चिति ही है ॥४५॥ वही चिदात्मा जीव होकर आज अभिनव वर्तमान विषय को जिस प्रकार चित्स्वभाव होने से ही देखता है, जड़स्वभाव होने से नहीं, उसी प्रकार आगे देखे जानेवाले विषयों को भी देखता है ॥४६॥

इसीलिए अदृष्ट विषय में भी भावनाओं के उपचय से दृढ़ हुई वासना पूर्व में दृष्ट विषयों की वासनाओं पर विजय पाती है, यों पुरुष प्रयत्न की प्रबलता दिखलाई गई है, यह कहते हैं।

जैसे कल के किये गये कुकर्म यानी अनुचित कर्म आज के प्रयत्न से सुकर्मता को प्राप्त होते हैं, वैसे ही आज भी पुरुषप्रयत्न से पहली वासना पर विजय प्राप्त की जा सकती है ॥४७॥

इस प्रकार अब तक जीव के वासनापरिणामस्वरूप देहादिबन्ध का वर्णन किया गया, अब उसकी शांति कब होगी ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं।

प्राणियों की चक्षु आदि इन्द्रियाँ मोक्ष के बिना शांत नहीं होती। वे देशकृत और कालकृत भेदों से इस संसारसागर में उतराती और डूबती रहती हैं ॥४८॥

मोक्ष के बिना देहादि की निवृत्ति क्यों नहीं होती ? इस शंका पर कहते हैं।

चूँकि जब तक मोक्ष नहीं हो जाता तब तक इस चिति की अपनी देहाकार की कल्पना करनेवाली वासना सदा बनी ही रहती है, इसलिए इस जीव की अपनी वासना ही पांचभौतिक देह होकर उस प्रकार आगे खड़ी हुई–सी रहती है; जिस प्रकार बालक के आगे कल्पित असत्य महायक्ष खड़ा हुआ–सा रहता है, (अतः मोक्ष के बिना देहादि की निवृत्ति नहीं हो सकती) ॥४९॥

अब, कथंचित् पांचभौतिक स्थूलशरीर की निवृत्ति होने पर भी मोक्ष के बिना लिंगदेहात्मक पुर्यष्टक की निवृत्ति हो ही नहीं सकती, इस आशय से उसे दिखलाते हैं।

मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ – इन आठों का समूह पुर्यष्टक कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कही गई है ॥५०॥

यदि शंका हो कि शास्त्रों में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण, पंचमहाभूत, अन्तःकरण, अविद्या, काम और कर्म–इन्हें पुर्यष्टक कहा गया है, वह पंचीकृत आकाश, वायु आदि लिंगघटित स्थूलान्त मूर्तरूप भी होगा। ऐसी स्थिति में आपने अमूर्त मन, बुद्धि आदि आठों का समूह ही 'पुर्यष्टक' है, यह कैसे कहा ? तो इस पर कहते हैं।

आप द्वारा कथित मूर्तरूप पुर्यष्टक तब होगा जब पंचीकरण से अमूर्तरूप तन्मात्राओं की स्थूलता होगी। यह सूक्ष्मतन्मात्रस्वरूप लिंगात्मा तो अमूर्त ही है। इसकी पंचीकृत आकाशरूपता, जो कि निरवधि स्थूल है, नहीं हो सकती, करोड़ों अमूर्त वासनाओं को मिलाने पर भी कहीं स्थूलता नहीं दिखाई पड़ती। जब इस पुर्यष्टक की आकाशरूपता ही दुर्लभ है तब उसकी स्थूल वायुरूपता बड़ी–

बड़ी तनोंवाले वृक्ष की नाईं अत्यन्त ही असंभावित है। एवं जब स्थूलभूतों का ही उसमें (पुर्यष्टक में) संभव नहीं है तब इसकी देहता उस प्रकार अत्यन्त असंभावित है, जिस प्रकार अतिसूक्ष्म परमाणु की सुमेरुता। अतः यह नहीं कह सकते कि भौतिक देह तक ही पुर्यष्टक है, यह भाव है ॥५१॥

मुक्ति में अनुपयोगी होने से भी इस मोक्षशास्त्र में स्थूल पदार्थों के अस्तित्व की कल्पना युक्त नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

यदि यह देहादि प्रपंच मनोमात्र ही है यानी एक कल्पना ही है तो वैराग्य आदि के अभ्यास से-उसे (मन को) राग-द्वेषशून्य कर देने पर यह जीव शमादि-साधन चतुष्टय से सम्पन्न हो जाता है। तदनन्तर महावाक्यों द्वारा ज्ञानोदयक्रम से मनःकल्पित स्वप्नप्राय प्रपंच और उसकी मूलभूत अविद्या का बाध हो जाने पर-अपनी कार्य एवं कारणस्वरूप अवस्थात्मक दोनों बन्धों से शून्य जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। स्थूलभूत भौतिक मूर्तप्रपंच की भी सत्ता मानने पर तो उस प्रकार के प्रपंच का ज्ञान से बाध दिखाई न पड़ने पर मुक्ति हो नहीं सकती। *(एवं निष्कर्ष यही निकला कि स्वप्न और सुषुप्ति-ये दो ही अवस्थाएँ हैं, जाग्रत्नामक स्थूलविषयिणी दूसरी अन्य कोई अवस्था किसीसे सिद्ध नहीं की जा सकती, इस आशय से उन्हीं दोनों का विभागकर दिखलाते हैं।)* जिसने जड़स्वरूप देहादि सब प्रपंच को वासनारूप से उपसंहार कर गोद में कर लिया है, वह जीव की सुषुप्तता यानी सुषुप्तिनामक एक अवस्था है, और देहप्रतीति से समन्वित स्वप्ननाम की दूसरी अवस्था है। इस तरह दिखाई दे रहे प्रकारों से स्थावर एवं जंगम आकारों से यह आतिवाहिक देह ही मोक्ष-प्राप्तिपर्यन्त इस संसार में घूमती रहती है ॥५२,५३॥ श्रीरामजी, सबकी ही यह आतिवाहिक देह कभी तो सुषुप्तावस्था में स्थित रहती है और कभी स्वप्न की नाईं यानी स्वप्नावस्था में स्थित रहती है ॥५४॥ सुषुप्तावस्था में स्थित यह आतिवाहिक देह जब वासनारूप से भीतर प्रविष्ट हुए भविष्यत् दुःस्वप्नों से विद्ध-सी होकर स्मृतिशून्य और अनुदित आकारवाली हो जाती है, तब चिति के प्रतिबिम्ब से खचित होने से तथा अपने में सम्पूर्ण जगत् का उपसंहार कर लेने से वह प्रलयकालीन अग्नि के समान प्रदीप्त होकर स्थित रहती है ॥५५॥

उन स्थावर आदि निकृष्ट योनियों में जड़ता के आधिक्य से सुषुप्ति की प्रचुरता है, यह कहते हैं।

स्थावर आदि अवस्थाओं में तथा कल्पवृक्ष की अवस्थाओं में भी (卍) पाषाण-शिला के समान घनीभूत जड़तावाली (तमोयुक्त) यह आतिवाहिक देह सुषुप्ति-अवस्था में ही स्थित रहती है ॥५६॥

इसलिए चित्त की अधिक जड़ता ही इस देह की सुषुप्ति है, चित्त का भ्रमण ही संसार है, चित्त का तत्त्वज्ञान ही बन्ध से मुक्ति है, तुर्यता ही इसकी जाग्रदवस्था है, यही सिद्ध हुआ, यह कहते हैं।

श्रीरामभद्र, इस देह की सुषुप्तावस्था में स्थिति जड़ता है, स्वप्नावस्था से ही उत्पन्न यह संसार है, इसका जो तत्त्वज्ञान है, वह मुक्ति है और जो जाग्रदवस्था है, वही तुर्यरूपता है ॥५७॥ जीव की तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति होती है और उसी तत्त्वज्ञान से वह वैसे परमात्मस्वरूपता को प्राप्त हो जाता है, जैसे मल धो दिये जाने पर विशुद्ध हुआ ताँबा सुर्वणरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥५८॥ श्रीरामभद्र,

---

(卍) प्रस्तुत श्लोक में 'च' शब्द अप्यर्थक है यानी उसका 'भी' यह अर्थ है। एवंच, कल्पवृक्षों में पुण्य के आधिक्य से कृमि, कीट, क्षुधा, तृषा आदि दुःखों के न होने से यद्यपि आनन्द अधिक है; तथापि उनमें मनुष्य आदि के समान ज्ञान नहीं है, किंतु अत्यन्त तमोमयता ही है, यह भाव है।

जीव के तत्त्वज्ञान से जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह शास्त्रों में दो प्रकार की बतलायी गई है – एक जीवन्मुक्ति और दूसरी देहपात से होनेवाली कैवल्यमुक्ति ॥५९॥ जीवन्मुक्ति ही तुरीयावस्था है। उसके परे तुरीयातीत ब्रह्मपद है। तत्त्वज्ञान होने से यह जीव प्रबोधस्वरूप हो जाता है यानी उत्कृष्ट चैतन्यात्मक ब्रह्मरूप हो जाता है और वह तत्वज्ञान या बोध पुरुष प्रयत्न से साध्य है ॥६०॥ इस व्यवहार–भूमि में जो जीव 'परमार्थतः मेरा यह परिमाण है और यह मेरा स्वरूप है' यों ज्ञान कर लेता है, वह सबके भीतर स्थित साक्षिभूत चिदात्ममय ही हो जाता है। और जो जीव उपर्युक्त ज्ञान से शून्य है, परमार्थतः उसके ब्रह्मनिष्ठ होने पर भी अज्ञानवश वह शिला की नाईं दृढ़ीकृत अपने हृदय में दीर्घतम संसारस्वप्न–भ्रान्तिरूप तीव्र भय को देखता रहता है ॥६१॥

तब क्या जीव के हृदय में वास्तविक भय है ? इस शंका पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

जीव के भीतर चितिकला के सिवा और दूसरा कुछ भी नहीं है, वह उसे ही अन्यरूप से देखता हुआ व्यर्थ में सोच किया करता है ॥६२॥ जीवरूप परमाणु के भीतर तो परम महत् ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है, अहो ! जहाँ–तहाँ यह जो जगत् आँखों के सामने आ पड़ा है, वह माया का ही विलास है ॥६३॥ जिस प्रकार बटलोई के भीतर खौल रहे जल में नानात्व का भ्रम उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जीवरूप परमाणु के भीतर मिथ्या ही संसार उत्पन्न होता है ॥६४॥ श्रीरामजी, वासनाओं का बन्ध ही इस जीवाणु का बन्ध है, वासनाओं का नाश ही इसका मोक्ष है और वासनाओं का अन्त यानी अवधि ही इसकी सुषुप्ति अवस्था है, (क्योंकि तुर्य और तुर्यातीत ये दोनों पद वासनाशून्य होते हैं।) और वह स्वप्न में चित्र–विचित्र रूप से स्फुरित होती है ॥६५॥

किस प्रकार स्फुरित होती है ? यह कहते हैं।

जब यह जीव घनीभूत वासनाओं के मोह से युक्त होता है तब वह स्थावर आदि योनियों का भागी होता ह यानी स्थावर आदि योनियों में प्राप्त–सा दिखलाई पड़ता है, जब मध्यम प्रकार की वासनाओं से युक्त होता है तब पशु, पक्षी आदि योनियों का भागी होता है और जब तनुवासनाओं (क्षीण वासना) से समन्वित होता है तब मनुष्य, देव, गन्धर्व आदि योनियों में प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि वासनाओं के क्षय के तारतम्य से उत्तरोत्तर शुभयोनि की प्राप्ति होती है ॥६६॥

वासनाओं के क्षयतारतम्य से वैचित्र्य की अभिव्यक्ति बतलाने के पश्चात् ग्राह्य, ग्रहण आदि के वैचित्र्य से भी वैचित्र्याभिव्यक्ति बतलाते हैं।

सुषुप्ति की विच्युति के समय जब देह के भीतर नख के अग्रभाग से लेकर व्याप्त प्राणों में अहम्भाव से 'देहपरिमाणवाला ही मैं हूँ' यों जब परिच्छेद होता है तब घट आदि पदार्थ बाहर उत्पन्न हो जाते हैं। *(वे बाहर होवे, उससे क्या ? इस पर कहते हैं।)* वैसी स्थिति में चक्षु आदि द्वारों से निकले हुए अन्तःकरण द्वारा बाहर निकला हुआ अन्तःकरणवृत्तिअवच्छिन्न चैतन्यात्मा जीव बाह्य घटादि विषयों के साथ व्याप्ति करता है। पश्चात् 'मैं घट को जानता हूँ' यों ग्राह्य एवं ग्राहक की वासनात्मिका सत्ता तत्तत् वैचित्र्य से स्पष्टतः अभिव्यक्त हो जाती है ॥६७॥

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

अन्दर रहनेवाला जीव बाहर अनात्म पदार्थों पर जब आरूढ़ हो जाता है, तब ग्राह्यग्राहकवासना,

मृगतृष्णा की नाईं, अध्यस्त विभाग से प्रकट हो जाती है ॥६८॥

इसी प्रकार हेय–उपादेय की विचित्रता भी वासनाध्यस्त ही है, वास्तविक नहीं, ऐसा कहते हैं।

आत्मा यहाँ न किसी का त्याग करता है और न किसी का ग्रहण ही करता है । वास्तव में आत्मा से भिन्न किसी का अस्तित्व है ही नहीं । अतः यहाँ बाह्य और आन्तर कलाओं के आकारवाला एकमात्र चिदात्मा ही प्रकाशता है ॥६९॥ ये तीनों जगत् चैतन्यात्मा की एक चमत्कृति ही है । इसलिए भेदक संकल्पों से प्रयोजन ही क्या रहा ? अब हम तत्त्वज्ञान से अपने चैतन्यस्वरूप में चिरकाल से विराजमान हैं। यह बाह्य–आन्तर जगत् तीनों काल में भी नहीं है ॥७०॥ तत्त्वतः विचारा गया समुद्र जैसे तरंग आदि समस्त विभेदों से शून्य हुआ–आकाश से भी स्वच्छ–सम्पूर्णरूप से केवल विशुद्ध द्रवात्मक जल स्वरूप ही है, वैसे ही यह जगत् भी तत्त्वतः ज्ञात हुआ वासनाकालीन समस्त विभेदों से शून्य विकारवर्जित केवल परमपद ब्रह्मस्वरूप ही है ॥७१॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त

बावनवाँ सर्ग

आदि जीव हिरण्यगर्भ का स्वप्न ही जगत् है, उसमें अनासक्ति से उसका विनाश हो जाता है इस अर्थ का दृढ़ीकरण करने के लिए महाराज वसिष्ठजी द्वारा अर्जुनाख्यान का उपक्रम ।

सभी जीवों में प्रत्येक का स्वप्न अलग–अलग होता है, परंतु जाग्रत्–प्रपंच तो सबके लिए एक–सा ही है और स्वप्नरूप कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण जीवसमष्टिस्वरूप हिरण्यगर्भ का अनेकविध कल्पनाओं से कोमल (रमणीय) जो प्रथम स्वप्न है, वही हम लोगों का 'जाग्रत् संसार' है, यह आप जानिए। वह संसार न सत्यरूप है और न असत्यरूप ही है ॥१॥

किसलिए ऐसी कल्पना करते हैं ? यदि यह पूछिए तो इसका उत्तर यही है कि व्यष्टि–जीव की तरह समष्टि–जीव का (हिरण्यगर्भ का) कोई दूसरा स्वप्न प्रसिद्ध ही नहीं है इसलिए, यही कहते हैं।

चूँकि व्यष्टि–जीवों के समान आदिपुरुष हिरण्यगर्भ का इस स्वप्न को छोड़कर दूसरा कोई स्वप्न कभी भी नहीं हो सकता, इसलिए व्यष्टिरूप हम लोगों के जाग्रत्–काल के प्रसिद्ध ये भूत–भुवनादिभाव उस हिरण्यगर्भ की भी जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में उदित हुए तत्त्वतः स्वप्न से भिन्न नहीं हैं, यह भाव है ॥२॥

असत्यत्व और अवस्तुत्व – इन दोनों हेतुओं से भी प्रपंच में स्वप्नरूपता का साधन कर रहे महाराज वसिष्ठजी स्वप्न–वैधर्म्यानुभव में कारण दिखलाते हैं।

तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में असत्यभूत और अवस्तुस्वरूप होने के कारण भी इस संसार को उस समष्टि–जीव का (हिरण्यगर्भ का) व्यष्टिरूप हम लोगों के स्वप्न के समान शीघ्र बाध का प्रतिभास न होने से एक लम्बा स्वप्न ही समझिए । प्रपंच में स्वप्न–वैधर्म्य का जो भ्रम होता है, उसमें उसकी दीर्घता ही एकमात्र कारण है, यह भाव है ॥३॥ हे अनघ, एक स्वप्न से मानों दूसरे स्वप्न का अनुभव कर रहे समष्टि–जीव के एकदेशभूत व्यष्टि–जीव असत्य वस्तु का ही अकाट्य

सत्यरूप से अवलोकन किया करते हैं ॥४॥

वस्तुस्वभाव से विपरीतता दिखाई पड़ने के कारण भी इसकी स्वप्नता सिद्ध होती है, यह कहते हैं।

हे तात, समष्टि–जीव के एकदेशभूत जो व्यष्टि–जीव हैं, उनके अनुभवस्वरूप भ्रान्ति से जड़ताशून्य ब्रह्म में भूत–भुवनादि की जड़ता, अहंकार से लेकर देहपर्यन्त सभी जड़–पदार्थों में आत्मत्वाभिमान से अजड़ता एवं असत्य में सत्यता उदित हुई है ॥५॥ प्रकाश के प्रकाशक ब्रह्मरूप सूर्य के भी भीतर सम्पूर्ण तीनों लोकों का भ्रम देख रहे स्वप्न में संभ्रान्त–से सब जीव भेद–कल्पनाओं की परम्पराओं से संसार में भ्रमण किया करते हैं ॥६॥

कल्पित भेदों में सत्यता के आरोप में कारण बतलाते हैं।

स्वयं व्यष्टिरूप होने के कारण ही समष्टि–जीव की अपेक्षा भी अत्यंत जीवभूत ये –परमार्थतः सर्वगामी और अनन्त, अतएव परिच्छेदशून्य–सत्यस्वरूप होने के कारण जिस –जिस की भावना करते हैं; उसीको – उसमें आसक्ति होने से अपनी सत्ता के आरोप द्वारा–शीघ्र ही सत्य–सा समझ लेते हैं ॥७॥

यही अर्थ भगवद्गीता में भगवान् द्वारा उपदिष्ट है, यह कहते हैं।

महाबाहो श्रीरामजी, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से उपदिष्ट, शुभफलदायक उस अनासक्ति–योग का आप श्रवण कीजिए, जिसका अवलम्बनकर प्राणी जीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है ॥८॥

उसके लिए अर्जुनोपाख्यान की भूमिका बाँधते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, अर्जुन नामधारी महाराज पाण्डु का पुत्र जिस तरह जीवन्मुक्तिरूप सुख से युक्त होता हुआ अपना जीवन शीघ्र बिता देगा, उसी तरह आप भी दुःखरहित अपना जीवन बिता दीजिए ॥९॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, (कृपाकर आप मुझे बतलाइये कि) वह पाण्डुनन्दन (इस पृथ्वी पर) कब उत्पन्न होगा और उसकी अनासक्ति का वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह करेंगे ? ॥१०॥

अर्जुन अवतार में कारण बतलाने के लिए सबके मूलभूत ब्रह्म का उपक्रम करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामचन्द्रजी, आकाश में महाकाश की नाईं परिकल्पित नामवाला सन्मात्रस्वरूप यह आत्मा आदि और अन्त से शून्य अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित है ॥११॥ जैसे सुवर्ण में कटक आदि तथा जल में तरंग आदि दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही निर्मल सन्मात्रस्वरूप परमात्मा में यह संसार–विभ्रम (जगद्विलास) दिखाई पड़ता है ॥१२॥ जैसे जाल में फँसी हुई चिड़िया भागने में असमर्थ होकर एकमात्र अपने पंख फड़–फड़ाती रहती हैं, वैसे ही दृष्टिगोचर हो रहे इस संसाररूपी जाल में फँसी हुई चौदह प्रकार की जीवजातियाँ छुटकारा पाने में असमर्थ होकर आवश्यकता से अधिक फुदक रही हैं यानी उछल–कूद मचा रही हैं ॥१३॥ उन जीव–जातियों के बीच पांचभौतिक संसार में श्रुति, स्मृति आदि से वर्णित चरित्रवाले यम, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र आदि तत्–तत् लोक के अधिपति हो चुके हैं ॥१४॥ चूँकि श्रुति, स्मृति और सदाचार से विहित होने से यह पुण्य है, इसलिए उपादेय है (ग्राह्य है) तथा श्रुति, स्मृति और सदाचार से निषिद्ध होने से यह पाप है, इसलिए हेय है यानी त्याज्य है–यों उन लोगों ने अपने–अपने अधिकार के अनुसार संकल्पघटित ज्ञान से मर्यादा बना रक्खी है ॥१५॥

ठीक है ? ऐसा ही सही, पर इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

हे अनघ, उस यमराज का चित्त सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक प्रवाहपतित अपने अधिकार-कर्म में, पर्वत के सदृश अडिग होकर, ज्यों का त्यों अवस्थित है ॥१६॥ वे भगवान् यमराज, प्रति चतुर्युग में कुछ समय समाप्त हो जाने पर या द्वापर के अन्त में-जीवों के नाश से जनित पाप की आशंका होने से – कदाचित् कुछ तपस्या भी करते हैं ॥१७॥

यमराज की उस तपस्या में समय का नियम नहीं है, यह कहते हैं।

कभी तो आठ वर्ष, कभी दस अथवा बारह वर्ष, कभी पाँच या सात वर्ष और कभी सोलह वर्ष तक भी वे तपस्या करते रहते हैं ॥१८॥ उस यमराज के उदासीन के समान तपस्या में आसीन रहने पर संसाररूपी जाल में फँसे हुए किन्हीं जीवों का मृत्यु नाश नहीं करती ॥१९॥ उस समय किसी एक भी प्राणी की हिंसा न होने के कारण यह पृथिवी वर्षा-ऋतु में मच्छरों से पसीने से तरबर हाथी के समान-अनेकविध जीवसमूहों से संचार के अयोग्य बन जाती है ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर (जब यह पृथिवी प्राणियों के भार से दबने लगती है तब) उस पर पड़े बोझ की निवृत्ति के लिए भगवान् कृष्णचन्द्र आदि सब देवता अनेक प्रकार की युक्तियों से यानी अपने अंशावतार तथा महाभारत की लड़ाई आदि अनेक उपायों से इन विचित्र प्राणियों को मार डालते हैं ॥२१॥

और यह भार उतारने के लिए अवतारादि-व्यवहार भी अनेक बार हो चुका है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, इस तरह हजारों युग, सैकड़ों व्यवहार तथा अनन्त जीव एवं जगत् व्यतीत हो चुके हैं ॥२२॥ हे साधो, यह जो वैवस्वत यम है, वह आज तो पितरों का (मृतजीवों का) नियामक है; (परंतु) अब इसे भी किन्हीं युगों के व्यतीत हो जाने पर (अपने) पापों के विनाश के लिए बारह वर्ष तक अहिंसादिघटित निर्विकल्प समाधिरूप व्रतचर्या (तपश्चर्या) करनी पड़ेगी, जिसमें मनुष्यों का उत्पीडन कोसों दूर निकल जायेगा यानी पापियों का कोई दण्डदाता न रहेगा, यह भाव है ॥२३,२४॥ उस व्रतचर्या के कारण यह पृथिवी मृत्युलोक में आये हुए, भारस्वरूप, मृत्युरहित प्राणियों से व्याप्त वन-गुल्मों से संकीर्ण-सी, अतएव दीन हो जायेगी ॥२५॥ उस समय मनुष्यों के भार से परिपीड़ित अंगोवाली यह दीन पृथिवी शरण पाने के लिए भगवान् विष्णु के समीप उस तरह आयेगी, जिस तरह लुटेरों से लूटी गई, अतएव कातर स्त्री अपने पति के समीप आती है ॥२६॥ तदनन्तर सम्पूर्ण देवांशों के साथ, जो नर और नारायण के सहायतार्थ उत्पन्न होंगे, विष्णुभगवान् दो शरीरों से पृथिवी पर अवतार लेंगे ॥२७॥ उनमें एक तो वसुदेव का पुत्र 'वासुदेव' इस नाम से विख्यात विष्णु का शरीर होगा और दूसरा शरीर होगा-पाण्डु का पुत्र 'अर्जुन' इस नाम से विख्यात ॥२८॥ और, चारों समुद्ररूपी करधनी पहनी हुई पृथिवी का अधिपति एवं धर्म का पुत्र 'युधिष्ठिर' इस नाम से प्रसिद्ध होगा। वह पाण्डुपुत्र 'धर्मज्ञ' होगा ॥२९॥ उसका चचेरा भाई 'दुर्योधन' नाम से विख्यात होगा। और उस दुर्योधन का वैसा ही प्रतिद्वन्द्वी योद्धा 'भीम' 'नामक द्वितीय पाण्डु-पुत्र होगा, जैसा सर्प का प्रतिद्वन्द्वी नेवला ॥३०॥ परस्पर पृथ्वी का अपहरण कर रहे, युद्ध करने में तत्पर उन दोनों की भयंकर अठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्र में होनेवाली महाभारत की लड़ाई में इकट्ठी होगी ॥३१॥ हे राघव, महान् गाण्डीवधनुर्धारी अर्जुन की देह से उन सेनाओं को नष्टकर विष्णु भगवान् पृथ्वी को भार से मुक्त कर देंगे ॥३२॥ युद्ध के प्रारम्भ में

अर्जुननामधारी भगवान् विष्णु का शरीर प्राकृत भाव में स्थित होकर हर्ष और शोक से युक्त मनुष्यधर्मा बनेगा यानी अज्ञप्राय हो जायेगा ॥३३॥ दोनों सेनाओं में पहुँचे हुए और मरने के लिए तैयार अपने बन्धुओं को देखकर वह अर्जुन विषाद को प्राप्त होगा और युद्ध के लिए उद्योग न करेगा ॥३४॥ हे राघव, तब उस अर्जुननामक देह को, उपस्थित कार्य की सिद्धि के लिए, श्रीविष्णु भगवान् स्वतः सिद्ध आत्मबोधवाली अपनी देह से यानी श्रीकृष्ण–देह से उपदेश देगें ॥३५॥

उपदेश के प्रकार का ही विस्तार से वर्णन करते हैं।

यह अज आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट ही होता है। ((卐) आदि और अन्त के विकारों का निषेध करने पर प्रसक्त हुए मध्यतन चार विकारों का अथवा भाविजन्म आदि का निषेध करते हैं।) यह न कभी जन्म पाकर पुनः अपने अस्तित्व को प्राप्त करता है और न कभी शरीर का खड्ग आदि से छेदन करने पर इसका छेदन ही होता है। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है ॥३६॥

जो पुरुष उक्तस्वभाव अहं पदार्थ आत्मा को हनन–क्रिया का कर्ता समझता है और जो पुरुष इसे (अहंपदार्थ आत्मा को) हनन–क्रिया का विषय मानता है वे दोनों आत्मा को तत्त्वतः नहीं जानते, क्योंकि आत्मा न तो मरता है और न मारा ही जाता है। उन दोनों की हन्तृ–हन्तव्यवता विषयक भ्रान्ति में अज्ञान ही निमित्त है, यह भाव है ॥३७॥ अनन्त, एकरूप, सदात्मक और आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म परब्रह्म परमात्मा का किससे किस तरह क्या नष्ट होता है ? ॥३८॥ हे ज्ञानात्मक पार्थ, तुम अनन्त, आदि और मध्य से रहित एवं अव्यक्त अपने स्वरूप का अवलोकन करो। तुम अपरिच्छिन्न आकारवाले, अतएव किसी प्रकार के दोष को न प्राप्त किये हुए चैतन्यस्वरूप ही हो। यही कारण है कि तुम अज हो, नित्य हो और निरामय हो–यानी अज्ञान और उसके कार्य से निर्मुक्त; अतः बन्धुओं में आसक्ति और उनके मरण आदि की सम्भावना से दुःख करना तुम्हें उचित नहीं, यह भाव है ॥३९॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

तिरपनवाँ सर्ग

अहंकार का त्याग, संगत्याग आदि का लक्षण और दशाओं के भेद से व्यवस्थित उपास्य और ज्ञेय का स्वरूप–इन सबका वर्णन।

'अपने बन्धुओं को मारनेवाला मैं हूँ' इस प्रकार का अहन्ताभिमान तथा 'ये मेरे ही बान्धव हैं' इत्यादिरूप ममताभिमान ही तुम्हारे सब दुःखों के मूल कारण हैं, इसलिए सर्वप्रथम उन्हें ही तुम छोड़ दो, यह कहते हैं।

(卐) तात्पर्य यह है कि १. जन्म, २–स्थिति, ३– वृद्धि, ४– विपरिणाम, ५–अपक्षय और ६– नाश– ये छः भावविकार हैं, जो ब्रह्म में नहीं रहते। इसीलिए वह (आत्मा) नित्य, कूटस्थ, असंग आदि कहा गया है। प्रस्तुत श्लोक में यद्यपि 'अज' इस विशेषण से ब्रह्म में समस्त भावविकार–शून्यता अर्थतः सिद्ध हो जाती है; तथापि शब्दतः यहाँ प्रत्येक विकार का निषेध किया गया है। वहाँ 'न जायते' से पहले और 'न म्रियते' से अन्तिम भावविकार का ब्रह्म में निषेध कर चुके; अब मध्यपतित चार भावविकारों का निषेध करना भी प्रसंगप्राप्त है, जिसे 'नाऽयम्' से कर रहे हैं।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा : हे अर्जुन, अतः तुम जन्म-मरण आदि छः ऊर्मियों से निर्मुक्त हो, अतएव नित्य हो और अपने भाई-बन्धुओं तथा सम्पूर्ण भूतों के स्वयं साक्षात् आत्मरूप हो, अतः तुम किसीको मारनेवाले नहीं हो। 'मैं हनन करनेवाला हूँ' इस प्रकार के अभिमान को भलीभाँति छोड़ दो ॥१॥

अभिमान-त्याग का फल कहते हैं।

वधादिप्रवृत्तिकाल में जिस पुरुष में 'मैं इसे मारता हूँ' यों अभिमान नहीं होता और उसके (वधादि के) उत्तरकाल में जिसकी बुद्धि उसके फल हर्ष, शोक आदि से लिप्त नहीं होती, वह पुरुष सम्पूर्ण चतुर्विध भूतजातियों को मारकर भी किसी एक को भी नहीं मारता; क्योंकि सर्वत्र वधादि विकारके स्पर्श से रहित शाश्वत एकात्मतत्त्व अविकारी ही है तथा मायामात्र होने से देह आदि के सदा असद्रूप होने के कारण वन्ध्यापुत्र की नाईं वध में उसकी प्रसक्ति नहीं है। इसलिए ईश्वर के समान तत्प्रयुक्त पापफल से भी वह निबद्ध नहीं होता, यह भाव है ॥२॥

हन्तृत्वादि धर्मवाले देहादि में तादात्म्य-भ्रम होने से ही देह के धर्म हन्तृत्वादिका आत्मा में प्रतिभास होता है, न कि स्वतः। अतः सबसे पहले उसीका त्यागकर दो, यह कहते हैं।

हृदय-स्थित आत्मा में देहादि अभिमानरूपा या और किसी दूसरी तरह की जो ही बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है, वही अनुभूत होती है। अतः 'अयम्' यानी कार्यकरणसमूह, 'सोऽहम्' यानी मारनेवाला 'मैं', 'इदम्' यानी इस देह आदि के सम्बन्धी और 'तन्मे' यानी वे बन्धु आदि मेरे हैं, इस तरह की अन्दर उत्पन्न हुई भ्रान्तिवृत्ति का त्याग कर दो ॥३॥ हे भारत, इसी बुद्धिवृत्ति के कारण 'मैं हन्तृत्वादि धर्मों से युक्त हूँ,' 'हन्तृत्वादिप्रयुक्त पापों से मैं नष्ट हूँ' तथा 'अपने बन्धुओं के नाशादिरूप ऐहिक अनर्थों एवं नरकपात आदि पारलौकिक अनर्थों से मैं ग्रस्त हूँ' इत्यादि भ्रान्तियों से पराधीन होकर तुम चारों ओर सुख-दुःखों से परितप्त हो रहे हो ॥४॥ अंशों के सदृश स्वात्मा के परिच्छेदक होने के कारण अंशरूप देह, इन्द्रिय आदि जो सत्त्वादि गुणों के विकार हैं, एकमात्र उन्हीं से ये सारे कर्मविभागशः किये जाते हैं। परंतु अहंकार से विमोहित अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं ही करनेवाला हूँ' यों मानता है ॥५॥

विचार करने पर तो रूपादि विषयों में आँख आदि इन्द्रियों की ही प्रवृत्ति है, न कि आत्मा की। इसलिए नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा किये गये कार्यों से आत्मा कर्ता नहीं कहा जा सकता, इस आशय से कहते हैं।

आँखें देखा करें, कान सुना करें, ये त्वचाएँ स्पर्श किया करें और जिह्वा रसास्वाद लिया करे, इनमें (चक्षुरादि-करणकार्यसमूह में) मै कौन हूँ ? अर्थात् उनमें मद्रूप तो कोई है ही नहीं, अतः उनमें मुझे 'मैं' इस रूप से स्थिति करना युक्त नहीं है। तात्पर्य यह है कि चक्षु आदि कार्यकरणसंघात ही सब कुछ करनेवाला है, उसमें मद्रूप कोई है ही नहीं; अतः 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान करना सर्वथा अयुक्त है ॥६॥ इस मन आदि अन्तःकरण संघात के संकल्पादिरूप अपने कार्य में तत्पर रहने पर भी 'उसमें मैं कोई नहीं हूँ' यों देख रहे तुम महात्मा की दृष्टि में ऐसा कौन पदार्थ क्लेशभाग में प्रविष्ट है, जिसके विषय में तुम शोक कर रहे हो ? अर्थात् कोई है ही नहीं ॥७॥

किसी जनसमुदाय द्वारा कोई एक कार्य किया गया हो, वहाँ पर उस समुदाय का हर एक पुरुष

अपने में समुदायअभिमान कर यदि उस कार्य के विषय में जब शोक करता है तो उपहास्य हो जाता है, तब समुदाय में न रहनेवाला बाहर का कोई यदि उस विषय में शोक करे तो उसकी उपहास्यता में कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

हे भारत, बहुतों ने मिलकर एक साथ जिस कार्य का सम्पादन किया हो, उसमें यदि किसी एक को 'मैंने ही किया है', यों अभिमानजन्य दुःख पकड़ लेता है तो वह हँसी के लिए ही होता है ॥८॥ (📖)

निरहंकारी पुरुष का फल की अभिलाषा से रहित, कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान का उद्दीपक होने से परमपुरुषार्थ के लिए ही होता है। इसलिए हे अर्जुन, तुम्हें स्वधर्मस्वरूप युद्ध से दुःखप्रसक्ति नहीं है, यह कहते हैं।

योगी लोग (आरुरुक्षु या मुमुक्षु लोग) देह से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी फल की अभिलाषा का त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं ॥९॥ जिसका शरीर अहन्तारूपी विषचूर्ण से मारण के लिए व्यापारित नहीं हुआ है, यानी बारबार मरण के हेतुभूत भोगों में लम्पट नहीं हुआ है, ऐसे रागादिरूपी हैजे से निर्मुक्त योगी लौकिक एवं शास्त्रीय कर्म कर रहे तथा उसके आनुषंगिक फल का उपभोग कर रहे भी परमार्थतः न तो कर्म कर रहे हैं और न उसके फल का उपभोग ही कर रहे हैं ॥१०॥ प्राज्ञ होने पर भी, अतिबहुज्ञानी होने पर भी दुष्ट प्रकृति पुरुष जैसे कहीं (लौकिक या शास्त्रीय व्यवहारों में) नहीं शोभता, वैसे ही ममतारूपी दोष से दूषित शरीर कहीं (लौकिक या शास्त्रीय प्रसंगों में) नहीं शोभता यानी परम पुरुषार्थ के समर्थ नहीं होता ॥११॥

जो ममतारहित, अहंकार से शून्य, सुख और दुःख होने पर हर्ष–विषाद से रहित तथा क्षमावान्, है वह अवश्यकर्तव्य (शास्त्रीय कर्म) अथवा अनवश्यकर्तव्य (लौकिक कर्म) कर रहा भी उनसे लिप्त नहीं होता ॥१२॥ हे पाण्डुपुत्र, तुम्हारा यह उत्तम क्षात्र कर्म यानी क्षत्रियों के लिए शास्त्रविहित युद्ध में पीठ न दिखाना आदि अपना कर्म है। वह बन्धुवधरूप होने से क्रूर होता हुआ भी चित्तशुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञानादिरूप सुख का साधन तथा धर्म, यश, राज्य, स्वर्ग आदि अभ्युदय का साधन होने से अतिकल्याणरूप ही है ॥१३॥

तब तो बन्धुवध से अतिरिक्त द्रोण, भीष्म, कृपाचार्य आदि गुरुजनों का वधरूप जो कुत्सित कर्म है, वह भला मुझसे कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकार की गुरुवध में हुई अर्जुन की अधर्मत्वशंका का सत्यशपथग्रहणपूर्वक आशीर्वाद देते हुए निवारण कर रहे भगवान् कहते हैं।

और दूसरा भी यानी पूजनीय महानुभावों के ऊपर उनके विरुद्ध शस्त्र उठाना आदि अधर्मप्रचुरक्रम से युक्त कुत्सित भी तुम्हारा युद्धकर्म, जैसे यानी जिस सत्यस्वरूप शास्त्रप्रामाण्य से श्रेष्ठ है, वैसे ही यानी उसी सत्य से तुम इस युद्ध में अमरणधर्मा विजयी बन जाओ ॥१४॥

जब अज्ञानी का भी स्वधर्म श्रेय के लिए है, तब तत्त्वज्ञानी को स्वधर्म से नरकादि–प्रसक्ति तो किसी तरह हो ही नहीं सकती; पतन को उत्पन्न करनेवाले करोड़ों भी महापातक अहंकाररहित पुरुष की बुद्धि को लिप्त नहीं कर सकते इस आशय से कहते हैं।

(📖) इस विषय में कहा भी गया है कि समुदाय से जनित दुःख के लिए समुदायवर्ती किसी एक को शोच करना ठीक नहीं होता – 'न सामवायिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति'।

जब मूर्ख का भी अपना कर्म श्रेय के ही लिए है तब बुद्धिमान् के स्वकर्म के लिए तो कहना ही क्या ? अहंकार से निर्मुक्त बुद्धिमान् की बुद्धि तो पतित होने पर भी महापातकों से लिप्त नहीं होती ॥१५॥

राज्यलाभ आदि लोभप्रयुक्त युद्ध में 'लोभमूलानि पापानि रसमूलास्तथा मयाः' इस न्याय से कदाचित् अधर्म की प्रसक्ति हो भी सकती है; परंतु योग में – जो कि सिद्धि और असिद्धि में समभाव रहना ही है–स्थित हुए योगी की तो फल में आसक्ति न रहने से प्रसक्ति ही नहीं है। इसलिए उस योगस्थिति का भगवान् उपदेश देते हैं।

हे धनंजय, ब्रह्मभावापन्न होकर, संग का त्यागकर तुम कर्मों को करो, क्योंकि आसक्तिरहित होकर यथाप्राप्त कर्म करनेवाला उनके फलों से निबद्ध नहीं होता ॥१६॥

अथवा ब्रह्मार्पणबुद्धि से, जिसका लक्षण आगे चलकर किया जायेगा, सम्पादित हुआ वह शास्त्रीय कर्म तुम्हारे संसार–बन्धन के लिए नहीं होगा; यह कहते हैं।

शांत ब्रह्मशरीर होकर कर्म को ब्रह्ममय कर दो। अपने सत्कर्मों को ब्रह्मार्पण कर देने पर तुम शीघ्र ब्रह्म ही हो जाओगे ॥१७॥

निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान से अथवा उसकी असामर्थ्य में (निर्विशेष ब्रह्म के तत्त्वज्ञान में समर्थ न होने पर) सगुण ईश्वर के प्रति कर्म–समर्पणबुद्धि से कर्म करो। उससे भी कर्मबन्ध नहीं होगा, यह कहते हैं।

पार्थ, शुभ या अशुभ रूप अपने सब अर्थों को ईश्वर में समर्पित कर तथा अपनी आत्मा को भी ईश्वर में समर्पित कर निरामय (सांसारिक सुख, दुःख, राग, द्वेष, आदिरूप व्याधियों से रहित) होते हुए एवं सर्वभूतों की आत्मा बनकर इस भूतल को विभूषित करते हुए तुम ईश्वर हो जाओ ॥१८॥

अथवा, सर्वसंकल्पत्यागरूपी संन्यास योग में आत्मा को लगा देने से भी तुम्हें कर्मबन्धन की प्रसक्ति नहीं होगी, यह कहते हैं।

अर्जुन, तुम सभी संकल्पों का त्याग कर चुके, इसलिए अब समस्वरूप, शान्तचित्त मुनि बनकर कर्मफलत्यागरूपी संन्यासयोग में आत्मा को युक्त करके कर्म कर रहे तुम मुक्त मति हो जाओ ॥१९॥

इस तरह उपदेश प्राप्त कर चुके अर्जुन, तत्–तत् लक्षणों से संग और त्याग आदिका विभाग जानने के इच्छुक होकर पूछते हैं।

अर्जुन ने कहा : भगवन्, संग–त्याग का, ब्रह्मार्पण का, ईश्वरार्पणरूप का, सर्वथासंन्यास का तथा ज्ञान और योग का विभाग कैसा है ? हे प्रभो, मेरे महामोह की निवृत्ति के लिए यह सब क्रमशः कहिए ॥२०,२१॥

तत्त्वपरिज्ञान के बिना आत्यन्तिक संगत्याग नहीं हो सकता, इसलिए भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी लक्षण द्वारा पहले ब्रह्मात्मतत्त्व का ही निर्देश करते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा : सब संकल्पों की (कामनाओं की) संशान्ति हो जाने पर सघनवासनाओं से रहित, अतएव भावना करने योग्य कुछ भी रूप न रखनेवाला जो विशुद्ध चिन्मात्रतत्त्व है, वही परब्रह्म कहा गया है ॥२२॥ ब्रह्माकार से परिपूर्ण चित्त की वृत्ति को, जो कि अज्ञान की निवृत्तिरूप फल से उपहित है, परिपक्व बुद्धिवालों ने ज्ञान कहा है। और अज्ञाननिवृत्ति उपहित ब्रह्माकार के अनुकूल

प्रवाह मात्रस्वरूप चित्तवृत्ति को तो योग कहा है। *(अभिमान के विषय जगत् और अभिमान करनेवाले अहंकार का ब्रह्म में बाध ही मुख्य ब्रह्मार्पण है, यह कहते हैं)* तथा 'सम्पूर्ण संसार ब्रह्म ही है', और 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' – इस प्रकार के बाध को ब्रह्मार्पण कहा है ॥२३॥

ब्रह्म में जगत् और अहंकार – इन दोनों के बाध की उपपत्ति के लिए उसमें अध्यस्तता कहने के लिए ब्रह्मस्वरूप कहते हैं।

वह ब्रह्म भीतर शून्य है, बाहर भी शून्य है और उसकी उपमा पत्थर के हृदय से दी जा सकती है। वह शान्तस्वरूप है, आकाश–कोश के समान अत्यन्त स्वच्छ है। वह दृश्यस्वरूप नहीं है। *(सम्पूर्ण दृश्यों का निषेध हो जाने पर दृश्यस्वरूप होने के कारण द्रष्टा का भी निषेध क्यों नहीं होगा ? ऐसी आशंका कर कहते हैं।)* और न है द्रष्टा से अलग। द्रष्टा में दृश्यता का निषेध उस समय हो सकता, जब द्रष्टा के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रष्टा होता, वह तो है नहीं, यह भाव है ॥२४॥ तादृश्यभाव ब्रह्म से कुछ दूसरे रूप से उदित जो कुछ थोड़ा–सा समुत्थान है, वही यह जगत् का प्रतिभास है। और वह गन्धर्वनगर के आकाश की नाईं शून्यस्वरूप ही है ॥२५॥

संन्यास–वर्णन की उपपत्ति के लिए ब्रह्म में जगदारोप के समान ही ब्रह्म के अंशभूत प्रत्येक जीव में अहंभावाध्यास मानना युक्त है। इसलिए इस विषय में आग्रह करना ठीक नहीं जँचता, यह कहते हैं।

'मैं' इस प्रकार का कोई एक अनिर्वचनीय भाव यानी अहंकाराध्यास प्रत्येक जीव में उत्पन्न हुआ है, जो चिति के करोड़ों–करोड़ों अंशों से परिकल्पित है। इसके प्रति भला कौन–सा आग्रह ? ॥२६॥ 'मैं' इस प्रकार का यह अहंभाव अपने अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म से वास्तव में भिन्न है ही नहीं, केवल अज्ञान से उससे भिन्न–सा स्थित जान पड़ता है; क्योंकि पृथक्त्व का नाम है परिच्छेद, और वह ब्रह्म में है नहीं। और 'असद्रूप' मैं नहीं हूँ,' यों सब कोई जानता है। ऐसी स्थिति में अवगन्ता होने से पृथक्त्व की उपपत्ति और पृथक्त्व होने से अवगन्ता की उपपत्ति–इन दोनों में किसी एक के त्याग में उपपत्तिरहित पृथक्त्व का ही अवश्य त्याग कर देना चाहिए, यह भाव है ॥२७॥

अहन्ता के विषय में कहा गया न्याय घटादि विषयों में होनेवाले ममताभाव में भी लगाना चाहिए, यह दिखलाते हुए तन्मूलभूत अहन्ताध्यास के त्याग को ही दृढ़ करते हैं।

जैसे अहंभाव प्रत्यक्चैतन्य से पृथक् नहीं है, वैसे ही प्रत्यक् चेतन से घटादिविषयों में होनेवाला ममताभावरूप बन्दर भी पृथक् नहीं है। ऐसी परिस्थिति में दोनों प्रकार के भाव, सागर के समान, पूर्ण ब्रह्मरूप ही हैं; इसलिए अहन्ता के प्रति आग्रह ही क्या ? यानी अहन्ता का आग्रह युक्त नहीं है ॥२८॥ जब तत्–तत् विषयों की विचित्रता से चित्र–विचित्र होकर अहं तथा ममतादि स्वरूप सम्पूर्ण विकल्पभेदों का स्फुरण होता है, तब उनकी सत्ता की स्फूर्ति में निमित्त, तीनों अवस्थाओं में अनुगत, एकमात्र संवित्सारस्वभाव एवं सब विकल्पों के आगम और अपाय में साक्षी होकर स्थित रहनेवाले प्रत्यगात्मा में एकत्व का भी स्फुरण होता ही है। ऐसी अवस्था में उसमें भी आग्रह करना युक्त है, फिर वह क्यों नहीं किया जाता ? ॥२९॥ उक्त रीति से विचारकर सार और असार के विभाग का ज्ञान प्राप्त कर चुके पुरुष की बुद्धि में अहं और ममता के आग्रह का जो परिक्षय होता है, उसीसे सब फलों में अस्पृहारूप त्याग अर्थतः सिद्ध हो जाता है। उसे ही ज्ञानियों ने 'संन्यास' कहा है ॥३०॥

और उससे सब संकल्पों का त्यागरूप असंग सिद्ध होता है यह प्रथम प्रश्न का भी उत्तर हो चुका, यह कहते हैं।

संकल्पसमूहों का जो त्याग है, वही असंग (आसक्ति का अभाव) कहा गया है। *(चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं)* सभी संकल्प-विकल्पसमूहों में भेदावभासरहित जो ईश्वरमात्र की एक भावना है - सभी के उपादानकारण सर्वान्तर्यामी ईश्वर ही उस तरह कार्यों में प्रवृत्त कराते हैं, यह सब व्यवहार उसी के विलास हैं, इस तरह की जो ईश्वर में तन्मयता की भावना है-यही (उसमें सभी व्यवहारों को समर्पित कर देना ही) ईश्वरार्पण कहा गया है ॥३१॥ इस चिदात्मा में अज्ञान के कारण इन जीव, जगत् आदि का नाम से ही भेद है, परमार्थतः यह नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत् बोधात्मक है, अतः जगत् एक ब्रह्ममय ही है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥३२॥

उसे ही दृढ़ करने के लिए भगवान् अपनी सर्वात्मक विभूति का वर्णन करते हैं।

दिशाएँ मैं हूँ, जगत् मैं हूँ, कर्मों का आश्रय मैं हूँ और कर्म भी मैं ही हूँ। काल मैं हूँ, अद्वैत और द्वैत मैं हूँ तथा अद्वैत और द्वैतरूपी अपने पर और अपर दो रूप और उनसे नियम्य जगत् मैं ही हूँ ॥३३॥ यों दो रूपोंवाले मुझमें अधिकार के तारतम्य से अपना मन लगाकर स्थित रहो, तादृश स्वरूपवाले मुझमें वैसे ही भक्त होओ यानी श्रवण, कीर्तन आदि नव प्रकार की भक्ति से युक्त होओ, ज्ञानयज्ञ से या कर्मयज्ञ से तादृशस्वरूप मेरे यजनशील होओ, उक्तस्वरूप मुझे नमस्कार करो और मेरी शरण में रहो। कहे गये दोनों प्रकारों से भी मुझमें चित्त लगाकर साक्षात् या परम्परया स्वात्मभूत मुझको ही प्राप्त करोगे ॥३४॥

यों भगवान् से कहे गये अर्जुन : उन दोनों रूपों की, उनकी प्राप्ति के लिए योग्य अधिकार की और काल के विभाग की - जिज्ञासा करते हुए पूछते हैं।

अर्जुन ने कहा : हे देवेश, आपके वे पर और अपर दो रूप कैसे हैं ? और अपनी सिद्धि के लिए किस समय किस रूप का आश्रय कर मैं स्थित रहूँ ? ॥३५॥ श्रीभगवान् ने कहा : हे पापशून्य अर्जुन, यह जान लो कि मेरे दो रूप हैं - एक तो सामान्य रूप यानी सर्वजनसाधारण (सुबोध) और दूसरा परम उत्कृष्ट यानी अशुद्ध चित्तवालों से दुरधिगम्य। हाथ आदि से युक्त, शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाला मेरा सामान्यरूप है और जो मेरा विकारवर्जित, अद्वितीय, आदि और अन्त से रहित परमरूप है; वह ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा आदि शब्दों से कहा जाता है ॥३६,३७॥ पार्थ, जब तक तुम अप्रबुद्ध होकर अनात्मज्ञरूप से स्थित हो तब तक तो चतुर्भुजाकार देव की पूजा में ही तत्पर रहो ॥३८॥ तदनन्तर तुम चित्तशुद्धिक्रम से संप्रबुद्ध होकर परम उत्कृष्ट, आदि और अन्त से रहित मेरे उस रूप को जान जाओगे, जिसके ज्ञान से प्राणी इस संसार में फिर उत्पन्न नहीं होता ॥३९॥ हे अरिमर्दन, यह सगुण देव का भजन मैंने तुमसे चित्तशुद्धि के अभाव की संभावना करके ही कहा है। यदि तुम्हारा चित्त विज्ञानैकस्वभाव ब्रह्म के ज्ञान करने के योग्य हो गया है यानी अपने चित्त को विशुद्ध हुआ मानते हो, तब तो मुझ ईश्वर की आत्मा को (पारमार्थिकस्वरूपभूत शोधित तत्पदार्थ को) और अपनी आत्मा को (शोधित त्वं पदार्थरूप आत्मा को) एकरसकर अखण्ड परिपूर्णात्मा का तत्काल आश्रय करो अर्थात् इसका साक्षात्कार करके तन्निष्ठ हो जाओ ॥४०॥

'मैं दिशास्वरूप हूँ' 'मैं जगद्रूप हूँ' इत्यादि विभूतियों के उपदेश का भी उन –उन पदार्थों के अधिष्ठानभूत स्व–स्वरूप के संशोधन में ही तात्पर्य है, यह कहते हैं।

पार्थ, 'यह मैं हूँ' और 'यह भी मैं हूँ' इत्यादि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह सब इस अपरोक्ष आत्मतत्त्व का ही मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ ॥४१॥

मेरे उपदेश के ज्ञान से तत्काल ही अपने स्वरूप में तुम्हें विश्रान्ति प्राप्त हो जायेगी, यों उत्साहवृद्धि के लिए सिद्धवत् मानकर कहते हैं।

हे अर्जुन, मैं समझता हूँ कि मेरे उपदेश से तुम भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके हो, ब्रह्मपद में विश्रान्ति पा चुके हो और सर्व–संकल्पों से भी मुक्त हो चुके हो। अब तुम सत्य एवं अद्वितीय आत्मस्वरूप होकर स्थित रहो ॥४२॥ पार्थ, योग से युक्त अन्तःकरणवाले और चिरकाल के योगाभ्यास से सर्वत्र सन्मात्र का साक्षात्कार करनेवाले ब्रह्मज्ञ होकर तुम सम्पूर्ण भूतों में अधिष्ठानरूप से अनुगत आत्मा को तथा उस आत्मा में अध्यस्त सम्पूर्ण भूतों को देखो ॥४३॥ जो ब्रह्मज्ञ 'सब वह ब्रह्म ही है' यों ऐक्य का आश्रय कर सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा को भजता है, वह सब प्रकार से यानी समाधिवृत्ति या व्यवहारवृत्ति से स्थित रहता हुआ भी पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता ॥४४॥

स्वयं ही 'सर्वभूतस्थमात्मानम् इस श्लोक के तात्पर्य का वर्णन करते हैं।

हे अर्जुन, सर्वशब्द का अर्थ है एकत्व और वह एकशब्दार्थ आत्मा का (स्वभाव है)। वह आत्मा भी 'न सत् है और न असत् है' यों जिस किसीको जब अनुभूत होता है तब शीघ्र ही उसे कैवल्य प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब सब भूतों में अधिष्ठानरूप से स्थित आत्मा को देखता है तब वह सर्वशब्द के अर्थ–अधिष्ठानस्वरूप से अतिरिक्त दूसरेका लाभ न होने से एकत्व ही होता है। वह एक शब्दार्थ प्रत्यगात्मा के स्वभाव में पर्यवसित होता है। वह आत्मा भी न सत् है यानी न तीन मूर्तभूतों के स्वभाववाला है और न असत् है यानी न अवशिष्ट दो सूक्ष्मभूतों के स्वभाववाला है, किंतु भूमानंद चिदेकरस स्वभाव ही है। उस प्रकार के स्वभाव से युक्त आत्मा जिसके अनुभवपथ में आता है, उसे तत्क्षण ही यानी उस प्रकार की ज्ञानोत्पत्ति के अव्यवहित उत्तरक्षण में ही जन्म आदि विकारों से रहित, भूमानंदस्वरूप कैवल्य प्राप्त हो जाता है ॥४५॥

किसी के द्वारा अनुभूत न होने से उस आत्मा में प्रसक्त हुई अत्यंत परोक्षता का निवारण करते हैं।

तीनों लोकों के चित्तों में भीतर प्रकाश करनेवाला जो आलोक है और ज्ञानियों की अनुभूति में साक्षीरूप से जो आरूढ़ है, वही अहंशब्द का लक्ष्य आत्मा है – यही निश्चय है यानी यथार्थ विचार है ॥४६॥ हे भारत, तीनों लोकों में स्थित जलों के भीतर जो रसानुभव विद्यमान है, गऊ के विकारस्वरूप दूध आदि के भीतर जो रसानुभव स्थित है, लवण आदि के भीतर जो रसानुभव स्थित है तथा ईख, मधु आदि के भीतर जो रसानुभव स्थित है; वही इदंपदार्थ यानी यह आत्मा है यही निश्चय है। तात्पर्य यह कि यों जो सबके अनुभवों का विषय होता है, उसमें तो अत्यंत परोक्षता की प्रसक्ति ही नहीं है ॥४७॥ सम्पूर्ण शरीरों के भीतर विषय समूहों से निर्मुक्त, अतएव सूक्ष्मरूप से जो अनुभव स्थित है, वही यह सर्वव्यापी आत्मा है ॥४८॥ जिस प्रकार सम्पूर्ण दूधों के भीतर घी स्थित ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों के भीतर अधिष्ठानरूप से और सम्पूर्ण देहों के भीतर

प्रकाशकरूप से वह परमात्मा स्थित है ॥४९॥

दृष्टान्तों द्वारा आत्मा की देह के अन्दर स्थिति का विशदरूप से वर्णन करते हैं।

जैसे समुद्र के सम्पूर्ण रत्नों में स्थित तेज बाहर और भीतर प्रकाश करता है, वैसे ही बाहर–भीतर प्रकाश करनेवाला तेजस्वरूप मैं देहों के भीतर विद्यमान रहता हुआ भी अविद्यमान–सा हूँ ॥५०॥

'असंस्थित इव' इस कथन का तात्पर्य, जो कि आत्मा की अलेपकता बतलाना ही है, अन्य दृष्टान्तों द्वारा विशदरूप से कहते हैं।

जिस तरह हजारों घटों के बाहर और भीतर आकाश स्थित है, उसी तरह तीनों जगत् में स्थित शरीरों के भी बाहर और भीतर मैं स्थित हूँ। तात्पर्य यह है कि उन घटों के बाहर और भीतर स्थित होता हुआ भी आकाश जैसे अलेपक (निर्लेप) ही है, वैसे ही शरीरों के बाहर और भीतर स्थित हुआ आत्मा भी अलेपक ही है ॥५१॥

समस्त देहों के भीतर स्थित होकर अन्तर्यामीरूप से उनका विधारक होने पर भी वह (आत्मा) अलक्ष्य ही है, इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं।

सैकड़ों मोतियों के समूहों के छिद्रों में स्थित प्रोत–आकारवाला तन्तु जैसे लक्षित नहीं होता, वैसे ही लाखों देहों के भीतर स्थित यह आत्मा लक्षित नहीं होता ॥५२॥

वहाँ अधिष्ठानरूप से निर्विकार आत्मा की जो स्थिति है, वही ब्रह्मरूपता है और वही त्रिकालाबाधित सत्य है। और जो मोतियों में तन्तु की नाईं अन्तर्यामीरूप से स्थिति है तथा जो रत्नों में प्रभा की नाईं प्रकट जीवरूप से स्थिति है, अध्यस्त पदार्थों की अपेक्षा करनेवाली वे दोनों स्थितियाँ जागतिक व्यवहारों के संचालन के लिए ही कल्पित हैं। इसलिए यथार्थ में न कोई मारने योग्य है, न मारनेवाला है, न मरणप्रयुक्त (हिंसाप्रयुक्त) पाप है और न कोई स्वात्मा से अतिरिक्त उसका (हिंसाप्रयुक्त पाप का) फलदाता ही है; इस आशय से कहते हैं।

ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जितना भी पदार्थ–समूह है, उसमें सत्तासामान्यरूप से जो स्थित है; विद्वान् लोग उसे ही नित्य आत्मा जानते हैं ॥५३॥ इसलिए अनेकविध भ्रमोत्पादक अज्ञान से क्रमशः अहन्ता आदि तथा जगत्ता आदि से युक्त किंचित् स्फुरित आकारवाला वह ब्रह्म ब्रह्मरूप से ही स्थित रहता है, अन्यरूप से नहीं ॥५४॥ चूँकि यह जगद्रूप आत्मा ही है, अतः 'यह मारा जाता है' या 'यह मारता है' इसमें विषय ही क्या है? अर्थात् न कोई मारता है या न कोई मारा ही जाता है। हे अर्जुन, शुभ एवं अशुभ स्वरूप जगत् के दुःखों से इसका क्या लिप्त होता है? अर्थात् कुछ नहीं ॥५५॥

अध्यस्त हुए वधादि दोषों से आत्मा लिप्त नहीं होता, इसमें दूसरा दृष्टान्त बतलाते हैं।

प्रतिबिम्बों के सदृश नष्ट हो रहे पदार्थों में दर्पण–सदृश यानी प्रतिबिम्बों के नष्ट होने पर भी दर्पण की नाईं साक्षिस्वरूप से स्थित अविनाशी आत्मा को जो देखता है, वही सम्यग्दर्शी है ॥५६॥

समस्त देहों में 'मैं' यों भासमान चिदंश ही अहंपदार्थ है, जड़स्वरूप देह, इन्द्रिय विषयांश अहंपदार्थ नहीं है – यह विभागोक्ति भी दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए दूसरे अनेक दर्पणों और घटादिकों में व्यावृत्त दर्पणस्वरूप का परिचय कराने के लिए दर्पण–अदर्पण–विभागोक्ति की नाईं ही है, यह कहते हैं।

हे पाण्डुनंदन, 'समस्त शरीरों में प्रकाशमान चेतनांश ही मैं हूँ' और 'देह, इन्द्रिय आदि जड़ अंश

मैं नहीं हूँ' – इस प्रकार का अर्थविभाग और शब्दविभाग जो मुझसे कहा जाता है, वह दर्पणस्वरूप का परिचय कराने के लिए दर्पणअदर्पण विभाग कथन के सदृश आत्मस्वरूप का परिचय कराने के लिए ही कहा जाता है। दर्पण के सदृश लिप्त न होनेवाला अद्वितीय आत्मरूप मै सर्वात्मा हूँ। उसी तरह का तुम मुझे तत्त्वतः जानो ॥५७॥ अर्जुन, ये अहमभिमानवाले चित्त में रहनेवाली सृष्टि–प्रलयात्मक सब तरह की क्रियाएँ वास्तव में आत्मा में ऐसे प्रवृत्त होती हैं, जैसे समुद्र में जल की तरंगादि स्पन्दन क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं ॥५८॥ जिस प्रकार पर्वतों का पारमार्थिक स्वरूप पाषाणता ही है, वृक्षों का स्वरूप काष्ठता ही है और तरंगों का स्वरूप जलता ही है; उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का पारमार्थिक स्वरूप आत्मता ही है ॥५९॥ सम्पूर्ण भूतों में अधिष्ठानरूप से स्थित आत्मा को, उस आत्मा में अध्यस्तरूप से स्थित सम्पूर्ण भूतों को तथा अकर्ता आत्मा को यानी प्रतिबिम्बों की चित्र–विचित्र चेष्टाओं से अलिप्त दर्पण की नाईं कर्तृत्व आदि धर्मों से शून्य आत्मा को जो देखता है, वही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है ॥६०॥ हे अर्जुन, नाना प्रकार के आकारों एवं विकारों वाले तरंगों में जैसे जल अनुगत है या कटक आदि में सुवर्ण अनुगत है, वैसे ही विविध प्रकार के समस्त भूतों में आत्मा भी अनुगत है ॥६१॥ जिस प्रकार जल में नाना प्रकार के चंचल तरंगसमूह रहते हैं या सुवर्ण में कटक आदि रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा में ये समस्त भूत भी रहते हैं ॥६२॥ हे भारत, भूत आदि सम्पूर्ण पदार्थ और बृहद् ब्रह्म–इन सबको, दर्पण तथा उसमें के प्रतिबिम्ब की नाईं, एकरूप ही जानो; इनमें लेशमात्र भी पृथक्त्व नहीं है ॥६३॥ हे पार्थ, तीनों जगत् में जब एकमात्र निर्विकार ब्रह्म ही है, तब जन्म आदि भावविकारों का आश्रयभूत दूसरा क्या है ? अथवा तुम्हारे बन्धुवध आदि भावविकार भी कहाँ है ? किंवा यह जगत् भी ब्रह्म को छोड़कर दूसरा क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं है। अतः तुम व्यर्थ ही इनमें मोह क्यों करते हो ? ॥६४॥

इस प्रकार के उपदेशों को सुनकर और निश्चयपूर्वक भीतर अभय ब्रह्म की भलीभाँति भावनाकर समचित्त महात्मा लोग जीवन्मुक्त होकर इस व्यवहार भूमि में विचरण करते हैं ॥६५॥

वक्ष्यमाण लक्षणों से युक्त उन जीवन्मुक्तों को विदेहमुक्ति भी प्राप्त होती है, इस आशय से कहते हैं।

हे पार्थ, मान और मोह से रहित, बाहर के विषयों में आसक्तिशून्य, आत्मज्ञान में निरत, विषयवासनाओं से रहित, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों से निर्मुक्त तथा 'अहम्' 'मम' इत्यादि भेद–प्रत्ययों से शून्य अमूढ़मति महात्मा उस अविनाशी परम–पद को प्राप्त होते हैं ॥६६॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

सुख, दुःख आदि के सम्बन्ध में हेतु, उनसे छुटकारा पाने का उपाय तथा
जिसके अवलम्बन से उनसे छुटकारा होता है–इन सबका वर्णन।

'सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त महात्मा ब्रह्मपद पाते हैं' यह जो पहले कहा गया है, उसमें द्वन्द्वों के सम्बन्ध में कारण क्या है ? उनसे छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? तथा किसके अवलम्बन से छुटकारा होता है ? इन सब आशंकाओं का परिहार करते हुए आत्मतत्त्व का उपदेश देने की इच्छावाले

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी कहते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा : हे महाबाहो, फिर मेरे उत्तम वचन सुनो, जिन्हें प्रेम से सुनने की इच्छा कर रहे तुमसे मैं केवल कल्याण की कामना से कहता हूँ ॥१॥

उसमें पहले 'विषय ही सुख-दुःखरूप हैं' यों अभेद-भ्रम का निरास कर रहे भगवान् कहते हैं।

हे कौन्तेय, इन्द्रियों के विषयसम्बन्ध ही शोतोष्णादि अनुभवों से जनित सुख-दुःख देते हैं। हे भारत, वे इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध सदा उत्पद्यमान और विनश्यमान हैं, अतःउन्हें तुम सहो ॥२॥ *(यहाँ शीत और उष्ण शब्द दृष्टान्तार्थक हैं यानी ग्रीष्मकाल में शीत सुखद है और उष्ण दुःखद है; शिशिरकाल में उष्ण सुखद और शीत दुःखद है; इसलिए विषय कभी सुख-दुःखरूप नहीं हो सकते। इसी तरह 'तितिक्षस्व' यह शब्द वैराग्य का भी उपलक्षण है। इससे निष्कर्ष यही निकला कि प्रिय विषयों से विरक्त हो जाओ और अप्रिय विषयों को सहो।)*

जिस बुद्धि से वैराग्य और तितिक्षा - ये दोनों सिद्ध होते हैं, उसे कहते हैं।

इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का विषयसंसर्ग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व या इनसे भिन्न जो कुछ भी हैं वे सबके सब अद्वय, पूर्णानन्दस्वभाव स्वात्मा से तनिक भी पृथक् नहीं हैं। अतः उस प्रकार के सर्वत्र आत्मदर्शन से कहाँ सुख और कहाँ दुःख होगा ? *('प्रियतम धन आदि सम्पत्ति से मैं परिपूर्ण हूँ' इस भ्रान्ति से आभिमानिक सुख और उसके वियोग में या अप्रिय वस्तु की प्राप्ति में 'मैं खण्डित हुआ' इस भ्रान्ति से दुःख हो सकता है, परंतु वह भी निरवयव आत्मा में पूरण और खण्डन का असंभव ज्ञात होने पर निवृत्त हो जाता है, यह कहते हैं।)* आदि-अन्त से शून्य तथा अवयवरहित स्वात्मा में पूरण और खण्डन कैसे हो सकता है ? ॥३॥ जिस महामति की विषयों और इन्द्रियों में सत्यता-भ्रान्ति उपशान्त हो जाती है, वह इन्द्रियविषय भ्रमात्मक जीव तत्त्वदर्शी और तुल्य सुख-दुःख होकर अमृतपद के लिए योग्य हो जाता है ॥४॥

यदि शंका हो कि अप्रिय दुःख आदि अपने-अपने प्रतिकूल वेदनीयत्वस्वभाव का जब परित्याग करें, तभी तो वे सह्य होंगे; परंतु वे कैसे उसका परित्याग कर सकेंगे ? इस पर कहते हैं।

निरतिशय आनन्दरस से परिपूर्ण आत्मा ही सब कुछ है, इसलिए सुख, दुःख आदि सब विषयभेद एक तरह से सुभेदरूप यानी प्रियतम धन, पुत्र आदिस्वरूप होकर ही अवस्थित है। उन द्वन्द्वों में पूर्व-कालीन जो प्रतिकूल वेदनीयत्व है, उसरूप से तो वे असत्स्वरूप ही हैं, इसलिये वे क्यों नहीं सहे जा सकेंगे। अर्थात् सहे ही जा सकेंगे ॥५॥

उसीका स्पष्टीकरण कर समर्थन करते हैं।

सभी तरह से सुख-दुःखों का अस्तित्त्व तनिक भी नहीं है। आत्मतत्त्व ही तो सर्वस्वरूप है। इसलिए हे भद्र, अनात्मा की सत्ता कैसे होगी ? ॥६॥

असत् भी सुख, दुःख आदि आत्मा में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि असत् का अपने कारण में समवाय, अपनी सत्ता का सम्बन्ध अथवा आद्यक्षणसम्बन्ध ही उत्पत्ति पदार्थ है, इस तरह की कणादोक्ति (कणाद मुनि के मत) का खण्डन करते हैं।

दुःख आदि असत् पदार्थों की सत्ता नहीं रहती और आत्मरूप अबाधित सत्-वस्तु की असत्ता

नहीं रहती । सत् और असत् वस्तुओं का यही स्वभाव है, विपरीत नहीं; यह वाचारम्भणश्रुति से निश्चित है । इस विषय में यदि यह शंका हो कि सब विकार असद्रूप होंगे तो पिण्ड आदि में से किसी एक विकार से अस्पृष्ट मृत्तिकारूप प्रकृति के न दीख पड़ने के कारण उसे भी असद्रूप मानेंगे तो परिशेष में शून्यतापत्ति हो जायेगी, तो यह शंका युक्त नहीं है । क्योंकि विकारों में अनुगत सद्बुद्धि निर्विषयक न हो सकने के कारण स्वतः विकारों के असत्त्व में भी परिशेष में शून्यता नहीं हो सकती । यदि अनुगत वस्तु असत् होती तो 'घटः असन्' यों घटादि में असत् की अनुवृत्ति होती; परंतु वह 'घटः सन्' यों सद्रूप से अनुवृत्त होती है । इसलिये सन्मात्र ही परिशेष में रहता है । जो विषयों में सद्अभिमान होता है, वह अधिष्ठान सत्ता को लेकर ही होता है, स्वतः नहीं; अतः दुःख आदि की सत्ता नहीं है और व्यापक परमात्मा की ही सत्ता है ।।७।। जगत् सत्य है, और निरतिशय आनन्द–स्वरूप ब्रह्म असत्य है–इन बुद्धियों को छोड़कर तथा जगत् एवं आत्मा के अन्तराल में दोनों के संघटन में हेतुभूत मन और तम को, तुच्छत्व–बुद्धि से छोड़कर जो चिदात्मा अवशिष्ट रहता है, उसमें तुम प्रतिष्ठित हो जाओ ।।८।। हे अर्जुन, यद्यपि आत्मा हर्ष, ग्लानि आदि दृश्य पदार्थों का साक्षिरूप से साक्षात्कार करनेवाला चितिस्वरूप है और शरीर के अन्दर रहता भी है, तथापि वह सुखों से न तो हर्षित होता है और न दुःखों से म्लान ही होता है । तात्पर्य यह है कि हर्ष आदि दृश्य पदार्थ द्रष्टा के धर्म नहीं हो सकते ।।९।।

तब फिर कौन दुःख, हर्ष आदि का भागी होता है ? इस पर कहते हैं।

पार्थ, शरीररूपता को प्राप्त हुए जड़स्वरूप चित्त आदि ही दुःख के भागी होते हैं । इन चित्त आदि के नष्ट या क्षीण होने पर आत्मा का कुछ भी नष्ट नहीं होता ।।१०।। प्रिय पार्थ, देह आदि दुःख आदि के भोक्तारूप से जो यह चित्तादिघटित जड़ताप्रधान जीवरूप अवस्थित है, उसे अज्ञानवश उत्पन्न मायाभ्रम ही तुम जानो ।।११।। अतः आत्मा से पृथक्भूत देह आदि कुछ भी नहीं हैं और न दुःख आदि ही अपनी कुछ सत्ता रखते हैं, अतः कौन पदार्थ किसका अनुभव करेगा ? अर्थात् कोई किसीका अनुभव नहीं करेगा ।।१२।। हे भारत, चूँकि दृश्यमान यह दुःख ब्रह्म के अज्ञान से जनित एक प्रकार की भ्रान्ति ही है, अतः तत्त्वज्ञान से वह नष्ट हो जाता है, इस विषय में मैं तुम्हें दृष्टान्त बतलाता हूँ ।।१३।। जिस प्रकार रज्जु के अज्ञान से उत्पन्न हुआ रज्जु में सर्पभय रज्जु के यथार्थज्ञान से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुए देह आदि एवं दुःखादि भय आत्मा के तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाते हैं ।।१४।।

वह बोध किस प्रकार का है ? यह कहते हैं।

यह विश्व नित्य एवं पूर्ण ब्रह्मरूप ही है, वह न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है, यही अकाट्य सत्य है, यह जानो और यही वह उत्तम बोध है ।।१५।। कौन्तेय, ब्रह्मरूपी महान् सागर में कुछ तरंगरूप उत्पन्न होकर विलीन हो जाता है, आज बोधोदयकाल में ब्रह्मावर्त में तुम स्फुरित हो रहे हो, तुम सर्वविध विकारवर्जित ब्रह्मरूप ही हो, पृथक् नहीं ।।१६।। काल, क्रिया, देश, तुम, मैं आदि जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब उस सम्राट् के भी सम्राट् परब्रह्म के एक तरह से सैनिक हैं, वे सब ब्रह्मात्मा में एक तरह से परिस्पन्दनरूप हैं, अतः आत्मा में भाव–अभावविकल्प हैं ही नहीं ।।१७।।

अर्जुन, तुम मान, मद, शोक, भय, इच्छा, सुख, दुःख – यह सम्पूर्ण असद्रूप द्वैतप्रपंच छोड़ दो और एकमात्र अद्वितीय सद्रूप हो जाओ ॥१८॥ तुम्हारे द्वारा किया जानेवाला अक्षौहिणी सेना का विनाश भी ब्रह्मरूप ही है, अतः क्षयात्मना भी ब्रह्म ही विस्तीर्ण है, इसलिए तुम अनुभवरूप शुद्ध ब्रह्म को ही ब्रह्ममय कर दो ॥१९॥ हे भारत, सुख, दुःख, लाभ, हानि, जय और पराजय किसी पर भी दृष्टि न देकर युद्ध कर रहे तुम एकमात्र ब्रह्मरूप हो जाओ, क्योंकि तुम अवश्य ब्रह्मरूप समुद्र हो ॥२०॥ लाभ और अलाभ में समबुद्धि होकर तत्त्वनिश्चय से देहादिरूप न होकर, गुहापरिच्छिन्न वायु के सदृश, कम्पनशून्य होकर तुम उपस्थित कार्य करो ॥२१॥

सब कुछ ब्रह्मरूप ही है, इस निश्चय में स्थिर रहना ही समस्त कर्मों को मेरे अर्पण करना है, इस आशय से कहते हैं।

हे कौन्तेय, जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ होमते हो, जो कुछ देते हो और भविष्य में जो कुछ शास्त्रानुकूल अनुष्ठान करोगे; वह सब आत्मरूप ही है – इस प्रकार की बुद्धि में सुस्थिर हो जाओ ॥२२॥ जो पुरुष अपने हृदय के भीतर जिस किसी आकार से युक्त होता है यानी अपने चित्त में जिस स्वरूप की दृढ़ भावना कर लेता है, वह निःसंशय उसे प्राप्त कर लेता है – यह नियम है। इसलिए हे अर्जुन, ब्रह्मस्वरूप सत्य को प्राप्त करने के लिए तुम ब्रह्मरूप सत्यमय हो जाओ यानी निरंतर अपने हृदय में ब्रह्माकार की भावना करो ॥२३॥ पार्थ, जिसे ब्रह्मज्ञान हो चुका है, वह स्वयं ही – सम्पूर्ण कामनाओं की जिसमें परिसमाप्ति रहती है, ऐसा – पुरुषार्थरूप ब्रह्मफल बनकर प्रारब्धवश प्राप्त, 'ब्रह्म' इस भावना से बाधित ही चेष्टारूप कर्म करता है ॥२४॥ जो पुरुष, उक्त रीति से कर्म में अकर्म देखता है यानी निष्क्रिय ब्रह्म का अवलोकन करता है और अकर्म में (निष्क्रिय ब्रह्म में) अविच्युत–प्रतिष्ठारूप अवश्यकर्तव्यकर्म का अवलोकन करता है, वही मनुष्यों में विवेकी पुरुष है; और वही स्वरूपतः तथा फलतः अशेषकर्म करनेवाला है। इसलिए उसीको विद्वानों ने 'कृत्स्नकर्मकृत्' (अशेष कर्मों का कर्ता) कहा है ॥२५॥ हे धनंजय, प्रवृत्ति में निमित्तभूत लाभादिरूप कर्म–फल से युक्त मत होओ और अकर्म में यानी प्राप्त कर्म के न करने में तुम्हें आसक्ति न हो। योग में स्थित होकर (पूर्वकथित सिद्धि–असिद्ध में समदृष्टिरूपी योग में प्रतिष्ठित होकर) आसक्ति छोड़कर कर्म करते चलो ॥२६॥ कर्मों में आसिक्त का आश्रय न कर, तत्त्वदृष्टि में प्रमाद का आश्रय न कर और नैष्कर्म्य का भी आश्रय न कर सम होकर यथास्थित बैठे रहो ॥२७॥ कर्मफलों में आसक्ति छोड़कर जो पुरुष नित्यतृप्त और निराश्रय होकर स्थित रहता है, वह कर्म में भली–भाँति प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता ॥२८॥ विद्वान् लोग आसक्ति को ही कर्तृत्व कहते हैं, मन में प्रमाद रहने पर कर्म न करनेवाले पुरुष को वह आसक्ति अवश्य होती है, अतः मूर्खता का परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि मूर्खता से ही अनर्थपरम्परा होती है ॥२९॥

तत्त्वज्ञान से प्रमाद नष्ट हो जाने पर तो आसक्ति नहीं टिकती, अतः आसक्तिरहित उस पुरुष में अकर्तृत्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं।

परम तत्त्वज्ञान का आश्रय लेकर आसक्तिरहित हुए, सब कर्मों में तत्पर भी महात्मा में कभी भी

कर्तृत्व उदित नहीं होता ॥३०॥

अकर्तृत्व सिद्धि से भूमिका क्रम के अनुसार विदेह कैवल्य तक की सिद्धि हो जाती है, यह कहते हैं।

कर्तृत्वाभिमान न रहने से अभोक्तृत्व की सिद्धि होती है और भोक्तृत्व के अभाव से समैकरूपता की सिद्धि होती है। समैकरूपता की सिद्धि हो जाने से अनन्तता और उसके अनन्तर विस्तृत ब्रह्मरूपता की सिद्धि होती है ॥३१॥ हे अर्जुन, अनेकतारूपी मल का उत्सर्ग करके परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर तुम कार्य या अकार्य का (प्रमाद से निषिद्ध कर्मों का) सम्पादन कर रहे भी किसी के कर्ता नहीं होओगो ॥३२॥ जिस पुरुष, के सभी कर्म कामसंकल्प से वर्जित हैं अतएव ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध कर्मवाले उस पुरुष को सभी विद्वान 'पण्डित' कहते हैं ॥३३॥ जो सम, सौम्य, स्थिर, स्वस्थ, शांत और सब पदार्थों से निस्पृह होकर अवस्थित रहता है, वह कर्मयुक्त होता हुआ भी अकर्मता को प्राप्त होता है ॥३४॥ हे पार्थ, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से निर्मुक्त, नित्य सत्त्वस्थ, योग एवं क्षेम से शून्य यानी अलब्ध वस्तु के लाभ और लब्ध वस्तु का पालन – इन दोनों की चिन्ता से शून्य आत्मवान्, प्रारब्धप्राप्त विषयों या कर्मों का अनुसरण कर रहे तुम पृथिवी को अलंकृत करनेवाले हो जाओ ॥३५॥

सब कर्मों का त्याग करने पर भी यदि मन में विषयों के प्रति आसक्ति बनी रहे तो वह त्याग दाम्भिक त्याग ही है, यह कहते हैं।

हे अर्जुन, जो विमूढात्मा (कार्य-अकार्य के विवेक से शून्य) पुरुष (मुक्ति के साधन-भूत अपने वैदिक कर्मों को छोड़कर) बाहर से कर्मेन्द्रियों का निरोधकर (आँख आदि को जबरन मुँदकर) मन से इन्द्रियार्थों का (शब्दादि विषयों का) चिन्तन करता हुआ स्थित रहता है, वह सज्जनों द्वारा आत्मवंचक कहा जाता है ॥३६॥

और जो मनसहित सभी इन्द्रियों का निग्रह करता है, वह शास्त्रानुसार विहित कर्मों को करता हुआ भी, उनके फलों में आसक्ति न होने से, संन्यास के फल का भागी होता है, इस आशय से उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं।

हे अर्जुन जो मुमुक्षु विद्वान् ज्ञानेन्द्रियों का मन से संयमकर यानी चक्षु आदि इन्द्रियों को राग, द्वेष आदि दोषों से दूरकर कर्मेन्द्रियों से (चित्तशुद्धि के उपयोगी) श्रौत-स्मार्त कर्मों को (ईश्वरार्पणबुद्धि से) करता है, वह पूर्वोक्त आत्मवंचक की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है ॥३७॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण इन्द्रियों का निग्रह कर चुके संन्यासी को ही, सम्पूर्ण इच्छाओं के शान्त हो जाने से, परमपुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं यों उपसंहार करते हैं।

जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में प्रविष्ट हो जाती हैं यानी समुद्रभाव प्राप्तकर उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अचल ब्रह्म में प्रतिष्ठित हुए जिस संन्यासी में सब कामनाएँ मिथ्यात्वबुद्धि से बाधितविषय होती हुई प्रविष्ट हो जाती हैं यानी आत्मा में ही विलीन होकर एकमात्र आत्मरूपता को प्राप्त हो जाती हैं; वही सम्पूर्ण अनर्थों की शांतिरूप मोक्ष प्राप्त करता है, न कि विषयों की कामना करनेवाला पुरुष यह भाव है ॥३८॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त

पचपनवाँ सर्ग

देह का नाश हो जाने पर भी अविनाशी आत्मा मूढ़ और तत्त्वज्ञ दोनों में समान है, परन्तु भ्रान्ति से मूढ़ जन्मादि का भागी बनता है और तत्त्वज्ञानी नहीं बनता – यह वर्णन।

श्रीभगवान ने कहा : हे पार्थ, बुद्धिमान् देहधारण के निमित्तभूत अन्नपानादिरूप भोगों का त्याग न करे और न करे भोगों की प्राप्ति के लिए चिन्ता यानी भोगसौन्दर्य-सम्पादन के लिए व्यसनिता। यथाप्राप्त भोगों का उपभोग करते हुए समभाव से स्थित रहे उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति में एक भाव से स्थित रहे ॥१॥

इसी तरह देहात्मभावना (देह में आत्मा की भावना) भी न करे, यह कहते हैं।

हे अर्जुन, जन्मादिविकारस्वभाव अनात्मरूप देह में आत्मता की भावना मत करो, परन्तु जन्मादिविक्रियाशून्यस्वभाव सत्य आत्मा में ही आत्मा की भावना करो ॥२॥ हे महाबाहो, देह का नाश होने पर इसका कुछ भी नष्ट नहीं होता। आत्मा का नाश होने पर इसका कुछ नाश हो सकता है, किन्तु अविनाशी आत्मा का नाश नहीं होता ॥३॥

उक्त अर्थ में 'अशीर्यो नहि शीर्यते' इस श्रुति को प्रमाणरूप से उपस्थित कर रहे भगवान् शीर्णता आदि देह के धर्म हैं, इन्हें आत्मा में प्रसक्त करनेवाला आभिमानिक परिग्रह (अहंबुद्धि) ही है। अहंबुद्धि का त्याग हो जाने पर तो शीर्णतादि की प्रसक्ति नहीं होती, यह कहते हैं।

सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित अतएव देहादि के परिग्रह में निमित्तभूत चित्त से विविक्त आत्मा नष्ट नहीं होता और युद्धादि कर्म में प्रवृत्त हुआ भी वह कुछ नहीं करता ॥४॥ मन के अज्ञता से युक्त रहने पर ही आसक्ति होती है, जिसे कर्तृत्व कहते हैं। वह आसक्ति कर्म न करनेवाले को भी मूर्खतापूर्ण चित्त रहने पर होती ही है, अतः मूर्खता छोड़ देना चाहिए ॥५॥

उसमें उपाय बतलाते हैं।

परम तत्त्वज्ञान का आश्रय करने के कारण आसक्तिरहित हुए महात्मा में, सम्पूर्ण कर्मों में तत्पर होने पर भी, कर्तृत्व किसी समय उदित नहीं होता। हे अर्जुन, यह आत्मा अविनाशी, आदि और अन्त से शून्य अजर कहा गया है इसलिए 'आत्मा नष्ट होता है' यह दुःखदायी दुर्बोध तुम्हें न हो। उत्तम आत्मज्ञानी लोग 'आत्मा नष्ट होता है, इस रूप से आत्मा को नहीं देखते। (क्यों नहीं देखते ? यदि यह पूछिये तो इसका उत्तर यह है) चूँकि वे आत्मा में ही आत्मा का अवलोकन किया करते हैं, इसलिए अपने आत्मा को अनात्म (देहादिरूप) नहीं देखते ॥६-८॥

ऐसी परिस्थिति में मूढ़ लोग आत्मबुद्धि से देहादि का अवलोकन किया करें, तथापि देहादि का नाश हो जाने पर आत्मा का नाश नहीं होता, इसलिए उनको मरणादिरूप अनर्थ वस्तु ही न रही, ऐसी अर्जुन शंका करते हैं।

अर्जुन ने कहा : मेरा सम्मान करनेवाले हे त्रिजगन्नाथ, ऐसी परिस्थिति में देह का नाश हो जाने पर भी मूर्खों की कोई प्रियतम वस्तु नष्ट तो नहीं हुई ॥९॥

यह जो तुम आपत्ति दे रहे हो, वह हमें इष्ट है, यों इष्टापत्ति से भगवान् उसका परिहार करते हैं।

श्रीभगवान ने कहा : हे महाबाहो, जैसा तुम कह रहे हो, ठीक वैसा ही है, कहीं किसी का कुछ नष्ट

नहीं होता, क्योंकि जब आत्मा अविनाशात्मा ही है, तब भला उसका कहाँ क्या विनष्ट हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं, यह भाव है ॥१०॥

तब मूर्खों को देहनाश, पुत्रलाभ आदि में अनर्थत्व और अर्थत्व का व्यवहार कैसे होता है? इस पर कहते हैं।

यह नष्ट हुआ और यह प्राप्त हुआ, इत्यादि मूढ़–व्यवहारों को मैं असत् मोहभ्रम के सिवा सद्रूप उस प्रकार नहीं देखता, जिस प्रकार असत् वन्ध्या स्त्री के पुत्र को। निष्कर्ष यह निकला कि स्वप्न में भी पुत्रमरण और पुत्रजन्म के भ्रम से अनर्थत्व और अर्थत्व व्यवहार जैसे देखा जाता है, वैसे ही मूढ़ों को भी भ्रम से व्यवहार होता है ॥११॥

अतएव मैंने पहले ही कह दिया था कि सत् भाव का असत्त्व के साथ विरोध होने से देहादि में सत्त्व नहीं है, यह कहते हैं।

सत् से विलक्षण असद्रूप इस जगत् का भाव (अस्तित्व) नहीं हो सकता और सत्स्वरूप ब्रह्म का अभाव यानी असत्त्व नहीं हो सकता है। इस प्रकार सत् और असत् इन दोनों के विषय में सत् सत् ही है और असत् असत् ही है, विपरीत नहीं यों तत्त्वदर्शियों ने निर्णय किया है, मूर्खों ने नहीं, यह भाव है ॥१२॥

इस तरह जो सद्वस्तु है, वह अविनाशी है और जो विनाशी है, वह असद्रूप ही है, इसलिए असद्रूप बन्धुओं के देहादि का युद्ध में नाश होने पर भी कोई अनर्थ नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं।

हे पार्थ, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हुआ है, उस सूक्ष्मतम वस्तु को तुम अविनाशी समझो। इस अविनाशी वस्तु का कोई भी विनाश नहीं कर सकता। परिच्छेदशून्य, अप्रमेय और नित्य शरीरी आत्मा के ये शरीर अनित्य कहे गये हैं, इसलिए हे भारत, तुम युद्ध करने के लिए तैयार हो जाओ ॥१३,१४॥

अद्वय होने के कारण उसके विनाशकर्ता की अप्रसिद्धि से भी आत्मा के नाश की प्रसक्ति नहीं है, यह कहते हैं।

आत्मा एक है, और द्वैत है ही नहीं अतः सत् की उत्पत्ति ही कहाँ से हो सकती है। चूँकि सत् का नाश नहीं होता, इसलिए यह सद्रूप परमात्मा विनाशशून्य और अनन्त है। द्वित्व और एकत्व का यानी कारण और कार्य का परित्याग कर देने पर जो सत् (कारण) और असत् (कार्य) के मध्य में अधिष्ठानरूप सन्मात्र शेष बच जाता है, शान्तस्वरूप वह यहाँ परमपद आत्मा है ॥१५,१६॥

यों अपरिच्छिन्न आत्मा के मरणादि–परिच्छेद और दुःखादि–भ्रम में हेतु क्या है?

अर्जुन ने कहा : हे भगवन्, तब तो 'मैं मृतक हूँ' इस प्रकार मनुष्यों की मरणस्थिति किस हेतु से प्राप्त होती है? और उस स्थिति में हे प्रभो, लोगों को प्रसिद्ध स्वर्ग और नरक यानी सुख और दुःख कैसे होते हैं? ॥१७॥

'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' इस श्रुति का तात्पर्य लेकर भगवान् समाधान करते हैं।

श्रीभगवान ने कहा : हे अर्जुन, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि इनसे युक्त

तन्मात्राओं का जो समूह है, तत्स्वरूप हुआ ही जीव देहों में स्थित रहता है। भाव यह है कि पाँच भूतमात्राओं से निर्मित, मन, बुद्धि आदि से घटित व्यष्टिसमष्टिरूप स्थूल-सूक्ष्मभूत देहों में जो तादात्म्यापत्ति है, वही उस परमात्मा का जीवभाव है और वही जन्म-मरण एवं सुख-दुःखादिरूप भ्रम की स्थिति में निमित्त है ॥१८॥

उस जीव के विचित्र देहों के परिग्रह तथा उन भिन्न-भिन्न देहों के अनुरूप होनेवाली विचित्र चेष्टाओं में निमित्त कहते हैं।

वह जीव वासना से इस तरह खींचा जाता है, जिस तरह रस्सी से बछड़ा। वह शरीर के अन्दर उस तरह बैठा रहता है, जिस तरह पिंजड़े में पक्षी ॥१९॥

पूर्व देह से दूसरी देह में जाने में वासना ही निमित्त है, यह कहते हैं।

देश और काल से जर्जर हुए शरीर से यह जीव वासना लेकर उस तरह निकल जाता है, जिस तरह देश और काल से जर्जर हुए वटवृक्ष के पत्ते से रस। कान, आँख, त्वचा, जिह्वा और नख इन इन्द्रियों को लेकर पूर्व शरीर से दूसरे शरीर में जीव उस तरह चला जाता है, जिस तरह फूलों से गन्ध लेकर वायु अन्यत्र चला जाता है ॥२०,२१॥

अतएव इसका स्थूलदेह भी वासनात्मक ही है, परन्तु चिरकालिक अनुवृत्ति से उसमें स्थूलता का भ्रम होता है, यह कहते हैं।

इसका स्थूल-शरीर भी एकमात्र वासनारूप ही है यानी केवल वासना से ही उत्पन्न हुआ है, अन्य किसी दूसरे कारण से नहीं। अतएव वासना का त्याग होने पर वह क्षीण हो जाता है और उसके क्षीण हो जाने पर वह स्वयं ही परमपदरूप हो जाता है। यह वासनावेष्टित जीव दूसरे से यानी आत्मभूत अन्नपानादि से ही परिपुष्ट होकर अथवा लिंगदेह में अवच्छेद और प्रतिबिम्ब भाव से द्विगुणित प्रवेश से परमात्मा द्वारा परिपुष्ट (अभिव्यक्त) होकर अनेक भ्रमों का भार ढोता हुआ अनेक योनियों में उस तरह भ्रमण करता है जिस तरह माया से ऐन्द्रजालिक पुरुष (जादूगर) आकाश में भ्रमण करता है। वासनावेष्टित यह जीव श्रोत्र आदि की सम्पूर्ण शब्दादि-ग्रहणशक्तियों को लेकर उस तरह इस शरीर से नूतन शरीर में जाता है, जिस तरह पुष्प से गन्ध लेकर वायु स्थानान्तर में जाता है ॥२२-२४॥

लोक में वही मरणरूप से प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

हे कौन्तेय, शरीर से जीव के निकल जाने पर देह उस प्रकार एकदम कम्पनशून्य हो जाती है, जिस प्रकार वायु के शान्त हो जाने पर स्पन्दनशून्य अपनी शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से युक्त वृक्ष कम्पनशून्य हो जाता है। छेदन, भेदन आदि दोषों से चेष्टारहित होकर जीवरहित हुआ शरीर जब अदृश्य हो जाता है तब उसी से वह 'मृतः' (मर गया) यों कहा जाता है। वह प्राणस्वरूप जीव चिदाकाश या भूताकाश में जहाँ-जहाँ यानी देह, देश, काल, भोग्य आदि जिस-जिस आकार में अवस्थित होता है (भोगजनक अदृष्ट से उद्भूत हुई वासना से युक्त होता है), विस्तृत उस-उस आकार का अपनी वासना के अभ्यास से अवलोकन किया करता है। हे अर्जुन, अतः जीव द्वारा असत्स्वरूप ही (मिथ्यारूप ही) यह शरीर देखा जाता है, इसलिए देहनाश भी तुम उसी तरह असद्रूप देखो। अथवा सुषुप्त पुरुष की नाईं उसे मत देखो अर्थात् जैसे सुषुप्त पुरुष कुछ भी नहीं देखता वैसे ही तुम भी देह, देहनाश

उसकी असत्यता आदि कुछ न देखो ॥२५–२८॥

जब प्रतियोगी ही वासना से कल्पित हैं, तब उनके नाश भी वासना कल्पित हैं, यह सृष्टि के आरम्भ से निश्चित है, यह कहते हैं।

सृष्टि के आरंभ में चतुर्मुख ब्रह्माजी ने इन गौ, अश्व आदि आकारवाले पदार्थों में पूर्वसृष्टियों के अनुभवों से जनित वासना द्वारा ही विभावनावश इस तरह के रूपों की केवल कल्पना ही की है, मिट्टी और दण्ड लेकर कुम्हार की नाईं किसी का निर्माण नहीं किया है, यह पुराणों में प्रसिद्ध है। वह जिस तरह इनके रूपों की कल्पना करता है, उसी तरह उनके नाशों की भी कल्पना करता है ॥२९॥

उत्पत्ति–काल में वासनामय जगत् भले ही मिथ्याभूत हो, परन्तु स्थितिकाल में अर्थक्रियासमर्थ होने एवं सर्वजनीन सत्यता का अनुभव होने से वास्तव ही है, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

उत्पत्ति–काल में प्रथम क्षण में देह, घट आदि का जो आकार मिथ्याभूत या सत्यभूत सामने दीख पड़ता है, वह विनाशपर्यन्त उसी तरह का रहता है, किसी दूसरी तरह का नहीं, क्योंकि अधिष्ठानभूत यह संवित् जो जिस तरह की वस्तु उत्पन्न हुई हो, उसकी उसी तरह की स्थिति में हेतु है और संवित् के सिवा उनकी सत्ता ही नहीं रह सकती ॥३०॥

देहादि आकार भले ही वासनामय हों, उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

पार्थ, पहले का वासनारूपी मूल पुरुषार्थ से (श्रवण, मनन आदि पुरुष प्रयत्नों से जनित ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति से) उस प्रकार बाधित हो जाता है, जिस प्रकार आज के प्रायश्चित्त आदि प्रयत्नों से गत दिन का अधर्मानुष्ठान बाधित हो जाता है अथवा आज के दाहरूप प्रयत्न से गत दिन में निर्मित तृण–गृह नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि अशुभ वासनाओं से कल्पित देहादि आकार का शुभ वासनाओं के अभ्यास से जनित ब्रह्माकारवृत्ति से समूल विनाश ही उसके वासनामय होने का फल है ॥३१॥

यदि शंका हो कि ज्ञान के निमित्त प्रयत्न कर रहे बहुत से लोगों का प्रयत्न पहले काम, क्रोध आदि प्रबल वासनाओं द्वारा नष्ट होता दिखलाई पड़ता है, अतः प्रबलता में उत्तरत्व को हेतु कह नहीं सकते ? तो इस पर कहते हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में जो भी कोई एक पुरुषार्थ 'मेरे लिए यही पुरुषार्थ आवश्यक है' इस अभिनिवेश से देखा जाता है, वही पूवोत्तर प्रयत्नों में अपना विशेष महत्त्व रखता है और अन्य को जीत लेता है। (एवं पूर्वोक्त ज्ञान के लिए प्रयत्न करनेवालों में 'मोक्ष' का अभिनिवेश मन्द और 'भोग' का अभिनिवेश दृढ़ होने से ज्ञाननिमित्त प्रयत्नों का पराभव हो जाता है, यह भाव है) ॥३२॥

अतएव शास्त्रीय प्रयत्नों में दृढ़ अभिनिवेश करना चाहिए, यह कहते हैं।

इसलिए विन्ध्याचल के फूटने या प्रलयकालीन झंझावात के बहने पर भी बुद्धिमान् पुरुष को शास्त्रानुसारी प्रयत्न नहीं छोड़ने चाहिए अर्थात् सर्वदा उन्हीं का आश्रय करना चाहिए, यह भाव है ॥३३॥

शास्त्रीय प्रयत्नों के मन्द हो जाने पर पूर्ववासनाओं के वैचित्र्य से सुखदुःखात्मक अनर्थों की परम्परा किसी तरह रोकी नहीं जा सकती, इस आशय से कहते हैं।

अनादि अविद्या से मूढ़–बुद्धि यह जीव वासनावश अपने चारों ओर नरक, स्वर्ग, सृष्टि आदि

देखता रहता है जो कि उसे चिरकाल से अभ्यस्त हैं ॥३४॥

उसी आशय को 'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा नरकं तु वा ॥' (अपने सुख-दुःखों में पराधीन, अज्ञानी यह जीव ईश्वर से प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरक में जाता है) इस व्यास-वाक्य आदि में प्रसिद्ध कारणान्तर की आशंका के निरास के साथ स्पष्टरूप से जानने की इच्छा कर रहे अर्जुन पूछते हैं।

हे जगदीश, जगत् की स्थिति में निमित्तभूत इस जीव का स्वर्ग, नरक, सृष्टि आदि में जो भ्रमण होता है, उसमें कारण क्या है ? यह आप मुझसे कहिए ॥३५॥

दूसरा कोई कारण तो संभव नहीं है। ईश्वर, काम, कर्म आदि भी वासना के अनुसार ही सुख-दुःख आदि प्राप्त कराते हैं, अतः एकमात्र दीर्घकाल के अभ्यास से दृढ़ हुई वासना ही संसार के प्रति कारण है। इसलिए मोक्षार्थियों को उस वासना का क्षय ही सब प्रयत्नों से करना चाहिए, इसी आशय को स्पष्ट कर रहे श्रीभगवान् कहते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा : पार्थ, चूँकि शास्त्रीय प्रयत्नों की शरण न लेकर चिरकालिक अभ्यास से प्रोढ़ हुई स्वप्न-तुल्या यह वासना संसाररूप भ्रम को देनेवाली है, इसलिए तत्त्वज्ञान के अभ्यास से समूलवासना का क्षय ही यहाँ तुम्हारे कल्याण के लिए है ॥३६॥

वासना के मूल को जानने की इच्छावाले अर्जुन पूछते हैं।

अर्जुन ने कहा : हे देवदेवेश, यह वासना किससे उत्पन्न हुई यानी इसका मूल क्या है और वह किस प्रकार नष्ट होती है ?

अज्ञान ही उस वासना का मूल है और ज्ञान से ही उसका समूल नाश होता है, यों भगवान् कहते हैं।

श्री भगवान ने कहा : अनात्मभूत वस्तु में आत्मभावनारूप यह वासना अज्ञानस्वरूप मोह से उत्पन्न हुई है और महाबोधस्वरूप आत्मज्ञान से तो यह (वासना) विलय को प्राप्त हो जाती है ॥३७॥

उसमें तुम्हें विचार से आत्म-स्वरूप का परिचय तो हो गया है, अब तुम्हारे लिए उसकी दृढ़ता से देह और उसके सम्बन्धी बन्धु आदि में 'अहम्' 'मम' इत्यादिरूप वासना का क्षय करना ही एकमात्र कार्य अवशिष्ट रह जाता है, यह कहते हैं।

हे कौन्तेय, तुम पवित्रात्मा हो चुके हो और सत्य का ज्ञान भी तुम्हें हो चुका है। अब तुम 'यह', 'वही मैं' और 'ये लोग मेरे बान्धव हैं' इत्यादिरूप वासना को छोड़ दो ॥३८॥

वासनामय ही लिंग शरीर है और उसमें प्रतिबिम्बस्वरूप जीव भी वासना से ही उत्पन्न है अतः वासना का क्षय होने पर जीव का क्षय ही हो जायेगा। एवं तत्त्वज्ञान और वासना का क्षय दोनों केवल अनर्थ के लिए ही होंगे ? इस आशय से अर्जुन शंका करते हैं।

अर्जुन ने कहा : जो जिसकी सत्ता से स्थित रहता है, वह उसके नाश से नष्ट होता है, अतः वासना के विलीन हो जाने पर स्वयं जीव भी विलीन हो जायेगा। जीव के विलीन हो जाने पर तथा देश और काल का अन्यथाकरण होने पर (卐) जन्म (परमानन्द के आविर्भावस्वरूप परम पुरुषार्थ) एवं मरण

(卐) यहाँ पर 'जन्म-मरण' शब्द से प्रसिद्ध जन्म-मरण का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञ में समूल वासना का नाश होने पर उनकी प्रसक्ति ही नहीं है और वह (उनका ग्रहण करना)

(आत्यन्तिक अनर्थनाश) का कौन भागी होगा अर्थात् कोई नहीं, यह भाव है ॥३९,४०॥

(तुम्हारे द्वारा उद्भावित उपर्युक्त) दोष तब होता जब प्रतिबिम्बमात्र संसारी जीव है और वह भी बिम्बभूत ब्रह्म से अन्य तथा भूतमात्राओं के अधीन जन्म आदि, देश एवं काल भेद से भिन्न है यह माना जाता, परन्तु वैसी तो बात नहीं है, किन्तु परमार्थतः शुद्ध ब्रह्म ही होकर असत्यभूत अपनी अविद्या से आवृत अपने वास्तविक तत्त्व को नहीं जान रहा वह अपनी आत्मा में ही जीव जगत् भेद की कल्पना द्वारा संसारी–सा बन जाता है। और वही श्रवण, मनन आदि शास्त्रीय प्रयत्नों से अपने वास्तविक तत्त्व का ज्ञानकर वासना के साथ अविद्या को धोकर स्वस्वभाव में स्थित हो जाता है। मानों वही इसकी मुक्ति है यही श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में तुम्हारे द्वारा उद्भावित कोई भी दोष नहीं आता, इस आशय से भगवान् समाधान करते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा : हे महामते अर्जुन, ब्रह्म का जो रूप अपने ही कल्पित संकल्प से कलुषित (अविद्या से आवृत) हो जाता है, उसे ही वासनाकृति जीव जानो। हे भारत, दूसरे के अधीन न हुआ, संकल्परहित और अविनाशी जो यह आत्मरूप तत्त्वज्ञान के कारण वासना से शून्य हो जाता है, उसे ही तुम 'मोक्ष' जानो ॥४१,४२॥

और वही समूलवासना–निवृत्ति देहधारणपर्यन्त 'जीवन्मुक्ति' इस नाम से प्रसिद्ध है, उसका इसी लोक में तुम भी अनुभव कर सकते हो। इसलिए 'मुक्तिरूप फल का भाजन कौन होगा ?' ऐसा तुम्हें संशय नहीं करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

हे महाबाहो अर्जुन, वासनारूप रज्जुबन्धन से छुटा हुआ पुरुष 'मुक्त' यों कहा जाता है। अतः वासना से निर्मुक्त होकर जीते हुए ही (इसी वर्तमान देह में ही) यथास्थित उस तत्त्व को तुम देखो ॥४३॥

वह मोक्ष न कर्मों से प्राप्त किया जा सकता है और न बाह्य विषयों के पाण्डित्य से ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु एकमात्र आत्मज्ञान से ही पाया जा सकता है, इस आशय से कहते हैं।

जो वासना से निर्मुक्त नहीं है, भले ही वह समस्त धर्मों में परायण क्यों न हो, सर्वज्ञ यानी समस्त बाह्य विषयों का पण्डित ही क्यों न हो, फिर भी उस प्रकार वह चारों ओर से बद्ध है, जिस प्रकार पिंजरे में स्थित पंछी ॥४४॥

कहे गये समाधान का संक्षेप से उपसंहार करते हैं।

पार्थ, अपनी ही माया से आच्छादित हो जाने के कारण स्वरूप–दर्शन में अयोग्य हुए, वेदान्तप्रमाण को प्राप्त न किये हुए जिस परमात्मा के भीतर, आकाश में ऐन्द्रजालिक मोरपंख की नाईं, नाना प्रकार के भ्रमों को उत्पन्न करनेवाली सूक्ष्म वासना जीव–जगद्रूप से प्रस्फुरित होती है, वही (परमात्मा) अधिकारी शरीर में वेदान्तशास्त्र को प्राप्तकर उदित तत्त्वज्ञानवाला होता हुआ समूल वासनारूप बन्ध से मुक्त हो जाता है। क्योंकि इस परमात्मा में समूल वासना ही बन्ध (संसार) है और उसका क्षय ही मोक्ष है ॥४५॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

पूर्वापरग्रन्थ के प्रतिकूल भी है।

छप्पनवाँ सर्ग

भगवान द्वारा अर्जुन को जीवन्मुक्तप्रतिष्ठा, चिति की अबाधित
सत्ता और मन के जगत्स्वरूप चित्र का सविस्तार उपदेश।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा : हे अर्जुन, इस प्रकार वासनानिवृत्तिरूप जीवन्मुक्ततत्वस्वरूप से तुम भीतर शीतलता (शान्ति) प्राप्तकर बन्धुवधप्रयुक्त दुःख का निःशेषरूप से परित्याग कर दो। हे पापशून्य अर्जुन, जरा और मरण की शंका से निर्मुक्त, आकाश की नाईं विशाल चित्तवाले तथा इष्ट एवं अनिष्ट विषयों को संकल्पों से रहित होकर तुम वीतराग हो जाओ। हे अर्जुन, शिष्ट व्यवहार–परम्परा से चला आ रहा, अवश्यकर्तव्यरूप भाग्यवश प्राप्त यह युद्ध–कर्म और अन्यान्य दूसरे आवश्यक याग, दान आदि कर्म तुम करो। उससे तत्त्वज्ञान की कुछ भी क्षति नहीं होगी, यह भाव है। शिष्ट व्यवहार–परम्परा से चला आ रहा स्वधर्मरूप कर्म जो किया जाता है, वह तो जीवन्मुक्तों का स्वभाव ही है और वही जीवन्मुक्तता है, केवल देह–चेष्टा का परित्याग करना जीवन्मुक्तता नहीं है। 'यह कर्म मैं छोड़ता हूँ' और 'इस कर्म का मैं अंगीकर करता हूँ' इस प्रकार का जो निर्णय है, वह तो एकमात्र अज्ञानियों के मन का स्वरूप है और ज्ञानियों की तो एक–सी स्थिति रहती है। प्रवाहपतित कर्म कर रहे, शान्तमना तथा सुषुप्त की नाईं अपनी आत्मा में स्थित हो रहे जीवन्मुक्त महात्मा लोग इस व्यवहार–भूमि में संकल्प–विकल्पों से शून्य होकर सुषुप्तात्मा के सदृश निर्विशेष स्वयंज्योति एकमात्र आत्मरूप होकर स्फुरित होते हैं ॥१–६॥

जीवन्मुक्त में दूसरा भी सुषुप्ति–साम्य है, यह कहते हैं।

पार्थ, जैसे थोड़ा भी विक्षेप होने पर कछुवे के सिर, पैर आदि अंग तत्काल ही भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाने के कारण तुच्छभूत विषयों से अनायास निवृत्त हुई जिसकी इन्द्रियाँ मन के साथ परमात्मा के अन्दर निश्चल स्थिति (एकरसता से स्थिरता) प्राप्त करती हैं, वही जीवन्मुक्त है ॥७॥

तब व्यवहार–काल में जीवन्मुक्त महात्मा लोग जगत् को किस रूप से देखते हैं ? तो इस पर 'मनोराज्य में परिकल्पित दीवार से रहित विचित्र चित्र की नाईं ही देखते हैं' यह बतलाने के निमित्त सृष्टि से लेकर प्रलयपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् का मनोरचित चित्र के रूप में वर्णन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

चित्तरूपी चित्रकार विश्व के अधिष्ठानभूत आत्मा के ऊपर अनन्त उन–उन वैचित्र्यों से युक्त तीनोंकाल में उदित स्वभाव सम्पूर्ण त्रिजगत्रूपी चित्र का दीवार के बिना निर्माण कर देता है। स्वयं एकमात्र अज्ञानस्वरूप होने के कारण प्रकाशन के अयोग्य भी, चिदाभासयुक्त अन्तःकरणवृत्तिरूप बत्तियों द्वारा प्रकाशित हुए इस अद्‌भुत त्रिजगत्रूपी चित्र को अज्ञानरूपी आकाश में पहले–पहल चित्तरूप चितेरे ने ही इतने विशालरूप में परिणत किया है ॥८,९॥

प्रसिद्ध चित्र के वैधर्म्य से उसकी अद्‌भूतता ही दिखलाते हैं।

पार्थ, (आदिजीव हिरण्यगर्भ के समष्टि मन ने, सत्यसंकल्प होने के कारण, संकल्पसमकाल

में ही यह जगत्‌रूप चित्र बनाया) तदनन्तर उसने उस चित्र की आधारस्वरूप दीवार की, जो अमूर्त आकाशरूप होने के कारण चित्रधारण करने में सर्वथा अयोग्य ही है, रचना की यह महान् आश्चर्य है इसीलिए यह भ्रम ही है।

'अहो भ्रमः' इन दोनों पदों का विस्तृत व्याख्यान करते हैं।

यह रचना अपूर्ण और माया का भी तिरस्कार करनेवाली है, तृणदीवार के सदृश साररहित होने पर भी यह भ्रान्तिदृष्टि से शुभरूप प्रतीत होती है ॥१०॥

और भी आश्चर्य दिखलाते हैं।

(प्रसिद्ध चित्रस्थलों में चित्रों की आधारभूत दीवारें उन चित्रों से भिन्न होती हैं, परन्तु) ये जो चित्तरूप चित्रकार द्वारा उत्पन्न अज्ञानाकाशरूप दीवारें प्रतीत हो रही हैं, उनमें और चित्रों में आधार–आधेयरूप भेद स्पष्टतः प्रतीत होने पर भी परमार्थतः उनकी चित्तस्वरूपता होने के कारण परस्पर किंचित् भी भेद नहीं है (अहो ! यह भी एक दूसरा आश्चर्य है।) ॥११॥

'अहो भ्रमः' इसमें 'अहो' इस अंश की विस्तृत व्याख्याकर अब 'भ्रमः' इस अंश की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं।

हे कमलनयन, वे मानसिक चित्र–रचनाएँ आकाश से भी बढ़कर वैसे ही शून्यरूप हैं अर्थात् अत्यन्त असत् हैं, जैसे स्वप्न में क्षणमात्र में चित्त में होनेवाले तीनों लोकों के नाश और उदय, यह तुम जानो ॥१२॥

आत्मा, मन और उसका कार्य बाह्य और आभ्यन्तर यह सब जगत् स्वप्न की तरह शून्य है (असत् ही है)। तब मनुष्यों को इसमें सत्यत्व की प्रतीति कैसे होती है ? इस पर कहते हैं।

चूँकि यह सब चिरकालिक मनोराज्य है यानी इसकी दीर्घकालतक अनुवृत्ति होती है, इसलिए लोगों को इसमें सत्यत्व की प्रतीति होती है ॥१३॥

तब तत्त्व क्या है ? यह कहते हैं।

भ्रान्तिकल्पित पदार्थों में जिस सत्यसंकल्पता का तीनों काल में अभाव है, वह तत्त्वतः क्या अदृष्ट–दशा में (तत्त्वज्ञान से पहले) कभी रह सकती है अर्थात् कभी नहीं। जो वसन्तादि कालक्रम से, बाल्यादि अवस्थाक्रम से अथवा छः प्रकार के भावविकारक्रम से देखने पर अर्थक्रियासामर्थ्यरूप या और कोई दूसरा प्रसिद्ध व्यावहारिक सत्यत्व उनमें भासता है, वह तत्त्वज्ञानरूप प्रकाश से उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से दिखाई दे रहा शरत्काल का मेघमण्डल उसीसे खाया जाता हुआ नष्ट हो जाता है ॥१४॥

इस तरह इस मानसिक चित्र के भ्रान्तिमात्रस्वरूप हो जाने के कारण अपने भाई–बन्धुओं के वध की आशंका से उत्पन्न क्लेश से तुम्हें व्यग्र बनना उचित नहीं है, यह कहते हैं।

चित्तरूपी चितेरे के चित्र में अवस्थित त्रिभुवन आदि विचित्र पुतलियाँ आधारभूत दीवार के न रहने से बाहर आकाररहित ही हैं। हे अर्जुन, वास्तव में न तो उनका अस्तित्व है और न तुम्हारा ही अस्तित्व है, इसलिए कौन किससे मारा जाता है ? अतः नाश्य–नाशक का मोह छोड़कर तुम निर्मल बनकर ब्रह्मपद में स्थिर हो जाओ। क्योंकि चिदाकाश में वधादि की प्रवृत्ति ही नहीं है। और जो कहीं प्रातिभासिकी

प्रवृत्ति है, वह भी ब्रह्माकाश रूप ही है, इसलिए काल, क्रिया, जगद्रूप दीवार और उस पर चित्र बनाने की कला आदि सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। हे अर्जुन, जैसे एकमात्र चित्त में रहनेवाला मनोराज्यरूप चित्र समस्त प्रपंचस्वरूप होता हुआ भी वास्तव में शून्यस्वरूप होने से असत् ही है, वैसे ही सामने दिखाई दे रहा यह जगत् भी आकाश से भी बढ़कर शून्यरूप है यह तुम जानो ॥१५-१८॥

अब तत्त्वतः अपरिचित चैतन्यात्मा चित्रकार है और उसके चित्र का आधार चित्तरूप दीवार है इस प्रकार उत्प्रेक्षा करने पर भी अन्त में शून्यता ही पर्यवसित होती है, यह कहते हैं।

अर्जुन, तत्त्वतः अपरिचित आत्मचैतन्यरूपी चित्रकार ने चित्तरूप दीवार के ऊपर जो चित्र रचा है, वह सर्वांश से शून्य होने के कारण असदाकाश से तनिक भी भिन्न नहीं है ॥१९॥

उसमें भी मनोराज्य का क्षणिक जगत् ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

हे अर्जुन, जैसे चित्त में मनोराज्य के जगत् का निर्माण और विनाश क्षणभर में ही हो जाता है, वैसे ही ये चित्तात्मक दीवार के ऊपर अज्ञात चिति द्वारा चित्रित जगत् के निर्माण और विनाश क्षणभर के लिए ही प्रतीत होते हैं, यह तुम जानो ॥२०॥ पार्थ अनेक तरह के विषयानुभववाले मनोराज्य में क्षणिक मोह से परिकल्पित वध्यघातकभावादिरूप तुम्हारी कल्पना आज ही मेरे उपदेश से क्षीण हो जाती है ॥२१॥

शंका हो कि क्षणिक मोह अनादि एवं अनन्तर कल्पों में विस्तीर्ण संसाररूप मनोराज्य कैसे रचेगा ? तो इस पर कहते हैं।

जैसे असत् मनोराज्य का निर्माण करने के लिए मन अपने में शक्ति रखता है, वैसे ही क्षणरूप काल को कल्प बनाने में भी वह (मन) अपने में शक्ति रखता ही है। हे अर्जुन, क्षण को कल्प कर देता है और असत् को उत्पन्न कर देता है - यह जो मन के विषय में आश्चर्य है, वह तो बहुत ही थोड़ा है, उससे भी बढ़कर तो आश्चर्य यह है कि वह असत् जगत् को भी शीघ्र सद्रूप कर देता है ! इसलिए यह जगद्रूप भ्रान्ति इस प्रकार के आश्चर्य पैदा करनेवाले मन की सामर्थ्य से ही उत्पन्न हुई है ॥२२,२३॥

उसे ही कहते हैं।

क्षणभर के लिए ही अज्ञानवश जो यह चित्र-विचित्रस्वरूप प्रतीत हुआ मनोराज्य है, वही दृश्यमान इस प्रपंच-जाल के रूप में स्थित है ॥२४॥ पार्थ, यद्यपि ज्ञानियों की दृष्टि में स्वतः नित्यमुक्त आत्मा में अध्यस्त, अतएव एकमात्र कल्पना से उत्पन्न होने के कारण प्रतीतिकाल मात्रस्थायी यह तुच्छ जगत् क्षणिक ही है, तथापि इसी क्षणिक जगत् में इसके वास्तविक स्वरूप से अपरिचित अज्ञानी लोगों ने दुरुच्छेदता की कल्पना कर रक्खी है ॥२५॥

परन्तु वह ठीक नहीं है, यह कहते हैं।

चूँकि यह जगत् अज्ञाततत्त्व आत्मा का एकमात्र अन्यथा प्रतिभास ही है, इसलिए इस तरह के जगत् के आरोप या बाध में भला कौन-सी वह दुरुच्छेदता है ? अर्थात् कोई है ही नहीं ॥२६॥

जो वस्तु स्थित रहती है, उसीके निरास में प्रयत्न की अपेक्षा होती है, यह जगत् तो कभी स्थित ही नहीं है, यह कहते हैं।

पार्थ, भला बतलाओ तो सही, चिति में अध्यस्त चित्तरूप चित्र-निर्माता का जगद्रूप यह चित्र किस

समय स्थित रहता है ?

अपनी कारण–सामग्री से शून्य तथा स्वयं असद्रूप जगत्–चित्र आँखों के सामने प्रस्फुरित हो रहा है – यह एक महान् आश्चर्य है, यह कहते हैं।

तथापि यह महान् आश्चर्य है कि अपनी आधारभूत दीवार से रहित, चित्र के साधनभूत नील, पीत आदि रंग–द्रव्यों से शून्य यह जगत्–चित्र सामने विस्तृत–सा दिखाई दे रहा है ।।२७।। अहो, अत्यन्त आश्चर्य है कि यह उज्जवल चित्र दीवार के बिना ही उत्पन्न होकर सामने दिखाई दे रहा है !

सामने किस प्रकार का है ? इस पर कहते हैं।

यह जगद्रूप चित्र भलीभाँति लोगों का अनुरंजन करनेवाला है, और दृष्टि, मन आदि को भी लुभानेवाला है ।।२८।। यह नाना प्रकार के तमरूपी स्याही से लिखा गया है और नाना प्रकार के तेजःकिरणों से सुहावना है। यह नाना कल्प और उनके अंगभूत युग आदिरूप अवयवों से युक्त है तथा नाना प्रकार की अभिलाषाओं से रंगा गया है। यह नाना प्रकार के दृश्यों के विलासों से परिपूर्ण है, अनेक अनुभवरूप नेत्रों से समन्वित है तथा अनेक प्रकार के ग्रहों से अत्यन्त चमक रहा है। सूर्योदय और सूर्यास्त आदि कालों में इसकी पूर्व और पश्चिम दिशाएँ नाना आकारों से युक्त होती हैं ।।२९,३०।।

वहाँ पर चित्रपद्मवन आदि का वर्णन करते हैं।

इसमें आकाशरूप नील सरोवर में खिले हुए तारे, चन्द्र एवं सूर्यरूप कमल हैं। इस जगद्रूप चित्र में शरद् आदि कालभेदों द्वारा विचित्र रचनाओं से ऊपर सुशोभित मेघपंक्तिरूप पत्ते और मंजरियाँ लगी हुई हैं। इसके त्रिभुवानात्मक प्रकोष्ठों में (चित्रकोष्ठ–भेदों में) चारों ओर देव, असुर, मनुष्य आदिरूप पुतलियाँ लिखी गयी हैं। परम उत्कृष्ट सूर्य, चन्द्र आदि के आलोकस्वरूप सुधा लेप से तरुण की नाईं विराज रहे आकाशरूप दीवारों से यह समन्वित है ।।३१,३२।।

अब त्रिलोकी का ही देवनटी रूप से वर्णन करते हैं।

पार्थ, कामुक चित्तरूप इस चितेरे ने अधिष्ठानभूत ब्रह्माकाश में ही इस जगद्रूप मुग्ध मनोहर नटी का निर्माण किया है। इस नटी की मुख्य नृत्यशाला प्रतिभा (नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि) ही है, नृत्यशाला में दीपक का कार्य कर रहे साक्षिचैतन्य के प्रतिबिम्ब से युक्त और चक्र की नाईं परिभ्रमणशील बुद्धिवृत्तिरूप आभूषणों से इसने समस्त लोकों को प्रकाशित किया है और यह नृत्य, हाव, भाव, विलास आदि लीलाओं में सदा व्यस्त रहती है। सुवर्णमय ब्रह्माण्ड ही इस नटी की दृढ़ अंगलतिका (शरीरलता) है, मेघ ही इसके (नटी के) केशपाश हैं,तथा चन्द्र और सूर्य रूपी नेत्रों के संचालन से यह सम्पूर्ण लोकों का अवलोकन भी किया करती है। धर्म, अर्थ और काम के अनुकूल प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्र ही इसके दो वस्त्र हैं, इसके पातालस्वरूप ऊरु,जानु, जंघा, गुल्फ, पाद, पार्ष्णी, और अंगुलि इन सात अवयवोंवाले दो चरण हैं और उन्नत पृथिवी ही इसका नितम्ब है। ब्रह्मा, इन्द्र, शंकर और विष्णु – इसकी चार भुजाएँ हैं और उनसे यह समर्थ है। सत्त्वगुणरूप कंचुकी से ढके हुए, उन्नत विवेक और वैराग्य स्वरूप दो कुचों से इसकी देह शोभती है, शेष आदि से वेष्टित पृथिवी तल ही इसकी पद्माकार पीठ है तथा गोरोचन, कस्तुरी आदि नानाविध वर्णों से पत्र रचना के स्थानरूप बनाये गये मेरु, अंजन, हिमालय आदि नानावर्णवाले पर्वतों से युक्त महाभुवन

(मध्यलोक) ही इस नटी का उदर है। इस त्रिलोकी नटी की चन्द्र-सूर्यरूप आँखों की चेष्टाएँ रात्रि के अन्धकार की चपलता को दूर करती हैं, जो कि मेरु प्रदक्षिणा करणरूप है। तारे ही इसके घने पुलक हैं, बिजली ही इसकी दन्तपंक्ति है, चंचल और परस्पर असमान, भुवन-भेद से चौदह प्रकार के प्राणी ही इसके रोमांच हैं और उन प्राणियों में प्रसिद्ध भूत, भुवन, आदि की प्रलय-कथाएँ ही चारों ओर सद्बुद्धिरूप केसरों को और श्रोताओं के लिए वैराग्य, सद्वासनारूप सुगन्धि को प्रसारित करने के कारण मानों इसकी पैर तक लटकनेवाली कदम्ब-माला के फूल हैं। यह समष्टि और व्यष्टिरूप जीव से समन्वित है, अद्भुत है, आकाश के समान शून्यरूप है और नाना प्रकार के विलासों से वेष्टित भी है। उपर्युक्त प्रकार से वर्णित त्रिलोकीरूप इस श्रेष्ठ चित्रमयी नटी का-चित्र के उपकरणभूत विचित्र वासना, काम एवं कर्मों को प्राप्त किये हुए, अतएव शीघ्र ही अद्भुत चित्रों का निर्माण करने में समर्थ चित्तरूप चित्रकारने अपने अधिष्ठानरूप चिदाकाश में ही-चित्रण किया है ॥३३-३७॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

जिस दृष्टि से मन शीघ्र ही वासनाशून्य हो जाता है और सुखस्वरूप
अद्वितीय आत्मा अवशिष्ट रह जाता है, उस दृष्टि का उपदेश।

वासना की शिथिलता में उपयोगी होने से पूर्व में प्रदर्शित जगत् में आश्चर्यतादृष्टि का ही वर्णन करते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा : हे अर्जुन, इस संसार के विषय में सबसे बढ़कर यह आश्चर्य समझो कि पहले तो निराश्रय में जगद्रूप चित्र उत्पन्न होता है और उसके बाद आधाररूप भूत, भुवन आदि विराट् दीवार उत्पन्न होती है। (व्यष्टि-समूहस्वरूप समष्टिभूत विराट् की कल्पना व्यष्टिकल्पना के अधीन है, इसलिए भी उसकी बाद में उत्पत्ति है, यह जानना चाहिए) ॥१॥ हे अर्जुन, पहले निराश्रय चित्र के उत्पन्न हो जाने पर पीछे उसकी आश्रयभूत विशाल दीवार दीख पड़ती है : अहो ! यह एक अद्भुत माया है। इसका स्वरूप अत्यन्त असंभावित है, इसलिए यह माया है और अत्यन्त विरुद्ध होने से इसका स्वरूप असंभावित है, इस आशय से प्रसिद्ध इस प्रकार की माया का दृष्टान्त देते हैं।

यह उस तरह की है, जिस तरह तुम्बी जल में डूबती हो और पत्थर की चट्टान तैरती हो ॥२॥

जगद्रूप चित्र में तो एक आश्चर्यमयता है ही, परन्तु उससे भी बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि शून्यरूप उसमें (जगत् में) चिदाकाशस्वरूप तुम्हें जो अहम्भाव हो रहा है, यह कहते हैं।

पार्थ, चित्त में स्थित चित्र के समान शून्यस्वरूप तीनों जगत् में चिदाकाश स्वरूप तुम्हें शून्यता रूप अहन्ता कैसे उदित हुई ? अर्थात् इसमें तो आश्चर्य की पराकाष्ठा हुई ॥३॥

यदि जगत् में भी चिदाकाशता का ही तुम अवलोकन करते हो तो वह दृष्टि इस रूप में पर्यवसित हुई, यह भी आश्चर्य ही है, यह कहते हैं।

चिदाकाश से निर्मित सब कुछ चिदाकाशस्वरूप ही है, चिदाकाश में चिदाकाश के द्वारा चिदाकाश विलीन होता है, चिदाकाश में ही चिदाकाश द्वारा चिदाकाश का उपभोग किया जाता है और

चिदाकाश द्वारा चिदाकाश में चिदाकाश ही विस्तृत हुआ है ॥४॥ हे अर्जुन, (जब तुम जगत् में चिदाकाशता की दृष्टि रखते हो तब तो) जिसमें दीर्घ भ्रमण है, ऐसा जगद्रूप यह चित्र रज्जु की नाईं फैली हुई वासनारूप रज्जु से यदि वेष्टित होता है, तो वह चिदाकाश भी इस जगत् में वासना के वेष्टन से वेष्टित होता ही है ॥५॥

इस वासना-वेष्टन की ज्ञान से अतिरिक्त किसी और उपाय से जो दुरुच्छेद्यता है, वह भी अधिष्ठान की दृढ़ता से ही है, न कि स्वतः उसकी दृढ़ता है, यह कहते हैं।

जैसे प्रतिबिम्ब अपने आधारभूत दर्पण में स्थित रहता है, वैसे ही यह जगत भी, जो कि अपने अधिष्ठानरूप ब्रह्म से भिन्न न होने के कारण छेदन एवं भेदन के अयोग्य है, अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्म में ही स्थित है ॥६॥

इसीलिए 'ब्रह्मरूपता के अवलोकन से जगत् में छेदन, भेदन आदि सब व्यवहारों की अयोग्यता के दर्शन से समस्त वासनाओं का समूल उच्छेद करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

अर्जुन, जब ब्रह्म में प्रतिभासित छेदन, भेदन आदि सम्पूर्ण व्यवहार और उनका विषय जगत्– ये सब ब्रह्म से अभिन्न होकर एकमात्र चिदाकाशस्वरूप ही हो गये, तब किस कर्ता या करण से किस प्रकार से किस फल के लिए किस देश या किस काल में क्या छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि छेदन आदि व्यवहारवाद ब्रह्म से अतिरिक्त विषयों में देखे गये हैं, इसलिए जब यह जगत् ब्रह्म से अभिन्न ही सिद्ध हो चुका है तब किसी कर्ता या करण से किसी प्रकार से किसी फल के लिए किसी देश या काल में कुछ भी छिन्न या भिन्न नहीं हो सकता। अतः इन वासनाओं को तुम समूल उखाड़कर फेंक दो ॥७॥

इस उपाय के द्वारा बोध से यहाँ पर तुम्हारी वासनाओं का भी ब्रह्मातिरिक्तरूप से अभाव सिद्ध ही है।

और यदि इस प्रकार का ज्ञान न हो तो वासनाबन्ध दुरुच्छेद ही है, यों पूर्वोक्त कथन का स्मरण कराते हैं। जो वासना से निर्मुक्त नहीं है, भले ही वह समस्त शास्त्रीय कर्मों में परायण रहा हो और समस्त बाह्य विषयों का पण्डित हो, फिर भी उस प्रकार वह चारों ओर से अत्यन्त बद्ध है, जिस प्रकार पिंजड़े में स्थित सिंह या तोता ॥८॥

वासना को हृदय में अणुमात्र भी स्थान न देना चाहिए, क्योंकि वह हजारों अनर्थों की बीज है, इस आशय से कहते हैं।

जिसकी चित्तरूपी भूमि में अणुमात्र भी वासनारूप बीज पड़ा रहता है, उसका (अनेक अनर्थों से भरा हुआ) संसाररूप जंगल पुनः बढ़ जाता है। अभ्यास से हृदय में रूढ, तत्त्वज्ञानस्वरूप अग्नि से निःशेष जल गया वासनारूपी बीज पुनः अंकुर-जनन की सामर्थ्य नहीं रखता। निःशेष जले हुए वासना-बीजों से युक्त तथा स्वच्छ मन जागतिक सुखदुःखादि वस्तुओं में वैसे ही नहीं डूबता, जैसे पानी में कमल का पत्ता ॥९-११॥

कथित उपदेश-क्रम का उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् अर्जुन की निर्वासनिक स्थिति में प्रतिष्ठा कराते हैं।

हे अर्जुन, तुम असंख्य आशाओं को छोड़ते हुए प्रसिद्ध और पवित्र भगवद्गीतारूप मेरे उपदेश को भलीभाँति समझकर महान् मोह से शून्यमना और बन्धुवधादि क्लेशों से रहित होकर वासनारहित आत्मा में चित्त का विलयकर शान्त ब्रह्मस्वरूप होकर, अतएव भयशून्य एवं परम मुक्त होकर स्थित रहो ॥१२॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठावनवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञान से अविद्यासहित वासना का नाश तथा उसीसे अर्जुन की कृतार्थता-यह वर्णन।

अर्जुन ने कहा : हे अच्युत, तुम्हारे प्रसाद से (अनुग्रह प्रयुक्त तुम्हारे उपदेश से) वासनासहित अज्ञान नष्ट हुआ। भूले हुए कण्ठस्थित हार की नाईं स्वतःसिद्ध आत्मतत्त्व का साक्षात्कार मैंने पाया। और उससे सम्पूर्ण सन्देहों के बीजों का नाश होने के कारण बन्धुवध आदि के कर्तव्यताविषयक सन्देह से रहित होता हुआ मैं स्थित हूँ। अतः तत्त्व में अवस्थिति करना और यथाप्राप्त व्यवहारों को करना-इस विषय में आपका जो वचन (आदेश) है, उसका मैं (पूर्णतया) पालन करूँगा ॥१॥

इस प्रकार यद्यपि अर्जुन ने अपनी कृतार्थता दिखलाई, तथापि अपने उपदिष्ट तत्त्वज्ञान से समूल वासनाक्षय को युक्तियों से दृढ़ कर रहे श्रीभगवान् कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : हे अर्जुन, तत्त्वज्ञान से तुम्हारे हृदय में रागादि वृत्तियाँ यदि अशेषरूप से शान्त हो चुकीं, तो वासनात्मक चित्त भी भीतर शान्त होकर निर्वासनिकता को प्राप्त हो गया, यह तुम जानो ॥२॥

इस विषय में श्रुति प्रमाण है : यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ (कठोप. ६।१४) (विषय सुखेच्छा आदिरूप काम, जो कि तत्त्वज्ञान से पूर्व विद्वान् के हृदय में स्थित हैं, जब सर्वत्र स्वात्मदृष्टि से क्षीण हो जाते हैं, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है और इस शरीर में ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है।)

इस निर्वासनिकतारूप सत्त्वावस्था में वह प्रत्यक् चेतननामक ब्रह्म विषयों से रहित हो जाता है, जो कि व्यवहार में सर्वस्वरूप और परमार्थ में सर्वतः अशेष-विशेष से विनिर्मुक्त है। उस प्रत्यगात्मा के पद को ये चक्षु आदि इन्द्रियाँ और अज्ञानी लोग कोई भी उस प्रकार नहीं जान पाते, जिस प्रकार भूमि से आकाश में उड़कर दूर-देश में प्राप्त हुए पक्षी को। पार्थ, महाभूत आदि तेरह प्रकार के क्षेत्रों के अवभासक, शुद्धस्वरूप, संकल्परहित, निर्विषय इस प्रत्यगात्मा को इन्द्रियों से दूर (असन्निकृष्ट) सा जानो ॥३-५॥

उसके दर्शन में श्रवण आदि से परिपुष्ट की गयी भलीभाँति अभ्यस्त निदिध्यासन नाम की उसकी भावना ही आवश्यक है, यह कहते हैं।

पार्थ, अपनी वासना निदिध्यासननामक आत्मभावना के सिवा उस ब्रह्मपद को, जो सर्वातीत, चित्स्वभाव होने से अत्यन्त स्वच्छ और असंग होने के कारण शुद्ध हैं, वैसे नहीं देख सकती जैसे लोगों के नेत्र परमाणुओं को नहीं देख सकते ॥६॥

जिसमें घट, पट आदि स्थूल पदार्थों का भी बाध हो जाता है, उसमें परमसूक्ष्म वासनाओं की

स्थिति कहना तो अत्यन्त ही असंभावित है, यह कहते हैं।

जिसकी प्राप्ति में ये घट, पट आदि सभी स्थूल पदार्थ भी नष्ट हो गये, उस परमपद के विषय में बिचारी परमसूक्ष्म वासना क्या करे ? । जैसे ज्वालामुखी पर्वत को प्राप्तकर हिमलेश बिलकुल विलीन हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चितितत्त्व को प्राप्त कर अविद्या भी विलीन हो जाती है। कहाँ भोगबन्धनरूप रजःकण की नाईं क्षुद्र बिचारी वासना, और कहाँ सम्पूर्ण जगत् को अपने में समा लेनेवाले चितितत्त्वरूप विपुल पवन ? पार्थ, नाना प्रकार के आकाररूप विकारोंवाली यह अविद्या तब तक प्रस्फुरित होती है, जब तक शुद्धस्वरूप यह अपना आत्मा तात्त्विकरूप से भलीभाँति जाना नहीं जाता। अपने उदर में सम्पूर्ण विश्व को निगल जानेवाले, आकाश की नाईं शून्यस्वरूप उस स्वात्मरूप ब्रह्मपद में दृश्यों की सम्पूर्ण दृष्टियाँ क्षीण हो गयी हैं तथा विशुद्धरूपता ही उदित हुई है। जो पूर्णरूप है, समस्त जगदाकारों से वर्जित है और वाणी से परे हैं, उस परमवस्तु की भला किससे उपमा दी जा सकती है ? हे अर्जुन, इसलिए तुम केवल पूर्ण आत्मा के साक्षात्कार से होनेवाली कामनाओं की निवृत्तिरूप मन्त्र–युक्ति से विषयात्मक विष से उत्पन्न महामारीरूप, निरन्तर प्रवृत्ति की हेतु अन्तःकरणस्थित वासना का निपुणतापूर्वक निराकरणकर संसारबन्धन से रहित तथा सम्पूर्ण अनर्थों की भूमि (अभयस्वभाव) मद्रूप ही हो जाओ। यों अन्त में भगवद्गीता के सम्पूर्ण तात्पर्य का संग्रह कर श्रीभगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस प्रकार उपदेश दे चुके त्रिलोकी के अधिपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के, श्वेत–कमल में भ्रमर की नाईं, क्षणभर के लिए मौन धारणकर सामने स्थित हो जाने पर वहाँ पाण्डुपुत्र अर्जुन पुनः यह वचन कहेगा। अर्जुन ने कहा : हे भगवन्, सम्पूर्ण लोकों का भरण–पोषण करनेवाले आपके वचन से (भगवद्गीतारूप उपदेश से) मेरी यह बुद्धि, जिसका समस्त शोक भार गल गया है, उस प्रकार परम विकास को प्राप्त हुई है, जिस प्रकार सूर्य से कमलिनी विकास को प्राप्त होती है। श्रीरामजी, उस प्रकार के वचन कहकर और उठकर गाण्डीवधनुर्धारी, श्रीकृष्णरूप सारथिवाला वह पाण्डुपुत्र अर्जुन सन्देहरहित होता हुआ रणलीला करेगा यानी युद्ध में जुट जायेगा। श्रीरामभद्र, वह अर्जुन धरातल को ऐसी महानदियों से आक्रान्त कर देगा, जिनमें आहत बड़े–बड़े हाथी, घोड़े, सारथि आदि तत्काल ही बह जायेंगे। और आकाश को भी ऐसा बना देगा कि उसका सूर्यरूप नेत्र बाणों के ढेरों के प्रसरणों से और बिखरी महाधूलियों से निर्मित स्थली से आच्छादित हो जायेगा ॥७–१७॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

जिस दृष्टि से जीवन्मुक्त–पद में चिति की स्पन्दरहित,
विषयों से निर्मुक्त और निश्चल स्थिति होती है, उसका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, मेरे द्वारा कही जानेवाली सम्पूर्ण पापों की विनाशक दृष्टि का अवलम्बनकर आप निःसंगतारूप त्वंपदार्थशोधभूत सर्वत्याग और सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म में बाधरूप तत्पदार्थशोधभूत ब्रह्मार्पण इन दोनों के अनन्तर परिशिष्ट अखण्ड महावाक्य के तात्पर्यविषयभूत

सच्चिदानन्दैकस्वरूप भूमात्मारूप होकर स्थित रहिए। श्रीरामजी, सृष्टिकाल में जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, स्थिति–काल में जिसमें सम्पूर्ण जगत् अवस्थित रहता है, संहारकाल में जो सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हो जाता है, जो तीनों काल में चारों ओर विद्यमान है और इस रीति से अनित्य प्रपंचात्मक होता हुआ भी जो सनातन निरतिशय ब्रह्मरूप है, उसीको आप 'आत्मा' जानिए, न कि परिच्छिन्न स्वभाववाले को। श्रीरामभद्र समस्त प्रपंचों से बहिर्भूत होने के कारण वह आत्मा दूरस्थ होता हुआ भी सर्वान्तर्यामी होने से अदूरस्थ ही है, इसी तरह आकाश की नाईं सर्वव्यापी होने पर भी, जातिरूप धर्म के समान, वह तत्तत् वस्तुओं में ही रहता है। (यों सभी युक्तियों से वही एक वस्तु है दूसरी नहीं ऐसा सिद्ध हो जाने पर) जब परिच्छन्नरूप से भी उसमें स्थित हुए आप एकमात्र उसीकी सत्ता से अपनी सत्ता प्राप्त करते हैं, स्वतन्त्ररूप से नहीं, तब आपको परिच्छेदाभिमान से फल ही क्या मिला ? वास्तव में अपरिच्छिन्न सन्मात्रस्वरूप ही आप हैं, अतः परिच्छेद के संशय से रहित हो जाइए। विवेकी पुरुषों द्वारा चिदात्मा के अनुभूयमान दो रूप हैं एक तो चित्त और उसकी वृत्ति में प्रतिबिम्बित विषयार्थ प्रकाशन, जो कि चित्तनिर्मित है और दूसरा चित्त, उसकी वृत्ति और उसके विषयों के आगम, अपाय आदि सभी अवस्थाओं के साक्षिभूत संविद्रूप, जो कि नित्यसिद्ध है। वे दोनों यदि विषय और संवेद्य (त्रिपुटी) से विनिर्मुक्त हो जाय तो परमपद ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं, यह आप जानिये ॥१–४॥

चेत्य एवं संवेद्य से विनिर्मुक्त संवित् की वह परा स्थिति 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियों में उक्त आनन्द और उत्कर्ष की परम्परा की परम अवधि है, वही दृष्टियों में सर्वोत्तम दृष्टि है और वही महत्त्वों का परम महत्त्व है तथा वही मान्यों में परम मान्य है। तात्पर्य यह कि उससे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है। वही आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्यस्वरूप है, वही पर ब्रह्म है, वही कल्याण है, वही शान्तस्वरूप शिव है, वही विद्या है और वही परास्थिति है। चिति के भीतर समस्त अनुभवस्वरूप जो यह आत्मा है, जिसमें सभी अपने पदार्थ सद्रूप से आस्वादित (अनुभूत) होते हैं, वही जगद्रूप तिलों का तैलस्वरूप है और वही जगद्रूपी घर का दीपक (प्रकाशक) है। वह जगद्रूप वृक्ष का रस यानी सार है, वह जगद्रूप पशु का पालक है, और प्राणीरूप मोतियों के हृदयाकाशरूप मध्य में पिरोया गया एक प्रकार का तन्तु भी वही है। वह भूतरूप मिर्च–समूहों की तीक्ष्णता है तथा वही पदार्थों में पदार्थत्व है यानी सम्पूर्ण पदार्थों का असाधारण स्वरूप है, जो सर्वोत्तम तत्त्व है वह भी वही है। वही सद्वस्तुओं में विद्यमान सत्त्व (सत्यत्व) है और स्वयं वही असद्वस्तु में प्रतिष्ठित असतत्त्व भी है, जो आत्मतत्त्वज्ञानरूप अलौकिक उपाय से सबको और स्वयं अपने को आत्मरूप में ही पाता है, अन्य रूप में नहीं। सद्रूप परमात्मा के विकल्परूप सभी जगत्भाव, जो कि वस्तुतः अविद्यमान ही हैं, अविचार से सुन्दर प्रतीत होते हैं और विचार से क्षीण हो जाते हैं ॥५–११॥

किस प्रकार के विचार से वे जगद्रूप भाव विशीर्ण हो जाते हैं ? इस आशंका पर उन विचारों को दिखलाते हैं।

मिथ्याभूत अनेक भ्रमों से व्याप्त इस जगज्जाल में पहले शुद्धस्वरूप मैं कौन–सा औपाधिक रूपवाला होकर आस्था करूँ ? *(शंका हो कि शुद्धस्वरूप भी तुम्हारे आस्था–बन्धन में एकमात्र बुद्धिरूप उपाधि ही निमित्त होगी ? तो उस पर कहते हैं।)* असंग एवं अद्वय स्वरूप मुझे बुद्धिरूप उपाधि भी कैसे

प्राप्त हो सकती है ? उसकी प्राप्ति में कोई भी कारण नहीं है, यह भाव है ॥१२॥ वह बुद्धि किसी तरह प्राप्त भी हो जाय, फिर भी 'उससे जनित आदि, मध्य, अन्त आदि परिच्छेद और संकल्पकल्पनाएँ आदि और अन्त से शून्य ब्रह्माकाश मैं ही हूँ, मुझसे अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं हैं' यों विचार करने पर ब्रह्मस्वरूप मुझमें इयत्ता (परिच्छिन्नता) ही कैसी ? ॥१३॥

इस प्रकार के विचारवान् पुरुष की वह स्थिति लोक-शास्त्र से अविरुद्ध व्यवहार काल में भी दूर नहीं होती, इस आशय से कहते हैं।

श्रीरामजी, जो पुरुष 'ब्रह्मस्वरूप मुझमें इयत्ता कैसी' इस प्रकार के अपने भीतर निश्चय से युक्त रहता है, बाहर से लोकशास्त्र के अविरुद्ध व्यवहारों से युक्त होने पर भी उसकी उस प्रकार की स्थिति सर्वदा भीतर उदय एवं अस्त से विनिर्मुक्त ही रहती है। जिसका मन समसे भी सम ब्रह्म में लीन होकर न उदित और न अस्त होता है एवं जिसकी दृष्टि में मन की आकाश के सदृश शून्यरूपता ही है वह महात्मा ही यहाँ ब्रह्मरूप है ॥१४,१५॥

व्यवहारकाल में उस प्रकार की स्थिति से महात्मा का पतन नहीं होता, इसमें युक्ति बतलाते हैं।

श्रीरामभद्र, एकमात्र ब्रह्मभावना से अद्वयरूप ब्रह्मपद पर आरूढ़ हुआ वह महात्मा सुषुप्त पुरुष की नाईं संकल्प-विकारों से रहित निर्विकार बुद्धि से व्यवहार कर रहा भी उस प्रकार क्षोभ प्राप्त नहीं करता, जिस प्रकार दर्पण में स्थित मनुष्य का प्रतिबिम्ब। तात्पर्य यह है कि यतः वह एकमात्र भावना से ही अद्वय ब्रह्मपदपर आरूढ़ हो चुका है, अतः व्यवहार से उस स्थिति से नहीं गिरता। (☙) व्यवहार कर रहे भी जिस पुरुष के हृदय में, दर्पणस्थ पुरुष की नाईं, तनिक भी मानापमान से जनित सुख-दुःख नहीं होते, वह पुरुष मुक्ति का भागी हो जाता है ॥१६,१७॥

चिन्मणिरूप उस जीवन्मुक्त में किस तरह व्यवहार होते हैं ? ऐसी यदि शंका हो तो इस पर वहाँ दर्पण ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

दिखाई दे रहा मनुष्यों का व्यवहार दर्पण में जैसे किसी प्रकार का विकार न करके ही प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही चितिरूप मणि में यथाप्राप्त व्यवहार भी चिति में किसी तरह का विकार न करके ही प्रतिबिम्बित होता है, क्योंकि चिति समस्त विकार मलों से वर्जित है। श्रीरामजी, यह एकमात्र चिति का चमत्कार ही जगत्-रूप से भासता है। इस चिति में न तो एकत्व है और न द्वित्व ही है। वाच्य (अर्थ), वाचक (शब्द), शिष्य, ब्रह्मेहा, गुरु और गुरुवाक्यादिस्वरूप व्याख्यान आदि कल्पनारूप चमत्कारों से आपके प्रति दिया जा रहा यह मेरा उपदेश भी चिन्मयरूप ही है। परमार्थतः सर्वोपद्रवों से रहित ही यह चिति अपने-आप ही अपने स्वरूपभूत चिति में प्रतिबिम्बत होती है। चिति का विवर्त ही संसार है और उसका विवर्त न होना ही मुक्तिरूप परमपद है। चिति के विवर्त का उपशम हो जाने से ही यह संसार शान्त हो जाता है, अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार में चित्त के एकरस हो जाने पर जीव-जगद्रूप परिच्छिन्न भावों का जो विनाश हो जाता है, वही परमपुरुषार्थ और भावना-क्षय है। चूँकि असद्रूप भी चितिविवर्त

(☙) अभियुक्तों ने भी कहा है : भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्। अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाऽद्वैतं गुरुणा सह ॥ अर्थ : सर्वदा भावना से ही अद्वैत भाव करना चाहिए, कभी भी क्रिया से अद्वैत नहीं। तीनों लोकों में अद्वैतभाव करे, परन्तु गुरु से अद्वैत न करे।

उक्त जड़स्वभाव जगत् बनाता है, इसलिए विवर्तशून्यता ही चिति का अजड़ परमचैतन्यरूप शरीर (स्वरूप) है यों अनुभवनिष्ठ महात्मा लोग कहते हैं। श्रीरामजी, अनात्मदर्शनरूप जो संसार है, वह अनात्मभूत जगत् में तत्त्वभावना के अधीन है, इसी से वह तत्त्वरूप से अनुभूत होता है, उसमें तत्त्वकी एकमात्र अभावना से जब तत्त्वभावना का लय हो जाता है, तब वह जीवन्मुक्त का संसार बन जाता है, फिर वह जले हुए पट के समान बन्धन के लिए समर्थ नहीं होता ॥१८-२४॥

तब जीवन्मुक्त में वह संसार कैसे अवशिष्ट रहता है ? इस पर कहते हैं।

विवर्तशून्य केवल आत्मरूप बन जाने के कारण जीवन्मुक्तों को वह संसार चिद्रूप होकर ही अवशिष्ट रहता है। अतः मुनिलोग आत्मा के विवर्त को ही प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय आदिस्वरूप संसार-चक्र की परम्परा कहते हैं। जैसे सुवर्ण में कटक आदि सुवर्ण से पृथक् नहीं है, वैसे ही चिति का स्पन्द भी चिति से पृथक् नहीं है-जो संसार है। चित्त ही चितिका विवर्त है, इसलिए फलित यही हुआ कि चितिस्वरूप का अज्ञान ही संसार है। श्रीरामजी, अज्ञान-दशा में ही यह चितिस्पन्द, सुवर्ण में उत्थित कटकरूपता की नाईं, उत्पन्न हुआ है, अतः एकमात्र बोध से इस चितिस्पन्द के विलीन हो जानेपर शुद्धरूपा चिति ही अवशिष्ट रह जाती है। स्वात्मस्वरूप के बोधमात्र से ही भोगवासना क्षीण हो जाती है। भोगवासना का विनाश हो जानेपर अपने-आप सिद्ध हुआ विषयों का अचिन्तन ही यहाँ उत्तम जीवन्मुक्त का स्वरूप समझा गया है ॥२५-२८॥

ऐसा कौन कारण है, जिससे यह विषयों का चिन्तन नहीं करता ? इस पर कहते हैं।

श्रीरामभद्र, आत्मतत्त्वज्ञान के प्रभाव से ही स्वभावतः तत्त्वज्ञ पुरुष को सभी तरह के विषय अभीष्ट नहीं होते; क्योंकि ऐसा कौन अत्यन्त तृप्त पुरुष है, जो अस्वादु अन्न की इच्छा करता हो। श्रीरामजी, जीवन्मुक्तता का दूसरा ('को नु भूत्वाऽनुबध्नामि' इत्यादि श्लोकों से वर्णित विवेक आदि लक्षणों से भिन्न दूसरा) असाधारण लक्षण आप इसे ही समझिए, जो स्वभाव से ही विषयों की अनभिलाषा है ॥२९, ३०॥

अब फिर दूसरा लक्षण बतलाते हैं।

'मेरा आत्मचैतन्य ही भोक्ता, भोग्य एवं भोगों के आकार से स्पन्दयुक्त होकर सर्वस्वरूप स्थित है' इस प्रकार का भीतर उत्तम अभ्यास से युक्त दृढ़ जो निश्चय है; वही ज्ञत्वशब्द से (जीवन्मुक्तत्वशब्द से) कहा गया है ॥३१॥

जनसाधारण की तरह उसकी जो देहधारण के साधन भोगों में प्रवृत्ति है, वह तो वृथा चेष्टा ही है, यह कहते हैं।

शरीर रक्षणार्थ लोगों का अनुरोध सिद्ध करने के लिए अन्न आदि विषयों का ऊपर-ऊपर से उपभोग कर रहा भी जो परमार्थतः उपभोग नहीं करता, वही वास्तव में तत्त्वज्ञ है और इस प्रकार लोकानुरोध-सिद्धि के लिए ऊपर-ऊपर से जो चेष्टाएँ करता है, वह मानों दण्ड से आकाश का ताड़न करता है। तात्पर्य यह निकला कि आकाशताड़न में प्रवृत्त अज्ञजनों का अनुरोध स्वीकार कर आकाशताड़न में प्रवृत्त बुद्धिमान् पुरुष की चेष्टा जैसे उसके किसी भी अर्थ के लिए नहीं होती, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए ॥३२॥

शंका हो कि यदि वह वृथा चेष्टा है, तो 'सब लोगों द्वारा किया गया दण्डों से आकाश-ताड़न

मेरा ही है' इस बुद्धि की तरह 'भोक्ता, भोग्य एवं भोगों के आकारों में परिणत स्वात्मचिति ही सर्वात्मक है' यह पूर्वोक्त बुद्धि भी भ्रान्तबुद्धि होने से कृत्रिम ही ठहरी; फिर वह जीवन्मुक्त के लक्षणरूप से कैसे कही गयी ?

कृत्रिम बुद्धि के ('मैं ही सर्वात्मा हूँ' इस प्रकार की सर्वात्मभावनारूप वृत्ति के) बिना निरतिशय आनन्दात्मक आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि कृत्रिम भी सर्वात्मदर्शन परिच्छिन्न आत्मदृष्टि के निरास द्वारा तत्त्वज्ञान में उपयोगी है; अतएव वह जीवन्मुक्त के लक्षणरूप से कही गयी है।

तब देहात्मबुद्धि के निरास द्वारा तत्त्वदर्शन के प्रति उपयोगी होने से हाथ, पैर आदि अपने अंगों के छेदन, भेदन आदि साहसिक कर्म भी उसके लक्षण क्यों नहीं होंगे ? इसपर कहते हैं।

कहीं पर यानी शास्त्रों या विद्वानों के अनुभवों में सर्वात्मदर्शन की तरह अपने अंगों के अवदलन आदि साहसों का भी यदि आत्मदर्शन में उपयोग प्रसिद्ध होता तो वह भी लक्षण हो सकता; परन्तु वैसी स्थिति नहीं है। (अथवा 'विनाकृत्रिमया' यहाँ 'अकृत्रिमया' ऐसा पदच्छेद कर तदनुसार यह अर्थ करना चाहिए कि) आत्मस्वरूप के आविर्भाव में अपरिच्छिन्न, आकार से शून्य ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति को छोड़कर अपने अंगों के छेदन, भेदन आदि के सदृश कठिनतम साहसों क़ा कुछ भी उपयोग नहीं प्रतीत होता ॥३३॥ यह चिति जब तक अज्ञान से आवृत्त रहती है तब तक स्वप्रकाश्य वृत्ति आदि के वर्ग में प्रविष्ट होकर स्वयं ही स्पन्दरूप–सी होती हुई बाह्य–विषयों की ओर जाती है और विभ्रम देखती है। जब भीतर उत्तम तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है तब स्पन्दअस्पन्द–दशा का यह क्रम, शान्त दीपक की नाईं, अपने नाम के साथ न जाने कहाँ चला जाता है ? वास्तव में स्वभावतः प्रशान्तस्वरूप, चितिरूपा दीपिका की यहाँ स्पन्द एवं अस्पन्द रूपा कुछ भी कथा नहीं हो सकती ॥३४–३६॥

पाण- चेष्टा की आत्यन्तिक शान्ति भी वही है, यह कहते हैं।

स्पन्दरहित पवन का जो रूप न सत् है, न असत् है और न उनके मध्यग यानी अनिर्वचनीय ही है; उसे ही अज्ञान एवं स्पन्द से शून्य चिति का प्रशम अर्थात् 'मोक्ष' मुनि लोग जानते हैं। जब चिद्रूप चिति का यह स्पन्दन शुद्धचिति के बृहदाकार ब्रह्माकार को धारण करता है, तब केवल आत्मा में स्थित हुआ यह न बन्ध के लिए अर्थात् बन्ध का भागी और न मोक्ष के लिए ही अर्थात् मोक्ष का ही भागी होता है। यह चिति यदि व्यर्थभूत चित्ताकार और उसकी शान्तिरूप दो दशाओं को प्राप्त न करे तो इसमें बन्ध, मोक्ष आदि पक्षों की नाममात्र से भी सत्ता न रहे ॥३७–३९॥ श्रीरामजी, 'मुझे मोक्ष हो' यह बोध ही आत्मा की पूर्णता के नाश का हेतु है और 'वह (मोक्ष) न हो' यह भी आपके बन्ध के लिए हेतु है।

तब कल्याण के लिए क्या करना योग्य है ? इस शंका पर कहते हैं।

अतः इनका (बन्ध एवं मोक्ष का) अज्ञान ही कल्याण है। तात्पर्य यह निकला कि चूँकि मुझे 'मोक्ष हो' इस ज्ञान से भी आत्मा की पूर्णता नष्ट होती है और 'मोक्ष न हो' इससे भी बन्ध होता है, इसलिए बन्ध और मोक्ष का स्मरण न करना ही आपके लिए कल्याणकर है ॥४०॥ स्वयंप्रकाश, चैतन्यरूप, सब पदार्थों का आश्रय और विषयोन्मुखता से रहित चिति का जो स्वरूप है, उसे ही आप परमपद जानिए ॥४१॥

तब भला कौन–सा बन्ध, मोक्ष आदि व्यवहारों के योग्य पदार्थ है ? उसे कहते हैं।

संकल्पशब्द का वाच्यभूत महाचिति का जो स्पन्दन है, वही बन्ध, मोक्ष आदि व्यपदेशों का भागी है। और तत्त्वदृष्टि से देखने पर तो वह नष्ट भी हो जाता है ॥४२॥ श्रीरामभद्र, तत्त्वज्ञान से अहंकार के शान्त होने और आश्रयहीन होने पर तो मैं नहीं जानता कि किसका किससे क्या बद्ध होता एवं क्या मुक्त ही होता है ॥४३॥

तब चिति के संकल्परूप स्पन्द के त्याग का उपाय क्या है ? उसे कहते हैं।

यदि विवेकी पुरुष स्वरचित संकल्प में ही अविभागवान् है यानी 'यह मुझसे संकल्पित है और यह नहीं' इस प्रकार के पूर्वापर–विचार से विभागों को यदि छोड़ देता है तो (उत्पन्न हुआ भी संकल्प बाहर स्पन्दजनन में असमर्थ होता हुआ यों ही नष्ट हो जाता है; और अर्थतः ही) यह सब अवारित असंकल्प और अस्पन्द रूप हो जाता है ॥४४॥

इस प्रकार प्रबुद्ध चैतन्य के द्वारा स्पन्द और स्पन्दमय पवन के क्षीण कर दिये जानेपर तन्मूलक संसार भी क्षीण ही हो जाता है, यह कहते हैं।

चूँकि यह संसार स्पन्दमय ही है, इसलिए प्रबुद्ध चैतन्य के द्वारा स्पन्द एवं स्पन्दमय पवन के नष्ट हो जाने पर चिद्घन के स्पन्दरहित होकर सदा स्थित हो जानेपर तन्मूलक संसार भी नष्ट हो जाता है ॥४५॥

अथवा 'यह चिति का स्पन्द चित्प्रकाश से अतिरिक्त होकर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है' इस दृष्टि से भी उसकी निवृत्ति होती है।

श्रीरामचन्द्रजी, 'चित्प्रकाश ही चिति का स्पन्द है' यों निरन्तर ज्ञान करने पर यह जीव–जगद्रूप चितिस्पन्द चिति से अतिरिक्त होकर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता । श्रीरामजी, दृश्यमय इस दीर्घस्वप्नरूप संसार में जन्मान्तर आदिरूप दूसरे स्वप्न में जा रहा भी तत्त्वज्ञ अपने चलन आदि भ्रम को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि संविद्रूप अपना तत्त्वज्ञान सर्वगामी ही है । श्रीरामभद्र, जिसमें ये सम्पूर्ण जगत् के आकारों के अनुभव, रोके जाने पर भी बलपूर्वक निरन्तर स्वजनित आनन्दास्वाद से सुन्दरतापूर्ण उत्पन्न होते हैं, उक्त संपूर्ण ज्ञानों की स्थिति भी जिसमें उत्पन्न होती है एवं उक्त संवित्तिरूप समस्त कल्पनाओं के आकारस्वरूप पंक जिसमें लीन हो जाते हैं, उस प्रत्यगात्मा को आप कथित रीति से विचार द्वारा देखिए ॥४६–४८॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

अद्वितीय शुद्ध परमात्मा की अपनी माया द्वारा सर्वाकार से
जो स्थिति है, वह उसकी विभूति है–यह वर्णन ।

वर्णित ब्रह्म की विभूतियों का विस्तार से वर्णन करने जा रहे महाराज वसिष्ठजी उनमें मुख्यों का पहले निर्देश करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, इस तरह सबका आदि, परम तत्त्व चिद्घन ही परमपदरूप से स्थित है । उसी परमपद में स्थित हुए ही ये महान् आकारवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि, मानुषानन्द–विभवों से परिपूर्ण सन्तुष्ट राजाओं की तरह, उन्नत विभूतियों से स्फुरित होते हैं । और

जैसे देवता लोग स्वर्ग में क्रीडा करते हैं, वैसे ही उस ब्रह्मपद में ही स्थित मनुष्य, गन्धर्व आदि जन आकाशगमन आदि क्रीडाओं से यहाँ चिरकाल तक क्रीडा करते हैं। सम्पूर्ण आनन्दों के उत्कर्ष की परमावधिरूप ब्रह्म को तत्त्वज्ञान से प्राप्त कर यह जीव न तो जीव धर्म क्षुधा आदि से मरता है और न उसे प्राप्त कर शोक करता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, उसे प्राप्त कर तृष्णा आदि से न पीडित होता है और न दीवार आदि से अवरूद्ध होता है। असीम परमाकाशस्वरूप उस परमात्मा के सर्वत्र अनुस्यूत सत्तासामान्यरूप तत्त्व की सांसारिक कर्म कर रहा साधारण जन्तु शरीर भी यदि क्षण भर स्वल्प भावना करता है, तो मुक्त मन होकर जब मुनि बन जाता है, फिर संसार में सन्तप्त नहीं होता, तब आप जैसे उत्तम शरीरवालों के लिए तो कहना ही क्या ? ॥१-५॥

जिस सामान्यरूप की भावना से जन्तु परितप्त नहीं होता, वह सत्तासामान्यरूप क्या निर्विशेष है या सविशेष ? यदि निर्विशेष कहें, तो विभूति का वर्णन असंगत होगा। यदि उसे सविशेष कहते हैं, तो उसे प्राप्त कर जन्तु पुनः परितप्त नहीं होता, यह जो आत्यन्तिक परिताप के उच्छेद का वर्णन किया गया है, वह युक्त नहीं है, इस आशय से श्रीरामजी पूछते हैं।

महर्षे, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तरूप सर्वद्वैत जहाँ नष्ट हो गया है, ऐसा विशेषरहित पूर्ण चिन्मात्र ही सत्तासामान्यरूप है, क्या यह आप कहते हैं या मन आदि सब विशेषों से युक्त सर्वात्मा ईश्वर सत्तासामान्यरूप है, यह कहते हैं ? ।६॥

प्रपंच का बाध होने के बाद परिशिष्ट सत्तासामान्य निर्विशेष है और उसके पूर्वकाल में रहनेवाला सत्तासामान्य सविशेष है, यों दोनों का विभाग करके हमने नहीं कहा है, किन्तु सम्पूर्ण जीवभावों में, ईश्वरभाव में और मुक्ति में जो अखण्ड एक लम्बे दण्डे की नाईं सन्मात्र अनुस्यूत है, वही हमने कहा है और वही जगत् का तत्त्व है। उसमें आपका अभिप्रेत कोई विरोध है ही नहीं, इस आशय से वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

भद्र, जो ब्रह्म सब देहों में स्थित होकर खान, पान और गमन करता है, जो जाग्रत, स्वप्न और सृष्टिकाल में वस्तुओं का ग्रहण करता है, जो सुषुप्ति और प्रलय काल में उनका नाश कर देता है तथा जो तुरीयावस्था में संवित् और संवेद्य से वर्जित रहता है; सर्वव्यापी, आदि और अन्त से शून्य, और सर्वदा विद्यमान रहता हुआ भी, कण्ठस्थित विस्मृत हार की नाईं, बोध से प्राप्त हुआ अखिल वस्तुओं का सारभूत है वही यहाँ पर सत्तासामान्यशब्द से कहा गया है ॥७,८॥

आकाशादि कार्यों में अनुस्यूत उस ब्रह्म का ही, सर्वात्मता के प्रदर्शन के लिए, उनकी विभूतिरूप से वर्णन किया जाता है, यह कहते हैं।

वह आत्मा ही आकाश में आकाशरूप से स्थित है, शब्द में शब्दरूप से स्थित है, स्पर्श में स्पर्शरूप से स्थित है और त्वचा में त्वग्रूप से स्थित है। रस में रसरूप से लीन है और रसनेन्द्रिय में रसनेन्द्रियरूप से लीन है। रूप में रूपस्वरूप से दृष्ट है और नेत्र में नेत्ररूप से लीन है। घ्राणेन्द्रिय में घ्राणरूप से दृष्ट है और गन्ध में गन्धरूप से उदित है। शरीर में शरीररूप से पुष्ट है और पृथिवी में पृथिवीरूप से पुष्ट है। दूध में दूधरूप से स्थित है और वायु में वायुरूप से स्थित है। तेज में तेजोरूप से स्थित है और बुद्धि में बुद्धिरूप से स्थित है। मन में मनरूप से स्थित है और अहंकार में अहंकाररूप से स्थित है। बुद्धि में

बुद्धिरूप से आरूढ़ है और चित्त में चित्तरूप से उठा है। वृक्ष में वृक्षरूप से लगा है और पटमें पटरूप से उदित हुआ है। घट में घटरूप से स्थित है और वट में वटरूप से उत्थित है। स्थावर में स्थावररूप से स्थित है और जंगम में जंगमरूप से स्थित है। पाषाण में पाषाणरूप से स्थित है और चार प्रकार के प्राणियों में चेतनरूप से स्थित है ॥९-१५॥

वहाँ पर विशेषाकार सत्ता भी वही है, यह कहते हैं।

देवताओं में देवतारूप से स्थित है, मनुष्यों में मनुष्यरूप से। तिर्यक्‌योनियों में तिर्यग्‌रूप से स्थित है और कृमि योनियों में कृमिरूप से स्थित है। काल के क्रम में यानी युग, संवत्सर आदि भेदों में कालरूप से स्थित है और उसके अवान्तरभेदस्वरूप ऋत्तुओं में ऋतुरूप से स्थित है। त्रुटि, क्षण, निमेष आदि अत्यन्त सूक्ष्मभूत कालभेदों में भी वह व्यापक ब्रह्म ही तत्तत् रूप से स्थित है। शुक्ल वस्तु में शुक्लरूप से स्थित हुआ है और कृष्ण वस्तु में कृष्ण रूप से स्थित है। वह क्रियाओं में क्रियारूप से स्थित है और दैव में दैवरूप से स्थित है। वह परमेश्वर स्थिति में स्थितिरूप से स्थित है, संहार में संहाररूप से स्थित है तथा उत्पत्ति में उत्पत्तिरूप से स्थित है। बालरूप में बाल्यरूप से स्थित है, युवा में यौवनरूप से स्थित है, वृद्धरूप में वार्धक्यरूप से स्थित है एवं मृत में मरणरूप से स्थित है। इस प्रकार सब पदार्थों में तत्-तत् रूप से स्थित हुआ वह परमेश्वर सत्तासामान्यरूप से उस तरह उनसे अभिन्न है; जिस तरह समुद्र में स्थित कल्लोल, जलकण एवं ऊर्मियाँ जलसामान्यरूप से अभिन्न हैं ॥१६-२१॥

शंका हो कि एकरूप यह परमात्मा नानारूप होकर उनमें कैसे स्थित रहता है ? तो इसका समाधान यह है कि अपने अज्ञान से जनित भ्रान्तिकल्पना से ही वह नानारूप से स्थित रहता है, न कि वस्तुतः यह कहते हैं।

'श्रीरामजी, सत्यस्वरूप चित्स्वभाव इस परमात्मा द्वारा कल्पित होने से इनकी नानारूपता उस प्रकार असत्य ही है; जिस प्रकार बालक द्वारा कल्पित वेताल। हे महात्मन्, सर्वत्र स्थिति रखनेवाले विकाररहित एवं चैतन्यस्वरूप मैंने स्वयं ही यह जगद्रूप कल्पना की है। यह सम्पूर्ण विश्व मेरे ही विविध विलासों से व्याप्त है। अतः 'यह मुझ आत्मा की ही विभूति है, मुझे छोड़कर और कुछ नहीं है' यों तत्त्वज्ञान प्राप्त कर शान्तचित्त होते हुए आप सुखपूर्वक स्थित रहिए। श्रीवाल्मीकिजी ने कहा : मुनि वसिष्ठजी महाराज के ऐसा कहनेपर दिन बीत गया, सूर्यभगवान् अस्ताचल की ओर पधारे। सभा भी सायंकालीन विधि के लिए मुनिजी को नमस्कार कर उठ गयी और रात्रि बीतनेपर सूर्य-किरणों के साथ पुनः दूसरे दिन आ जुटी ॥२२-२४॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

इकसठवाँ सर्ग

यह जगत् स्वप्न एवं माया के तुल्य है-इसका युक्ति से साधन तथा भ्रान्ति से, बिना विरोध के, सब जगह सबकी उत्पत्ति सम्भव है, यह वर्णन।

दृश्यमान यह सब जगत् यदि परमात्मा की स्वप्नसदृश, भ्रान्तिकल्पित एक विभूति ही है तो ब्रह्मा आदि की दृष्टि में वह स्वप्न के सदृश भ्रान्ति ही अवभासित होती है और हम लोगों की दृष्टि

में तो वह स्वप्न के सदृश भ्रान्ति नहीं भासती, किन्तु दृढतर सत्यरूप ही भासती है। भगवन्, एक ही पदार्थ का इस प्रकार विषमता से भान होने में क्या कारण है ? यदि इस पर कहें कि दीर्घकाल से चले आने के कारण हम लोगों को सत्यरूप और दृढ़तर अनुभूत होती है, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो ब्रह्मा आदि को, जिनकी आयु दो परार्धवर्ष की है, हम लोगों की अपेक्षा संसारकी चिरकालतक अनुवृत्ति होने से उसमें (जगत् में) सत्यता एवं दृढ़ता की और भी अधिकता होने लगेगी, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

हे मुने, जैसे हम लोगों की दृष्टि में स्वप्नकालीन नगर, राजधानी एवं देश भ्रान्तिरूप हैं; वैसे ही यदि हिरण्यगर्भ आदि की दृष्टि में देहधारण और उसी प्रकार उत्पन्न हुआ यह समस्त जगत् असद्रूप भ्रान्ति ही है, तो हम लोगों को ही इस प्रपंच में दृढ़तर सत्यत्वबुद्धि क्यों होती है और उन्हें (हिरण्यगर्भ आदि को) दृढ़तर सत्यत्वबुद्धि क्यों नहीं होती ? ॥१,२॥

चिरकालानुवृत्ति का बाध न होना ही सत्यता–भ्रम की दृढ़ता में हेतु है, न कि बाधित चिरकालानुवृत्ति, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, (जब यह ब्रह्मदेव पहले कभी उपासना कर रहे थे तब उन्हें तत्त्वज्ञान न रहने से) उनकी (प्रजापति की) उस समय की प्रथम सृष्टि, आज हम लोगों द्वारा अनुभूयमान सृष्टि के समान, यद्यपि चारों ओर से चार प्रकार भूत–समूहरूप जीवों के प्रतिभासस्वरूप हुई सत्य ही भासती थी; तथापि आज उसके तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाने के कारण वह अपनी कुछ भी सत्यता (सद्रूपता) नहीं रखती। जब तक अज्ञान है तब तक चिति के सर्वव्यापी होने से जीव भी सर्वरूप होता है और सर्वत्र संसार भी सत्य–सा होता है; क्योंकि वह संसृति तत्त्वज्ञान के विरोधी अज्ञान से उत्पन्न होती है और तत्त्वज्ञान से नष्ट होती है। इसलिए हिरण्यगर्भ को यह जो तत्त्वज्ञान से बाधित, स्वप्नतुल्य यानी सुंदर प्रपंच का प्रतिभास उत्पन्न होता है; वही अज्ञानी हम लोगों को अहंता–बुद्धि से एकरूप होता हुआ अत्यन्त दृढ़ होकर स्थित है ॥३–५॥

शंका हो कि तब प्रजापतियों को तत्त्वज्ञान से स्वयं कल्पित प्रपंच की शीघ्र विनाशिता का अनुभव क्यों नहीं होता ? तो भोगजनक अदृष्ट ही उसमें प्रतिबन्धक है, इस आशय से समाधान करते हैं।

जिस प्रकार सो रहे पुरुष को स्वाप्निक भोगों के जनक कर्मों से प्रतिरुद्ध होने के कारण स्वप्न में विद्यमान भी शीघ्रविनाशिता नहीं दीखाई पड़ती, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के समष्टिस्वप्नरूप इस जगत् में पद्मजों को विद्यमान शीघ्रविनाशिता का बोध होने में भी भोगजनक अदृष्ट ही प्रतिबन्धक दिखाई पड़ता है ॥६॥ श्रीरामजी, इस शयनस्थ पुरुष को अनुभूयमान यह प्रसिद्ध हम, तुम आदि समस्त जीव जगत्–स्वरूप स्वप्न जैसा ही यानी अनादि अनन्त प्रवाहरूप है, वैसा ही प्रजापति का भी स्वप्न है ॥७॥

माना कि प्रजापति का समष्टि स्वप्न भी वैसा ही है, उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

जो स्वाप्निक पुरुष से उत्पन्न हुआ है, वह उसी प्रकार स्वप्नपुरुषरूप है, जिस प्रकार आम के बीज से उत्पन्न हुआ आम का फल आम्रबीजरूप ही है, कोई दूसरा नहीं, वैसे ही स्वप्नपुरुष से उत्पन्न हुआ जीव–जगद्रूप संसार भी स्वप्नपुरुषरूप ही है, दूसरा नहीं ॥८॥

ऐसा ही सही, उससे भी प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, असत्यभूत मनःकल्पित स्वप्नपुरुष से जो उत्पन्न किया जाता है, वह भी असत्यरूप ही उत्पन्न होता है। इसलिए जन्मान्तर, स्वर्ग, नरक आदि अर्थक्रियासमर्थ भी असत्यभूत अर्थों में (विषयों में) दृढ सत्यता की भावना करना युक्त नहीं है, यह जानिए। भद्र, चूँकि वह भावना युक्त नहीं हे, इसलिए स्वप्नपुरुष से उत्पन्न जो असत् पदार्थों की भावना है, दृढ़ सत्यरूप से प्रतीत हुई भी वह छोड़ ही देनी चाहिए ॥९, १०॥ हम लोगों को भी स्वप्न में जिस सृष्टि का भान होता है, उसमें उस समय दृढ़रूपता का ही भान होता है अर्थात् उस समय उसमें मिथ्यात्वबुद्धि नहीं होती, इसलिए उसकी सत्यता नहीं मानी जाती। ठीक वैसी ही स्थिति हिरण्यगर्भ के समष्टिस्वप्नरूप सृष्टि की भी जानिए। प्रजापति सम्बन्धी सृष्टि की दीर्घकालस्थिति स्वीकारकर यह सब कहा गया है, वस्तुतः उसकी दीर्घता भी हरिश्चन्द्र के स्वप्न की दीर्घता की नाईं (📖) थोड़े समय तक भी हो सकती है, यह कहते हैं। वस्तुतः वर्षाकालीन जलप्रवाह की नाईं निमेषमात्र के लिए ही प्रजापति का यह सृष्टिस्वप्न सामने स्थित है और निमेषमात्रस्वरूप ही इस स्वप्न में कल्परूपता की केवल कल्पना की गयी है ॥११॥

प्रजापति की नाईं सबको अपने–अपने स्वप्नों में उस समय दीर्घ–प्रपंचता का भान होता ही है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार प्रजापति को सृष्टिनामक दीर्घतम स्वप्न का प्रतिभास होता है, उसी प्रकार सब प्राणियों में प्रत्येक को दीर्घ स्वप्न का प्रतिभास होता है ॥१२॥

जिसकी प्रसिद्धि चिति के ही अधीन है, ऐसा दृश्यत्व मिथ्यात्व में ही प्रयोजक है, वह दृश्यत्व हम लोगों की स्वाप्निक सृष्टि तथा हिरण्यगर्भ की स्वाप्निक सृष्टि में समान है।

जिस प्रकार द्रवत्व के कारण आवर्तरूप परिवर्तनों से जल प्रस्फुरित होता है, उसी प्रकार चितितत्त्व के अस्तित्व से यह सृष्टि की परंपरा प्रस्फुरित होती है ॥१३॥ श्रीरामजी, जब यह सृष्टिशोभा स्वप्नस्वरूप ही है, तत्त्वतः सत्यरूप नहीं है; तब सर्गादि के साथ वह प्राजापत्यपद भी प्रलय में ही चला गया यानी अत्यन्त असत्‌रूप ही हो गया। इसीलिए – न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥ (न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्ति ही है – यही परमार्थता है।) यह प्रसिद्ध श्रुति वचन अपना अस्तित्व रखता है ॥१४॥

जब ये सम्पूर्ण पदार्थ अत्यन्त असत् ही हैं तो व्यवहार योग्य कैसे हुए ? ऐसी यदि आशंका हो, तो उसका– 'वैसा अनुभव होने से ही' यों समाधान है; अतः यहाँ कुछ प्रष्टव्य (शंका करने योग्य) ही नहीं है, यह कहते हैं।

इस संसार में जो वस्तु जिस प्रकार से जैसी देखी गयी है, वह उस प्रकार से वैसी ही विद्यमान है। अतः स्वप्न–भ्रम की रीतियों में किसी भी प्रकार की शंका–कुशंका न करनी चाहिए ॥१५॥

अज्ञान की (अविद्या की) अघटित घटना में सामर्थ्य होने से भी शंका का अवसर नहीं है, यह कहते हैं।

(अविद्या के अघटित घटना में समर्थ होने के कारण) इस जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका

(📖) राजा हरिश्चन्द्र को रात्रि में जो स्वप्न दीख पड़ा, वह उसे ऐसा प्रतिभासित हुआ कि मानों मैंने १२ वर्ष तक स्वप्न देखा हो–ऐसा पुराणों में प्रसिद्ध है।

भ्रम में संभव न हो। इस त्रिभुवन में चित्र–विचित्र आश्चर्यजनक वस्तुकी सृष्टियाँ दीख पड़ती है ॥१६॥

जगत् में असंभावित अनेक पदार्थों का दर्शन दृष्टान्तरूप से बतलाते हैं।

श्रीरामजी, (जगत् में चित्र–विचित्र ऐसे अद्‌भुत आश्चर्य दिखाई पड़ते हैं कि) जल के बीच आग जलती है, जैसे–समुद्र में वडवानल। और आकाश में अनेक नगर हैं, जैसे–देवताओं के स्वर्गादि निवास–स्थान। भद्र, देखिए जैसे, शिलाओं में कमल उत्पन्न होते हैं, हेमाद्रि–पर्वत में (मृत्तिकारहित प्रदेश में) वृक्ष उत्पन्न होते हैं। कल्पतरू में एक देश में सम्पूर्ण पुण्यों के फलस्वरूप वांछित पदार्थ रहते हैं (卐)। जैसे वृक्षों की नाईं शिलाएँ चिन्तामणियों के गुच्छे फलती है, शिलाओं के भी भीतर प्राणी रहते हैं, जैसे–शिला के मध्य में मेढक। पत्थर से पानी बहता है, जैसे–चन्द्रकान्तमणि के पत्थर से। और स्वप्न में क्षणभर में ही घट पटरूपता को प्राप्त हो जाता है। अत्यन्त असत् वस्तुओं का भी ज्ञान होता है, जैसे–स्वप्न में अपने मरण का। और पृथ्वी आदि भूतों में स्थित जल अकस्मात् आकाश में भी धारण किया जाता है। वितान (चँदोवा) के समान आकाश में भी जल स्थित रहता है, जैसे–मन्दाकिनी। स्थूल शिलाएँ भी उड़ती हैं, जैसे–पंखवाले पर्वत। इसमें सन्देह नहीं कि शिला के भीतर सब कुछ पाया जा सकता है, जैसे–चिन्तामणि में। इस संसार के भीतर सभी चिन्तित विषय शीघ्र वैसे ही फलते हैं, जैसे– नन्दनवन के भीतर। श्रीराघव, 'मोक्ष उत्पन्न हो', 'ब्रह्म नष्ट हो', 'प्रपंच सत्य हो', 'भोग शाश्वत हो जाय', 'मर्यादा भंग हो', वेद अप्रमाण हो जाय' इत्यादि मोक्ष आदि के विषय में सत्यसंकल्प लोगों के शीघ्र चिन्तित भी मनोरथ नहीं फलते यानी उत्पन्न नहीं होते। हे श्रीरामचन्द्रजी, अचेतन भी कर्म करता है, जैसे– यन्त्रपुरुष। श्रीरामजी, इत्यादि पूर्व में उक्त और दूसरे भी असंभावित विचित्र कार्यों के विभ्रम शम्बर (दैत्यविशेष) और गन्धर्वों की माया के विलासों से देखे गये हैं। जो देश और काल में मन्त्रप्रयोग आदि क्रियाओं से, औषधादि द्रव्यों से, मणियों से तथा पिशाच, आदि के संचारों से उत्पन्न हैं, वे विचित्र कार्यों के विभ्रम भी देखे गये हैं जो कि सत्य पदार्थों की नाईं अर्थक्रियाकारी अनन्त एवं गन्धर्वनगर के सदृश जनित हैं। यहाँ दूरत्वादि देश में चन्द्रमा का प्रादेशिकत्व आदि और काल में औत्पातिक नभःकबन्ध आदि विभ्रम उदाहरण समझने चाहिए। इस समय असंभव भी यह ब्रह्माण्ड–नाश आदि भविष्यत् में संभव हो जाता है। और इस समय संभव भी सृष्टिरूप स्वप्नविभ्रम प्रलय एवं तत्त्वबोध में असंभव होता हुआ स्वरूपविश्रान्ति के लिए समर्थ हो जाता है ॥१७–२७॥

एवं ब्रह्मरूप से देखने पर असत्य कुछ भी नहीं है और जगद्रूप से देखने पर तो कुछ भी सत्य नहीं है, यह फलित हुआ, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, (ब्रह्मरूप से देखनेपर) वैसा कुछ भी नहीं है, जो सत्य न हो; और (जगद्रूप से देखने पर तो) वैसा कुछ भी नहीं है, जो असत्य ही न हो। सृष्टिनामक हिरण्यगर्भ के इस स्वप्न में सर्वत्र सबसे सब कुछ होता ही है। जिस प्रकार स्वप्न में निमग्न बुद्धि प्राणी वस्तुओं की स्थिरता ही देखता है, उसी प्रकार सृष्टिरूप स्वप्न में भी निमग्नबुद्धि विषयों की स्थिरता देखता ही है। संसार में अत्यन्त स्थिरता–

(卐) यहाँ यदि 'पण्यानि' ऐसा पाठ हो तो 'पणन' यानी व्यवहार और उसके योग्य वस्तुएँ' यह अर्थ समझना चाहिए। यदि 'पुष्पाणि' यह पाठ हो, तो उसका अर्थ स्पष्ट है। सर्वत्र 'यथा' शब्द उदाहरणार्थक है।

बुद्धि रखनेवाला यह जीव एक भ्रम से दूसरे भ्रममें और एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जाते हुए मोह को प्राप्त करता है । श्रीरामभद्र, जैसे मुग्धमृग गड्ढे में गिरानेवाले अपने मोहरूप दोष से एक गड्ढे में गिरकर पुनः दूसरे गड्ढे में गिरता है, वैसे संसार में गिरनेवाले राग, द्वेष आदि से मूढ यह जीव–जिसका गिरना ही एक स्वरूप है, मृग की तरह बीच में से निकल सकना संभव है ही नहीं ऐसे–मोह में यानी देहादिरूप गर्त में प्रवेश–भ्रम को प्राप्त होता है ॥२८–३१॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

जीवटाख्यान में विचित्र वासनाओं के कारण भिक्षु के
मनोव्यापार से घटित अनेक देहों की प्राप्तिरूप भ्रम का वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, 'एक भ्रम से दूसरे भ्रम में जा रहे' इस कहे गये अर्थ में दृष्टान्तभूत यह एक ऐसा इतिहास, जो किसी एक साधारण मननशील भिक्षुक का वृत्तान्त है, कहता हूँ, आप उसे सुनिए । भद्र, समाधि के अभ्यास में निरत और शम, दम, वैराग्य आदि से सम्पन्न कोई एक परिव्राजक था । वह निरन्तर अपने आश्रमोचित श्रवण, मनन आदि व्यवहारों से पूरा दिन बिताता था । समाधि के (ध्येयाकार की दृढ़ता से चित्त को पूर्वरूप की शून्यता में परिणत कर देना स्वरूप समाधि के) अभ्यास से पहले की वासनाओं का त्याग कर देने में समर्थ हुए उस परिव्राजक का वह चित्त, क्षण में जिसका चिन्तन करता था शीघ्र ही वह उस भाव को वैसे प्राप्त हो जाता था; जैसे जल तरंगभाव को । किसी एक समय में समाधि से विरत होकर वह उठा और एकाग्रचित्त होकर अपने ही आसन पर बैठा । उस पर स्थित होकर वह किसी एक क्रियाक्रम का विचार करने लगा । उस प्रकार विचार कर रहे उस परिव्राजक को स्वतः ही यह संकल्प हुआ कि मैं तत्काल ही लीलावश शास्त्रसंस्कारों से हीन पामरजनों के चित्त की चेष्टाओं की भावना करूँ । श्रीरामजी, इस प्रकार विचार करने के बाद उस परिव्राजक का चित्त किसी एक यतिधर्म से अनियन्त्रित अन्य पामर पुरुष के रूप में उस प्रकार परिणत होकर स्थित हुआ, जिस प्रकार विलोडन करने पर जल अपने पूर्व प्रवाह तथा समस्थिति को छोड़कर नाभि के आकार के सदृश 'भँवर' नामक दूसरे रूप में परिणत होकर स्थित रहता है ॥१–६॥

उसमें अवश्यम्भावी नामकल्पना बतलाते हैं ।

उसके बाद उस चित्तपुरुष ने स्वेच्छा से अपने नाम की 'मैं जीवट हूँ' इस प्रकार कल्पना की और सहसा काकतालीयन्याय से उसी रूप का होकर स्थित हो गया । तदनन्तर स्वप्नपुरुष वह जीवट (भिक्षु) स्वप्नरचित किसी नगर में नगर की गलियों में चिरकाल तक विहार करने लगा । वहाँ पर (निवास कर रहा वह जीवट एक दिन) लीलावश वैसा मद्यपान कर मत्त हुआ, जैसा भँवरा कमल–मधु का पान कर मत्त होता है । उस मद्यपान से हृष्ट हुआ वह गाढ निद्रा में सो गया । जिस प्रकार कल्पनामात्र से चित्त में देशान्तर की प्राप्ति देखी जाती है, उसी प्रकार उस जीवट ने स्वप्न में एकमात्र कल्पना से जनित, वेदाध्ययन तथा सत्कर्मानुष्ठान से सन्तुष्ट ब्राह्मणरूप में अपने को देखा । किसी दिन विविध दैनिक व्यवहारों में लगे रहने के कारण थका हुआ द्विजों में श्रेष्ठ वह जीवट, बीज में संस्काररूप से

स्थित वृक्ष की नाईं, चित्त में संस्काररूप से स्थित सभी व्यवहारों से युक्त होकर सो गया। इसके बाद (गाढ़ निद्रा को प्राप्त हुए) स्वयं उस द्विजराज ने स्वप्न में अपने को मेघमाला–सी घनी हाथी, घोड़े आदि सेनाओं से युक्त माण्डलिक राजा देखा। भोजन किये हुए उस माण्डलिक राजा ने किसी एक दिन गाढ़ निद्रा द्वारा स्वप्न में अपनी आत्मा में वह चक्रवर्तिता देखी, जो समस्त दिक्मण्डल का पालन करने में समर्थ और पुष्प–समुह से लता की नाईं भोग–समूह से युक्त थी। कारण में अपने कार्य की नाईं अर्थात् बीज में वृक्ष की नाईं भविष्य में फल देने के लिए उन्मुख हुए स्त्रीविषयक आसक्तिरूपी आचार से युक्त वह सम्राट किसी एक दिन स्वस्थ एवं समस्त चेष्टाओं से रहित होता हुआ सो गया। तदनन्तर स्वप्न में वह सम्राट अपनी आत्मा में बहुत पुरुषों द्वारा भोग करने पर भी अनिन्दित अप्सरारूपता को उस प्रकार देखने लगा, जिस प्रकार वृक्ष के कोश में स्थित रस का उल्लास (🙏) अपने में आविर्भूत मंजरीत्व को देखता है। सुरत से श्रान्त, अतएव गाढ निद्रा को प्राप्त हुई उस देवांगनाने (मृगीनयनों की सौन्दर्याभिलाषा रूप वासना से) अपनी आत्मा में अभिलषित वैसे ही मृगीरूपता देखी, जैसे जल की साम्यावस्था आवर्तरूपता देखती है। तदनन्तर किसी दिन चंचल नेत्रा एवं गाढ निद्रा से आक्रान्त हुई उस मृगी ने स्वप्न में अपने में वल्लीत्व देखा, जो अभ्यासवश दृढ़ हुआ था ॥७–१७॥

'तिर्यक्–योनियों को भी स्वप्न दीखता है या नहीं' इस प्रकार सन्देह करनेवाले पुरुषों के प्रति निश्चय बतलाते हैं।

श्रीरामजी, चूँकि (दृष्ट एवं श्रुत विषयों के संस्कारों का ग्राहक होने से) चित्त दृष्ट एवं श्रुत विषयों का अनुपहत (अखण्डित) स्मरण किया करता है, इसलिए ये (तिर्यग्योनि जीव) भी चित्त के स्वभाव से संस्कारवश स्वप्न देखते हैं, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है, यह भाव है। फूल फल एवं पल्लवों में आसक्ति रखने के कारण वनदेवियों के वनोद्यान के मध्य में स्थित लतागृह की नाईं विलासों से युक्त वह मृगी लता हो गयी। उस लता ने कुछ समय तक साक्षिचैतन्य के द्वारा घनीभूत निद्रा का यानी सुषुप्ति का अनुभव कर, तदनन्तर, बीज के अन्दर स्थित भावी अंकुराकार बुद्धि के सदृश स्वरूपवाली बुद्धि से स्पष्ट अपना छेदन देखा तथा स्वप्न के प्रति उन्मुख उद्‌बुद्ध हुए भ्रमराकार संस्कार से समन्वित बुद्धि से सुषुप्ति में स्थित अपने को स्थिर भ्रमररूप में देखा। जिस प्रकार युवतियों में उनका प्रिय युवक विहार करता है, उसी प्रकार यह भँवरा भी वन में स्थित वनलताओं और खिली हुई कमलिनियों में विहार करने लगा। पुष्प–समूहरूप सुन्दर मोतियों की लताओं में विलास करनेवाले भ्रमरों के मंध्य में घूम रहे उस भँवरे ने रमणी के अधरबिम्ब के सदृश स्वादयुक्त रसवाले कुसुमों के मधु का (मकरन्द का) पान किया। और वह भँवरा किसी एक कमलिनी में आसक्त होता हुआ कमल के नाल में संलग्न हो गया, क्योंकि जड़बुद्धि का चित्त कहीं पर अनुराग कर ही लेता है। श्रीरामजी, (एक समय की बात है) उस कमलिनी को उखाड़ फेंकने के लिए कोई एक हाथी आ धमका। ठीक ही है ! मूर्खों की इच्छाएँ रमणीय वस्तुओं का नाश करने में ही बढ़ती है। उस हाथी ने भ्रमर की आश्रय वह कमलिनी मर्दित कर ही डाली। और उसी कमलिनी के नाल

(🙏) रसोल्लास में चेतनता की कल्पना कर अथवा लक्षणा से रसोल्लास पद से वृक्षजीव का ग्रहण कर दर्शन–क्रिया की उपपत्ति करनी चाहिए। इसी तरह अन्यत्र अचेतन को भी समझना चाहिए।

के साथ वह भँवरा भी हाथी के दाँतो के बीच में पड़कर धान के पौधे के साथ कृष्ण (काले) धान की नाईं चबाया जाता हुआ चूर-चूर हो गया। उस भँवरे ने हाथी के दर्शन से जनित हाथी के आकार की भावना से अपने को गन्धविशेष से (मद से) उन्मत्त हाथी के रूप में तैयार देखा। तदनन्तर शुष्क सागर के समान हाथियों को फँसाने वाले पीलवानों (महावतों) से निर्मित गम्भीर एक गड्ढे में वह हाथी ऐसे गिरा, जैसे अज्ञानान्धकार से श्रृंखलाबन्धन से भी कठोर शून्य संसार में परवशता आदि दुःखों का अनुभव कर रहा जीव गिरता है। शत्रुओं की महती सेना का नाश करनेवाला और सर्वदा मद के बल से उन्मत्त वह हाथी (जो किसी राजा के द्वारा उस गड्ढे से निकलवाकर शिक्षित किया जा चुका था, उस) राजा का अत्यन्त प्रीतिपात्र हुआ। किसी समय (उस राजा का किसी राजा से जब रात में ही युद्ध ठन गया तब) रात में निकलकर दीर्घ खड्गों एवं कृपाणों से उस प्रकार छिन्न-भिन्न होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो गया, जिस प्रकार आत्मा में जीव (जीवोपाधि-देहादि अभिमानवाला जीव) विवेकरूप पवन से छिन्न-भिन्न हो जाता है। हस्ति-समूहों से गण्डस्थलों के अग्रभागों से उड़ी हुई भ्रमर-पंक्तियों को देखता हुआ वह हाथी गण्डस्थित चिरसंगति के संस्कार से पुनः भी भँवरा हो गया। तदनन्तर वनलताओं का सेवन कर रहा वह भँवरा पुनः कमलिनी के पास आ पहुँचा, क्योंकि अज्ञानी जीवों की वासनाओं का दुरभ्यास सर्वथा दुस्त्याज्य ही होता है। वहाँ भी पुनः हाथी के खुरों से विताड़ित हुआ वह (भँवरा) चूर-चूर हो गया और समीप में स्थित हंस के दर्शन से यानी उससे उद्बुद्ध हुई वासना से मधुरभाषी हंस हो गया। बहुत समय तक अनेकविध योनियों में भटकता हुआ (⌂) वह कलहंस किसी समय एक बार पुनः हंसजन्म प्राप्त कर बहुत से हंसों के साथ विहार करने लगा। वहाँ हंसों की सभा में उसने ब्रह्मदेव के हंस के गुण, आकार आदि का वर्णन सुना। उससे उसी जन्म में हंसरूप इस भिक्षु के अन्तःकरण में नाम और आकार से समन्वित 'मैं भी ब्राह्महंस हो जाऊँ' इस तरह की वासना वैसे ही किंचित् घनीभूत हो गयी, जैसे पूर्व में वर्णित अण्डरस में स्थिर मोर। उसीका चिन्तन कर रहा वह (भिक्षु) व्याधिरूप घुन से दृढ आहत होकर मर गया और उस ब्रह्म हंसकी नाम एवं आकार उभयविषयक वासना के अनुसन्धान से ब्रह्म देवका वाहन हंस बन गया। श्रीरामजी, विपुल तथा सर्वदा अनुस्यूत विवेकवाले ब्रह्मदेव के अपने विवेक, वैराग्य, तत्त्वज्ञान आदि उपदेशों के विलासों से उसी जन्म में ब्रह्म-लोक में ही भलीभाँति बोधित, अतएव भोग्य पदार्थों में सारदृष्टि से शून्य होता हुआ वह हंस जीवन्मुक्त होकर स्थित हो गया। इस प्रकार जीवित रहते हुए ही जब उसने निरतिशय आनन्दरूप मोक्षसुख की प्राप्ति कर ली और - 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्याऽन्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥' - इस श्रुति के अनुसार दो परार्घवर्ष के अन्त में ब्रह्म देव के साथ ही विदेहमुक्त भी हो गया तब उस हंस के लिए इससे अधिक साध्य ही क्या शेष रहा ? यह विद्वान् ही सोचें। तात्पर्य यह निकला कि ज्ञान से इसी

(⌂) योनिष्वन्यासु संल्लुठन् इससे 'हंसः पद्मवने भूत्वा विन्ध्यकच्छे च वारणः। हरिणो देहयन्त्रादौ... इत्यादि वक्ष्यमाण रीति से बीच में इसके पचासी जन्म हुए हैं, ऐसा मालूम पड़ता है। तथा उक्त दो प्रकार के हंस जन्म ग्रहण कर लेने के बाद वह रुद्ररूप हुआ, यह - 'संसारशतपर्यन्ते रुद्रः सोऽहं व्यवस्थितः।' इत्यादि से आगे कहेंगे।

जन्म में समूल अनर्थों की निवृत्ति एवं निरतिशय आनन्दप्राप्ति के सम्पादित कर लेने और उससे अतिरिक्त पुरुषार्थ के शेष न रहने से वह कृतकृत्य हो गया ॥१८–३७॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

तिरसठवाँ सर्ग

रुद्ररूपता को प्राप्त हुए उस हंस को पूर्व-देहों का ज्ञान,
उनकी शतरुद्रता तथा एकरूपता–इनका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, वह हंसपक्षी अनायास ही ब्रह्मदेव के आसनभूत कमलिनी के नाल में लीलाप्राप्त करने से यानी ब्रह्मदेव का वाहनरूप सामीप्य एवं मुक्तिरूप पद को प्राप्त करने से किसी एक समय ब्रह्मदेव के साथ रुद्रपुर में पहुँचा और वहाँ उसने भगवान् रुद्र को देखा ॥१॥ वहाँ पर भगवान् शंकर में ज्ञान, योग, ऐश्वर्य आदि सम्पूर्ण गुणों का आधिक्य देखने से उस हंस को 'मैं भी रुद्राहम्भावना से रुद्ररूप हो जाऊँ' यों दृढ़ बुद्धि हो गयी।

शंका हो कि जीवन्मुक्त, अतएव वासनाशून्य उस हंस को रुद्रत्व की इच्छा ही कैसे होगी और उस वासना के अभ्यास से देहत्याग के साथ पुनः उसका रुद्र शरीर धारण भी कैसे होगा ? यदि इस पर कहो कि 'भरतस्य त्रिजन्मभिः' इस न्याय के अनुसार नाना देहों से भोग्य प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट रहने से वह देहान्तर धारण कर सकता था तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर रुद्रविषयक अहम्भाव धारण करने का जो वर्णन किया गया है, वह निरुपयोगी हो जायेगा। इसी प्रकार भगवान् रुद्र के ईश्वर होने के कारण रुद्ररूपता में कर्मफलत्व भी नहीं आ सकता ? इस पर कहते हैं।

उसकी वह इच्छित रुद्रता दर्पण में प्रतिबिम्ब की नाईं प्रतिबिम्बरूप ही थी। तात्पर्य यह है कि यह वर्णित रुद्रभाव मुख्य रुद्रभाव नहीं है, किन्तु प्रतिबिम्ब के समान सारूप्यमुक्ति ही है और वह कर्मोपासना का फल भी हो सकती है। तथा च, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' यह श्रुति इस विषय में प्रमाण है ॥२॥

हंस का यह रुद्रदेहधारण जन्मान्तर नहीं है, किन्तु अवशिष्ट प्रारब्ध से उपनीत इच्छा के कारण योगियों के समान मानस देहान्तर की कल्पना द्वारा पूर्व देह का त्यागमात्र ही है, इस आशय से कहते हैं।

वहाँ पर उस हंस ने (रुद्रभावनावश) रुद्रशरीर धार कर अपने उस पूर्ववर्ती हंस शरीर का उस प्रकार त्याग कर दिया जिस प्रकार गन्ध पवनरूपता को प्राप्त कर पुष्प गुच्छों का त्याग कर देती है। वह रुद्र उस रुद्रभवन में गाणपत्यपद की प्राप्ति के कारण उन–उन शिवपुर के आचारों से यथेच्छ विहार करने लगा ॥३,४॥

सारूप्य–मुक्ति में यद्यपि जगत् का संहार आदि करने का अधिकार नहीं है; तथापि ज्ञान, ऐश्वर्य आदि से प्रसिद्ध रुद्रभगवान् का साम्य तो है ही, इस आशय से कहते हैं।

वहाँ पर परम श्रेष्ठ ज्ञान एवं ऐश्वर्य आदि के विलासों से प्रसिद्ध रुद्र भगवान् के साथ समता–विशिष्ट उस अलौकिक बुद्धि से उस रुद्र ने अपने पूर्वतन सम्पूर्ण वृत्तान्तों का भी अवलोकन कर लिया। उस समय आवरणरहित, एकमात्र ज्ञानाकार भगवान् रुद्ररूप उसने, अपने सैकड़ों स्वप्नों से आश्चर्यचकित होते हुए अपने मन में ही कहा : यह महान् आश्चर्य है कि चारों ओर फैली हुई यह माया

विश्व को मोहित करनेवाली है। मरूभूमि में जल की नाईं यह स्वयं असद्रूपा ही है; फिर भी सद्रूप–सी भासित हो रही है। आ ! मुझे स्मरण आ गया कि सर्वप्रथम प्राक्तन पारमार्थिक स्थिति से मैं चिद्रूप ही था। तदनन्तर मायावश चित्तरूपता को ('एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' इत्याकारक सृष्टिसंकल्प–वृत्तिता को) प्राप्त हुआ। उस तरह के संकल्प से ही मैं सम्पूर्णरूप से संपन्न होता हुआ चिदंश में सर्वज्ञ और गगन आदि की भावना से जडांश में गगन आदि विभागवान् भी हो चुका हूँ। तदनन्तर मेरा स्वेच्छा से व्यष्टि–समष्ट्यात्मक लिंगदेह में चिदात्मरूप से प्रवेश होने पर–स्थूलभूतों तथा सूक्ष्मतन्मात्राओं से और उन देहों से अभेदाध्यास होने के कारण–तद्गत वासनाओं के वैचित्र्य से चित्रपट की नाईं रंजित होता हुआ मैं जीवरूप होकर स्थित हुआ। और अनादिकाल से जन्म–परम्पराओं का अनुभव कर रहा वह जीव भी किसी एक सर्ग में वैराग्य एवं समाधि में पटुता होने के कारण चारों ओर से विषयों के क्षोभ से रहित होता हुआ संन्यासी हो गया ॥५–९॥

आत्मज्ञान से शून्य उस भिक्षु में रम्यवस्तुओं में इदन्त्व (यह) या अहन्त्व (मैं) बुद्धि रखने के कारण चित्तनिरोध के अभ्यास में पटुता होने से पूर्वदेहादि के आत्यन्तिक विस्मरणशक्ति की उत्पत्ति हुई, यह दिखलाते हैं।

बँधे हुए पद्मासन से स्थिरता रखनेवाले उस भिक्षु ने, स्थूल देह के अवयव तथा लिंगदेह के अवयव प्राण, इन्द्रिय आदि के निरोध द्वारा बाहर देवता आदि विषयों में चित्त की स्वैर विहार करनेवाली मानस–पूजा आदिरूप लीला 'यह सुन्दर है' इस भावना से ज्यों–ही अविकलरूप से प्रारम्भ की, त्यों ही वह (भिक्षु) उसके अभ्यासवश तत्–तत् विरुद्ध सम्पूर्ण भावों को दबाकर, दूसरे मननोदय को छोड़कर उसी लीला का अनुभव करने लगा ॥१०, ११॥ क्योंकि पीछे जो चमत्कृति चित्त में आरूढ होती है, वही पूर्व चमत्कृति को दबाकर विलसित होती है। *(किस प्रकार दबाकर विलसित होती है, इसमें दृष्टान्त देते हैं 'वल्ली' से।)* उष्णता–चमत्कार से व्याप्त लता वसन्तकालीन पीये हुए भी जल को यानी हरेपन के चमत्कार को छोड़ देती है अर्थात् उसे दबाकर विलसित होती है ॥१२॥

परम सिद्ध होते हुए भी उस भिक्षुक को अशास्त्रीय मानस–क्रीडा में प्रवृत्ति होने पर अनर्थों की परम्परा प्राप्त हो गयी।

जिस प्रकार चींटी छिद्रों में घूमती–फिरती है, उसी प्रकार अपनी दृढ़ वासनाओं से युक्त (⋋) भिक्षुरूप वह जीव जीवटनामधारी होकर उन योनियों में घूमने लगा ॥१३॥

उन्हीं योनियों का कारणप्रदर्शनपूर्वक विस्तार से वर्णन करते हैं।

तदनन्तर द्विज में अनुरक्ति होने के कारण वह जीवट अपने में द्विजत्व देखने लगा यानी वह द्विज हो गया; क्योंकि भाव और अभाव का वैपरीत्य सिद्ध करना हो अर्थात् उद्भूत भावना को अनुद्भूत और अनुद्भूत भावना को उद्भूत बनाना हो, तो जो भी वासनासमूह अभ्यास, पाटव आदि से बलवान् (दृढ़ीभूत) होगा, वही इतर का तिरोभाव कर स्वयं कार्यरूप से उत्पन्न होगा ॥ उसके बाद उस ब्राह्मण ने वह सामन्तता (माण्डलिकता) प्राप्त की, जिसका वह सदा चिन्तन कर

(⋋) शास्त्रीय वासनाओं की शिथिलता होने पर अनादि अनर्थ वासनाओं का उद्भव होना अवश्यम्भावी है – यह 'जरठवासनः' इस पद से सूचित होता है।

रहा था। ठीक ही है, निरन्तर पीया गया पानी वृक्ष में फलरूप से परिणत होता ही है। पश्चात् राज्य के लिए धर्मानुष्ठान करने से वह राजा (चक्रवर्ती सम्राट्) हो गया। और उसके बाद धर्मसंचय से समन्वित कामुकवृत्ति होने के कारण वह राजा देवांगनारूप बन गया। मृग के लोचन–सौन्दर्य के लोभ से चंचल हुई वह देवांगना रंजित मृगी हो गयी। अहो ! प्राणियों में वासना–मोह एकमात्र दुःख के लिए ही है। खेद है कि वासनारूप से चित्त में स्थित वह मृगी लता की वासना से अरण्य में लतारूप हो गयी और उस लतिका ने यह समझ लिया कि मेरा छेदन अवश्यम्भावी है। इसके बाद वह लता, जो कि भ्रमर की भावना से भावित थी, छेदन तथा मर्दन से समन्वित लता देह से अपनी देह में भीतरी वासना से चिराभ्यस्त भ्रमरत्व देखने लगी। तदनन्तर वह भँवरा स्वयं भावित हाथी के खुर के आघात का अनुभवकर महासंसार के भ्रमों में पुनः पुनः (📖) घूमने लगा। अपने मनोमात्र से कल्पित इस संसाररूप संभ्रम में सौ जन्म धारण कर वही मैं भिक्षु रुद्ररूप होकर स्थित हुआ। इस प्रकार अत्यन्त विचित्र, तथा सत्य–सी प्रतीत हो रही अनेक संसाररूप अरण्य–भूमियों में मैंने अनेक बार दीर्घकाल तक भ्रमण किया। किसी सर्ग में मैं जीवटनामधारी हुआ, किसी में मैं विप्र (ब्राह्मण श्रेष्ठ) हुआ तो किसी सर्ग में पृथिवीपति राजा भी हुआ। किसी सर्ग में पद्मवन में हंस होकर विन्ध्य के कच्छ में हाथी और हिरन हुआ। इस प्रकार देहरूप यन्त्र में तथा मनोरूपयन्त्र में मैं पूर्व–वर्णित दशा को प्राप्त हुआ। आदि सर्ग से लेकर चिदेकरस परमपद से च्युत हुए मेरे आज तक इस संसार में हजारों वर्ष, सैकड़ों चतुर्युगी एवं अनन्त दिन, ऋतु आदि के चरित बीत गये। और परम पद से पहले ही विचलित हुए अपनी पूर्व भिक्षुअवस्था में रूढ़ भी तत्त्वज्ञान के योग्य श्रवण, मनन आदि के अभ्यासरूप योग्यताक्रम का प्रमादवश उल्लंघनकर मैं पुनः पुनः जन्म परंपरा से ब्रह्मदेव का हंस बन गया, वही मैं प्राक्तन अभ्यासक्रम भगवान् रुद्र का सान्निध्य पाने से रुद्ररूप में तत्त्वज्ञानरूप फल के साथ सफल हो गया ॥१४–२७॥

अतएव शास्त्रीय उपायों का अभ्यास ही सर्वश्रेष्ठ है, जो कि विरुद्ध अनेक जन्मों का व्यवधान होने पर भी पुनः आविर्भूत होकर परम पुरुषार्थ को सिद्ध ही कर देता है।

इस जीव का निर्विघ्नतापूर्वक शास्त्रीय साधनों में जो ही दृढ़ अभ्यास उदित होता है, वह अत्यन्त नीरस हजारों जन्मों के व्यवधानों से युक्त होता हुआ भी शीघ्र उस जीव के ही पीछे पीछे दौड़ता है ॥२८॥

यदि शंका हो कि तब तुल्ययुक्ति से अशुभ भी भावनाभ्यास शुभ भावनाभ्यास से व्यवहित होने पर भी पुनः उत्पन्न होगा ?

काकतालीय न्याय से कभी महात्माओं का अचानक समागम प्राप्त हो जाने से जीव का यह अशुभ भावनाभ्यास भलीभाँति नष्ट हो जाता है ॥२९॥

तब तो जैसे केवल पहले के संस्कारों से अशुभ वासनाभ्यास उत्पन्न होता है, वैसे ही शुभ वासनाभ्यास भी स्वयं ही उत्पन्न हो जायेगा और उसीकी सामर्थ्य से यह पुरुष (जीव) अशुभ वासनाओं को भी छोड़ देगा; अतः उसके लिए पुरुषप्रयत्न का विधान व्यर्थ ही है ? यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो

(📖) प्रस्तुत श्लोक में 'भूयो भूयः' पद से बीच के हाथी, भँवरा, हंस आदि नब्बे जन्मों का भी उसे स्मरण हुआ, यह बतलाया गया है।

उस पर कहते हैं।

दुर्वासना–जाल को छोड़ने की इच्छा कर रहे पुरुष का यह पूर्वतनीय सद्वासना का अभ्यास कालान्तर में (विरुद्ध अनेक जन्मों के व्यतीत हो जाने पर) अपने उद्‌भव के प्रति सत्संगति से प्राप्त सत्पुरुषों के प्रयत्न की एकमात्र अपेक्षा रखता है, उसके बिना उत्पन्न नहीं होता, यह भाव है ॥३०॥

और वह पुरुषप्रयत्न भी जब अनेक जन्मों के अभ्यस्त एवं दृढ़ीभूत सद्वासना से समन्वित होगा तभी दुर्वासना का क्षय करने में समर्थ हो सकता है, सहसा नहीं इस आशय से कहते हैं।

जो इस देह में तथा दूसरे देहों में भी जाग्रत् एवं स्वप्न में निरन्तर अभ्यस्त किया जाता है, परमार्थतः असद्रूप भी वह सद्रूप से अनुभूत होता है। तात्पर्य यह निकला कि मिथ्यार्थविषय देवतोपासना आदिस्वरूप प्रयत्न भी जहाँ जाग्रत् एवं स्वप्न काल में सत्यतानुभव के योग्य देवताभाव आदि फल उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं; वहाँ पर श्रवण आदि प्रयत्न, जो कि परमार्थतः सत्यवस्तुविषयक है, प्रमाणगम्य परमार्थ–सत्यस्वभाव के लाभ के लिए समर्थ होंगे – इसमें कहना ही क्या ? ॥३१॥

यही सूचित करने के लिए श्लोक में 'असदपि' कहा गया है।

इसीलिए शास्त्रीय भी अनात्मविषयक भावना का अभ्यास दुःखमिश्रित सुख के लिए ही होता है; अतः सर्वविध भावनाओं का उच्छेद कर देना ही आत्यन्तिक अनर्थ को जीत लेना है, न कि बीच की देवतात्व की प्राप्ति, इस आशय से कहते हैं।

देवता शरीर और उनके भोग आदिरूप अर्थक्रिया के जनक अनात्मचिन्तन दुःख और सुख के लिए ही उदित होते हैं। अतः भावना की अभावना करना ही सम्पूर्ण अनर्थों पर विजय पाना है ॥३२॥

किंतु, जब यह अनर्थ अनात्मभावना से ही जनित है, तब भला वह अनर्थ से डरनेवालों द्वारा कैसे सेवनीय है ? इस आशय से कहते हैं।

यह भावना ही अपनी आत्मा को 'यह देह है' इस प्रकार ऐसे देखती है, जैसे अंकुर एकमात्र असद्रूप विस्तार से युक्त शाखा–प्रशाखावाली लतारूपता को देखता है ॥३३॥

वह एकमात्र तत्त्वदर्शन से भलीभाँति छिन्न हो जाती है, यह कहते हैं।

यह भावना तत्त्वदृष्टि से भलीभाँति देखी जाने पर यहाँ पर कुछ भी नहीं शेष रहती। अथवा उसका छेदन भी साध्य नहीं, क्योंकि असत् का सर्वदा उच्छेद हुआ ही है, यह कहते हैं। अथवा वह कुछ है ही नहीं, अतः उस प्रकार भ्रम करना हमें उचित नहीं है ॥३४॥ आकाश के वर्ण के समान उत्पन्न इस जगत्सम्बन्धी हम लोगों के भ्रम के परिमार्जन के लिए एकमात्र असंवेदन ही पर्याप्त होगा ॥३५॥

अथवा, इस प्रकार के भ्रमात्मक ज्ञान का अभाव न हो, क्योंकि तत्त्वज्ञान से बाधित वस्तु का संवेदन होनेपर भी – रज्जु में बाधित सर्प की नाईं भय उत्पन्न करने में असमर्थ होने के कारण – वह अनर्थ का जनक नहीं हो सकता, प्रत्युत क्रीडा का एक साधन ही होगा।

बाधित होने से असद्रूप, अधिष्ठानसत्तास्वरूप यह जगदाकार भावना, जो कि एकमात्र कौतुक का साधन है, यदि प्रातिभासिक सत्ता के कारण है, तो वह विनोद के लिए ही है। वह अणुमात्र भी अनर्थ की जननी न होगी। इसी कौतुकवश मैं नाना प्रकार के अपने उन संसारों को जाकर देखता हूँ। और उन्हें तत्त्वज्ञान के प्रदान द्वारा उपाधि से पृथग्भूत अपनी आत्मा को एक कर देता हूँ। इस प्रकार विचारकर यह

रुद्र उस सर्ग में चला गया, जहाँ मठ स्थित भिक्षु, मृतक की नाईं, निद्रा में स्थित था। तदनन्तर उस रुद्र ने उस जीवटनामधारी भिक्षु को जागृतकर स्वचित्तांश चित्त एवं अपने अंशभूत चिदाभासस्वरूप तत्त्वज्ञ जीव से संयुक्त किया। और वह भिक्षु भी अपने भ्रम का स्मरण करने लगा (📖)। अपने-आपको रुद्ररूप तथा जीवट आदि के शरीररूप में भी देखकर तत्त्वज्ञान होने के कारण आश्रय करने के अयोग्य भी वह भिक्षु (इतने थोड़े समय में चिरकाल के जन्मों के अनुभवरूप तथा स्वाप्निक रुद्रशरीरादि की अनुवृत्तिरूप आश्चर्य के अवलोकन से) आश्चर्यचकित हो गया। तदनन्तर वह रूद्र और भिक्षु दोनों ही उठकर चिदाकाश के एक कोने में स्थित कहीं ब्रह्माण्डान्तर में चले गये। उस जीवट के संसाररूप ब्रह्माण्डान्तर में लीलोपाख्यान में वर्णित रीति से प्रवेशकर उसके भूलोक में जाकर वहाँ भी उस जीवट के स्थानभूत द्वीप को और उस मण्डल को, उस मण्डल के अन्तर्गत देश को, उस पुर को और उस घर को तथा उस घर में स्थित हाथ में तलवार धारण किये हुए जीवट को उन दोनों ने देखा, जो कि शव की नाईं सुस्त और नष्टसंज्ञ होकर पड़ा था। वहाँ पर स्थित लोगों के लिए स्वयं दर्शन के अयोग्य होने के कारण रुद्र एवं भिक्षु के शरीर के भाव को (जीवटबोधनाभिप्राय को) तथा रुद्र के कोटिसूर्य के समान प्रभा के अन्तरूप सम्पूर्ण अपने प्रभाव को अन्तर्धानशक्ति से छिपाकर वे जीवट के संसृति प्रदेशों में पहुँचे और वहाँ उस जीवट को जगाकर शीघ्र ही उसे स्वचित्तांश चित्त से एवं स्वांशचिदाभासरूप तत्त्वज्ञ जीव से संयुक्त बनाकर के भीतर एकस्वरूप और बाहर तीन रूपवाले वे रुद्र, जीवट तथा भिक्षु तत्त्वदर्शन हो जाने से परमार्थतः तत्त्वज्ञ होते हुए भी अज्ञानी एवं विस्मयरहति होते हुए भी विस्मय से चकित होकर चित्रलिखित पुरुषों के समान क्षणभर तक चुपचाप स्थित रहे। उसके बाद वे तीनों चिदाकाश में कहीं अध्यस्त, चारों ओर प्राणियों से शब्दायमान और जीवट के चित्त के परिणामस्वरूप विप्र के संसार में चले गये। लीलोपाख्यान में वर्णित रीति से वे उस भूलोक में जाकर विप्र के स्थानभूत द्वीप में और उसके मण्डल में, मण्डलान्तर्गत देश एवं उस ग्राम में तथा वहाँपर भी उस ब्राह्मण के घर पहुँचे। उस ब्राह्मण के घर में अपने पोष्यवर्गों से समन्वित, बाहर निकले हुए प्रियतम प्राणकी नाईं स्थित तथा ब्राह्मणी द्वारा कण्ठप्रदेश में आलिंगित सोये हुए उस ब्राह्मण को उन लोगों ने देखा। उसे जगाकर और स्वचित्तांश चित्त एवं स्वांशचिदाभासस्वरूप तत्त्वज्ञ जीव से शीघ्र संयुक्तकर वहाँ पर वे और बहुत से दूसरे भी परमार्थतः विस्मयरहित होते हुए भी आश्चर्यचकित होकर स्थित हुए। तदनन्तर उन लोगों ने (रुद्र, भिक्षु, जीवट और ब्राह्मण ने) चिदाकाश में शोभित, चित्ताकार से विवृत्त चिति के परिणामस्वरूप और भ्रमण तथा सर्वविध भोगों से रमणीय सामन्त रूप राज-संसार के लिए प्रस्थान किया। पश्चात् वे सब उस सामन्त के भूलोक को, उसके द्वीप को तथा उसके मण्डल को पहुँच गये। वहाँ पर उन्होंने पलंगरूप कमल पर सोये हुए मदयुक्त उस मण्डलाधीश को देखा। वह सामन्त सुवर्ण के समान देदीप्यमान

(📖) प्रस्तुत श्लोक से यह सूचित होता है कि रुद्रांश जीवों के प्रवेश की कल्पना, उनका सत्यसंकल्प एवं विचित्र भोगों के जनक अवशिष्ट अदृष्ट के बल से बाधित हुए भी जीवट से लेकर रुद्रपर्यन्त सभी शरीरों तथा उनके प्रपंचों की कल्पपर्यन्त अनुवृत्ति हो सकती है, इस लिए भिक्षु के जागरण से हम लोगों के स्वाप्निक प्रपंच की नाईं उन शरीरों एवं उनके प्रपंचों का निरनुवृत्तिरूप बाध नहीं होगा।

देहवाला था। सुवर्णांगी पटरानी द्वारा अपने कुचरूप कोटर में वह ऐसा आलिंगित था, जैसे भ्रमरी से आलिंगित कमलकोश में सोया हुआ भँवरा। जैसे मंजरियों से वृक्ष वेष्टित रहता है, वैसे ही वह सामन्त अनेक रमणियों से वेष्टित था। और दीपकों के समूहों के बीच वह ऐसा स्थित था, जैसे रत्न समूहों के बीच सुवर्ण। (इस प्रकार उस सामन्त को देखकर) उन सबों ने उसे जगाकर और अपने चित्त एवं तत्त्वज्ञ जीव से शीघ्र संयुक्त बनाकर के वे रुद्र आदि तथा अन्य भी बहुत से वहाँ पर स्थित जन विस्मयरहित होकर भी विस्मय से युक्त हुए। तदनन्तर वे चक्रवर्ती राजा के संसार में गये और उसे जगाकर अपने चित्त एवं चेतन से संयुक्त किया। इस प्रकार उसे रुद्ररूप बनाने के बाद आतिवाहिक देह से ही अन्य संसारभूमियों में उन लोगों ने भ्रमण किया (卐) अन्त में वे सभी ब्रह्मदेव के हंसरूप वासना से युक्त चित्त के परिणामस्वरूप ब्राह्महंस के संसार में पहुंचकर रुद्ररूप हो गये। इस प्रकार रुद्र के चित्त एवं चेतन के अंशों से ही चित्त एवं चेतन से युक्त होने से तथा ज्ञान, ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न होने से वे उत्तम शतरुद्ररूपता को प्राप्त हुए तथा शोभित होने लगे। परमेश्वर सम्बन्धी वह रुद्र का रूप ज्ञान से तो एक है, पर शरीर से भिन्न–भिन्न हैं, चित्रविचित्र चेष्टाओं से वेष्टित है, एकरूप भी है और अनेकरूप भी है। तदनन्तर प्रातिभासिक संसार के आधारभूत, सम्पूर्ण जगत् और उसके भीतर स्वयं अन्तर्यामीरूप से स्थित वे शतरुद्र आवरणशून्य चैतन्यरूप होकर स्थित हुए ॥३६–५८॥

'सहस्राणि सहस्रंशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध रुद्रों की इसी प्रकार की स्थिति है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, आज तक यहाँ बहुत से बड़े–बड़े सौ शतरुद्रवाले संसार हो गये हैं। भिक्षु–रुद्र से कल्पित सौ जगत् के बीच में यह आप और मेरे द्वारा अनुभूयमान सामने स्थित जगत् ग्यारहवाँ भ्रामर रुद्र का संसार है, यह आप जानिये ॥५९॥

यदि शंका हो कि भिक्षु के सभी स्वप्न संसार सब लोगों द्वारा क्यों नहीं अनुभूत होते ? तो उस पर कहते हैं।

कथित लक्षणवाले जीव के जो–जो संसार चारों ओर उदित होते हैं, उन–उन संसारों में अज्ञानी जीव–समूह निश्चय ही परस्पर एक–दूसरे को नहीं देख पाते। मन से प्रबुद्ध तत्त्वज्ञ, समुद्र में तरंग की नाईं, जीवों के साथ मिलते ही हैं। और अज्ञानी लोग तो अपने आश्रयमात्र में रहकर मिट्टी के ढेले की तरह स्थित रहते हैं ॥६०,६१॥

और उनके (तत्त्वज्ञ के) मिलने में कारण एकमात्र स्थूलता का अभाव ही है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे द्रवत्व के कारण तरंग और जल परस्पर एकरूप से अच्छी तरह मिल जाते हैं, वैसे ही प्रबुद्ध हुए जीव–समूह, चिद्रूप होने के कारण, परस्पर एकरूप से भलीभाँति मिल जाते हैं ॥६२॥

सम्पूर्ण जीवों के तत्त्वभूत ब्रह्म के साथ ऐक्यलाभ ही ब्रह्म के कल्पित रूपवाले सभी जीवों का मिलन है, इस आशय से कहते हैं।

(卐) इस बीच में उन्हें जो सोये हुए मिले, उनको तो केवल जगाया और पूर्वोक्त प्रकार से स्वात्मरूप बनाया, तथा जो मर गये थे, उन्हें तो जिलाया भी एवं पूर्वोक्त प्रकार से स्वात्मरूप बनाया यह ऊपर से समझना चाहिए।

प्रत्येक जीव के लिए उत्पन्न हुए संसार में ये जीव समूह, चित्सार ब्रह्म के सर्वव्यापी होने से, परमार्थतः असद्रूप होने पर भी सद्रूप–से स्थित हैं। पृथ्वी का जो–जो भाग खोदा जाता है, वह सब जिस प्रकार आकाशरूप से ही अवशिष्ट रह जाता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी इस चिति से जो–जो तत्त्वज्ञान के द्वारा दूर किया जाता है, अर्थात् मिथ्या समझा जाता है वह सब कुछ एकमात्र चिद्रूप ही रह जाता है ॥६३,६४॥

आकाश की नाईं चिति की भी सर्वत्र सत्यता है, यह अनुभव से सिद्ध कराते हैं।

श्रीरामजी, विभागसहित सम्पूर्ण पंचभूतों का जैसे आप सर्वत्र अनुभव करते हैं, वैसे ही यहाँ भी सम्पूर्ण भूतसत्तारूप चितितत्त्व ही सर्वत्र विद्यमान है – इसका भी आप अनुभव कीजिये ॥६५॥

उसके सर्वव्यापी होने और वहाँपर सम्पूर्ण पदार्थों की कल्पना करने में दृष्टान्त बतलाते हैं।

श्रीरामभद्र, जैसे वृक्ष में, लकड़ी में, पर्वत में या शिलास्तम्भ में शिल्पियों द्वारा टाँकी के छेदन से तत्–तत् आकार की प्रतिमा के अनुकूल गड्ढा बनाने पर जब वे वृक्ष आदि पुरुष, हाथी, घोड़े, आदि का आकार परिच्छेद प्राप्त कर लेते हैं तब वे ही–पुरुष आदि विचित्र मूर्तियों के रूप में–हम लोगों को दिखाई देते हैं, वैसे ही एकात्मा सम्पूर्ण जगद्रूप से दिखाई देता है और चिद्रूप उस एकात्मा में जगत् भी वैसा ही स्थित दिखाई देता है ॥६६॥

वृक्ष आदि में तो छेनी द्वारा किये गये गड्ढे से जनित परिच्छेद है, परन्तु यहाँ पर वह किससे जनित है ? यदि ऐसी शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

अविषय, शुद्ध ब्रह्म में जो विषयता का अन्यथा ज्ञान है, वही 'जगत्' इत्याकारक परिच्छेद का निमित्त होकर स्थित है। चिदेकरस उस ब्रह्म में जगदाकार जो अचैतन्य अर्थात् जड़ता है, वह निर्निमित्त ही है: अतः वह आकाश–जैसे शून्यरूप से स्थित है। [एवं उस प्रकार का ज्ञान करना ही इसका दृश्य से बन्ध है और उस प्रकार के ज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है, यह फलित हुआ।(67-1)] श्रीरामजी, ब्रह्म में अन्यथा ज्ञान ही दृश्यों से बन्ध है और अन्यथा ज्ञान न होना ही मोक्ष है। इन दोनों में आपको जो भी अच्छा लगे, उसे ही शीघ्र दृढ़ कीजिये। सर्ग और सर्ग का अभाव एवं बन्ध और मोक्ष दोनों क्रमशः वेदन (अन्यथाज्ञान) तथा अवेदन (अन्यथाज्ञानका अभाव) स्वरूप हैं। ये दोनों अपने साक्षिभूत प्रत्यगात्मा से अभिन्न ही हैं। श्रीरामभद्र, अतः आप जैसा चाहें, वैसा करें। श्रीरामजी, एकमात्र न देखने से जो अपनी सत्ता नहीं रखता, ऐसे अनर्थ के नाश के लिए प्रयास ही क्या है ? और जो सुख निश्चेष्ट होकर स्थित रहने से पाया जा सकता है, वह भी शीघ्र प्राप्त ही है; वहाँ भी प्रयास की अपेक्षा नहीं है, यह आप जानिये।हे राघव, जो जगद्रूप एकमात्र अन्यथाज्ञानस्वरूप है, निश्चित है कि वह उस प्रकार का ज्ञान न करने से क्षीण हो जाता है। उस जगद्रूप वेदना का साक्षीरूप जो प्रत्यक्‌चैतन्य है, वह प्राप्त ही है। अतः आपको जो इष्ट हो, उसे कीजिए ॥६८–७१॥ श्रीरामजी, जैसे जल का स्पन्द तरंग है, वैसै ही चिति का स्पन्द ही जगत है। *(दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में जो विलक्षणता है, उसे दिखलाते हैं।)* हे रघुनन्दन, यहाँ पर (दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में) इतनी ही और विलक्षणता है कि देश और काल के स्वरूपों की स्थिति रहते ही जल में तरंग आदिरूपता देखी गयी है और यहाँ जगद्रूप विवर्त के उपादान ब्रह्म में तो देश आदि पहले न रहते हुए बाद में आरोपित हुए ही कार्यरूप जगत्कोटियों में देखे गये हैं। श्रीरामजी,

स्वप्रकाश आत्मरूप जो चैतन्य है, वही अविद्या के आवरण से थोड़े प्रकाश-सा सम्पन्न तीनों जगत्स्वरूप अन्यथा प्रतिभासित होता है। चिद्रूप-जो कि उसका पारमार्थिक स्वरूप है – ज्ञान ही है, न कि जड़। भेद से क्लिष्ट इन तीनों जगत् का आप 'अन्नेन सोम्य शुंगेनाऽऽपो मूलमन्विच्छ' (हे सौम्य, अन्नरूप कार्य से जलरूप कारण खोज लो) इत्यादि श्रुतियों में दर्शित उपायों से उपसंहार कर दीजिये। उस प्रकार उपसंहृत हुआ वह 'वाचा रम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुति द्वारा दर्शित रीति के अनुसार वाणी में ही स्थित होता है। वाणी जहाँ बिलकुल शांत हो चुकी है, ऐसा वह परम शिव ही परमात्मा है। श्रीरामभद्र, आत्मचिति और सम्पूर्ण जगत्-ये दोनों शब्दतः और अर्थतः अभिन्न ही हैं, कभी भी इन में द्वैत संभव नहीं है। उक्तस्वरूप आत्मा की अज्ञता-दशा में ही द्वैतज्ञान युक्त है, ज्ञान-दशा में तो वीचि और जल ये दोनों भिन्न हैं, यह उक्ति युक्त नहीं है ॥७२-७५॥

• तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

चौसठवाँ सर्ग

भिक्षु आदि का उन-उन देहों से अवशिष्ट प्रारब्ध-भोग,
रुद्रगणत्व की प्राप्ति और संकल्प की स्थिरता का वर्णन।

भिक्षु से लेकर रुद्रपर्यन्त शरीरों में मध्यवर्ती अट्ठानबे शरीर हैं, उनमें भोग-सम्पादक प्रारब्ध कर्म बचते हैं या नहीं, यों संशय होने से श्रीरामभद्र उनका वृत्तान्त पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनीश्वर, जीवट ब्राह्मण आदि और हंस आदि भिक्षु के स्वप्न शरीरों की उसके बाद क्या स्थिति हुई अर्थात् स्वप्नकालीन शरीर के सदृश उनका बाध हुआ या आगे उनका व्यवहार भी चलता रहा ? महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, रुद्र के साथ मिलकर वे सभी तत्त्वज्ञ हो गये और रुद्र के अंशस्वरूप हुए वे एक दूसरे के पूर्वोत्तर संसार को देख रहे कृतकृत्य होकर अपूर्व सुखानुभव करते हुए अवस्थित हो गये। कौतुक प्रदर्शन के लिए पहले पहल प्रवृत्त हुए रुद्र ने पूर्वोदित उस माया का अवलोकनकर फिर अपने अंशभूत उन रुद्रों को उसी जीवट आदि की संसार स्थिति की ओर भेज दिया। (और उस समय उनसे) श्रीरुद्र ने कहा : ऐ मेरे अंशभूत रुद्रो, तुम लोग इसी समय अपने-अपने स्थान की ओर जाओ। वहाँ जाकर कलत्रादि परिवार के साथ कुछ कालतक नाना प्रकार के भोगों का उपभोग कर मेरे पास फिर लौट आओ। मेरे अंशस्वरूप जो तुम लोग मेरे गण हो, मेरे नगर के भूषण हो जाओ। पीछे चलकर हम सब लोग दो परार्द्ध वर्षों की समाप्ति में अविद्यालेश के साथ प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर उस परम पद को प्राप्त हो जायेंगे। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, यों कहकर वह भगवान् आदिरुद्र उनके सामने ही अन्तर्हित हो गये। उन अंशभूत सब रुद्रों के उस समय अन्तिम रुद्र संसार का जो साक्षिभूत चैतन्य था, वही साक्षी चैतन्य प्रत्येक मध्यवर्ती जीवट आदि के संसार में, जाग्रत में स्वप्न-साक्षी के सदृश, प्राप्त हुआ। भद्र, आदिरुद्र की आज्ञा के अनन्तर वे जीवट-ब्राह्मण आदि अपने-अपने स्थान की ओर चल दिये। अब काल पाकर अपने कलत्र आदि परिवारों के साथ देह नष्ट कर रुद्रलोक प्राप्तकर के बड़े-बड़े गण हो जायेंगे। जो कभी-कभी आकाश में तारों के आकार में परिणत हुए हम लोगों को दिखाई देते

हैं। श्रीरामभद्र ने कहा : भगवन्, वे जीवट–ब्राह्मण आदि, जो एक भिक्षु के संकल्परूप ही थे, कैसे सत्यस्वरूप बन गये ? काल्पनिक अर्थों में सत्यता कहाँ देखी गयी है ? महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, संकल्प की जो सत्यता है वह तो अधिष्ठानभूत चैतन्यांश में ही है। इसलिए विवेकपूर्वक अध्यस्त अंश में संकल्प की सत्यता छोड़ दीजिये। सत् और असत् से संवलित व्यावहारिक अर्थ में जो सद्भिन्न रूप पूर्वोत्तर काल में नहीं रहता वही तीनों काल में अस्तित्व से रहित है और अधिष्ठानभूत वह परम पद तो सभी काल में स्थित है, क्योंकि वह सर्वात्मक है। इन सब बातों से निचोड़ यह निकला कि भोगजनक अदृष्ट से उत्तेजित उन सांकल्पिक पदार्थों में अधिष्ठान की सत्यता से ही सत्यत्व है, स्वतः नहीं। आयुष्मन्, जो स्वप्न में दिखाई पड़ती है और जो संकल्पों द्वारा दिखाई पड़ती है वह चैतन्यात्मक वस्तु है; जो कि सब काल में सद्रूप अधिष्ठान होकर तत्–तत् देश–कालरूप से तत्–तत् स्थान में निरन्तर विद्यमान रहती है। इसमें दृष्टान्त है–जाकर प्राप्त किया गया देशान्तर। जैसे एक स्थान से दूसरा स्थान यानी मथुरा आदि स्थान से पटना आदि स्थान–गमन, स्वस्थ मन, चक्षु आदि इन्द्रियों की पटुता, दिवसरूप आदि काल, उपदेष्टा विवेकी पुरुष आदि हम लोगों की कारण–सामग्री के बिना–उपलब्ध नहीं होता, वैसे ही तत्–तत् देश–कालरूप से परिणत स्वप्न भी जाग्रत् और सुषुप्ति या स्वप्नान्तर में कारणसामग्री के बिना उपलब्ध नहीं होता। चिति के कोश में–कोशसदृश समस्त वासनाओं के भंडार अज्ञान में–सब कुछ भरा पड़ा है, इसलिए भोगजनक अदृष्ट से प्रदीप्त हुई वासनाओं द्वारा चिति जिस–जिस रूप से जिस–जिस वस्तु की कल्पना करती है उस–उस रूप से सम्पूर्ण विषयों को दृश्यरूप से प्राप्त कर लेती है, क्योंकि वह सर्वात्मक ही तो ठहरी ॥१–१३॥

समस्त स्वप्नसंकल्पादि के एक साथ अवलोकन में कौन–सा उपाय है ? ॥

हे प्रिय, जिस उपाय से संकल्प, स्वप्न आदि एक साथ दिखाई पड़ते हैं उस उपाय को आप सुनिये। अभ्यास और योग के बिना उनका एक साथ अवलोकन मिल नहीं सकता ॥१४॥

उत्तम अभ्यास के बिना भी अपने–आप ही योगसिद्धि का फल प्राप्त है यों विशेष बतलाते हैं।

हरि, हर आदि ईश्वरों को जिनकी योगविज्ञानदृष्टियाँ (समाधि और अध्यात्मशास्त्रज्ञान से जनित दृष्टियाँ) फलित होकर स्वयं ही स्थित हैं वे ये शंकर आदि, सब वस्तु को सर्वत्र देखते–रहते हैं ॥१५॥

संकल्पित अर्थ की प्राप्ति में अभ्यास और योग का जो उपयोग है वह चित्त की एकाग्रता के सम्पादन द्वारा ही है। एकाग्रता न होने पर चित्त अनेक अर्थों में आसक्त होकर किसी एक भी अपने संकल्पित अर्थ को प्राप्त नहीं कर सकता, यों असत्य संकल्पत्व ही इसमें प्राप्त हुआ।

यह सामने यद्यपि वस्तु उपस्थित है और संकल्पित भी है तथापि एकाग्रता के न रहने से उसे मैं प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि संकल्पित और असंकल्पित दोनों का आश्रय करने से चित्त दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाता है, कहीं एक जगह स्थिर नहीं हो पाता। अभीष्ट सब कार्य एकनिष्ठ पुरुष को ही प्राप्त होते हैं, अन्यनिष्ठ को नहीं। दक्षिण दिशा की ओर जा रहा कौन पुरुष उत्तर दिशा को प्राप्त कर सकता है ? संकल्पित अर्थों पर आरूढ़ हुए पुरुष ही संकल्पित अर्थ प्राप्त करते हैं और सामने स्थित अर्थों को जानते हैं। जो पुरुष सामने स्थित और बुद्धि में स्थित दोनों वस्तुओं

में संकल्प प्राप्त करने की इच्छा करता है वह एकनिष्ठता न रहने से उस समय उन दोनों का नाश कर देता है। इसीसे एकनिष्ठा के कारण भिक्षुक जीव ने प्रसिद्ध रुद्र की नाईं रुद्ररूपता प्राप्त कर सब कुछ सर्वात्मरूप से प्राप्त किया, क्योंकि इसकी भी स्थिति प्रसिद्ध रुद्र की स्थिति के सदृश ही थी। वे अट्ठानबे मध्यवर्ती जीवट आदि भिक्षुसंकल्परूप जीव प्रत्येक भिन्न–भिन्न रूप से अवस्थित थे और उनका अपना–अपना संसार भी अलग–अलग था, इसलिए वे अपने में रुद्रत्वसामान्य ज्ञान के बिना एक–दूसरे का साक्षात्कार नहीं कर पाते थे ॥१६–२१॥

तब वे रुद्र की सन्निधि में एक–दूसरे का साक्षात्कार कैसे कर पाये इस पर कहते हैं।

भद्र, एकमात्र रुद्र की इच्छा से ही वे संकल्पजीव तत्त्वज्ञान से रहित और जीवों के संसार विशेषों को जाननेवाले होते हैं तथा उसीकी इच्छा से वे यहाँ शीघ्र रुद्ररूप और अनेकरूप हो जाते हैं ॥२२॥

उन सबों के अपने–अपने संसारदर्शन में तो उनकी इच्छा ही कारण है।

यहाँ मैं यह विद्याधर हो जाऊँ, यहाँ मैं पण्डित हो जाऊँ, इस प्रकार की इच्छा ही उनके तत्–तत् रूप हो जाने में कारण है ॥२३॥ रामभद्र, इस रीति से किसी एक वस्तु की तदाकार भावना सफल हो जाती है (यह आपसे मैंने कहा)। दूसरे भी जीवों की प्रसिद्ध तत्–तत् व्यवहार स्थिति में यह भिक्षुसंकल्परूप सृष्टि ही दृष्टान्त है। देश, काल और क्रिया के क्रम से या एक साथ धारणा, ध्यान एवं प्रयत्न के अनुसार एकत्व, अनेकत्व, मूर्खत्व, पाण्डित्य, देवत्व और मनुष्यत्व प्राप्त किया जा सकता है। यतः परमार्थतः अनन्त होने से इस जीव में समग्र शक्तियाँ विद्यमान हैं और यतः एक–एक देहाभिमानरूप परिच्छेद से श्लिष्ट हो जाने के कारण इसमें एक कार्यमात्र की भी शक्ति विद्यमान है, इसलिए शक्तिस्वभाव के अनुसार जीवमें तत्–तत् कार्यस्वभाव व्यवस्थित ही है। इसीलिए प्राणियों के कर्मानुसार स्वर्ग और नरक आदि सैकड़ों अर्थ–अनर्थों की सृष्टिरूप से विकासवान् तथा सब प्राणियों के संहार द्वारा प्रलयरूप से संकोचवान् यह परमात्मा हिंसाजनित विषमता आदि दोषों से शून्य है, क्योंकि जीवसमुदाय स्वयं जिसकी इच्छा करता है इस चिदात्मा के संकल्प से तद्रूप हो जाता है; भद्र, इससे कुछ भी किसीका जगदीश्वर अनिष्ट नहीं करता ॥२४–२७॥

अब उदाहरण द्वारा धारण और ध्यानरूप प्रयत्न की फलभूत ऐच्छिक एकरूप और अनेकरूप स्थिति का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

स्वयं सम्पादित इन तत्–तत् देश और काल के अनुसार प्राणियों के अनुग्रह और निग्रह रूप क्रीडा आदि अधिकारपूर्ण क्रियाक्रमों से योगिनियाँ और योगी वे सब अपने घर में या अन्यत्र जहाँ भी चाहते वहाँ स्थित रहते हैं। इस लोक में अथवा परलोक में एक साथ वे प्रारब्धभोग से स्थित रहते हैं। इस प्रकार का योगियों का चरित्र अनेक जगह देखा गया है। देखिये, भगवान् दत्तात्रेय के प्रसाद से प्राप्त हुए योग के प्रभाव से घर में ही बैठे हुए कार्तवीर्य ने सब आततायियों के ऊपर तत्–तत् स्थान में पहुँचकर शासन किया। क्षीरसागर में सोये हुए ही भगवान् विष्णु पृथिवी पर जन्म आदि व्यापारों से व्यवहार करते हैं। स्वर्ग में योगिनियों के समुदाय में विराज रही ही योगिनियाँ पशु, पेय आदि उपहारग्रहण करने के लिए पृथिवी पर जाती हैं। स्वर्ग के आसन पर विराजमान ही इन्द्र यज्ञ के लिए पृथिवी पर जाते हैं। इस रामावतार में भगवान् जनार्दन चौदह हजार राक्षसों का नाश करने

के लिए हजार रूप के होते हुए भी फिर एक रूप धारण कर लेते हैं। भगवान् जनार्दन अपने अंशरूप अवतार-लीलाओं से जगत् की स्थिति बनाये रखते हैं और स्वयं एक ही होकर एक काल में सोलह हजार रमणियों के साथ उस प्रकार विहार करते हैं जिस प्रकार विदेहरूप को प्राप्त हुए राजा निमि सब प्राणियों के नेत्रों में रहकर एक साथ निमेष करते हैं ॥२८-३३॥

इसी रीति से प्रकृत में भी जान लेना चाहिए।

इस रीति से भिक्षु के संकल्पस्वरूप जीवट, ब्राह्मण आदि भगवान् रुद्र की अनुमति से अपने संकल्परूप नगर में चले गये। वहाँ पर चिरकाल तक नानाविध भोगों का उपभोग कर तदनन्तर रुद्रनगरी प्राप्त करके गणरूप में रहते हुए वे सबके सब परिवारसहित रहने लगे ॥३४,३५॥

उस समय उनका भी अपने घर में और सब भुवनों में अनेक देहों की कल्पना से इच्छानुसार विहार एक साथ चलता रहा।

वे सब गण भगवान् रुद्र के साथ अनेक रत्नमय गुच्छों से युक्त विकसित नवीन कल्पलताओं के घरों में, अनेक भुवनों में और कैलास, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक आदि कल्याणमय नगरों में विहार करते हुए तथा गीत, वादित्र (वाद्य), नाट्य आदि में कुशल विद्याधरियों के बीच में देवताओं द्वारा नमस्कृत होते हुए उस समय खूब सुशोभित हुए ॥३६॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पैंसठवाँ सर्ग

सम्पूर्ण जीवों में भिक्षुन्याय की समता, रात्रि में भिक्षु का अन्वेषण और सभा का उत्थान-यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, उस भिक्षु ने अपने चित्त में वर्णित प्रकारवाला जो भ्रम आपाततः विचारा, यह भिक्षु उसी भ्रम को अपने प्राक्तन शुभाशुभरूप प्रयत्न को ही फलावस्था में अपने से पृथक्-सा कर स्पष्ट देखता है; अणुमात्र भी दूसरा नहीं है। प्रतिभासित हो रहे सभी जीवों की मरण एवं जन्ममयी स्थिति, अन्य आकार को प्राप्त हुई-सी, एकमात्र चिदाकाशरूप ही होती है। इस संसारखण्ड का पृथक्करण कर अपना आत्मा परब्रह्म के साथ एकता प्राप्त करता है और पूर्वोक्त रीति से सभी मृत जीव मरणकाल में उद्बुद्ध अपने कर्म को ही स्वप्न के सदृश अपने से पृथक् जगद्रूप से देखते हैं। भिक्षु के आत्मा के सदृश अपरिच्छिन्नस्वरूप भी आत्मा देहपरिच्छिन्न-सा होकर मोक्षपर्यन्त दुःखी रहता है, इस विषय में मैंने इस भिक्षु की कथा से आपसे अनेक जीवों का वृत्तान्त कह दिया है। हे श्रीरामजी, सभी जीव पूर्णस्वरूप परमात्मा के प्रस्पन्दनस्वरूप हैं, केवल भिक्षु ही नहीं है। जीव एक मोह से दूसरे मोह को प्राप्त करता है, यह हम लोगों को प्रतिदिन स्वप्न में अनुभवसिद्ध है। परमात्मा से अलग हुआ जीव यह दृढ़ स्वप्न देखता है। केवल स्वप्न देखता है, यही बात नहीं, किन्तु इस स्वप्न से भी फिर दूसरे स्वप्न की ओर उस तरह जाता है; जिस तरह पर्वत के अग्रभाग से बिछड़ा हुआ पत्थर का टुकड़ा नीचे की ओर बराबर गिरता ही जाता है। एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में गिर रहा जीव असत्यभूत इस स्वप्नात्मक जगत् को भीतर अज्ञान से जर्जर होकर देखता है और जन्मादि दुःख का किसी कारणविशेष से किसी भी समय यहाँ कहीं पर स्वयं

अनुभव करता है। इन सब बातों से निष्कर्ष यह निकलता है कि देहनामक अहमभिमान ही स्वयं बद्ध और मुक्त होता है यानी उक्त अभिमान ही बन्ध है और स्वात्मलाभ ही मोक्ष है ॥१–८॥

कुछ पूछने की इच्छा से श्रीरामजी वर्णित अर्थ के परिज्ञान का आश्चर्यपूर्वक स्पष्टीकरण करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, महान् आश्चर्य है कि इस जीव को विषम मोह होता है। जैसे साधारण श्रम आदि हेतुओं से सोये हुए पुरुष के मन में स्वप्नमायावश भीषण विषमता (दुःखादि संकट) उत्पन्न होती है, वैसे ही मिथ्याज्ञानात्मक उग्र रात्रि–रूपी माया से जीव में भयंकर विषमता आ जाती है और उसको जीव सत्य कहता है, यह महान् आश्चर्य है ॥९,१०॥

सर्वत्र सब कुछ सदा संभव है, यह मेरे मन में आ गया, ऐसा कहते हैं।

भगवन्, जैसा आपने कहा कि इस जगत्स्थिति में सदा सर्वत्र सब कुछ संभव है, ठीक वैसा ही मैं भी अनुभव करता हूँ ॥११॥

उस प्रकार उपदिष्ट अर्थ के अभिनन्दन से गुरु महाराज को सन्तोष देकर 'आपने मुझे बोध देने के लिए जिस भिक्षुक के विषय में कहा' वह भिक्षुक क्या कल्पित है या वास्तव में कहीं है भी ? इस प्रकार के सन्देह द्वारा कौतुकपूर्वक पूछते हैं।

महाराज, इस प्रकार के गुणों से युक्त तथा जीवटादि का मोहभूत वह भिक्षु कहीं है या नहीं ? इस विषय में हृदय के अन्दर विचारकर मुझसे कहिये ॥१२॥

भीतर योग से विचार कर आपको बोध देने के लिए यद्यपि कल्पना करके ही मैंने भिक्षु का वर्णन किया है तथापि मेरे वाक्यों में असत्यता न होने से कहीं उसकी संभावना है ही। इस समय योग से उसका अवलोकन करने में देर हो जायेगी, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी तत्कालोचित वचन कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, आज रात में समाधिनिष्ठ मैं इस त्रिलोकीरूपी मठिया का निरीक्षणकर प्रातः काल में उस तरह का एक भिक्षुक है कि नहीं, यह कहूँगा। वाल्मीकिजी ने कहा : मुनिवर वसिष्ठजी के यों कहते ही बाहर मध्याह्न काल की सूचक डिण्डिम वाद्य की ध्वनि हुई। वह ध्वनि प्रलयकाल के विक्षुब्ध मेघों के गर्जन–सी पुष्ट थी। उस समय महाराज वसिष्ठजी के चरणों में राजाओं और नागरिकों ने पुष्पांजलियों की परम्परा उस प्रकार बिखेर दी, जिस प्रकार वायु से कम्पित वृक्ष पुष्प बिखेर देते हैं। अनन्तर अन्यान्य श्रेष्ठ–श्रेष्ठ मुनियों की पूजा कर वे सब अपने–अपने आसन पर से उठ कर खड़े हो गये। उसके बाद वह सारी सभा परस्पर प्रणामों के साथ उठ कर खड़ी हो गयी। और पहले दिन के क्रम के अनुसार भूचर–खेचर सब अपने–अपने स्थान को चल दिये। सबने अपने–अपने आश्रममें शास्त्रानुसार तत्पर होकर अपना–अपना आह्निक धर्म यथाक्रम पूरा किया। मुनिद्वारा कहे गये शास्त्र का विचार कर रहे भूचर–खेचर सबने कल्पतुल्य भी रात क्षणभर की नाईं बिता दी। भूचर–खेचर आदि प्राणिसमूह रात बिताकर प्रातःकाल, जबकि सब लोग अपने–अपने कार्यों में जुट गये थे, दशरथजी की सभा में आकर पहले दिन की नाईं फिर व्याख्यान सुनने के लिए योग्य सभापद्धति का निर्माणकर परस्पर संभाषण एवं पूज्य लोगों की पूजा करते हुए बैठ गये ॥१३–२०॥

पैसठवाँ सर्ग समाप्त

छासठवाँ सर्ग

प्रयत्नपूर्वक खोजे गये भिक्षु का तथा भिक्षुसदृश भूत-भावी अन्य मुनियों का दर्शन, यह वर्णन।

महर्षि वाल्मीकिजी ने कहा : मुनि वसिष्ठजी से समन्वित और विश्वामित्र आदि ऋषियों से युक्त आकाशचारी सिद्धगण पहले बैठ गये, तदनन्तर राजा लोग और उनके बाद सामन्त आदि नायक बैठ गये। अनन्तर श्रीरामजी और लक्ष्मण के साथ वह सभा पहले-जैसी ही सौम्य होकर शोभने लगी। वह ऐसी अच्छी लगती थी मानों वायु के सम्बन्ध से रहित चिक्कन बराबर आकृतिवाली तलैया हो। उसके पश्चात् मुनिराज श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी के नूतन प्रश्न की प्रतीक्षा न करके (पहले दिन किये गये प्रश्न का उत्तर देने की प्रतिज्ञा के अनुसार) कहना आरम्भ कर दिया, क्योंकि स्वभावतः दयाशील महात्मा लोग अधिकारी जनों को हठात् बोध दिया ही करते हैं। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे प्रकाशमान रघुकुलरूप आकाश के पूर्णचन्द्र श्रीरामजी, कल मैंने अपने ज्ञानचक्षु से उस भिक्षु का-चिरकाल तक अन्वेषण कर-अन्त में अवलोकन कर ही डाला। भद्र, ध्यान से उस तरह के भिक्षु का अवलोकन करने की अभिलाषा से सातों द्वीप, कुलशैल एवं पर्वतों से मण्डित विपुल भूमण्डलपर दीर्घकाल तक मैंने भ्रमण किया। और किसी भी तरह से मनःकल्पित वस्तु बाहर भी उपलब्ध हो सकती है या नहीं ? इस तरह का विचार करता हुआ मैं तब तक लगातार पर्यटन करता रहा, जब तक कि किसी ओर से वैसा भिक्षु मुझे प्राप्त न हुआ। आखिर में तृतीयांश रात्रि का शेष रह जानेपर समुद्र की ओर तटवर्ती वायु के सदृश मैं उत्तर प्रदेश की ओर जा पहुँचा और मन से मैंने विचार किया। भद्र, उस दिशा में वल्मीकनामक एक प्रदेश में ऊपर आगे जाकर एक दूसरा बड़ा प्रसिद्ध जिननामक रम्य जनपद है। उस बड़े देश में 'विहार' नामक एक स्थान है, जहाँ पर अनेक जन निवास करते हैं। उस विहार स्थान में समाधि की सिद्धि के लिए अपनी कुटी के भीतर 'दीर्घदृश' नामका एक भिक्षु स्थित है, जिसके केश बिलकुल पीले पड़ गये हैं। इस प्रकार समाधि में स्थितिवाले उस भिक्षु की आज इक्कीसवीं रात है। उसकी कुटिया दृढ़ सिक्कड़ों से बन्द है। उसके प्रिय नौकर भी ध्यानभंग के भय से भीत होकर उसके भीतर प्रवेश करने की चेष्टा नहीं करते। केवल वह भिक्षु उसी प्रकार की समाधि में लगा हुआ है। आज ही उसके विदेहकैवल्य की प्राप्ति का अन्तिम समय है, क्योंकि आयुष्यनियन्ता विधाता की ऐसी ही उसके लिए स्थिति है। यद्यपि ध्याननिमग्न उस भिक्षु की अब तक इक्कीस रातें ही बीती हैं तथापि पूर्ववर्णित रीति के अनुसार चित्त के द्वारा इन इक्कीस रातों को ही उसने हजारों वर्ष के रूप में समझ लिया है। भद्र, इस प्रकार का भिक्षु पहले किसी एक पूर्वकाल में हो चुका था और आज इस कल्प में उस प्रकार का यह द्वितीय है। इन दोनों को छोड़कर कोई तीसरा मुझे दिखाई न पड़ा। जब तीसरा मुझे दिखाई न पड़ा तब मैंने चतुरतापूर्ण चित्त से इस जगद्रूप कमल के अन्दर भ्रमर के समान खूब परिभ्रमण किया और उस परिभ्रमण में मैंने एक अन्य तीसरा ही भिक्षु पाया। हाँ, पाया तो सही, किन्तु इस सर्ग में नहीं; इसलिए इस सर्ग से भिन्न दूसरे अनेक सर्गों का लीलावश जब मैंने अवलोकन किया तब उन्हीं सर्गों में मुझे दूसरा भिक्षु मिला, जो कि ठीक पहले के समान स्वभाववाला ही है। चैतन्याकाश के एक कोने में लीन, जिस परिमाण के उस सर्ग में तृतीय भिक्षु विद्यमान है वहाँ पर वहाँ

के ब्रह्मा द्वारा निर्मित भुवन पद्धति इसी भुवन पद्धति के सदृश है ॥१–१६॥

यों ब्रह्माण्ड के भेद से जब पदार्थक्रम एक–सा है तब भिक्षु भी अनन्त हो सकते हैं।

भद्र, उसी प्रकार उसी–उसी अवयवविन्यास से अनेक पदार्थ होंगे और हो भी चुके हैं। इस सृष्टिपरम्परा में इसी क्रम से सब पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं ॥१७॥

इस अर्थ में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणोक्त अर्थ का ही विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

श्रीरामजी, इस सभा में भी जो मुनि और ब्राह्मण हैं वे भी भिक्षु के सदृश आचरणवाले या अपने सदृश आचरणवाले होंगे तथा दूसरे भी अनेक मुनिसदृश आचरणवाले या भिक्षुसदृश आचरणवाले होंगे। यह भिक्षु आगे चलकर नारद के रूप में हो जायेगा और नारद भी दूसरे के रूप में हो जायेंगे, इस प्रकार ज्ञान और चरित्र से युक्त अन्य के रूप में यह हो जायेगा, यों अनेक तत्–तत् रूप में हो जाते हैं। इसी प्रकार जन्मादि द्वारा व्यास भी होंगे, शुक भी होंगे, फिर शौनक भी होंगे, क्रतु भी होंगे और पुलह भी होंगे। अगस्त्य, पुलस्त्य, भृगु और अंगिरस – ये एवं दूसरे इस प्रकार के स्वरूप और क्रिया के आश्रय चिर–चिर काल के अनन्तर होंगे, क्योंकि यह माया बड़ी व्यापक है। सृष्टि में सदृश आचार और जन्मवाले वे ही और अनेक दूसरे भी बारबार उस प्रकार आते जाते रहते हैं, जिस प्रकार जल में तरंग। कोई तो अत्यन्त सदृश, कोई अर्ध सदृश, कोई स्वल्प सदृश, कोई असदृश पदार्थ किसी समय बारबार उसी रूप में उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार यह बड़े–बड़े लोगों को भी मोह में डालनेवाली अति विस्तृत माया ही विलसित हो रही है जो निरवयव कालात्मा में न मानस चेष्टारूप है और न देहचेष्टारूप ही है, क्योंकि यह केवल भ्रान्ति ही विलसित हो रही है। हे पापशून्य, कहाँ इक्कीस अहोरात्र और कहाँ अनन्त जीवट आदि आकृतियाँ और उनकी उपलब्धियाँ। अहो, यह मनोवृत्ति बड़ी भयंकर है। भद्र, यह जगत् केवल प्रतिभास ही है और इस प्रकार विकसित होकर वैसे स्थित है, जैसे प्रातःकाल में जल में कमल। और जिस प्रकार उक्त काल में अनेक तरह के भ्रमरों के कलह और जलकल्लोल विद्यमान रहते है, उसी प्रकार इस प्रतिभासात्मक जगत् में भी अनेक तरह के जीवकलह और विषयानुभवजनित कल्लोल विद्यमान रहते हैं, यह आप देखिए। रामभद्र, जिस प्रकार अग्निकण से अर्चियों से युक्त महान् अग्नि उत्पन्न होता है, उसी प्रकार समस्त अशुद्धियों से निर्मुक्त विशुद्ध संवित्तिरूप परम ब्रह्म से ही अशुद्धात्मक यह सारा संसारजाल उत्पन्न हुआ है। हे रघुनन्दन, जिस तरह इस भिक्षु के मन में चित्र–विचित्र प्रतिभासात्मक अनेक जगत्खण्ड आविर्भूत हुए, उसी प्रकार प्रत्येक जीव के मन में भी चित्र–विचित्र प्रतिभासात्मक जगत्खण्ड आविर्भूत होते हैं, और उन–उन जीवों के मन में उदित हुए भिन्न–भिन्न जीवांशों में भी चित्र–विचित्र प्रतिभासात्मक जगत् अन्य–अन्य उत्पन्न होते हैं, इस रीति से उत्तरोत्तर मायालम्पट जीव के लिए जगत्स्थिति कहीं शान्त ही नहीं हो सकती। वे पहले के जगत्–खण्ड और उन जगत्–खण्डों के अन्तर्गत दूसरे जगत्खण्ड अपनी–अपनी व्यवहार की दृष्टि से सत्यरूप हैं और सर्वात्मक चैतन्यस्वरूप, कारणों के भी कारण इस परमात्मतत्त्व के तादात्म्यरूप से प्रस्फुरित होने पर तो सत्यरूप हैं ही नहीं ॥१८–२८॥

छासठवाँ सर्ग समाप्त

सड़सठवाँ सर्ग

समाधि में स्थित भिक्षु का देहनाश और भिक्षुभ्रम के सदृश दूसरे जीवों को
बन्धप्राप्ति और तत्त्वज्ञान से बन्ध की निवृत्ति-यह वर्णन।

राजा दशरथजी ने कहा : हे मुनिनायक, आप आज्ञा दीजिए, जिससे कि मेरे भेजे हुए ये मन्त्री आदि जन कुटी में स्थित भिक्षु के पास जाकर समाधि से उसे जगावें और यहाँ लावें ॥१॥

उसके लिए आज का ही दिन विदेहमुक्ति के लिए निश्चित है, यह जो मैंने पहले कहा था, उसे भूलकर आप यह कह रहे हैं, यह भावभंगी से सूचना कर रहे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राजन्, उस भाग्यवान् भिक्षु की वह देह प्राणरहित हो गयी है, प्राणों को पकड़कर शरीर में रखनेवाला अन्नरस उसका सूख गया है, अतः अब वह किसी तरह जीवनशक्ति का भाजन नहीं रह गया ॥२॥

तब वह आपके सत्यसंकल्प के प्रभाव से जी जाय ?

महाराज, उस भिक्षु का तो जीव अब ब्रह्मदेव का सारस बनकर जीवन्मुक्त होकर अवस्थित हो गया, अतः फिर वह संसार का भागी नहीं हो सकता। निचोड़ यह है कि यदि उस शरीर के द्वारा भोगोपयोगी प्रारब्ध बच जाता तो मेरा सत्यसंकल्प काम कर जाता, परन्तु वह है नहीं ॥३॥

उस भिक्षु ने अपने सेवकों को यह आज्ञा दी है कि कोई मासभर घर का सिक्कड़ मत खोले, अतः उन सेवकों द्वारा दृढ़ सुरक्षित होने के कारण आपके मन्त्री आदि वहाँ जाकर कुछ भी नहीं कर सकते।

उसकी कुटी में मास के आखिरी दिन में उसकी आज्ञा के अनुसार सिक्कड़ खोलनेवाले, बाहर द्वार के अन्तराल में भिक्षु शरीर देखने की इच्छा कर रहे उसके सेवक बैठे हुए हैं। तदनन्तर मास के अन्त में अंगों की सन्धियों से शिथिल हुए शरीर को कुटी से बाहर निकालकर वे सेवक उसे जल में डूबा देंगे और कुटी के भीतर उसके शरीर के सदृश पत्थर-प्रतिमारूप, दृढ़ और मनःकल्पित देवतारूप दूसरे भिक्षु की प्रतिष्ठा करेंगे। राजन्, उक्त रीति से जब इस शरीर से मुक्त होकर वह भिक्षु अवस्थित है, तब भला प्राण, चेष्टा आदि व्यापारों से शून्य (मृत) उस शरीर को किस तरह प्रबोधित करेंगे ? ॥४-६॥

प्रासंगिक प्रश्न कहकर अब प्रस्तावित विषय का ही अवलम्बन करते हैं।

यह त्रिगुणात्मिका माया भ्रान्तियों की जननी विक्षेपशक्ति से किसी भी तरह पार नहीं की जा सकती। सदा-से ही एकमात्र सत्यतत्त्व के साक्षात्कार से सुखपूर्वक दूर की जा सकती है। माया स्वरूप से असद्रूप ही है और जगद्रूप कार्य का निर्माण करती है। जिस प्रकार सुवर्ण की कटकरूप से विपरीतरूपता होती है, उसी प्रकार प्रतिभास की जो विपरीतरूपता है, उसीके कारण उससे जगद्रूप विभ्रम का उदय होता है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (घट आदि विकार केवल वाणीमात्र ही हैं, मृत्तिका ही सत्यरूप है) इस दृष्टान्तरूप श्रुतिवचन से दार्ष्टान्तिक यह माया परमात्मा में मिथ्यास्वरूप ही अनुमित होती है, इस प्रकार की अनुमित यह माया केवल तत्त्वसाक्षात्कार से जल में तरंगों की नाईं, तत्क्षण विलीन हो जाती है। अविवेक के कारण परमात्मा एक दीर्घस्वप्न से दूसरे दीर्घस्वप्न की ओर जाता है और जीवरूप बन जाता है। अपने विवेक से सबको अपना स्वरूप समझकर

चिन्मात्ररूप हो जाता है। अपने तत्त्वसाक्षात्कार से जो जिसका प्रतिभास रहता है, वह आत्मस्वरूप ही बन जाता है और अपने तत्त्वज्ञान के न रहने से वही प्रतिभास, करंजवन के पौधों के सदृश, संसाररूप से उदित हो जाता है। प्रत्येक प्राणिसमुदाय के प्रति यह संसारमण्डल उस प्रकार भ्रान्ति से उदित होता है, जिस प्रकार भिक्षु के स्वप्न के अन्दर एक स्वप्न से दूसरा स्वप्न और जल में एक तरंग से दूसरा तरंग उदित होता है ।।७-१२।।

समष्टि हिरण्यगर्भ का यह जगद्रूप सर्ग केवल मनोनिर्मित होने के कारण जब स्वप्नरूप ही सिद्ध है तब व्यष्टिजीव का भी यह सर्ग स्वप्नरूप ही सिद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं। परन्तु केवल अस्वच्छ चित्त से उत्पन्न होने के कारण व्यष्टि को वह दीर्घ एवं स्थिर-सा भासता है।

भद्र, प्रस्तुत जगद्रूप स्वप्न हिरण्यगर्भ से जैसा ही उदित है वैसा ही समस्त व्यष्टिजनों के प्रति अस्वच्छ चित्त से उत्पन्न हुआ जगत्-स्वप्न अवस्थित है। श्रीरामजी, पितामह के चित्त के सदृश चित्तशुद्धि होने पर तो यह सृष्टि स्वाप्निक विलास के समान असद्रूप चारों ओर से भासती है, यों उस तरह के भान से जाना जाता है। इसीसे यह निश्चय होता है कि यह प्रत्येक सर्ग ब्रह्माण्डों के समान करोड़ों रूपों में उदित हुआ है। यह जीव व्यष्टि-प्रपंचरूप से, समष्टि-प्रपंचरूप से अथवा साधारण-प्रपंचरूप से या प्रत्येक असाधारण-प्रपंचरूप से चाहे जिस किसी रूप से स्फुरित हो, तथापि इस हृदय में प्रतिभान के समर्थ, दीर्घ भीतरी विभ्रम को देखता है, इसलिए वह स्वप्न की नाईं मिथ्या ही है। अपने पारमार्थिक स्वरूप से च्युत हुआ यह जीव एकमात्र चितिसत्ता का अवलम्बनकर किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की देहों में जरा, मरण आदि दुःखों का भागी बन जाता है। उस स्वप्न में चित्र-विचित्र कर्मोंवाली यह जीवचिति अपने चित्तांश के स्पन्दमात्र से नीचे पाताललोक या ऊपर ब्रह्मलोक की रचनाकर भोगों का उपभोग कर रही-सी स्थित है। परमात्मचिति ही प्राण की कल्पना से उसके अधीन स्पन्द से युक्त होकर उसीके द्वारा जीवनामक स्वरूप में परिणत होती है। उस प्रकार जीवरूप में परिणत हुई वह अपने भीतर देहाकार भ्रम और बाहर विषयाकार भ्रम को धारण करती हुई इधर-उधर लुढ़कती फिरती है ।।१३-१८।।

इस चिति का भ्रान्तिवश जीव आदि नामभेद भले ही हो, फिर भी यह परमात्मा ही है, क्योंकि हजारों अध्यासों से अधिष्ठान का भेद नहीं हो सकता, अतः परमपुरुषार्थ फल जीव-ब्रह्मैक्य ही है।

चित्तरूप-उपाधि आकार भ्रान्तिमात्र के अपराध से यह प्रत्यगात्मा क्या ब्रह्म नहीं है ? या ब्रह्म ही क्या प्रत्यगात्मा नहीं है ? और दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब के समान ब्रह्म में ही औपाधिक जीवनाम की, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि देहनाम की योग्यता क्या नहीं है ? तात्पर्य यह निकला कि अभेद होने पर भी उपाधिवश सब कुछ सम्भव है। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है - 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मन इति, तान्येतस्य कर्मनामान्येव।' जैसे आकाश में शुद्धाकाश स्थित है, जल में विमल जल स्थित है, वैसे ही इस प्रकार ऐक्यदर्शन होने के कारण व्यवहारदृष्टि से भी जब परब्रह्म ब्रह्म में ही स्थित है तब परमार्थदृष्टि से समूल उपाधि का बाध होनेपर 'ब्रह्म ब्रह्म में स्थित है' यह कहना ही क्या। (किंतु, मुख से अत्यन्त भिन्न होने के कारण दर्पण आदि में स्थित मुख में कथंचित अन्यथाभ्रम हो भी

सकता है; परन्तु) जीवलोक तो आत्मभूत अभय ब्रह्म के मूर्त–अमूर्त–स्वरूप जगद्रूपों में स्थित है, इसलिए इसमें अन्यथाभ्रम की संभावना ही नहीं है, तथापि 'आत्मा से अन्य यह सब मेरे भय का कारण है' यों भ्रम कर यह इस प्रकार डरता है, जिस प्रकार बालक परछाईं से डरता है। और भेदज्ञान में बुद्धि का स्पन्दन कारण है, अतः समाधि के अभ्यास द्वारा बुद्धिस्पन्द के स्पन्दरहित कर दिये जानेपर भेदबुद्धिस्वरूप संज्ञा अपने–आप ही बुद्धि में विलीन हो जाती है। और वह बुद्धि भी पूर्णब्रह्माकार चरमसाक्षात्काररूप अपने परिणाम के द्वारा, अग्नि में हवन किये गये घी की तरह, उसीसे दीप्त ब्रह्म में विलीन हो जाती है ॥१९–२२॥

शंका हो कि करोड़ों कुदारियों से भी दुर्भेद्य यह जगत् भला एकमात्र बोध से कैसे विलीन हो जाता है ? तो इस पर 'वह असद्रूप चितिस्पन्दन होने से ही' यह समाधान करते हैं।

सर्वात्मक चितिस्पन्द में ही चितिस्पन्दरूप जगत् विकसित हुआ है। इसमें स्पन्दन, स्पन्दनाभाव, विकास आदि कल्पित ही हैं, तात्त्विक नहीं ॥२३॥

वे कल्पित हैं, यह भी कैसे जाना ? ऐसी शंका होनेपर 'तत्त्वदृष्टि से दिखाई न पड़ने से ही' यह समाधान करते हैं।

हे राघव, तत्त्वदृष्टि से देखने पर न स्पन्द है और न अस्पन्द ही है। न एकत्व है और न द्वित्व ही है। किन्तु शुद्ध एकमात्र चैतन्य स्वरूप जैसा है, उसी रूप से वह स्थित है। उत्तम विचार से सर्वशब्द और उसके अर्थों को एकरसस्वभाव जान लेनेपर तो एकमात्र चैतन्य ही परमार्थतः सत्य रह जाता है। उस समय अभावस्वरूप भी यह नहीं रहता, फिर भाव की कथा तो कोसों दूर रही, यह भाव है। भेदबुद्धि से ही मायाकलंकरूप भेद उदित होता है और अभेदबुद्धि से सबके शान्त हो जाने पर तो एकमात्र परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥२४–२६॥

वस्तु की सत्ता जैसी है वह उसी रूप में है, कोई भी उसे बदल नहीं सकता, यों महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीरामजी, आप स्वस्वरूप के अज्ञान से ही नानारूप हैं। आप अज्ञानस्वरूप नानात्व को न देखने पर तो पूर्ण चिद्रूप ही हैं। इस विषय में जिसे चाहें, पूछिए। यही परमार्थ सत्य है। इसलिए आपकी, मेरी और अन्य की सर्वथा निःशंकता सिद्ध ही है ॥२७॥

उसी निःशंकता की सामर्थ्य से जाग्रत् आदि सभी अवस्थाओं के द्वैत का बाध प्रवृत्त हुआ है।

इसी निःशंकता से यह सिद्ध होता है कि परमार्थतः न तो स्वप्न है, न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है, न तुर्यता है, न बन्ध है, न मोक्ष है और न अन्यथाकल्पना स्वरूप जगत् ही है। अज्ञान से ही द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटीरूप जगत् की सत्ता है। जब वह अज्ञान ही असत्य है तब तो शुद्धात्मस्वरूप वह शान्ति ही एकमात्र 'जगत्' नामवाली है, क्योंकि वह शान्ति ही 'गच्छति' यानी जो चारों ओर से व्याप्त करती है – इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'जगत्' नाम से व्यवस्थित है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरूप त्रिपुटी कहाँ है अर्थात् अत्यन्त अप्रसिद्ध है, इसलिए वह शान्ति 'जगत्' नामवाली नहीं हो सकती ॥२८,२९॥

केवल बोध से चित्त–प्राणादिस्पन्द की निवृत्ति कैसे होगी ? यदि ऐसी शंका हो तो इस पर उसके हेतुरूप संकल्प के क्षय से ही – यह समाधान करते हैं।

राजन्, आपके संकल्पशून्य हो जाने से स्पन्द भी स्पन्दशून्य ही सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि संकल्पशून्य चिति स्पन्द और अस्पन्द से भिन्न कदापि नहीं है। चिति के अदर्शन से द्वैतता और एकतारूप संकल्प उदित होता है और वह संकल्प चिति के दर्शनमात्र से नष्ट हो जाता है, यों द्वैतता और एकता से रहित ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। भद्र, चितिरूपी चन्द्रबिम्ब में जो एक तरह का संकल्परूपी कलंक स्फुरित हो रहा है, वह कलंक नहीं है; किन्तु चिदैकरस का घन शरीर है, यह आप जान लीजिये। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चिद्घन के विस्तृत पद में स्थित हो जाइये, क्योंकि आपके पूर्णरूप में स्थत हो जाने से संकल्पादि आपके साथ ऐक्य प्राप्तकर अलग अपना अस्तित्व नहीं रख सकते, यों आपके रूप से तो अपना अस्तित्व रखते ही है, इसी युक्ति से आत्मा के साथ सम्पूर्ण वस्तुओं में एकत्व का सम्पादन करनेवाले निर्दोष महा बोधसार का आप भलीभाँति अवलम्बन कीजिये। हे चित्चन्द्रबिम्ब, हे असंकल्पकलंक, भावाभावनाशस्वरूप भव्य बने हुए आपके द्वारा स्पृष्ट सब पदार्थ अमृतरूपी शरीरवाला हो जाता है। अहो, आपका माहात्म्य कैसा है। भद्र, आप चिति की भाव और अभाव स्वरूप कल्पना को चिन्मयरूप बना कर तथा अपने हृदय में उल्लास और विलास को एक–सा करके सुखपूर्वक विश्राम कीजिये। स्पन्द और अस्पन्द या संकल्प और विकल्प इत्यादि चित्त की भ्रान्ति का जितना भेद है सर्वाकारात्मक सुखैकरस शान्तिसत्ता ही तत्–तत् आकार से अवस्थित है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप आनन्दसागरनामक स्वरूप से स्थित हो करके ये पूर्ण और अपूर्ण जो दो दशाएँ हैं, इन्हें अपना एक ही रूप समझिये ॥३०–३६॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अड़सठवाँ सर्ग

लक्षणों से चार तरह का मौन और उसमें भी सुषुप्तिसम्बन्धी
मौन तुर्यातीत पद में प्रतिष्ठित है – यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, आप सुषुप्तमौनवान् होकर, चित्त की विलासिता छोड़कर तथा कल्पनारूपी मल से निर्मुक्त होकर उस परम पद में अवस्थित हो जाइये। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन् ! वाणी का मौन, इन्द्रियमौन और काष्ठमौन तो मैं जानता हूँ लेकिन हे मौनेश, सुषुप्तमौन किसे कहते हैं, यह (मुझे मालूम नहीं है कृपाकर) कहिये। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, मुनिवरों ने दो तरह के मुनि बतलाये हैं – एक काष्ठतपस्वी और दूसरा जीवन्मुक्त। आत्मतत्त्व के पर्यालोचन से शून्य शुष्क (आत्मानुभवरस से शून्य कृच्छ–चान्द्रायणादि) क्रिया में बद्ध निश्चय और हठात् सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीत रखनेवाला मुनि काष्ठतापस कहा गया है। और यथार्थ में यह संसार क्या है, यह अच्छी तरह जानकर जो आत्मज्ञानी आत्मा में अवस्थित होता हुआ व्यवहार में अन्य तपस्वियों के समान रहने पर भी नित्यनिरतिशयानन्दास्वाद से भीतर तृप्त रहता है वह जीवन्मुक्त कहा गया है ॥१–५॥

प्रकृत्यर्थ का व्युत्पादन कर अब प्रत्ययार्थ का व्युत्पादन करते हैं।

इन दोनों शान्तात्मा श्रेष्ठ मुनियों का जो चित्निश्चयरूपात्मक भाव है वह मौनशब्द से कहा

गया है। रामभद्र, मौनविद् लोगों ने चार प्रकार का बतलाया है–वाणी का मौन, इन्द्रियमौन, काष्ठमौन और सुषुप्तमौन ॥६,७॥

उनमें प्रत्येक का लक्षण बतलाते हैं।

वाणी का निरोध वाणी का मौन, हठात् इन्द्रियों का निग्रह इन्द्रियमौन और चेष्टाओं का त्याग काष्ठसंज्ञक मौन कहलाता है। इस तरह विभाग के पर्यालोचन से यद्यपि पंचम मनोमौन भी संभव है तथापि वह काष्ठतापस, मरण, मूर्च्छा और सुषुप्ति में ही संभव है, अन्य किसी दूसरे काल में नहीं। इसलिए मौनवेत्ताओं ने उसकी गणना अलग नहीं की है। हे श्रीरामजी, आत्मतत्त्वानुभव में जो जीवन्मुक्त निरन्तर लगा रहता है उसे सुषुप्तमौन कहते हैं। वाणी का मौन आदि तीनों मौनविशेषों में काष्ठतापस विषय (अधिकृत) है और सुषुप्त मौनावस्था में वह जो चतुर्थी अवस्था है वही जीवन्मुक्तों में स्थिति रखनेवाली है यानी वही मुक्तधी कहलाती है ॥८–१०॥

यद्यपि तीनों मौनों में मौनत्व सिद्ध है तथापि वे मलिन मन का जो दृढ़ निश्चय है तत्स्वरूप ही हैं, इसलिए वे तीनों जीव के बन्धन के लिए ही समर्थ हैं, यह कहते हैं।

यद्यपि वाणी का मौन मौन है, यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है तथापि वह मलिनमनोरूप ही है यानी मलिन मन का दृढ़ निश्चयरूप है; इसलिए वह जीवबन्धन के लिए समर्थ है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अतः काष्ठतापस भी जीवबन्धन के लिए ही स्थित हुआ है ॥११॥

ऐसी परिस्थिति में मलिन मन के दृढ़ निश्चयरूप मौन से युक्त काष्ठतापस समाधि में स्थित कैसे रहता है ?

भद्र, काष्ठमौनी तो समाधि में बलपूर्वक मनोनिग्रह करके अपने हृदय के अन्दर अहंभाव के अनुसन्धान का स्पर्श न करता हुआ और बाहर भी रूप एवं नाम प्रपंच का स्पर्श न करता हुआ तथा अज्ञान से आवृत्त हुए आत्मा का अवलोकन न करके सुषुप्तिवत् अविनाशी आत्मदृष्टि का अभाव न होने से भस्म से ढकी हुई अग्नि की नाईं साक्षिमात्रज्योति से अवलोकन करता हुआ अवस्थित रहता है। रामभद्र, यह जो तीन प्रकार का मौन कहा गया है वह व्युत्थान काल में प्रस्फुरित हो रहे चित्त का चलन ही है उस काल में वे ही पूर्वोक्त तीनों मौनी स्थित रहते हैं तथा उसके जाननेवाले तो चित्त का बाध हो जाने से वहाँ पर स्थित निरोध और व्युत्थानादि की लीला से नहीं ठहर पाते ॥१२,१३॥

अथवा पूर्णात्मस्थिति की लीला से पूर्वोक्त तीनों मौन बन्धनस्वरूप ही हैं, इसलिए इनका त्याग कर देना चाहिए – इस बुद्धि से वे भले ही क्रुद्ध हों या वे पूर्वोक्त मौन चिदानन्द के विलास ही हैं, इस बुद्धि से भले ही क्रुद्ध न हों; फिर भी उनमें यहाँ उपादेयताबुद्धि तो है ही नहीं; यही मेरे कहने का तात्पर्य है – यह कहते हैं।

वहाँ की निरोध और व्युत्थानादि की लीला से या पूर्णात्मस्थिति की लीला से तीनों मौन बन्धनस्वरूप होने के कारण त्याज्य हैं, यह जो मैंने कहा है, इससे भले ही तत्स्वरूप का ज्ञान रखनेवाले लोग क्रुद्ध हों या न हों; लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन तीनों मौनों में उपादेयताबुद्धि बिलकुल नहीं है। और भद्र, यह सुषुप्तमौन तो जीवन्मुक्तों के

अनुभवपथ में स्थित है। इसमें स्थिति रखनेवाले जन्तु का पुनर्जन्म नहीं होता, इसलिए उसके श्रवण का यह भूषण है। अतः आप भी इसे सुनिये ॥१४,१५॥

तत्त्वसाक्षात्कार के सिद्ध हो जाने पर इसकी भी अनायास ही सिद्धि हो जाती है, अतः पूर्वोक्त मौन में जो क्लेश होता है उसकी इसमें अपेक्षा नहीं है, यह कहते हैं।

इस सुषुप्तमौन में न तो तीन तरह के प्राणों का संयमन (निरोध) किया जाता है और न संयोजन। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियसंवित्तियाँ न तो अपने विषयों के लाभ से उत्पन्न हर्ष से उल्लसित होती हैं और न निरोधजन्य क्लेश से ग्लानि को ही प्राप्त होती हैं ॥१६॥ इस अवस्था में यह अनेकता की कल्पना न तो उत्थित होती है और न शान्त ही होती है। *(ज्ञान से बाधित चित्त कैसे अवस्थित रहता है, यह कहते हैं।)* चित्त ज्ञान से बाधित होने से न चित्तरूप रहता है, न अचित्त रहता है तथा न सत्, न असत् और न अन्यस्वरूप ही रहता है। विभाग करनेवाले विकल्प के नाश से विभागशून्य अतएव अभ्यास की अपेक्षा से रहित, अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप होने से आदि और अन्त से शून्य जो ध्यान कर रहे या न कर रहे पुरुष का अवस्थित रूप है, वही सुषुप्तमौन कहा जाता है। संसाररूपी अनेक विभ्रमों के अधिष्ठानभूत इस आत्मतत्त्व को यथार्थरूप से जानकर सन्देहरहित जो रूप अवस्थित रहता है वही सुषुप्तमौन है। अनेक तरह के संविद्रूपों का आत्मा जो शिव है उसीसे यह सारा जगत् परिपूर्ण है, इस तरह के ज्ञान से युक्त जो अनन्त अवस्थान (स्थिति) है वह सुषुप्त मौन कहा जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् चिदाकाश का विवर्त होने से आकाशरूप, मूर्तिमान् होने से आकाशस्वरूप से भिन्न, अधिष्ठानसत्ता की सद्रूप से प्रतीति होने से अस्तित्व से युक्त तथा कल्पित होने से नास्तित्व से युक्त है यानी यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठानरूप से सत् और कल्पित होने से असत् है। यों ब्रह्म से अलग जगत् की सत्ता नहीं है, यह निश्चय करके जो एकाकार, निर्विकार चित्त अवस्थित रहता है वह सुषुप्त के तुल्य मौन कहा गया है। सर्वशून्य, आलंबनरहित, शान्तिस्वरूप, विज्ञानमात्र तथा जीवन्मुक्तदशा में जो न सद्रूप और न असद्रूप अवस्थान (स्थिति) है वह उत्तममौन कहा गया है। वितर्तरूप अज्ञान से उत्पन्न भावअभावस्वरूप दशा तथा देशविशेषों से जो संवित् का अविवर्त है, उसे परममौन कहते हैं। बाधित होने के कारण अत्यन्त असत् तथा बाह्याकार वृत्ति से शून्य चित्त से जो संविद्वृत्ति का भीतर अनावर्तन (अपरिवर्तन) है उसे अक्षयमौन कहते हैं। जिस दशा में 'न मैं हूँ, न अन्य है, न मन है और न मनका विकल्प है' – इस तरह के तत्त्वज्ञान से बाधित चित्त का जो संवित् से अविच्छिन्न (निरन्तर-लगातार) अप्रतिभास है उसे अतिमौनिता यानी उत्तममौनिता कहते हैं। और इस जगत् में अनामय, शब्दार्थमात्र यानी सर्वात्मक तथा सत्तासामान्यस्वरूप मैं ही हूँ- इस तरह की ज्ञान स्थिति को सुषुप्त मौन कहते हैं। चूँकि यह आत्मसंवित् अमा यानी सर्वबाधक स्वाकार चरमवृत्ति का भी ग्रास कर लेती है, इसलिए इसमें अपनी, दूसरे की या भेद की कल्पना ही कहाँ ? अतः सब कुछ व्याप्त अनन्त सौषुप्त मौन ही है। भद्र, प्रबोधयुक्त इस सुषुप्त मौन को ही अनन्त होने से निर्मल तुर्य पद या तुर्यातीत पद समझ लीजिये ॥१७-२८॥

पूर्व में जो सात प्रकार की ज्ञान भूमिकाएँ कही जा चुकी हैं उनमें समाधि भेदस्वरूप जो अन्तिम

तीन भूमिकाएँ हैं वे जाग्रत और स्वप्नावस्था में स्थित भी तत्त्वज्ञानियों को क्रमशः हुआ करती हैं, यह कहते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, सौषुप्तैकसमाधि, तुरीयसमाधि या तुर्यातीत समाधि - ये तीनों ही क्रमशः जाग्रत् और स्वप्नावस्था में स्थित भी तत्त्वज्ञानी को हुआ करती हैं। ब्रह्मभूत हे साधो श्रीरामभद्र, जाग्रदवस्था में चारों ओर भलीभाँति व्यवहार कर रहा अथवा सब व्यवहारों को छोड़ कर के समाधि में स्थित हो रहा देहयुक्त भी जीवन्मुक्त सम्पूर्ण निर्मल शान्तिवृत्ति से युक्त तुरीयावस्था में (🔔) ही स्थित एवं विदेहस्वरूप ही है। हे श्रीरामजी, यह स्थिति उसीकी है जो स्थूल और आकारों के बाध से निर्मल आकाशस्वरूप होकर स्थित हो गया है अथवा हे श्रीरामजी, यह स्थिति आपकी ही है, क्योंकि आप निर्मल आकाशस्वरूप से स्थित हो चुके हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, 'ॐ' इत्यादि माण्डूक्योपनिषद् में कही गयी रीति से विराट् आदि पादमात्राओं के प्रविलापन द्वारा सांसारिक वासनाओं का उच्छेद कर आप एक तुरीयपदरूप हो जाइये। इस संसार में न आप, न मैं और न कोई दूसरी वस्तु ही सत्य है। इस संसार में सब कुछ विद्यमान है, यह जो प्रसिद्धि हो चुकी है इसे नाडी के भीतर अनुभूयमान स्वप्न की नाईं मिथ्या समझ कर जीवन्मुक्त होते हुए आप चिदाकाशकोश की कला में स्थित हो जाइये ॥२९-३१॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

गणों की रुद्ररूपता, मुक्त लोगों की स्थिति, योग से प्राणों का विलय तथा मरण से पुनः उत्पत्ति- इन सबका वर्णन।

प्राप्य तां ब्रह्महंसेहां रुद्रतां सर्व एव ते। समाजग्मुर्विरिजुश्च रुद्राणामुत्तमं शतम् ॥

इस श्लोक से सौ रुद्रों की उत्तम रुद्रता कही जा चुकी है। उसके बाद के सर्ग में भगवान् आदि रुद्र की आज्ञा से तत्-तत् देहों में प्रारब्धशेष का उपभोग कर रहे रुद्रों के विषय में - तत्र भुक्त्वा

(🔔) यह तुरीयावस्था उपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है : नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ अर्थात् तुरीय उस पद का नाम है जो स्वप्नावस्था में मनोविरचित विषयज्ञान से शून्य है, जाग्रत अवस्था में इन्द्रियजन्य विषयज्ञानशून्य है, जाग्रत् और स्वप्न की सन्धि में बोधरहित है, सुषुप्तावस्था में होनेवाले जाग्रत् और स्वप्न के ज्ञानों के घनीभाव से शून्य है, युगपत् सर्व विषयों के ज्ञातृत्व से शून्य है, ज्ञानाभावरूप नहीं है, ज्ञानेन्द्रिय का अविषय है, अर्थक्रियारहित है, कर्मेन्द्रिय का अगम्य है, अननुमेय है, अन्तःकरणवृत्ति का अविषय है, शब्दशक्ति का अविषय है, जिसमें जाग्रदादि अवस्थाओं में एक आत्मा ही है, इस प्रकार का ज्ञान ही प्रमाण है, जहाँ प्रपंच का अभाव विद्यमान है, जो विक्रियारहित है, आनन्दस्वरूप है, भेदशून्य है, स्वयं संख्याशून्य होता हुआ भी विश्वतैजसप्राज्ञरूप तीन पादों की अपेक्षा चौथे रूप से शास्त्रवेत्ताओं के द्वारा कल्पित है। 'मैं' इस प्रतीति का विषय वह आत्मा मुमुक्षुजनों को साक्षात् करने योग्य है।

चिरं भोगान् प्राप्य रुद्रपदं ततः । गणतामावसन्तस्ते स्थास्यन्ति सपरिच्छदाः ॥ इत्यादि जो कहा गया है, उसमें क्या सौ रुद्रों की मूर्तियों में गणत्व था या एक ही रुद्र की मूर्ति थी ? यों सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

हे मुनिनायक, आपने पहले कहा था कि वे भिक्षु के संकल्पस्वरूप जीवट आदि सौ रुद्र हो गये, सो उनमें शतरुद्रता कैसे आई ? यानी वे सौ रुद्र कैसे हुए ? क्या गणों के साथ परिगणन करने से या उन गणों से अतिरिक्त रुद्रों की गणना करने से ? जो आपके द्वारा गण कहे गये थे क्या वे ही रुद्र भी कहे गये थे या नहीं ? यह आप शीघ्र मुझसे कहिये ॥१॥

इसमें प्रथम विकल्प का अवलम्बन कर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, भिक्षु ने शतशरीररूप सौ स्वप्न देखे थे, उन्हें आपने मेरे द्वारा पहले कहे गये तत्–तत् जन्मादि के प्रस्ताव से जान ही लिया था; इसीलिए मैंने नामतः विशेषरूप से नहीं कहा ॥२॥

भिक्षु के स्वप्न में जो जीवटादि आकार देखे गये थे वे ही शत गण कहे गये हैं । वे ही भोग और ऐश्वर्य के द्वारा रुद्रतुल्य होने तथा रुद्र के अंशस्वरूप होने से रुद्र कहे गये हैं। रुद्र की सेवा करनेवाले पार्षद गण कहे जाते हैं, तब वे मुख्यरुद्र गण कैसे हुए ? क्योंकि स्वामिभाव और सेवकभाव–इन दोनों का एकत्र रहना सर्वथा असम्भव है । किंतु, यह निश्चित है कि शततमरुद्र के मुख्य होने के कारण वह तो गण हो नहीं सकता, फिर सौ गण हुए, यह कहना भी ठीक नहीं बनता, यदि ऐसी कोई शंका करे, तो उस पर कहते हैं ।

सौ रुद्र होते हुए भी सबके सब पूर्वसिद्ध ईश्वरकोटिभूत रुद्र की परिचर्याविधि में गण ही हैं, क्योंकि उनकी कर्मफलस्वरूप भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति उसीके अधीन है ॥३॥

'बोधयित्वा तु तं भिक्षुं चेतसा चेतनेन च' इत्यादि से भिक्षु के स्वप्नकृत शततम रुद्र द्वारा अपने चित्त से चैतन्यप्रदान होने से भिक्षु आदि का जो बोधन पहले कहा गया है उसका, और कहीं दूसरी जगह दर्शन न हो सकने से, असम्भावन कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं ।

भगवन्, भिक्षु के स्वप्नप्रकृत रुद्र ने एक ही दीप से सौ दीप की नाईं एक चित्त से सौ चित्त कैसे कर दिये ? ॥४॥

अज्ञानियों में उसका दर्शन न होने पर भी मुक्तों में उसकी असम्भावना करना युक्त नहीं है, यों खण्डन करते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानैश्वर्य से आवरणशून्य तथा योगरूप ऐश्वर्य से सत्यसंकल्पवाले महानुभाव जो कुछ जिस प्रकार से संकल्प करते हैं उसका वैसा ही–संकल्पित अर्थ के लाभ के लिए भूमानन्द को स्वीकार करनेवाली सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वनामक मायाप्रतिबिम्बित संवित्ति के बल से–अनुभव करते हैं ॥५॥

सर्वात्मस्वरूपता के बल से भी उन्हें सर्वविध अर्थों की सिद्धि होती है, यह कहते हैं ।

सर्वात्मस्वरूप आत्मा के सर्वगामी होने से जिस वस्तु की जहाँ–कहीं जैसे भावना की जाती है, उसकी वहीं पर वैसे ही जीवन्मुक्तता बुद्धि से अनुभव किया जाता है ॥६॥

इस तरह के ऐश्वर्य के रहते हरि, हर आदि मनुष्ययोनियों में अवतार तथा श्मशान में निवास आदि का कष्ट क्यों करते हैं ? अपने लिए सर्वदा सुखकी ही कल्पना क्यों नहीं करते ? इस अभिप्राय से श्रीरामजी पूछते हैं।

ब्रह्मन्, सर्वविध शक्तियों से सम्पन होते हुए भी भगवान शंकरजी भस्मशाली, कपालमालाभूषण से युक्त, दिगम्बर, श्मशानवासी तथा महाकामी क्यों बने हुए रहते हैं ? अपने लिए शुभदायक सुन्दर कल्पना क्यों नहीं करते ? महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, महेश्वर, सिद्ध तथा जीवन्मुक्त शरीरियों के लिए संसार में क्रियाविषयक कोई नियम नहीं बना हुआ है यानी शास्त्रीय, मंगलात्मक तथा सुखभोग फलवाली क्रियाएँ ही करनी चाहिए, अन्य नहीं, ऐसा कोई नियम उनके लिए नहीं बना हुआ है, क्योंकि वे लोग विधिवाक्यों के दास नहीं है यानी विधि–निषेधवाक्यों से वे परे हैं। वह क्रियाविषयक नियम तो अज्ञजनों के लिए ही कल्पित हुआ है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानियों की दृष्टि में प्रसिद्ध मंगलस्वरूप जो क्रियाएँ हैं, वे ही तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में अत्यन्त अमंगलरूप हैं, क्योंकि अशुभ कर्मों के अभाव से दुःख की सामग्री के रहते भी दुःखदायक भोगों की उत्पत्ति नहीं होती और उनकी दृष्टि में सभी पदार्थ सुखरूप ही मालूम पड़ते हैं। राग, द्वेष, लोभ आदि हजारों दोषों से चित्त के खण्डित हो जाने के कारण अज्ञानी पुरुष क्रिया के नियमन के बिना मात्स्यन्याय से जन्मपरम्पराजनित नरक आदि नानाविध दुःख प्राप्त करता है, यह शास्त्रों में प्रसिद्ध है। और आत्मज्ञानी पुरुष तो जितेन्द्रिय, ज्ञानी तथा वासनारहित होने के कारण इष्टअनिष्ट वस्तुओं में कभी नहीं डूबता यानी न तो वह कभी इच्छित वस्तुओं में निमग्न होता है और न अनिच्छित वस्तुओं से उद्विग्न होता है। वे ज्ञानी लोग सदा काकतालीयन्याय से अकस्मात् प्रादुर्भूत् हुई क्रिया करते और नहीं भी करते हैं, क्योंकि इन लोगों को किसीमें भी आग्रह नहीं होता। काकतालीयन्याय से ही भगवान् विष्णु ने पूर्व में मनुष्यादि जन्मोचित कर्म का सम्पादन किया। ऐसे ही भगवान् शंकर और ब्रह्मा ने भी किया। हे श्रीरामचन्द्रजी, कोई कर्म न निन्द्य है, न अनिन्द्य है और न उपादेय है। किसी कर्म में हेयता नहीं है। ऐसा कोई भी कर्म न आत्मीय है और न परकीय, जो सिद्ध पुरुषों का विषय हो यानी जो सिद्ध महात्माओं को फँसावे ।।७–१३।।

तो भला बतलाइये तो सही, भगवान् शंकर के लिए प्रसिद्ध उनके चरित्र के अनुकूल वेष तथा क्रिया का नियम कैसे बना है अथवा विष्णुभगवान् के लिए ही उनके चरित्र के अनुकूल वेष और क्रिया का नियम कैसे बना है या आप–जैसे महानुभावों के लिए उत्तम व्रतचर्या का नियम कैसे बना है ? क्योंकि काकतालीयन्याय से उनका निर्माण बिलकुल असम्भव है, ऐसी आशंका करते हैं।

भद्र जैसे सृष्टि के आदि में अग्नि आदि के उष्णता आदि प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं वैसे ही भगवान् शंकर आदि के कर्म तथा द्विजातियों के भी तत्–तत् जाति के योग्य कर्मों के विधान दृढ़ता को प्राप्त हो चुके हैं। तात्पर्य यह है कि मुख्य ईश्वर की इच्छा स्वरूप अनादि नियति ही कर्मों की व्यवस्थापिका है। लेकिन अज्ञानी लोगों की दिनचर्याएँ अग्नि आदि क्रियाओं की नाईं सृष्टि के आदि में अभिव्यक्त होती हुई भी नियत नहीं है। वे सृष्टि के प्रौढ़ होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तत्–तत् वर्णविभागों में संकेत के वश से अलग–अलग ऐहिक और पारलौकिक सुख–दुःखादि की अनुभूतिस्वरूप फल देनेवाली हैं। जिनमें कुछ तो शास्त्रीय हैं और कुछ स्वाभाविक हैं, जो कि राग–द्वेष आदि के कारण स्वयं प्राणियों

द्वारा कल्पित हुई हैं। बस, यही दोनों में भिन्नता है ॥१४,१५॥

इस तरह प्रश्न का समाधान देकर प्रस्तुत मौन के विषय में अवशिष्ट वक्तव्य दिखलाते हैं।

हे रघूद्वह, प्रसिद्ध चार प्रकार के मौनों से परे जो तुर्य मौन है, वह विदेहमुक्तों का विषय है और आप हैं सदेह, इसलिए आपसे वह मैंने नहीं कहा। अब कहता हूँ, सुनिये। भद्र, आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ चित्स्वरूप आत्माकाश है और उस आत्माकाशभाव की प्राप्ति ही परम श्रेय (मोक्ष) है। वह कैसे प्राप्त की जाती है, (यह मैं बतलाता हूँ, आप) सुनिये ॥१६,१७॥

सांख्य और योग उसकी प्राप्ति में उपाय हैं, यह आगे चलकर कहने की अभिलाषा से महाराज वसिष्ठजी सांख्ययोगियों का लक्षण बतलाते हैं।

भलीभाँति ज्ञान के अवबोध और नित्य एक समाधि से जो विवेकविचारप्रयुक्त राजयोग के द्वारा प्रबुद्ध (ज्ञानी) हुए हैं वे सांख्ययोगी कहे गये हैं ॥१८॥

कर्मयोगियों का लक्षण कहते हैं।

जो प्राणादि वायु के शान्त हो जाने पर पूर्ववर्णित हठयोग से अनामय, आदि-अन्त से रहित परमपद को प्राप्त हो गये हैं वे योगयोगी कहे गये हैं। वह शान्त, अकृत्रिम पद दोनों तरह के भी योगियों के लिए उपादेय है यानी फलीभूत तत्त्वसाक्षात्कार से प्राप्तव्य है। कुछ लोग उस पद को राजयोग द्वारा प्राप्त हो चुके हैं और कुछ लोग इसी देह से हठयोग के द्वारा प्राप्त हो चुके हैं। भद्र, जो सांख्य और योग को एक देखता है, वही देखता है यानी जो सांख्य और योग को एक समझता है वस्तुतः वही विद्वान् है, क्योंकि जो उत्कृष्ट स्थान सांख्यों से प्राप्त किया जाता है वही योगों से भी प्राप्त किया जाता है ॥१९-२१॥

विभिन्न रूपवाले उन दोनों का भला एक फल कैसे हो सकता है, यदि ऐसी शंका हो, तो उस पर कहते हैं।

जहाँ प्राण और मन की वृत्ति बिलकुल उपलब्ध नहीं होती और जो वासनारूपी जाल से निर्मुक्त हो गयी है वही स्थिति परमपद है, तात्पर्य यह है कि प्राण और मन इन दोनों की भी वृत्तियों के आत्यन्तिक विलय से उपलक्षित होने के कारण उभय-वासनारूपी जाल से जो स्थिति छुटकारा पा चुकी है वही परमपद है, हे श्रीरामजी, यह आप जान लीजिये ॥२२॥

यदि उनका फल एक ही है, तो भात की सिद्धि में आग और जल के समुच्चय के सदृश सांख्य और योग का समुच्चय मानना ही युक्त है, विकल्प मानना युक्त नहीं है; यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

बाहर की इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राण आदि की चेष्टाएँ ही संसार है, उसका वासनापुंजस्वरूप मन ही कारण कहा गया है। वह मन सांख्य या योग दोनों में किसी एक से विलीन होकर तत्त्वज्ञानरूप से परिणत हो करके इन्द्रिय और प्राण दोनों के व्यापारों में अकारण बन जाता है। इस तरह एक-एक से दोनों के फल की सिद्धि हो जाती है; अतः सांख्य और योग-इन दोनों का समुच्चय नहीं है, किन्तु विकल्प ही है, यह भाव है ॥२३॥

देह में अहन्तादर्शनपूर्वक ही सब संसृतियाँ उत्पन्न होती हैं और अहन्तादर्शन में मन कारण है।

मन की शान्ति हो जानेपर सब तरह की संसृतियों की शान्ति हो जाती है, यह कहते हैं।

मन देह को उस तरह देखता है जिस तरह बालक वेताल को। स्वात्मा को विनष्ट करके तो मन फिर उसे नहीं देखता ॥२४॥

तब आत्मदर्शन से मन का नाश कैसे होता है, यदि ऐसी कोई शंका करे तो इस पर 'आत्मा के अदर्शन से जन्य होने के कारण' यह कहते हैं।

आत्मदर्शन के अभाव से असद्रूप ही मन मिथ्या ही उदित होता है। स्वप्न में अपने मरण के सदृश दिखाई देता भी यह विद्यमान नहीं है ॥२५॥

ज्ञान से मन का नाश होने पर उसके कार्य अहन्ता, ममता आदि बन्धन से लेकर मोक्षपर्यन्त सब कल्पनाएँ बाधित हो जाती हैं, यह कहते हैं।

यह संसार मन से उत्पन्न हुआ है। ज्ञान से मन का नाश हो जानेपर उसके कार्य ममता, अहन्ता, संसृति, उपदेश्य, उपदेशादि, बन्ध और मोक्ष कहाँ किससे उत्पन्न हो सकते हैं ॥२६॥

अब उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारियों के भेद से तीन मोक्ष के साधन हैं, यह शास्त्रार्थों के तात्पर्यसंग्रह द्वारा दिखलाते हैं।

एक तत्त्व का (परब्रह्म का) दृढ अभ्यास, प्राणों का विलय तथा मन का विनिग्रह – यही मोक्षशब्द के अर्थ का संग्रह है यानी ये ही तीन मोक्ष के साधन हैं, यह सब शास्त्रों का निचोड़ है ॥२७॥

इन तीनों में मध्यम के ऊपर श्रीरामचन्द्रजी आक्षेप करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, यदि मोक्ष का कारण प्राण का नाश ही है तब तो मैं समझता हूँ कि मरे हुए सभी प्राणी मुक्त हो जाते हैं ॥२८॥

उक्त तीनों भी उपाय मन के विनाश द्वारा ही मोक्ष के कारण होते हैं, मरण में मनोनाश या प्राणनाश नहीं होता, किन्तु वहाँ पर मूर्च्छाकाल में, विलीन सैन्धव की नाईं, अविद्या में वासनारूप से उनकी स्थिति रहती है और उत्क्रमणकाल में फिर उनका आविर्भाव हो जाता है। एवं 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' इस श्रुति से तथा तृणजलायुका का दृष्टान्त होने से विलीन प्राण चक्षु आदि द्वारों से निकल नहीं सकते। यदि शंका हो कि स्थूल देहरूप आश्रय न होने के कारण बाहर में निकले हुए प्राणों का विलय हो जायेगा तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि बाह्याकाश में साथ-साथ निकली हुई भूतमात्राओं से तात्कालिक व्यवहारयोग्य देह की कल्पना हो सकती है, इस आशय से वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इन तीनों उपायों में मनोविनाश ही मुख्य साध्य है। मनोविनाश जितना ही शीघ्र होगा उतना ही शीघ्र कल्याण होगा, यह आप जान लीजिये। प्राण जब घर-घर आदि शब्दों से शून्य इस शरीर का परित्याग करते हैं तब वासना एवं कर्म से होनेवाले भावी देहस्वरूप का अनुभव कर बाह्याकाश में उसी देह के उत्पादन में समर्थ भूतमात्राओं से वे सम्बन्ध करते हैं (📖) ॥२९,३०॥

(📖) इस विषय में श्रुति प्रमाण भी है – 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' 'तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते'

तब वे भूतमात्राएँ बाहर के अन्यजीवों के प्राणों के साथ सम्बद्ध क्यों नहीं होतीं ? इस शंका पर कहते हैं।

तत्-तत् जीववासनामात्रस्वरूप वे भूतमात्राएँ हैं। अतः उक्त वासनावाले मनोविशिष्ट प्राणों से ही वे सम्बद्ध होती हैं, दूसरों से नहीं, अतः उक्त शंका का प्रकृत में कुछ भी अवसर नहीं है। दूसरे शरीर में जो प्राण उत्पन्न होते हैं, वे पूर्व शरीर की वासनाओं से युक्त होकर ही उत्पन्न होते हैं। और पूर्व देह का जो परित्याग करते हैं, वे भी भावी देह की वासनाओं से युक्त होकर ही परित्याग करते हैं। देहान्तर में उसके हृदयाकाश और उसके अन्तर्गत वायुओं से उस प्रकार श्लिष्ट होते हैं, जिस प्रकार पुष्पों की गन्ध तिल में प्रविष्ट होकर तेल के साथ श्लिष्ट हो जाती है। इसी प्रकार यन्त्रनिष्पीडन दुःख की नाईं केवल दुःख ही है ॥३१,३२॥

इसलिए केवल मरण से न मनोनाश होता है अथवा न प्राणनाश ही होता है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ जलयुक्त घट जनों द्वारा न देखा गया भी नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार वासनायुक्त मन कभी भी नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य किरणों के बिना नहीं रहता, उसी प्रकार प्राण मन के बिना कभी उत्पन्न नहीं होते। ज्ञान के बिना उस प्रकार मन प्राणों को कभी नहीं छोड़ता, जिस प्रकार तित्तिर पक्षी तृण के बिना पहले तृण के अंग को नहीं छोड़ता। तत्त्वज्ञान से अवासनीभावरूप (वासनारहित हो जानारूप) अपने नाश को मन प्राप्त करता है और प्राण से स्पन्द को प्राप्त नहीं करता। परिशेष में शान्ति ही अवशिष्ट रहती है ॥३३-३५॥

ज्ञान से वासना का नाश कैसे होता है, इस शंका पर उसके हेतुभूत द्वैत के बाध से, यह उत्तर देते हैं।

ज्ञान से सभी पदार्थों में असत्यत्व भलीभाँति पहले सिद्ध हो जाता है और तदनन्तर हे भद्र, वासना के विनाश से प्राण और चित्त का विनाश हो जाता है। अनन्तर प्रशान्त मन फिर देहरूपता नहीं देखता, अपने (मन के) विनाश से ही पूर्ण पद प्राप्त हो जाता है, अतः मुनिगण वासना को ही मन जानते हैं। यतः चित्त का स्वरूप केवल वासना ही है, अतः (तत्त्वज्ञान से) चित्त का बाध हो जाने पर उत्तम स्थिति प्राप्त हो जाती है। तत्त्वज्ञान भी वासना के साथ-साथ सभी पदार्थों का बाध करते आत्मतत्त्वरूप बन जाता है और आत्मतत्त्व भी अविचल ज्ञानरूप ही है, यह अनुभवी विद्वानों का मत है। हे रामभद्र, इन सब बातों से निचोड़ यह निकला कि रज्जु में सर्पभ्रम के सदृश मिथ्यारूप इस संसार का स्वयं ही विवेकज्ञानमात्र से अच्छी तरह विनाश हो जाता है ॥३६-३९॥

अब प्रस्तुत विषय का अवलम्बन करते हैं।

भद्र, श्रवण आदि से अद्वय तत्त्व का अभ्यास, प्राणनिरोध और मनोविनाश – ये जो तीन उपाय हैं, इनमें से किसी एक की ही सिद्धि हो जाने पर एक दूसरे सिद्ध हो जाते हैं। ताल के पत्तों से निर्मित पंखे का स्पन्द जब शान्त हो जाता है, तब अपने-आप जैसे पवन शान्त हो जाता है, वैसे ही जब प्राणरूप वायु का स्पन्दन शान्त हो जाता है, तब मन भी अपने-आप शान्त हो जाता है ॥४०,४१॥

देह के अस्तित्व में जब प्राण का उत्क्रमण हो तब आपका यह क्रम भले ही रहे परन्तु शाप, छेदन आदि से जब देह का अस्तित्व ही न हो तब कौन-सा क्रम माना जायेगा ?

शरीर का विलय हो जाने पर बाह्याकाश में अवस्थित वायु में मिल जाने के कारण प्राण

बाह्याकाशस्थ वायुरूप हो जाते हैं और वहाँ पर (बाह्याकाश में) वासनानुसार ही इन सब पदार्थों को देखते हैं। बाह्याकाश में देहशून्य प्राण मनसे युक्त होकर कर्मजनितवासनारूप जिस तरह के पशु-पक्षी, मनुष्य आदि शरीरों को देखते हैं, उसी तरह के व्यवहारों का भी अनुभव करते हैं। जैसे वायु का चलन रुक जाने पर गन्ध रुक जाती है, वैसे ही मन का चलन रुक जाने पर प्राण-वायुओं का चलन भी रुक जाता है। हे रामभद्र, सब प्राणियों के प्राण और चित्त दोनों उस प्रकार एक दूसरे से निरन्तर मिले-जुले रहते हैं, जिस प्रकार आक्रान्त कुसुमसुगन्धवाले तिल और तेल एक दूसरे से निरन्तर मिले-जुले रहते हैं। मन का जो चलन है, वही प्राण है और प्राण का जो चलन है, वही मन है, क्योंकि रथ और सारथि की नाईं वे दोनों एक दूसरे के स्पन्दन का सम्पादन करते हैं। आधार और आधेय के सदृश अर्थात् अग्नि और उष्णता के सदृश दोनों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर मन और प्राण दोनों विनष्ट हो जाते हैं और अपने विनाश के द्वारा वे दोनों एक महान् मोक्षनामक कार्य सम्पादन कर देते हैं। अद्वय ब्रह्मतत्त्व के घनीभूत (दृढ़) अभ्यास से वासनाशून्य हुआ मन पर्याप्तरूप से शिथिल हो जाता है और इससे प्राण भी शिथल हो जाता है, क्योंकि प्राण का स्वभाव मन के साथ मिल जाना ही है। रामभद्र, जो असीम आत्मतत्त्व है उसका विचारकर पहले आप मन को तद्रूप बना डालिये, फिर तो उस आत्मतत्त्व में मन के लय से वह आत्मरूपता ही स्थिर हो जाती है। अज्ञान और अज्ञानबाधक ब्रह्माकारवृत्ति-इन दोनों की भी निवृत्ति हो जाने पर जो अत्यन्त कल्याणरूप चिन्मात्र अवशिष्ट रह जाता है, उस चिन्मात्रस्वरूप अवशेष ब्रह्म में आप प्राणधारण द्वारा स्थिर हो जाइए ॥४२-५०॥

कितने काल तक एकतत्त्व में भावना करनी चाहिए, इस पर कहते हैं।

भद्र, एक सुदृढ़ आत्मतत्त्व में तब तक तदाकारवृत्तिधारा करनी चाहिए जब तक कि वह वृत्तिधारा अभ्यासजनित अन्तिम साक्षात्कार से पूर्व अभावरूप न बन जाय। निग्रहवृत्ति से युक्त पुरुषों का चित्त, आहारक्षय से शरीरक्षय की नाईं, स्वयं ही प्राणों के साथ विलीन हो जाता है और परमतत्त्व अवशिष्ट रह जाता है ॥५१,५२॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन योग के पाँच अंगों से पहले मन के बाह्याकार का विनाश हो जाने पर, अनन्तर धारणा, ध्यान और समाधि – इन तीनों से ब्रह्मैकाग्रता की प्राप्ति द्वारा निर्विकल्प समाधि के परिपाक से ब्रह्मरूपता की सिद्धि हो जाती है।

चित्त जिस किसी वस्तु में रम जाता है, तद्रूप ही वह शीघ्र बन जाता है, अतः दीर्घकाल तक आत्मतत्त्व के अभ्यासस्वभाव से वह समस्त विशेषों से शान्त होकर निर्विशेष ब्रह्मरूप ही हो जाता है। जो कभी सुना नहीं गया है, जो कभी माना नहीं गया है, उसमें ध्यान, धारणा, आदि से अभ्यास नहीं हो सकता, इसलिए श्रवण और मनन से पहले 'समस्त द्वैतप्रपंच अविद्यारूप ही है, यह सर्वथा असत् है, तत्त्वज्ञान से ही आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है', इसका तब तक परिज्ञान करे जब तक कि प्रमाणप्रमेय के असम्भावनादि दोष निरस्त न हो जाय। अनन्तर ध्यान, धारण आदि से ज्ञानाभ्यास करना चाहिए। चित्त के शान्त हो जाने पर यह संसाररूपी मृगतृष्णा उस प्रकार विलीन हो जाती है, जिस प्रकार शरत्-काल में मेघमण्डल के शिथिल हो जाने पर मेघ मण्डल से आगत तन्मय कुहरा

विलीन हो जाता है। हे रामजी, केवल चित्त तो अविद्यारूप है, इसलिए ब्रह्माकार से परिणत चित्त से ही उसका विनाश कीजिये। चित्त के क्षय का असली स्वरूप चित्ताधिष्ठान आत्मा ही है, शून्यता नहीं; इसलिए चित्त का अभाव परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता। यदि परमपद में चित्त मुहूर्तमात्र भी विश्रान्त हो जाय, तब तो वह ब्रह्मरूप में ही परिणत हो गया, यह आप जान लीजिए। अध्यस्त पदार्थ का अधिष्ठान से पृथक् स्वरूप नहीं होता, इसलिए ब्रह्मरूप अधिष्ठान में ही निरतिशय स्वप्रकाश और आनन्द का अनुभव कर रहा वह कभी भी व्युत्थान नहीं चाहता (卐) ॥५३-५७॥

यही प्रस्तुत सांख्य और योग का अभिन्न फल है, यह कहते हैं।

हे रामभद्र, यदि आपका चित्त सांख्योपाय से या योगोपाय से क्षणमात्र भी परमपद में विश्रान्त हो चुका है तो वह सत्त्वरूप बन गया है; फिर वह इस संसार में आनेवाला नहीं है ॥५८॥

अब महाराज वसिष्ठजी स्वयं ही सत्त्वशब्द का निर्वचन करते हैं।

जिसमें से अविद्या गल चुकी है, ऐसा विशुद्ध चित्त सत्त्वशब्द से कहा जाता है। जिसमें संसारबीज वासना दग्ध हो गयी है वह चित्त फिर कभी भी ब्रह्मरूपता से विच्छेद नहीं करता ॥५९॥

सांख्ययोग द्वारा आत्मदर्शन में तत्पर मनुष्य विरले ही हैं, ऐसा कहते हैं।

कोई एक-आध ही-जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है, जो सत्त्वभाव में अवस्थित है, जो वासनारहित हो चुका है-परमतत्त्व को, जो अज्ञानियों की दृष्टि में शून्योपम और ज्ञानियों की दृष्टि में (📖) ज्योतिःस्वरूप है, देखता है और तत्काल मुक्त हो जाता है ॥६०॥

उक्तार्थ का ही अनुवादपूर्वक उपसंहार करते हैं।

हे भाग्यवान्, पूर्वोक्त तीनों उपायों के अभ्यास से जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिरूप भ्रान्ति और तज्जनित अन्य-अन्य दर्शनों से रहित तथा अविद्या के विनाश से दग्धवस्त्र के सदृश प्रतिभासमात्ररूप से स्वयं अवशिष्ट मन जीवन्मुक्तावस्था में 'सत्त्व' कहा जाता है। वह वासनारूप बीजशक्ति के विनष्ट हो जाने से राग-द्वेष, अभिमान आदि कलाओं से मलिन संसारपद को उस प्रकार प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार पारसमणि के सम्बन्ध से सुवर्णरूपता को प्राप्त हुआ ताम्र फिर कलंकरूप कला से मलिन ताम्ररूपता को प्राप्त नहीं होता ॥६१॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

(卐) इस विषय में शिवधर्मोत्तर में कहा है : ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्। विहाय सर्वकार्याणि मनस्तत्रैव धावति ॥ (जिस मन ने एक बार भी ज्ञानरूपी अमृतरस का पान कर लिया है वह मन सब कार्य छोड़कर वहीं पर दौड़ता है।)

(📖) जो पुरुष अज्ञानी हैं, वे भ्रम आदि अनेक दोषों से दूषित होने के कारण विद्यमान वस्तु को भी असम्भावना, विपरीत भावना आदिवश अविद्यमान एवं शून्योपम ही समझते हैं, उसमें तनिक भी आस्था नहीं करते और जो पुरुषधुरीण प्रणिपात, परिप्रश्न आदि से विधिवत् गुरुसमीप में जाकर अज्ञाननिवृत्त्यर्थ प्रयत्न करते हैं; वे दयालु गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग से श्रवण, मनन आदि द्वारा असम्भावना आदि समस्त दोषों को दूर कर अज्ञानकाल में प्रतीयमान अविद्यमान वस्तु को भी ज्ञानकाल में विद्यमान एवं ज्योतिःस्वरूप समझते हैं। इन द्विविध पुरुषों की दृष्टियों का अवलम्बनकर एक ही वस्तु को शून्योपम और ज्योतिःस्वरूप कहा गया है।

सत्तरवाँ सर्ग

चैतन्यात्मा की शुद्धि के लिए अज्ञानजनित भ्रान्तिपरम्परा में किसी एक वेताल और राजा का संवादकथन।

'चित्ते शान्ते शाम्यतीयं संसारमृगतृष्णिका' इससे संसाररूपी मृगतृष्णा की शान्ति में जो चित्त शान्तिरूप उपाय बतलाया गया है उस चित्तशान्ति में ज्ञान के आविर्भावतक किया गया विचार ही हेतु है।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, तत्त्वविचार से जीव तत्काल अजीवरूप हो जाता है और चित्त अचित्तरूप हो जाता है; इसलिए विचाररूप उपाय से उत्पन्न हुआ कार्य–कारणरूप अविद्या का विनाश मोक्ष है, यह तत्त्वज्ञानियों द्वारा कहा जाता है ॥१॥

उक्त अर्थ की असम्भावना में हेतुभूत जो प्रपंच में दृढ़ताभ्रम है, उसका निवारण करते हैं।

मृगतृष्णाजल की नाईं असद्रूप ही मन तथा अहन्ता आदि प्रपंच क्षणभर के लिए ही दिखाई पड़ते हैं और उक्त विचार से विलीन हो जाते हैं ॥२॥

'असदेव मनागेव' इस अर्थ का समर्थन करने के लिए कथा का आरम्भ करते हैं।

भद्र, इस संसाररूपी स्वप्नविभ्रम में वेताल द्वारा क्रिये गये इन उत्तम प्रश्नों का आप श्रवण कीजिये, जो प्रसंगवश स्मृतिगोचर हुए हैं ॥३॥ विन्ध्याचल की महाटवी में एक दीर्घाकृति वेताल था। किसी समय वधयोग्य अज्ञानीजनों में अनादर के कारण उनको मार डालने की इच्छा से वह किसी मण्डल में गया ॥४॥

संक्षेपतः प्रतिज्ञात वस्तु का विस्तार करने के लिए पुनः पहले से आरम्भकर कहते हैं।

पहले वह वेताल किसी एक सज्जननामक राजा के देश में रहता था। उस किरातराज्य में ककड़ी की नाईं राजा द्वारा किये गये अनेक वध्यजनों के बलियों के उपहार से सदा तृप्त होकर किसी प्रकार के विक्षेप के बिना समाधिसुख में चूर रहता था। किसी कारण के बिना सामने आये हुए निरपराधी पुरुष को वह क्षुधित होने पर भी मारता नहीं था, क्योंकि सन्त पुरुष न्याय के ही दर्शक होते हैं। किसी समय की बात है कि जंगल में वध्यजन उसे प्राप्त न हुए। उस समय अरण्यवासी वह वेताल क्षुधा से प्रेरित होकर न्यायप्राप्त मनुष्य का भक्षण करने के लिए नगर के भीतर चला गया। उस नगर में, मध्य रात में दुष्टजनों के परिज्ञान और चोर आदि के विनाश के लिए कर्तव्यार्थ निकला हुआ राजा उसे मिला। उस राजा से यह उग्र निशाचर घनघोर शब्द से कहने लगा। वेताल ने कहा : हे राजन्, इस समय मुझ भयंकर वेताल के द्वारा तुम पकड़ लिये गये हो। कहाँ जा रहे हो ? अब तुम मर गये। आज तुम मेरा भोजन बन जाओ। राजा ने कहा : हे निशाचर, यदि यहाँ बलपूर्वक अन्यायमार्ग से मुझे खा जाओगे तो तुम्हारा मस्तक हजारों टुकड़ों में फट जायेगा, इसमें तनिक भी सन्देह तुम्हें नहीं करना चाहिए। वेताल ने कहा : हे राजन्, मैं तुम्हें अन्यायपूर्वक नहीं खाऊँगा, परन्तु तुम्हें मैं यह न्याय बतलाता हूँ कि तुम राजा हो, इसलिए तुम्हें अर्थियों के सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करने चाहिए ॥५–११॥

यदि यह राजा अज्ञानी होगा तो उसमें सैकड़ों अपराध मिल सकते हैं और यदि ज्ञानी होगा तो वह अपराध कर ही नहीं सकता। सैकड़ों अपराध होने पर भी ज्ञानी की रक्षा करनी चाहिए, ऐसा मन में

निश्चय कर वेताल राजा की परीक्षा करने के लिए प्रश्नोत्तर की प्रार्थना करता है।

हे राजन्, मेरी इस अर्थिता को, जिसका अर्थ बाधित नहीं है, आप ठीक तरह से पूर्ण कीजिये। मैं जिन प्रश्नों का कथन कर रहा हूँ इन का भलीभाँति व्याख्यान कीजिए। भद्र, किस सूर्य की किरणों के ये ब्रह्माण्डरूपी छोटे अणु हैं और किस पवन में महागगनरूपी त्रसरेणु परिस्फुरित होते हैं ? एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जा रहा पुरुष पहले के सैकड़ों या हजारों स्वप्नों की सत्यता छोड़ता हुआ भी किस प्रकाशक स्वच्छ सत्यात्मस्वरूप का परित्याग नहीं करता ? जिस प्रकार केले का खम्भा भीतर के भी भीतर और उसके भी भीतर बार–बार (देखने से) केवल वल्कलमात्र ही रहता है, दूसरा नहीं, उसी प्रकार सबके भीतर के भीतर और उसके भी भीतर ऐसा कौन अणु है, जो प्रकाशक स्वच्छ आत्मस्वरूप है ? ब्रह्माण्ड, आकाश, भूतों के आधारभूत भुवन, सूर्यमण्डल तथा मेरू–ये सब जो बड़े–बड़े महान् पदार्थ प्रसिद्ध हैं–ये अणुत्व धर्म न छोड़नेवाले ऐसे किस अणु की (सूक्ष्म की) अपेक्षा अत्यन्त क्षुद्र पदार्थ हैं ? किस परमाणु महागिरि की (स्वयं सूक्ष्म होते हुए भी महान् पर्वत की), जो असल में निरवयव ही है, शिला के भीतर यह त्रिजगती है, जिसका सार घनीभूत अव्यभिचरित सत्तामात्र है। यदि इन छः प्रश्नों का उत्तर मुझे न दोगे, तो हे देहात्मबुद्धे, हे आत्मघातक, तुम्हें पहले फल की नाईं निगलकर फिर तुम्हारे मण्डलस्थजनों को बलपूर्वक प्राप्त कर उन्हें उस प्रकार निगल जाऊँगा, जिस प्रकार यमराज जगत् को निगल जाता है ॥१२–१८॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

इकहत्तरवाँ सर्ग

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूप फल और वृक्ष आदि की कल्पनाओं से सविस्तर प्रथम प्रश्न का समाधान।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामभद्र, जब ऐसा कहकर वेताल चुप हो गया तब हँसकर (📖) वह राजा, जिसके वस्त्र और आकाश दाँतों की किरणों से धवल हो गये थे, वचन बोला ॥१॥

'कस्य सूर्यरश्मीनाम्' इत्यादि प्रथम प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहले वेताल का पाण्डित्याभिमान निरासकर रहे राजा कुछ कल्पना चमत्कार बतलाते हैं।

राजा ने कहा : हे वेताल, किसी समय यह (तुम्हारा और मेरा आधार) जीर्णताशून्य ब्रह्माण्डरूपी फल उत्तरोत्तर दशगुण पृथिवी, जल आदि आवरणों से वेष्टित था ॥२॥

१–यह ब्रह्माण्ड, २–ऐसे–ऐसे सैकड़ों ब्रह्माण्ड जिनके पेट में हैं–ऐसे पंचीकृत महाभूत, ३–ये महाभूत जिसके पेट में है वह गन्धतन्मात्रा, ४–७ उत्तरोत्तर गन्धादिमात्राओं को पेट में रखनेवाली रसादिमात्राएँ, ८–तन्मात्राओं को उदर में रखनेवाला हिरण्यगर्भ का मन, ९–अतीत और अनागत अनन्त पदार्थों को पेट में रखनेवाली भूतमात्राओं की राशियाँ, १०–इनको पेट में रखनेवाले कल्पकाल, ११–१३ इनको उत्तरोत्तर गर्भ में रखनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के आयुकाल, १४–इन अनन्तकोटि

(📖) प्रसिद्ध ब्रह्माण्डों में त्रसरेणुत्व जो तुमने कहा, वह तो अत्यन्त साधारण बात कही, किन्तु कही जानेवाली कल्पना के अनुसार जिन गर्भ में कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड हैं, उनमें भी त्रसरेणुत्व है, इस आशय से वेताल के कथन पर राजा को कुछ हँसी आ गयी।

पदार्थों में सत्तास्फूर्ति व्यवहार का प्रवर्तक मायाशबल ब्रह्म–इन चौदह पदार्थों का यहाँ पर क्रम से फल–शाखा आदि कल्पनाओं द्वारा निर्देश करते हैं।

वैसे हजारों फल जहाँ विद्यमान हैं और उन्हींके अनुरूप चंचल पल्लवों की नाईं भुवनों से युक्त वहाँ पर बड़ी ऊँची एक शाखा है। दस, बीस शाखाएँ नहीं हैं किन्तु उस प्रकार की बड़ी–बड़ी हजारों शाखाएँ जहाँ विद्यमान हैं, ऐसा पामरों द्वारा दुर्लक्ष्य विपुलाकृति एक महान वृक्ष है। इसी प्रकार के हजारों वृक्ष जिसमें हैं ऐसा एक वन है, जिसमें ऊँचे–ऊँचे असीम वृक्ष और गुल्म विद्यमान हैं। और उसी प्रकार के हजारों वन जहाँ पर हैं ऐसा, उन्नत शिखरों से युक्त चारों ओर से परिपूर्ण आकारवाला एक विशाल पर्वत है। वैसे हजारों जहाँ पर पर्वत हैं ऐसा अत्यन्त विस्तीर्ण विपुल कोटरवाला एक देश है। वैसे हजारों देश जहाँ पर विद्यमान हैं ऐसा बड़े–बड़े हृद और नदियों से युक्त एक बहुत बड़ा द्वीप है। वैसे अनन्त द्वीप जिसमें हैं ऐसा एक महीपीठ है, जिसमें चित्रविचित्र नामादिक रचनाएँ विद्यमान हैं। उस प्रकार के हजारों महीपीठ जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक अत्यन्त विस्तृत महाभुवनरूप प्रपंच है। उस तरह के असंख्य महाभुवन जिसमें विद्यमान हैं ऐसा विस्तृत आकाशपीठ के सदृश एक महान प्रचण्ड अण्डा है। इस–इस तरह के असंख्य अण्डरूपी करण्डक जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक चंचलतारहित असीम जलनिधि–एक सागर है। उस तरह के लाखों सागर जिसमें कोमल तरंगरूप हैं, ऐसा एक अपने स्वरूप में विलास करनेवाला निर्मल महार्णव है। उस प्रकार के हजारों महार्णव जिसके उदर के जलरूप हैं, ऐसा एक कोई बड़ा भारी परिपूर्णाकृति पुरुष (विष्णु) है। ऐसे–ऐसे लाखों पुरुषों की माला जिसके वक्षःस्थल में अवस्थित है ऐसा एक परम पुरुष (रुद्र) है, जो सब सत्ताओं का प्रधान यानी आधारभूत अधिष्ठान है। इस प्रकार के महान् आत्मशाली असंख्य पुरुष जिसके मण्डल में शरीररोमजाल के (🔔) सदृश स्फुरित हो रहे हैं, ऐसा एक महान् आदित्य है। पराग् दृष्टिवाले जीवों मे रुद्र से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त होनेवाले जो कोटि–कोटि प्रतिभास हैं ये ही सब प्राणियों को प्रत्यक्ष इस आदित्य की रश्मियाँ हैं। इसी आदित्य की दीप्तियों के ब्रह्माण्ड ही त्रसरेणु हैं। मैंने तुमसे जिस सूर्य का कथन किया था वह यही चित्सूर्य है और इसके प्रभाव से सारा जगत् प्रकाशित होता है। हे वेताल, पूर्वोक्त असंख्य पदार्थ जिससे प्रकाशित होते हैं, ऐसा विज्ञानस्वरूप परमसूर्य है और ये जो विस्तृत ब्रह्माण्ड हैं, वे उसी सूर्य के त्रसरेणु हैं। सर्वोत्तम विज्ञानरूपी सूर्य की दीप्ति से ही, कहीं साधारण सूर्य से दिनलक्ष्मियों के सदृश, ये जगद्रूपी दिवालक्ष्मियाँ स्फूर्ति और सत्ता प्राप्त करती हैं। हे वेताल, मैंने जिस मायाशबल ब्रह्म का वर्णन किया है, उस त्रैलोक्यमण्डपमणि के (सूर्य के) पारमार्थिक स्वरूपभूत, मुख्य अधिकारियों में शास्त्रजनित अखण्डाकार साक्षात्कारमात्र द्वारा

(🔔) जैसे साधारण पुरुष के शरीर में उत्पद्यमान रोम अत्यन्त छोटे हैं, उनके स्वल्पतम परिमाण की शरीर–परिमाण से तुलना नहीं हो सकती, ठीक वैसे ही व्यापकशरीर आदित्यवत् प्रकाशमान आत्मा से उत्पद्यमान असंख्य पुरुष रोम के सदृश अत्यन्त छोटे हैं, उनके परिमाण की उस आत्मारूपी आदित्यपरिमाण से तुलना नहीं हो सकती, यह बतलाने के लिए 'स्वतनूरुहजालवत्' कहा। श्रुति भी है–'यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीहविश्वम्' जैसे जीवित चेतन पुरुष से अचेतन केश उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षर चेतन से अचेतन केशवत् विश्व उत्पन्न होता है।

स्वात्मरूप से प्रकाशित हो रहे, अनधिकारी जन्तुओं में स्पष्टरूप से प्रकाशित न हो रहे इस प्रत्यगात्मा में, चिनगारियों के सदृश काल्पनिक जीव जगत् की पृथक् सत्ता और कर्तृत्व–भोक्तृत्व आदि असंख्य संभ्रमों के उल्लेख हैं। वास्तव में परमार्थदृष्टि से तो तनिक भी परमात्मा में भ्रम का अवकाश नहीं है, इसलिए तुम निरर्थक प्रश्नों का आडम्बर छोड़ दो ॥३–२१॥

इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

बहत्तरवाँ सर्ग

उत्तर सुनने के लिए सावधान वेताल को राजा द्वारा अवशिष्ट पाँच प्रश्नों का क्रमशः उत्तर देना।

इस तरह प्रथम प्रश्न का उत्तर देकर 'कस्मिन् स्फुरति पवने महागगनरेणवः' इस द्वितीय प्रश्न का राजा समाधान करते हैं। उसमें 'महागगनरेणवः' इस पद में स्थित गगनशब्द से तुम प्रसिद्ध आकाश का ग्रहण करो अथवा 'महत्' पद से विशेषित होने के कारण गौणीवृत्ति से महाकालस्वरूप चित्संवलित महाकाश का ग्रहण करो या स्पन्दशक्तिप्रधान सूत्रात्माकाश का ग्रहण करो अथवा उससे निर्मुक्त शुद्धचिदाभासस्वरूप जीवाकाश का ग्रहण करो या और किसी दूसरे का ग्रहण करो, फिर भी उन सभी विकल्पों में अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण तत्–तत् सत्ता का ही तुमने महागगनरेणुरूप से वर्णन किया है, यह कहते हैं।

राजा ने कहा : हे वेताल, कालसत्ता, आकाशसत्ता, क्रियाशक्तिप्रधान सूत्रात्मा की सत्ता तथा क्रियाशक्तिप्रधान चेतन से निर्मुक्त जो चिदाभासरूप शुद्ध चेतन है, उसकी चिन्मयी सत्ता–इत्यादि सब सूक्ष्म होने से निर्दोष रज है, वह परमात्मारूपी महावायु में कल्पित अनेक विकारों से चंचल होकर स्फुरति होता है।

सकल पदार्थों में अनुगत सत्तारूप जब परमात्मा ही है, तब परमात्मारूपी महावायु में कालादि की सत्ता स्फुरित होती है –इस तरह अभिन्न में आधारआधेयभाव का व्यपदेश (निरूपण) कैसे हुआ ? यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

जैसे पुष्प स्वयं अपने अंग मे आमोदनामक भेद की (सुगन्ध की) अपने ही द्वारा कल्पना कर पुष्पों में आमोदरूपवाला वह आधेयरूप से अवस्थित है वैसे ही परमात्मसत्ता ही अपने कालादिसत्ता के भेद की कल्पना करके अवस्थित है ॥१,२॥

'स्वप्नात् स्वप्नान्तरं गच्छन्' इत्यादि तृतीय प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

'जगत्'नामक महास्वप्न में एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जा रहा तत्–तत् स्वप्नगत दोषों से शून्य अर्थात् असंगज्योतिरूप ब्रह्म बोधमात्र से ही शान्तत्व को बढ़ानेवाले अपने रूप को नहीं छोड़ता ॥३॥

'रम्भास्तम्भो यथा पत्रम्' इस चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं।

जैसे केले का स्तम्भ भीतर–भीतर ज्यों–ज्यों नोंचा जाता है त्यों–त्यों उसमें केवल पत्र ही मिलता जाता है वैसे ही ब्रह्म में विवर्तनशील तथा अवान्तर कारणों में परिणामशील यह विश्व ज्यों–ज्यों भीतर–भीतर देखा जाता है, त्यों–त्यों उसमें ब्रह्ममात्र मिलता जाता है अतः वह अणु है ॥४॥

विवर्तभूत जगत् के बृंहण (विकास) आदि में निमित्त होने से ही वह परमात्मा सत्, ब्रह्म, आत्मा

आदि शब्दों का विषय है, वस्तुतः वह सब धर्मों से शून्य होने के कारण सत्, ब्रह्म आत्मा आदि शब्दों का विषय नहीं है।

विवर्तभूत जगत् आदि में निमित्त होने पर वह परमात्मा सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों से कहा जाता है और सर्वधर्मातीत होने से 'शून्यम्, अव्यपदेश्यम्' आदि शब्दों से कहा जाता है, इसलिए कुछ है और कुछ नहीं भी है यानी विषय और अविषय दोनों है। अतएव पटसत्ता तन्तुसत्ता में, तन्तुसत्ता कपास की सत्तामें, कपास की सत्ता कपास के फल की सत्ता में, फल की सत्ता गुल्म की सत्ता में और गुल्म की सत्ता बीज, मिट्टी, जल आदि की सत्ता में पर्यवसित होती है–इत्यादि क्रम से जो–जो सत्ता विभावित होती है यानी जिस–जिस सत्ता की भावना की जाती है वह सब तत्–तत् अनुभव से निर्मित आकारों को छोड़कर अन्त में केले के स्तम्भ के तुल्य तत्–तत् अनुभवरूप चिन्मात्र में ही पर्यवसित होती है, इसलिए जगदाकार से वही एक निर्मल चिन्मात्र वस्तु विस्तृत हुई है ॥५,६॥

अणुपद की प्रवृत्ति में कारण बतलाते हैं। सूक्ष्म तथा अलभ्य होने के कारण परमात्मा परमाणुस्वरूप है। इस तरह परमात्मा के सूक्ष्म होनेपर भी उसके पूर्णस्वरूपता में कुछ भी हानि नहीं आती, इसलिए ब्रह्माण्डादि भी उस परमात्मा की दृष्टि से यानी उस परमात्मा की अपेक्षा अतिपरिच्छिन्न होने के कारण परमाणुप्राय ही हैं। इस रीति से 'ब्रह्माकाशभूतौध०' । इस पंचम प्रश्न का भी उत्तर हो गया, इस अभिप्राय से कहते हैं।

अनन्त होने के कारण परमात्मा ही मेरूपर्वतपर्यन्त ब्रह्माण्ड आदि का आधार हुआ है। परमाणुस्वरूप होते हुए भी अनन्तात्मक इस पुरुष के (परमात्मा के) ब्रह्माण्ड से लेकर मेरुपर्यन्त पाँचों पदार्थ परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म तत्–तत् आकारों की वृत्तियों से परिच्छिन्न चितिकणों से परिच्छेद्य होने के कारण स्वाप्निक ब्रह्माण्ड की नाईं स्वरूपरहित हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म नाडियों के छिद्रों में भासमान होने के कारण परमाणु के सदृश हैं ॥७,८॥

'कस्याऽनवयवस्यैव परमाणुमहागिरेः' इस छठे प्रश्न का उत्तर देते हैं।

चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्राह्य न होने से यह परमात्मा परमाणु है, लेकिन पूरक होने से चारों ओरसे व्याप्त महापर्वत है (卐)। यह परमात्मा (पुरुष) अध्यारोपदृष्टि से मूर्त और अमूर्त सर्वविध पदार्थों का अवयवस्वरूप होता हुआ भी 'नेति–नेति' इस अपवाद से अवयवों से शून्य है ॥९॥

'शिलान्तर्निबिडैकान्तरूपमज्जा जगत्त्रयी' इस अंश को प्रकट करते हैं।

हे साधो, यह जगत्त्रयी ज्ञानमात्र परमात्मा की केवल मज्जा है, क्योंकि 'द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्यादि श्रुतियों में हृदयाकाशरूप विज्ञानमात्र का मध्य मज्जा की नाईं प्रसिद्ध है, यह समझ लो। हे अज्ञानी वेताल, ये जो जगत् हैं वह विज्ञानस्वरूप आत्मा के अनेकविध कौशलों का विलास है।

(卐) परमात्मा असल में न तो रुपादिमान् होकर महान् है और न रूपादिस्वरूप ही है, इसलिए चक्षु आदि इन्द्रियों से उसका किसी तरह भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस स्थिति में परमाणु में इन्द्रियग्राह्यत्व के सदृश इसमें इन्द्रियग्राह्यत्व नहीं है, यह बतलाने के लिए परमात्मा को 'परमाणु' कहा गया है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ परमात्मा की सत्ता न हो, सभी जगह परमात्मा की सत्ता है, इसलिए सबसे बड़ा होने के कारण महान् कहा गया है, यह तात्पर्य है।

अनन्तस्वरूप, शान्तस्वभाव एवं अत्यन्त सुकुमार उस मदुक्त आत्मविज्ञान का तुम खंडन नहीं कर सकते, इसलिए मेरे वचनों के अनुसार तुम स्वयं उक्तस्वभाव आत्मा को अपने अनुभव पर चढ़ाओ और दर्प छोड़कर शान्त हो जाओ ॥१०,११॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तिहत्तरवाँ सर्ग

वेताल के प्रश्नों का निर्णय देकर दूसरे भगीरथ के वृत्तान्त का कथन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, राजा के मुख से उस प्रकार प्रश्नों का समाधान सुनकर वेताल शान्त हो गया, क्योंकि विचारदक्ष बुद्धि से उसने अनुमान कर लिया कि राजा में तत्त्वज्ञता विद्यमान है। भद्र, मनोविकारों से निर्मुक्त होकर अनिन्दित आत्मा का मननकर और विषयक्षुधा भूलकर वह निश्चल समाधि में निरत हो गया। हे श्रीरामजी, आपको मैंने इन वेतालप्रश्नों का दिग्दर्शन कराया। भद्र, राजा द्वारा वर्णित उक्त क्रम से ही चिद्रूपी अणु में यह समस्त जगत् विद्यमान है। चिद्रूपी अणु के एक कोश में स्थित यह विश्व विचार के द्वारा, बालक द्वारा भ्रान्ति से कल्पित वेतालशरीर की नाईं, विलीन हो जाता है और जो परमार्थभूत पद (ꣳ) है, वह बच जाता है। हे रामजी, अविचल अन्तरात्मा से चित्त को सब विषयों की ओर से हटाकर परमात्मा में प्रतिष्ठित करते हुए शान्तबुद्धि आप निरीह (सर्वविध इच्छाओं से निर्मुक्त) होकर स्थित हो जाइये। हे मननशील रामजी, मन से ही मन को आकाश के सदृश विशद बनाकर एक वस्तु में समस्त वृत्तियों का लयकर उपरतचित्त और सर्वत्र ब्रह्मदर्शन से युक्त होकर स्थित हो जाइये। भद्र, निश्चलबुद्धि और मूढ़ता से शून्य होकर आप स्थिर रहिये। देहयात्रार्थ प्रारब्धवश प्राप्त हुए अर्थ से सन्तुष्ट (♣) रहनेवाले प्रयत्नशील पुरुष के लिए, भगीरथ राजा की नाईं, दुःसाध्य अर्थ भी प्राप्त हो जाते हैं। भद्र, जिसका पूर्णरूप से मन शान्त हो गया है, जिसकी वृत्तियाँ पर्याप्तरूप से तृप्त हो गयी हैं, जिसकी आनन्दघनस्वरूप सम ब्रह्म में निरन्तर निष्ठा है, उस महापुरुष को आखिर में दुर्लभतर भी अभीष्ट अर्थ उस प्रकार सिद्ध होते हैं, जिस प्रकार शान्ति आदि गुणविशिष्ट भगीरथ को सगरपुत्रों के लिए और समुद्र के लिए संजीवनमणिप्राय गंगाअवतरणरूप अत्यन्त दुर्लभ अर्थ सिद्ध हुआ ॥१–८॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

भगीरथ के गुण, उसकी विचारजनित चिन्ता और उसका
त्रितल के साथ हुआ संवाद–इन सबका वर्णन।

श्रीरामभद्र ने कहा : हे प्रभो, राजा भगीरथ को चित्त की पूर्णतादिरूप चमत्कृति से गंगाअवतरणरूप

(ꣳ) परमार्थभूत पद यानी प्राप्त करने योग्य त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूप स्थान।

(♣) शरीर की रक्षा के लिए अपने पूर्वकर्म के अनुसार जो भी कुछ प्राप्त हो जाय, उससे शरीर की रक्षामात्र करनी चाहिए और उसी प्राप्त अर्थ में सदा सन्तोष करना चाहिए।

दुःसाध्य अर्थ भी जिस रीति से सिद्ध हुआ वह मुझसे कहिए। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, चारों समुद्रों से युक्त पृथिवी का अत्यन्त धार्मिक एक भगीरथ नाम का राजा हुआ। वह अपनी कोशलमण्डली में तो तिलक के समान था ॥१,२॥

उसकी दान में प्रसिद्धि बतलाते हैं।

चन्द्रमा की नाईं प्रसन्न मुखवाले, चिन्तामणि के सदृश अभीष्ट अर्थों को देनेवाले इस राजा से याचक गण अपने संकल्प के उत्तरकाल में समीपगमन, शब्दोच्चारण आदि परिश्रम के बिना अभीष्ट अर्थ प्राप्त कर लेते थे। वह साधुओं की रक्षा के लिए निरन्तर धन देता था, आयस्थानों में से अपने धर्म के अनुसार प्राप्त हुए तृण को भी लेता था। वह अर्थियों के लिए तो कामधेनु सदृश था। वज्र के सदृश कठिन पदार्थों को छेदन करनेवाली ऊपर की मणि लोहे से बँधी दूसरी नीचे की मणि को – अपनी कान्ति से यन्त्रचक्रनेमि को चमकाती हुई – छेदकर तागे में गुँथने के योग्य जैसे बना देती है, वैसे ही राजा भगीरथ ने अत्यन्त बलशाली भी सब दुर्जनों के देशों पर आक्रमण द्वारा उनके मण्डलों को अपने प्रताप से उज्ज्वल एवं रथनेमि से चिन्हित बनाते हुए उनके शस्त्रास्त्रों को छीन करके उनके पैरों में बेड़ी पहनाकर उनकी काली करतूतों को एक तरह से नष्ट करके उन्हें गुणयुक्त बनाया था। धूम्ररहित अग्नि के समान शरीर की कान्ति से युक्त वह राजा प्रजाओं की रक्षा के लिए रात–दिन चारों ओर खूब घूमने–फिरने से स्वयं थका हुआ भी मनुष्यों के अधर्म में प्रवृत्ति की हेतुभूत घर की अन्धकारस्वरूप दरिद्रता का पूर्णरूप से उस तरह अपहरण करता था, जिस तरह रात की अन्धकाररूपी दरिद्रता का सूर्य। अपने प्रताप से जनित अग्निकिरणों की चारों ओर घनघोर वृष्टि करता हुआ वह शत्रुओं के ऊपर उस तरह प्रज्वलित रहता था, जिस तरह मध्याह्नकाल में सूर्यकान्तमणि से उत्पन्न अग्नि तृणादि के ऊपर प्रज्वलित रहती है। मृदु और शीतल स्पर्शवाला वह ब्रह्मतत्त्वज्ञानियों की सन्निधि में उनके चित्त को आह्लादित करता हुआ उस प्रकार पिघल जाता था, जिस प्रकार स्निग्ध चन्द्रमा की सन्निधि में चन्द्रकान्तमणि। उसने स्वर्ग और पाताल में बहनेवाले गंगा के प्रवाहरूपी जगत् के यज्ञोपवीत का तीसरा तन्तु इस पृथिवी पर गंगा के अवतरण से पूरा किया। उसने अगस्त्यमुनि से शोषित सागर को गंगा के प्रवाह से उस तरह पूरा किया, जिस तरह सब दिशाओं में एक छोर से दूसरे छोर तक भटक रहे दुष्पूरभूत याचकों के समूह को धन से पूरा किया। संसार के प्राणियों के द्रोही तथा ब्रह्मशाप से भस्मीभूत होने के कारण अधोगति को प्राप्त हुए अपने भाइयों को उस लोकबन्धु ने गंगारूपी सोपानपद्धति से अर्थात् गंगारूपी सीढ़ी लगाकर ब्रह्मलोक में पहुँचाया। अपनी तपस्या से ब्रह्मा, शंकर और जह्नु को प्रसन्न रखता हुआ वह अविच्छिन्न दृढ़ निश्चय से युक्त अपने मन से बार–बार क्लेश को प्राप्त हुआ।

हे श्रीरामजी, युवावस्था में वर्तमान आप ही के समान भयंकर इस लोकयात्रा का खूब विचार कर रहे उस राजा को युवावस्था में ही, अचानक मरुस्थल में लता की नाईं उत्तम वैराग्यरूपी चमत्कार से परिपूर्ण विचार की कणिका उत्पन्न हुई। वह राजा एकान्त में असमंजस में पड़कर व्याकुल होकर के इस संसारयात्रा का प्रतिदिन यों विचार करने लगा। फिर दिन और फिर वही रात, फिर वही सैकड़ों दान देना और लेना तथा सभी प्राणियों का वही भुक्त और नीरस कर्म दिखाई पड़ता है जिसे वे पुनः पुनः करते हैं, कोई अपूर्व कर्म तो दिखाई पड़ता नहीं, जिसका फल परम पुरुषार्थ हो। इस संसार में जिसके

प्राप्त हो जाने से दूसरा कोई प्राप्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहता, मैं उसी कृत को सुकृत समझता हूँ। अवशेष कर्म तो विसूचिका है यानी तत्-तत् फलप्राप्ति के साधनभूत किये गये कर्मों का फल विसूचिका की नाईं अशुद्धि से ग्रस्त दुःख ही है। पुनः पुनः पर्युषित अनविन कर्म कर रहा मूढबुद्धि प्राणी लज्जित नहीं होता। बुद्धिशून्य कोई प्राणी तो अवश्य ही बालक की तरह बार-बार एक ही कर्म करता रहेगा। इस तरह चिन्ता करने के अनन्तर संसार से अत्यन्त डरे हुए उद्विग्न मन होकर किसी एक दिन राजा भगीरथ ने अपने गुरु त्रितल से पूछा। भगीरथ ने कहा : विभो, खूब भ्रमण कर रहे जीवों के सारहीन राग, द्वेष आदि से युक्त सांसारिक व्यवहारों में तथा उन व्यवहारों के फलभूत इन स्वर्ग-नरक-मनुष्यादि-स्वरूप बड़े-बड़े जंगलों में भटक रहे हम सब अत्यन्त खिन्न हो गये हैं। भगवन्, संसार में फँसानेवाले जरा-मरण-मोहादिरूप सब दुःखों का अन्त कैसे होता है ? त्रितल ने कहा : हे पापशून्य राजन्, साधनचतुष्टयसम्पन्न श्रवण, मनन आदि उपायों के द्वारा चिरकाल से अभ्यस्त हुई विक्षेप और विभिन्नता से शून्य समाधि से तथा अनादिसिद्ध ब्रह्माकारवृत्ति से आविर्भूत विशेषरहित स्फुरित हो रहे, अखण्ड और व्याप्त प्रत्यक्तत्त्व के अवबोध से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, चारों ओर से ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, सब संशय तथा सब कर्म समता को प्राप्त हो जाते हैं। इसके बाद सुनो, हे राजन्, तत्त्वज्ञानियों ने शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही ज्ञेय बतलाया है और वह आत्मा सर्वव्यापी तथा नित्य है। न तो वह अस्त होता है और न उदय को ही प्राप्त होता है ॥३-२४॥

यों गुरु द्वारा उपदेश ग्रहण कर चुके राजा भगीरथ विवेक से अपने-आप आत्मतत्त्व का हृदय में पर्यालोचन करके आपाततः निश्चय कर उसमें विक्षेप होने के कारण चित्त की स्थिति न प्राप्त कर रहे, जिस अंश का उन्हें ज्ञान हो गया था उसे गुरुजी को निवेदन करके उसके स्फुट होने के तथा उसमें जो विक्षेप पड़ता है उसकी शान्ति में उपाय पूछते हैं।

भगीरथ ने कहा : हे मुनीश्वर, यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि चिन्मात्र, निर्गुण, शान्त, निर्मल और अच्युत आत्मा है तथा देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्यापर्यन्त अन्य कुछ भी आत्मा नहीं है – यह भी आपके वचन में विश्वास होने तथा अपने अनुभव से मैं जानता हूँ ॥२५॥

अभान का उपपादक जो अज्ञानांश तथा अन्य का अवभासक जो विक्षेपांश है वह नष्ट नहीं हुआ है, यह दिखलाते हैं।

किन्तु सत् और असत् के विवेकज्ञान के बीच में पहली सदात्मबोधरूपा जो मेरी प्रतिपत्ति है (सत्स्वरूप आत्मा के बोध में जो मेरा ज्ञान है) वह हस्तगत आमलक की तरह बिलकुल स्पष्टता को प्राप्त नहीं हो रही है, (स्थिर प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं हो रही है) इसमें क्या कारण है ? भगवन्, मैं किस उपाय से सम्पूर्ण विक्षेपों की शान्ति से युक्त केवल चिन्मात्रानुसन्धानमय होऊँ ? (कृपाकर उस उपाय को बतलाइये) ॥२६॥

राज्यादि में अभिमान होने से तत्-तत् विषयों में चित्त के बराबर दौड़ते रहने के कारण भगीरथ को विक्षेप होता है, इसलिए अभिमान आदि के प्रबल होने से ही उन्हें स्पष्ट आत्मज्ञान नहीं हो पाता, यह निश्चय करके भगीरथ के गुरु त्रितलजी महाराज गीतोक्त अमानित्वादि साधनों का उपदेश देते हैं।

त्रितल ने कहा : हृदयाकाश में यह चित्त अमानित्वादि ज्ञान से 'ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि' इत्यादि

भगवान् द्वारा दिखलाये गये ज्ञेय में स्थिरता प्राप्त करता है यानी ज्ञेय में स्थिर हो जाता है। उसके अनन्तर पूर्णस्वभाव होकर यह जीव फिर उत्पन्न नहीं होता अर्थात् पूर्णस्वभाव से च्युत नहीं होता ॥२७॥

अमानित्व आदि में से कुछ साधनों को पृथक्कर उनका अनुवाद और व्याख्यान करते हैं।

विषयों में आसक्ति का (राग का) अभाव; पुत्र, स्त्री, घर, धन आदि विषयों में ममता का अभाव तथा इष्ट या अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति में निरन्तर हर्ष और विषाद का अभाव ॥२८॥

'मयि चाऽनन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' इसका तात्पर्यार्थ दिखलाते हैं।

अनन्ययोग से यानी अभेदभाव से (आत्मा ही ब्रह्म है आत्मातिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, इस प्रकार की अभेदभावना से) अविच्छिन्न आत्मा में निरन्तर ब्रह्मभावना, पवित्र निर्जनदेश का सेवन, पामर अज्ञानियों की सभा में अनास्था, आत्मज्ञान के साधन वेदान्तशास्त्र में तत्परता, तत्त्वज्ञान का फलभूत जो मोक्षरूप अर्थ है उसकी सिद्धि के लिए प्रक्रिया का निरन्तर अनुसाधन, ये सब तत्त्वज्ञान के साधन होने से ज्ञानरूप कहे गये हैं। इनसे भिन्न अन्यान्य विषयज्ञानसाधन आत्मज्ञान के उत्पादक न होने के कारण अज्ञान कहे गये हैं। हे राजन्, अहंभाव की शान्ति हो जाने पर ही राग–द्वेष का विनाश कर देनेवाला तथा संसाररूपी व्याधि की औषधि आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। आत्मज्ञान के जितने साधन हैं, उन सबकी प्राप्ति में मूल तो अनहंभाव ही है। यदि अहंभाव बना रहा तो कोई भी पुरुष अमानित्व आदि साधनों की प्राप्ति नहीं कर सकता ॥२९–३१॥

तब अहंकार–परित्याग का उपाय ही पहले मुझसे कहिये, इस अभिप्राय से राजा भगीरथ पूछते हैं।

भगीरथ ने कहा : हे महाभाग, पर्वत में दीर्घकाल से सुदृढ हुए वृक्ष की नाईं अपने शरीर में दीर्घ काल से सुदृढ़ हुआ अहंभाव मैं किस उपाय से छोड़ सकता हूँ। त्रितल ने कहा : हे राजन्, ज्ञानाभ्यासरूपी पौ़रुष प्रयत्न से नानाविध तुच्छ लौकिक विषयों की भावना का पहले परित्याग कर, फिर विषयाभिलाषा का अभाव होने से परिस्फुट हुई शुद्ध आत्माकारता की प्राप्तिकर व्यवस्थित हुए पुरुष में अहंभाव विलीन हो जाता है। हे महाराज, 'राज्य का परित्याग कर देनेसे जनता मेरा आदर नहीं करेगी, शत्रु लोग हँसेंगे, सबकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाला में लोगों से कैसे भिक्षा माँगूँगा, खराब अन्न, पान आदि से कैसे जीऊँगा' इत्यादि चिन्ता से जनित लज्जा, अभिमान आदि से बना हुआ घर में पूर्ववत् नियन्त्रणारूपी पिंजड़ा जब तक सर्वत्याग से पूरी तरह टूट–फूट नहीं जाता, तब तक यह अहंकृतिरूपी नर्तकी अत्यन्त विकसित होकर नाचती रहती है। हे राजन्, यदि विचारबुद्धि से उन सबका परित्याग कर तुम निश्चल होकर स्थित रहोगे, तो अहंकार का विलय हो जाने पर तुम्हीं स्वयं परमपदस्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) बन जाओगे ॥३२–३५॥

सर्वत्याग ही अवश्य कर्तव्य है, इसलिए उसीका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करते हैं।

हे राजन्, यदि तुम्हारे छत्र, चामर आदि समस्त राजचिह्न निवृत्त हो गये हैं, यदि तुम लज्जा के भय से निर्मुक्त हो गये हो, यदि तुमने समस्त धनादि की इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, यदि तुम अकिंचन भाव को प्राप्तकर और शत्रुओं के लिए ही सर्वविध ऐश्वर्य का परित्याग कर अहम्भाव से निवृत्त हो गये हो, यदि तुम अपने देह के अभिमान से रहित होकर उन सब शत्रुओं में ही भिक्षार्थ अटन कर रहे हो, यदि परिपूर्णभाव की प्राप्ति के कारण मुझ गुरु को भी प्रश्नों से छुटकारा दे रहे

हो, तो तुम समस्त मुमुक्षुगणों से ऊँचे होकर सर्वोपरि ब्रह्मस्वरूप मुक्त ही हो। अब फिर तुम्हारे लिए संसार की संभावना कभी हो ही नहीं सकती ॥३६॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पचहत्तरवाँ सर्ग

राजा भगीरथ का यज्ञ के व्याज से सर्वस्वत्याग, भिक्षाटन और त्रितल के साथ कहीं पर्वत में सहवास – यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तदनन्तर उन गुरुजी के मुख से उस प्रकार का उपदेश सुनकर राजा भगीरथ मन में कर्तव्य निश्चित कर अपने व्यापार में तत्पर हो गये। तदनन्तर कुछ ही दिन के व्यतीत हो जाने पर राजा भगीरथ ने एकमात्र सर्वत्याग की सिद्धि के लिए अग्निष्टोम यज्ञ का (विश्वजित् तक के सभी सोमसंस्थाओं का) अनुष्ठान किया। विलम्ब हो जाने के भय से उसने गुणी और अगुणी का कुछ विचार न कर ब्राह्मणों तथा अपने बन्धुओं को गौ, पृथ्वी, घोड़े, सुवर्ण आदि समस्त धन दे दिया। केवल तीन दिन में ही सब कुछ दे डालनेवाले उस भगीरथ राजा के पास प्राणमात्र ही बच गये थे। तदनन्तर उसने समस्त अर्थों से रहित तथा खिन्न मन्त्री, नागरिक प्रजा आदि से युक्त अपना राज्य सीमा की समाप्ति में स्थित पास के अपने शत्रु को तृण की नाईं दे दिया। भद्र, जब महल, मण्डल और राज्य पर शत्रु ने अधिकार कर लिया तब मननशील यह राजा एकमात्र कौपीन धारण कर अपने मण्डल से निकल गया। अपने मण्डल से निकलकर धैर्यवान् उस राजा ने ऐसे दूर के अरण्य और गाँवों में निवास किया जहाँ पर देख लेने पर भी जनता यह नहीं जानती थी कि यह भगीरथ नामवाला राजा है, और न जनता के मुख से वह राजा अपना नाम ही सुनता था। इस प्रकार व्यवहार कर रहा राजा थोड़े ही समय में समस्त एषणाओं से निर्मुक्त होकर उत्तम शमता के कारण आत्मा में विश्रान्ति को प्राप्त हो गया। इस भूपीठ के अनेक द्वीपों पर चक्कर लगा रहा वह भगीरथ किसी समय काल की महिमा से परवश होकर शत्रु द्वारा आक्रान्त उस अपने ही नगर में प्राप्त हुआ। वहाँ जितेन्द्रिय राजा ने क्रम प्राप्त उन अनेक घरों, नागरिकों और मन्त्रियों से भिक्षा की याचना की। उन नागरिकों और मन्त्रियों ने राजा भगीरथ को जान लिया और उन्होंने विषादयुक्त होकर पूजन–सामग्री से विधिवत् उसकी पूजा की। 'हे प्रभो, 'आप अपना राज्य ले लीजिये' इस प्रकार शत्रु द्वारा प्रार्थित भी वह मननशील राजा, जिसने समस्त राज्य का परित्याग कर दिया था, भोजन के सिवा तृणमात्र का भी ग्रहण नहीं करता था। कुछ दिन वहाँ पर बिताकर वह अन्यत्र चला गया। लोगों ने उस समय 'क्या ये ही भगीरथ राजा हैं, ये ही हम लोगों को छोड़कर चले गये', अहो महान् कष्ट है, इस प्रकार उसके विषय में शोक किया। तदनन्तर दूसरे स्थानों में विचरण कर रहे, शान्तचित्त, एकमात्र आत्मा में मन को लगा रहे परम सुखी उस राजा ने किसी समय अपने आत्मारामी त्रितलनामक गुरु को प्राप्त किया। प्रणाम आदि से अपने गुरु का समर्चन कर उनके साथ में कुछ काल तक पर्वत वन, गाँव, नगर और अनेक सत्पुरुषों में निवास किया। ब्रह्मरूपता को प्राप्त हुए वे दोनों गुरु–शिष्य एकरूप से स्थित रहे और अपने स्वरूप में स्थित होकर वे दोनों 'देहधारण एक कौतुकमात्र है' यों विचार करते थे। यह

शरीर यदि धारण किया जाय, तो इससे हम लोगों की कौन–सी भलाई है अथवा यदि यह परित्यक्त हो जाय, तो इससे हम लोगों की कौन–सी बुराई है ? यह शास्त्रोक्त क्रम और वृद्धप्राप्त आचार का अनुसरण कर भले ही यथास्थित पड़ा रहे। यों विचारकर अवस्थित हुए वे एक वन से दूसरे वन में जा रहे गुरु–शिष्य विषयानन्दों से निर्मुक्त ऐसे परानन्द (ब्रह्मानंद) को प्राप्त कर रहे थे, जो दुःखरहित तथा सुख–दुःख की मध्यवर्ती अवस्था से भिन्न है ॥१–१८॥

उन दोनों का मानुष भोगों के सदृश दिव्य भोगों में भी वैराग्य बतलाते हैं।

उन दोनों ने उत्तम धन घोड़े आदि वैभवों को तथा चरितों से सन्तुष्ट ब्रह्मा आदि सिद्धों द्वारा दिये गये अणिमादि आठ तरह के ऐश्वर्यों को जर्जर तृण के सदृश तुच्छ समझ रक्खा था। प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही जब तक आयु है तब तक अनिच्छा से भी यह धारण करना चाहिए, ऐसा निश्चय कर वे अपने कर्म में स्थित थे। भद्र, वे उत्तम दोनों मुनि अपने पूर्व के आचरणक्रम से उत्पन्न यथासमय प्राप्त सुख और दुःख दोनों का अभिनन्दन करते थे। वे सर्वविध इच्छाओं से वर्जित थे और समसे भी समरूप ब्रह्म में एकरसस्वरूप होकर ब्रह्मस्वभाव से ही परम शान्ति से युक्त हो गये थे ॥१९–२१॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

छिहत्तरवाँ सर्ग

भगीरथ को पुनः राज्यप्राप्ति और ब्रह्मा, रुद्र आदि की
आराधना करने से गंगाजी का भूतल पर अवतरण।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : किसी एक अन्य मण्डल में विद्यमान किसी एक उत्तम नगर में पुत्ररहित राजा को मृत्यु ने उस प्रकार मार डाला, जिस प्रकार क्षुद्र मत्स्य को महामत्स्य मार डालता है। जिनके देश की पालन मर्यादा नष्ट हो चुकी थी, ऐसे उस देश के उदासीन अमात्य जन आदि प्रजावर्ग पालनयोग्य उदार गुण–लक्ष्मी से युक्त किसी एक सुन्दर राजा के अन्वेषण में थे। योग्य राजा के अन्वेषण में तत्पर वे अमात्यादि प्रकृतिवर्ग भिक्षाचरण में निरत स्थिर भगीरथ मुनि के पास आकर 'प्रजापालनयोग्य समस्त शुभ गुणों से यह समन्वित है' यह निश्चय कर वहाँ पर आये हुए सैन्य में अभिषेककर उसे महीपति बना दिया। वर्षाकाल में जिस प्रकार सरोवर क्षणभर में ही जल से परिवृत्त हो जाता है उसी प्रकार राजा भगीरथ भी बड़े सैन्य से परिवृत्त हो गये और तत्काल ही हाथी पर चढ़ गये। 'जगत्–स्वामी महाराज भगीरथ की जय हो, जय हो', इस प्रकार जनों के जयघोषों से पर्वतराजों की बड़ी–बड़ी गुफाएँ व्याप्त हो गई ॥१–५॥

उसी समय दैववश कोशलराज्य का अपहरण करनेवाला राजा भी मर गया, इसलिए अयोध्यावासी जन भी भगीरथ के पास आकर प्रार्थना करने लगे, यह कहते हैं।

वहाँ पर उस राज्य का परिपालन कर रहे राजा भगीरथ के पास आदरयुक्त पहले के अयोध्यावासी मन्त्री, पुरोहित आदि प्रकृतियाँ आई और राजाधिराज से यों कहने लगीं। प्रकृतियों ने कहा : राजन्, राज्य छोड़ते समय आपने सीमा की समाप्ति में स्थित अपने शत्रु राजा को राज्यदान से पुरस्कृत किया था उसे मृत्यु ने उस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार कोमल छोटे मत्स्य को महामत्स्य निगल

जाता है। हे महाराज, इस कारण से अपने पूर्व राज्य की रक्षा करने के लिए आप दया कीजिये। बिना अभिलाषा के प्राप्त हुए अर्थों का त्याग करना उचित नहीं है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इस प्रकार प्रकृतिवर्ग से भलीभाँति प्रार्थित हुआ राजा भगीरथ उनके वचन तथा उक्त राज्य का अंगीकार कर सात समुद्रों के चिन्हों से युक्त पृथिवी का स्वामी हुआ। वह सर्वत्र समभाव रखता था। उसके मन में शान्ति विराज रही थी। उसकी मित, हित और सत्य वाणी थी। उसकी समस्त विषयों से प्रीति हट गयी थी। उसमें मत्सर का तो नाम-निशान नहीं था। प्राप्त हुए कार्यों को एकमात्र कर डालना ही उसका स्वभाव था। बड़े-बड़े कौतुकपूर्ण अर्थों में उसे तत्त्वज्ञान के कारण कभी आश्चर्यबुद्धि होती ही नहीं थी। अश्व का अन्वेषण करने के लिए भूमि खोदकर सागर के सदृश गर्त निर्माण करने का जिनका स्वभाव था और जो कपिल के उद्दाम क्रोधाग्नि से पातल तल में भस्मीभूत हो चुके थे ऐसे अपने पितामहों का तारण करने में गंगाजल ही स्नान और जलांजलिप्रदान द्वारा समर्थ है, प्राकृत नहीं, यों उसने जनपरम्परा से ताक्ष्र्यवचन सुना ॥६-११॥

उस समय भूतल पर गंगाजी तो थीं ही, फिर वहीं पर पितामहों को जलांजलि उसने क्यों नहीं दी, ऐसी आशंका कर कहते हैं।

भद्र, उस समय इस भूतल पर गंगाजी नहीं बहती थीं। इसीलिए भगीरथ द्वारा ही दूसरों के पितरों के लिए भी गंगाजल की अंजलि देना प्रसिद्ध हो गया। उक्त जनश्रुति जिस दिन उसके कान में आई, उसी दिन से पृथिवीपालक राजा भगीरथ ने गंगाजी को स्वर्ग से पृथिवी पर लाने के लिए कठोर नियम धारण किया। तदनन्तर भूतल पर गंगाजी को लाने के लिए कठोरतम उपाय का अवलम्बन करने के लिए चेष्टा रखनेवाला जितेन्द्रिय पृथिवीपति भगीरथ मन्त्रियों के सिरपर समस्त राज्यभार छोड़कर तप के लिए निर्जन अरण्य में चला गया। उस निर्जन अरण्य में हजार वर्ष तक ब्रह्माजी, शंकरजी और जह्नु की बार-बार आराधना कर उसने इस पृथिवीतल पर गंगाजी का सम्बन्ध कराया। तबसे लेकर यह पुण्यतोया त्रिपथगा गंगाजी, जो निर्मल तरंगमालाओं से रंजित, जगत्पति शशिभूषण शिवजी के मस्तक में सुशोभित तथा स्वर्गवासियों की बड़ी पुण्यसन्ततिरूपा है आकाशतल से पृथिवी पर गिरती हैं। चंचल तरंगमालाओं से सुशोभित, अपने फेनपुंजरूप हास से युक्त, प्रसन्नपुण्यरूपा मंजरी से समन्वित तथा धर्म की सन्ततिस्वरूप यह त्रिमार्गगामिनी गंगा उसी समय से लेकर इस पृथिवीपर पृथिवीपति भगीरथ के लिए समुद्रपर्यन्त कीर्ति प्रसारार्थ एकतरह की वीथिका ही बन गयी हैं ॥१२-१७॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

कथित अर्थ की दृढ़ता के लिए चूडाला का आख्यान,
शिखिध्वज का माहात्म्य तथा विवाहक्रीडा का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, महाराज भगीरथ ने पीछे के राज्यकाल में जिस विचारपूर्णबुद्धि से दृष्टि धारण की थी, उसी दृष्टि का अवलम्भन कर आप शम, स्वस्थ और प्रशान्तबुद्धि होकर प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्यों का निर्वाह कीजिए। पहले इस अपने वैभव का परित्यागकर और

मनरूप पक्षी का हृदय में निरोधकर, अविचल शिखिध्वज की नाईं, आप शान्तिपूर्वक अपने स्वरूप में स्थित रहिये। श्रीरामजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, यह शिखिध्वज कौन था और उसने परम पद कैसे प्राप्त किया ? गुरुवर, बोधवृद्धि के लिए उसका चरित्र फिर मुझसे कहिए। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, पहले कल्प में द्वापर में पति–पत्नी का एक जोड़ा हुआ था। अब इस अट्ठाइसवें चतुर्युग के अग्रिम द्वापर में उसी रूप का वही एक दूसरे के प्रति स्निग्ध प्रेम रखनेवाला फिर पति–पत्नी का दूसरा जोड़ा उत्पन्न होगा। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, जो पूर्व में जिस रूप का था, वह उसी रूपका फिर कैसे होगा ? हे वक्ताओं में श्रेष्ठ, आप उसका कारण मुझसे कहिए। तात्पर्य यह है कि भूत और भविष्यत् कालिक वस्तुओं के सादृश्य में हेतु क्या है ? महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, इस जगत् के निर्माण में नियतिरूप ब्रह्मादि की जो सत्यसंकल्परूपा संवित्ति है, उसकी अनिवार्यस्वभावजनित ऐसी ही निरन्तर स्थिति है यानी नियति का अनिवार्यस्वभाव ही उनके सादृश्य में कारण है ॥१–६॥

इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं।

क्योंकि देखिये – एक ही आम के वृक्ष में पहले अनेक फल उत्पन्न होकर फिर कालान्तर में उसी रूप के अनेक फल उत्पन्न होते हैं और उसी आम के स्कन्धपर वटवृक्ष अभूतपूर्व ही उत्पन्न होता है। काट दिये जाने पर तो फिर वहाँ नहीं उत्पन्न होता। ऐसी स्थिति में जैसे सरोवर में तरंग सदृश, विसदृश एवं पूर्व के तरंग अन्यरूप दिखाई पड़ते हैं वैसे ही शिखिध्वज आदि के संसार में भी स्थिति है। इसलिए भूतकालीन शिखिध्वज राजा के सदृश दूसरा महातेजस्वी राजा फिर भी होगा। वही कही जानेवाली कथा का नायक है। उसका यह वृत्तान्त आप सुनिये। अतीत कालीन सातवें मनु की चतुर्थ चतुयुर्गी के द्वापर युग में कुरुवंश में इसी सृष्टि में शिखिध्वज नाम का राजा हुआ था। जम्बुद्वीप में प्रसिद्ध विन्ध्याचल के समीप में स्थित मालवदेश की उज्जैनी नगरी में वह ऐश्वर्यसंपन्न शिखिध्वजनाम से प्रसिद्ध होकर समस्त देश का नियन्त्रण करता था। वह धैर्य, औदार्य आदि धर्मों से युक्त था, उसमें क्षमा, शम, दम, विद्यमान थे, वह वीरता से परिपूर्ण था, शुभ कर्मों के अनुष्ठान में निरन्तर लगा रहता था, आत्मश्लाघा आदि दोषों से वर्जित था, थोड़े में यों कहिये कि समस्त गुणगणों का भंडार था। समस्त यज्ञों का निरन्तर अनुष्ठान करता था, उसने बड़े–बड़े धनुर्धारियों का दर्पदलन किया था, वापी, कूप, तडाग आदि लोकोपयोगी अनेक शुभ कार्यों का निर्माण किया था और पूर्वरूप पृथिवी का पालन करता था। वह देखने में कोमल, सम्बन्ध में स्निग्ध और वाणी में मधुर था, लोक और शास्त्र में निष्णात था, प्रेम का समुद्र था। वह सुन्दर, शान्त, भाग्यवान्, प्रतापी और धर्मवत्सल था। दूसरों के लिए विनय आदि शिक्षाप्रद वाक्यों का प्रयोग करता था, अर्थियों को अभीप्सित समस्त अर्थसम्पत्तियाँ देता था। वह उत्तम अर्थों का भोक्ता, सत्संग से युक्त और समस्त वेद–शास्त्रों का उत्तम श्रोता था। वह शिखिध्वज सब कुछ जानता था, तथापि उसमें तनिक भी विज्ञता का अभिमान नहीं था। स्त्रीव्यसन आदि का तो तृणवत् उसने त्याग कर दिया था। बाल्यकाल में ही उसके पिता स्वर्ग चल दिये थे। तभीसे अपने बाहुबल से जितेन्द्रिय उस शिखिध्वज ने सोलह वर्ष तक स्वयं ही दिग्विजयकर अखिल भूमण्डल को अपनी साम्राज्यसम्पत्ति में परिणत कर दिया। अनन्तर समस्त चोर आदि प्रजापीडक शत्रुओं की शंका से निर्मुक्त होकर धर्म से प्रजा का पालन कर रहा वह बुद्धिमान् शिखिध्वज मन्त्रियों के साथ अपने यश

से दिशाओं को धवलित करते हुए स्थित था। अनन्तर उसके बाल्यकाल के वर्ष समाप्त हो गये और यौवनकाल के वर्ष प्रारम्भ हो गये। इधर वसन्त ऋतु ने भी अपना स्वरूप भलीभाँति विकसित किया। वन–उपवन में फूल खिल रहे थे, आकाश में चांदनी खिल रही थी। वृक्षों की शाखारूप अन्तःपुर भीतर–जो रजरूपी कर्पूर से धवलित; संवरणशील पत्ररूप कपाटों से युक्त तथा आमोद से विलास कर रहे पुष्प–गुच्छों के चँदुए से युक्त था–विद्यमान मंजरियों के हिंडोलों पर भ्रमरों के जोड़े मिलकर गहनतम गीत गा रहे थे। एवं शशी और सीकरों से शीतल तथा कदली और कन्दलियों के कच्छतल एवं पल्लवों पर नृत्य कर रहा मधुर वायु चारों ओर बह रहा था। ऐसे समय में इस शिखिध्वज का (किसी एक समस्तरमणीगुणोपेत पूर्वश्रुत चूडाला में) अनुरक्त हुआ चित्त कमनीय कामिनी के प्रति उत्कण्ठित हो उठा। वसन्तयुक्त वन के सदृश कुसुमसमूहों के सौगन्ध्यरूप मधुर आसवों से मत्त उसका रागपल्लवित मन रमणी को छोड़कर दूसरे किसी भी विषय में नहीं लगता था। उसकी उत्सुकता इतनी बढ़ गयी थी कि रात–दिन यह चिन्तन करता था–हेमकमलों के मुकुलों के सदृश स्तनवाली मुग्ध उस प्रणयिनी कामिनी को मैं कब लीलार्थ निर्मित सरोवरों में, उद्यान–वन के हिंडोलों पर और पर्यंक पर अपने अंक में कुंकुमांकित करूँगा। कमल वल्लियों के दोलाओं पर, अलिनी को अलि के सदृश, अतिचपल उस बाला को मैं अपनी भुजलता में अनुगत कब करूँगा ॥७–२६॥

मेरे सदृश उस बाला को भी स्वाभिलाषाजनित सन्ताप कब होगा, जिससे कि हम दोनों का संघटन शीघ्र हो जाय।

मृणाल, हार, कुन्द और इन्दु सदृश प्रस्फुरित लताघरों के रूप से पुंजीतभूत वल्लियों की अभिलाषिणी होकर मेरे लिए वह इन्दुसुन्दरी कान्ता मदनसन्तप्त कब होगी ? इस प्रकार की चिन्ता से व्याकुल होकर कुसुमों के संग्रह में उन्मुख हो बनों में और कुसुमपूर्ण उपवनों में विहार करने लगा। उसने अनेक वन और उपवनों में, लीलासरोवरों में, लतागृहों में तथा विविध उद्यान–भूमियों में विहार किया। उन्मना होकर उसने वन और उपवन के गुणवर्णन में सम्बद्ध और श्रृंगाररस से परिपूर्ण कथाओं में रमण किया। उसने सुवर्णकलश के सदृश स्तनवाली, हार से चमक रहे शरीर तथा चंचल मंजरियों से युक्त कुमारियों को अपने मन में बड़ा ऊँचा स्थान दिया। चतुर मन्त्रियों ने इस प्रकार के राजा का अभिप्राय जान लिया, क्योंकि चेष्टा और आकृति से अभिप्राय जान लेना ही मन्त्री का दोषों से निर्मुक्त लक्षण है। अनन्तर राजा के विवाह के लिए विचार कर रहे मन्त्रियों ने सौराष्ट्र देश के राजा से युवतीसमूह से मण्डित कन्या की याचना की। राजा शिखिध्वज ने नवीन वय से सम्पन्न तथा प्रतिमा के सदृश स्वानुरूप उस उत्तम कन्या का विधिपूर्वक भार्यारूप में स्वीकार किया। राजा शिखिध्वज की सुन्दरी पृथिवीतल पर चूडाला नाम से विख्यात थी। वह अपने अनुरूप पति प्राप्तकर, विकसित पद्मिनी के सदृश, राजित हो रही थी। वह शिखिध्वज राजा नीलकमलसदृश नेत्रवाली उस चूडाला को स्नेह से उस प्रकार प्रसन्न रखता था, जिस प्रकार भगवान् सूर्यदेव कमलिनी को विकास द्वारा प्रसन्न रखते हैं। एक दूसरे के प्रति अर्पित चित्तवाले उन दोनों की प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी। हाव, भाव, विलास आदि–श्रृंगार चेष्टाविशेषों से परिपूर्ण अंगों के कारण वह चूडाला सुन्दर नवलता–सी शोभती थी। शिखिध्वज राजा को राजचित्तानुवर्ती अनुरक्त मन्त्रियों द्वारा सभी उपभोगसामग्री समय–समयपर

समर्पित की जाती थी अथवा धार्मिक मन्त्रियों द्वारा उसके याचकों को वांछित अर्थों की पूर्ति की जाती थी, उसकी प्रजा सुव्यवस्थित थी, अतएव परम सुखी वह सजा कमलिनी के साथ राजहंस के सदृश उस दयिता के साथ रमण करता था। अन्तःपुर में, दोलाओं में, लीलासरोवरों में, उद्यानों में, विहारों में, लता और पुष्पों से शोभित घरों में, कदम्बवन की श्रेणियों में, चन्दन और अगरु से सुगन्धित वीथियों में, मन्दारमाला सी चंचल कदली और कन्दलियों में, नगर-प्रान्तों में, वनप्रान्तों में, दिगन्तों में, सरोवरों में तथा जामुन, नींबू एवं जातिवृक्षों से युक्त निर्जन बनों में उस कमनीय दम्पती की प्रमोदजनक सभी ऐसी परस्पर चेष्टाएँ हुईं, जैसी बैलों द्वारा हल से जोते गये खेतों के लिए लाभदायक वृष्टिवाले, मेघ एवं शस्य सम्पति से कमनीय आकाश और पृथिवी की लोकप्रमोदजनक अन्योन्य चेष्टाएँ होती हैं। वे दोनों निरन्तर एक दूसरे से मिले हुए थे, एक दूसरे की चेष्टाएँ उन्हें प्रिय लगती थीं। एक दूसरे से शिक्षाग्रहण और एक दूसरे की समान-अर्थिता होने से वे दोनों अशेष कलाओं के विज्ञाता हो गये थे ॥२७-४३॥

इसीलिए सब गुणों की समानता होने से और अनुराग के कारण तद्रूपता आ जाने से वे दोनों मानों एक ही जीव थे।

परस्पर अत्यन्त मित्रता को प्राप्त हुए वे दोनों एक दूसरे के हृदय में बस जाने के कारण दो देहों में संक्रान्त (प्रविष्ट) अविनाशी एक ही जीवस्वरूप धारण करते थे। जैसे बटुक 'द्वादश वर्षपर्यन्त वेद के लिए ब्रह्मचर्य है' इस शास्त्र से निर्धारित नियत काल तक गुरुमुख से अध्ययन द्वारा समस्त शास्त्रार्थ में विशेषज्ञता प्राप्त कर पण्डित हो जाता है, वैसे ही कुछ नियत काल तक अपने स्वामी के मुख से अध्ययन कर समस्त शास्त्रार्थ में विशेषज्ञता और तत्-तत् शिल्पशास्त्रों के पण्डितों के मुख से चित्रकला आदि में भी चातुर्य प्राप्त कर चूडाला अशेष अर्थों में पण्डिता हो गयी थी तथा चूडाला के मुख से इस शिखिध्वज ने भी नृत्य, वाद्य आदि जितने कलाकौशल हैं उन सबका शिक्षण ग्रहण किया और कलाओं का पारंगत महाविद्वान् हो गया। अमावस्या प्राप्त कर जैसे सूर्य और चन्द्र एक दूसरे में अपनी-अपनी कला का संमिश्रण कर एकरूप हो जाते हैं, वैसे ही एक-दूसरे के हृदय में स्थित हो रहे वे दोनों भी एकरूप हो गये थे। वे दोनों परस्पर एक दूसरे के प्रेमी, मिश्रित क्षीर और नीर की नाईं, एकरस-स्वरूप होकर अवस्थित थे और पुष्प और सुगन्ध की नाईं अभिन्नस्वरूप वे भूतल पर अवतीर्ण गौरी और शंकर के सदृश लगते थे (卐)। उन दोनों की बुद्धि लोक और शास्त्र के चातुर्य से अत्यन्त परिष्कृत थी। समस्त शास्त्रीय विषयों में उनके पाण्डित्य की धाक जमी थी। केवल किसी एक खास कार्य के लिए, कमला और कमलापति की नाईं, पृथिवी पर वे दोनों अवतीर्ण हुए थे। वे दोनों स्नेह से प्रसन्न और मधुर लगते थे। पूछे गये सन्दिग्ध विषयों के और शास्त्ररहस्यों के निर्णयार्थ एक ही काल में उन दोनों का एक ही ज्ञानतत्त्व का कथन करने का स्वभाव था। निरन्तर वे दोनों एकमात्र गुरु, द्विज और विद्वानों की अनुवृत्ति करते थे। उनसे प्रिय, हित, विनय आदि सदाचार का व्यवहार करते थे। लोकवृत्तान्त एवं

(卐) भगवान् शंकर का अर्धनारीश्वर नाम है, चूडाला और शिखिध्वज भी स्वरूपतः, स्वभावतः एक दूसरे से मिलजुल गये थे, इसलिए वे भी ठीक भगवान् शंकर और गौरी से मिश्रित अर्धनारीश्वरस्वरूप के जैसे लगते थे।

एकमात्र शास्त्र से बोधित होनेवाले धर्मरहस्य का वे दोनों ही परिपक्व परिज्ञान रखते थे। वे समस्त कलाओं से परिपूर्ण थे। श्रृंगार आदि नवरसरूपी रसायनों से वे राजित थे। उनका अंग शीतल, स्निग्ध और मोहक था, इसलिए वे ऐसे लगते थे मानों दो चन्द्रमा उदित हुए हों। भद्र, जिनकी शोभा अनुपम थी तथा जो रतिभोगों के विलासों से कमनीय थे उन चूडाला और शिखिध्वज दोनों का मनोहर जोड़ा अन्तःपुर में ऐसे शोभित हो रहा था जैसे ब्रह्माण्डखण्डरूप सत्यलोक के गम्भीर सरोवरों में चमक रहा मद एवं मन्मथ से मन्द–मन्द गमन कर रहा राजहंसी और राजहंस का जोड़ा ॥४४–५२॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

क्रम से उनके वैराग्य, सत्शास्त्र के अभ्यास में उनकी निष्ठा तथा चूडाला के विवेक और ज्ञानलाभ का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामभद्र, इसी प्रकार अनेक वर्षों तक दृढ़ प्रेम से सम्पन्न उस दम्पती ने दिन–पर–दिन होनेवाली यौवन की अमन्द लीलाओं से रमण किया। अनन्तर एक के पीछ एक यों आवृत्तिशील अनेक वर्ष बीत गये और फूटे हुए घड़े से जल की नाईं धीरे–धीरे गल रहा तारुण्य देखकर उन्होंने विचार किया। तरंगसमूहों के सदृश अतिचपल आकृतिवाले, भंगुर शरीर से व्यवहार कर रहे जीव का, पक्व फल के पतन की नाईं, देहवियोग किसी भी प्रकार हटाया नहीं जा सकता। कमल पर हिमरूपी वज्र की नाईं इस देह पर अब जरा गिरने के लिए उन्मुख हो ही रही है, क्योंकि करतल से जल की नाईं निरन्तर आयु गलती ही जाती है। वर्षाकाल में कटु तुम्बी लता के सदृश एकमात्र भोग और उसके साधनों की तृष्णा बढ़ती जाती है और पर्वत नदी के वर्षाकालिक पूर की नाईं वेगपूर्वक यौवन बहता ही जाता है। यह जीर्ण स्थितिवाला शरीर आदि रूप जीवन, इन्द्रजाल के सदृश, असत्य ही है और धनुष से छूटे हुए बाणों के सदृश विषयसुख दूर–दूर भागते जा रहे हैं। आमिष (मांस) के ऊपर झपट –झपट कर गीध उसे जैसे नोचते हैं वैसे ही आध्यात्मिक आदि दुःख और तृष्णा चित्त के ऊपर झपट–झपटकर उसे नोचते हैं और यह शरीर वर्षाकाल में जल के बुद्बुद के सदृश क्षणभर में ही विलीन हो जानेवाला है। विचारकोटि में प्रविष्ट हुआ यह व्यवहार कदलीगर्भ के सदृश निःसार ही ठहरता है और सपत्नी चाहनेवाले पुरुष की प्रियतमा के सदृश यह यौवनावस्था शीघ्र छोड़कर भागती जाती है। वृक्ष में रसशोषण के सदृश जबरदस्ती इष्ट विषयों के अलाभ से जनित दौर्मनस्य प्राप्त होता है, इसलिए इस संसार में ऐसी कौन वस्तु है जो शुभाकृति, सुस्थिर एवं अत्यन्त सुन्दर हो और जिसकी प्राप्ति कर यह चित्त फिर जन्म–मरण आदि दशाओं में पीड़ित न हो। उस दम्पती ने इस प्रकार विचारकर यह निश्चय किया कि संसाररूपी व्याधि का असली औषध अध्यात्मशास्त्र ही है, इसलिए उसीका दीर्घकाल तक विचार किया। केवल आत्मज्ञान से ही संसाररूपी महामारी शान्त हो जाती है, यह निर्णय कर वे दोनों आत्मा का ज्ञान सम्पादन करने के लिए तत्पर हो गये। अध्यात्मशास्त्र में ही उनका चित्त लग गया था, प्राण भी उसीमें थे, उसीमें उनकी निष्ठा थी, अध्यात्मशास्त्रवेत्ता की ही उन्होंने शरण ली थी, उसीकी अर्चना में निरत रहते थे, उनकी इच्छा भी अध्यात्मशास्त्र की ही रहती थी और

उस समय इस संसार से वे दोनों विरक्त हो उठे थे। उन्होंने अध्यात्मशास्त्र में ही दृढ़ अभ्यास बढ़ा लिया था, वे एक दूसरे को अध्यात्मशास्त्र का ही स्मरण कराते थे, उनकी प्रीति उसी शास्त्र में थी एवं परस्पर उनका समस्त आरम्भ (श्रवण, प्रबोधन आदि) उसीमें होता था। हे श्रीरामजी, तदनन्तर वह चूडाला- अध्यात्मशास्त्र के तत्त्ववेत्ताओं के मुख से संसार दुःखसमुद्र से पार करने में समर्थ सुन्दर आत्मज्ञानोपयोगी रमणीय पदक्रमों से संयुक्त शास्त्रार्थों का निरन्तर श्रवण कर-बाह्य शरीर के व्यापारों का परित्यागकर और धवल उग्र बुद्धि से युक्त होकर अपनी आत्मा के विषय में इस प्रकार अहर्निश विचार करने लगी। अब मैं स्वयं विवेक कर अपने आत्मा को देखती हूँ कि मैं क्या हूँ यानी इस कार्यकरण-संघातरूप शरीर में ऐसा कौन पदार्थ है, जो चेतन हो सकता है। यह संसाररूप मोह किसको प्राप्त होता है यानी मोह जिसको प्राप्त होता है, वही उसके निवारण में समर्थ होगा, परन्तु वह कौन है, किस हेतु से कहाँ मोह प्राप्त हुआ, मोह का मूल क्या है, क्योंकि मूलका ज्ञान होनेपर ही मूलोच्छेद द्वारा मोह का निरास अनायास सिद्ध हो जाता है। देह तो जड़ और अत्यन्त मूढ़ है, इसलिए वह चेतन नहीं हो सकती, यह अटल निश्चय है, इस प्रकार का निश्चय साधारण बालक तक को भी अवगत है और मैं स्थूल हूँ, गौर हूँ, इत्यादि बुद्धिवृत्ति होनेपर ही देहादि का अनुभव होता है, स्वतः नहीं, इसलिए उसमें जड़ता स्वतःसिद्ध ही है। हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रिय समुदाय भी इस शरीर से अभिन्न अवयवरूप ही हैं। कभी अवयव और अवयवी में भेद नहीं रहता, इसलिए शरीररूप अवयवी के सदृश वह भी जड़ ही है। ज्ञानेन्द्रियसमुदाय भी शरीर के अवयवरूप ही है, इसलिए वह भी जड़ ही है, (🙏) यह दीख पड़ता है, क्योंकि मन आदि से जड़ देह आदि में प्रेरणा मिलने के कारण उनके साथ संयोगयोग्यद्रव्यरूपता होने से, पृथिवी पर ढेले की प्रेरक यष्टि के सदृश, उनमें जड़ता ही है। संकल्पात्मक शक्ति रखनेवाला जो मन है उसे भी मैं जड़ ही मानती हूँ। जैसे गोफन से पाषाण प्रेरित होता है वैसे ही मन भी बुद्धि के निश्चयों से प्रेरित होता है। इस तरह निश्चयरूपा बुद्धि जड़तास्वभाव से ओतप्रोत है, यह अटल निश्चय है। दो तटों के मध्यवर्ती ढालू प्रदेश से जैसे नदी बहती है वैसे ही अहंकार से वह बुद्धि बहती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अहंकार भी सारशून्य तथा मुर्दे के सदृश है, इसलिए वह जड़ ही है; क्योंकि बालक द्वारा जनित भ्रमरूप यक्ष के सदृश प्राणयुक्त चिदाभास द्वारा वह जनित है। चेतनाकाशरूप जीव प्राणरूप उपाधि से युक्त होकर हृदय में रहता है। वह भीतर इतना सुकुमार है कि दूसरे अपने अन्तर्यामी दिव्य चैतन्य से दीप्त होकर जीता है। अहा, मैं समझ गयी। साक्षी का स्वरूप धारण कर विषयों का प्रकाशन करना ही इस चेतन का चेत्योल्लेख कलंक है, इस कलंक से दूषितप्राय हो करके यह सबको जान लेता है और अनादिभूत चैतन्यरूप से ही यह जीव प्रस्फुरित होता रहता है। जैसे सुगंध पवन से और नदी का वेग पुष्करिणी से परिचालित होता है, वैसे ही यह जीव चेत्यभ्रमों से युक्त चैतन्य से ही परिचालित होता है। चैतन्य शरीर आत्मा मिथ्याभूत जड़ विषयों के साथ अध्यास (संसर्गाध्यास और तादात्म्याध्यास)

(🙏) यद्यपि 'अणवश्च' इस सूत्र में सूत्रकार बादरायण ने सूक्ष्मभूत इन्द्रिय, प्राण आदि लिंगदेह के अवयव बतलाये हैं, इसलिए वे स्थूल शरीर के अवयव नहीं हो सकते, तथापि ज्ञानी और अज्ञानी सभी जन उनका देहावयवरूप से एवं देहसम्बन्धिरूप से अनुभव करते हैं, इसलिए उनमें जड़ता है ही, यह भाव है।

करके ही जड़ जैसा बन जाता है और अपने असली प्रकाशमान धवलस्वरूप का उस प्रकार परित्याग कर देता है, जिस प्रकार तप्तजल या समुद्रजल में गिरा हुआ अग्नि अपने भास्वर प्रकाशमान स्वरूप का परित्याग कर देता है (इसलिए सत्तांश में चैतन्यभिन्नता के सदृश प्राप्त हुई 'घट सत् है, पट सत् है' इस प्रकार की सत्ता अचित् घटादिविषयों के साथ एकता का अनुभव करती है और घटादि का लय होनेपर 'घट नष्ट हो गया' पट नष्ट हो गया' इस प्रकार सत्ता के अभाव का भी अनुभव करती है)। विषयों के साथ एकाग्रता होने पर जो भी कोई–चाहे वह सद्रूप हो या असद्रूप हो–वासनावेष्टित होकर स्वतः दीख पड़ता है, वही एक क्षण में पूर्णस्वरूप का परित्याग कर तत्स्वरूप हो जाता है। उक्त रीति से परमार्थतः चित्स्वरूप भी अविद्या के आवरण से अध्यास परम्परा से जड़शून्य और असत्सदृश उत्पन्न जगत् का स्वरूप बुद्धि में अनावृतस्वभाव चैतन्य से ही तत्तदाकारवृत्तिव्याप्ति एवं मूलाविद्यारूप आवरण के भंग द्वारा जाना जाता है। उस तरह का पहले विचारकर फिर उस चूडाला ने यह विचारा कि किस उपाय से मूलअविद्या के आवरण से रहित चिति दृश्यस्वप्न का परित्यागकर प्रबुद्ध होवे और तदनन्तर दीर्घकाल के बाद कहे जानेवाले प्रकार से आत्मतत्त्व को उसने पहचाना। उसे बड़ा ही आनन्द मिला और कहने लगी कि अहो, दीर्घकाल के बाद मैंने सर्वविध उपद्रवों से शून्य ऐसी ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया, जिसे जान लेनेपर पुरुष फिर पुरुषार्थ से च्युत नहीं होता अथवा किसी भी काम्य अर्थ की हानि नहीं होती, क्योंकि उसकी प्राप्ति से समस्त कामनाओं की परिपूर्ति हो जाती है अथवा दुःख का साधन समझकर किसी पदार्थ का परित्याग नहीं करता, क्योंकि उस समय सभी पदार्थों में आनन्दात्मक परब्रह्मरूपता ही प्राप्त हो जाती है ॥१–३०॥

अहो, ये जितने मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि पदार्थ हैं, वे सबके सब चिद्विलास को परिच्छिन्न बना देने में केवल कारणरूप ही हैं, वे स्वयं असत्स्वरूप ही हैं और उनका स्थान नेत्रपर अंगुली रखने पर दिखाई दे रहे द्वितीय चन्द्रमा का ही है अर्थात् वे भ्रान्तिमात्र से परिकल्पित हैं। वास्तव में सर्वविध आवरणादि से निर्मुक्त अकेली महाचिति ही इस संसार में सब काल में अपना अस्तित्व रखती है। जिसको महासत्ता भी कहते हैं। यह कलंकों से शून्य, समानरूप, विशुद्ध और अहंकारवर्जित स्वरूपवाली है। उसका स्वरूप शुद्ध विज्ञान ही है, भूमानन्दरूप होने से वह परम मंगलात्मक सन्मात्ररूप है। भूमानन्दरूप स्वभाव से वह कभी भी च्युत नहीं होती। मूलअविद्यारूप आवरण के भंग से एक बार उसका यदि साक्षात्कार हो जाय, तो वह फिर कदापि आवृत्त नहीं होती। इसलिए वह वेदान्त आदि अध्यात्मशास्त्रों में लक्षणावृत्ति से नित्य उदयवती कही जाती है। उसीका ब्रह्म, परमात्मा आदि नामों से सर्वत्र गान किया जाता है। चेत्य (ज्ञेय) आदि त्रिपुटीसमूह इससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है, क्योंकि यह त्रिपुटी साक्षीरूप उसीसे प्रकाशित होती है। यह साक्षीस्वरूप चिति किसी दूसरे प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि त्रिपुटी प्रवृत्ति के पहले ही वह स्वयंसिद्ध है, अतः वह आद्या चिति कही गयी है। चेत्यशून्य जो यह चिद्रूपता है, वह उसका अविनाशी रूप है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि पदार्थों के स्वरूपों से वह चिति ही विवर्तित होती है। मन, बुद्धि आदि विवर्तों से चैतन्यात्मा जब प्रमातृरूपता प्राप्त करता है, तब उसमें तरंगकणों के कल्लोलों के सदृश यह जगद्रूप भूत–भौतिक पदार्थों की अस्तिता स्फुरित होती है। जो यह जगत्सत्ता का रूप प्रसिद्ध है, वही अधिष्ठानभूत महाचिति का दूसरा स्वरूप है, क्योंकि वह सत्तारूप

चिति स्फटिकमणि के सदृश जगत् का प्रतिबिम्ब असंग होकर ही धारण करती है, और यह जगत्सत्ता तो व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक पदार्थों में अपने-अपने अधिष्ठान के अनुसार उदित है ॥३१-३८॥

इन कारणों से जगत् की सत्ता का अधिष्ठानसत्ता से पृथक् निरूपण न हो सकने के कारण यह केवल मायारूप ही है, यह कहते हैं।

जगत् का निर्माण करनेवाली ब्रह्म से अभिन्न शक्ति से जो अधिष्ठानसत्ता विद्यमान है, उसीसे जगत्-सत्ता अतिरिक्त-सी भासती है, यहाँ माया से अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ता का संभव है ही नहीं ॥३९॥

इसीलिए नाम, रूप, विशेषों का प्रलय होनेपर जगत्-सत्ता मायाशबल ब्रह्मात्मना ही अवस्थित रह जाती है और माया का बाध होनेपर आनन्दैकरसस्वरूप सन्मात्रात्मक आत्मतत्त्वका वह स्वयं अनुभव करती है, ऐसा कहते हैं।

अलंकार आदि की जो विचित्रता है, वह जैसे अलंकारों का विनाश हो जानेपर सुवर्णसत्तात्मना ही उदित होती है, वैसे ही जगत् का विलय हो जानेपर जगत् की सत्ता मायाशबल ब्रह्मात्मरूप से उदित होती है और माया का बाध हो जानेपर सच्चिदानन्दरूप आत्मसत्ता का स्वयं अनुभव करती है। जैसे स्वप्न तथा इन्द्रजाल आदि में द्रवरूप से परिणत अपने चित्त से सिद्ध समुद्र के जल में तरंग आदि वास्तव में अनुदित भी उदित होते हैं, वैसे ही महाचिति में वास्तव में अनुदित भी जगत् आदि समष्टिचित्त के कारण उदित होते हैं। जैसे स्वप्न में चिद्रूप आत्मा ही जलधि में द्रव के कारण चित्तकल्पित जलरूप से तरंग आदि रूपवान् पदार्थ होता है, आत्मा से अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं रहता, वैसे ही चिन्मात्र ही मैं जगद्रूप से सम्पन्न हूँ, परमार्थतः पूर्णचिदात्मक मुझ से अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, इस प्रकार अहंभाव का भी परिशेष न रहने से अनहंभाव चिन्मात्र ही विस्तीर्ण है। इस चिन्मात्रस्वरूप आकाश के जन्म, मरण, सद्गति, असद्गति (स्वर्ग-नरक) या नाश का कहीं सम्भव ही नहीं है। यह आत्मा छेदन के योग्य नहीं है, दाह के योग्य नहीं है, यह चितिरूपी आदित्य अतिनिर्मल है। अहा, मैं दीर्घकाल के बाद शान्त होकर चारों ओर से परम सुखी हुई हूँ। अब मैं सर्वविध भ्रमों से निर्मुक्त होकर विचरण कर रही हूँ, मन्दराचल से शून्य प्रशान्त सागर के सदृश अवस्थित हूँ। ब्रह्मा से लकर स्तम्बपर्यन्त जितने भी प्राणियों के कर्मफल हैं, जितने भी उनके साधनभूत व्यापार हैं एवं जो भी निष्फल वृथा चेष्टाएँ हैं, वे सब उस अनन्त आकाशस्वरूप चैतन्यात्मा के स्वरूप हैं; जो दृश्याभास से शून्य, अत्यन्त स्वच्छ, अनन्त, अज, अच्युत, कालपरिच्छेद से शून्य, देश और वस्तुकृत परिच्छेद से शून्य, आकाशरूप, निर्मल, बाधरहित और परम है। कुलाल आदि पुरुष जाति से बनाई गयी मृत्तिका की सेना जैसे मृत्तिकारूप ही है, वैसे ही सुर, असुर आदि से युक्त यह विश्व अकृत्रिम परब्रह्मस्वरूप ही है। उसी प्रकार द्रष्टा एवं दृश्यरूप सत्ता भी एकमात्र चैतन्यरूप ही है। यह ऐक्य है, यह द्वैत है, यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ, इत्यादि भ्रमजनित मोह कौन चीज है; वह किस तरह हुआ, किसको हुआ और कहाँ से आया ? अर्थात् यह सब मिथ्या ही है। अपने अन्दर अनन्त पारमार्थिक स्वरूप की अनायास प्राप्तिकर अब शान्त होकर अवस्थित हूँ। अब मैं मोक्षसुख में अच्छी तरह विश्रान्त हूँ, संसाररूप ज्वर से वर्जित भूले हुए हार की प्राप्ति के सदृश प्राप्त हुए स्वरूप में अब बैठ गयी हूँ। अचेतन या चेतन जो भी कुछ जगत् प्रकाशित होता है

अथवा जो भी कुछ उसके भोक्तारूप से प्रकाशित हो रहा है वे दोनों भासमान आत्मा से अभिन्न जो ब्रह्म है, तद्रूप आकाशस्वरूप ही हैं। न तो इदं है, न अहं है और न दूसरा है एवं न तो भाव और अभाव का संभव है। सब कुछ शान्त, निरालम्ब केवल परब्रह्मरूप ही होकर स्थित है। इस प्रकार आत्मा के विचार में परायण वह चूडाला मोहरूपी निद्रा का आत्यन्तिक विनाश हो जाने के कारण यथास्थित इस परम आत्मतत्त्व का भलीभाँति परिज्ञानकर राग, भय, मोह आदि अज्ञानविलासों के शान्त होने से उस प्रकार शान्त हो गयी, जिस प्रकार शरत्–कालीन आकाश की लेखा ।।४०–५२।।

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

उन्नासीवाँ सर्ग

अपूर्वशोभासम्पन्न देखकर राजा शिखिध्वज से पूछी गईं
चूडाला द्वारा अपनी शोभा में हेतु आत्मज्ञान का वर्णन।

इस प्रकार विचार से उत्पन्न तत्त्वज्ञान की – अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर भूमिकाओं में – प्रतिष्ठा हुई, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, उस प्रकार की यह चूडाला दिनक्रम से अभ्यास द्वारा अपने स्वाभाविक स्वरूप में अवस्थित हो गयी, क्योंकि वह निरन्तर अन्तर्मुखवृत्ति से युक्त और प्रसिद्ध आत्माराम से सम्पन्न थी। उसके रागादि दोष निकल गये थे। उसका समीपस्थ किन्हीं पदार्थों से संग नहीं था। सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों से वह निर्मुक्त हो चुकी थी, वह स्वर्गादि की इच्छाओं से और तदनुकुल चेष्टाओं से विरत हो चुकी थी, वह न किसी पदार्थ का ग्रहण करती थी और न किसीका परित्याग करती थी। केवल समयानुसार प्राप्त आचारमात्र को निभाती थी। संसाररूपी महासमुद्र को वह तैर गयी थी, सन्देहरूपी जाल उसके कट गये थे। उसका प्रत्यगात्मा परमात्मा के महान् लाभ से परिपूर्ण हो गया था। दीर्घकाल से संसार में भ्रमण करने से श्रान्त हुई वह चूडाला ज्ञानलब्ध आनन्दघन परमपद में अब विश्राम कर रही थी। संसार की सभी उपमाओं से परे हो जाने के कारण वह अव्यपदेश्य हो गयी थी। इस प्रकार सुन्दरवर्णवाली उस शिखिध्वज की उत्तम पत्नी वह चूडाला स्वल्पकाल में ही विदितवेद्य बन गयी ।।१–५।।

अल्पकालिक बोध से अनादि महत्तम भ्रम की निवृत्ति कैसे होगी ? इस पर कहते हैं।

जैसे अनिर्वचनीयस्वरूप स्पन्दविभ्रम अज्ञानी में अकस्मात् ही आ जाता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष में सबकी अकस्मात् ही निःशेषरूप से निवृत्ति हो जाती है। जहाँ पर समस्त द्वैत दृष्ट नहीं होता, ऐसे सर्वोपद्रवशून्य परम पद में विश्रान्ति पाकर वह चूडाला भ्रमशून्य होती हुई शरत्कालीन स्वच्छ मेघपंक्ति की सदृश शोभने लगी। दुःखपूर्वक चढ़ने योग्य, तृण और जल से युक्त तथा धूप एवं चन्द्रिका से युक्त शैलशिखर को विधिवश प्राप्तकर बूढ़ी गाय जैसे स्वास्थ्यपूर्वक स्थित रहती है वैसे ही चूडाला भी जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओं में एकरूप से प्रकाशित हो रहे प्रत्यगात्मा को जाग्रदादि अवस्थाओं से सम्बद्ध न होनेवाले स्वभाव से प्राप्तकर उसी आत्मा में अनाकुलतापूर्वक स्थित हुई। अपने विवेक के दृढ़ अभ्यास से जनित आत्मतत्त्वदर्शन से हुए पूर्णानन्द स्वरूप के

आविर्भाव से वह नवीन उत्पन्न सुन्दर पुष्पलता के सदृश शोभने लगी। अनन्तर किसी एक समय उस पूतांगी अपूर्वशोभासम्पन्न चूडाला को देखकर विस्मय से प्रसन्नवदन वह शिखिध्वज कहने लगा। हे तन्वि, इस समय तुम पुनः यौवनयुक्त–सी तथा पुनः पुनः आभूषणों से भूषित–सी होकर उस प्रकार अधिक शोभ रही हो, जिस प्रकार पूर्णचन्द्र से युक्त पृथिवी। हे प्रिये, इस समय तुम ऐसे परिपूर्णरूप से शोभित हो रही हो, जैसे कि मानों तुमने अमृत का सार पी लिया हो या अलभ्य पद की ही तुमने प्राप्ति कर ली हो। आनन्दप्रवाह से तुम परिपूर्ण हो गयी हो। हे कामिनि, शान्तिसम्पन्न तथा कान्तिपूर्ण सुन्दर शरीर धारण कर रही तुम चन्द्रमा का भी तिरस्कार कर किसी अपूर्व शोभा की ओर जा रही हो। हे प्रिये, इस समय भोग के कार्पण्य से रहित, शान्त, विवेक से बलिष्ठ, समता को प्राप्त, गम्भीर और चंचलतारहित तुम्हारा चित्त मैं देख रहा हूँ। हे प्रिये, त्रिभुवन को तृण बना करके जगत्रसायन का पान करनेवाला, अनन्त, उच्चतायुक्त तथा सौम्य तुम्हारा मन मैं देखता हूँ। हे महाभागे, मरु और क्षीरसागर के सदृश सुन्दर तुम्हारा मन किसी भी विभावानन्द की वस्तु से उपमा को प्रांप्त नहीं होता। हे बाले, अचपलता को प्राप्त हुए उन्हीं पूर्वोक्त अवयवों से, जो बालकदली, मृणाल एवं बालांकुर के सदृश कोमल हैं, तेज की अधिकता से मानों वृद्धिगत हो गयी हो। शिशिर ऋतु का अतिक्रमण हो जाने पर जिस प्रकार लता प्राक्तन अवयवों से युक्त होती हुई भी अन्यरूप हो जाती है उसी प्रकार उन–उन प्राक्तन अवयवों से अवस्थित होती हुई भी तुम अन्यरूप हो गयी हो। भद्रे, क्या तुमने अमृत तो नहीं पी लिया है या किसी साम्राज्य की ही तो प्राप्ति नहीं कर ली है या रसायन आदि के प्रयोग तथा मन्त्र आदि की सिद्धि, राजयोग आदि उपायों से क्या अमृत्यु का ही तो लाभ नहीं कर लिया है ? हे नीलकमल के सदृश नेत्रवाली, क्या तुमने राज्य, चिन्तामणि और त्रैलोक्य से भी ऊँचा कोई अप्राप्त पदार्थ तो प्राप्त नहीं कर लिया है ? ॥६–२०॥

इस प्रकार राजा द्वारा पूछी गयी चूड़ाला परिच्छिन्न देहात्मतात्याग और पूर्ण अद्वितीय ब्रह्मात्मलाभ अपनी अधिक शोभा में हेतु है, यों गूढोक्ति से पहला उत्तर देती है।

चूडाला ने कहा : आर्य, मैं इस मूढ़जनों में प्रसिद्ध सम्पूर्ण देहात्मरूपता का परित्याग कर तत्त्वज्ञान से अशेष नामरूपाकारों से निर्मुक्त, परम ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गयी हूँ। मन्त्र, रसायनादि साधनों से तुच्छ तत्तत् सिद्धि को प्राप्त मैं नहीं हूँ, इसलिए मैं दिव्यातिदिव्य श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। इस समस्त परिच्छिन्न वस्तु का परित्याग कर अपरिच्छिन्न अबाधित मूर्त और अमूर्त से रहित जो अन्य सब वस्तु है उसका मैंने आश्रय किया है, इसलिए कान्तिमती होकर मैं अवस्थित हूँ॥२१,२२॥

'न किंचित् किंचिदाकारं' इस अपनी उक्ति का प्रकारान्तर से वर्णन करती है।

सृष्टि का अतिक्रमण न कर जो वस्तु है अर्थात् सृष्टिदृष्टि से दृश्यमान जो किंचित् परिच्छिन्न वस्तु और जो प्रलयदृष्टि से दृश्यमान न किंचिद्रूप वस्तु है उसको कूटस्थभूमानन्दस्वभाव से स्थित मैं जानती हूँ, इसलिए शोभायुक्त होकर मैं स्थित हूँ। हे प्रिय, भुक्त भोगों के सदृश दूरवर्ती अभुक्त भोगों से भी मैं सन्तुष्ट रहती हूँ। न तो मैं कुपित होती हूँ और न मैं हृष्ट होती हूँ, इसलिए मैं श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ। एकमात्र आकाशसदृश विमल अद्वितीय केवल हार्द ब्रह्म में अकेली ही मैं रमण करती हूँ। राजलीलाओं में रमण नहीं करती, इसलिए मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ। आसन, उद्यान और घरों में देह

के स्थित होनेपर भी मैं पूर्णात्मरूप में ही स्थित रहती हूँ। कभी भी भूषण, सम्मान आदि शारीरिक-मानसिक भोगों में या उनकी अप्राप्ति से जनित लज्जा में स्थित मैं नहीं रहती हूँ' इसी से मैं शोभायुक्त होकर स्थित हूँ। मैं समस्त भुवनों की नियामिका हूँ, तुच्छ विषयरूप नहीं हूँ, ऐसा विचार कर मैं अपनी आत्मा में ही सन्तुष्ट रहती हूँ; इसलिए शोभासम्पन्न होकर स्थित हूँ। ये देह आदि अधिष्ठानदृष्टि से (卐) मेरे स्वरूप ही हैं और आरोपितदृष्टि से मेरे स्वरूप नहीं है। मैं पारमार्थिक दृष्टि से सत्यस्वरूप हूँ और अपारमार्थिक दृष्टि से मैं नहीं भी हूँ। मैं सर्वस्वरूप हूँ और किंचित्स्वरूप भी नहीं हूँ; इस विचार से मैं श्रीमती बनकर बैठी हूँ। मैं सुख नहीं चाहती, अर्थ नहीं चाहती, अनर्थ का परिहार नहीं चाहती और दूसरी किसी प्रकार की भी स्थिति नहीं चाहती। प्रारब्धवश प्राप्त किसी भी अर्थ से सन्तुष्ट रहती हूँ, इसीसे मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ। राग और विद्वेष को क्षीण कर देनेवाली आत्मबुद्धि और शास्त्रदृष्टिरूपी सखियों के साथ मैं खेल करती हूँ, इसलिए मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ। हे स्वामिन्, इस जगत् में नेत्ररश्मियों से, दूसरी इन्द्रियों से या चित्त से जो कुछ भी मैं देखती हूँ वह अनृत रहता ही नहीं यानी वह सब कुछ सत्य ही रहता है। उन इन्द्रियादिदृश्य पदार्थों से भिन्न निष्प्रपंच वस्तु को मैं अपने भीतर देखती हूँ। इस रीति से चूँकि मैं बाहर-भीतर अबाधितवस्तुस्वरूप निरन्तर देखती रहती हूँ, इसलिए हे नाथ, सतत परमअभ्युदयरूप अपूर्व शोभा से मैं शोभित हूँ॥२३-३१॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सीवाँ सर्ग

अज्ञ राजा द्वारा चूडाला के वचनों में असम्बद्धत्व और खेचरत्व आदि सिद्धियों के बीज का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, उस रीति से अपनी शोभा की अधिकता में कारण बतला रही, अपने स्वरूपभूत आत्मा में विश्रान्त कान्तवदन उस चूडाला के प्रति हँसकर उसके वचनों का भाव न जानकर राजा शिखिध्वज बोला। हे सुरूपे, राजपुत्रि ! तुम प्रौढ़ नहीं हुई हो दूसरे को समझाने में उपयोग वाक्य बोलने में अपटु हो, इसीलिए असम्बद्ध प्रलाप करती हो। तुम जिन राजलीलाओं से रमण करती हो उन्हीं से रमण किया करो॥१,२॥

'नाकिंचित् किंचिदा.' इत्यादि वाक्य में असम्बद्धप्रलापत्व बतलाते हैं।

भद्रे, बतलाओ तो सही, जो वस्तु आकारसामान्य का परित्याग कर कभी प्रत्यक्ष न होनेवाली निराकारता को प्राप्त हो चुकी है, वह प्रत्यक्ष और अस्तित्व से शून्य वस्तु कैसे शोभित हो सकती है ? ॥३॥

(卐) वेदान्तशास्त्र में अधिष्ठान वह वस्तु है जिसमें भ्रम का आरोप हो, जैसे रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत का। यहाँ पर रज्जु और शुक्ति - ये दोनों अधिष्ठान हैं, क्योंकि इन्हीं में सर्प और रजत का भ्रम होता है। देखिये शेषनागविरचित परमार्थसार-'मृगतृष्णायामुदकं शुक्तौ रजतं भुजङ्गमो रज्ज्वाम्। तैमिरिकचन्द्रयुगवद् भ्रान्तमखिलं जगद्रूपम्॥'

वेदान्तशास्त्र में आरोप का अर्थ है - (१) मिथ्याध्यास, (२) झूठी कल्पना, (३) एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के धर्म की कल्पना। जैसे-असंग जीवात्मा में कर्तृत्व धर्म का आरोप। (४) एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के आरोप से उत्पन्न मिथ्या ज्ञान।

'भोगैरभुक्तैस्तुष्यामि' यह तुम्हारा वचन भी असम्बद्ध ही है, ऐसा कहते हैं।

जो पुरुष क्रोध से आसन, शय्या आदि के परित्याग की नाईं भोगों का 'अभुक्त भोगों से ही मैं तुष्ट हूँ' इस बुद्धि से परित्याग करता है, वह कैसे शोभित हो सकता है ? 'एकैवाकाशसंकारो केवले हृदये रमे' यह जो तुमने कहा है वह भी असंगत है। साक्षात् भोजन और मित्र, सेवक आदि का भोजन–इनका परित्याग कर तथा भोजनसाधन धनादि समस्त वस्तुओं का परित्याग कर जो एक शून्य आकाश में ही पिशाचवत् रमण करता है, वह शोभित होता है; यह कहना कैसे संगत हो सकता है ? क्रोध की नाईं धैर्यमात्र का अवलम्बन कर शीत, उष्ण, क्षुधा, तृष्णा आदि का सहन करनेवाला पुरुष वसन, अशन, शय्या आदि सर्वविध साधनों का परित्याग कर जो अकेला स्वरूप से ही स्थित रहता है, वह कैसे शोभित हो सकता है ? ॥४–६॥

'इदं चाहमिदं नाहम्' इत्यादि वचन में भी असम्बद्धत्व बतलाते हैं।

मैं देह नहीं हूँ, मैं कुछ और ही हूँ, घटादि पदार्थ हैं ही नहीं, सब कुछ परिपूर्णात्मक है – इस प्रकार जिसका प्रलाप है, वह कैसे शोभित हो सकता है ? ॥७॥

'पश्यामि यन्नयनरश्मिभिः' यह जो तुमने अन्त में कहा है वह भी बिलकुल असंगत है, इसलिए तुम्हारे द्वारा उक्त ये अर्थ शोभा के हेतु नहीं हैं।

जो मैं इन्द्रियवृत्तियों से यह देखती हूँ उसे पारमार्थिकरूप से नहीं देखती हूँ। जिसे मैं पारमार्थिकरूप से देखती हूँ वह कोई और ही चीज है। इस प्रकार का जो प्रलाप है, उसे त्यागे बिना वह कौन है, जो शोभित हो सकता है ? इसलिए हे सुन्दरी, तुम बाला हो, मुग्धा हो और चपल हो। हे विलासिनि, अनेक प्रकार के आलापविलासों से जिस तरह मैं क्रीड़ा करता हूँ, उसी तरह तुम भी क्रीड़ा करो। राजा शिखिध्वज ने उस प्रकार अपनी प्रिया चूडाला के प्रति अट्टहास–से हँसकर मध्याह्न में स्नान करने के लिए उठकर चूडाला के घर से प्रस्थान किया। बड़े दुःख का विषय है कि अभी तक राजा अपने स्वरूप में स्थित नहीं हुआ है। मेरे वचनों को भी वह न समझ सका–इस प्रकार विचार से खिन्न हुई वह चूडाला अपने कार्य में संलग्न हो गयी। हे रामभद्र, तदनन्तर वहीं पर उस प्रकार के भिन्न–भिन्न आशय से युक्त उन दोनों का उस समय भी पहले की पार्थिवलीलाओं से उसी तरह बहुत काल चला गया। एक समय की बात है कि नित्यतृप्त और निरीह भी चूडाला को लीलावश आकाश में देवताओं के सदृश गमनागमन करने की स्वयं इच्छा हुई। तदनन्तर वह राजकन्या आकाश में यथेष्ट संचार की सिद्धि के लिए सर्वविध विषयों का अनादर कर और निर्जन स्थान में आकर स्वयं अकेली ही एकान्त में निरत तथा अपने आसन के ऊपर उचित अंगों से अवस्थित हो ऊर्ध्वगामी प्राणपवन का दीर्घ आकाशसंचार की सिद्धि के लिए अनुकूल भ्रूमध्य आदि देश में निरोध करने के लिए अभ्यास करने लगी ॥८–१५॥

खेचरसिद्धि में हेतुभूत क्रिया के प्रसंग से श्रीरामभद्र सामान्यक्रिया में निमित्त की जिज्ञासा से आक्षेप करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, यह जो कुछ स्थावर और जंगम जगत् है वह सब क्रिया से ही उत्पादित मालूम होता है (क्योंकि कर्ता आदि कारकों की क्रिया के बिना किसी की उत्पत्ति देखी नहीं जाती है, ऐसी स्थिति में यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि) क्रियानामक स्पन्द की उत्पत्ति किससे हुई ?

उसकी उत्पत्ति सक्रिय से होगी, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि इस समाधान में आत्माश्रय और अनवस्था दोनों दोष स्थित हैं। यदि कूटस्थ से उसकी उत्पत्ति होती है, यह कहकर समाधान करें, तो उसमें व्याघात, अविराम और फलनावस्था – ये तीन दोष आ जायेंगे। इसलिए हे महाराज, क्रियानामक वस्तु की उत्पत्ति अनुभवपथ पर कैसे आती है ? उसे कहिये ॥१६॥

इस प्रकार आक्षेप कर प्रस्तुत विषय पूछते हैं।

हे ब्रह्मन्, यह जो आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं वे घनाभ्यस्त किस प्रयत्नशाली स्पन्दविलास के फल हैं, यह मुझसे कहिये। हे प्रभो, जो अनात्मज्ञ पुरुष हैं वे अपनी सिद्धि के लिए अथवा जो आत्मज्ञ हैं वे एकमात्र लीला के लिए किस क्रम से इन सिद्धियों को सिद्ध करते हैं, वह जैसा है, मुझसे कहिये ॥१७,१८॥

रामभद्र, जो आपने क्रिया की उत्पत्ति के विषय में आत्माश्रय, अनवस्था आदि दोषों का उद्भावन किया है वह तब घटता, जब केवल क्रियास्वरूप की सिद्धि के लिए कारकों की अपेक्षा होती। परन्तु यहाँ बात वैसी नहीं है। बात यह है – क्रियासाध्य फल के लिए कारकों की अपेक्षा होती है। फल की उत्पत्ति के लिए प्रवृत्त हुए कारक नान्तरीयकरूप से क्रिया का अवलम्बन करते हैं। इसी क्रिया के आधारपर फल में साध्यता और कारकों में साधनता कही जा सकती है। इस रीति से निष्कर्ष यह निकला कि साध्य और साधन दोनों से विलक्षण क्रिया साध्य में अपेक्षित साधनों से भिन्न किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करती, इसलिए क्रिया में सक्रिय कारण है या कूटस्थ ? इस विकल्पका प्रसंग ही नहीं आता, इस आशय से वसिष्ठजी आगे के प्रश्नों के समाधान में गौण-मुख्यसाधारण क्रियासाध्य को विभाग पूर्वक दर्शाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे प्रिय राघव, इस जगत् में सभी जगह साध्य वस्तु तीन तरह की होती है – उपादेय, हेय और उपेक्ष्य (♟) ॥१९॥

उनमें फल की विलक्षणता दर्शाते हैं।

अपने अनुकूल उपादेय अर्थ का प्रयत्नपूर्वक निष्पादन किया जाता है। अपने प्रतिकूल जानकर हेय वस्तु का त्याग किया जाता है। हेय और उपादेय दोनों के बीच का अर्थ उपेक्ष्य होता है। हे सद्बुद्धे, जो वस्तु साक्षात् या परम्परा से सुख के अनुकूल होती है वह उपादेय होती है और जो वस्तु सुखविघातक होती है वह हेय होती है एवं जो वस्तु इन दोनों के बीच की होती है वह उपेक्ष्य होती है, ऐसा अनुभवी लोगों का कहना है ॥२०,२१॥

ये तीनों साध्यभेद अज्ञानियों के लिए ही हैं, यह कहते हैं।

सन्मति तत्त्वज्ञ विद्वान् की दृष्टि में जब यह सब आत्मस्वरूप हो जाता है तब इन तीनों पक्षों में से कोई भी पक्ष नहीं ठहरता ॥२२॥

ज्ञानी के लिए यदि तीसरा विकल्प मान भी लिया जाय, तो भी कोई दोष नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

(♟) ग्रहणबुद्धि की विषयभूत वस्तु उपादेय है, यह प्रवृत्ति की विषय है। त्यागबुद्धि की विषय वस्तु हेय कहलाती है, यह निवृत्ति की विषय है। उपेक्षाबुद्धि की विषय वस्तु उपेक्ष्य है।

किसी समय ज्ञानी उस लीला से ही इस समस्त जगत् को उपेक्षापक्ष में रखकर केवल देखता है और नहीं भी देखता है ॥२३॥

एक ही वस्तु एक पुरुष के बोध, राग और वैराग्य अवस्था के भेद से तीन प्रकार की हो जाती है, ऐसा कहते हैं।

एक ही वस्तु ज्ञानी की दृष्टि में उपेक्षात्मक, मूढ़ की दृष्टि में उपादेयात्मक और उत्तमवैराग्यसम्पन्न पुरुष की दृष्टि में हेयात्मक हो जाती है। हे रामभद्र, आकाशगमनसिद्धि आदि का क्रम कैसा है, उसे आप अब सुनिये ॥२४॥

सिद्धि के तारतम्य में तथा चिरकालिक एवं अचिरकालिक प्रयत्न की आवश्यकता में उपाय बतलाते हैं।

देश, काल, क्रिया एवं द्रव्य की अपेक्षा रखनेवाली सब तरह की सिद्धियाँ यहीं पर, भूतल को वसन्त के सदृश, जीव को मोहित करती हैं ॥२५॥

ये जो देश आदि सिद्धि के चार साधन हैं उनमें श्रीशैल आदि उत्तमोत्तम देश आदि चार साधनों के मिल जानेपर शीघ्र सिद्धियों का लाभ हो जाने से योग, मन्त्र, जप आदि क्रियाओं में दूसरे देश में अनुष्ठित क्रियाओं की अपेक्षा प्रधान उत्कर्ष की कल्पना होती है और तद्नुसार ही फलोत्कर्ष भी होता है, यह कहते हैं।

हे साधो, सिद्धि आदि के साधन में ये जो चार हेतु हैं उनमें श्रीशैल आदि में अनुष्ठित योग आदि क्रिया में उत्कर्ष की कल्पना होती है, क्योंकि फलोत्कर्षक्रम जितने हैं वे सभी उन क्रियाओं के उत्कर्ष के अनुसार ही होती हैं ॥२६॥

ठीक है, हमने वैसा मान लिया, इससे प्रकृत में क्या आया, इस पर कहते हैं।

उड्डामरतन्त्र, योगिनीकल्प आदि बड़े–बड़े अनेक ग्रन्थों में आकाशगमन आदि के साधन ये भी प्रसिद्ध है – सिद्धगुटिका, सिद्धांजन, सिद्धखड्ग, सिद्धपादुका आदि। 'कथं संसाधयत्येतत्' यह जो आपने प्रश्न किया है उसका अभिप्राय यदि उन क्रियाक्रमों का निरूपण करने में है, तो अविस्तृत कथन से उनका निरूपण न हो सकने के कारण कथन का विस्तार अवश्य करना होगा। उससे सिद्धियों के विषय में जिज्ञासा न रखनेवाले अतत्त्वज्ञ श्रोताओं की दैववश इच्छा हो जायेगी और उनमें वे प्रवृत्ति करने लग जायेंगे, इससे बड़ा अनर्थ हो जायेगा। आपके लिए भी वह विस्तार प्रकृत आत्मश्रवण में विघ्नरूप हो जाने से विघातक ही है, इसलिए प्रकृत में उसका निरूपण उचित नहीं है ॥२७॥

यही न्याय मणि, मन्त्र आदि से होनेवाले सिद्धिक्रम के निरूपण में तथा श्रीशैल आदि सिद्ध देश में निवास से सिद्ध होनेवाले सिद्धिक्रम के निरूपण में भी लगाना चाहिए, यह कहते हैं।

हे रामभद्र, मणि, औषधि, तप, मन्त्र और क्रिया से होनेवाली सिद्धि के क्रम का निरूपण भी दूर ही रहे, क्योंकि उसका विस्तारपूर्वक निरूपण करना भी प्रकृत आत्मतत्त्वरूप अर्थ का विघातक ही है। हे कृतार्थ श्रीरामजी, सिद्ध देश से प्रसिद्ध श्रीशैल अथवा मेरू पर्वत पर निवास कर रहे पुरुष को सिद्धि होती है–इसका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करना आपके जैसे सिद्धियों में तुच्छत्व बुद्धि रखनेवाले पुरुषों के लिए प्रकृत आत्मचिन्तनरूप अर्थ का विघातक ही सिद्ध होगा ॥२८,२९॥

तब तो मेरा प्रश्न बिलकुल निरर्थक ही है–इस विचार से श्रीरामचन्द्रजी को किसी तरह का दुःख न हो, इसलिए प्रस्तुत ज्ञान की दृढ़ता में उपयोगी, आनुषंगिक आकाशगमनादि सिद्धियों में साधनभूत तथा वर्णन की जा रही कथा से सम्बद्ध प्राणायामक्रम संक्षेप से सुनाते हैं।

इसलिए हे श्रीरामजी, शिखिध्वज की कथा के प्रसंग से प्राप्त सिद्धिरूपी फल से युक्त इस प्राणादि वायु की अभ्यासक्रिया का आप श्रवण कीजिये। साध्यार्थ और साधनार्थ अखिल अन्तस्थ वासनाओं का त्यागकर गुदा आदि द्वारों के संकोच से, सिद्धादि आसन, काय, मस्तक और गर्दन की समता, निश्चलता, तथा नासिका के अग्रभाग में अवलोकनादि योगशास्त्रोक्त क्रियाक्रमों से; भोजन और आसन की शुद्धि से, भलीभाँति योगशास्त्र के परिशीलन से, उत्तम आचार से, सज्जनों के संग से, सर्वत्याग से, सुखासन से, कुछ काल तक प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से, क्रोध, लोभ आदि के बिलकुल त्याग से तथा भोगों के त्याग से हे सुव्रत श्रीरामचन्द्रजी, रेचक, पूरक और कुम्भक का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर प्राणों का स्वामी हो जाने के कारण योगियों के सब प्राण उस तरह उनके अधीन हो जाते हैं, जिस तरह राजा के नौकर ॥३०–३४॥

प्राणों के अपने अधीन हो जानेपर यानी प्राणों के ऊपर अपना सब नियन्त्रण हो जाने पर उनसे सम्बद्ध सिद्धियाँ भी अपने अधीन हो जाती हैं – यह कहते हैं।

हे राघव, देह के वायु के अपने अधीन हो जाने से यानी देहस्थ वायु के ऊपर अपना नियन्त्रण हो जाने से राज्य से लेकर मोक्षपर्यन्त सभी सम्पत्तियाँ सबको सुखसाध्य हो जाती हैं ॥३५॥

अब, देहस्थ वायु के अपने अधीन हो जाने से सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, यह जो कहा गया, इसका उपपादन करने के लिए सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई बहत्तर हजार शाखाओंवाली प्रधान सौ नाड़ियों की आश्रित, मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सात चक्रों में प्रविष्ट होकर निकली हुई तथा मूलाधार में साढ़े तीन वलय के वेष्टन के भीतर सोई हुई कुण्डलिनी की शक्ति से सम्पन्न सुषुम्ना नाडी का वर्णन करते हैं।

चारों ओर से फैली हुई शाखाओं से परिवेष्टित होने के कारण मण्डलित आकार से युक्त, मर्मस्थान में समाश्रित, सौ नाडियों की आश्रय आन्त्रवेष्टनिका (सुषुम्ना) नाम की नाडी है (चूँकि आँतों की नाडियों से वह बिलकुल घिरी हुई है, इसलिए उसका नाम आन्त्रवेष्टनिका पड़ा है) ॥३६॥

मूलाधार में स्वान्तर्गत कुण्डलिनी के स्थान की अनुकूलता से उसका वर्णन करते हैं।

वीणादण्ड के मूलभाग में प्रसिद्ध रेखास्वरूप आवर्त के (तन्त्री के मूल में परिवर्तनरूप जो आवर्त होता है उसके तुल्य अथवा जलपरिवर्तनस्वरूप जो आवर्त होता है) उसके तुल्य, द्रविडाक्षर में लिखकर देखने में ॐकार के पूर्वार्द्ध के समान और नागरी लिपि में तो ॐकार के उत्तरार्द्ध के समान तथा कुण्डल एवं आवर्त के तुल्य वह सुषुम्ना नाडी स्थित है ॥३७॥

यह केवल मनुष्यों के ही शरीर में होती हो, यह बात नहीं है, किन्तु सभी जीवों के शरीरों में यह एक–सी होती है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, देव, असुर, मनुष्य, मृग, मगर, खग आदि में, कीट, पतंग आदि से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सब प्रकार के प्राणियों में वह नाडी उदित है। शीतजन्य पीड़ा के निवारण के लिए गेंडुरी

मारकर (गोलाई बाँधकर) सोये हुए सर्पराज के शरीर की नाईं बद्धमण्डल, शुभ्र तथा प्रलयाग्नि से गल रहे चन्द्रमा के तुल्य बद्धकुण्डली वह नाडी है। गुदा से लेकर भौंह के बीच तक सब छिद्रों का स्पर्श कर रही वह सुषुम्ना नाडी मन की वृत्तियों से भीतर चंचल और बाहर प्राणादि से स्पन्दयुक्त होकर सदा अवस्थित रहती है ॥३८–४०॥

उसके मूल में साढ़े तीन वलय के आकार से युक्त कुण्डलिनी संज्ञावाली चित्शक्ति है।

उसके आभ्यन्तर में यानी कदलीकोश के सदृश मूलाधार में वीणा के मूल में दुर्लक्ष्य तारों के वेग से विलास कर रही–सी परम–सूक्ष्म पराशक्ति नाम की सकल शब्दों की मूलभूत शब्दब्रह्मात्मिका जो स्फूर्ति है वही प्राणसंग से नाभि, हृदय और कण्ठ प्रदेशों में उतरोत्तर को अत्यन्त व्यक्त होकर देखती हुई मध्यमा, वैखरी इत्यादि भेदों को प्राप्त करती है (🔔)। चूँकि वह कुण्डलाकारवाहिनी है, इसलिए कुण्डलिनी नाम से कही गयी है। वह सब प्राणियों की परमाशक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सब शक्तियों की सत्तास्फूर्ति की प्रवृत्ति में निर्वाहक होने से वेगप्रदान करनेवाली है ॥४१,४२॥

उनमें प्राणशक्ति वेगप्रदान करनेवाली कैसे है, यह कहते हैं।

वही अपने मुख से प्राणवायु को ऊपर फेंकती है और अपान को नीचे खींचती है, इसलिए सदा साँस खींचती हुई स्पन्दन में हेतु बनी हुई ऊपर की ओर मुँह करके क्रुद्ध साँपिन की नाईं अवस्थित रहती है ॥४३॥

बुद्धिशक्ति को वेगप्रदान कनेवाली कैसे है, यह कहते हैं।

जब हृदय में स्थित प्राणवायु कुण्डलिनी से आकृष्ट होकर अपानवृत्ति द्वारा कुण्डलिनी पद को प्राप्त होता है तब अपंचीकृत भूतों से जनित अन्तःकरण में विद्यमान जीवसंवित् स्मृति, संकल्प, अध्यवसाय, अभिमान, राग आदि वृत्तियों के भेदों से अन्दर उदित होती है ॥४४॥

कैसे इन्द्रियशक्ति को वेगप्रदान करती है, यह बतलाते हैं।

इस तरह प्राण और बुद्धि को ज्ञान और क्रिया शक्ति प्रदान करनेवाली कुण्डलिनी कोमल स्पर्शवाली (विषय सन्निकर्षवाली) चक्षु आदि इन्द्रियों से उदय प्राप्त करती हुई, कमल में भ्रमर की नाईं, देह में जैसे–जैसे (जिस तरह के भोजक के अदृष्ट या दृष्ट सामग्री के वैचित्र्य से) स्फुरित होती है वैसे–वैसे अन्तःकरण में तत्–तत् इन्द्रियों से अर्थविशेषों में स्फूर्तिस्वरूप तत्–तत् फलभोगादिरूप संवित् उदित होती है ॥४५॥

कैसे वह इन्द्रियसन्निकर्षों की वशवर्तिनी है, यह कहते हैं।

ज्यों–ज्यों चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ विषयस्पर्श प्रथम उत्पन्न होता जाता है त्यों–त्यों कार्यकरणसंघातरूप यन्त्र के प्रेरक वृत्ति द्वारा बाहर निकले हुए प्रमाता की बाह्य विषयों के साथ परस्पर

(🔔) ऐसा ही मन्त्रशास्त्र में कहा गया है :

चैतन्यसर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति यद्विदुः। तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ॥
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥' इत्यादि।

साम्ब ने भी कहा है :

या स. मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसंगात् प्रसूते।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितं मध्यमां बुद्धिसंस्थां वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥

आलिंगन करानेवाली संवित् कुण्डलिनी अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है ॥४६॥

मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी की सब नाड़ियाँ चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रवर्तन में द्वार हैं, इस आशय से कहते हैं।

उस कुण्डलिनी में हृदयकोश की समस्त नाड़ियाँ सम्मिलित हैं। वे सब नाड़ियाँ, सागर में नदियों की नाईं, उसीसे बारबार उत्पन्न होती हैं तथा उसीमें विलीन हो जाती है ॥४७॥

वे कैसे बारबार उसीसे उत्पन्न होती है तथा उसीमें विलीन हो जाती हैं, यह कहते हैं।

प्राणरूप से उसके ऊर्ध्वगमन में उत्सुक होने तथा अपानरूप से अधःप्रवेश की ओर उन्मुख होने से सम्पूर्ण ज्ञानों की एक वही साधारण बीज कही गयी है ॥४८॥

अपरिच्छिन्न चिति का–मूलाधार नाड़ीमूल में परिच्छिन्न कुण्डलिनी नामक अपने अंश से–उदय कैसे और किस लिए होता है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

महर्षे, जब वस्तु और काल से (卐) अपरिच्छिन्न सर्वात्मक चितिसंवित् है, तब उस कुण्डलिनीकोश से ही सब तरह की संवित् का स्फुट उदय होता है, यह कैसे और किसलिए ? ॥४९॥

जब देशकृत परिच्छेद का अभाव वस्तुकृत परिच्छेद के अभाव में अन्तर्भूत है तब तो कालकृत परिच्छेद के अभाव भी वस्तुकृत परिच्छेद के अभाव में अन्तर्भूत ही है, फिर उसका पृथक् उपादान व्यर्थ है। यदि यह कहिये कि स्पष्टीकरण के लिए उसका अलग उपादान किया गया है, तो देशकृत परिच्छेद का अभाव में भी यह कह सकते हैं – यों तीनों के अनुवाद के व्याज से दिखलाते हुए, निराकार और निर्विषयक चिति की–जीवाकारस्वरूप से या घटादि विषयकस्वरूप से–अभिव्यक्ति बतलाने के लिए 'तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूः' इत्यादि जो पहले कहा गया था उसी अर्थ की विस्तार से व्याख्या करने की इच्छा कर रहे महाराज वसिष्ठजी – स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों के आकार में परिणत भूतों से सापेक्ष ही चिति की विशेषाभिव्यक्ति होती है – यह बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप रामजी, यद्यपि सब जगह सदा चितिसंवित् ही सब कुछ है, तथापि भूततन्मात्राओं के कारण इसका उदय कहीं पर ही होता है ॥५०॥

संवित् में देशकृत परिच्छेद का अभाव होनेपर वह सर्वत्र भासित होने लगेगी, ऐसी आशंका करके केवल उपाधि के कारण ही उसका उदय होता है, यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

सर्वत्र विद्यमान रहता हुआ भी सूर्य का प्रकाश जैसे दीवार, दर्पण, जल आदि में विशषरूप से अवभासित होता है वैसे ही सर्वत्र देहों में विद्यमान रहती हुई भी चितिसंवित् बुद्धि के चांचल्य से चंचल अवभासित होती है ॥५१॥ वह चितिवस्तु कहीं मिट्टी, पत्थर आदि वस्तुओं में अविद्यारूपी जड़ता से तिरोहित हो जाने के कारण गरम जल में छोड़े गये ठंडे जल की नाईं अदृष्ट है। कहीं देव, मनुष्य आदि लिंगों में तो वह स्पष्ट ही अभिव्यक्त है और कहीं वृक्षादि लिंगों में विवेकज्ञान से शून्य तथा तत्–तत् पदार्थों की सत्तारूप से विलासित दृष्ट है ॥५२॥

जो अभिव्यक्तितारतम्य अभी कहा गया है, उसीका इस सर्ग की समाप्तितक क्रमशः निरूपण

(卐) देशकृत परिच्छेद के अभाव का भी वस्तुकृत परिच्छेद के अभाव में ही अन्तर्भाव है, इस आशय से यहाँ काल और वस्तुकृतपरिच्छेद के अभाव का उपादान किया गया है।

करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं।

हे पापशून्य श्रीरामजी, पशुओं से लेकर स्थावर आदि देहों में तथा मनुष्यादि शरीरों में जिस तारतम्य से संविन्मयक्रम उदित होता है, यह फिर मैं आपसे क्रमशः कहता हूँ, आप खूब सुनिये ॥५३॥

स्थूल और सूक्ष्म भूतों के अध्यास का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिए उपोद्घात द्वारा सबके अधिष्ठान, सच्चिदेकरस, समस्त प्रपंच और उसके धर्मों से शून्य उस आत्मतत्त्व का सबसे पहले निर्देश करते हैं।

जैसे आकाश शून्यमात्र है वैसे ही यह सम्पूर्ण चेतन और अचेतन भूतों का समूह तथा आकाश जो कुछ भी भासता है वह सब असंग, विभु और सूक्ष्म चिन्मात्र ही है ॥५४॥

उस चिन्मात्र के उसी तरह से स्थित रहनेपर माया द्वारा कल्पित एक देश में आकाशादि सूक्ष्म भूतों का अध्यास होने से वही भूततन्मात्ररूप से अवस्थित है, यह कहते हैं।

वह सन्मात्र, चिन्मात्र, विकारशून्य और अनामय संवित् ही कहीं माया द्वारा कल्पित एक देश में भूत और पंचतन्मात्राओं के रूप से अवस्थित है। प्राण, मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय– इस पंचप्रकार को प्राप्त लिंगशरीर में प्रतिबिम्बरूप से प्रवेश करके सम्पन्न हुए हे श्रीरामचन्द्रजी, जन्मादि विकार तथा जाग्रदादि अवस्थाओं के भेद जिसमें अन्तर्भूत हैं ऐसे स्वसंविद्रूप जीवभाव को आप उस तरह लक्षित करते हैं, जिस तरह एक दीप से सौ दीप। लिंगारम्भ से कुछ ऐसे भी तन्मात्रपंचक हैं, जो इस संसार में देवमनुष्यादि आकार की वासनाओं के अनुसार कुछ संकल्पस्वरूप अपनी सत्तामात्र से ही केवल पंचीकरण द्वारा स्थूल देहभाव को प्राप्त होते हैं। कोई तन्मात्रपंचक पशु–पक्षी आदि तिर्यग्देहभाव को प्राप्त होते हैं; कोई सुवर्ण, रजत और खप्पर से उपलक्षित ब्रह्माण्डभाव तथा उसके अन्तर्गत भुवनादिभोग्यभाव को प्राप्त होते हैं, कोई देशादिभाव को और कोई द्रव्यादिभाव को प्राप्त होते हैं ॥५५–५८॥

ठीक है, बात ऐसी ही है, किन्तु इससे प्रकृत में आया क्या ? इसपर कहते हैं।

हे रघुनन्दन्, इस तरह यह संसार पंचतन्मात्रा का केवल स्पन्दनमात्र ही सिद्ध है। *ठीक है, तब तो अधिष्ठानचैतन्य सर्वत्र विद्यमान है, फिर घटादि चेतन क्यों नहीं है ? इस शंका पर कहते हैं।* और वह चितिसंवित् ही यहाँ सर्वत्र विद्यमान है ॥५९॥ किन्तु केवल चैतन्याभिव्यंजक प्राणादिपंचक (प्राण, मन, बुद्धि, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय) के कारण लिंगशरीर की प्रधानता से मनुष्यादि देहों में मुख्यचेतन नामवाली, कहीं (तिर्यगादि में) लिंग और स्थूल देह की प्रधानता में समता होने से जड़चेतननामवाली और स्थावरादि में तो लिंगशरीर के अन्तःसंवेदनमात्र होने से बाहर मनुष्यों द्वारा चैतन्य की भावना न होने से वह चितिसंवित् केवल जड़नामवाली प्रसिद्ध है ॥६०॥

तीनों में भी वह चिति किस तरह तारतम्य से स्थित है ? इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं।

जैसे दिन में पिघला हुआ घी का समुद्र सायंकाल में शीतल पवन के स्पर्श से तट पर धीरे–धीरे गाढ़ हो जाने से निश्चल होकर द्रवस्थान में तरंग के समान चंचल, कुछ घनीभूत प्रदेश में कुछ चंचल और अत्यन्त घनीभूत प्रदेश में स्थल की नाईं अचल स्थिर रहता है, वैसे ही यह चितिसंवित् नर, तिर्यक् और स्थावरादि देहरूप पंचकों में क्रम से चंचल, कुछ चंचल तथा अत्यन्त जड़ता से युक्त अर्थात् बिलकुल

निश्चल स्थित रहती है ॥६१॥

जैसे कहीं घनीभाव होने से चांचल्य के अभाव में भी सागर के सागरत्व में क्षति नहीं होती, वैसे ही स्थावरादिभाव में भी चिति की चिद्रूपता में कुछ भी क्षति नहीं होती, यह कहते हैं।

सागर कहीं से शान्त और कहीं से चंचल रहे, तो क्या वह सागर नहीं कहा जाता ? अर्थात् वह जैसे सागर ही कहा जाता है, वैसे ही सुर, नर, पशु, पक्षी आदि योनियों में चंचलता का न्यूनाधिकभाव होनेपर भी चैतन्य सब जगह अक्षत है, क्योंकि यह सम्पूर्ण भूततन्मात्रपंचक जड़ और अजड़ है। तात्पर्य यह है कि यह जड़अजड़विकल्प, चिति में अध्यस्त भूततन्मात्रपंचक का धर्म है, चितिका धर्म नहीं है; क्योंकि वह चिति तो निर्धर्मक है ॥६२॥

भूततन्मात्रपंचक में स्वभाव के वश से इस तरह के अनेकों विकल्प देखे गये हैं।

हे पापशून्य श्रीरामजी, देहादि आकार में परिणत पंचक–प्राणधारण के अधीन स्पन्दन और चैतन्य के कारण–जीव (चेतन) कहलाता है, उससे स्पन्द होता है और शैल आदि तो केवल जड़ ही है। स्थावरादि शरीर तो बाहर की वायु से स्पन्दनशील (चेष्टावान्) होते हैं तथा अन्तःकरण ही चेतन है, इत्यादि स्वभाव के ही वश से होते हैं। हे रघुनन्दन, यदि आप यह आक्षेप करे कि जो स्वभाव यानी स्वात्मक भाव है वह विरुद्धविकल्पात्मक कैसे हो सकता है, क्योंकि विरोध परसापेक्ष और स्वभाव अनन्यापेक्ष होता है। यदि आप यह कहें कि स्वीय यानी अपना जो भाव वह स्वभाव है, तो भी वह स्वमात्रसापेक्ष ही हुआ, परसापेक्ष नहीं; इसलिए वह परसापेक्ष विकल्प का स्वरूप या निमित्त कैसे हो सकेगा ? तो मैं आपसे यह पूछता हूँ कि स्वभाव को छोड़कर (स्वभाव के विषय में किसी तरह का आक्षेप न कर) पहले आपको वाणियों के विषय में ही आक्षेप करना चाहिए, क्योंकि वे चित्–जड़ादिशब्दस्वरूप ही हैं। अपने पुनरूक्तिदोष की निवृत्ति के लिए वे स्वार्थ की व्यावृत्ति करती हुई चैतन्य और जाड्य को विरुद्ध बनाती हैं एवं शीतोष्णादि धर्मपरक और हिमअग्नि आदि धर्मिपरक सम्पूर्ण वाणियाँ भी, जो इसी तरह की हैं, सर्वत्र दिखाई पड़ती है ॥६३,६४॥

अथवा वाणी के विषय में भी आपको आक्षेप न करना चाहिए, क्योंकि वह वासनाकल्पित विकल्प की नाईं पंचकार्थानुवादी होने के कारण पराधीन बन चुकी है। किन्तु तत्–तत् विरुद्ध विकल्पभाव से वासनांश का ग्रहण करनेवाले विकारयुक्त लिंगात्मक पंचकों की केवल स्थिति के विषय में ही आक्षेप करना चाहिए।

अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, जिन्होंने वासनांश का ग्रहण किया है ऐसे परिपुष्ट विरुद्धविकारों से युक्त पंचकों की स्थिति के विषय में ही आक्षेप करने में आपको अधिक योग देना चाहिए। अथवा उन पंचतत्त्वों की स्थिति का भी कोई अपराध नहीं है, क्योंकि वे पूर्व–पूर्व हजारों विरुद्ध विकल्पों की वासनाओं का अनुसरण करनेवाली हैं; चित्त को इधर–उधर दौड़ाने में समर्थ तथा चारों ओर खूब बिखरी हुई वासनाओं के ही विषय में विरुद्ध विकल्प कल्पनाओं की जड़ खोज रहे बुद्धिमान् पुरुष आनन्दपूर्वक आक्षेप कर सकते हैं, स्वभावादि के विषय में नहीं। देवादि शुभभाव में प्रबुद्धवासनायुक्त तथा तिर्यक् स्थावर आदि अशुभभाव में सुप्तवासनायुक्त अन्य पंचक अवस्थित रहता है, इसलिए वासना ही पंचकों की स्थिति में कारण है, ऐसा आक्षेप कर सकते हैं। जिस वासना

के विषय में आक्षेप करने से उसका क्षयरूप फल अच्छी तरह अनुभूत होता है उसी के विषय में आक्षेप करना चाहिए, मुट्ठी में धूलि उठाकर आकाश में नहीं फेंकना चाहिए । तात्पर्य यह कि स्वभावादि के विषय में किसी तरह के आक्षेप करनेका कोई फल नहीं है । यही कारण है कि वासना का क्षय हो जानेपर पूर्णात्मलाभ होने से मेरु आदि सुवर्ण की राशियाँ भी तिनके के समान तुच्छ मालूम पड़ने लगती हैं और विवेकनिष्ठ को ये सब स्थावर–जंगम आदि भी कीट, पतंग आदि के समान अत्यन्त तुच्छ भासित होने लगते हैं ॥६५–६९॥

वासना के स्वाप और प्रबोध के तारतम्य से पंचकों में स्थावरादि की विचित्रता कैसे उत्पन्न होती है, यह उदाहरण दिखलाते हैं।

और इन में कोई–कोई जैसे स्थावरादिजाति प्रसुप्तवासनावाले हैं और कोई–कोई जैसे नर–सुर आदि प्रबुद्ध वासनावाले हैं । कोई–कोई जैसे ये पशु, पक्षी आदि वासनाओं के कारण अस्वच्छ चित्त से युक्त हैं और कोई–कोई जैसे ये मोक्षगामी, वासनाओं को त्याग चुके हैं । वासना की विचित्रता से ही देव, नर आदि पंचतत्त्वराशि, आकाश तथा भूमिपर गमन आदि विचित्र व्यवहार के योग्य हस्त, पाद आदि तथा इनसे कल्पित कर्मेन्द्रियों से युक्त देव, नर आदि पंचकराशियों द्वारा अपनी–अपनी संवित् में मनुष्यादिव्यवहार के योग्य मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, चक्षु, कर्ण, घ्राण, रसना, त्वक् आदि आभ्यन्तर और बाह्य करण रूप संज्ञाएँ की गयी हैं, यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी में विचित्र स्वभाव की वे संज्ञाएँ दिखाई देती हैं । पशु आदि ने अन्य ही संज्ञाओं की कल्पना की है अर्थात् चार पैर, दो सींग तथा एक पुच्छ की; पक्षियों ने चोंच, पाँख, पूँछ और पैरों की; साँपों ने फन, भोग और पूँछ की तथा कृमि, कीट, दंश, मशक आदिने अपनी–अपनी वासनाओं के अनुरूप व्यवहार के योग्य अवयवादि संज्ञाओं की कल्पना की है । इसी तरह स्थावरादि दूसरों ने भी अन्यान्य संविदों की कल्पनाएँ की हैं । हे साधो श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरह काल्पनिक स्वस्वरूप से आदि, अन्त और मध्य में विकारी और जड़ तथा अधिष्ठानसद्रूप से अचल और अजड़रूप से ये विचित्र भूतपंचकों की राशियाँ स्फुरित हो रही हैं ॥७०–७४॥

यों अनन्त पंचकभेदों का वर्णन करके अब महाराज वसिष्ठजी–उनमें कर्मोपासनाओं के समूहों के अनुष्ठान के फलस्वरूप समष्ट्यहंभाव को प्राप्त हुए किसी एकका कोई एक संकल्पपरमाणु ही इस संसाररूपी आकाशवृक्षों का बीज है–यह बतलाते हैं।

हे महीपते, समष्टिविषयक होने के कारण इन में किसी–एकका सर्वत्र अभिव्याप्त संकल्पात्मक कोई एक परमाणु ही सृष्टिरूपी आकाशवृक्षों का बीज है और उन सृष्टिरूपी आकाशवृक्षों में ही ये भूत पंचक हैं ॥७५॥

सृष्टियों में जो आकाशवृक्षता कही गयी है, उसका–फल और गन्ध आदि की कल्पना द्वारा–उपपादन करते हैं।

उनमें इन्द्रियाँ विषयरूपी सुगन्धप्रधान पुष्प आदि हैं, इच्छाएँ भौंरियाँ हैं और चंचल कर्मेन्द्रियों की क्रियाएँ मंजरियों के रूप में शोभित होती हैं । स्वच्छ स्वर्गादि लोकान्तर वृक्ष हैं, सुमेरुसहित सभी पर्वत मूल हैं । काले बादल पल्लव हैं और दसों दिशाएँ चंचल लताएँ हैं । हे रघुनन्दन, वर्तमान और भविष्यत्

चार प्रकार के जो शरीर हैं वे सब उस वृक्ष के अनन्त फल के रूप में विराजमान हैं। हे श्रीरामजी, इस तरह ये पंचबीज तथा पंचवृक्ष अपने विवेकशून्य आत्मा से स्वयं उत्पन्न होते हैं और समय पाकर स्वयं नष्ट भी हो जाते हैं। ये स्वयं नानाभावको प्राप्त होते हैं, जड़ता के कारण चिरकाललक स्फुरित होते रहते हैं और समुद्र में तरंग की नाईं अपने से विवेकदृष्टि से दिखने पर शान्त हो जाते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्र में एक ओर तरंग उत्पन्न होते हैं और दूसरी ओर स्वयं नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये सब जड़ता के कारण एक ओर उन्नति को प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर विवेक के कारण स्वयं नष्ट हो जाते हैं। हे श्रीरामजी, जो पंचकविलास की राशियाँ निर्वासन नाशपर्यन्त विवेक के वश में चली गयी हैं वे इस संसार में पुनः जन्म–मरण देहधारणादिरूप संस्थिति को प्राप्त नहीं होती और दूसरी पंचकविलास की राशियाँ तो निरन्तर इस संसार में भ्रमण किया करती हैं ॥७६–८२॥

अस्सीवाँ सर्ग समाप्त

इक्यासीवाँ सर्ग

कुण्डलिनी के प्रसंग से रोगों की उत्पत्ति और उनके नाश के क्रम तथा
सिद्धि और सिद्धों के दर्शन के उपाय आदि का वर्णन।

यदा प्राणानिलो याति हृदि कुण्डलिनीपदम्। तता संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूः॥ (हृदय में जब प्राणवायु कुण्डलिनी स्थानतक पहुँच जाती है, तब भीतर में भूत और तन्मात्रा की बीजभूमि संवित् उदित होती है) इससे बुद्धिशक्तियों में स्फूर्तिप्रदातृत्व का उपपादन करते समय (भूततन्मात्रबीजभूः) इस अंश को स्पष्ट समझाने के लिए जो स्थूल और सूक्ष्म पंचभूतों का विचार किया गया था, उसकी संगति दिखलाते हुए आकाशगमनादि सिद्धियों में बीजभूत प्राणाभ्यास में उपयुक्त, प्रस्तुत कुण्डलिनी में प्राणादि की उत्पत्ति का प्रकार दिखलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, स्थूलशरीरात्मक पंचक के मूलाधार उस कुंडलिनी में, जिसका हमने पहले वर्णन किया था, इस लिंगात्मक पंचक का उपादान कारण भूतसूक्ष्म सदा पांच प्राणवायुओं के रूप से स्फुरित होता है ॥१॥

प्राणरूप से अन्दर स्फुरित हुई वह कुण्डलिनी वायुधर्म और स्वधर्म से स्पन्द, स्पर्श और संवित्–इन तीन रूपों की कल्पनास्वरूप बनकर कला, चित्, जीव, मन, संकल्प, बुद्धि, अहंकार, पुर्यष्टक, लिंग–इत्यादि नामों को कलनादि व्यापारों की उपाधियों से प्राप्त करती है, यह कहते हैं।

वह कुण्डलिनी प्राणरूप से अन्दर स्फुरित होकर वायु के धर्म से तथा अपने धर्म से स्पन्द, स्पर्श और संवित्–इन तीन रूपों की निर्मल कल्पनास्वरूप बनकर शीघ्र संकल्प करने से कला और चेतन से चित् कही गयी है। जीवनधारण करने से वह जीवस्वरूपता को प्राप्त है तथा मनन करने से मनरूप से वह स्थित है। संकल्प करने से संकल्प और बोध करने से बुद्धि कही गयी है। यह अहंकार करने के कारण अहंकारस्वरूपता को प्राप्त हो चुकी है। पुर्यष्टकनामधारिणी यह कुण्डलिनी देह में सर्वोत्तम जीवशक्तिरूप से स्थित है ॥२–४॥

शरीर में प्रधानरूप से स्पन्दशक्ति कहाँ रहती है, इस अभिप्राय से उसके तीन स्थान दिखलाते हैं।

अपानवायु होकर वह सदा नीचे की ओर बहती है। समाननाम से नाभि के बीच में तथा उदाननाम से ऊपर स्थित रहती है ॥५॥

वृत्तिभेद का यानी भिन्न-भिन्न स्थानों में उसके रहने का प्रयोजन कहते हैं।

अधोदेश में बहने से वह अपानस्वरूप है। मध्यदेश में अपान और उदान से स्वयं खीची जा रही भी वह सदा निश्चल ही रहती है तथा इन दोनों से अवष्टब्ध (संसक्त) रहने के कारण ही वह पुष्ट (बलवती) होती हुई भी पुरुष के लिए उदानस्वरूपा होकर स्वस्थ ही रहती है, तात्पर्य यह कि लिंग का बाहर उत्क्रमण नहीं कराती। उसके भिन्न-भिन्न देश में रहने का प्रयोजन केवल अपानन आदि ही समझना चाहिए। यदि सामान्यंवृत्ति उसे न पकड़ रक्खे, तो अपानवृत्ति से सब प्रयत्नपूर्वक खूब खींची जा रही भी वह जीवसंवित् अधोमार्ग से बाहर निकल जाती है और बलपूर्वक उसके निकल जाने से तो मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यदि युक्तिपूर्वक सामान्यवृत्ति से पकड़ न रक्खी जाय, तो वह पूरी जीवसंवित् सर्वप्रयत्न से ऊपर चली जाती है तथा बलपूर्वक उसके निकलजाने से तो मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥६-८॥

अतएव प्राण और अपान वायु के गतिनिरोध के अभ्यास से सब अंगों के अन्दर सामान्यवृत्ति से अन्यवृत्ति के ऊपर विजय होने पर सम्पूर्ण व्याधियों का नाश किया जा सकता है तथा मृत्यु पर भी विजय पायी जा सकती है, यह कहते हैं।

सर्वथा अन्तर्वायु के निरोध से ऊपर-नीचे का गमनागमन छोड़कर यदि सामान्यवृत्ति से जीव संवित् शरीर में स्थित रहे, तो जन्तु की सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥९॥

एक सौ प्रधान नाड़ियाँ हैं और सामान्यनाड़ियाँ तो उनकी शाखाएँ हैं, उनमें अन्नरस पहुँचानेवाली नाड़ी का कफ और पित्त बढ़ जाने से जहाँ पर व्यापार रुक जाता है वहीं पर इतर वायुओं से विषमता आ जाने के कारण अन्नरस को खींच लेने से छोटे और बड़े रोगों की उत्पत्ति होती है, यह कहते हैं।

सामान्य नाड़ियों के व्यापार का अभाव हो जाने से अन्नरस की अपरिपक्वता से सामान्य रोगों की उत्पत्ति होती है और प्रधान नाड़ियों के व्यापार का अभाव हो जाने से प्रधान रोगों की उत्पत्ति होती है। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनीश्वर, इस शरीर में शारीरिक और मानसिक रोग किससे उत्पन्न होते हैं तथा किससे विनष्ट होते हैं ? यह शीघ्र मुझसे ठीक-ठीक आद्योपन्त कहिये। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्दजी, आधि और व्याधि ये दोनों दुःख के कारण हैं और औषधादि द्वारा इनकी निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है तथा ज्ञान द्वारा इनका समूलनाश ही मोक्ष कहलाता है। शरीर के अन्दर आधि और व्याधियाँ कदाचित् परस्पर एक दूसरे के कारण बन जाने से उत्पन्न होती हैं, कदाचित् एक साथ और कदाचित् सुख के अनन्तर क्रम से उत्पन्न होती हैं। शारीरिक दुःख को व्याधि कहते हैं और वासनामय मानसिक दुःख को आधि। हे रामजी, यह जान लेना चाहिए कि अज्ञान ही इन दोनों का मूल कारण है। तत्त्वज्ञान होने पर इनका नाश अनिवार्य है ॥१०-१४॥

आधियों की उत्पत्ति में कारण बतलाते हैं।

तत्त्वज्ञान और इन्द्रियनिग्रह के अभाव से चित्त में निश्चलतारूप स्वास्थ्य की हेतु सूक्ष्मता का त्यागकर राग-द्वेष में फँस जाने से तथा यह प्राप्त हो गया लेकिन यह अभी बाकी है इस तरह रात-दिन

चिन्ता करने से जड़ता के कारण महामोहदायिनी आधियाँ (मानसिक व्यथाएँ) ऐसे प्रवृत्त होती हैं, जैसे वर्षा ऋतु में पत्थर–ओले ॥१५,१६॥

अब शारीरिक व्याधियों की उत्पत्ति में कारण बतलाते हैं।

प्रबल इच्छाओं के पुनः पुनः स्फुरित होने से, मूर्खता से, चित्त के न जीतने से, दुष्ट अन्न खाने से तथा श्मशान आदि निकृष्ट जगहों में निवास करने से शरीर में व्याधि प्रवृत्त होती है। आधी रात में तथा प्रदोषादि काल में भोजन एवं मैथुनादि व्यवहार से, दुष्कर्म करने से, दुर्जनों की संगतिरूप दोष से तथा विष, सर्प, व्याघ्र और चोर आदि की मन में शंका करने से शरीर में व्याधि प्रवृत्त होती है। और छिद्रों में अन्नरस का प्रवेश न होने के कारण नाड़ियों के क्षीण होने से अथवा छिद्रों में अन्नरस, वात आदि का द्विगुणित प्रवेश हो जाने के कारण नाड़ियों के परिपूर्ण हो जाने से कफ, पित्त आदि के प्रकोप से प्राण के व्याकुल होने से तथा चोर आदि के द्वारा शरीर के विकल हो जाने से अनेक दोषों के द्वारा अस्वस्थता के कारण शरीर के आकार का विपर्ययरूप रोग उस प्रकार देह में प्रवृत्त होता है, जिस प्रकार वर्षा और गरमी में नदियों के आकार का विपर्यय। पूर्वजन्म या इस जन्म की शुभ या अशुभ जो बुद्धि अधिक होती है वही उस व्याधि के क्रम में नियुक्त करती है। हे रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह भूतपंचक में आधि और व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अब वे कैसे नष्ट होती हैं ? वह भी सुनिये। इस संसार में दो तरह की व्याधियाँ होती हैं। एक सामान्य यानी कोमल और दूसरी सार यानी दृढ़तर। इनमें क्षुधा, तृष्णा, स्त्री–पुत्र आदि की लालसा से उत्पन्न जो व्यवहार है वह सामान्य व्याधि कही गयी है तथा जो जन्मादि विकारों की जड़ है वह सार (दृढ़तर) व्याधि कही गयी है। अभिमत पदार्थों की प्राप्ति होने से क्षुधा, तृष्णा तथा स्त्री–पुरुष आदि जनित व्यावहारिक व्याधियाँ तथा आधि के क्षय से आधिभव (मानसिक) व्याधियाँ भी भलीभाँति नष्ट हो जाती हैं। हे राघव, आत्मज्ञान के बिना जन्मादिविकारों की जड़ सार व्याधि नष्ट नहीं होती, क्योंकि रज्जु के भलीभाँति अवबोध से ही रज्जु का सर्प नष्ट होता है। हे श्रीरामजी, जैसे वर्षाकाल की नदी अपने तट के सभी वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकती है वैसे ही सम्पूर्ण आधि और व्याधियों के विलासों को जड़ से उखाड़ फेंकनेवाला जन्मादि विकारों का मूल अज्ञानरूपी व्याधि का क्षय ही है। सामान्य व्याधियाँ तो आयुर्वेदोक्त औषधियों तथा मन्त्रादि शुभ कर्मों से अथवा वृद्धों की परम्परा से कथित औषधों से नष्ट होती हैं। हे श्रीरामजी, लोलार्क आदि तीर्थों में स्नान, मन्त्र, औषध आदि उपाय, वृद्धजनों से प्राप्त हुई औषधियाँ तथा आयुर्वेदशास्त्र तो आप स्वयं खूब जानते हैं। इनसे अतिरिक्त और मैं क्या आपको उपदेश दूँ॥१७–२८॥

आधियों से (मानसिक पीड़ाओं से) व्याधियाँ कैसे उत्पन्न होती हैं और उनकी कैसे चिकित्सा की जाती है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

गुरुवर, आधि से कैसे व्याधि उत्पन्न होती है और औषध से भिन्न मन्त्र, पुण्य आदिरूप युक्ति से वह कैसे नष्ट होती है ॥२९॥

आधि से व्याधि कैसे उत्पन्न होती है ? पहले यही बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मानसिक पीड़ाओं से चित्त के व्याकुल हो जाने पर शरीर अत्यधिक क्षुब्ध हो जाता है, इसीलिए क्रोधी जन्तु अपने आगे का प्रशस्त मार्ग नहीं देख पाता।

सम्मुख मार्ग को न देखकर कुमार्ग की ओर उस तरह दौड़ता है जिस तरह बाण से घायल हुआ हरिण अपने प्रकृत मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग की ओर दौड़ता है। मानसिक पीड़ाओं से संक्षुब्ध हुए प्राणवायु अपनी समता को छोड़कर शरीर में विरुद्ध मार्ग में ऐसे बहते हैं जैसे हाथी के प्रवेश से क्षुब्ध हुए जल नदी के तट में विरुद्ध मार्ग में बहते हैं। प्राणवायु के विषम बहने पर कफ, पित्त आदि के भर जाने से विषम स्थान में नाड़ियाँ ऐसे पहुँच जाती है जैसे राजा के अव्यवस्थित हो जाने पर वर्णाश्रम की मर्यादा विषम स्थान में पहुँच जाती है। प्राणवायु की विषमता द्वारा शरीर के विह्वल कर दिये जाने पर नदी के स्रोत की नाईं कोई नाड़ियाँ तो अत्यधिक पूर्ण हो जाती हैं और कोई बिलकुल खाली पड़ जाती हैं। प्राणवायु के संचार का क्रम बिगड़ जाने से भोजन किया गया अन्न कुजीर्णता, अजीर्णता या अतिजीर्णतारूप दोष को ही प्राप्त होता है। समाननामक प्राणवायु भुक्त अन्नों को रस बनाकर सम्पूर्ण शरीर में अपनी अपनी जगह में ठीक तरह से ऐसे पहुँचा देता है जैसे नदी का वेग पूर्वदिशा में काष्ठ को पहुँचा देता है। निरोध से जो अन्न शरीर के भीतर स्थित रहते हैं वे ही व्याधिरूप में परिणत हो जाते हैं, क्योंकि धातु की विषमतारूप परिणाम कर देना उनका स्वभाव है। इस तरह आधि से व्याधि उत्पन्न होती है और आधि के अभाव से व्याधि भी नष्ट हो जाती है। और हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार मन्त्रों से व्याधियाँ विनष्ट होती हैं वह भी क्रम आप सुन लीजिये। जिस तरह हर्रे (हरड़) के फल स्वभावतः विरेचनरूप कार्य करते हैं यानी दस्त पैदा करते हैं उसी तरह वायु, अग्नि, पृथिवी, जल आदि के बीजरूप य र ल व आदि मन्त्रों के वर्ण भी मान्त्रिक भावना के वश से नाड़ियों में रोगाकार परिणत अन्नरसों का उत्सारण, पाचन आदि कार्य करते हैं ॥३०–३९॥

आधियों के उपशम का उपाय बतलाते हैं।

हे साधो, शुद्ध और पवित्र साधुसेवनरूप क्रिया से मन ऐसे निर्मलता को प्राप्त होता है, जैसे कसौटी से सुवर्ण। हे राघव, चित्त के शुद्ध हो जाने पर शरीर में आनन्द ऐसे बढ़ता है, जैसे पूर्णचन्द्रमा के उदित होने पर इस भुवन में निर्मलता। सत्त्व की (अन्तःकरण की) शुद्धि से ये प्राणवायु अपने क्रम से बहते हैं और अन्न का परिपाक करते हैं, इससे सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥४०–४२॥

प्रासंगिक प्रश्न का उत्तर देकर अब जो प्रकृत सिद्धि में हेतु है, उसका निरूपण आरम्भ करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, कुण्डलिनी के कथा प्रसंग से आधि और व्याधि के नाश तथा उत्पत्ति के क्रम का वर्णन मैंने आपसे इस तरह कर दिया, अब आप प्रकृत प्रसंग सुनिये। हे राघव, पुर्यष्टकनामक लिंगात्मक जीव की आधारभूत कुण्डलिनी को आप सुगन्ध की आधारभूत पुष्पमंजरी की नाईं जानिये। पूरक के अभ्यास से जब प्राणी कुण्डलिनी को भर करके यानी कूर्माकार नाड़ी में प्राणवायु को रोक करके समरूप से स्थित होता है तब मेरुपर्वत के समान स्थिरता अर्थात् भैरवी सिद्धि तथा काय की गुरुता (गरिमा नामक सिद्धि) उसे प्राप्त होती है। जिस समय पूरक से पूर्ण शरीर के भीतर मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त लम्बा करके प्राणवायु को ऊपर खींचकर प्राणवायु के निरोध से उत्पन्न गरमी और तत्प्रयुक्त शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करने के लिए संवित् (कुण्डलिनी) ऊपर की ओर पहुँचाई जाती है, उस समय प्राणवायु को ऊपर खींचने से डण्डे की नाँई लम्बी होकर वह कुण्डलिनी देह में बँधी हुई, लता के समान सब नाड़ियों को अपने साथ लेकर अधिक अभ्यास होने के कारण साँपिन की तरह शीघ्र

ऊपर चली जाती है ॥४३–४७॥

वह कुण्डलिनी ऊपर कैसे चली जाती है, यह कहते हैं।

और उस समय नाड़ियों में वायु भर जाने से अवकाशरहित पैर से लेकर मस्तक तक बिलकुल हलके हुए इस शरीर को कुण्डलिनी इस तरह ऊपर उठा ले जाती है जिस तरह पवनपूर्ण जलगत भाथी (धौंकनी) नर को जल के ऊपर उठा ले जाती है, यही योगियों का आकाशगमन है। इस तरह अभ्यासरूप विलास से युक्त आकाशगामी योग से (१) अर्थात् आकाश के साथ शरीर का सम्बन्ध रखने के लिए किये गये संयमरूप योग से योगी लोग ऊपर गति को ऐसे प्राप्त हो जाते हैं, जैसे भिखारी लोग (किसी पुण्य के योग से) इन्द्रपदवी को। तात्पर्य यह है कि जैसे गरीब आदमी किसी पुण्य के योग से इन्द्रपदवी प्राप्त कर मारे आनन्द के उड़ने लगता है वैसे ही योगी लोग अपने योग के बल से आकाश में जाकर आनन्द से उड़ने लगते हैं ॥४८,४९॥

आकाशगामी सिद्धों के दर्शन में उपाय बतलाते हैं।

जिस समय दूसरी नाडियों के व्यापार को रोक देनेवाले रेचक प्राणायाम के प्रयोग से ऊपर की ओर खींच ली गयी कुण्डलिनीरूपा प्राणशक्ति सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्राणवायु के प्रवाह से मस्तक के दोनों कपालों की सन्धिरूप कपाट (केवाड़ी) के बाहर बारह अंगुल के षोडशान्तनामक स्थान में मुहूर्तभर के लिए स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धों का दर्शन होता है (२)। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : ब्रह्मन्, हम लोगों की इन्द्रिय से अदिव्यता के कारण ही सन्निकर्ष रहने पर भी जब सिद्धों का दर्शन नहीं होता तब (आप कृपाकर बतलाइये कि) चाक्षुषप्रभासन्निकर्ष के बिना षोडशान्तनामक स्थान में केवल प्राणधारण से सिद्धों का दर्शन कैसे होगा और फिर वह किस तरह का होगा ॥५०–५२॥

इन दोनों में पहले 'कैसे होगा ?' इस अंश का इष्टापत्ति से महाराज वसिष्ठजी परिहार करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, यह तो आपने ठीक ही कहा है कि अज्ञान का आश्रय करनेवाले मलिन पुरुषेन्द्रियों से या दूसरे किसी अदिव्य उपाय से इस पृथिवी पर विचरण करनेवाला कोई भी पुरुष वायुस्वरूप आकाशगामी सिद्धों को कभी नहीं देख सकता ॥५३॥

तो फिर वे किससे दिखाई देते हैं, कहते हैं।

हे राघव, योग के अभ्यास से मन के संस्कृत हो जाने के कारण विषयों से दूर संस्थित बुद्धिरूपी नेत्र से स्वप्न की नाईं आकाशगामी सिद्ध दिखाई देते हैं और वे अभीष्ट अर्थों को देते भी हैं ॥५४॥

सिद्धों का वह दर्शन 'किस तरह का होगा' इस प्रश्नांश का उत्तर कहते हैं –

जिस तरह स्वप्न में पदार्थों का अवलोकन होता है उसी तरह सिद्धों का भी अवलोकन होता है केवल स्वप्न की अपेक्षा विशेष यही है कि सिद्धों की प्राप्ति में संवाद, वरदान आदि फलरूप पदार्थों की प्राप्ति होती है ॥५५॥

जिस उपाय से दूसरों के शरीर में प्रवेश की सिद्धि होती है, अब वह उपाय बतलाते हैं।

---

(१) देखिये भगवान् पतंजलिमुनि का योगसूत्र :

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशागमनम् ।

(२) देखिये योगसूत्र : 'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनन्' ।

रेचक प्राणायाम के अभ्यासरूप युक्ति से मुख से बाहर बारह अंगुलपरिमित देश में प्राण को चिरकालतक स्थित रखने पर योगी अन्य शरीर में प्रवेश कर सकता है ॥५६॥

'केवलोऽथ विशेषोऽयं सिद्धप्राप्तौ स्थिरार्थता' यह जो आपने कहा, उसमें स्वभाव ही कारण है, यह कहना चाहिए और आप ही पहले अनेक बार 'घटस्य पटता दृष्टा' इत्यादि श्लोकों से यह भी कह चुके हैं कि मायामय होने के कारण सम्पूर्ण जगत् की स्थिति अनियत है, तो फिर इस विषय में आप कृपाकर बतलाइये कि एकमात्र स्वभाव की स्थिति नियत कैसे है ? यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

ब्रह्मन्, एक स्वभाव की चिरकाल तक अचल स्थिति कैसे रहती है, यह कृपाकर आप बतलाइये, क्योंकि अपने शिष्यों के ऊपर दया रखनेवाले प्रवचनशील महात्मा लोग कठिन प्रश्न पूछने पर भी खेद नहीं करते ॥५७॥

सत्यसंकल्प परमेश्वर की सृष्टिकाल में संकल्पप्रयुक्त वस्तुस्वभाव की नियति भी सृष्टिकाल तक ही नियत रहती है, फिर प्रलय होने पर वह नहीं रहती – इस तरह सम्पूर्ण पदार्थों के स्वभाव की नियति के भंग में किसी तरह का विरोध नहीं है, इस आशय से अपने पूर्वोक्त का स्मरण दिलाते हुए महाराज वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर देते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सत्यसंकल्प परमात्मा की स्वभावनामक शक्ति जो सर्गादि में जिस तरह स्फुरित होती है उसी तरह वह सर्ग के प्रलय तक स्थित रहती है, यह निश्चय है ॥५८॥

काल और देश के भेद से भी वस्तुओं की शक्ति में अनियतता (अनिश्चितता) देखी गयी है, इसे कहते हैं।

हे रामजी, अविद्या के अवस्तुरूप होने से वस्तुओं की शक्ति भी कहीं–कहीं अर्थात् कामरूपदेश आदि में भिन्न–भिन्न स्वरूप की होती है, वसन्त ऋतु में शरत्कालीन व्रीहि आदि फल भी दिखाई देता है। नाना और अनानारूप अनियत स्वभाव से स्थित यह सब कुछ ब्रह्म ही है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मस्वभाव से ही यह सम्पूर्ण जगत् निश्चित एकरूपवाला है, न कि दूसरे स्वभाव से। प्राणियों के कर्म और उनके फलोपभोग–व्यवहार के लिये केवल अज्ञात ब्रह्म ही कुछ काल तक नियत स्थिति धारण करके विकसित होता है ॥५९,६०॥

अब, अणिमा और महिमा नामक सिद्धि की किस उपाय से सिद्धि होती है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

हे ब्रह्मन्, सूक्ष्म छिद्रों में गमन करने के लिए इस देह को अणु तथा आकाश को पूर्ण करने के लिए इस देह को स्थूल योगी लोग कैसे बना डालते हैं ॥६१॥

अगले सर्ग में इस प्रश्न का उत्तर विस्तारपूर्वक बतलाने की अभिलाषा रखते हुए उसकी भूमिकारूप से वहीं पर देह में अग्निषोमव्याप्ति का निरूपण करने के लिए प्राण और अपान वायु के संघर्ष से मध्य में जठराग्नि की निष्पत्ति में दृष्टान्त देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जिस तरह लकड़ी और आरे के संघर्ष से लकड़ी के दो हिस्से हो जाते हैं उसी तरह प्राण और अपानवायु के संघर्ष से जठराग्नि स्वभावतः उत्पन्न हो जाती है ॥६२॥

प्राण और अपानवायु के संघर्ष की उपपत्ति के लिए परस्पर एक दूसरे को अपनी ओर जो खींचते हैं, उसमें कारण कहते हैं।

कुत्सित इस देहरूप यन्त्र के उदर–प्रदेश में नाभि के ऊपर तथा नीचे मिल रहे अतएव परस्पर जुट रहे मुखवाले आमाशय और पक्वाशयरूपी दो भाथी के सदृश स्थूलमांस काँपता हुआ ऐसे स्थित है जैसे ऊपर आकाश में स्थित तथा नीचे जल में निमग्न परस्पर जुट रहे अपने दो हिस्सों से युक्त नीचे जल और ऊपर वायु से खींचा जा रहा बेंतों का कुंज ॥६३॥

ठीक है, उससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

उस मांस के नीचे के हिस्से में स्थित जो भाथी के सदृश एक भाग है उसके मूलभागस्वरूप मूलाधार में सब कार्यकारणसंघात की प्राणप्रद होने से लक्ष्मी के सदृश पूर्वोक्त कुण्डलिनी भीतर उस तरह निलीन रहती है जिस तरह पद्मराग की पिटारी के भीतर मुक्तावली। जप काल में घुमाई जा रही रुद्राक्षमाला की नाईं वह सदा सरसराती रहती है यानी प्राणों के ऊर्ध्वगमन द्वारा कम्पन से अव्यक्त ध्वनि करती है तथा दण्ड से आहत साँपिन की तरह वह ऊर्ध्वमुख से परिवर्तन किया करती है। पृथिवी और आकाश के मध्य में प्राणियों की ऊर्ध्व और अधोगति की हेतु विहित और निषिद्ध क्रिया की नाईं प्राण और अपान वायु की ऊर्ध्व और अधोगति की हेतु होने से वह स्पन्द–धर्मिणी है यानी संचरणशील है; चाक्षुषादि संविद्रूपी मधु का यानी रूपादि विषयों के आस्वाद का परिज्ञान कराने में सूर्य है और हृदयरूपी कमल सम्पुटक के भीतर की वह भ्रमरी है। वे सब ज्ञान और कर्मेन्द्रिय आदि की शक्तियाँ, पूर्वोक्त हृदयकमल एवं नाड़ी समूह आभ्यन्तर के वातों द्वारा हृदय में चारों ओर उस तरह कम्पित की जाती हैं जिस तरह चारों ओर बाहर के पवन द्वारा वृक्षों के पत्तों के समूह। हे श्रीरामचन्द्रजी, जो यह विशाल बाह्याकाश स्फुरित हो रहा है, उसमें बलवान काष्ठ, पाषाण आदि तथा कोमल पत्तों और तृण आदि को जैसे वायु स्वभावतः जीर्ण बना डालती है वैसे ही हृदयाकाश में भी प्राणवायु भुक्त अन्नादि को जीर्ण यानी परिपक्व बना डालती हैं ॥६४–६८॥

जीर्ण बनाने की विधि बतलाते हैं।

पूर्वोक्त हृदयंपद्म तथा नाड़ीरूपी भाथी प्राणवायु से आहत होकर लोहार की भाथी की नाईं कम्पित होती है, काँप रही उस भाथी के भीतर प्रविष्ट अन्न का पहले रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से त्वचा, त्वचा से मेदा, मेदा से मज्जा, मज्जा से हड्डियाँ और हड्डियों से शुक्र तैयार होता है यों विचित्र ढंग से अन्य पदार्थ की अन्य परिणति ऐसे होती है जैसे वसन्त ऋतु में वृक्ष के भीतर प्रविष्ट पृथिवी के रस की पल्लव, मंजरी, पुष्प और फल आदि ॥६९॥

उन सातों धातुओं के स्थान में उत्तरोत्तर परिणाम की सिद्धि के लिए परस्पर एक दूसरे के संघर्ष से जठराग्नि की अभिव्यक्ति होती है, इस आशय से कहते हैं।

देह में प्राणवायु प्रतिदिन सब रसों के अन्तिम धातु शुक्र के परिणाम तक यानी जब तक शुक्र तैयार नहीं हो जाता तब तक, परस्पर संघर्ष से अग्नि उत्पन्न करनेवाले जंगली बाँस की नाईं, अग्नि उत्पन्न करती है। सारे शरीर में प्रदीप्त उस जठराग्नि से स्वभावतः शीत–वातात्मक वह शरीर ऐसे उष्णता को प्राप्त होता है जैसे सूर्य से तीनों लोक ॥७०,७१॥

सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त उसी जठराग्नि की योगी लोग हृदय–कमल में तारों के आकार से उपासना करते हैं, यह कहते हैं।

तारों के आकार के समान तथा हृदयपद्म में सुवर्णभ्रमर के सदृश वह तेज इस शरीर में चारों ओर विचरता है, जो योगियों की चिन्त्यदशा को प्राप्त है अर्थात् जिसकी योगी लोग उपासना करते हैं ॥७२॥

चिद्रूप से उपास्यमान वही तेज व्यवहित और दूर दूर के सम्पूर्ण पदार्थों को देखने की सामर्थ्य उत्पन्न करता है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपासित हुआ वह तेज वह प्रकाशस्वरूप ज्ञान प्रदान करता है, जिससे लाख योजन की दूरी पर स्थित वस्तु सदा आँखों के सामने दिखाई देती है ॥७३॥

उस अग्नि का इन्धन बतलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस तरह बड़वाग्नि का इन्धन समुद्र का जल है उसी तरह मांसरूपी सरोवर के भीतर रहनेवाली उस जठराग्नि का भी जलने योग्य इन्धन शरीर में वर्तमान अन्न रसरूप जल है ॥७४॥

देह में स्थित इन्धनभूत चन्द्रांश का लक्षण से विभाग करके 'यह शरीर अग्नि और सोम स्वरूप है' यह कहते हैं।

इस शरीर में जो स्वच्छता और शीतलता वर्तमान है, उसकी आत्मा चन्द्रमा ही कही जाती है, यानी वे चन्द्रमा के अंश हैं चन्द्रमा से वह अग्नि उत्पन्न है, इसलिए यह शरीर अग्नि और चन्द्रस्वरूप है ॥७५॥

शरीर के बाहर भी संसार में प्रकाश और गर्मी से तथा शीतता और जड़ता से अग्नि और चन्द्र का ज्ञान करना चाहिए, यह कहते हैं।

बाहर यह जो सब कुछ उष्णस्वरूप दिखाई देता है इसे तेज, सूर्य या अग्नि नाम से विद्वान् लोग जानते हैं तथा जो कुछ शीतात्मक वस्तु दिखाई देती है उसे चन्द्र नाम से। इन्हीं दोनों से यह संसार बनाया गया है ॥७६॥

अथवा चित् और जड़ इन दोनों से मिला हुआ, सत् और असत् स्वरूप, विद्याशबल ब्रह्म ही जगद्रूप बन गया है, अतः वही इस तरह प्रकाश और जड़ स्वरूपता के कारण अग्नि और चन्द्र के रूप से विभक्त किया गया है, यह कहते हैं।

अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, विद्या और अविद्या स्वरूप सद् और असद्रूप जो ब्रह्म सम्पूर्ण जगद्रूप बन गया है, वही इस तरह अग्नि और सोम के रूप से विभक्त किया गया है। आत्मतत्त्वस्फूर्तिरूप संवित्प्रकाश तथा बाह्य पदार्थों के प्रकाश को पण्डित लोग सूर्य और अग्नि कहते हैं तथा असत् जड़ता, तम, अविद्या आदि को विद्वान लोग चन्द्रमा कहते हैं। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ मुनीश्वर, 'देहेष्वाजरणं सर्वरसानां पवनोऽन्वहम्। जनयत्यग्निमन्योऽन्यसंघर्षाद्वनवेणुवत् ॥' इत्यादि आपके कथन से और प्रत्यक्ष अग्नि और सूर्य आदि की उत्पत्ति वायु के अधीन देखी भी जाती है, इससे वायुस्वरूप चन्द्रमा से अग्नि उत्पन्न होती है, यह तो मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया; अब आप कृपाकर सोम की उत्पत्ति मुझसे कहिये। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, अग्नि और चन्द्रमा परस्पर कार्यकारणरूप से व्यवस्थित हैं तथा वे दोंनों क्रमशः या एक साथ परस्पर एक दूसरे के उपजीवक हैं। इन दोनों की उत्पत्ति में बीज और अंकुर की नाईं परस्पर एक दूसरा उपादानकारण तथा दिन और

रात के तुल्य परस्पर एक दूसरा निमित्त कारण है। परन्तु इन दोनों की स्थिति तो छाया और धूप के समान परस्पर एक दूसरे की हत्या करनेवाली है ॥७७-८१॥

दृष्टान्त भेद के उपन्यास का यानी भिन्न-भिन्न दृष्टान्त देने का दूसरा तात्पर्य बतलाते हैं।

एक ही समय में इन दोनों की उपलब्धि यदि हो जाय तो इन दोनों की स्थिति छाया और धूप के समान समझनी चाहिए और यदि केवल एक की ही उपलब्धि हो जाय तो रात और दिन के समान इनकी स्थिति समझनी चाहिए ॥८२॥

दो दृष्टान्त कार्यकारणभाव के लिए हैं, इस पक्ष में भी अवान्तर दो भेदों में दो तात्पर्य हैं ही, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन दोनों में जो कार्यकारणभाव है वह भी दो तरह का कहा गया है – एक सद्रूप परिणाम से उत्पन्न और दूसरा विनाशरूप परिणाम से उत्पन्न ॥८३॥

उपर्युक्त दो कार्य-कारणभावों में पहले का उपपादन करते हैं।

जहाँ पर अंकुर बीज की नाईं एक से दूसरे की उत्पत्ति होती है वह कार्यकारणभाव सद्रूप परिणाम से उत्पन्न कहा जाता है ॥८४॥

दूसरे का उपपादन करते हैं।

जहाँ एक का नाश होनेपर दूसरे की दिन और रात की नाईं उत्पत्ति होती है वह कार्य-कारणभाव विनाशरूप परिणाम से उत्पन्न कहा जाता है ॥८५॥

प्रथम पक्ष में, कार्य की उत्पत्तिदशा में कारण की सत्ता विद्यमान रहती है, इसमें 'अयं घटः मृदात्मकः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण दिखलाते हैं।

क्रमशः मिट्टी से घट की जो स्थिति होती है, उस स्थितिरूप सद्रूप परिणाम को जानने में इन्द्रियोपलब्धि के सिवा-इन्द्रिय सन्निकर्ष के सिवा-अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से (📖) अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रमाण उपयुक्त नहीं है ॥८६॥

इसी प्रकार दूसरे पक्ष में भी, कार्य की उत्पत्ति-दशा में कारण की सत्ता विद्यमान नहीं रहती, इसमें 'हम दिन में रात की उपलब्धि नहीं करते' इत्यादि अनुपलब्धि प्रमाण दिखलाते हैं।

दिन और रात के क्रम की जो स्थिति है तद्-रूप विनाशपरिणाम में मुख्य प्रमाण एक वस्तुमात्र का ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाण से अविरूद्ध अभाव ही है। तात्पर्य यह कि विनाशरूप परिणाम में एकमात्र अनुपलब्धि ही प्रमाण है ॥८७॥

जो वस्तु कार्य का सम्पादन करती हुई दिखाई पड़ती है, उसे ही कारण कहते हैं और कारण में कार्यकर्तृत्व कार्याभिनिवेशरूप आस्था के रहते ही देखा जाता है। केवल प्रकाशन कर उपक्षीण हुए दिन

(📖) यद्यपि अनुमानादि का भी संभव है तथापि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध पदार्थों में उनकी खोज नहीं की जाती। इस विषय में, न्यायवाचस्पत्य में कहा है – 'न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमते मिमातारः' (अनुमान करनेवाले विद्वान् लोग अपनी आँखों से हाथी देख लेने पर उसके चीत्कार से उसका अनुमान नहीं करते कि यह हाथी है), क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा पदार्थों की सिद्धि हो जाने से वहाँ पक्षतारूप कारण का अभाव रहता है, यह तात्पर्य है।

में रात के निर्माण के लिए आस्था नहीं है, इस लिए दिन में रात्रि–निर्माणकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता, ऐसे ही रात में भी दिननिर्माणकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता–इस रीति से अचेतन मिट्टी आदि में भी घटादि के निर्माण करने की आस्था नहीं रह सकती, क्यों कि वह आस्था तो चेतन का धर्म है। किंतु, पैरों से खूब नहीं रौंदे गये मिट्टी के पिंड से घट की निष्पत्ति कभी नहीं होती। पैरों से रोंदनेपर तो मिट्टी का पिंड नष्ट ही हो जाता है, इसलिए कौन वस्तु सद्रूप से परिणत होगी। यह तो आप कह नहीं सकते कि उस मिट्टी के पिण्ड और घट से अलग एक तीसरी ही दोनों में अनुगत मिट्टी नाम की चीज है। किंतु, यदि आप यह कहें कि बीज तो अंकुर पैदा करेगा ही चाहे वह भले ही किसी एक जगह रख दिया गया हो, नष्ट होना चाहता हो, नष्ट हो रहा हो या बिलकुल नष्ट ही हो गया हो; तो इसमें आपका प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आपके मत से कोठार में रखा हुआ बीज भी अंकुर पैदा करने लगेगा। दूसरा और तीसरा भी नहीं बनता, क्योंकि जो स्वयं अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं है, वह दूसरा बच्चा पैदा करेगा–यह आपकी कौन–सी युक्ति है ? अब रह गया एक चौथा पक्ष, वह तो संसार में सबके अनुभव से बाधित है; इसलिए यह सिद्ध है कि किसीसे किसीकी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता, किन्तु स्वभावतः सब पदार्थ उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। इसमें पूर्वापर का अवलोकन करने से अविवेकियों को ही कार्यकारणभाव के विषयमें विकल्प होते हैं, विवेकियों को नहीं, अतः दुर्युक्तिपूर्वक बोलनेवालों को स्वानुभव विरोध के उद्भावन से ही विद्वत्समाज से निकालकर बाहर कर देना चाहिए, यह कहते हैं।

चूँकि आस्था नहीं है, इसलिए कर्तृत्व भी नहीं है, इत्यादि दुर्युक्तिपूर्वक बोलनेवालों को, जो स्वयं अपने अनुभव का अपलाप करते हैं, तिरस्कार के साथ यानी कान पकड़कर विद्वानों की भरी सभा से बाहर कर देना चाहिए, क्योंकि उनके मत में भी अनास्थादियुक्तिबुद्धि अकर्तृत्वादिबुद्धि उत्पन्न करती है, यह कार्यकारणभाव अन्त में निकल ही जाता है ॥८८॥

अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है–इस संदेह का निवारण करते हैं।

हे रघुनन्दन, प्रत्यक्ष के समान अभाव भी प्रमाण ही है, क्योंकि यह सब जन्तुओं को भलीभाँति विदित है कि शीत के परिज्ञान में तेज का अभाव भी प्रमाण होता है ॥८९॥

शरीर के बाहर जगत् में सद्रूपपरिणाम से चन्द्र का कारण अग्नि है, इसमें उदाहरण देते हैं।

धूम्ररूप से विभक्त हो जाने के कारण अग्नि जो चन्द्रात्मक जलरूपता को प्राप्त हो जाती है, उसमें सद्रूप परिणाम से अग्नि चन्द्र का कारण है ॥९०॥

अभावपरिणाम से भी उसका उदाहरण देते हैं।

नष्ट होने से शीतता को प्राप्त होने के कारण वही अग्नि जो वायुरूपता को प्राप्त होती है वहाँ भी विनाशरूप परिणाम से अग्नि ही चन्द्र का कारण है (🙏) ॥९१॥

सद्रूप परिणाम से अग्नि और चन्द्र – ये दोनों परस्पर एक दूसरे के कारण हैं, इनका एक–एक जगह उदाहरण देते हैं।

बडवानल सातों समुद्र का जल पीकर धूम्र के उद्गार द्वारा मेघ बन करके उसी मेघरूप से फिर सातों समुद्र में जलात्मक चन्द्र को ही उत्पन्न करता है ॥९२॥ सूर्यात्मक तेज अमावास्या तक

(🙏) इसमें 'यदा वा अग्निरुद्धायति वायुमेवाप्येति' यह श्रुति प्रमाण है।

चन्द्रमा को बारबार यानी बिलकुल पीकर शुक्ल पक्ष में उस तरह उगल देता है, जिस तरह सारस कमलदण्ड को.॥९३॥ मुख के सदृश सुशोभित हो रहे चन्द्रमा से युक्त वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के आनेपर गरमी से युक्त वायु पृथिवी का अमृत के तुल्य शीतल जल पीकर वर्षाऋतु में मेघ के आगमन से (उसका वेश धारण करने से) स्थूल होकर वृष्टि से जगत् के शरीर को परिपूर्ण कर देता है। अथवा–आध्यात्मिक प्राण ही (🕮) सोम–सुख से अन्नपानादि का उदर में आगमन होने पर अमृत के तुल्य उनका रस पीकर परिपुष्ट होकर अभ्र के समान व्याप्त सम्पूर्ण नाडियों में आगमन करके शरीर को भर देता है। यही इसका पुनः सोम परिणाम है – यह अर्थ है ॥९४॥

यदि आप यह समझते हों कि वायु पृथिवी का रस नहीं सोखता, किन्तु सूर्य की किरणें ही उसे पी जाती हैं, क्योंकि रात में भी उनकी उष्णरूप से सत्ता रहती ही है। तब तो ऐसी दशामें वे ही उदाहरण हैं, यह कहते हैं।

सूर्य की किरणों से जलपान किया जाता है, यदि यह कल्पना की जाय, तो भी इस कल्पना में यह मानना चाहिए कि जल सूर्य की किरणता को सद्रूप परिणाम से प्राप्त करता है, इसलिए वह जलरूप चन्द्रमा अग्नि का कारण हुआ ॥९५॥

और उसमें जो शैत्य और द्रवत्व का नाश तथा उष्णता और रूक्षता की जो उत्पत्ति है, उस अंश में विनाशपरिणामता भी है ही, इसलिए यह उदाहरण दोनों परिणामों का है।

नाशात्मकरूप से उष्णस्वरूप होने के कारण जल भी अग्निरूपता को प्राप्त हो जाता है, अतः विनाशपरिणाम से वह जलरूप चन्द्रमा अग्नि का कारण है ॥९६॥

सर्वत्र अग्नि और चन्द्रस्वरूप परिणाम में उभयरूप संकीर्णता भी सूक्ष्म दृष्टि से अच्छी तरह देखी जा सकती है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

और अग्नि के विनाश में सद्रूप परिणाम चन्द्रमा है तथा चन्द्रमा के विनाश में सद्रूप परिणाम अग्नि है। जैसे दिन नाश को प्राप्त होकर रात हो जाता है वैसे ही अग्नि नाश को प्राप्त होकर चन्द्र हो जाता है। तम (अंधकार) और प्रकाश, छाया और धूप तथा दिन और रात के बीच में विलक्षण सद्रूप ब्रह्म बड़े–बड़े बुद्धिमानों को भी प्राप्त नहीं होता ॥९७–९९॥

तम और प्रकाश की जो सन्धि है, वह तो उभयविलोपात्मक एक शून्यरूप ही है, अतः उसमें उन दोनों से विलक्षण तीसरा कोई रूप नहीं रहता, ऐसी आशंका करके कहते हैं।

तम और प्रकाश इन दोनों की सन्धि भी अशून्यस्वरूप ही है, क्योंकि वह सन्धि इन दोनों का ही परस्पर संलग्नस्वरूप है। यह बात समझ लेने की है कि शून्य वस्तुओं की सन्धि नहीं होती और न सद्रूप वस्तुओं में निमित्तरहित शून्यता ही रहती है। वे दोनों सन्धि में वर्तमान कैसे हैं, यदि ऐसी आशंका हो, तो उसका

(🕮) 'सोमं सुखागमे' इस पाठ में तो – अग्निस्वरूप यजमानरूपी प्राण यज्ञ में अमृत के तुल्य शीतल सोमरस का पान करके अन्त में धूमादिमार्ग से स्वर्ग पहुँचने में चन्द्रमा के समीप आकाशरूपी मार्ग की सन्धि मिल जाने से चन्द्रमा को प्राप्त करके चन्द्रस्वरूप बन जाता है और कलाओं से अपना शरीर भर लेता है, वही इसका पूर्णिमा के दिन पुनः स्थूल बना हुआ सोमपरिणाम है, यह अर्थ है।

उत्तर यह है। जैसे भाव और अभाव रूप से निरूपित तम और प्रकाश (८) के दो दो स्वरूप एक वस्तुरूप होने से एक स्थान में वर्तमान हैं वैसे ही वे दोनों सन्धि में भी वर्तमान हैं, अणुमात्र भी अन्यथाभूत नहीं है; यह भाव है। जैसे पृथिवी पर तम और प्रकाश से रात और दिन हो रहे हैं वैसे ही चेतनता और जड़ता इन दोनों से संसार के जीव स्फुरित हो रहे हैं। जैसे मिश्रित जल और अमृत से चन्द्रमा की शीतल देह निर्मित है वैसे ही चिद्रूप और जडरूप से यह जगत् की स्थिति निर्मित है ॥१००-१०२॥

प्रकाश और अप्रकाश रूप से आविर्भूत हुए चित् और जड़ इन दोनों के अंशों से ही जगत् अग्नि और चन्द्रस्वरूप है, यह कहते हैं।

हे राघव, अग्नि, प्रकाश या सूर्य को आप चिद्रूप समझिये तथा चन्द्रमा को जडात्मा और तमोरूप जानिये ॥१०३॥

बाहर सूर्य के उदय से जैसे तम की निवृत्ति होती है वैसे ही अन्दर चरमवृत्ति से चिदादित्य के उदय से जगत् के बीजभूत अज्ञानरूप तम की निवृत्ति होती है, यह कहते हैं।

जिस तरह बाहर आकाश में सूर्य के दिखाई पड़ने पर काली रात का अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी तरह निर्मल चित्सूर्य के अन्दर दिखाई पड़ने पर जगत् के मूल कारण अज्ञान का नाश हो जाता है। भद्र जैसे आधी रात में कमल के अन्दर चन्द्र के विलास करने पर कमल के अन्दर प्रवेश कर स्फुरित हो रहा सूर्यप्रकाश चन्द्रधर्म चन्द्रिकात्वरूप से संपन्न होकर चन्द्रसत्ता से सत् होता हुआ अपनी सत्ता से असत्-सा हो जाता है वैसे ही प्रत्यगात्मा के जड़ सोमात्मक देह के अन्दर दृष्ट हो जाने पर जड़देहतादात्म्य से स्फुरित हो रही भी चिति शरीरगुणरूपता को प्राप्त होकर गुणान्तरों के सदृश शरीरगुणसत्ता से सत् होती हुई भी अपनी सत्ता से असत्-सी हो जाती है ॥१०४,१०५॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों में युक्ति और फल बतलाते हैं।

चन्द्रमण्डल में प्रविष्ट हुई सूर्यप्रभारूप अग्नि जलमय चन्द्रबिम्ब को प्रकाशमय कर देती है और देह में जीवभाव से प्रविष्ट हुई चिति जीवनपर्यन्त देह को अहम्भावादिरूप से प्रकाशित करती है, यों एक दूसरे का सम्मेलन होने पर तादात्म्यअध्यास से सूर्यमण्डल-जनित प्रभामण्डलात्मकरूप चन्द्रस्वरूप हो जाता है और चिति अपने संवित्स्वरूप 'अहं मनुष्यः अहं चेतनः' इत्यादि अनुभव के अनुसार देहस्वरूप हो जाती है ॥१०६॥

इससे भी चिति को देहधर्मों का भ्रम हो जाता है, यह कहते हैं।

क्रिया और उपाधि से शून्य वह केवल चिति उपलब्ध नहीं होती। जैसे दीप द्वारा प्रकाश का भान होता है वैसे ही देह द्वारा ही चितिका भान होता है। अज्ञान से आवृत्त चिति को विषयों की ओर उन्मुख होने से अनर्थप्राप्ति होती है, वही अनर्थप्राप्ति संसृति (संसार) है तथा विषयशून्य चिति का जो स्वरूप है वही शुभ, लाभ या मोक्ष है। हे श्रीरामजी, उक्त रीति से यह आप को जान लेना चाहिए कि दीवार और सूर्यप्रकाश की नाईं परस्पर मिले हुए रहने के कारण सद्रूप से वाग्व्यवहार के विषय बने हुए देह

(८) अर्थात् परस्पर निरपेक्ष निरूपण करने से भावरूप तथा परस्पर सापेक्ष निरूपण करने से अभावरूप तम एवं प्रकाश अभावस्वरूप एक ही वस्तु है और इसी तरह प्रकाश एवं अन्धकारअभाव भी एक वस्तु है।

और देही (चिति) ये दोनों अग्नि और चन्द्रस्वरूप हैं ॥१०७-१०९॥

इन दोनों की परस्पर न मिली हुई स्थिति कहाँ प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपाधि की निवृत्ति से आत्यन्तिक आनन्द का आविर्भाव होने पर अग्नि की तथा आत्यन्तिक जाड्य का आविर्भाव होने पर चन्द्र की केवल (न मिली हुई) स्थिति होती है ॥११०॥

प्राण और अपान वायु अग्नि और चन्द्र स्वरूप हैं, यह जो पहले कहा गया था, उसका प्रकृत में उपयोग के लिए स्मरण दिलाते हैं।

उष्णप्रकृति प्राणवायु अग्निस्वरूप है तथा शीतलप्रकृति अपानवायु चन्द्रस्वरूप है। छाया और धूप की नाईं ये दोनों मुखरूप मार्ग में स्थित रहते हैं ॥१११॥

दीवार और प्रकाश के तुल्य इन दोनों की परस्पर तादात्म्यस्थिति का अवलोकन कराते हैं।

अपान वायु के शीतल होने पर उष्णप्रकृति प्राणरूप अग्नि अपनी सत्ता को प्राप्त होती है और दर्पण में प्रतिबिम्ब की नाईं प्राणवायु के उष्ण होने पर अपान भी सत्ता को प्राप्त होता है। मूल प्राण कुण्डलिनीरूप चिदग्नि मूलाधार से लेकर कण्ठपर्यन्त चार दलवाले कमल में स्थित परा से लेकर वैखरीपर्यन्त वाणीरूप चन्द्रमा को अर्थप्रकाशनरूप शक्ति से (अनुभव से) इस तरह उत्पन्न करती है, जिस तरह बाहर दीवारप्रकाश को सूर्य। जैसे सर्ग के प्रारम्भ में मायाशबल कोई ब्रह्म-संवित् शीतोष्णरूप ब्रह्माण्डाकार से अग्नि और चन्द्र नाम को प्राप्त हो गयी है वैसे ही मनुष्यों के यानी व्यष्टि देहों के सर्ग में भी वही संवित् व्यष्ट्याकार से अग्नि और चन्द्र नाम को प्राप्त हो गयी है ॥११२-११४॥

ठीक है, ब्रह्माण्ड की नाईं अग्नि और चन्द्रस्वरूप शरीर भी रहे, लेकिन उससे कौन कार्य सिद्ध होगा ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जहाँ मुख से बाहर सूर्य से ग्रस्त हुई ध्रुवा नामक सोम की (अपान की) सोलहवीं कला (१) प्राण (सूर्य) से उगल दी गयी कलाओं से पूर्ण होकर क्षण भरमें, पूर्वदिशा में पूर्णिमा के चन्द्र की नाईं, एक बित्ते की तैयार हो जाती है वहीं पर बाह्य कुम्भक से आप स्थिर हो जाइये। तथा जहाँ

(१) जैसे आकाश में कृष्णपक्ष में अग्निस्वरूप सूर्य चन्द्रमा की शीतल पन्द्रह कलाओं का प्रतिपदा आदि तिथियों में क्रमशः ग्रासकर केवल एक ध्रुवा नामक कला छोड़ देता है। उसके बाद शुक्लपक्ष में फिर क्रमशः उष्णकलाएँ उगिल देता है, उनसे क्रमशः पूर्ण होती हुई ध्रुवानाम की कला पूर्ण चन्द्रस्वरूप हो जाती है, वैसे ही हृदय में स्थित प्राणरूपी सूर्य अपानरूप चन्द्र की मुख और नासिका द्वारा प्रविष्ट हुई शीतल पन्द्रह कलाओं का ग्रास करके मुख से बाहर ध्रुवानामक केवल एक कला को छोड़कर फिर उन उष्ण कलाओं को उगल देता है। उनसे परिपूर्ण होती हुई ध्रुवा नाम की कला बाहर चन्द्रस्वरूप हो जाती है जिसका दूसरा नाम अपान है। बाहर प्राण और अपान की जो सन्धि है वह पूर्णिमा तथा हृदय में अमावास्या कहलाती है। अन्तराल देश में इडा और पिंगला की प्रत्येक ऊपर-नीचे स्थित शाखाओं की छः नाड़ियों में प्राणरूपी सूर्य के प्रवाह से दो अयन होते हैं। मेष, वृष आदि बारह महीने और इन दोनों के बीच में संक्रान्तियाँ होती हैं। अपानरूपी चन्द्र के प्रवाह से चैत्र, वैशाख आदि महीने, विष्कम्भ आदि योग तथा भिन्न-भिन्न नाम के पर्व हुआ करते हैं-यह योगियों को प्रत्यक्ष है। दूसरे विद्वानों को भी, जिन्हें योगशास्त्र का ज्ञान नहीं है, स्वरोदयादि शास्त्रों से इनका परिज्ञान कर लेना चाहिए।

हृदयाकाश में कलाग्रास द्वारा क्रमशः ग्रसित हो रहा चन्द्रमा सूर्य के स्थान में पहुँचकर, जैसे कि अमावास्या आने पर, केवल यानी शुद्धचिद्रूप ध्रुवा नाम की कलात्मक स्थिति से स्थित रहता है वहाँ पर अन्तःकुम्भक से आप स्थिर हो जाइये ॥११५,११६॥

अब अधरिचक या अर्धपूरक से मध्य में दोनों ओर से प्राण के निरोध द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब की तरह उनकी तुल्यरूपता कहकर धारणा कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चिदादित्य उष्ण और अग्निस्वरूप तथा चन्द्रमा शीतल कहा गया है जहाँ पर अर्थात् अधरिचक और अर्धपूरक से अन्तराल में ये दोनों अग्नि और चन्द्र या प्राण और अपान प्रतिबिम्बरूप में स्थित हैं वहाँ पर आप स्थिर हो जाइये। हे पापशून्य श्रीरामजी, जैसे वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतुओं में क्रमशः शीत का उष्णता से ग्रास हो जाने के कारण सोम (चन्द्र) की अग्नि संक्रान्ति होती है और शरद हेमन्त तथा शिशिर ऋतुओं में क्रमशः उष्णता का शीत से ग्रास हो जाने के कारण अग्नि की चन्द्रसंक्रान्ति होती है एवं इन दोनों की सन्धि में सूर्य की मेषादि संक्रान्ति होती है वैसे ही इस शरीर में भी अपान की शीतता का जठराग्नि से ग्रास होने पर चन्द्रमा की अग्निसंक्रान्ति होती है और प्राण की उष्णता का बाह्य शीतता से ग्रास होने के कारण अग्नि की चन्द्रसंक्रान्ति होती है। सूर्य की संक्रान्तियाँ तो पहले ही बतला दी गयी हैं, इसलिए हे श्रीरामजी, आप इनके विशेषज्ञ हो जाइये, क्योंकि इस शरीर के अन्दर मुख्य संक्रान्तिकाल ये ही हैं, बाह्यसंक्रान्तिकाल तो तृण के समान कहे गये हैं। हे श्रीरामजी, बाहर प्रसिद्ध संवत्सर में स्थित संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, संवत्सरात्मक काल तथा विषुवत् रेखा आदि की नाईं इस शरीर के अन्दर भी स्थित संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, संवत्सरात्मक काल तथा विषुवत् रेखा आदि को देह के प्राण और अपान वायु के द्वारा स्थित यदि आप योगाभ्यास के कारण प्रत्यक्ष अनुभूत घट, पटादि के समान भलीभाँति जानते हैं, तो योगियों की कथाओं में शोभते हैं। यदि मेरे उपदेश के ऊपर ध्यान न देकर कहीं अन्यत्र प्रवृत्त हैं, तब तो फिर आप नहीं शोभते ॥११७–११९॥

इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त

बयासीवाँ सर्ग

अणुता और स्थूलता सिद्धि के उपाय, ज्ञानसाध्य वस्तु, योगियों के
परकाय में प्रवेश तथा भोग आदि का युक्तिपूर्वक वर्णन।

इस तरह देह आदि अग्नि और चन्द्रस्वरूप हैं, इसका परिज्ञानकर तीनों धारणाओं के अभ्यास से परिष्कृत हुए प्राण, मन और शरीर से युक्त; चन्द्र, सूर्य और अग्नि के संक्रमण आदि का अवलोकन करनेवाले योगी को देहमें अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति कैसे होती है, यह कहने के लिए महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, योगियों की देह जिस तरह अणुता या स्थूलता को प्राप्त होती है, वह सब अच्छी तरह मैं कहूँगा, आप सुनिये ॥१॥

उनमें सबसे पहले, अणुत्व की प्राप्ति के लिए देह का विलोप कर देना अत्यन्त आवश्यक है,

इसलिए हृदय–कमल–नाल के सूक्ष्म छिद्रों द्वारा हृदयाकाश में प्रवेशकर नाभि के ऊपर जलती हुई जठराग्नि की–हृदयकमल के छत्ते में परमात्मा की आसनस्वरूप–शिखा दिखलाते हैं।

हृदय में कमलचक्र की कर्णिका के (छत्ते के) ऊपर अग्नि का कण उस तरह चमकता है, जिस तरह सुवर्ण का भ्रमर या सायंकाल को बादल में बिजली की लेखा। जैसे लौकिक अग्निकण झंझावात से शीघ्र वृद्धि प्राप्त करता है और सारे शरीर में व्याप्त होकर उसे जला देता है, वैसे ही झंझावात के सदृश प्रवर्द्धन के उपायभूत ज्ञान से वह संविद्रूप अग्निकण शीघ्र बढ़ता है और वह बढ़कर लौकिक अग्निकण की तरह देह को जलाता नहीं, किन्तु संविद्रूप होने से सूर्य के समान देह को अतिशय प्रकाश से युक्त बना देता है। प्रातःकाल में आकाश में सबसे पहले उदित सूर्य की कान्ति के समान क्षणभर में ही वृद्धि को प्राप्त होकर वह अग्निकण हाथ, पैर आदि अंगों के साथ सम्पूर्ण शरीर को इस तरह गला देता है, जिस तरह सुवर्ण को अग्नि। अर्थात् वह पार्थिव गन्ध और कठिनता का जल में उपसंहार कर देता है। इस तरह पैर के अग्रभाग तक को भी वह युक्ति से गला देता है। उसके बाद शोषणयुक्ति से अपने अग्निस्वभाव के कारण जलस्पर्श को न सह सकनेवाला वह अग्नि अपनी उष्णता के बल से द्रवत्वोपसंहाररूप युक्ति से जल को भी सुखा देता है। इस रीति से देह से बाहर हुआ वह मनोरूप आतिवाहिक देहमात्र में अवस्थित रहता है। यों पार्थिव तथा जलमय दोनों शरीरों को गलाकर वह अग्नि पीछे विक्षोभित प्राणवायु के द्वारा उपसंहृत होकर कहीं इस तरह विलीन हो जाती है, जिस तरह झंझावात से नीहार। उस समय कुण्डलिनी शक्ति भी मूलाधारस्थ सुषुम्ना नाड़ी से हीन होकर सुषुम्ना के संस्कार से युक्त आतिवाहिक देहाकाश में ऐसे अवस्थित हो जाती है, जैसे अग्नि से निकली हुई धूम्र की लेखा और आतिवाहिक देहाकाश में स्थित हुई; मन, बुद्धि, जीव आदि से घटित लिंग शरीर में अहंकार को संकलित करनेवाली तथा आभ्यन्तर में स्वेच्छाविहारशक्ति एवं चित्–चमत्कार से युक्त वह कुण्डलिनी इस तरह शोभित होती है, जिस तरह नगर की धूमलेखा तथा कमलनाल, पर्वत, तृण, दीवार, पत्थर, स्वर्ग और भूतल आदि जिस किसी जगह जिस रीति से प्रविष्ट होकर निकल जाने के लिए उद्युक्त की जाती है उस जगह उस रीति से वह प्रविष्ट होकर ठीक तरह निकल जाती है ॥२–९॥

यों सूक्ष्म शरीर कैसे किया जाता है, यह कहकर स्थूलभाव से अपनी इच्छा के अनुसार नानाविध शरीरों की कैसे कल्पना की जाती है, यह बतलाते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वही कुण्डलिनी शक्ति (योगी की जीवशक्ति) अग्नि में पहले उपसंहृत (संचित) जलभाग को जब छोड़ देती है तब पुनः रस से उस तरह पूर्ण हो जाती है, जिस तरह कूएँ में छोड़ दिया गया मोट (चर्म का पात्र)। इस तरह रस से परिपूर्ण हुई वह कुण्डलिनी पहले उपसंहृत (संचित) पार्थिव भाग को जिस आकार में परिणत करने के लिए भावना करती है, योगशक्ति से वैसा ही आकार बनाकर शीघ्र उसे धारण कर लेती है ॥१०,११॥

हड्डी आदि की कल्पना का प्रकार बतलाते हैं।

और उसके बाद वही कुण्डलिनी दृढ़ भावना के वश से भीतर हड्डी आदि को इस तरह प्राप्त हो जाती है, जिस तरह माता के गर्भ में विद्यमान कललों में (卐) स्थित अस्थि, हाथ, पैर आदि अंकुरों की

(卐) कलल = गर्भाशय में रज और वीर्य की वह अवस्था, जिसमें एक पतली झिल्ली–सी बन

आधारभूत अगम्य अत्यन्त सूक्ष्म बीजशक्ति। हे राघव, अपनी इच्छा के अनुसार वह जीवशक्ति सुमेरु आदि के तुल्य महान् या तृण आदि के तुल्य लघु आकार या परिमाण की भावना करती है तद्नुसार सुमेरु आदि या तृणादिरूप हो जाती है ॥१२,१३॥

योगसिद्धि के अनुसार कहे गये स्थूल और सूक्ष्म भावप्राप्तिक्रमों का उपसंहार कर उनसे विलक्षण प्रकृत में परमोपयोगी ज्ञानसाध्य क्रम का श्रवण कराते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, योग से साध्य अणिमादि पदार्थों का साधन आप सुन चुके, अब श्रवणभूषण ज्ञानसाध्य क्रम आप सुनिये। एक, शुद्ध, सौम्य, अलक्षित, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और शान्त चिन्मात्र वस्तु इस संसार में है और न यह जगत् है न इसकी कोई क्रिया है। वह चिन्मात्र जब अध्यास से अपने को स्वयं संकल्प की ओर उन्मुख करता है उस समय कलुषता को प्राप्त हुआ 'जीव' कहा जाता है। और वही जीव असत्य ही इस शरीर को संकल्पभ्रम से उस तरह देखता है, जिस तरह मूढात्मा बालक उद्धत यक्ष को। जब ज्ञानदीप से उत्तम प्रकाश हो जाता है तब इस जीव का संकल्प मोह उस तरह क्षीण हो जाता है, जिस तरह शरत्काल में मेघ। हे राघव, तब संकल्प के क्षय से यह स्थूल शरीर सर्वथा उस तरह शान्ति को प्राप्त हो जाता है, जिस तरह तैल का क्षय होनेपर दीपक। निद्रा का नाश होने पर जैसे प्राणी स्वप्न नहीं देखता, वैसे ही सत्य का साक्षात्कार होनेपर जीव देह को नहीं देखता। अतत्त्वभूत शरीर आदि में तत्त्व की भावना से यह जीव देह से आवृत्त होकर स्थित रहता है और एक ब्रह्मतत्त्व की भावना से देहशून्य श्रीमान् और सुखी रहता है। हे रामभद्र, अनात्म शरीर आदि में जो आत्मा की भावना है वह हृदयगत भयंकर अंधकार है। वह सूर्य आदि के प्रकाश से दूर नहीं किया जा सकता ॥१४-२२॥

तब किस सूर्य से उसका नाश होता है, उसे कहते हैं।

आत्मा में ही आत्मभावना से 'सर्वव्यापक, निरंजन और निर्मल चिन्मात्र मैं ही हूँ' इस ज्ञानरूपी सूर्य से ही नष्ट होता है ॥२३॥

इस ज्ञानसिद्धि के दृढ़ हो जाने पर भी जीवन्मुक्त महात्माओं को ऐच्छिक विनोद के लिए स्थूल सूक्ष्म प्रातिभासिक देह की कल्पना सिद्ध होती है, यह कहते हैं।

अन्य तत्त्वज्ञानी महात्मा लोग जिस पदार्थ की जिस रीति से भावना करते हैं, वे उस पदार्थ को उसी रीति से शीघ्र अपनी उस दृढ़ भावना के बल से देख लेते हैं। हे राघव, दृढ़ भावना के अनुसन्धान से विमूढ़ (विषकीट आदि) प्राणी भी विष को अमृत के समान आहाररूप में पहुँचा देते हैं और अमृत को भी यानी अमृत के समान दुग्ध, अन्न आदि को भी 'इन में विष मिला हुआ है' इस दृढ़ भावना से विष बना डालते हैं। तात्पर्य यह है कि विष को अमृत समझकर पी जाते हैं और अमृत को भी विष समझकर छोड़ देते हैं। इस तरह दृढ़ भावना से जिस प्राणी के द्वारा जिस पदार्थ की जिस रीति से भावना की जाती है, शीघ्र वह प्राणी उसी रीति से वही बन जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनेक उदाहरण इस संसार में देखे गये हैं। सत्य की भावना से देखा गया यह शरीर ठीक शरीर हो जाता है असत्य की भावना से

जाती है और जो कलन के उपरान्त होती है। सुश्रुत के अनुसार जब ऋतुमती स्त्री का स्वप्न मैथुन द्वारा रज उसके गर्भाशय में प्रवेश करता है, तब भी उससे हड्डी आदि से रहित एक बुलबुला-सा बनकर रह जाता है, वह भी कलल कहलाता है।

देखा गया यही शरीर ब्रह्माकाशता को प्राप्त हो जाता है ॥२४-२७॥

वह ब्रह्माकाशता ही इसकी निरतिशय अणिमादि सर्वसिद्धियाँ है, इस अभिप्राय से उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अणिमादि पद की प्राप्ति में साधु-स्वभाव आपने इस प्रकार से ज्ञानयुक्ति तो सुन ली, अब आप यह दूसरी युक्ति यानी दूसरे के शरीर में प्रविष्ट होकर भोग प्राप्ति कैसे होती है, यह युक्ति सुनिये ॥२८॥

सर्वप्रथम पूर्व देह के परित्याग में उपाय बतलाते हैं।

जिस तरह पवन से पुष्प में से मोद (सुगन्ध) खींचकर घ्राणेन्द्रिय में सम्बद्ध किया जाता है उस तरह रेचक के अभ्यासरूप योग से कुण्डलिनीरूप घर से बाहर निकालकर ज्यों ही दूसरे शरीर में जीव सम्बद्ध किया जाता है, त्यों ही यह शरीर परित्यक्त हो जाता है, जीवरहित यह देह अनेकविध चेष्टाओं से निवृत्त होकर काठ और मिट्टी के ढेले के सदृश जड़ हो जाती है। जैसे सिंचन करनेवाला पुरुष अपने हाथ में लिये हुए जलपूर्ण कुम्भ से जिस वृक्ष और लता को सींचने की इच्छा करता है उसे ही सींचता है, वैसे ही अपनी रुचि के अनुसार देह, जीव, बुद्धि, स्थावर और जंगम सबमें भी उनकी सम्पत्ति का भोग करने के लिए अपना जीव प्रवेशित किया जाता है और उनमें आदर करता है। उक्त प्रणाली से पर देह में सिद्धि श्री का उपभोगकर अवस्थित हुआ योगी यदि अपना पहला शरीर विद्यमान रहा तो उसमें प्रविष्ट हो जाता है और यदि न रहा तो दूसरे शरीर में जब तक उसकी रूचि रहती है, तबतक उसमें प्रविष्ट होकर स्थित रहता है। अथवा यह भी एक बात हो सकती है - परदेह में उपभोग के बाद योगी अपने अन्तःकरण में विपुलता सम्पादन द्वारा समस्त जगत् को व्याप्त कर स्थावर-जंगम समस्त देह आदि प्रतिबिम्बोपाधि, उन स्थावर आदि उपाधियों में पड़े हुए प्रतिबिम्बभूत जीव, बिम्बभूत चैतन्य की उपाधिरूप सत्त्व आदि गुण एवं सत्त्वादि गुणों से युक्त चैतन्यरूप बिम्ब - इन सभीको व्याप्त करनेवाली अपनी आत्मसंवित्ति से पूर्णात्मना होकर स्थित रहता है। रामभद्र, योगरूप ऐश्वर्य से संपन्न जीवात्मारूप चित्प्रकाश सदा उदित सनातन स्वप्रकाशस्वरूप सर्वविध दोषशून्य आत्मतत्त्व को जानकर जो भी कुछ जैसा चाहता है वह वैसा ही उसे तत्काल प्राप्त कर लेता है, इसलिए तत्त्वज्ञ लोग छोटी-छोटी सिद्धियों को अधिक महत्त्व नहीं देते, किन्तु अनावरणतारूप निरतिशयानन्द उत्तम पद को ही महत्त्व देते हैं, यों अनुभवी लोग कहते हैं ॥२९-३४॥

बयासीवाँ सर्ग समाप्त

तिरासीवाँ सर्ग

चूड़ाला सिद्धि का वैभव, राजा शिखिध्वज का अज्ञान तथा
गुरु के उपदेश की सफलता में किरात् का आख्यान।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त रीति से प्राणधारणादि के घनाभ्यास से युक्त वह राजपत्नी सती चूड़ाला अणिमादि सिद्धियों के गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो गयी ॥१॥

उसके ऐश्वर्य का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

मोहरूप कालिमा और तीनों तापों का उपशम (नाश) हो जाने से गंगा की नाईं विमल और शीतल वह चूडाला कभी आकाश मार्ग से गमन करती थी, कभी समुद्र के कोटर में प्रवेश करती थी तथा अपनी इच्छा के अनुसार कभी इस पृथिवी के ऊपर विचरण करती थी ॥२॥

उसके कल्पित कायव्यूहादि ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं।

वह अपने पति के वक्षःस्थल तथा चित्त से क्षणभर के लिए भी अलग नहीं होती थी तथा सब राज्यों एवं सम्पूर्ण भुवनों में लक्ष्मी की नाईं निवास करती थी। बिजली के उन्मेष की नाईं चमक रहे आभूषणों से युक्त वह श्यामा चूड़ाला आकाशगामिनी होकर उस तरह घूमती-फिरती थी, जिस तरह गिरिमालाओं से युक्त पृथिवी पर श्यामा मेघमाला। काष्ठ, तृण, पत्थर, भूत, आकाश, वायु, अग्नि और जल सब में निर्विघ्नतापूर्वक उसने, मोतियों में धागे की नाईं, प्रवेश किया। सुमेरू पर्वत के ऊपर चोटियों पर, लोकपालों के नगरों में तथा दिशा और आकाश के उदर में जितने भुवन-छिद्र प्रसिद्ध हैं उन सबों में उसने सुखपूर्वक विहार किया। पशु-पक्षी, भूत, पिशाच आदि; नाग, देव, असुर, विद्याधर; अप्सरा और सिद्ध पुरुषों के साथ उसने सम्भाषण आदि व्यवहार किये। और बड़े यत्न के साथ, अनेक बार उस चूडाला ने अपने स्वामी को ज्ञानामृत का उपदेश दिया, परन्तु वह कुछ भी समझ न सका। उस चूडाला के विषय में-सम्पूर्ण कलाओं में विदग्धा, मुग्धा तथा यह मेरी गृहिणी है, केवल इतना ही वह राजा शिखिध्वज जानता था। इतना लम्बा समय निकल जाने पर भी इस तरह अनेक अणिमादि सिद्धिरूप गुणों से सुशोभित उस चूड़ाला को वह राजा उस तरह नहीं जान पाया, जिस तरह वेदाध्ययन करते समय बालक वेदविद्या को गुणशालिनी यानी सम्पूर्ण पुरुषार्थों में अनुकूल अर्थप्रकाशन आदि गुणों से शोभित नहीं जान पाता। आत्मविश्रान्ति न पाये हुए राजा को उस चूड़ाला ने भी अपनी अणिमादि सिद्धियों की वह अलौकिक श्री उस तरह नहीं दिखलायी, जिस तरह शूद्र को यज्ञक्रिया नहीं दिखलायी जाती। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, बहुत बड़ी सिद्धयोगिनी उस चूडाला के भी यत्न से जब राजा शिखिध्वज को ज्ञान प्राप्त न हो सका, तब भला दूसरे को कैसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है ? महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, गुरुजी द्वारा उपदेश प्राप्त करनेका क्रम तो केवल 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (आत्मविज्ञान के लिए गुरु के ही समीप पहुँचे) इत्यादि शास्त्रीय मर्यादा का पालनमात्र ही है, अतः यह अनधिकारी पुरुष में जबरदस्ती ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। हे राघव, ज्ञान का कारण तो शिष्य की विशुद्ध बुद्धि ही है। तर्कादि अनात्मशास्त्रों में प्रवीणता से, किसी पुण्य से यानी चित्तशुद्धि के अंगभूत श्रौत कर्म वर्ग से अपना तत्त्वभूत ज्ञेय ब्रह्म नहीं जाना जाता-इतर वस्तुओं की तरह विषयीभूत नहीं किया जाता। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे काम्य पुण्यकर्मों से बिना विचार के ही स्वर्ग मिल जाता है, वैसे हजारों पुण्यकर्म करने पर भी बिना आत्मविचार के ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। किन्तु तर्कादि अनात्मशास्त्रों में प्रवीणता तथा निष्काम पुण्यकर्म - इन दोनों से आत्मविचार के उत्पन्न हो जाने पर चरमवृत्ति में आरूढ़ हुआ आत्मा ही आत्मा को उस तरह जानता है जिस तरह सर्प सर्पबिल को जानता है। श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, जब ऐसी स्थिति विद्यमान है, तब भला आप ही बतलाइये कि इस जगत् की स्थिति में स्वात्मज्ञान का कारण गुरुपदेश का क्रम है, यह किस तरह उपपन्न होगा ॥३-१५॥

स्थूलारुन्धतीन्याय से शिष्य की बुद्धि को आत्मा में व्यस्त कर गुरु का उपदेश ज्ञान का कारण होता है, यह कहने के लिए महाराज वसिष्ठजी किराटोपाख्यान कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, विन्ध्याचल के प्रदेश में धनधान्य से सम्पन्न अत्यन्त कृपण कोई एक किराट (देहाती बनिया) उस तरह रहता था, जिस तरह कोई एक सपरिवार ब्राह्मण रहता हो। हे श्रीरामजी, विन्ध्याचल के जंगल में जाते हुए उसकी एक कौड़ी किसी तृणसमूहों से संवृत्त स्थान में गिर पड़ी। अपनी कृपणता के कारण उस एक कौड़ी के लिए वह बड़े प्रयत्न से तीन दिन तक चारों ओर तृण–फूस आदि सबकी सफाई करता रहा ॥१६–१८॥

वह किस अभिप्राय से एक कौड़ी इतने परिश्रम से ढूँढ़ रहा था, यह बतलाते हैं।

यदि यह कौड़ी मेरे हाथ में आ जाय तो इस एक कौड़ी से मैं कोई चीज खरीद लेता और उसे बेच डालता, उस खरीद और बिक्री से चार कौड़ियाँ मेरे पास हो जाती। उनसे फिर समय पाकर आठ, उनसे सौ, सौ कौड़ियों से हजार और फिर उनसे दो हजार कौड़ियाँ मेरे पास आ जातीं; यों अपने चित्त से विचार करता हुआ वह कृपण रात–दिन आलस्यरहित होकर जंगल में उस एक कौड़ी की खोज करता रहा। उसने मनुष्यों के हजारों हास्यों की तनिक भी परवा न की। तदनन्तर तीन दिन के कड़े परिश्रम के अन्त में उसी जंगल में उसने पूर्ण चन्द्रबिम्ब के सदृश एक महान् चिन्तामणि की प्राप्ति की। उस चिन्तामणि को ले करके सन्तुष्ट हृदय हो घर आकर वह कृपण किराट सांसारिक सम्पूर्ण भोगसमूहों की प्राप्ति हो जाने तथा अपने सब दारिद्र्यादि अनर्थों की समाप्ति हो जाने के कारण सुख–पूर्वक स्थित रहने लगा। इस तरह रात–दिन घोर परिश्रम के साथ खेदरहित किराट ने जिस तरह एक कौड़ी खोजने में चिन्तामणि रत्न पाया, जिसका मूल्य जगत् ही है, उसी तरह श्रुतोपदेश से स्वात्मज्ञान भी प्राप्त किया जाता है। गुरु के उपदेशक्रम से दूसरे शब्दजन्य परोक्ष ज्ञान का अन्वेषण होता है और दूसरे नित्य अपरोक्ष आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। हे पापशून्य श्रीरामजी, ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियों से अतीत है और उपदेश से तो शब्द–श्रवण एवं श्रवण–जन्य शाब्दबोध आदि इन्द्रियसम्प्रयोज्य चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। गुरु के उपदेश से जो शाब्दवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन में अत्यन्त स्वच्छ चरमवृत्ति में नित्य अपरोक्ष ब्रह्म का जो स्फुरण होता है वह तो शिष्यों की स्वच्छ बुद्धि और ब्रह्मस्वभाव प्रयुक्त ही होता है। इसलिए गुरु के उपदेश से आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं किया जाता अर्थात् आत्मज्ञान में उपदेश कारण नहीं है ॥१९–२५॥

तथापि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि श्रुति से गुरु का उपदेश आवश्यक है।

फिर भी गुरु के उपदेश के बिना आत्मतत्त्व की प्राप्ति भी नहीं होती, क्योंकि कौड़ी की खोज के बिना चिन्तामणि की प्राप्ति किसने की। इस महान् अर्थरूप तत्त्व में गुरु का उपदेश कारण न होता हुआ भी कारणता को उस तरह प्राप्त हो गया है, जिस तरह चिन्तामणि का कौड़ी। तात्पर्य यह है कि कौड़ी क अन्वेषण की नाईं मनन द्वारा गुरु का उपदेश, कारण न होता हुआ भी, अवश्य फल के दर्शन से कारणता को प्राप्त हो गया है। हे राघव, देखिये–यह माया महात्माओं को भी मोहित करनेवाली है। बड़े यत्न से अन्य वस्तु का अन्वेषण किया जाता है और फल प्राप्त होता है कोई दूसरा ही ॥२६–२८॥

इस तरह कारण न होता हुआ भी गुरुउपदेश आदि आत्मलाभ में कारण बन गया है। आत्मलाभ

हो जाने पर तो प्रारब्धशेष से जो कुछ जागतिक भ्रम अवशिष्ट रहता है उसका एकमात्र उपेक्षा से ही नाश सिद्ध है, इसलिए उसके नाश के लिए किसी तरह के दूसरे यत्न की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मनुष्य बड़े परिश्रम के साथ अन्य कार्य करता है और उस कार्य का फल उसे प्राप्त होता है अन्य ही । चूँकि तीनों जगत् में ऐसा ही देखा और सुना जाता है, इसलिए आत्मलाभ के अनन्तर प्रारब्धशेष रहने से उपस्थित जागतिक भ्रमको असंग और अनिच्छा से ढोते चलना ही कल्याणप्रद है ॥२९॥

तिरासीवाँ सर्ग समाप्त

चौरासीवाँ सर्ग

शिखिध्वज का वैराग्य, चूडाला का आश्वासन, रात में राजा शिखिध्वज का सोई हुई अपनी प्रिया को छोड़ कर चुपचाप जंगल में भाग जाना और मन्दराचल में स्थिति - इन सबका वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, उसके बाद राजा शिखिध्वज तत्त्वज्ञानरूप विश्रान्तिस्थान के बिना परम मोह को उस तरह प्राप्त हो गया, जिस तरह सन्ततिशून्य पुरुष शोकादिरूप तमसे अन्धता को । दुःखरूप अग्नि से सन्तप्त मनवाला वह शिखिध्वज सामन्त आदि प्रियवर्ग द्वारा लाई गयी रत्नादि बहुमूल्य सम्पत्तियों में, अग्निशिखा की नाईं, तनिक भी रमण नहीं करता था । व्याध द्वारा बाण छोड़े जाने पर भी भाग्यवश घायल न हुआ हरिण व्याध से डरकर जैसे एकान्त स्थल में निवास के लिए प्रेम करता है वैसे ही वह राजा एकान्त दिगन्तों में, निर्झरों में और गुहाओं में निवास के लिए प्रेम करने लगा । हे राघव, तुम्हारे समान सान्त्वन, अनुनय एवं बोधन से चाकरों द्वारा प्रार्थित वह राजा समस्त दिवस कर्म का सम्पादन करता था । प्रतिदिन उसका वैराग्य तीव्रतम होता जाता था, वह एक तरह से संन्यासी-सा स्थित था, उसकी बुद्धि अत्यन्त शान्त थी, इसलिए बड़े-बड़े भोग और विषयों का उपभोग करने में उसका चित्त खिन्न हो जाता था । हे मानद, उसने गो, भूमि, सुवर्ण आदि का देवताओं, ब्राह्मणों और स्वजनों को खूब दान दिया । तप करने के लिए कृच्छ, चान्द्रायण आदि व्रतों का आचरण किया । उसने तीर्थों में, वनों में और आश्रमों में परिभ्रमण किया । जिस प्रकार निधि चाहनेवाला पुरुष निधिशून्य भूमि को खोदकर निधि प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार वह राजा तप एवं अरण्यादि भ्रमण करने पर भी शोक शून्य स्थिति को तनिक भी प्राप्त नहीं हुआ । रात-दिन की चिन्तारूपी अग्नि से वह महान् राजा शिखिध्वज भी सूखने लगा और संसाररूप व्याधि का औषध विचारने लगा । चिन्तापरवश होकर वह दीन बन गया । अपना राज्य उसे विष के सदृश मालूम पड़ने लगा । सामने बड़े-बड़े रखे गये विभवों को भी खिन्न बुद्धि के कारण वह नहीं देख पाता था । अनन्तर एकान्त में स्थित और अंकारूढ़ चूडाला से वह शिखिध्वज राजा मधुर शब्दों से यह कहने लगा । शिखिध्वज ने कहा : भद्रे, चिरकालपर्यन्त राज्य का उपभोग किया । तरह तरह के विभवपूर्ण पदों का भी भोग किया । अब मैं विराग से युक्त हो गया हूँ, इसलिए अरण्य की ओर जाता हूँ । हे तन्वंगि, अरण्य निवासी मुनि को न सुख, न दुःख, न आपत्तियाँ और न सम्पत्तियाँ ही कुछ कर पाती हैं । न तो उन्हें देश के विनाश से कोई मोह होता है और

न संग्राम में जन का क्षय ही होता है, इसलिए अरण्यवासी मुनियों के सुख को राज्य की अपेक्षा भी मैं अधिक मानता हूँ ॥१–१४॥

अब वनराजि का चूडाला की उपमा से वर्णन करते हैं।

(हे वरानने, अब हमें तुम्हारे सदृश वनपंक्तियाँ ही रमण कराती हैं, वे वनपंक्तियाँ) पुष्पों के गुच्छे रूप स्तन धारण करती हैं, रक्त पल्लव ही उनके हाथ हैं, नानाविध मंजरियाँ ही उनके हार हैं, चंचल धवल मेघ ही उनके चीनाम्बर हैं। अपना पराग ही उनका अंगराग है, कुसुमों से वे अपना अलंकार निर्माण करती हैं। उपभोग करने योग्य सुवर्णशीलारूप नितम्बतटों से वे सुहावनी लगती हैं, वे तरंगरूप मोतियों से पिरोयी गयी सरितरूपी मुक्तालताओं से परिवृत्त रहती हैं, उनके चारों ओर लतारूपी सखियाँ राजित रहती हैं, उनके शिशु मुग्ध–मुग्ध मृग हैं, वे स्वभावतः ही उत्कट सौगन्ध से परिपूर्ण रहती हैं, क्षुधितों को भोजन के लिए निरन्तर फल प्रदान करती हैं, भ्रमरपंक्तियाँ ही उनके नेत्र हैं, कुसुमपूर्ण लताएँ ही उनके बाहु आदि अंग हैं। तुम्हारे अधर के सदृश पान के योग्य तरंगपूर्ण झरनों के रूप में परिणत हुई वे निरन्तर शीतल और निर्मल गात्रों से अत्यन्त कमनीय लगती हैं, इसलिए हे सुमुखि, वनराजियाँ ही तुम्हारे सदृश मुझे रमण कराती हैं। हे तन्वि, विरक्त हुआ मन जैसा ऐकान्त में सुखानुभव करता है वैसा न तो शशिबिम्बों में और न ब्रह्मा एवं इन्द्र के आश्रय स्थानों में सुखानुभव करता है। हे कोमलांगि, यह जो मैंने वन जाने का उत्तम विचार किया है, उसमें तुम किसी प्रकार की बाधा मत पहुँचाओ, क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ स्वप्न में भी पति की इच्छा का विघटन नहीं करतीं ॥१५–२१॥

पति को वैराग्य दृढ़ हुआ है या नहीं, इसकी परीक्षा कर रही चूडाला पहले की कामासक्ति का ही, अवस्थानुरूपता वर्णन द्वारा मानों अनुमोदन करती हुई स्थूणानिखनन न्याय से, निरास करती है।

चूडाला ने कहा : हे नाथ, जिसके लिए समय आ चुका हो वही कार्य यदि किया जाय तो शोभित होता है, दूसरा नहीं। फूल वसन्त में ही शोभता है और फल शरत्काल में ही भला लगता है। वृद्धावस्था से ठिठुरे हुए शरीरवाले पुरुषों के लिए ही वन का आश्रय लेना युक्त है, परन्तु आपके सदृश युवकों के लिए कदापि युक्त नहीं है, इसलिए आपका यह विचार मुझे पसन्द नहीं हैं। महाराज, पुष्पसमूहों से वृक्षों की नाईं जब तक हम लोग यौवन से त्यक्त नहीं होते, तब तक घर में ही शोभित रहें–निवास करें। पुष्पों को धारण करनेवाली लताओं के मस्तक पर झूम रहे सफेद फूलों से उपमित बुढ़ापा के साथ यानी वृद्धावस्था आने पर जब हम दोनों के मस्तक के केश पुष्पयुक्त लताओं के समान बिलकुल सफेद हो जायेंगे, तब हम दोनों एक ही साथ, सरोवर से हंसों की नाईं, गृह से निकलकर जंगल में चलेंगे। हे राजन्, बिना समय आये प्रजापालन का त्याग कर रहे राजा को राज्यविनाशनिमित्तक बहुत बड़ा पाप लगेगा ही। समयप्राप्ति के बिना कार्य करने वाले राजा को प्रजाएँ अवश्य ही रोकती हैं और अकार्यों से नौकर अपने स्वामी को तथा स्वामी नौकरों को, यों परस्पर रोकते ही हैं ॥२२–२७॥

इस तरह विचलित किये जानेपर भी अविचलित वैराग्य से सम्पन्न राजा शिखिध्वज अपनी प्रियभार्या चूडाला से अनुनय करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे कमलपत्राक्षि, मेरे अभिमत कार्य में विघ्न मत डालो। अब तुम मुझे

यहाँ से दूर एकान्त जंगल में गया हुआ ही समझो। हे अनिन्दित अंगवाली, तुम अभी बिलकुल बच्ची हो, तुम्हें जंगल में नहीं आना चाहिए, क्योंकि हे कोमलांगि, जंगली प्रदेश में प्रवेश पुरुषों के लिए भी अति कठिन है। कठोर से भी कठोर अंगवाली स्त्रियाँ जंगल के निवास में किसी तरह समर्थ नहीं हो सकतीं, क्या कहीं उपवन में उत्पन्न पुष्पमंजरियाँ शस्त्रों को सहन कर सकती हैं ? ॥२८–३०॥

यह जो तुमने कहा है कि समय प्राप्त हुए बिना प्रजापालन का त्याग करनेवाले राजाओं को राज्यविनाशनिमित्तक बहुत बड़ा पाप लगेगा सो इस दोष का परिहार भी तुम्हें ही करना पड़ेगा, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे उत्तमे, प्रजाओं का भलीभाँति पालन करती हुई तुम राज्य में स्थित रहना, क्योंकि पति के चले जाने पर कुटुम्ब के भार का उद्वहन करना स्त्रियों का धर्म है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, शशिमुखी उस अपनी दयिता से इतनी बातें कहकर जितेन्द्रिय राजा शिखिध्वज स्नान करने के लिए उठ गया और उसने अपने सम्पूर्ण दैनिक कार्यों का सम्पादन किया। इसके अनन्तर सब प्रजाओं की चेष्टाओं का त्यागकर भगवान् सूर्य अस्ताचल को उस तरह चल पड़े, जिस तरह राजा शिखिध्वज अपनी सम्पूर्ण प्रजाओं की चेष्टाओं का त्यागकर समस्त जनों से दुर्गम जंगल को। अपने व्यापक रूप का उपसंहार कर अनुरागिणी प्रभा भी भगवान् सूर्य के पीछे–पीछे उस तरह चली गयी, जिस तरह राजमहल से निकले हुए अपने स्वामी के पीछे–पीछे अनुरागिणी चूडाला। भस्म से (धूलि से) धूसर भुवन के पास श्यामा (काली) रात्रि उस प्रकार आ गयी, जिस प्रकार अपनी प्रियसखी गंगा को धारण किये हुए भगवान् शंकर के पास स्वयं काम से वशीभूत होकर आलिंगन करने की इच्छा से मानों यमुना आ गयी हो। सब दिशाओं के–सन्ध्याकालीन मेघरूप दाँतों से युक्त तथा तमालरूपी बच्चों को अपनी गोद में लेकर यमुना के चरित्र के अवलोकन से मानों चाँदनीरूपी हास से समन्वित तथा चारों ओर घेरा बाँधकर–स्थित होने पर, दिनश्री और दिननाथरूपी दम्पतियों के देवताओं के उद्यानमय मेरु पर्वत के उत्तरार्ध में रमण करने के लिए चले जानेपर तथा धर्मरूपी पापों एवं तन्निमित्तक तीक्ष्ण किरणों से त्यक्त निशा और निशानायकरूपी दम्पतियों के मेरु पर्वत के इस पार में विहार करने के लिए आ जाने पर, दिशारूपी स्त्रियों द्वारा फेंकी गयी मांगलिक लावों की नाईं, आकाशरूपी फर्श के (गच के) ऊपर बिखरे हुए तारों के गण दीख पड़े। चन्द्ररूपी आनन से सुशोभित, अन्धकार से श्यामवर्णा, अपने प्रिय चन्द्र के अन्वेषण तथा उनके उदय की प्रतीक्षा से श्रान्त हुई, कुमुद आदि कुसुमों से हासवती तथा रात्रि कमल रूपी स्तनों से सुशोभित रात्रि अपनी युवावस्था के फल को प्राप्त हुई। सन्ध्याकालीन सब कार्यों का सम्पादन करके वह राजा शिखिध्वज अपनी प्रिय–पत्नी चूडाला के साथ शयनस्थान में उस तरह गाढ़ सो गया, जिस तरह मैनाक पर्वत समुद्र में। इसके बाद आधी रात के समय जब राजा सारा देश निःशब्दता को प्राप्त हो गया तथा जब सघननिद्रारूपी पाषाणकोश के भीतर सकल जन विलीन हो गये, तब उस राजा शिखिध्वज ने, कमल के ऊपर सोई हुई निद्रा से अत्यन्त विमूढ़ भ्रमरी के समान, कोमल वस्त्रों से सुसज्जित पलंग पर सोई हुई उस चूडाला के निद्रा से अत्यन्त विमूढ़ हो जाने पर धीरे–धीरे अपनी गोद से सोई हुई प्रिया को उस तरह त्याग दिया, जिस तरह राहु का मुख पूर्व दिशा में चन्द्रमा की प्रभा को। वह राजा उस पलंग से, जिसके ऊपर बिछाये गये चादर के आधे हिस्से पर उसकी प्रिय

पत्नी गाढ़ निद्रा में सोई हुई थी, उस तरह उठ गया; जिस तरह लक्ष्मी की कान्तियों से युक्त चंचल तरंगों से समन्वित क्षीरसागर से भगवान् विष्णु उठ जाते हैं। चोर आदि दुष्ट लोगों को पकड़ने के लिए 'मैं बाहर जा रहा हूँ' यह कहकर तथा अपने अनुचरों को भी उसी कार्य में नियुक्त करके वह निःस्पृह राजा शिखिध्वज नगर से निकलकर चल दिया। हे राजलक्ष्मि, तुम्हें नमस्कार है, यों कहकर वह अकेला अपने मण्डल से चला और चलते-चलते एक भयंकर बहुत बड़े जंगल में उस तरह प्रविष्ट हो गया, जिस तरह, नद महासमुद्र में। घनान्धकार और गुल्मों से पूर्ण तथा क्षुद्र जीवों से अत्यन्त कर्कश उस बड़े जंगल तथा रात्रि को उसने साथ-साथ पार किया। और सबेरा होने पर वह उस शून्य बड़े जंगल में खूब चलता रहा। चलते-चलते सम्पूर्ण विस्तृत दिन गँवाकर भगवान् सूर्यदेव के साथ ही कहीं जंगल की भूमि में उसने विश्राम किया। भगवान् भास्कर के अदृश्य हो जाने पर वहाँ स्नान, सन्ध्यावन्दन आदि कर लेने के बाद कुछ फलादि खा करके उसने वह रात गँवा दी। फिर प्रातःकाल होने पर बड़े वेग से चलता हुआ वह राजा शिखिध्वज बड़े-बड़े नगरों, मण्डलों, पर्वतों तथा नदियों को बारह दिन में लाँघ गया। तदनन्तर वह मन्दराचल के तट पर स्थित मनुष्यों से दुर्गम एक वन में पहुँचा, जहाँ से जनसमूह और नगर बहुत ही दूर स्थित थे। जहाँ पर वापियों द्वारा, जिससे बाँसों की नालियों से शब्दपूर्वक जल बह रहे थे, अत्यन्त बलवान् बनाये गये असंख्य वृक्ष उपस्थित थे; जहाँ पर जीर्णशीर्ण वेदियों और घरों से सहज में यह अनुमान हो रहा था कि यहाँ पर पहले ब्राह्मणों के अवश्य ही अनेक आश्रम थे। और जो क्षुद्र जन्तुओं से शून्य, सिद्ध लोगों से सेवनीय, लताघरों से समन्वित तथा प्राणवृत्ति करनेवाले फलों से नीचे से ऊपरतक परिपूर्ण वृक्षों और लताओं से भरा हुआ था। उसी जंगल में किसी एक चौरस, शुद्ध, जल से वेष्टित, शीतल, हरे-हरे घासों से युक्त प्रदेशों से श्याम, स्निग्ध, तथा फलसम्पन्न वृक्षों से युक्त स्थान में मंजरीसहित लताओं से उस राजा ने एक पर्णशालारूपी घर उस तरह बनाया, जिस तरह वर्षाकाल बिजलीसहित नील मेघों से पंजर बनाता है। बाँस का दण्ड, फल-भोजन पात्र, अर्घपात्र, पुष्पपात्र, कमण्डलु, रूद्राक्ष की माला, शीत से अपनी रक्षा के लिए कन्था, और व्रतियों का आसन मृगचर्म-ये सब वस्तुएँ लाकर उस राजा ने अपने मठिकारूपी मन्दिर में सजा दीं। इनके अतिरिक्त और भी दूसरी कोई वस्तु, जो तापसकर्मोपयोगी मालूम पड़ी, राजा ने लाकर अपनी कुटिया में उस तरह स्थापित की, जिस तरह विधाता अपने द्वारा सृष्ट ब्रह्माण्ड में व्यवहार-साधनों को स्थापित करता है। उसने दिन के प्रथम प्रहर में प्रातःकाल सन्ध्यापूर्वक जप, द्वितीय प्रहर में पुष्प आदि का संचय और उसके बाद स्नान, देवार्चन आदि कार्य किये। तदनन्तर जंगली फल, कन्दमूल तथा कमलदण्डादि खाकर जप में तत्पर होकर जितेन्द्रिय उस राजा ने अकेले रात बितायी। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मन्दराचल के तट पर विरचित पर्णशाला के भीतर स्थित उस मालवेश शिखिध्वज ने खेदशून्य होकर जपादि करते हुए अनेक दिन बिता दिये। उसने पूर्वानुभूत अपने नूतन राजविलासों का तनिक भी स्मरण नहीं किया, क्योंकि हृदय में विवेक के स्फुरित होने पर राज्यलक्ष्मियाँ ईच्छा की उत्पत्ति के द्वारा क्या किसी दरिद्र को भी अपने वश में कर सकती हैं ? तात्पर्य यह कि वे किसी भी विवेकी को वश में नहीं कर सकतीं ॥३१-६२॥

चौरासीवाँ सर्ग समाप्त

पचासीवाँ सर्ग

सोकर उठी हुई चूडाला द्वारा राजा का अन्वेषण, मार्ग में दर्शन,
राजा के भावी अर्थों का अवलोकन तथा समय पाकर ज्ञान दिलाना – इन सबका वर्णन।

कही गयी बातों का अनुवाद करके आगे कही जानेवाली कथा से मेल दिखलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह राजा शिखिध्वज एक तपस्वी को जिन वस्तुओं की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है उन सब वस्तुओं से पूर्ण अपनी जंगल की कुटिया में स्थित रहा, अब उस चूडाला ने घर में क्या किया ? सो आप सुनिये। उस आधी रात के समय राजा शिखिध्वज के बहुत दूर निकल जाने पर, गाँव में सोई हुई हरिणी की नाईं, वह चूडाला भय से अचानक जाग गयी। पति से त्यक्त उस चूडाला ने अपने शून्य शयन को, सूर्य से शून्य तथा अपूर्ण चन्द्रमा से युक्त आकाश की नाईं, शोभाहीन देखा। कुछ मलिनवदन, खेदयुक्त तथा उत्साहहीन, अंगरूपी पल्लवों से युक्त वह चूडाला, क्षार और कर्दम आदि से मिश्रित जल से सींची गयी महावल्ली की नाईं, अपने बिस्तर से उठी। व्याकुलता को प्राप्त वह चूडाला प्रसन्न न थी, विमल न थी, किन्तु नीहार से धूसर दिन की शोभा की नाईं वह अवस्थित थी। अपनी शय्यापर बैठी हुई ही चिन्ता से व्याकुल उस चूडाला ने क्षणभर तक विचार किया कि – बड़े दुःख की बात है कि आज मेरे पति राज्य छोड़कर घर से जंगल में चले गये। इसलिए अब मुझे यहाँ क्या करना है, मैं भी अपने स्वामी के समीप चलूँ, क्योंकि शास्त्र द्वारा पति ही स्त्री का प्रथम शरणस्थान विहित है। तात्पर्य यह कि पति के न रहने पर ही पुत्र आदि स्त्री के शरणस्थान कहे गये हैं। यों विचार करके अपने पति के समीप जाने के लिए चूडाला उठी, वह छोटी खिड़की के रास्ते निकलकर आकाश में चली गयी। सिद्ध समूहों को अपने मुख से द्वितीय चन्द्रभ्रान्ति पैदा करती हुई वायु द्वारा उस योगिनी ने आकाशमार्ग से भ्रमण किया। अनन्तर रात में खड्ग लेकर जा रहे तथा एकान्त स्थान में वेतालों के घूमने योग्य समय में यानी रात में प्रकाशमान अकेले भ्रमण कर रहे अपने पति को उसने देखा। आकाशकोटर में स्थित होकर उस तरह अकेले निर्जन वन में भटक रहे अपने स्वामी को देखकर वह चूडाला भलीभाँति अपने स्वामी के भविष्यत्कालीन सब पदार्थों के विषय में विचार करने लगी। हे राघव, जैसे, जिस निमित्त से, जिस देश और जिस काल में, जितने कार्य का जिस रीति से अभ्युदय और जिस प्रकार निरतिशय भूमानन्दविश्रान्ति प्राप्त करनी होगी – इत्यादि जो कुछ अपने पति का अवश्य भवितव्य था, सबको योगबल से प्रत्यक्ष देखकर वह चूडाला उसीके अनुकूल आचरण करने के लिए आकाश से लौट आई। अब आगे मेरा गमन न हो, क्योंकि अति चिरकाल के बाद मुझे अपने पति के पास जाना पड़ेगा, यही नियति का निश्चय है। यों सोचकर चूडाला ने फिर अपने अन्तःपुर में प्रवेश कर, भगवान् शंकर के मस्तकपर चन्द्रकला की नाईं, अपने बिस्तर पर आकर सो गयी। किसी कारणविशेष से यह राजा इस समय कहीं बाहर चले गये हैं – यों सब नागरिक जनों को आश्वासन देकर वह अंगना निश्चिन्त अवस्थित हो गयी। जिस तरह धान की रखवाली करनेवाली स्त्री समय से पके हुए धान के खेत की रक्षा करती है, उसी तरह वह चूडाला समदृष्टि से अपने स्वामी के उसी क्रम से राज्य की रक्षा करने लगी। हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय एक दूसरे का मुख न देखनेवाले, राज्य और जंगल के

पालन में तत्पर हुए उस तरह से स्थित उन दोनों स्त्री और पुरुष का काल व्यतीत हो रहा था। राजा शिखिध्वज का जंगल में तथा चूडाला का अपने घर में दिन के पीछे पक्ष, पक्ष के पीछे मास और मास के पीछे वर्ष बीतता चला जा रहा था। हे रामभद्र, अधिक यहाँ आपसे कहने की क्या आवश्यकता ? अट्ठारह वर्ष तक अँगना चूडाला ने अपने सदन में और राजा शिखिध्वज ने वन के गुच्छों में निवास किया। इसके बाद अनेक वर्षों के लगातार व्यतीत हो जाने पर महाशैल तट के कोटर में निवास कर रहे राजा शिखिध्वज को वृद्धावस्था ने आकर घेर लिया। अपने स्वामी की रागादि वासनाओं के पाक को दृष्टि में रखकर चूडाला ने उतने काल की खूब प्रतीक्षा की। इसके बाद वृद्धावस्था से युक्त राजा शिखिध्वज के अनेक वर्ष वन में जब व्यतीत हो गये तब पति के बोधनरूप आत्मकार्य की वैसी भवितव्यता से उसको यह विचार हुआ कि पति के समीप गमन का मेरा यही समय है। ऐसा सोचकर उसने मन्दराचल के वन में जाने के लिए विचार किया और रात में अन्तःपुर से निकलकर आकाशमार्ग में उड़ गयी। वायुमण्डल में होकर वह गयी। आकाशमार्ग में जा रही उसने कल्पवृक्ष के वस्त्रों से आच्छन्न तथा रत्नस्तम्बकों से विभूषित, नन्दनवन की निवासिनी अपने प्रेमियों में अनुरक्त सिद्धों की अभिसारिकाओं का अवलोकन किया। चन्द्रकलाओं का स्पर्श करनेवाले, हिमकण के वर्षी, उत्तम सिद्धों द्वारा मन्दारमाला, हरिचन्दन, कस्तूरी आदि की सुगन्धता का ग्रहण करनेवाले मारुतों का उसने स्पर्श किया। चन्द्रबिम्बरूपी पीयूषसिन्धु की महातरंगों की परम्पराभूत निर्मल ज्योत्स्ना का आकाश के बीच में जाकर–उसने अवलोकन किया। मेघों के भीतर से जा रही उस चूडाला ने मेघों में संलग्न तथा अपने स्वामी से अवियुक्त विद्युतों का उसने बार–बार अवलोकन किया। और अपने मन–ही–मन वह बोलने लगी – अहों, जीवनपर्यन्त देहधारियों का स्वभाव कभी शान्त नहीं होता। आज मेरा भी मन उत्कण्ठित हो ही गया। अहो, प्रेम में प्रवण तथा मृगेन्द्र की नाईं स्कन्धवाले अपने कान्त को पुनः मैं कब देखूँगी ? अहो, विवेकादि के द्वारा बोधित हो रहा भी मेरा मन आज यों उत्कण्ठित हो रहा है। अहा, मंजरियों के जालों से वेष्टित लताएँ अपने वृक्षरूपी पति को क्षणभर के लिए भी नहीं छोड़तीं, इसलिए मेरा भी मन उत्कण्ठित हो रहा है। जैसे देवयोनि में उत्पन्न यह सिद्धाभिसारिका (अप्सरा) अपने कान्त के पास जा रही है, वैसे ही मैं भी कब अपने कान्त के पास जाऊँगी ? इसी विचार में मेरा भी मन लगा हुआ है। अहो, ये मन्द–मन्द पवन, ये चन्द्रकिरण और ये वन की राजियाँ मुझे भी उत्कण्ठित कर रही हैं। हे अज्ञ चित्त, व्यर्थ ही हृदय में ताण्डवित होकर तू क्यों स्थित है ? हे साधो, तुम्हारी आकाश की तरह निर्मल विवेकता कहाँ चली गयी ? अथवा हे सखे चित्त, तुम्हारा यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि तुम अपने स्वामी के प्रति उत्कण्ठित हो रहे हो। हे चित्त, तुम उत्कण्ठा से परिपूर्ण बैठे रहो, तुम्हारे उत्कण्ठित होने से मेरा क्या ? (अब अपने शरीर से कहती है।) हे स्त्री शरीर, जिसे आलिंगन के लिए समुत्सुक हो रहे हो, वह तुम्हारा स्वामी तुम्हारी तनिक भी परवा न कर अब बिलकुल वृद्ध हो गया होगा। वह तपस्वी कृश शरीर तथा वासनाशून्य हो गया होगा। मैं समझती हूँ, अब उसका मन राज्यादि के अभोग के लिए निर्मूलता को पहुँच गया होगा। तथा जैसे वर्षाकाल की क्षुद्र नदी महानद में मिलकर उससे पृथक् नहीं रहती, वैसे ही उसकी वासनारूप लतिका महान् आत्मा में मिलकर अब उससे पृथक् नहीं रहती होगी। वह एकान्त में आसक्त अतएव एकात्मा हो गया होगा, उसकी इच्छाएँ समाप्त हो गयी होंगी तथा वह वासनाओं से

शून्य हो गया होगा। मैं समझती हूँ, यद्यपि मेरा स्वामी अब शुष्क वृक्ष के समान स्थितिवाला हो गया होगा यानी वह बिलकुल बोधशून्य हो गया होगा, तथापि हे चित्त, तुम्हें उत्कण्ठित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मैं योग से यानी आगे कहे जानेवाले उपाय से स्वामी की बुद्धि को तत्त्वज्ञ बनाकर प्रारब्धशेषोपभोग की उत्कण्ठा से युक्त उन्हें तुम्हारे साथ संश्लिष्ट करा दूँगी, तुम उत्कण्ठा मत करो। मैं अपने मुनि हुए स्वामी के मन को सम बनाकर राज्य करने में ही नियुक्त करूँगी और उसके बाद हम दोनों सुख से चिरकाल तक निवास करेंगे। अहो, चिरकाल के बाद मैं इस शुभ मनोरथ को प्राप्त करूँगी, क्योंकि मैं अपने स्वामी को तत्त्वबोध से अपने ही समान आभ्यन्तर और बाह्य अर्थों में विचारयुक्त प्राप्त करूँगी। जो समान मन की वृत्तियों के संगम के आस्वादन में सुख मिलता है वही समग्र आनन्दसमूहों के ऊपर स्थित हैं। यों चिन्तन कर रही चूडाला आकाशमार्ग से पर्वतों, देशों, मेघों तथा दिगन्तों को लाँघ करके मन्दराचल की कन्दरा में जा पहुँची। अदृश्यरूप से आकाश में स्थित हुई ही वह चूडाला जंगल के मध्य में उस तरह प्रविष्ट हो गयी, जिस तरह वृक्षों और लताओं के स्पन्द से अनुमेय गमनागमनवाली वायुमंडली। वन के किसी एक कोने में पर्णकुटी बनाकर ठहरे हुए अपने पति को देखकर उसने समाहित चित्त से अन्य शरीर में स्थित–जैसा समझा। हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पहले हार, केयूर, कटक और कुण्डल आदि से विभूषित सुमेरु के समान कान्तियुक्त रहता था, उसीको यहाँ उस चूडाला ने कृशगात्र, कृष्णवर्ण और जीर्णपत्र–सा अवस्थित देखा। काजलमय जल में स्नान किये हुए–जैसे, इच्छाओं से शून्य, भगवान् शंकर के प्रसिद्ध द्वारपाल भृंगीश के सदृश अवस्थित, वल्कल वस्त्रधारी, शान्त, अकेले जमीन पर बैठकर देवताओं और अतिथियों की पूजा के लिए फूलों की माला गुँथ रहे, जटाओं से चिह्नित उस अपने पति को देखकर सर्वांगसुंदरी तथा स्थूल स्तनवाली चूडाला कुछ उदास–सी होकर अपने मन–ही–मन यों कहने लगी – अज्ञानभरी कैसी विषम मूर्खता है। मूर्खता के प्रसाद से ऐसी ही दशाएँ आया करती हैं। चूँकि यह लक्ष्मीवान् राजा मेरा अतिप्रिय पति हृदय में गाढ़ मोह से आहत इस दशा को प्राप्त हो गया है, इसलिए इस पर्णकुटी में आज ही अवश्य अपने नाथ को आत्मज्ञानी बनाऊँगी तथा भोग और मोक्षश्री दिलाऊँगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इस रूप को छोड़कर अन्य किसी दूसरे रूप से सर्वोत्तम ज्ञान देने के लिए अब मैं इन के समीप चलती हूँ॥१–५३॥

इस रूप का क्यों परित्याग कर देना चाहिए, इस पर कहते हैं।

यदि मैं इसी रूप से इसके पास जाती हूँ तो यह बाला मेरी कान्ता है, यह समझकर मेरा कहना अच्छी तरह नहीं करेगा, इसलिए तपस्वी के रूप से सामने जाकर क्षणभर में ही पति को बोधित करती हूँ ॥५४॥

पहले ही तपस्वी के वेष से उसे क्यों नहीं बोधित किया, इस पर कहते हैं।

अब मेरा स्वामी रागादि वासनाओं के परिपाक से परिपक्वमति होकर स्थित है। इसके विमल चित्त में आत्मतत्त्व भलीभाँति प्रतिबिम्बित होगा, यों विचाकर चूडाला ब्राह्मणपुत्र बन गयी ॥५५,५६॥

वह चूडाला ब्राह्मणकुमार कैसे बन गयी, यह बतलाते हैं।

पूर्वोक्त अग्नि और चन्द्र की धारंणारूप किंचित् ध्यान से एक ही क्षण में जलतरंग की नाईं पुरुषरूपता को प्राप्त हो गयी और ब्राह्मणकुमार का रूप धारण करके वह चूडाला उसी जंगल में जा

गिरी। मन्द मुस्कान से शोभ रहे मुखवाली वह चूडाला अपने स्वामी के आगे आ धमकी और शिखिध्वज ने अपने सामने आकर खड़े हुए उस ब्राह्मणकुमार को देखा, जो एक दूसरे जंगल से आए हुए मूर्तिमान् तप के सदृश अवस्थित, पिघल रहे सुवर्ण के समान गौरांग, मोतियों के हार से विभूषित, शुक्ल यज्ञोपवित से विराजमान, शुक्ल दो वस्त्रों से आवृत्त, कमण्डलधारी तथा अत्यन्त कान्ति से युक्त सामने आकर खड़ा था। मणिबन्ध से नीचे द्विगुण बाह्य प्रदेश को व्याप्त करनेवाली, हस्तप्रमाण, बहुत लम्बी न होने के कारण भूमि में न लगी हुई सुन्दर अक्षमाला से सुशोभित, भ्रमरों की माला से व्याप्त कमल की नाईं कुन्तलों (सिर के बालों) से व्याप्त मस्तकवाले, शरीरके दीप्तिमण्डलों से उस प्रदेश को प्रकाशित कर रहे, कुण्डलों से विभूषित मुखवाले, नवीन उदित सूर्य के समान, अपनी शिखा में मन्दार की माला पिरोये हुए, अतएव जिसके शिखर पर चन्द्रमा स्थित है ऐसे पर्वत की नाईं स्थित, कान्त तथा उपशान्त शरीरधारी, बलशाली जितेन्द्रिय, हिम के समान कान्ति से युक्त भस्मतिलक से सुशोभित, अतएव भूषित आलोक की नाईं सुन्दर तथा सुमेरू पर्वत की सुवर्णतटी में अवस्थित गंगाप्रवाह में प्रतिबिम्बित पूर्ण चन्द्रमा की नाईं चंचल उस ब्राह्मण कुमार को देखकर राजा शिखिध्वज उठ खड़ा हो गया। देवपुत्र के आगमन की बुद्धि से अपनी खड़ाऊँ छोड़कर राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, आपको नमस्कार है, यह आपके लि़ए आसन है, कृपाकर इस पर बैठ जाइये। यों कहकर अपने हाथ से उसको पत्रनिर्मित आसन दिखलाया और उस ब्राह्मणकुमार के करतल में पुष्पमुष्टि उस तरह दी, जिस तरह कुमुदखण्ड के पल्लव में चन्द्रमा हिमकणजाल देता है। उस ब्राह्मणकुमार ने भी कहा : हे राजर्षे, तुम्हें नमस्कार है। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे महाभाग देवपुत्र, आपने कहाँ से आगमन किया ? मैं आज का दिन सफल समझता हूँ, क्योंकि आज मैंने आपका दर्शन किया है। हे मानद, यह अर्घ्य है, यह पाद्य है, ये फूल हैं और गुँथी हुई ये मालाएँ हैं, लीजिए, आपका कल्याण हो। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे पापशून्य श्रीरामचन्द्रजी, यों कहकर ब्राह्मण–कुमार वेषधारी उस अपनी प्रियतमा को राजा शिखिध्वज ने अर्घ्य, पाद्य, माला और पुष्पादि शास्त्रोक्त विधि से दिये। चूडाला ने कहा : हे राजर्षे, इस भूतल पर मैंने अनेक जगहों में परिभ्रमण किया परन्तु जैसी पूजा मैंने तुमसे प्राप्त की, वैसी किसी दूसरे से नहीं। हे अनघ, तुम्हारे इस कोमल अनुरूप विनय से मैं समझता हूँ कि तुम निश्चय अत्यन्त चिरंजीवी होओगे। हे साधो, क्या शान्त मन से उदार तप तुमने मोक्ष के लिए संचित किया है, जहाँ फल के संकल्प बहुत दूर फेंक दिये गये हैं। हे सौम्य, यह जो तुमने अपने विस्तृत राज्य को छोड़ कर इस महा जंगल का सेवन किया है वह क्रोधशून्य, वनस्थ यतियों का व्रत तलवार की धार के समान है ॥५७–७५॥

राज्य का परित्याग और मोक्ष के लिए तपस्या का आचरण – इन दोनों की अज्ञात दशामें प्रशंसा नहीं हो सकती, इसलिए तपस्या द्वारा उसमें सर्वज्ञता की सम्भावना करता हुआ राजा शिखिध्वज रूपादिसम्पत्ति से उस ब्राह्मणकुमार की प्रशंसा करता है।

राजा शिखिध्वज ने कहा : भगवन्, आप देव हो, सब कुछ जानते हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अपने लोकोत्तर चिह्नयुक्त सौन्दर्य से ही आप महाप्रभावशाली मालूम़ पड़ते हो। मेरी बुद्धि तो यह कह रही है कि ये आपके सब अंग अमृतमय चन्द्रमा से विरचित हैं अथवा मेरा अधिक कहना व्यर्थ है, आप अपने सम्यक् वीक्षण और देह की कान्ति से मानों अमृत से मुझे सींच रहे हो। हे सुन्दर, मेरी प्रियपत्नी

है, जो आजकल मेरे उस राज्य की रक्षा कर रही है। उसके समान आपके ही वे अंग मुझे यहाँ दीख पड़े हैं। मस्तक से लेकर पैर तक यह आपका उपशान्त तथा कमनीय शरीर है, इसे आप मेरे द्वारा दी गयी माला से, शुभ्र मेघ से मेरुशिखिर की नाईं, ढक दीजिये। कलंकशून्य चन्द्रमा के समान तथा पुष्पदल की नाईं कोमल आपका यह अंग सूर्य के तेज से ग्लानि को प्राप्त हो रहा है, ऐसा मैं समझता हूँ। हे सुन्दर, यह ऐसी सफेद फूल की माला मैंने देवार्चन के लिए गुँथी है, वह आपके अंग के संग से कृतार्थता को प्राप्त हो जाय ॥७६-८१॥

अतिथिपूजन देवार्चन से भी बढ़कर है, इसलिए अकेला अतिथिपूजन ही जन्मसाफल्य में हेतु है, फिर आपकी पूजा में तो मुझे दोनों की प्राप्ति एक साथ हो गयी, अतः मेरा जीवन तो सफल है ही, इस आशय से कहते हैं।

अपने निकट आये हुए अतिथि की पूजा से जीवन सफल हो जाता है, क्योंकि सज्जनों को अभ्यागत जन देवता से भी अधिक पूज्य हैं। हे विमलचन्द्र के तुल्य मुखवाले, मेरे द्वारा समर्पित पूजा ग्रहण के बाद, आप मेरे इस सन्देह को दूर कीजिये कि आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं और इस दीन के ऊपर दया करके कहाँ से किसलिए आये हैं ? ब्राह्मण ने कहा : हे राजन्, जैसा आपने मुझसे पूछा है वह सब मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये। भला ऐसा कौन पुरुष है, जो एक विनम्र प्रश्नकर्ता को ठगे – धोखा दे। पुण्यलक्ष्मी के कमनीय मुख में सुगन्धित कर्पूर के तिलक के सदृश गौरांग शुद्धात्मा नारद मुनि इस जगती कोश में हैं। वह देवमुनि (नारद) सुमेरु पर्वत की गुहा में किसी समय ध्यानावस्थित थे। वहीं सुमेरुतट में विशाल तरंगवाली गंगाजी बहती हैं। जो मेरु के सौन्दर्य से प्रकाशमान रूपवाली गंगा हारलता की नाईं भासित होती हैं। उसी गंगा नदी के तट पर एक समय ध्यान के अन्त में नारदमुनि ने शब्द कर रहे कंकणों से युक्त जलक्रीडा की कोलाहल ध्वनि सुनी और यह क्या सुनाई दे रहा है, यों कुछ कौतूहल से युक्त हो गये। कौतुक से नदी की ओर देखते हुए उन्होंने जलसेचनादि क्रीड़ा करके जल से निकले हुए रम्भा, तिलोत्तमा आदि ललनाओं का (अप्सराओं का) समूह देखा। स्वर्णकमल के कुंडलों के सदृश स्तनमण्डलों से अलंकृत वह पुरुषरहित प्रदेश में वस्त्र छोड़कर क्रीड़ा कर रहा था। परस्पर एक दूसरे से मिल जाने के कारण वह फलों से सुशोभित वृक्ष की नाईं, प्रतीत हो रहा था, पिघले हुए सुवर्णरस के प्रवाहातिशय के सदृश कान्तिसंस्थान से प्रकाशमान जंघाओं से अपने काममन्दिर के लिए मानो खम्भों का संचय कर रहा था। वह अपने जल की निर्मलता से निर्मल बनाये गये चन्द्रमा से सर्वत्र व्याप्त व्योमविलासिनी मन्दाकिनी को भी अपने देहलावण्यरसप्रवाह से मानों तिरस्कृत कर रहा था। नन्दनवन में कामदेव की क्रीडा के साधनभूत रथ के चक्रभूत नितम्बतटरूप सेतुओं से प्रवाह का निरोध हो जाने के कारण वह गंगाजल को भी उलटे मार्ग में पहुँचा रहा था। उस यूथ में विद्यमान प्रत्येक अप्सरा इतनी निर्मल थी कि एक दूसरे के लिए दर्पण बन गयी थी। अतएव उनके समस्त अंग चारों ओर एक दूसरे में प्रतिबिम्बित हो गये थे। सभी जगह उनके समस्त अंग दिखाई पड़ते थे। इसलिए 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम्' इसमें प्रसिद्ध कालात्मा भगवान् से उत्पन्न विश्वरूप से वह स्थित था। समस्त संकल्पित फलों का दाता होने से गीतोक्त कालात्मा भगवान् का कल्पतरुरूप से वर्णन करते

हैं। कालात्मारूपी कल्पतरु के प्रभव आदि साठ संवत्सर ही शाखा हैं, पक्ष ही पल्लव हैं, विविध ऋतु उसकी लताएँ हैं, दिनश्री उसकी कलिकाएँ हैं, आलोक ही कुसुम रज हैं, गगनकानन में (नन्दन वन में) वह उत्पन्न है, वह चमकीले जलमय शरीरवाले देवरूप पक्षियों से चारों ओर व्याप्त है, सात समुद्र ही उसकी क्यारियाँ हैं, ऐसे कल्पतरुरूप व्यापक विष्णु से उत्पन्न विश्वरूप–सा वह ललनागण स्थित था। एक दूसरे के स्तनरूपी पुष्प गुच्छों में तथा कमलमुकुलों में समान सौन्दर्य का अनुभव होने के कारण उत्पन्न स्पर्धा से नालदण्ड से उखाड़–उखाड़ कर हिलाने के कारण अतिरसपूर्ण कमल–पल्लवों को उस यूथ ने विदलित कर दिया था। उसके मुखरूप कमलों में चंचल लट, दीर्घकेश, अक्षितारे तथा ललाट में गुँथे हुए नीलमणि भ्रमररूप से राजित थे। अमृतनिधि का संचय करना ही जिनका स्वभाव है, ऐसे देवताओं द्वारा अमृत का अपहरण करनेवाले राहु आदि द्वारा – सम्भावित विपत्ति का विनाश करने के लिए एकान्त सुमेरुगुहा के अन्दर; जो गुहा साधारण प्राणि की अगम्य, खिल रहे सुवर्ण कमल के सदृश सुशोभित, पद्मिनी के पल्लवों से ढकी, शीतल गंगाजी के किनारे पर विद्यमान तथा उसके जल से क्षालितमल थी; – मानों एकत्र बटोरे गए चन्द्रबिम्ब की कलाओं के पुंजरूप से स्थित उन सुन्दर स्त्रियों का अवलोकन कर तत्काल ही मुनि का मन उनमें आसक्त हो गया और विवेक की मात्रा का परित्याग कर प्रमत्त हो स्फुरित होने लगा। हे राजन्, जब मुनि का चित्त आनन्द से सराबोर हो गया और चित्तविकृति के कारण प्राणवायु में क्षोभ हुआ, तब उस हृष्टचित्त नारद का वीर्य उस प्रकार स्खलित हो गया, जिस प्रकार रस से परिपूर्ण फल ग्रीष्म की समाप्ति में मेघ तथा विच्छिन्न शाखा–मूल वाला नवीन वृक्ष अपने स्थान से स्खलित हो जाता है। जल कण बरसानेवाले चन्द्रमा के सदृश वह मुनि उस प्रकार गलित शुक्र हुए, जिस प्रकार द्विधा खण्डित मृणालतन्तु गलितशुक्र (सार) होता है। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे ब्रह्मन्, नारदजी समस्त लोक में विख्यात भी हैं, सर्वज्ञ भी हैं, जीवन्मुक्त भी हैं, निरीह भी हैं, रागरहित भी हैं, मुनियों में उनकी बराबरी का कोई है भी नहीं, बाहर और भीतर आकाश के सदृश विशद भी हैं, फिर ऐसे मुनि दर्शनमात्र से विकृतचित्त होकर स्खलित वीर्य कैसे हुए? ॥८२–१०६॥

प्रबलतर प्रारब्ध से तत्त्वज्ञानियों की भी विवेकमात्रा तिरोहित हो जाती है, इसलिए किसी समय देहधर्मों के वशवर्ती वे हो ही जाते हैं, ऐसा कहते हैं।

चूडाला ने कहा : हे राजर्षे, तीनों जगत् में सभी भूतजाति का, देव आदि का भी यह शरीर स्वभावतः दो रूपवाला ही है। हे प्रिय, इस जगत् में चाहे अज्ञानी हों या ज्ञानी। अपने विनाशपर्यन्त सभी शरीर सुख–दुःखात्मक ही कहे जाते हैं ॥१०७,१०८॥

सुख–दुःखरूपता ही दृष्टान्त से बतलाते हैं।

राजन्, तृप्ति आदि के साधन किसी पदार्थ से सुख उस प्रकार बढ़ता है, जिस प्रकार दीपक से प्रकाश और चन्द्रमा से महासागर। क्षुधा आदि किसी पदार्थ से दुःख उस प्रकार बढ़ता है, जिस प्रकार मेघरूपी पट से रात में अन्धकार बढ़ता है, इन सब विषयों में केवल स्वभाव ही एकमात्र कारण है ॥१०९,११०॥

जब ज्ञानियों को भी क्षणभर आत्मविस्मृति होने पर ऐसी अनर्थपरम्परा आती है तब अज्ञानियों की

तो बात ही क्या है, इस आशय से कहते हैं।

एक निमेष मात्र के लिए भी सत्य निर्मल स्वरूप यदि विस्मृत हो जाय, तो वर्षाकाल में मेघ के सदृश यह दृश्यरूप अनर्थ उल्लसित हो उठता है। निरन्तर आत्मतत्त्व का अनुसन्धान करने से जब उन्मेषमात्र भी आत्मतत्त्वस्वरूप विस्मृत नहीं होता, तब यह दृश्यरूपी पिशाच चित्त में उल्लसित नहीं होता। निष्कर्ष यह निकला कि किसी समय भी दृश्य उल्लसित न हो जाय, इसलिए निरन्तर ही समाधि से अपने स्वरूप का स्मरण करते रहना ही चाहिए। जैसे अन्धकार और प्रकाश के कारण दिन और रात अपनी-अपनी स्थिति प्राप्त किये हुए हैं वैसे ही सुख और दुःख से यह शरीर अपनी स्थिति किये हुए हैं ॥१११-११३॥

यों ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में प्रारब्ध फलभोग एक-सा होने पर भी राग-अरागजनित विशेष है ही, इसका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं।

यों देह में ही आत्मरूपता का अवलोकन करने के कारण सुख-दुःख दोनों अज्ञानीयों मे ऐसे दृढ़रूपता को प्राप्त हो गये हैं; जैसे पट में केसर दृढ़रूपता को प्राप्त हो जाता है। हे प्रिय, आत्मतत्त्वज्ञान के प्रभाव से तत्त्वज्ञानी में तनिक भी ये सुख-दुःख उस प्रकार नहीं लगते, जिस प्रकार स्फटिक मणि में केसर आदि रंगों का सम्बन्ध होने पर भी केसर आदि रंग नहीं लगते ॥११४,११५॥

अब स्फटिक की अपेक्षा भी ज्ञानी में अधिक स्वच्छता होने से विशेष बतलाते हैं।

राजन्, जैसे समीप में विद्यमान जपाकुसुम आदि रंजक द्रव्यों के कारण स्फटिक मणि लालिमा आदि कुछ काल के लिए धारण करता है, वैसे आत्मतत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त मुनि बोध के प्रभाव से समीप में पदार्थों के रहने पर भी उनसे सुख-दुःख आदिका सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता ॥११६॥

अज्ञानियों को सुख-दुःख घनरूप से प्राप्त होते हैं, यह जो पहले कहा था उसका वर्णन करते हैं।

चूँकि अज्ञानियों की बुद्धि वस्तुओं के हट जाने पर भी अत्यन्त सन्तप्त रहती है, इसलिए वस्तुओं के सम्बन्धमात्र से उनकी बुद्धि दृढ़ आसक्त हो जाती है, यह निश्चित ही है। जैसे केसर का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर भी वस्त्र उसका रंग नहीं छोड़ता, वैसे ही वस्तुका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर भी विषयों का अनुराग अज्ञानी नहीं छोड़ता। हे राजन्, इसी क्रम से ये बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्थित हैं। विषयभावना का विनाश ही मोक्ष है और विषयों की दृढ़ भावना ही बन्ध है। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे प्रभो, दूरस्थ या समीपस्थ राज्य या पुत्र आदि के लाभ से सुख और उनके विनाश से दुःख होता है। सुख और दुःख की उत्पत्ति में हेतुभूत इष्टप्राप्ति और इष्टविनाश रूप कारण का लाभ होने पर उत्पन्न होनेवाले सुख और दुःख जीव में कैसे आ जाते हैं ? यह मुझसे कहिए। हे प्रभो, आपका वचन अनेक अर्थों से परिपूर्ण, अत्यन्त उदार और अतिस्वच्छ (अतिस्पष्टार्थक) होता है, इसलिए घनगर्जन में मयूर की नाईं आपके वचनों के श्रवण में तृप्ति ही नहीं होती ॥११७-१२१॥

सबसे पहले सुखोत्पत्ति का प्रकार बतलाते हैं।

चूडाला ने कहा : समीपस्थल में शरीर, चक्षु, हाथ आदि साधनों से तथा दूर स्थान में अनुमान आदि साधनों से अपनी उत्पत्ति में कारणभूत अभीष्ट वस्तु का लाभ कर अपने व्यापकस्वरूप को न जाननेवाली यह बाला सुखसंवित्ति अपने आप ही उल्लसित होती है। बुद्धि में अवस्थित आत्मसुखसंवित्ति बुद्धि के क्षोभ से स्वयं क्षुब्ध होकर कुण्डलिनीगत जीव के प्रति स्वयं ही चिनगारी के सदृश आविर्भूत हो जाती है।

जीव के लिए देह में अवस्थित नाडियाँ पृथक् रूप से नियत हैं। प्राण से पूरित हुई उन नाड़ियों के अन्दर, विषयस्पर्श से प्रबुद्ध हुआ स्फुरणशील जीव उस प्रकार प्रविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार मूल में सींचा गया जल नाली द्वारा समस्त द्रुमलताओं के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। सुखसंवित्ति के संचरण में तथा दुःखसंवित्ति के आगमन में देह में विद्यमान नाड़ीमार्ग अलग-अलग ही जीव के लिए नियत हैं, एक नहीं। निरन्तर सुखानुभव करनेवाले राजा आदि में यह स्वस्थता जैसी स्फुरित होती है, वैसी दुःखानुभव करनेवाले पुरुष में स्फुरित नहीं होती। ठीक ही है, लोक में भी देखा जाता है – शोभन वेषवाले राजा आदि के लिए कपूर, चन्दन आदि से सुगन्धित जल से सींचे गये जो मनोहर मार्ग होते हैं वे अशोभन वेषवाले निम्न श्रेणी के जीवों के लिए नहीं होते। जिस समय यह जीव उन तरलतर नाड़ी मार्गों में प्रविष्ट न होकर अस्फुरणशील हो जाता है, उस दशा में ही सर्वविध प्रपंच दुःखों से निर्मुक्त इसे मुक्त जानिये। और जब तक तरलतर नाड़ी मार्गों में प्रविष्ट होकर क्षुब्ध-प्राण हो खूब स्फुरित होता रहता है तभी तक सर्वविध प्रपंच दुःखों से बद्ध इसे बद्ध जानिये। राजन्, सुख और दुःख के अनुभव के लिए चित्त का बाहर जो स्पन्दन है वही जीव का बन्ध है, दूसरा नहीं, इसलिए इस स्पन्द का अभाव हो जानेपर जीव का मोक्ष हो ही जायेगा, यों संसरण और असंसरण द्वारा बन्ध और मोक्ष की दो तरह से व्यवस्थिति है, यह मैंने कहा। इन शठ इन्द्रियों द्वारा जब तक सुख और दुःख की अवस्था लायी नहीं जाती तब तक जीव शान्त-सा सुखपूर्ण और सौम्य रहता है। सुख और दुःख को देखकर यह स्वप्रकाशात्मा जीव चंचलरूप होकर उस प्रकार भीतर उल्लसित हो उठता है, जिस प्रकार चन्द्र को देखकर समुद्र। हे प्रिय, इस सुख आदि की सामग्री से या सुख-साधन धन आदि में प्रियत्वज्ञान से जीव, मांस से बिल्ली की नाईं, जो क्षुब्ध हो उठता है, इसमें कारण केवल अपने स्वरूप को न जानना ही है। विशुद्ध, स्वात्मज्ञानस्वरूप अवश्य ज्ञातव्य आत्मा के बोध से सुख और दुःख आदि का अस्तित्व उड़ जाता है, इसलिए उसीसे यह जीव विश्रान्ति की ओर जा सकता है। न तो वास्तव में वे सुख आदि हैं, न वे मुझको लगते ही हैं। निरर्थक ही यह मैं उनके चक्कर में आकर स्थित हूँ, यों तत्त्वज्ञान से जब जीव प्रबुद्ध हो जाता है तब वह मुक्ति प्राप्त करता है और शान्त हो जाता है। सुख आदि कोई वस्तु है ही नहीं, इसलिए वे आत्मस्वरूप कभी नहीं हो सकते, इस प्रकार के भीतरी आत्मबोधरूप संवित्ति से जब जीव सुखादि की ओर ताकता नहीं, तब वह विशुद्धरूप से शान्त हो जाता है। यह सब कुछ चिदाकाश ब्रह्मरूप ही है, इस प्रकार का अखण्ड निश्चय जब स्थिति प्राप्त कर लेता है तब, तेलशून्य दीपक की तरह, जीव निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। सुख आदि स्नेह का विनाश हो जानेपर दीपक के समान जीव शान्त हो जाता है। यह दृश्यमान समस्त जगत् ब्रह्मस्वरूप है, इस प्रकार की अखंडाकारवृत्ति से जनित जो ऐक्य भावना है, उस भावना से पुरुष सम्पूर्ण जगत् में शून्यरूपता का अनुभव कर कदापि क्षोभ को प्राप्त नहीं करता ॥१२२-१३८॥ अद्वितीय ब्रह्मभावना के कारण भेदशून्यत्व और बन्धशून्यत्वरूप से जाने गये जीव में क्षोभविभ्रम हो ही कैसे सकता है? *(तब जीव में क्षोभविभ्रम आया कहाँ से? इस प्रश्न पर कहते हैं।)* हे प्रिय, इस प्रकार के कल्पित प्रथम जीवात्मा हिरण्यगर्भ ने ही 'सब जीवों के रूप में यों मैं संसारी होऊँगा एवं अपने तत्त्वज्ञान से मैं क्रमशः मुक्त भी हो जाऊँगा' इस तरह की अपनी कल्पना से बन्ध और मोक्षमार्ग की कल्पना कर आदि सर्ग से जो प्रथा चलाई है, उसीका यह व्यष्टि जीव भी अनुकरण करता है। हे देवपुत्र, सुखपूर्वक संचरण करने

योग्य नाडियों में जब जीव संचरण करता है, तब उसका वीर्य गिरता ही कैसे है ? अर्थात् इस सामान्य प्रश्न के व्याज से प्रकृत में नारदजी का वीर्यक्षरण कैसे हुआ ? यह विशेष प्रश्न पूछा गया। चूडाला ने कहा : राजन्, स्त्रीपिण्ड के अवलोकन के बाद रागवासना के उद्बुद्ध हो जाने के कारण क्षुब्ध हुआ जीव, सेना को राजा के समान, अधिष्ठानभूत भोक्तृचैतन्य की सम्मतिमात्र से प्राण आदि वायुओं को क्षुब्ध कर देता है ॥१३९–१४१॥ तदनन्तर मेद, अस्थि आदि के अन्दर संचरण करनेवाले व्यानवायु की प्रेरणा से समस्त अंगों में विद्यमान मेदा का अन्तर्गत सारभूत सार मज्जासार उत्तम सौगन्ध्य के सदृश अनुगत रजोभाग को (सूक्ष्म अंश को) तत्क्षण उस प्रकार छोड़ देता है, जिस प्रकार डंठल से तोड़ा गया पत्र, फल आदि अपने अन्दर स्थित जलभाग को अन्दर के वायुस्पन्द से छोड़ देता है ॥१४२॥ वह छोड़ा गया रज (सूक्ष्म अंश) सब अंगों से विचलित होकर नाडियों द्वारा नीचे मूलाधार स्थान तक ऐसे आता है, जैसे आकाश में विद्यमान मेघ आदि पुरोवात से वर्षणोन्मुख होकर नीचे भूतल पर आते हैं। फिर मूलाधार में आने के बाद नाडी द्वारा स्वभावतः ही बाहर निकल जाता है ॥१४३॥

यह जो आपने पहले कहा था, उसमें स्वभाव शब्दार्थ क्या है ? यों राजा पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, वचनों से जाने जाते हैं कि आप बड़े ही तत्त्वज्ञानी हैं, आत्मज्ञान होने के पूर्व की जो संसार की स्थिति थी, उसे भी तर्कादि से आप जानते हैं, इसलिए आप कृपाकर बतलाइए कि 'स्वभाव' शब्द से क्या कहा जाता है ॥१४४॥

सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि के उत्पादन में उत्सुक ब्रह्म प्राणियों के प्राक्तन कर्मों के अनुसार जिस–जिस धर्मवाले जिस–जिस पदार्थ के रूप से अपने आप में स्फुरित होता है, उस उस पदार्थ का प्रलय तक उस उस धर्म से युक्त रहना ही स्वभाव शब्द का अर्थ है, यह कहते हैं।

चूडाला ने कहा : प्रिय, सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि के उत्पादन के लिए उन्मुख हुआ ब्रह्म अपने आप में जिस घट, कुण्ड, पट आदि रूप से प्रस्फुरित हुआ था, उसी रूप से आज भी व्यवस्थित है ॥१४५॥

वर्तमान समय में घट आदि में स्वभाव का वैचित्र्य कारण–सामग्री के वैचित्र्य से कदाचित् हो सकता है, परन्तु सृष्टि के आरम्भ में तो कारण–सामग्री का निरूपण कर ही नहीं सकते, इसलिए 'तालवृक्ष के नीचे कौए के आगमनकाल में ही दैववश तालफल का गिरना और उससे तत्काल उसका मर जाना जैसे अदृष्ट–जनित है, वैसे ही, वह सब आद्यवैचित्र्य अदृष्टअधीन है, इसे बतलाने के लिए ही आदि सर्ग का यहाँ कथन किया गया है, इस आशय से कहते हैं।

काकतालीय न्याय के सदृश या जल में बुलबुलों की उत्पत्ति और विनाश के सदृश या घुणाक्षर (घुन के कारण लकड़ी आदि पर बने हुए अक्षरों के समान चिह्न) के सदृश सर्गारम्भ में घट, पट आदि चित्र–विचित्र पदार्थों के रूप में जिस किसी वस्तुविशेष से ब्रह्म प्रस्फुरित हुआ, उसीको विद्वान् स्वभाव कहते हैं (📖)। उक्त अनिर्वचनीय स्वभाव के बल से उत्पन्न हुए इस जगत् में अण्डज आदि चार प्रकार

(📖) इस श्लोक में वर्तमानकालिक प्रत्येक वस्तु में जो नियत स्वभाववैचित्र्य है, उसमें सामग्री की इयत्ता का निरूपण नहीं कर सकते, इस अभिप्राय से 'वारिबुद्बुद' यह दूसरा दृष्टान्त दिया गया है। अथवा मायारूप होने से वैचित्र्योत्पत्ति आकस्मिक है, इस अभिप्राय से घुणाक्षर का तीसरा दृष्टान्त दिया गया है।

के विविध विकारात्मक जो देह यत्र तत्र चारों ओर घूम रहे हैं, उनमें कोई ज्ञानवान् देह समस्त वासनाओं के क्षीण हो जाने के कारण फिर जन्म धारण नहीं करते और अज्ञानयुक्त देह तो फिर जन्म–धारण करते हैं, क्योंकि अज्ञानी भोगों में ही दृढ़ आस्था रखते हैं ॥१४६,१४७॥

पचासीवाँ सर्ग समाप्त

छियासीवाँ सर्ग

कुम्भ से कुम्भ की उत्पत्ति, वृद्धि, ब्रह्मा के साथ उसका समागम
तदनन्तर उसकी सर्वज्ञता आदि का वर्णन।

चूडाला ने कहा : हे राजन्, मैंने प्रलयपर्यन्त सब वस्तुओं में रहनेवाले जिस स्वभाव का वर्णन किया है तथा मायाशबल आत्मा के जिस स्वभाव की श्रुतियों में प्रसिद्धि है, उस स्वभाव के वश से यह असीम जगत् उत्पन्न हुआ है। केवल वासना से अपना अस्तित्व प्राप्त कर पुण्य–अपुण्य कर्म के अधीन होकर वह स्थित रहता है ॥१॥ हे मुने, अनेक तरह की ये जो वासनाएँ हैं, उनका विनाश कर देने से प्राणी धर्म या अधर्म के फंदे में नहीं फँसता और उससे वह इस संसार में उत्पन्न नहीं होता, यह हम लोगों का साक्षात् अनुभव है ॥२॥

वासनाओं के विनाश से जन्तु संसार में नहीं आता, इस अनुभव में विशेष जानने की इच्छा से प्रस्तावित कथा की संक्षेपतः समाप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे बड़े बड़े वाग्मियों में श्रेष्ठ, आप जो वचन कहते हैं, वह अत्यन्त उदार भाव से भरा, अर्थ रखनेवाला, गूढ़, अनुभवपर तत्क्षण चढ़ जानेवाला और पारमार्थिक होता है। हे रमणीय, आपका वचनवैभव आज जो सुना गया है, उससे मैं अपनी आत्मा के भीतर उत्तम शान्ति का अनुभव उस प्रकार कर रहा हूँ, जिस प्रकार अमृत का पान करने पर आत्मा के अन्दर शान्ति का अनुभव होता है। इसलिए आप अपनी प्रसिद्ध उत्पत्ति के विषय में मुझसे कुछ कहिए, तदनन्तर प्रयत्नपूर्वक आपकी ज्ञानगर्भित वाणी का मैं श्रवण करूँगा। और ब्रह्माजी के पुत्र, उन आर्य नारद मुनि ने उस निर्गत वीर्य का किस स्थान में स्थापन किया ? यह भी यथावत् आज मुझसे कहिए। चूडाला ने कहा : हे मुने, तदनन्तर अपने मनरूपी उन्मत्त हाथी को विशुद्ध बुद्धिरूपी सुदृढ़ चर्मरज्जु से विशाल विवेकरूपी आलान में (गजबन्धन–स्तम्भ में) बाँध रहे उन नारदजी ने उस द्रवीभूत वीर्य को–जो कल्पकाल की अग्नि से गलित हुए चन्द्र के द्रव के सदृश और पारद, सुवर्ण आदि शम्भु के दिव्य वीर्य के सदृश था – पास में पड़े हुए कान्तिमान् अद्‌भुत स्फटिक कुम्भ में उस प्रकार स्थापित किया, जिस प्रकार चन्द्र में दूसरा चन्द्र स्थापित किया जाय। उस विशाल कमनीय मेरूपर्वत पर पड़ा हुआ वह कुम्भ कक्ष के अधोभागों में चारों ओर विपुल, गम्भीर पेटवाला, सुदृढ़ तथा पत्थरपर टक्कर लग जाने पर भी न टूटनेवाला था। नारद मुनि ने उस कुम्भ को संकल्पजनित उस क्षीररूप वीर्य से उस प्रकार भर दिया, जिस प्रकार अपने संकल्प से रचित पृथक् अमृत–प्रवाह से ब्रह्माजी ने ब्रह्मलोक के अमृत–सागर को भर दिया था। कुछ ही दिनों में उस घट में स्थित, हवन आदि क्रियाओं में नारद मुनि को मन्द कर देनेवाला वह शुभ गर्भ, अमृत–सागर में चन्द्रमा के

प्रतिबिम्ब के सदृश बढ़ने लगा ॥३-१२॥ समय पाकर उस घटने कमलपत्र के सदृश नेत्रवाले गर्भ का उस प्रकार प्रसव किया, जिस प्रकार पूर्णमास परिपूर्ण चन्द्रमा का और वसन्त कुसुमों का प्रसव करती है। कुम्भ से वह गर्भ समस्त अंगों से परिपूर्ण होकर उस प्रकार निकला, जिस प्रकार घटादिपरिच्छिन्न क्षीरसागर से क्षयवर्जित दूसरा चन्द्रमा। वह कुछ ही दिनों में शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की नाईं बढ़ गया। उसके अंग प्रत्यंग में ऐसा सौन्दर्य निखर रहा था, जिसका निरूपण नहीं हो सकता। जब उसके सभी जातकर्म आदि संस्कार हो चुके, तब उन नारदजी ने उस बालक में विद्यारूपी धन उस प्रकार उछाल दिया, जिस प्रकार एक पात्र से दूसरे पात्र में धन। थोड़े ही दिनों में उसने यावत् विद्यास्थानों का भलीभाँति ज्ञान कर लिया। थोड़े में मुनिश्रेष्ठ नारदजी ने उस बालक को ठीक अपने प्रतिबिम्ब के समान बना डाला। पुत्ररूपी दूसरे मुनि के साथ मुनिनायक नारदजी उस प्रकार सुशोभित होने लगे, जिस प्रकार स्फटिक पर्वत में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के साथ सन्ध्याकाल के पूर्णचन्द्र सुशोभित होते हों ॥१३-१८॥ अनन्तर वे नारदजी अपने पुत्र को लेकर ब्रह्मलोक में गये और अपने पिता ब्रह्माजी को उससे अभिवादन कराया। अभिवादन कर चुके पौत्र को ब्रह्माजी ने लेकर उससे सब वेदादि शास्त्रों के विषय में परीक्षार्थ प्रश्न पूछे। उनका समुचित उत्तर सुनकर उसे अपनी गोद में स्वयं बैठा लिया। तदनन्तर ब्रह्माजी ने उस कुम्भनामक पौत्र को केवल आशीर्वाद से सर्वज्ञ और तत्त्वज्ञान में परिनिष्ठित बना डाला। हे साधो, वह जो ब्रह्माजी का पौत्र कुम्भ हुआ, वही यह तुम्हारे सामने उपस्थित है। मैं ही नारदजी का पुत्र कुम्भ नाम का हूँ और कुम्भ से उत्पन्न हुआ हूँ। साधो, मैं ब्रह्मलोक में पिताजी के साथ सब सुखों से पूर्ण होकर रहता हूँ। क्रीडा के समय विलास कर रहे चार वेद मेरे मित्र हैं। मेरी मौसी गायत्री है मेरी माँ सरस्वती है, मेरा घर ब्रह्मलोक में है, वहीं भगवान् ब्रह्मा का पौत्र होकर मैं सुस्थिर रहता हूँ। इच्छा के अनुसार सब लोक में मैं विहार करता हूँ। सब इच्छाओं से परिपूर्ण होने के कारण घूमने में मेरा प्रयोजन केवल लीला ही है। किसी कार्यविशेष से मैं विहार नहीं करता। जब मैं भूलोक में विचरण करता हूँ तब मेरे पैर भूमि में नही लगते, अंग धूलिकणों का स्पर्श नहीं करते और मेरा शरीर कभी ग्लानि नहीं करता। हे प्रिय, आज मैं जब आकाशमार्ग से जा रहा था, तब मैंने आपको सामने देखा, इसलिए यहाँ मैं आ गया और आप से पूर्व का सब वृतान्त कहा ॥१९-२७॥

अब अपनी उक्ति का उपसंहार करते हैं।

वनवास के गुणों को तथा उसके फल चित्तशुद्धि को जाननेवाले हे महात्मन्, आपने जो कुछ पूछा, उन सबका ही मैंने अनुभव के अनुसार आपसे वर्णन किया। हे भाग्यशालिन्, उत्तम आर्यजनों के प्रश्न करने पर सत्पुरुष संभाषण करते ही हैं, क्योंकि वे आर्यजनों के साथ प्रश्न और उत्तर करने के व्यवहार में बड़े ही पटु होते हैं। वाल्मीकिजी ने कहा : भद्र, तदन्तर वसिष्ठ मुनिजी के ऐसा कहने पर दिवस बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल की ओर चले गये, वसिष्ठ मुनि को नमस्कार कर सायंकाल की विधि के लिए सभा स्नानार्थ चली गयी और रात बीत जानेपर सूर्य की किरणों के साथ-साथ ही सभामण्डप में वह फिर आ गयी ॥२८,२९॥

छियासीवाँ सर्ग समाप्त

सत्तासीवाँ सर्ग

राजा शिखिध्वज द्वारा कुम्भ की प्रशंसा, अपना दुःख रोना,
शिष्यत्व स्वीकार तथा उपदेश्य अर्थ में विश्वासप्रदर्शन आदि का वर्णन।

राजा शिखिध्वज ने कहा : महात्मन्, अनेक जन्मात्मक संसार में अनुष्ठित – एक साथ परिपक्व हो जाने के कारण फलदान के लिए स्फुरित हो रहे मेरे संचित अप्रत्यक्ष-पुण्यों द्वारा ही सचमुच इस मन्दराचल पर्वत पर, पूर्वी वायु द्वारा मेघ के सदृश, आप भेजे गये हैं, यह मैं मानता हूँ ॥१॥

आपके उपदेश से मैं अवश्य कृतार्थ हो जाऊँगा, यह सूचित करने के लिए 'मैं कृतार्थ हो ही गया' यों सिद्ध-सा मानकर कहते हैं।

हे साधो, चूँकि अमृत बहानेवाली वाणी बोलनेवाले आपके साथ मेरा समागम हुआ, इसलिए आज तो मैं बड़े-बड़े धर्मानुष्ठान से धन्य हुए पुरुषों में सबसे प्रथम स्थान में अवस्थित हो गया हूँ। सज्जनों का समागम अन्तरात्मा में जैसी शान्ति पहुँचाता है, वैसी शान्ति ये राज्य लाभ आदि बड़े-बड़े कोई भी पदार्थ नहीं पहुँचाते ॥२,३॥

राज्य-लाभ आदि की अपेक्षा साधुसमागम में महत्त्व दिखलाते हैं।

साधु पुरुषों का समागम होने पर तत्काल ही अपरिमित ब्रह्मानन्दरूप सुख-धनी, दरिद्र आदि सबमें सर्वसाधारणरूप से – स्फुरित होने लग जाता है, वहाँ राग, द्वेष आदि का विचार ही नहीं रहता। राज्यलाभ आदि तो तुच्छ सुख प्रदान करता है, यहाँ अपरिमित आनन्द की न संभावना है और न सर्वसाधारण को सुलभ ही है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, शिखिध्वज यों कह ही रहे थे कि बीच में ही उस राजा के वाक्य को रोककर नारद मुनि के बच्चे के रूप में विद्यमान चूडाला बोलने लगी। चूडाला ने कहा : साधो, अब मेरी प्रशंसार्थ जो कुछ वचन आप कह रहे हैं, उसे रहने दीजिए। आपने जो कुछ पूछा, उसका मैंने वर्णन किया। अब मुझसे कहिए कि आप हैं कौन और इस पर्वत पर क्या कर रहे हैं ? आपका यह अरण्यवास कितने काल का हुआ यानी आपको अरण्यवास करते करते कितना समय बीत गया। वनवास कर कौन कार्य सिद्ध करना चाहते हैं, यह सत्य सत्य कहिए, छिपाइए मत, क्योंकि तपस्वी लोग असत्य बोलना जानते ही नहीं ॥४-७॥

राजा शिखिध्वज ने कहा : मुनिवर, आप देवपुत्र हैं, सभी कुछ ठीक-ठीक जानते हैं। लोकवृत्तान्त और परमार्थवृत्तान्त भी जानते हैं, फिर भी आपके जानने योग्य और दूसरी कौन-सी वस्तु कहूँ ॥८॥

हे आर्य, केवल संसाररूपी भय से भीत हो जाने के कारण मैं इस वन के अन्दर रहता हूँ। यद्यपि आप तो मुझे जानते ही हैं, फिर भी मैं आपसे कुछ संक्षेपतः कह रहा हूँ। मैं शिखिध्वजनामक राजा हूँ, राज्य छोड़कर यहाँ पर वास करके तप कर रहा हूँ । हे तत्त्वज्ञ, मैं संसार में पुनर्जन्म से अत्यन्त डर गया हूँ। पहले सुख फिर दुःख, पहले मरण फिर जन्म-यह फिर-फिर उत्पन्न हुआ ही करता है। इसलिए हे तत्त्वज्ञ, संसार से सन्तप्त होकर इन वनवीथियों में तप कर रहा हूँ॥९-११॥ चारों ओर दिशाओं में घूम भी रहा हूँ, कठोर तप भी कर रहा हूँ, फिर भी जैसे निर्धन निधि प्राप्त नहीं करता, वैसे ही मैं असल शान्ति प्राप्त नहीं कर रहा हूँ॥१२॥ यद्यपि यहाँ पर मेरा प्रयत्न कुण्ठित हो गया है, मैंने कोई फल भी

प्राप्त नहीं किया है, मैं असहाय भी हूँ, राज्यकाल की साधुसंगति आदि से वंचित भी हो गया हूँ, फिर भी इस वन में घुन से क्षीण वृक्ष की नाईं सूख रहा हूँ। उपवास, देवता और अतिथि की पूजा आदिरूप यह नियतक्रिया ठीक-ठीक रूप से करते-करते भी एक दुःख से दूसरे अनेक दुःखों की ओर जा रहा हूँ। हे तत्त्वज्ञ, शास्त्रानुमोदित उक्त क्रिया-विश्रान्तिरूप अमृत की हेतु होने पर भी उसे न देकर-मेरे लिए जो विष बनकर स्थित है, उसमें कारण क्या है, उसे कहिए अर्थात् कर्मसमुच्चित उपासना अमृत की हेतु है, यह 'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि श्रुति से जाना जाता है, उसीके आधार पर मैंने भी विश्रान्ति के लिए कर्मों के साथ-साथ उपासना का अवलम्बन किया पर उससे विश्रांति न मिलकर दुःखपरम्परा ही मिल रही है, मेरे लिए कर्मसमुच्चित उपासना विष ही बनकर बैठ गयी, अतः उसके विषरूप बनने में हेतु क्या है, कहिए ॥१३,१४॥

कर्मसमुच्चित उपासना से मुक्ति होती है, यह जो राजा को भ्रम हो गया है, वह जब तक निवृत्त नहीं किया जाता, तब तक आत्मा का उपदेश देने पर भी आत्मा जानेगा नहीं, इसलिए भ्रमनिवारणार्थ अपने को जिस क्रम का पितामह ने उपदेश दिया था, उसका श्रवण कराते हैं।

चूडाला ने कहा : साधो, किसी समय पहले मैंने अपने पितामह ब्रह्माजी से यह प्रश्न किया था कि हे प्रभो, ज्ञान और कर्म-इन दोनों में जो भी कोई एक मुक्ति का कारण हो, उसे मुझसे कहिए ॥१५॥

ब्रह्माजी ने कहा : हे पौत्र, ज्ञान ही परम श्रेय है यानी उत्तम आत्मतत्त्व का कारण हैं। केवल उसीसे भलीभाँति आत्मा का साक्षात् अनुभव हो जाता है। श्रुतियों में जो क्रियाओं का उल्लेख किया गया है, वह तो कालयापनार्थ विनोदमात्र के लिए ही है। तात्पर्य यह है कि स्वर्गादि सुखभोगरूप विनोद के लिए यद्यपि क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं, तथापि परिणाम में स्वर्गभोग के विरस होने के कारण वह मुख्य पुरुषार्थ नहीं हो सकता, अतः किन्हीं दूसरे प्रकार के भयंकर अनर्थों की उत्पत्ति के निवारणार्थ आयुष्यकालयापन करने के लिए ही उक्त श्रुति में क्रिया का उल्लेख किया गया है ॥१६॥

इसलिए 'विद्यां चा विद्यां च' इत्यादि श्रुति ज्ञान के अधिकारी जनों के लिए ही प्रवृत्त है। उस श्रुति में 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' यह जो मृत्युतरण तथा अमृतत्व कहा गया है, उसका अभिप्राय स्वाभाविक दुश्चेष्टानिवृत्ति में तथा आपेक्षिक अमृतत्व में है, इस आशय कहते हैं।

पौत्र भी पुत्ररूप होता है, इस अभिप्राय से ब्रह्माजी कहते हैं।

हे पुत्र कुम्भ, जिन जीवों को ज्ञानरूपा दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है, उन लोगों के लिए क्रिया ही सबसे बढ़-चढ़कर अवलम्बन है। जिसके पास में पट्ट अम्बर (महर्घ पट्टू) नहीं रहता, क्या वह साधारण कम्बल कहीं छोड़ सकता है ? ॥१७॥

तत्त्वज्ञानी भी वर्णाश्रमक्रमानुसार कर्मकलाप करते देखे जाते हैं, फिर आप कैसे कहते हैं कि कर्मकलाप अज्ञानियों के लिए सबसे बढ़-चढ़कर शरण है ? इस पर कहते हैं।

हाँ, ज्ञानी कर्म करता है, परन्तु उसकी क्रियाएँ निष्फल हैं यानी जन्म-मरण आदि के चक्कर में उसे नहीं डालती क्योंकि उसकी समस्त वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं और जो अज्ञानी हैं उसके सभी कर्म सफल हैं यानी जन्म-मरण आदि के चक्कर में उसे डालते ही हैं, क्योंकि कर्मों की सफलता में प्रयोजक वासनाएँ उसमें बनी हुई है ॥१८॥

क्या तब ज्ञानी की अशुभ क्रियाएँ भी वैसी ही हैं, यों कहते हैं।

सभी क्रियाएँ चाहे वे शुभ हों चाहे अशुभ, वासना के अभाव में निष्फल ही हो जाती हैं! फलदान में तत्पर भी अशुभ क्रियाएँ एकमात्र बाधितानुवृत्ति से, सिंचन के अभाव से सफल शुष्क लता के सदृश, शुष्क ही है। तात्पर्य यह निकला कि जिस ज्ञानी में प्रारब्धफलक भी क्रियाएँ बाधितानुवृत्ति के कारण सफल शुष्क लता के सदृश रहती हैं, उस ज्ञानी में अनारब्धफलक क्रियाएँ शुष्क रहती हैं, इसमें तो कहना ही क्या ? जहाँ बड़े बड़े वृक्ष दग्ध हो जाते हों, वहाँ साधारण तृण के विषय में तो कहना ही क्या ? जिस प्रकार दूसरी ऋतु में पहले की ऋतु में होनेवाले नीहार आदि विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार वासना का विनाश हो जाने पर सभी क्रियाओं के फल विलीन हो जाते हैं ॥१९,२०॥

वासना से शून्य क्रिया क्यों फल पैदा नहीं करती ? इस प्रश्नपर काशलता के सदृश स्वभाव से ही, यों उत्तर देते हैं।

हे पुत्र, जैसे काश की लता स्वभाव से ही कोई फल नहीं देती, वैसे ही वासनाशून्य क्रिया स्वभाव से ही कोई फल नहीं देती ॥२१॥

सुख–दुःख के भोग के लिए मैं योग्य हूँ, इस प्रकार की वासना ही, बालभ्रान्ति में हेतु यक्ष वासना के सदृश, तत्– तत् सुख आदि में कारण हैं, यों कहते हैं।

जब बालक यक्ष की वासना से युक्त रहता है, तभी यक्ष को देखता है, अन्यथा नहीं, बस इसी रीति से जब पुरुष दुःख आदि की वासना से युक्त रहता है, तभी दुःख आदि का अनुभव करता है, अन्यथा नहीं। उन्नत और आकार–प्रकार से धवल भले ही शुभाशुभ क्रिया हो, परन्तु आत्मज्ञानी को वह ऐसे फल नहीं देती, जैसे विकसित धवल शरलता फल नहीं देती ॥२२,२३॥

अज्ञदशा में अर्थक्रिया में समर्थ सत्यभूत वासना का ज्ञान से बाध कैसे होगा, इस पर कहते हैं।

हे साधो, अज्ञानदशा में भी वासना वास्तव में नहीं रहती, परन्तु मूर्खता के कारण अहंकार आदि का रूप धारण कर असत्यरूप से ऐसे उदित हुई है, जैसे मरुभूमि में असत्यरूप से जल ॥२४॥

पहले की वासना का नाश होने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति के समय उत्पन्न हुई वासना तो क्रियारूप फल का प्रसव करेगी ही, इस पर कहते हैं।

'सब कुछ ब्रह्मरूप ही है' इस भावना से जिसकी अज्ञानरूपिणी मूर्खता विनाश को प्राप्त हो गयी, उसको वासना ऐसे उत्पन्न नहीं होती, जैसे मरुभूमि के स्वरूप को जाननेवाले प्राज्ञ पुरुष को मरुभूमि में जलसागर की भ्रान्ति नहीं होती ॥२५॥ अपने अन्दर एकमात्र वासना का त्याग कर देने से ही जरा और मरण से रहित तथा पुनर्जन्म से रहित परमार्थ वस्तुरूप जीव बन जाता है ॥२६॥

पितामह की उक्ति का उपसंहार करते हैं।

वासनायुक्त मन ज्ञेय है और वासनाशून्य मन ज्ञान है, यह जानना चाहिए। जब ज्ञान द्वारा ज्ञातव्य ब्रह्म वस्तु प्राप्त हो जाती है, तब जीव दूसरी बार जन्मधारण नहीं करता ॥२७॥ चूडाला ने कहा : हे राजर्षे, प्रसिद्ध बड़े–बड़े ब्रह्मा आदि भी जब ज्ञान ही परम मोक्ष का साधन होने से कल्याणरूप है, यह निःसंदिग्ध कहते हैं, तब आप ज्ञान छोड़कर 'तप ही मोक्ष का हेतु है' यों निश्चय कर क्यों अवस्थित हैं ? ॥२८॥

विवेकशून्य बहिर्मुख जो पुरुष हैं, उनके लिए दण्ड, कमण्डलु आदि साधारण वस्तुएँ भी, ममता उत्पन्न कर, पर्याप्त अनर्थफल दे सकती हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे महीपते, यहाँ दण्ड है, यहाँ कमण्डलु है, यहाँ आसन है इत्यादि विचार से अनर्थों से पूर्ण इस संसार में क्यों भ्रान्त हो रहे हैं ? ॥२९॥

यदि तपश्चर्या अनर्थ और हेय है, तो किसका अवलम्बन करना चाहिए, इस पर कहते हैं।

हे राजन्, मैं कौन हूँ, यह अनर्थात्मक जगत् किस तरह उत्पन्न हुआ, इसकी शान्ति किस उपाय से होगी, इस तरह तो आप विचार नहीं करते और अज्ञानी की तरह क्यों रहते हैं ? ॥३०॥

विचार के सदृश गुरु के पास जाना, उनकी सेवा करना, उनसे आत्मा के विषय में प्रश्न करना आदि भी उपादेय हैं, यह दिखलाते हैं।

यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ, मोक्ष किस उपाय से होगा इत्यादि प्रश्न करते हुए आप पर तत्पदार्थ और अपर त्वंपदार्थ को एकरूप से जाननेवाले तत्त्वज्ञ गुरुओं के पास जाकर उनके चरणों की सेवा क्यों नहीं करते ? व्रत, उपवास, शीत, उष्ण आदि सुख-दुःखात्मक प्रवृत्ति में उत्सुक आत्मचैतन्य जिसमें रहता है, ऐसी इंस तपरूप क्रिया से पर्वतकोटर में, शास्त्र के कीट के सदृश, आप अपनी आयु क्यों व्यतीत कर रहे हैं ? सम (ब्रह्म) दृष्टि साधु पुरुषों के पास आत्मकल्याणार्थ प्रश्न, उनकी सेवा तथा समागम करने से वह युक्ति (आपकी अभीष्ट विश्रान्तिसुखदायिनी ज्ञानयुक्ति) प्राप्त हो जाती है, जिससे तत्काल संसारबन्ध से पुरुष मुक्त हो जाता है ॥३१-३३॥

तो अब मुझे कैसे रहना चाहिए ?

हे राजन्, तपश्चर्या आदि बहिर्मुख दुःखप्रद चेष्टाओं से विरत होकर आप गुरुजी के साथ ही आहार खाते हुए इस वनकोटर में, धरा छिद्र में रहनेवाले कीट के समान, निश्चल होकर स्थित रहिए। वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, देवता का रूप धारण की हुई उस कान्ता (चूडाला) द्वारा प्रबोधित वह राजा शिखिध्वज आँसुओं से पूर्ण मुख होकर यह वचन कहने लगा। शिखिध्वज ने कहा : देवपुत्र, आश्चर्य है कि बहुत समय के बाद आज आपके द्वारा मैं जगाया गया हूँ। मूर्खता से ही साधुसमागम छोड़कर मैं इतने समय तक वन में रहा। अहो, मेरा पाप सम्पूर्ण नष्ट हो गया, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि आप ही यहाँ आकर मुझे जगा रहे हैं। हे सुन्दरानन, आप ही मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे पिता हैं, आप ही मेरे मित्र हैं, शिष्यरूप मैं आपके चरणों को प्रणाम करता हूँ, कृपा कीजिए। जिस उदारतम वस्तु को आप जानते हैं, जिसके ज्ञात हो जाने पर प्राणी फिर शोक नहीं करता, जिससे मैं सुख में विश्रान्त हो जाऊँ, उस ब्रह्मरूप वस्तु का मुझे उपदेश दीजिए। मुनिवर, ज्ञान में तो घटज्ञान, पटज्ञान आदि अनेक तरह के भेद पाये जाते हैं, इसीलिए आपने 'ज्ञान ही कल्याणकारक है' इससे जो परम तारकज्ञान कहा वह घटज्ञानादि में से कौन ज्ञान है ? ॥३४-४०॥ चूडाला ने (कुम्भ ने) कहा : हे राजर्षे, यदि मैं उपादेय वाक्य हूँ, यानी मेरे वाक्य में तुम्हें श्रद्धा है, तो तारक ज्ञान जैसा है, वैसा ही मैं तुमसे कहूँगा, यदि मेरे वाक्य में तुम्हे श्रद्धा नहीं है, तो मैं नहीं कहूँगा, क्योंकि श्रद्धाशून्य जनों के सामने कहा गया उत्तम वाक्य भी ठुँठ के सामने कहे गये कौए के शब्द के समान निरर्थक एवं निन्दनीय होता है। अतः तुम्हें पहले श्रद्धालु हो जाना चाहिए ॥४१॥ जिसके वाक्य में श्रोता को श्रद्धा नहीं रहती ऐसे लीलावश से पूछे गये

वक्ता के वाक्य उस प्रकार निष्फल हो जाते हैं, जिस प्रकार अन्धकार में इन्द्रियों के सम्बन्ध निष्फल हो जाते हैं ॥४२॥ राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, जिस तरह श्रुति की 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि निर्दोष प्रामाण्य से निश्चित विधि शिष्ट पुरुषों द्वारा निःसन्देह गृहीत क़ी जाती है, उसी तरह आप जो कुछ भी कहेंगे, उसे मैं तत्काल ही ग्रहण कर लूँगा, यह मेरा वाक्य आप सत्य ही जानिये ॥४३॥ चूडाला ने कहा : राजन्, जैसे बालक हेतुओं से उपपत्तिशून्य अपने पिता के वचनों को प्रमाणबुद्धि से ग्रहण करता है, वैसे ही आप मेरे इन वचनों को ग्रहण किजीए ॥४४॥ राजन्, सुनने के बाद 'इसमें मेरा हित ही है' इस प्रकार की बुद्धिपूर्वक भावना करते हुए आप तर्कवाद का परित्याग कर 'मधुर गीत की नाईं' मेरे इन वचनों को प्रीति से सुनिये और उनको प्रामाण्यबुद्धि से ग्रहण कीजिए ॥४५॥

देहादि में अभिमान का त्याग कराने के लिए तथा दुःखों का निदान दिखलाने के लिए मणि-काँच के उपाख्यान तथा हस्तिपक के आख्यान का श्रवण कराने के लिए चूडाला अवतरण बाँधती है।

राजन्, मैं एक ऐसा मनोहर कथाक्रम कहता हूँ, जो आपके चरित के सदृश है, मन्दमतियों की भी चिरकाल के बाद विचारोदय द्वारा उदय को प्राप्त कर रही बुद्धि को बोध देनेवाला है तथा महामतियों को तो शीघ्र ही संसार के भय से पार कर देनेवाला है, आप उसे सुनिये ॥४६॥

सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठासीवाँ सर्ग

चिरकाल की तपस्या से प्राप्त हुए चिन्तामणि को किसी ने अपनी
मूर्खता से छोड़कर मणि की भ्रान्ति से काँच को अपनाया, यह कथा।

चूडाला ने कहा : कोई एक श्रीमान् पुरुष था। वह अनादि काल से ही एक दूसरे के स्थान में न रहनेवाले अत्यन्त विरुद्ध गुण और लक्ष्मी का आश्रय था यानी उसके पास औदार्य, वैराग्य, सर्वस्वत्याग आदि उत्तम गुण और धन-धान्यादि प्रचुर सम्पत्तियाँ थीं। संसार में गुण और सम्पत्ति दोनों का एक ही स्थान विरल रहता है। जहाँ गुण रहता है वहाँ सम्पत्ति नहीं रहती और जहाँ सम्पत्तियाँ रहती हैं वहाँ गुण नहीं रहते। इसलिए वह वड़वाग्नि और जल – इन परस्पर विरुद्ध दोनों के आश्रय सागर के सदृश प्रतीत हो रहा था ॥१॥ वह चौसठ कलाओं से पूर्ण था, अस्त्रविद्या में पटु था, व्यवहारशास्त्र में विचक्षण था और संकल्पित समस्त कार्यों के पार हो जाता था यानी वह जिन- जिन कार्यों का संकल्प करता था, उन्हें तत्काल ही कर डालता था। उसके लिए कोई भी असाध्य कार्य नहीं था। इतना सब होते हुए भी वह परम पद को नहीं जानता था ॥२॥

उसने क्या किया यह कहते हैं।

तदनन्तर जैसे वडवाग्नि समुद्र का पूरी तरह से शोषण करने में प्रवृत्त हुआ था, वैसे ही वह तप, जप, देवतास्तवन आदि अनन्त उपायों से सिद्ध होनेवाले चिन्तामणि की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या में प्रवृत्त हुआ। दृढ़ निश्चयवाले उस पुरुष के तीव्र प्रयत्न से थोड़े ही समय में चिन्तामणि सामने उपस्थित हो गयी। उद्योगी पुरुषों के लिए ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सिद्ध न हो जाय। दुःख को न गिनता हुआ यदि पुरुष उत्तम बुद्धि का अवलम्बन कर प्रवृत्ति और उद्यम करता है, तो वह दरिद्र होता हुआ भी

निर्विघ्नतापूर्वक बड़ी भारी सामर्थ्य प्राप्त करता है। सामने उपस्थित हुए हाथ से ग्रहण करने योग्य चिन्तामणि को उसने उस प्रकार देखा, जिस प्रकार मेरु पर्वत पर उदय शिखर के ऊपर स्थित मुनि उदित चन्द्रमा को। बड़े–बड़े मणिराजों के ईश्वर उस चिन्तामणि के विषय में यह उस प्रकार निश्चय न कर सका, जिस प्रकार दरिद्रतम पामर तत्काल प्राप्त राज्य के विषय में निश्चय नहीं कर सकता। दीर्घकाल के दुःख से भ्रान्त तथा विस्मय से युक्त मन से–प्राप्त भी चिन्तामणि की उपेक्षा कर–उसने यह विचार किया। क्या यह चिन्तामणि है या चिन्तामणि नहीं है। यदि चिन्तामणि होता, तो मुझे वह प्रत्यक्ष ही नहीं होता। क्या मैं इसे छूउँ या न छूऊँ ? यदि मैं इससे छू जाऊँ, तो भाग्यहीन मेरे स्पर्श से यह अदृश्य हो जायेगा। इतने थोड़े समय में ही मणियों का राजा चिन्तामणि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इतिहास परम्परा यही है कि जीवनपर्यन्त यत्न करने से ही चिन्तामणि सिद्ध होता है। मैं कृपण हूँ, इसलिए भ्रान्तिसंकुचित नेत्र से चंचल अलातचक्र में कल्पित लता के सदृश रत्नप्रकाश को, भ्रम से दो चन्द्रमा की नाईं, देखता हूँ। मेरी इतनी विशुद्ध भाग्यसम्पत्ति ही कहाँ से आयी, जिससे मैं समस्त सिद्धियों के दाता चिन्तामणि को इतने थोड़े समय में ही प्राप्त कर लूँ। थोड़े ही ऐसे बड़े भाग्यवान् महात्मा होते हैं, जिनके सामने सम्पत्तियाँ स्वल्प समय में उपस्थित हो जाती हैं। मैं तो साधारण ही तपवाला हूँ, साधुओं में तुच्छ मनुष्य हूँ, इसलिए भाग्यरहित मेरे यहाँ सिद्धियाँ कैसे आ सकती है। इस प्रकार संकल्प–विकल्पों से दीर्घकाल तक विचारविमर्श कर रहे उस अज्ञानी पुरुष ने मूर्खता से मुग्ध होकर मणि लेने में कुछ भी यत्न नहीं किया ॥३–१५॥

उसने क्यों नहीं यत्न किया, इस पर कहते हैं।

जो वस्तु जिस समय जिसको प्राप्त होने योग्य नहीं रहती, वह वस्तु उस समय वह प्राप्त कर सकता ही नहीं। अतः प्राप्त हुआ भी चिन्तामणि दुर्बुद्धि के कारण उपेक्षा से उसने छोड़ दिया। उस प्रकार अज्ञानजनित विचारविमर्श में जब वह पुरुष स्थित ही रहा तब अन्त में वह मणि उड़कर वहाँ से चला गया, क्योंकि अवहेलना करनेवाले को सिद्धियाँ उस प्रकार छोड़ देती हैं, जिस प्रकार धनुष से निर्मुक्त बाण डोरी को छोड़ देता है ॥१६,१७॥

आपने तो कथा के आरम्भ में कहा था कि वह पुरुष व्यवहार में निपुण था, फिर मणिप्राप्तिकाल में उसकी वह निपुणता कहाँ चली गयी, इस पर कहते हैं।

सिद्धियाँ प्राप्त होकर पुरुष को विचक्षणता देती हैं और उपेक्षा करनेवाले पुरुष के पास आकर भी वापस चली जाती हैं तथा वापस जाती हुई वे सिद्धियाँ पुरुष में रहनेवाली विचक्षणता का विनाश कर डालती हैं, इस विषय में प्राचीन लोगों ने कहा है कि न देवा दण्डमादाय दण्डयन्त्यपराधिनम्। बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति तेनाऽसौ दण्ड्यते स्वतः ॥ (देवता दण्ड लेकर अपराधी पुरुष को दण्ड नहीं देते, किन्तु उसकी बुद्धि हर लेते हैं, इससे स्वयं ही वह दण्डित हो जाता है।) ॥१८॥ वह पुरुष फिर चिन्तामणि के साधन में कर्म और यत्न करने लगा, क्योंकि अटल निश्चयवाले लोग अपने कार्यों में उद्वेग नहीं प्राप्त करते। तदनन्तर चमकीले रूप से युक्त अखण्डित काँच का एक टुकड़ा उसने देखा। वह टुकड़ा परिहास में तत्पर वंचक अलक्षित सिद्धों ने उसके सामने रख दिया था। यही चिन्तामणि है, ऐसा निश्चय कर उस अज्ञानी पुरुष ने उसमें उपादेयता जान ली, क्योंकि मोहग्रस्त अज्ञानी मिट्टी को सोने

के रूप में देखता है। हे साधो, चित्त में रहनेवाला मोह किसी समय आठ पदार्थों को छः; शत्रु को मित्र, डोरी को सर्प, स्थल को जल, एक चन्द्र को दो चन्द्र और अमृत को विष बना देता है। उस दरिद्र मणि को लेकर उसने अपनी पूर्व की सारी सम्पत्ति छोड़ दी, क्योंकि मोहवश उसने यह समझ लिया कि अब इस चिन्तामणि से ही सब कुछ प्राप्त हो जायेगा, इन सम्पत्तियों से क्या प्रयोजन। यह देश, सुख से शून्य, स्नेहीजनों से रहित और पापात्मा जीवों से आक्रान्त है, जीर्ण–शीर्ण वह घर भी निष्प्रयोजन है और मेरे बन्धु भी क्या हैं यानी इनसे क्या प्रयोजन है। अब तो दूर जाकर यथेच्छ सुखपूर्वक सम्पत्तियों से युक्त होकर रहूँगा, यों विचारकर उस काँचखण्ड को लेकन निर्जन अरण्य में वह मूढ़ चला आया। हे प्रिय, वहाँ जंगल में जाकर उस काँच के खण्ड से वह मूढ़ ऐसी विपत्ति में फँस गया, जो कज्जल पर्वत की कान्ति के सदृश गहरी नीलिमा से युक्त और मूर्खता के अनुरूप थी ॥१९–२६॥

इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकला कि एकमात्र मूर्खता ही दुःख में सबसे बढ़–चढ़कर कारण है, ऐसा उपसंहार करते हैं।

मूर्खता के विभव से जो दुःख उत्पन्न होते हैं वे दुःख सर्वस्वनाश आदि बड़ी–बड़ी आपत्तियों से या बुढ़ौती से या मरण से नहीं होते, तत्त्ववेत्ताओं को सैकड़ों आपत्तियों के आने पर भी दुःख दिखाई नहीं देता और सोने के पलंगों पर सो रहे राजाधिराज को भी मूर्खता के कारण सैकड़ों दुःख दिखाई देते हैं, इससे सम्पूर्ण आपत्तियों के सिर पर एकमात्र मूर्खता उस प्रकार अवस्थित रहती है, जिस प्रकार पुरुष के सिर पर काला केशजाल ॥२७॥

अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त

नवासीवाँ सर्ग

विन्ध्याचल में बाँधे गये हाथी का बन्धन प्रयत्नपूर्वक
काट दिये जाने पर भी उपस्थित शत्रु को न मारने के कारण उसका गड्ढे में पतन।

प्रकृत विषय में हाथी का उपाख्यान भी दृष्टान्त है, इसलिए उसे भी सुनिये, यह कहते हैं।

चूडाला ने कहा : हे राजन्, अब यह दूसरा सुन्दर उपाख्यान आप सुनिये। हे साधो, यह आपके ही अनुरूप तथा बुद्धि में उत्तमरूप से स्फूर्ति देनेवाला है। विन्ध्याचल के अरण्य में बड़े–बड़े झुण्डपतियों के झुण्डों का स्वामी एक हाथी रहता था। दीर्घकाल तक आज्ञा का परिपालन करने के कारण अनुग्रहयुक्त हुई अगस्त्य महामुनि की बुद्धि से अपने पूर्व उन्नतरूप से प्रकट हुआ वह विन्ध्याचल ही मानों लगता था। उसके दो धवल दीर्घ दाँत वज्र की ज्वाला के समान तीक्ष्ण थे, महाप्रलय की अग्निशिखा के सदृश पर्वतराज सुमेरु को भी उखाड़ फेंकने में वे समर्थ थे। महावत ने चारों ओर से लोहमय जाल से उसको उस तरह बाँध रखा था, जिस तरह अगस्त्य ने विन्ध्याद्रि को और उपेन्द्र ने बलिराज को बाँध रखा था। लोहजाल में बाँधा गया तथा अंकुश आदि शस्त्रों से गण्डस्थल में पीड़ित किया गया वह हाथी बड़ी यन्त्रणा को प्राप्त हुआ और धीर उस हाथी ने वह व्यथा प्राप्त की, जो महादेवजी की बाणाग्नि लगने पर त्रिपुरासुर ने प्राप्त की थी। दूरी के कारण उसका शत्रु महावत उसे नहीं देख रहा था, इस दशा में उस हाथी ने लोहमय जाल में तीन दिन बिताये। तदनन्तर तीन दिनों के बाद अत्यन्त खेद से वह हाथी जाल

तोड़ने में प्रयत्न करने लगा और मुख के उन्नत आघातों से घण्टी के सदृश ध्वनि करने लगा ॥१-७॥ दो मुहूर्तों में बड़े प्रयत्न से उस हाथी ने अपने उन समर्थ दो दाँतों से उस शृंखलाजाल को उस प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया, जिस प्रकार बलिराज ने स्वर्गपुरी अमरावती के किवाड़ के सिक्कड़ को छिन्न-भिन्न कर दिया था। दूर से शत्रु ने उसका वह जाल-छेदन उस प्रकार देखा, जिस प्रकार श्रीहरि ने मेरुतल से बलि का स्वर्ग-छेदन देखा था। जिसका फन्दा विच्छिन्न हो गया था, उस हाथी के सिर पर वह शत्रु तालवृक्ष के ऊपर पहले चढ़कर फिर वहीं से उस प्रकार गिरा, जिस प्रकार क्रम से (📖) मेरुपर्वत पर से भगवान वामन बलि के सिर पर गिरे थे। गिर रहा वह अपने चरण कमलों से हाथी का सिर न प्राप्त कर व्याकुल होता हुआ पृथिवी पर उस प्रकार गिरा, जिस प्रकार वायु से आहत पका फल पृथिवी पर गिरता है ॥८-११॥ सामने गिरे हुए उस शत्रु को देखकर महान् हाथी करुणा से भर गया, क्योंकि तिर्यक् योनियों में जाने पर भी सन्त लोग प्रकाशशील अपने विशुद्ध गुण से युक्त ही रहते हैं। 'गिरे हुए को यदि मैं मार डालूँ, तो उसमें मेरा पुरुषार्थ ही क्या ?' इस प्रकार उस हाथी ने विचारकर उस शत्रु को न मारा। एकमात्र लोहमय जाल का विदारण कर वह उस प्रकार चला गया, जिस प्रकार विस्तृत पुल का विदारण कर जल का महान् प्रवाह चला जाता है। दया का आश्रय कर शृंखला जाल का भेदनकर हाथी ऐसे चला गया, जैसे आकाश में मेघों का भेदनकर सूर्य चला जाता है। जब हाथी चला गया तब महावत स्वस्थमति होकर उठा। उसकी व्यथा हाथी के साथ-साथ ही दूर भाग गयी। उत्तुंग ताल वृक्ष के शिखर से उस प्रकार गिरा हुआ भी वह सिर, पैर आदि अंगों से विकृत न हुआ। मेरा मत है कि दुष्ट चेताओं की देह दुर्भेद्य ही होती है। वर्षाकाल में मेघों की नाईं कुकर्मों में असत् पुरुषों का बल बढ़ता है। वह पैरों से चलने में अत्यन्त उत्साही था। हाथी का शत्रु वह महावत अपने उपायों में निष्फल सिद्ध हुआ। उसके हाथ से हाथी चला गया। वह उस प्रकार दुःखी हुआ, जिस प्रकार हाथ में निधि के आकर चले जाने पर व्यापारी वैश्य दुःखी होता है। अन्त में बहुत परिश्रम से वह अरण्य में झाड़ियों में छिपे हुए हाथी का उस प्रकार अन्वेषण करने लगा, जिस प्रकार खा जाने के लिए आकाशमण्डल में मेघों से छिपे हुए चन्द्रमा का राहु अन्वेषण करता है। बहुत काल के बाद युद्धभूमि से मानों निकला हुआ किसी एक जंगल में स्थित वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा वही गजेन्द्र उसे फिर मिला। तदनन्तर जहाँ वह हाथी खड़ा था, वहीं पर समीप में अनेक गजलम्पट जनों से युक्त उत्तम गड्ढा खोदने की राजसामग्री से उस महावत ने गजबन्धन में समर्थ चारों ओर गोल जंगल में गड्ढे का निर्माण किया। वह ऐसा लगता था, मानों भूमि में ब्रह्माजी द्वारा निर्मित सर्वदिग्व्यापी गोल समुद्र हो। उस वंचक महावत ने उस गड्ढे को कोमल लताओं से उस प्रकार ऊपर से ढक दिया, जिस प्रकार शरत्काल शुभ्र मेघपटल से आकाश को ढक देता है। कुछ ही दिनों के अनन्तर वन में विहार कर रहा वह हाथी, शुष्क सागर में पर्वत की नाईं, उस गड्ढे में गिर गया। गजरूप रत्न के आश्रय तथा पातालतल के सदृश अतिभीषण वलयाकार कुएँ के शुष्क सागर-जैसे गड्ढे के नीचे भाग में इस रीति से पुनः उसने उस हाथी को सुदृढ़रूप से बाँध दिया, जो आज भी बलि के

(📖) बलिराज से यज्ञ में तीन पैर मात्र भूमि का प्रतिग्रह कर पहले पैर से समस्त पृथिवी, दूसरे से स्वर्ग इस प्रकार क्रमशः तीसरे पैर की पूर्ति के लिए मेरु से बलि के सिर पर भगवान् वामन जैसे गिरे, वैसे ही महावत क्रमशः पहले तालवृक्ष पर चढ़ा और फिर हाथी के सिर पर गिरा, यह तात्पर्य है।

सदृश भूगर्भ में दुःखपूर्वक अवस्थित है। यदि पहले यह हाथी अपने सामने गिरे हुए शत्रु को मार डालता, तो कूपबन्धनरूप दुःख प्राप्त नहीं करता ॥१२–२८॥

इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को इसी समय शास्त्रीय पुरुषप्रयत्नों से दुःखोत्पादक बीजों को दूर कर आगामी काल का शोधन करना चाहिए, यों कहते हैं।

मूर्खता के कारण जो पुरुष वर्तमान समय में शास्त्रीय क्रियाक्रमों से भविष्यकाल का शोधन नहीं करता, वह विन्ध्यगज के सदृश दुःख पाता है ॥२९॥

जब तक सब दुःखों का मूल अज्ञान नष्ट नहीं होता, तब तक सैकड़ों प्रयत्नों से किया गया दुःख विनाश भी व्यर्थ ही है, इस आशय से कहते हैं।

मैं श्रृंखलाबन्धन से निर्मुक्त हो गया, इस बुद्धि से सन्तुष्ट हुआ हाथी दूर भाग जाने पर भी फिर अज्ञान के कारण बन्धन में पड़ गया। मूर्खता कहाँ बाधा नहीं पहुँचाती अर्थात् सर्वत्र बाधा पहुँचाती ही है ॥३०॥

इससे अज्ञान ही मूलभूत बन्ध है, उसकी निवृत्ति अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञान से ही होती है, यह दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं।

हे महात्मन्, 'सदा बन्धनशून्य भी मैं बद्ध हूँ' इस प्रकार की चित्तगत मूर्खता को ही आप सबसे बढ़ा–चढ़ा बन्धन समझिये। अतः उससे विमुक्त होने के लिए आत्मा से उत्पन्न आध्यात्मिक आदि समस्त तीनों जगत् को आत्मस्वरूप ही समझिये। इस तरह समझ जाने पर आत्मातिरिक्त किसी वस्तु के न रहने से पुरुष नित्य मुक्त हो जाता है। जिसे इस तरह का ज्ञान नहीं है और जो मूर्खता में ही अवस्थित रहता है उस पुरुष के लिए तो स्वयं आत्मा ही तत्काल समस्त बन्धनों के बीजों की भूमि हो जाती है ॥३१॥

नवासीवाँ सर्ग समाप्त

नब्बेवाँ सर्ग

कुम्भरूपिणी चूड़ाला द्वारा चिन्तामणि और काँच के सुन्दर आख्यान का विस्तार से तात्पर्यवर्णन।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, चिन्तामणि के साधक तथा विन्ध्याचल के हाथी के बन्धन आदि का जो कथाजाल आपने सूचित किया है, उसे फिर मेरे सामने प्रकट कीजिये, क्योंकि वह मेरे चरित्र से कुछ मिलता–जुलता–सा है, इस तरह की पूर्वोक्ति से आपने सूचित किया कि वह मेरे ज्ञान का उपायस्वरूप है। चूडाला ने कहा : राजन्, आपके हृदयरूपी घर में चित्तरूपी दीवारों के ऊपर मैंने वाक्यार्थज्ञानसम्पादन द्वारा विचित्र कथारूपी चित्र की केवल रेखा ही खींच दी थी, अब उसे मैं व्याख्यारूपी विचित्र वर्णों से (रंगों से) रंग रहा हूँ, आप स्वयं सुनिये ॥१,२॥

उन कथाओं में सर्व प्रथम 'अस्ति कश्चित पुमान् श्रीमान्' (कोई एक श्रीमान् पुरुष था) इत्यादि से मैंने जिस चिन्तामणिसाधक का आपसे वर्णन किया है, वह आप ही हैं।

हे राजन्, शास्त्रार्थ में कुशल, किन्तु तत्त्वज्ञान में अपण्डित जिस चिन्तामणिरत्न के साधक का मैंने आपसे वर्णन किया है वह आप ही हैं ॥३॥

'कलावान् शास्त्रकुशलः' इत्यादि जो कुछ लक्षण मैंने कहे हैं, वे सब आपमें घटते हैं।

जिस तरह भगवान् सूर्य सुमेरु के तटों के विषय में तत्त्वज्ञ हैं उसी तरह आप शास्त्रों के विषय में तो तत्त्वज्ञ हैं ही, किन्तु आत्मतत्त्वज्ञान में उस तरह विश्रान्त नहीं हैं, जिस तरह जल में पत्थर ॥४॥

भला बतलाइये तो सही, वह चिन्तामणि कौन है, जिसके साधन में मैं प्रवृत्त हूँ, उसे कहते हैं।

हे साधो, अकृत्रिम सर्वत्याग को ही आप चिन्तामणि जानिये। सम्पूर्ण दुःखों के विनाशक उसी चिन्तामणि को तो आप सिद्ध कर रहे हैं ॥५॥

सर्वत्याग में चिन्तामणित्व का उपपादन करते हैं।

हे निष्पाप राजन्, शुद्ध सर्वत्याग से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि सर्वत्याग ही साम्राज्य–आत्यन्तिक पूर्णकामता है। चिन्तामणि से क्या होता है ? ॥६॥ हे साधो, साधना करते हुए आपका वह सर्वपरित्याग सिद्ध हो चुका है, जो जगत् के प्रसिद्ध ऐश्वर्य–परम्पराओं से लेकर हिरण्यगर्भ के पद तक के ऐश्वर्य को भी तुच्छ कर देनेवाला तथा जो विद्यारूपी निरतिशयानन्द आत्मज्ञान का उदयकारक है ॥७॥

कैसे सिद्ध हो गया, यह कहते हैं।

आपने स्त्री, धन और बन्धुओं के साथ–साथ अपने सम्पूर्ण राज्य का परित्याग उस तरह कर दिया, जिस तरह अपनी रात आने पर ब्रह्मा जागतिक सृष्टि के व्यापार का परित्याग कर देते हैं ॥८॥ स्वदेश से बहुत दूर में स्थित आप मेरे आश्रम में विश्रान्ति के लिए ऐसे आ गये हैं, जैसे कच्छप, गज आदि भोजन के साथ गरुड़ भगवान् विश्रान्ति के लिए पृथिवी की अन्त सीमा में आ गये थे (📖) आपने सर्वत्याग में केवल अभिमानरूप अविद्या को ही उस तरह बचा रखा है, जिस तरह मेघ, नीहार आदि सब कलंकों को धो डालनेवाला शरत्कालीन वायु आकाश में अपनी सत्ता को ॥९, १०॥

अहंकार का परित्याग हो जाने पर अवशिष्ट रहा पूर्णानन्दस्वरूप परमपुरुषार्थ अपने–आप हृदय में साक्षात् स्फुरित होने लगता है, इसलिए सर्वत्याग ही मोक्ष सिद्ध हुआ। परमानन्द ही चिन्तामणि है। चिन्तामणि मिल जाने पर उसकी उपेक्षा करके किसी और दूसरी वस्तु का अन्वेषण नहीं करना चाहिए, यह कहते हैं।

हृदय से मनोमात्र के त्यक्त हो जाने पर सारा संसार पूर्णानन्द ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, लेकिन आप तो मेघों से आवृत आकाश की नाईं त्याग और अत्याग के विकल्पों से आवृत हैं, क्योंकि 'मैंने सब कुछ छोड़ दिया' यह अभिमान तो अभी आपमें बचा ही है ॥११॥ विकल्पवश के ही कारण तो सर्वत्याग होने पर भी आपको अभी तक अविश्वास बना हुआ है कि यह सर्वत्याग प्रसिद्ध महोदय स्वरूप और परमानन्दस्वरूप नहीं है। महान् तो कोई बहुत उन्नत चिरकालसाध्य अन्य ही है ॥१२॥ इस चिन्ता से संकल्पग्रहण के वृद्धिगत हो जाने पर आपका वह सर्वत्याग उड़कर कहीं उस तरह चला गया, जिस तरह आँधी से जंगली वृक्षों के हिल जाने पर उनके पक्षी वहाँ से उड़कर कहीं अन्यत्र निर्वात प्रदेश में आश्रय पाने के लिए चले जाते हैं ॥१३॥ उस पुरुष का त्याग भला कैसे सिद्ध हो सकता है, जो चिन्ता को तनिक भी अपनाता है। पवन के स्पन्द से युक्त वृक्ष में निश्चलता कैसे हो सकती है। ।१४॥

(📖) महाभारत आदि में भगवान् गरुड़ की यह कथा प्रसिद्ध है।

चित्तत्याग ही मुख्य सर्वत्याग है, लेकिन चिन्ता के रहते चित्त का त्याग अत्यन्त कठिन है। चित्त ने तो अपने संकल्प द्वारा जगत् को ही बटोर लिया है, इसलिए हे राजन्, अभी आपने किसीका भी त्याग सिद्ध नहीं किया, इस अभिप्राय से कहते हैं।

चिन्ता को ही चित्त कहते हैं, इसीका दूसरा नाम संकल्प है। उस चिन्ता के स्फुरित रहते चित्त का त्याग कैसे हो सकता है ? हे साधो, तीनों जगत् के जाल के आधारभूत चित्त के क्षण भर में ही चिन्ता से गृहीत हो जाने पर निरंजन सर्वत्याग की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? हे राजन्, जैसे गाँव के पक्षी कबूतर आदि शब्द श्रवण से उड़कर कहीं चले जाते हैं, वैसे ही आपका त्याग आन्तरिक संकल्प के ग्रहण से उड़कर चला गया है ॥१५-१७॥

उड़कर भाग रहा त्याग सर्वत्याग के फल निश्चिन्तता को लेकर मानों चला गया, यह उत्प्रेक्षा करते हैं।

हजारों प्रार्थना करने के बाद आया हुआ आपका त्याग पूजित न होने से आपकी उत्कृष्ट सारी निश्चिन्तता लेकर चला गया, क्योंकि निमन्त्रण देकर बुलाया गया प्राणी पूजित न होने पर क्या वह दुःख नहीं देता। तात्पर्य यह है कि दक्षप्रजापति के यज्ञ में बिना निमन्त्रण के पहुँचे हुए पूज्य की पूजा न होने पर जब अनर्थ प्राप्ति प्रसिद्ध ही है, तब हजारों प्रार्थनाओं से बुलाये जानेपर आये हुए पूज्य की पूजा न होने पर अनर्थ की प्राप्ति होती है, इसमें तो कहना ही क्या ? जिसका अनादर हुआ वह अवश्य दुःख उत्पन्न करेगा ही, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥१८॥

अच्छा, तो अब आप मुझे यह बतलाइये कि काँच का वह कौन टुकड़ा था, जिसे मैंने चिन्तामणि देख कर ले लिया था; यह बतलाते हैं।

हे कमललोचन, इस तरह सर्वत्यागरूपी चिन्तामणि के चले जाने पर आपने अपने संकल्परूपी नेत्र से तपरूपी काँच को चिन्तामणि देखा। जैसे दृष्टि के भ्रम से उदित हुए जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा में सत्यचन्द्रमा की भावना बाँध ली जाती है वैसे ही आपने दुःख के हेतु होने से दुःखरूप उस तप में ही 'मुझे यही ग्राह्य है' ऐसी दृढ़ भावना बाँध ली है। पहले वासना से शून्य सर्वत्याग का अनासक्तियोग से उपक्रम कर पीछे वासनायुक्त अनन्त तप की जो क्रिया आपने की है, वह बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि आदि में गृह, धन, दारा आदि के त्याग से, अन्त में फल की आसक्ति से और मध्य में वनवास, शीत आदि के सहने से वह अत्यन्त विषम (भयंकर) हो गयी है, अतः वह एकमात्र दुःख के लिए ही है। अपरिमित आनन्द देनेवाले और सुसाध्य सर्वत्याग को छोड़कर परिमित और दुःसाध्य तप आादि वस्तु में जो पुरुष प्रवृत्त होता है वह शठ, अपरिमित आत्मस्वरूप का विघातक होने से, आत्मघाती कहा जाता है। जंगली घर के अन्दर उपर्युक्त तपस्याजन्य दुःखों से तथा दुःखों के साथ एकता के प्रयोजक अज्ञान से बँधे हुए आपने सर्वत्याग का आरम्भ करके इसे फिर सिद्ध नहीं किया। हे साधो, प्रतिदिन आगे बढ़ रहे दुःखों से भरे हुए राज्यरूप बन्धन से भलीभाँति निकलकर आप वनवासनामक दृढ़ बन्धनों से बँध गये हैं। शीत, वात, धूप आदि की आपको द्विगुण चिन्ता है। इसलिए मैं तो ऐसा समझता हूँ कि पहले से अनुभव न रखनेवाले सुकुमार पुरुषों का वनवास बन्धन से भी अधिक दुःखदायी है। मैंने चिन्तामणि पाया, यह तो आप अच्छी तरह समझ चुके हैं, परन्तु हे साधो, (यह भी समझ लीजिये कि)

अभी तक आपने स्फटिक का एक टुकड़ा भी नहीं पाया ॥१९-२६॥

पूर्वोक्त चिन्तामणि के साधक के चरित्र की समता का उपसंहार करते हैं।

हे पद्मनेत्र महीपते, इस तरह चिन्तामणि के प्रयत्न की कथा के समान आपके चरित्र को मैंने अच्छी तरह प्रकट कर दिया, अब आप मेरे कहने के अनुसार स्वयमेव अपनी बुद्धि से निर्मल उस बोध्य वस्तु का तत्त्वतः विचारकर सर्वत्याग या तप-इन में चिन्तामणि के समान जिसे निर्दोष समझिये, उसीको अपने चित्तकोश के भीतर रखकर फलप्राप्तिपर्यन्त परिणति में पहुँचाइये ॥२७॥

नब्बेवाँ सर्ग समाप्त

इक्यानबेवाँ सर्ग

तत्त्वज्ञानसम्पादक सर्वत्याग की सिद्धि के लिए विन्ध्यगजवृत्तान्तरूपी दृष्टान्त का
राजा शिखिध्वज के चरित्र में समन्वय।

चूडाला ने कहा : हे राजशार्दूल, पूर्णतत्त्वबोध के लिए अब आप विन्ध्याचल के हाथी के वृत्तान्त की विस्मय उत्पन्न करनेवाली विवृत्ति सुनिये। विन्ध्यवन में रहनेवाले जिस हाथी का मैंने आपसे पहले वर्णन किया था, वह इस पृथिवीतल पर आप ही हैं। उस हाथी के जो सफेद दो दाँत हैं वे ही आपके वैराग्य और विवेक हैं। हाथी की आक्रान्ति में यानी हाथी पकड़ने में तत्पर जो वह महावत स्थित था, वह आपकी आक्रान्ति में तत्पर आपको दुःख देनेवाला आपका अज्ञान है ॥१-३॥ हे राजन्, आप अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हाथी के सदृश रहते हुए भी दुर्बल मूर्खतारूपी महावत के द्वारा एक दुःख से दूसरे दुःख में तथा एक भय से दूसरे भय में पहुँचाये जा रहे हैं। जो मोहवज्रसार से हाथी बाँधा गया था, सो आशापाशजाल से पैर से लेकर मस्तक तक आवृत्त हुए (बाँधे गये) आप ही हैं। आशा तो लोहे की जंजीर से भी बढ़कर भयंकर, विशाल और दृढ़ है, क्योंकि काल पाकर लोहे की जंजीर टूट जाती है, परन्तु तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है ॥४-६॥

'रिपौ हस्तिपके दूरादपश्यति स वारणः' (दूरी के कारण न देख रहा उसका शत्रु महावत जब चिन्तन कर रहा था, तब उस हाथी ने) इससे सूचित उसके चिन्तन का उदाहरण देते हैं।

जो एकान्त में छिपकर शत्रु महावत हाथी का चिन्तन कर रहा था वह आपका अज्ञान ही (📖) एकान्त में अकेले बँधे हुए क्रीडा के लिए आपका चिन्तन कर रहा था ॥७॥

'दन्ताभ्यां यत्नतस्ताभ्याम्' (बड़े प्रयत्न से उस हाथी ने अपने समर्थ उन दोनों दाँतों से) इस उक्ति का तात्पर्य कहते हैं।

जो अपने शत्रु के श्रृंखलाजाल बन्धन को हाथी ने तोड़ दिया, वह आपने भोगभूमि अकण्टक अपने राज्य का त्याग कर दिया ॥८॥ हे साधो, कदाचित् शस्त्र और श्रृंखला बन्धन का भेदन सहज में हो सकता है, परन्तु भोगों की आशा का निवारण इस मन से सहज में नहीं हो सकता ॥९॥

'स पतन्पादपद्माभ्यामप्राप्य करिणः शिरः' (गिर रहा वह अपने चरण-कमलों से हाथी का सिर न प्राप्त कर) इससे जो कहा गया है वह भी अज्ञान में दिखलाते हैं।

(📖) यह अज्ञान में चेतनत्व का आरोप करके कहा है।

हाथी के दृढ़ बन्धन तोड़ देने पर जो महावत गिर पड़ा था वह आपके राज्य छोड़ देने पर अज्ञान ही गिराया गया था। जब विरक्त पुरुष भोगों की आशा छोड़ देना चाहता है तब अज्ञान, काटे जा रहे वृक्ष के ऊपर रहने वाले पिशाच की नाईं, खूब काँपने लगता है। जब विवेकी पुरुष भोगों का बिलकुल त्याग कर बैठ जाता है तब अज्ञान, वृक्ष कट जाने पर पिशाच की नाईं, भाग जाता है। भोगसमूह के उन्मुक्त होने पर अज्ञान की संस्थिति वैसे गिर जाती हैं, जैसे वृक्ष के आरे से कट जाने पर उसके ऊपर बना हुआ चिड़ियों का घोंसला। जिस समय आप जंगल को चले, उसी समय आपने अज्ञान को घायल कर दिया, लेकिन घायल होकर गिरे हुए उसको आपने तत्त्वज्ञान के द्वारा मन के त्यागरूप महा खड्ग से मार नहीं डाला। तात्पर्य यह है कि उसी समय आपको चूडाला के उक्तिश्रवण के बाद तत्त्वज्ञान के लिए एक बहुत सुन्दर अवसर मिला था, लेकिन आपने उसे खो दिया। यही कारण है कि उस अज्ञान ने फिर उठकर आपके द्वारा की गयी अपनी पराजय का स्मरण करके इस तपःप्रपंचरूपी (विस्तृत तपरूपी) गहन गड्ढे में आपको ढकेल दिया है। राज्य का त्याग करते समय ही घायल होकर गिरे हुए अज्ञान को यदि आपने जान से मार दिया होता, तो उसी समय बिलकुल नष्ट हुआ वह अज्ञान आपको यों तपरूपी गड्ढे में ढकेलकर नहीं मारता ॥१०–१६॥

'स खातवलयं चक्रे' (उस महावत ने गोल गड्ढे का निर्माण किया) इस उक्ति का तात्पर्य कहते हैं।

हे राजन्, हाथी के शत्रु उस महावत ने जो गोल गड्ढे का निर्माण किया था, वह आपके अज्ञान ने तपरूपी सम्पूर्ण दुःखों का एक गोल गड्ढा अर्पित किया है ॥१७॥

'परया राजसामग्रया गजलम्पटभूमया' इससे सूचित अनेक गजलम्पट जनों में युक्त उत्तम राजसामग्री को स्पष्ट रूप से बतलाते हैं।

हे श्रेष्ठ राजन्, जो उस हाथी के शत्रु की उत्तम राजसामग्री है, वह अज्ञानरूपी राजा की अन्तःकरण में चारों ओर घूमनेवाली चिन्ता है और वह राजा हैं आप। हे साधो, गज न होते हुए भी आप उक्त विवेक से सम्पन्न गजेन्द्र हैं। इस दीर्घ जंगल में इस अज्ञानरूपी शत्रु महावत ने आपको तपरूपी गड्ढे में बहुत शीघ्र फेंक दिया है ॥१८,१९॥

'उपर्यस्थगयद्बाललतौघेन स तं शठः' (उस वंचक महावत ने उस गड्ढे को कोमल बाललताओं से उस प्रकार ऊपर से ढक दिया) इसका स्पष्टरूप से तात्पर्य कहते हैं।

कोमल लताओं से जो गोल गड्ढा ढका है वह आपका तपोदुःख ही शान्ति आदि गुणों और सज्जनों के समागमों से थोड़ा–सा आवृत्त है ॥२०॥

'इति भूयो दृढं बद्धस्तेन हस्तिपकेन सः। तिष्ठत्यद्यापि दुःखेन भूसद्मनि यथा बलि ॥' (इस रीति से पुनः उस महावत ने उस हाथी को सुदृढ़रूप से बाँध दिया, जो आज भी बलि के सदृश भूगर्भ में अवस्थित है) इस उपसंहार का तात्पर्य कहते हुए उपसंहार करते हैं।

हे नृप, इस तरह आज भी अतिदारुण और दुःखदायक तपरूपी खन्दक में आप ऐसे बँधे हुए अवस्थित हैं, जैसे पातालतल में राजा बलि ॥२१॥

कहे या न कहे गये सबको एक में मिलाकर कहते हैं।

हे राजन्, आप हैं गज; आशाएँ हैं जंजीर, शत्रु महावत है मोह, उग्र तपस्या में आग्रह है गड्ढा,

विन्ध्याचल है यह महीतल। इस तरह आपका वृत्तान्त मैंने हाथी के आख्यान द्वारा कह दिया। इसे अच्छी तरह जानकर तपस्यारूपी गड्ढे से निकलकर उस अपने शत्रु के नाश के लिए जो कुछ कर सकते हैं, उसी शीघ्र कीजिये, देरी मत कीजिये ॥२२॥

इक्यानबेवाँ सर्ग समाप्त

बानबेवाँ सर्ग

कुम्भरूपिणी चूडाला की ऐसी बातें सुनकर सर्वत्याग में तत्पर हुए उस राजा ने वन आदि का त्याग कर तपस्या में उपयोगी अपने सम्पूर्ण पापों को अग्नि में झोंक दिया–यह वर्णन।

'जब आप जंगल को चले, उसी समय मूर्च्छित होकर गिरे हुए अज्ञान को आपने जान से नहीं मारा' यह जो आपने कहा, यह ठीक है, परन्तु उस समय मुझे मनस्त्याग का किसने उपदेश दिया ? जिसकी कि मैंने उपेक्षा की ? इस प्रकार राजा की शंका का तर्क कर रही कुम्भरूपिणी चूडाला कहती है।

चूडाला ने कहा : हे राजन्, नीतिनिपुण उस चूडाला ने, जिसने ज्ञेय वस्तु का अच्छी तरह ज्ञान कर लिया था, उस समय जिस ज्ञान का आपको उपदेश दिया, आपने उसे क्यों नहीं स्वीकार किया ? ॥१॥

इसलिए नहीं किया कि वह अतत्त्ववित् और मिथ्यावादिनी थी, इस शंका का वारण करते हैं।

हे राजन्, वह तत्त्वविज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ है। वह जो–जो कहती और करती है, वह सब सत्य ही रहता है, अतः आपको आदर के साथ उसका अनुष्ठान करना चाहिए था ॥२॥

आत्मबुद्ध्या चिरं जीवेद् गुरुबुद्ध्या विशेषतः। पर बुद्धिर्विनाशाय स्त्रीबुद्धिः प्रलयंकरी ॥ इस वचन के अनुसार स्त्रीबुद्धि की उपेक्षाकर अपनी बुद्धि से निश्चित सर्वत्याग को ही यदि आपने महत्त्वपूर्ण समझा, तो फिर आपने उसीको स्थिर क्यों नहीं किया ?

हे नृप, यदि आपने उस चूडाला के कथन का पालन नहीं किया, तो फिर सर्वत्याग का ही पूर्णरूप से आश्रय क्यों नहीं लिया ? ॥३॥

सिद्धः सर्वपरित्यागः साधो संसाध्यतस्तव। खर्वीकृतजगद्भूतिर्विद्यास्वात्मोदयस्तथा ॥ (हे साधो, साधना कर रहे आपका वह सर्वपरित्याग सिद्ध हो चुका, जो जगत् के प्रसिद्ध हिरण्यगर्भपद तक के ऐश्वर्यों को भी तुच्छ कर देनेवाला तथा विद्यारूपी निरतिशयानन्द आत्मज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है।) इत्यादि से तो आपने ही कहा था कि राज्यादि के परित्यागमात्र से आपका सर्वत्याग सिद्ध हो चुका और जिस राज्य आदि का परित्याग कर दिया है उसका फिर मैंने स्वीकार भी नहीं किया, ऐसी स्थिति में आप बतलाइये कि मैंने सर्वत्याग का पूर्णरूप से अवलम्बन क्यों नहीं किया ? यों राजा शिखिध्वज पूछते हैं।

हे प्रिय, यद्यपि राज्य छोड़ा, घरबार छोड़ा, उसी प्रकार सारा देश छोड़ दिया, स्त्री भी छोड़ दी, तथापि आप कहते हैं कि आपने सर्वपरित्याग नहीं किया, यह क्यों ? ॥४॥

'केवलं सर्वत्यागे शेषिताहंमतिस्त्वया' (आपने सर्वत्याग में केवल अभिमानरूप अविद्या को उस तरह बचा रखा है) इससे तो मैंने पहले ही इसका उत्तर दे दिया है। परन्तु विवेक न होने के कारण यह उसे समझ नहीं सका, इसलिए जंगल में निवास, कमंडलु आदि अवशिष्ट परिग्रह का भी पूर्णरूप से

त्याग करा दिये जाने पर किसी तरह विवेक प्राप्त कर अहंकारग्रन्थि तोड़ करके यह परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप हो जायेगा–ऐसा सोचती हुई धीरे–धीरे राजा शिखिध्वज की बुद्धि को विचार पथ पर उतार रही कुम्भरूपिणी चूडाला गूढ़ अभिप्राय से कहती हैं।

हे राजन्, धन, स्त्री, गृह, राज्य, भूमि, छत्र और बान्धव – ये सब आपके तो हैं ही नहीं, फिर आपका सर्वत्याग हुआ कौन ? तात्पर्य यह कि जो अपना सम्बन्धी और सब है उसीका त्याग होने पर सर्वत्याग की सिद्धि होगी, परन्तु राज्यादि तो न आपके सम्बन्धी हैं न और सब हैं, क्योंकि 'राज्य आदि मेरे हैं' ऐसी कल्पना कर रहा अहंकार ही अपने को इनका स्वामी मानता है, आत्मा नहीं मानता; अतः आप में सम्बन्धिता न होने से आपका सर्वत्याग सिद्ध नहीं हुआ ॥५॥

अहंकार में तादात्म्य से आत्मा ही राज्यादि सबका स्वामी बन बैठा है, यदि आप यह कहें, तब तो एक उसीके त्याग से सर्वत्याग सिद्ध हो जायेगा, दूसरे के त्याग से नहीं। और आपने तो उस अहंकार का त्याग अभी तक किया ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे राजन्, सबसे उत्तम भाग जो आपका मन या अहंकार है वह तो अभी तक अपरित्यक्त ही है। उसका पूर्णरूप से परित्याग कर आप शोकशून्य होंगे ॥६॥

कथित आशय को न जानकर राजा शिखिध्वज चूडाला का यह आशय समझ रहे हैं कि मैंने पहले राज्य आदि का त्याग कर दिया है, इसलिए इस समय राज्यादि का सम्बन्ध न होने से वे त्याग के पात्र हैं ही नहीं और पर्वत, वृक्ष आदि का इस समय सम्बन्ध होने के कारण उनके त्याग के बिना सर्वत्याग की सिद्धि नहीं हो सकती, यह कहते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : यदि आप मानते हैं कि मेरा राज्य सब कुछ नहीं है तो यह पर्वत, वृक्ष, गुल्म आदि से भरपूर वन ही मेरा इस समय सब कुछ है, इसलिए इसका मैं त्याग करता हूँ। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, कुम्भ के वाक्य से प्रेरित होकर उस तरह कह रहे वीर जितेन्द्रिय शिखिध्वज ने दूसरे ही निमेष में उस वनासक्ति को ऐसे धो डाला, जैसे वर्षा का प्रवाह तटगत धूलिलेखा को, क्योंकि ऐसा करने के लिए उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे प्रिय, अनेक जंगली वृक्षों, पर्वतों और गड्ढों से युक्त जंगल से भी मैंने अपनी वासना का (ममता का) परित्याग कर दिया, अब तो मेरा सर्वत्याग सम्पन्न है न ? कुम्भ ने कहा : हे राजन्, यह पर्वत का तट, वन, वापी (बाउली), गुल्म और वृक्षों के नीचे की सुन्दर भूमि – ये सब तो आपके हैं ही नहीं, फिर आपका सर्वत्याग कैसे सम्पन्न हुआ। हे राजन्, सबसे उत्तम भाग का तो आपने अभी परित्याग ही नहीं किया है, उसका आप भलीभाँति त्याग करके उत्कृष्ट अशोकता को प्राप्त होंगे ॥७–१२॥

यद्यपि त्याग करने के कारण वन आदि आपके सब हैं नहीं, यह मैं मानता हूँ, तथापि आश्रम का अस्तित्व होने से आपका सर्वत्याग सम्पन्न हुआ कैसे, यह कुम्भ मुनि अब मुझसे कह रहे हैं, यों मान रहे राजा शिखिध्वज कहते हैं।

त्याग के कारण यदि ये वन आदि मेरे सब नहीं हैं तो यह जो वापी, स्थल, पर्णकुटी आदि से युक्त मेरा अपना आश्रम तो सब कुछ है, उसका भी अभी मैं त्याग कर देता हूँ ॥१३॥ महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, ऐसा कहते हुए कुम्भवाक्य से प्रबोधित जितेन्द्रिय वीर राजा

शिखिध्वज ने निमेषभर ध्यान करके हृदय में स्फुरित हो रही उस आश्रम की अपनी ममता को शुद्ध संवित् से उस प्रकार धो डाला, जिस प्रकार पवन स्फुरणमात्र से धूलिलेखा को धो डालता है। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे प्रिय, वृक्ष, पर्णकुटी, लता आदि से सम्पन्न इस अपने आश्रम से भी अपनी ममता मैंने छोड़ दी। अब तो मेरा सर्वत्याग सिद्ध हो गया न ? कुम्भ ने कहा : हे राजन्, वृक्ष, वापी, स्थल, गुल्म, पर्णकुटी और ये लताएँ – ये सब तो आपके कुछ भी नहीं हैं, फिर आपका सर्वत्याग कैसे सिद्ध हुआ। सबसे उत्तम भाग का तो अभी आपने त्याग ही नहीं किया है, उसका पूर्णरूप से परित्यागकर आप उत्कृष्ट अशोकता को प्राप्त होंगे। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे प्रिय, यदि ये सब मेरे नहीं हैं, तो पात्र आदि तथा मृगचर्म, दीवार, कुटीर आदि तो मेरे सब हैं, इन्हींको पहले छोड़ता हूँ। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, यह कहकर अविक्षुब्धमति, शमी तथा शुद्धात्मा वह राजा शिखिध्वज अपने आसन से उस तरह उठ गया, जिस तरह पर्वत के श्रृंग से शरत्कालीन मेघ ॥१४-२०॥ अपने आसन पर स्थित वह कुम्भ ऋषि मुसकुराता हुआ राजा शिखिध्वज की सारी क्रियाएँ उस तरह देख रहा था, जिस तरह अपने रथ पर अवस्थित हुए भगवान् सूर्यदेव लोक के कार्य देखते रहते हैं। जो यह करता है, यह करे। इसके लिए यही परम पावन है, ऐसा विचार कर चुपचप अवस्थित हो वह कुम्भ ऋषि राजा शिखिध्वज की ओर देखता रहा। राजा शिखिध्वज ने भाण्डादि उन सब वस्तुओं को अपने आश्रम के भीतर से लाकर उन्हें एक ही जगह उस तरह रख दिया, जिस तरह समुद्र के उदर की नीची भूमि उन्नत पृथिवी से नदी आदि के जल को। उन्हें एक जगह करके सूखी लकड़ियों के द्वारा अग्नि को उस तरह प्रज्वलित किया, जिस तरह अपनी किरणों से संक्रान्त सूर्य सूर्यकान्तमणि के स्थान में अग्नि को। भाण्डे आदि उन सब वस्तुओं को अग्नि में छोड़कर वह अपने आसन पर उस तरह आसीन हो गया, जिस तरह मन्वन्तर के सन्धिप्रलय में भगवान् सूर्यदेव स्वप्रज्वलित अग्नि में संसार का हवनकर सुमेरु शिखर पर आसीन हो गये थे ॥२१-२५॥

अब अक्षमाला छोड़ने की इच्छा से किये गये उपकार को भूल जाना जो एक दोष है उसका परिहार कर रहे राजा शिखिध्वज उस अक्षमाला से कहते हैं।

हे पतिप्रिये, मेरे इस कार्य से दूसरे को अवश्य क्लेश होगा, ऐसा विचारकर मैंने अपनी स्वार्थसाधन की बुद्धि का कभी उच्छेद न करके तुम्हें इतने समय तक जो परिवर्तनरूपी श्रम में पहुँचाया, उसीसे आवश्यकता से अधिक तुम मेरी सेवा कर चुकी हो, अतः उतनी ही रहे। अब तो तप, जप आदि कर्तव्यरूपी भ्रान्ति के दूर चले जाने पर तुम मेरा उपकार नहीं कर सकती, इसलिए तुम्हें श्रम देना मैं उचित नहीं समझता। मैं तुम्हारे साथ मन्त्ररूपी जंगल में तथा क्रियासे साध्य होनेवाली छोटी-छोटी सिद्धियों के पथ पर बहुत दिनों तक भटकता रहा ॥२६, २७॥ हे सखि, मैंने अनेक धर्मस्थान देख लिये, अब विश्राम ले रहा हूँ – यह कहकर राजा शिखिध्वज ने अक्षमाला आग में उस तरह फेंक दी, जिस तरह प्रलयकालाग्नि में पवन आकाश की नक्षत्रमाला (ॾ) फेंक देता है ॥२८॥ हे मृगचर्म, मनुष्यरूपी मृग मैंने जंगली मृग से प्राप्त हुए तुम्हें बहुत दिनों तक अपने अज्ञान से इस कुशासन के ऊपर बिछाया,

---

(ॾ) नक्षत्रमाला की उपमा से मालुम पड़ता है कि यह अक्षमाला स्फटिक की थी।

अब यही तुम्हारा उपकार मेरे जीवन में सदा के लिए बना रहे। अब तुम अपने मूलकारण माया स्वभाव के लिए चले जाओ, तुम्हारे अवान्तर कारणप्रविलयस्वरूप मार्ग तुम्हें कल्याणदायक हों। तुम सफेद बिन्दुओं से चित्रित हो, अतः अग्नि के रास्ते तुम आकाशस्वरूप में मिल जाओ, यह आकाश भी तुम्हारे ही सदृश सफेद चमकीले तारों से चित्रित है, यह कहकर उस राजाने कुशासन से उस मृगचर्म को खींचकर अपने दोनों हाथों से अग्नि में उस तरह छोड़ दिया, जिस तरह प्रलयकालीन वायु पर्वतों को समुद्र से खींचकर दावाग्नि में छोड़ देता है ॥२९-३१॥

अब कमण्डलु छोड़ने की इच्छा कर रहे राजा शिखिध्वज अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए उसकी प्रशंसा करते हैं।

हे साधो कमण्डलो, तुम सुन्दर गोल-मटोल आकार से युक्त बनकर मेरे लिए जल रखते रहे। तुम्हारी इस सुन्दर मैत्री और स्थिर सौजन्य का मैं अच्छी तरह प्रत्युपकार न कर सका - बदला न चुका सका। सम्पूर्ण साधुत्व का परम आस्पद तुम्हीं हो। हे मित्र, जिस अग्निपथ से देह को शोधित कर मेरे पास आये हो, उसी पथ से फिर चले जाओ। मित्र, तुम्हारे मार्ग सुखदायक हों। यह कहकर उसी समय राजा शिखिध्वज ने श्रोत्रिय ब्राह्मण को कमण्डलु दे दिया (🔔)। जो कोई अच्छी वस्तु हो, वह किसी महात्मा को दे देनी चाहिए या अग्नि में जला देनी चाहिए, ऐसा नियम है। हे आसन, जिस तरह मूर्ख पुरुष की बुद्धि अधोगति के हेतु प्रच्छन्न पाप में गिरती है, उसी तरह तुम भी सदा अपने से प्रच्छन्न अधोदेश में ही गिरते हो, इसलिए हे आसन, तुम्हारी भी वही दाहसन्तापगति उचित है, अतः भस्मरूप हो जाओ, यह कहकर उस राजाने उस कोमल आसन को चित्त की शुद्धि के लिए तथा ब्रह्मचैतन्य में विश्रान्ति के लिए धधकती आग में छोड़ दिया ॥३२-३७॥ हे साधो, जो वस्तु त्याज्य है उसका सदा शीघ्र त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि विद्यमान उन सभी वस्तुओं से संग्रह करने योग्य दूसरी वस्तु में भी विस्तार किया जाता है, ऐसी लोक में वस्तुस्थिति प्रसिद्ध है; इसलिए मैं इन सभी वस्तुओं को शीघ्र ही आग में छोड़ देता हूँ। यदि इन सबको आग एक ही बार में जला देती है, तो मेरे सर्वत्यागरूपी सन्तोष के लिए बिलकुल ठीक है ॥३८,३९॥ हे साधो कुम्भ, मैं निष्क्रिय होने के लिए क्रियोपयोगी सभी वस्तुओं को छोड़ रहा हूँ, इसलिए मेरे द्वारा किये गये सर्वत्याग के विषय में मित्र, तुम खेद न करना; क्योंकि इस संसार में अयोग्य वस्तु को (बिना काम के पदार्थ को) कौन ढोते-फिरता है - अयोग्य की कहीं पूछ नहीं रहती। हे श्रीरामजी, यह कहकर सम्पूर्ण भोजनपात्र आदि उस भाण्डसमूह को, जो वनवासविलास के योग्य था, एक ही साथ आग में राजाने उस तरह हवन कर दिया, जिस तरह धधक रही कल्पान्त की आग में काल सम्पूर्ण संसार को एक ही साथ हवन कर देता है ॥४०,४१॥

बानबेवाँ सर्ग समाप्त

(🔔) राजा शिखिध्वज ने अग्नि में शुद्ध करके किसी एक श्रोत्रिय ब्राह्मण से वह कमण्डलु लिया था, अब फिर अग्नि में उसे शुद्ध करके किसी एक दूसरे श्रोत्रिय ब्राह्मण को दे दिया, यह 'येनैव' इत्यादि से मालूम पड़ता है।

तिरानबेवाँ सर्ग

सारी सामग्री जलाकर छोड़ देने के लिए तैयार राजा शिखिध्वज को रोककर
कुम्भ द्वारा चित्तत्याग के लिए उपदेश देना।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इसके बाद उठकर राजा शिखिध्वज ने अज्ञानी अपने मिथ्याभूत मन से संकल्प द्वारा समर्थित उस कुटीरूप शुष्क तृणमन्दिर को जला दिया। जो कुछ वस्तुएँ वहाँ बच गयी थीं उन सबको – शांतचित्त मौनी उस राजा शिखिध्वज ने क्रमशः समान बुद्धि से युक्त होकर – जला डाला, इधर-उधर फेंक दिया, किसी को दे दिया तोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया। हे श्रीरामजी, आपसे क्या कहूँ, अन्त में उसने अपनी लँगोटी तथा भोजनपात्र को भी नहीं रहने दिया। राजा शिखिध्वज के उस आश्रम से, जहाँ अनेक जन पहले देखे गये थे, आज वे सब लोग विलुप्त हो गये; वह वीरभद्र के बल से ध्वस्त दक्ष के यज्ञ के आश्रम के सदृश हो गया। वे मृगों के झुण्ड जुगाली छोड़-छोड़कर आश्रम से उस प्रकार भागने लगे, जिस प्रकार अग्निदाह से युक्त किसी श्रेष्ठनगर से अत्यन्त भयभीत होकर मनुष्य भागने लगते हैं। सूखी लकड़ी के साथ जब वह सम्पूर्ण पात्र आदि अग्नि में जल रहा था तब देहमात्र अवशिष्ट, स्नेहशून्य और सन्तुष्ट राजा बोलने लगा ॥१-६॥

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, अहो, चिरकाल के बाद आपसे ज्ञान पाकर सब वस्तुओं में ममता छोड़कर अब में सर्वत्यागी बनकर स्थित हो गया हूँ। अब मैं केवल, शुद्ध सुख से सम्पन्न ज्ञानवान् हो गया हूँ। ममतासंकल्पप्रयुक्त संग्रहक्रम जिसमें उपस्थित है, ऐसा यह सब सामान किस काम का ? कहने का तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थ में कुछ सार नहीं है वह पास में रखने योग्य नहीं है ॥७,८॥

वस्तुओं के त्याग से जो सुख हुआ, उसका अभिनय कर रहे राजा शिखिध्वज कहते हैं।

ज्यों-ज्यों विविध बन्धन के हेतु विषय छूटते जाते हैं, त्यों-त्यों मेरा मन परम आनन्द को प्राप्त होता जाता है। हे भगवन्, मैं शान्ति प्राप्त कर रहा हूँ, परमानन्द स्वरूप को प्राप्त कर रहा हूँ और विजयी हो रहा हूँ, अतः मैं अब खूब सुखी हूँ। मेरे विविध बन्धन नष्ट हो चुके। अब मैंने सर्वत्याग किया। हे देवपुत्र, देखिये, अब मैं दिगम्बर हूँ, दिक्सदन हूँ और दिशाओं के समान यह स्थित हो गया हूँ। कहिए, महात्याग करने से अब और अधिक क्या बाकी बचा है ? ॥९-११॥

बाह्य पदार्थों के त्यागमात्र से, भ्रान्ति से बालक की नाईं, उस राजा शिखिध्वज के सर्वत्यागजन्य सुखाभिनय को न सह रहे कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, शिखिध्वज, अभी आपने सभी पदार्थों का अच्छी तरह त्याग नहीं किया। सर्वत्यागजन्य परमानन्द में झूठ-मूठ का अभिनय मत कीजिए। सबसे उत्तम भाग का तो अभी आपने त्याग ही नहीं किया, जिसका त्याग कर आप परम निःशेष विशोकता को प्राप्त होंगे। महाराज श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे महाबाहो, हे राजीवलोचन श्रीरामजी, यह सुनकर उस महीपति ने कुछ सोचकर यह कहा। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, इन्द्रियरूपी दुष्ट साँपों के समूह से युक्त तथा रक्त-मांसमय आकारवाला यह मेरा शरीर अभी सर्वत्याग में बाकी रह गया है, इसलिए फिर उठकर बिना विघ्न के इस शरीर को भृगुपात से विनाशरूपता में पहुँचाकर मैं सर्वत्यागी हो रहा हूँ। महाराज वसिष्ठजी

ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यह कहकर अपना शरीर छोड़ने के लिए सामने स्थित खन्दक में गिरने के लिए ज्यों ही राजा शिखिध्वज उठ कर झोंक से बढ़े, त्यों ही कुम्भ ऋषि बोले। कुम्भ ऋषि ने कहा : हे राजन्, क्यों इस निरपराधी देह को इतने बड़े भयंकर खंदक में छोड़ रहे हैं। आप तो, उस अज्ञानी क्रोधी बैल के सदृश मालूम पड़ते हैं, जो अपने बछड़े को ही मारता है ॥१२-१८॥

शरीर का कोई अपराध नहीं है, यह दिखलाते हैं।

यह बेचारा तपस्वी शरीर तो जड़ और मूकात्मा है। इसने आपका कोई अपराध नहीं किया है, अतः व्यर्थ ही इस शरीर का त्याग मत कीजिये। यह मूकात्मा अपने आत्मा में ही ध्यानवान् होकर अवस्थित रहता है। यह दूसरे के ही द्वारा उस तरह संचालित किया जाता है, जिस तरह तरंग से काष्ठ ॥१९,२०॥

जिसका अपराध है, उस अन्य व्यक्ति को दिखलाते हैं।

जैसे एकान्त में अवस्थित तपस्वी को उन्मत्त चोर बलपूर्वक बारबार क्षोभ पहुँचाता है, वैसे ही इस आत्मा को भी कोई दूसरा ही बार बार बलपूर्वक उन्मत्त चोर क्षोभ पहुँचाता है, अतः वही दण्ड देने योग्य है ॥२१॥

सुख और दुःख की उत्पत्ति का स्थान होने से शरीर अपराधी क्यों नहीं है, इस पर कहते हैं।

सुख, दुःख आदि का उद्भवस्थान होने मात्र से शरीर अपराधी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें दृष्टान्त है-फलवान् वृक्ष। वायु द्वारा आत्मस्पन्दन (फल आदि का पतन) होनेपर फलवान् वृक्ष के अभिमानी आत्मा का कोई अपराध माना नहीं जा सकता। स्पन्दनशील वायु ही, फल, ऊपर के पल्लव, पुष्प आदि को बलपूर्वक गिरा देता है, इसलिए वायु का ही अपराध मानना चाहिए, बेचारे साधु वृक्ष का क्या अपराध ? बस, इसी तरह साधु शरीर ने साधु आत्मा का कौन अपराध किया ? ॥२२,२३॥

हे कमलनेत्र, शरीर का त्याग करने से भी तुम्हारा सर्वत्याग सिद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि वह विषम है अर्थात् देहत्यागरूप सर्वत्याग करनेपर अधिकारी देह न मिलने के कारण ज्ञान की सम्भावना हो ही नहीं सकती, इसलिए उसका त्याग करना नितान्त अयोग्य है। हे साधो, आप निरपराधी इस शरीर को व्यर्थ ही खन्दक में फेंक रहे हैं, क्योंकि देह छोड़ देने पर देहक्षोभक अहंकार का त्याग सिद्ध नहीं होता। मत्त हाथी जैसे वृक्ष को क्षुब्ध करता है वैसे ही देह आदि सब कुछ अपने-आप परित्यक्त हो जाता है। यदि उसका परित्याग नहीं करते, तो भृगुपात आदि से नाशित भी देह आदि उस देहक्षोभक जन्मादि के हेतु पापात्मा अहंकार से बार-बार उत्पन्न होता ही रहेगा। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे सुन्दर, यह देह किसके द्वारा चलित होती है, जन्मादिविकारों का बीज क्या है, और किसका त्याग कर देने पर सब कुछ परित्यक्त हो जाता है ? कुम्भ ऋषि ने कहा : हे साधो, हे राजन्, देह के त्याग से, राज्य के त्याग से और कुटिया नष्ट कर देने से सर्वत्याग सिद्ध नहीं होगा। परन्तु जो समस्त वासनाओं का आश्रय होने के कारण सर्वात्मक है, सब विषयों में जिसकी पहुँच होने के कारण जो सर्वव्यापी है, उस संकल्प के द्वारा सबके एकमात्र कारणभूत सर्वात्मा का परित्याग कर देने पर सर्वत्याश सिद्ध होगा ॥२४-३०॥ राजा शिखिध्वज ने कहा : हे सर्व तत्त्वविदों में श्रेष्ठ ऋषे, सब जगह छोड़ने योग्य और सर्वदा त्यागने योग्य जो सर्वगत सर्वात्मक वस्तु है, वह सर्वात्मक वस्तु कौन कही जाती है, उसे कहिए ॥३१॥ कुम्भ ऋषि ने कहा : हे साधो, सर्वव्यापी आकारवाला तथा जीव, प्राण आदि नामवाला (चिति की प्रधानता से

जीवनामवाला और क्रिया की प्रधानता से प्राणनामवाला) जो चित्त है, यह सर्वशब्द से कहा गया है। यह चित्त न जड़ है, न अजड़ है, किन्तु अनेक भ्रमों से व्याप्त है। हे राजन्, आप चित्त को ही भ्रम जानिये, चित्त को ही व्यवहार करनेवाला पुरुष समझिये और चित्त को ही जगज्जाल जानिए। यह चित्त ही सर्वात्मक वस्तु कही गयी है। हे महीपते, जिस तरह वृक्ष का बीज वृक्ष है उसी तरह यह मन राज्य आदि, देह आदि तथा आश्रम आदि सबका बीज है। हे भूप, सबके बीजभूत उस मन का त्याग हो जाने पर सबका बिलकुल त्याग हो जाता है। उसके त्याग से सर्वत्याग का संभव है और उसके अत्याग से सर्वत्याग का संभव नहीं है। हे राजन्, समस्त धर्म या अधर्म, राज्य या जंगल आदि – ये सब सचित्त पुरुष के लिए केवल दुःखरूप ही हैं और चित्तहीन पुरुष के लिए तो ये सबके सब परम सुखस्वरूप हैं। सम्पूर्ण जगत् तथा देहादि आकार के समूहरूप से यह सब चित्त ही उस तरह परिणत होता है, जिस तरह वृक्षरूप से बीज परिणत होता है। जिस तरह पवन से वृक्ष, भूकम्प से पर्वत और लोहार से धौंकनी संचालित होती है, उसी तरह चित्त से यह देह संचालित होती है। सम्पूर्ण जीवों के उपभोग, जरा, मरण आदि देह के धर्मों और महामुनियों के शम, दम आदि धर्मों की सुदृढ़ पिटारी आप चित्त को ही जानिये। हे राजन्, जगत् तथा देहादि आकार के समूहरूप से यह सब चित्त ही परिणत होता है। चित्त ही मनोमय जीव है। तात्पर्य यह है कि अशान्त चित्त ही मनन करने से मनोमय और आभ्यन्तर प्राण की चेष्टा से जीव बनकर बाहर स्थूल शरीर तथा शारीरिक व्यवहारादि आकार के समूहरूप से परिणत होता है। वही अन्तःकरण शान्त, बुद्धि, महत्त्,अहंकार, प्राण और प्राज्ञात्मा इत्यादि क्रिया के अनुरूप नाम–व्यापारों से लोक में कहा जाता है। हे महीपते, चूँकि चित्त ही सब कुछ कहा गया है, अतः उसके त्यक्त हो जाने से समस्त आधि और व्याधि की सीमा का विनाशरूप सर्वत्याग सिद्ध हो जाता है ॥३२–४२॥ हे त्यागविदों में श्रेष्ठ राजन्, चित्त के त्याग को सर्वत्याग कहते हैं, इसलिए हे महाबाहो, उसके सिद्ध हो जाने पर परमार्थभूत भूमानन्दस्वरूप सत्य पदार्थ का क्या अनुभव नहीं होता ? अर्थात् अवश्य ही होता है। चित्त के त्यक्त हो जाने पर कार्यविभाग के आविर्भाव की परम्परारूप द्वैत और कारण में तिरोभाव का क्रमरूप ऐक्य भी चारों ओर से लय को प्राप्त हो जाता है और परम शान्त, स्वच्छ तथा निरामय एक पद अवशिष्ट रह जाता है। चित्त को ही इस संसाररूपी धान का खेत कहते हैं। यदि खेत अखेतरूप में परिणत हो जाय तो धान की उत्पत्ति कहाँ से होगी ? विचित्र चेष्टाओं से युक्त यह चित्त ही भाव और अभाव का आकार धारण करनेवाले पदार्थों के रूप से उस तरह परिणत होता है, जिस तरह जल तरंगरूप से परिणत होता है। हे भूपते, चित्तनाशरूप सर्वत्याग से सर्वदा सब कुछ अच्छी तरह ऐसे प्राप्त किया जा सकता है, जैसे साम्राज्य से ॥४३–४७॥

वह सर्वत्याग परिच्छिन्न आत्मा का ग्रहण करने पर सिद्ध नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

हे त्यागी राजा, परिच्छिन्नात्मक आपके सर्वत्याग का विषय जैसे अन्य है, वैसे ही आपको त्याग देनेवाले किसी दूसरे त्यागी के त्याग के विषय आप भी हैं। ऐसी दशा में त्याज्य का ही आत्मरूप से आप ग्रहण कर रहे हैं, इसीसे आपका सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता ॥४८॥

अपरिच्छिन्न आत्मा का ग्रहण करने पर तो आप ही सब की आत्मा ठहरते हैं, इसलिए किसी दूसरे के द्वारा आपका त्याग न होने के कारण त्याज्यकोटि में अप्रविष्ट आप जब सर्वत्याग करने लगेंगे, तब

सबको आपने अधीन बनाकर ग्रहण कर ही लिया, यह कहते हैं।

जैसे मुक्ताफल सूत को अपने अन्दर कर लेता है वैसे ही जिसने सर्वत्याग किया है उसने तीनों काल के समस्त जगत् को अपने भीतर कर लिया है ॥४९॥

जो सब छोड़ रहा है उसने तो सबकी शून्यता ही मान ली, फिर सब उसके अधीन बनकर लब्ध कैसे होंगे, इस पर कहते हैं।

जिसने सर्वत्याग किया है उस शून्यस्वरूप में, तन्तु में मोतियों की तरह, तीनों कालों में अवस्थित सम्पूर्ण जगत् अवस्थित है। निष्कर्ष यह है कि सब कुछ छोड़कर वह त्यागी यद्यपि सर्वशून्यस्वरूप हो गया है, तथापि उसके द्वारा छोड़ा गया जगत्-अन्य आश्रय न मिलने के कारण – उसीका आश्रय कर व्यवहारपर्यन्त सत्तास्फूर्ति प्राप्त करता है, इसलिए व्यवहारियों की दृष्टि से त्रिकाल में रहनेवाले सब पदार्थों को वही प्राप्त करता है, यों कहा जाता है ॥५०॥

इसीलिए सर्वत्याग होने पर सबका बाध हो जाने के कारण परमार्थदृष्टि से आत्यन्तिक स्नेह का क्षय होने से बुझे हुए दीपक का दृष्टान्त तथा सर्वगतस्वरूप की ज्योति से सम्पूर्ण व्यवहारों का प्रकाश होने के कारण व्यवहारदृष्टि से तैलसहित दीपक का दृष्टान्त कहते हैं।

तैलरहित दीपक की नाईं निर्वाणपद को प्राप्त हुए जिसने अनासक्ति से सबको छोड़ दिया, तैलसहित दीपक की नाईं प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप उसने सबको प्रकाशित किया। प्रतीयमान सबका परित्याग करके जो तैलरहित दीपक की नाईं निर्वाणपद में अवस्थित रहता है, सर्वरूप प्रकाशात्मा वह तैलसहित दीपक की नाईं प्रकाशता है ॥५१,५२॥

सर्वत्याग में शून्यतापत्ति का वारण करते हैं।

राज्यादि सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग कर देने पर जैसे अकेले आप अवशिष्ट रह गये हैं वैसे ही सबका त्याग कर देने पर विज्ञानात्मा ही एक अवशिष्ट रह जाता है ॥५३॥

परिशिष्ट चिति अपने से अतिरिक्त है, अतः उससे अपना कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होता है, इस पर कहते हैं।

हे राजन्, समस्त वस्तुओं के जल जाने पर भी जैसे आप अन्य नहीं हुए, वैसे ही सर्वत्याग से होनेवाला परम पुरुषार्थरूप मोक्ष भी आपसे भिन्न नहीं होगा, ऐसा हम कहते हैं ॥५४॥

पुरुषार्थ के परित्यक्त सब प्रपंचों से शून्य होने पर भी सम्पूर्ण संविदों का उसमें अन्तर्भाव है ही, इसलिए उसमें जाड्य की प्रसक्ति नहीं है, यह कहते हैं।

समस्त प्रपंचों का त्याग कर देने पर शून्यात्मक हुआ वह चितिस्वरूप मोक्ष सम्पूर्ण संविदों (ज्ञानों) का आश्रय उस प्रकार है, जिस प्रकार अनन्त, उदार, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि देवतों का आश्रयस्थान यह आकाश है। सर्वत्यागरूपी रस का थोड़ा भी आस्वाद लेने पर पुरुष को जरा-मरण की भीतियाँ उस तरह किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचातीं, जिस तरह असंग और उदासीन आकाश को कोई भी टँकियाँ (छेनीयाँ) किसी तरह की बाधा नहीं पहुँचातीं। हे राजन् जिससे निर्मल स्वरूपस्फूर्ति प्राप्त होती है उस महत्त्व का कारण सर्वत्याग ही है। चूँकि आप सबका त्याग कर रहे हैं, इसीलिए आपकी बुद्धि में बहुत भारी स्थिरता आ रही है। सर्वत्याग ही परमानन्द है, इसके

अतिरिक्त और सब कुछ भयंकर दुःखरूप है – इसे विचारपूर्वक ॐ यों स्वीकार कर आप उसी का आचरण कीजिए, जिसे चाह रहे हैं ॥५५-५८॥

सर्वत्याग में वैभव की हानि होती है, इसका खण्डन करते हैं।

जो पुरुष सबका त्याग कर देता है उसके पास प्रारब्ध द्वारा सम्पूर्ण विभव-समूह उस तरह उपस्थित होता है, जिस तरह ज्यों-ज्यों वड़वाग्नि में जल प्रविष्ट होता है, त्यों-त्यों समुद्र में नदियों से जल आता ही रहता है। अज्ञान और उसके कार्य का जो त्याग है उसके भीतर आत्मप्रसादक ज्ञान अवश्य उपस्थित रहता है। हे राजन्, यह प्रसिद्ध है कि पात्र के भीतर जो शून्य स्थान होता है वहीं रत्नादि रहता है। अत्यंत पापिष्ठ कलिकाल में भी वेदों से बहिष्कृत होने के कारण अति नीच भी वह शाक्य मुनि सर्वत्याग के कारण ही निःशंक होकर सुमेरु के समान अवस्थित था। हे राजन्, तब तो इस पुण्यमय द्वापर काल में वेदमार्ग का अवलम्बन करनेवाले पुण्यतम आपको निःशंक होकर आकाश के समान अवस्थित रहना ही चाहिए, इस विषय में अधिक हम क्या कहें ॥५९-६१॥ हे महाराज, सर्वत्यागसम्पूर्ण सम्पत्तियों का निवासस्थान है, क्योंकि जो कुछ नहीं लेता उसे सब कुछ दिया जाता है। हे भूपते, सबका परित्याग करके शान्त, स्वस्थ और आकाश के समान सौम्य जो रूप आप हो रहे हैं तद्रूप ही हो जाइये। हे भूमिपाल, आप पहले जो त्याज्य पदार्थ हैं उन सबका मनसे परित्याग कर, अनन्तर जिस मन से परित्याग कर रहे हैं उस मन का त्यागकर उसके बाद त्यागाभिमानरूप अहंकार मल का भी त्यागकर जीवन्मुक्तरूप हो जाइये ॥६२-६४॥

तिरानबेवाँ सर्ग

चौरानबेवाँ सर्ग

चित्त का परित्याग करने के लिए उसके मूल की परिशुद्धि करने पर
देह आदि वेद्य पदार्थों का बाध और तदनन्तर पूर्ण चिति का अवशेष यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह चित्त के परित्याग का उपाय कुम्भ ऋषि के बतलाने पर अपने अन्तःकरण में बार-बार विचार कर रहा वह सौम्य राजा शिखिध्वज यह वचन बोला। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, हृदयरूपी आकाश का पक्षी और अन्तःकरणरूपी वृक्ष का बन्दर यह मन बार-बार मेरे द्वारा दूर कर दिये जाने पर भी फिर समीप में आ ही जाता है। हे उत्तम, जाल जैसे व्याकुल मछली पकड़ लेता है वैसे ही इस चित्त को पकड़ लेना तो मैं जानता हूँ, परंतु इसका त्याग मैं द्रव्य की नाईं इसमें मूर्तत्व का अभाव होने से, नहीं जानता। हे भगवन्, सबसे पहले तो आप मुझसे चित्त का क्या स्वरूप (त्याग के योग्य निष्कृट सामान्यरूप) है, यह ठीक-ठीक कहिये। इसके बाद हे प्रभो, चित्त के परित्याग की यथावत् विधि बतलाइये ॥१-४॥

कुम्भ ऋषि उसीको कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे महाराज, वासना ही चित्त का स्वरूप है, यह जान लीजिये। चित्तशब्द तो वासना का पर्याय कहा गया है। उसका त्याग अत्यंत सुकर है यानी केवल उदासीनता का अवलम्बन करनेमात्र से उसकी सिद्धि हो जाती है, अतएव स्पन्दन की अपेक्षा भी वह सुखसाध्य है, राज्य की अपेक्षा उसमें

अधिक आनन्द है और कुसुम की अपेक्षा अधिक सुन्दर भी है ।।५,६।।

तब क्यों उसका सब लोग सम्पादन नहीं करते, इस पर कहते हैं।

मूर्ख के लिए तो चित्त का परित्याग करना उतना दुःसाध्य है, जितना पामर के लिए साम्राज्य और तृण के लिए सुमेरुरूपता प्राप्त करना दुःसाध्य है ।।७।। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, आपके वचन से चित्त का स्वरूप वासनामय तथा विविध उपद्रवोपपादक है, यह तो जानता हूँ, परंतु उसका परित्याग वज्र को निगल जाने की अपेक्षा भी अत्यंत दुष्कर मानता हूँ, क्योंकि मूर्खता की स्थिति में उदासीनता का अवलम्बन किसी तरह हो ही नहीं सकता ।।८।। हे मुने, यह चित्त संसाररूपी सुगन्ध युक्त पुष्प और दुःखरूपी दाहजनक अग्नि है तथा जगत् रूप कमल का मृणाल है, मोहरूपी वायु का आकाश है, शरीररूपी यन्त्र का चालक है और हृदयरूपी कमल का भ्रमर है। इसका अनायास त्याग जिस तरह होता हो, वह कहिये। कुम्भ ने कहा : हे साधो, अंकुर, शाखा, पल्लव आदि से युक्त मूलसहित इस चित्त का नाश ही संसार का भी नाश है, वही चित्त का सम्यक् त्याग है। बाह्य पदार्थों के त्याग के सदृश केवल ममता की निवृत्ति चित्त का सम्यक् त्याग नहीं है – ऐसा अपरिच्छिन्न आत्मदर्शियों ने कहा है ।।९–११।।

उक्त अर्थ का विमर्श कर अनुवादपूर्वक उसका अनुमोदन कर रहे राजा शिखिध्वज उसमें उपपत्ति बतलाते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, उत्तम सिद्धि के लिए मैं चित्तत्याग से तो अच्छा चित्तनाश ही समझता हूँ, परंतु सैकड़ों व्याधि का मूलस्थान इस चित्त का अभाव कैसे अनुभूत होता है सो कहिए अर्थात् चित्त एक तरह की व्याधि है और व्याधि का अभाव सैकड़ों बार ममतानिवृत्तिरूपी त्याग से किसी तरह दूर हुआ अनुभूत नहीं होता, किंतु चिकित्सा द्वारा नाश कर देने से ही अनुभूत होता है अतः उसके विनाश के लिए उसके मूल, शाखा और पल्लव आदि सब कहिए ।।१२।। कुम्भ ने कहा : हे राजन्, शाखा, फल और पल्लवों से युक्त चित्तरूपी वृक्ष का अज्ञात आत्मा ही बीज है। अतः आप समूल उस वृक्ष को उखाड़ फेंकिये और अपना हृदय आकाश के सदृश आवरणशून्य बना डालिये ।।१३।। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, चित्त का मूल क्या है, अंकुर क्या है और इसका कौन–सा खेत है। इसकी शाखाएँ और स्कन्ध कौन हैं तथा यह भी कहने की कृपा कीजिये कि यह समूल कैसे उखाड़ कर फेंक दिया जाता है ।।१४।। कुम्भ ने कहा : हे महामते, अहमर्थ से – अज्ञातात्मा से उदित जो यह हृदयवेदनात्मक अभिमानी प्रसिद्ध है, वही इस चित्तरूपी वृक्ष का बीज (मूल) है, इसे आप जान लीजिये ।।१५।। परमात्मा की माया ही इस मायामय प्रपंच का खेत है। चूँकि सब मायामय प्रपंच का खेत वह है, इसलिए इस चित्त का भी वही खेत है। परमात्मपद यानी माया, यह भाव है। *(इसका कौन अंकुर है, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।)* इस प्रथम उत्पन्न मूल से परिच्छिन्न 'मैं' इस तरह का निश्चयरूप, चिदाभास से व्याप्त होने के कारण, अनुभव ही इसका अंकुर होता है ।।१६।।

उस अंकुर की ही वृद्धि से चित्तरूपी वृक्ष के रूप में परिणति होती है, यह कहते हैं।

निर्विकार निश्चयात्मक जो अनुभव है वही बुद्धि कही जाती है। इस बुद्धिनामधारी अंकुर की जो संकल्पस्वरूप पीनता (स्थूलता) उत्पन्न होती है उसका चित्त और मन नाम पड़ा हुआ है। परमार्थतः विकाररहित होने से सर्वविकारशून्यस्वरूप अतएव पत्थर की उपमावाला यानी पत्थर के सदृश तथा

मिथ्याभूत चित्त और चित्त के धर्मों के सम्बन्ध का जो साक्षी है वही इसका साक्षी है। इसका स्तम्भ यानी मूल से लेकर शाखापर्यन्त मध्य-प्रदेश यह शरीर ही है, जो कि नाड़ियों, हड्डियों और रसों-(रक्तों) से रंजित है। मूलस्तम्भप्रदेश से आगे प्रदेश में स्कन्ध, शाखा आदि के प्ररोह के लिए अंकुरारम्भ करने की इच्छा होने पर वसन्तादिकाल की नाईं तत्-तत् भोगप्रद कर्मों के परिपाक काल में राग, द्वेष, प्रवृत्ति आदि अंकुर, पल्लव आदि के आकार में जोर से स्पन्दित होता है वह इसकी वासना ही है। इस चित्तरूपी वृक्ष की जो लम्बी-लम्बी दूर तक पहुँची हुईं विस्तृत शाखाएँ हैं वे तो इन्द्रियाँ हैं और जन्म-मरणात्मक हजारों अनर्थों के कारण शुभ और अशुभरूप फलों से परिपूर्ण जो तुच्छ भोग हैं वे इसकी बड़ी-बड़ी अवान्तर शाखाएँ हैं। इस तरह के इस दुष्ट चित्तरूपी वृक्ष की शाखाओं का प्रतिक्षण छेदन (विषयभोगों में आसक्ति का छेदन) कर रहे आप उसके मूल को उखाड़ फेंक देनेवाले आत्मदर्शन में खूब प्रयत्न कीजिए ॥१७-२१॥

अब शाखाओं के छेदन और मूल के छेदन मे उपाय पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, चित्तरूपी वृक्ष की शाखा आदि का छेदन कर रहा मैं उसके मूल का अशेषरूप से छेदन किस तरह करूँ ॥२२॥

शाखाओं के छेदन का उपाय बतलाते हैं।

फल और स्पन्दन आदि से समन्वित विविध वासनाएँ ही चित्तरूपी वृक्ष की शाखाएँ हैं। आसक्ति के परित्याग द्वारा अनुद्बुद्ध की गयी वे वासनारूपी शाखाएँ भीतर सदसद् विचार जनित संवित्ति के बल से विच्छिन्न हो जाती हैं ॥२३॥

उक्त अर्थ का ही जीवन्मुक्तों में लक्षणरूप से दिग्दर्शन कराते हैं।

जिसका मन किसी विषय में आसक्त नहीं है, जिसका अनुचित वाग्व्यापार सर्वदा निवृत्त रहता है, जो जय-पराजय की अभिलाषा से शून्य होकर प्रशान्त वाद विचार में निरत रहता है, जो प्राप्त हुए कार्य को कर डालता है उस पुरुष की चित्तरूपी लता भीतर विच्छिन्न हो जाती है ॥२४॥

शाखाच्छेदन का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर पुरुष मूलोच्छेदन में योग्य हो जाता है, यह कहते हैं।

जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से चित्तरूपी लताओं को कतरता हुआ स्थित रहता है वह मूल का उच्छेद करने के लिए योग्य हो जाता है। चित्त की शाखाओं का छेदन करना तो गौण है और मूल का छेदन करना प्रधान है, इसलिए आप मूल का उच्छेद करने में तत्पर हो जाइये ॥२५,२६॥ हे महाबुद्धे, मुख्यरूप से इस चित्तरूपी करंजवन का निःशेष मूल दाह कीजिए, ऐसा करने से अचित्तता हो जायेगी ॥२७॥

मूलदहन प्रसिद्ध अग्नि से नहीं हो सकता, इसलिए दूसरी अग्नि जानने की इच्छा से राजा पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, अहंभावात्मक चित्तरूपी वृक्ष के बीज के दहन नामक इस कर्म में कौन-सी अग्नि समर्थ होगी अर्थात् चित्तरूपी दुष्ट वृक्ष के बीज को जलाने में कौन अग्नि समर्थ होगी ? कुम्भ ने कहा : हे राजन् 'मैं यह कौन हूँ' इस तरह का आरम्भ से लेकर आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त स्वात्मविचार ही चित्तरूपी निकृष्ट वृक्ष के बीज के दहन में अग्नि कही गयी है ॥२८,२९॥

यद्यपि मैंने अपनी बुद्धि से बाह्य पदार्थों का तथा देह से लेकर अहंकार तक आध्यात्मिक पदार्थों का अनात्मस्वरूप से तथा मिथ्यारूप से ज्ञान कर लिया है तथापि आन्तरिक आत्मतत्त्व का परिचय न होने

से जड़ भी इस अहंकार में पुनः पुनः जो मुझे आत्मताभ्रान्ति हो रही है वह किसी तरह दूर नहीं होती और इसीसे मुझे विश्रान्ति नहीं मिल रही है, यह कहते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, मैंने अनेक बार अपनी बुद्धि से सारे जगत् के विषय में अच्छी तरह विचार कर लिया है – मैं अहंकार नहीं हूँ और न पृथ्वी और उसके अन्तर्गत वनमण्डलादि से मण्डित जगत् ही हूँ। जड़ होने के कारण मैं पर्वत का तट नहीं हूँ, वन नहीं हूँ, पत्र, स्पन्दन आदि नहीं हूँ, देहादि मैं नहीं हूँ, मांस नहीं हूँ, हड्डी नहीं हूँ और रक्त आदि भी मैं नहीं हूँ। मैं न तो कर्मेन्द्रिय हूँ और न ज्ञानेन्द्रिय हूँ। मैं मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ और जड़ होने के कारण न मैं अहंकार ही हूँ ॥३०-३२॥

अहंकार में जड़ता नहीं है, इस शंका का विवर्तत्व हेतु से निवारण कर रहे राजा शिखिध्वज : जड़ में स्वतः सिद्ध होने की शक्ति न होने से चिति के अध्यास से उसकी सिद्धि होने पर उसमें मिथ्यात्व ही अन्त में चलकर आ जाता है – यह कहते हैं।

हे मुने, जैसे सुवर्ण में कटकत्व है यानी सुवर्ण से अलग कटक कोई पदार्थ नहीं है, किंतु सुवर्ण का ही विवर्त कटक है; वैसे ही चिदात्मा में अहन्ता है यानी चिदात्मा से अलग अहन्त्व कोई पदार्थ नहीं है, विवर्त अहन्त्व है और जड़ (शुक्ति-रजत, मृगतृष्णा आदि) तो असद्रूप से प्रसिद्ध हैं ही, इससे यानी जड़त्व हेतु से अहन्त्वादि नहीं है अर्थात् मिथ्या ही हैं ॥३३॥

उक्त ब्रह्माण्ड आदि जड़वर्ग, अधिष्ठान सद्रूप से अन्य होने के कारण भी, असत् है।

आकाश में आकाश से भिन्न दूसरे महावृक्ष की नाईं परमपद चिति में चैतन्य से भिन्न कोई दूसरा ब्रह्माण्ड आदि पदार्थ, अन्यत्वहेतु से ही नहीं रहता। यदि यह कहिये कि ऐसा क्यों, तो इसका उत्तर यह है। ब्रह्माण्डादि जड़ वर्ग-चौदह भुवन आदि अवयवों का आधार तथा समस्त शब्द आदि विषयों का – कारण है और चिदात्मा तो विभागशून्य सत्तासामान्यस्वरूप होने के कारण विभक्तस्वभाव नहीं है ॥३४॥ हे भगवन्, इस तरह अहन्तारूपी मल का परिमार्जन जान रहा भी मैं प्रत्यक् एकरस जो साक्षिचैतन्य है उसको नहीं जानता। यही कारण है कि हे मुने, मैं अधिक दिन से सन्तप्त हो रहा हूँ ॥३५॥

अब एकमात्र परिशेष से ही साक्षिचैतन्य का परिचय दिलाने की इच्छा कर रहे कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे निष्पाप, हे महीपते, आप यदि जड़रूप होने के कारण अहंकारपर्यन्त दृश्यसमूहस्वरूप नहीं हैं तो हे महाबुद्धे, आप जिस रूप के हैं, उस रूप को मुझसे कहिये। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे विद्वर, मैं उस चिन्मात्र स्वच्छ आत्मसंवेदन का स्वरूपभूत हूँ, जिस अज्ञातृत्व, अभोक्तृत्व आदिरूप से प्रसिद्ध अवान्तर अवान्तर कोश परम्परा की अवधिभूत आनन्दैकरस चिन्मात्रस्वरूप के रहते आनन्दशून्य शब्द आदि विषय आस्वादित होते हैं और जिसके बुद्धि वृत्ति पर चढ़ जाने से शब्दादि विषयों में इष्टअनिष्ट विभाग निर्णीत होते हैं। विवेकदृष्टि से पर्यालोचन करने पर ऐसे शुद्धस्वरूप मुझे देह आदि कोशों में अहमभिमानरूप मल लग गया है वह सकारण है या अकारण ? उसे मैं नहीं जानता और न परब्रह्म को ही जानता हूँ ॥३६-३८॥ हे मुने, यह असत्यस्वरूप और आत्मा के साथ तनिक भी सम्बन्ध न रखनेवाले मल को धो डालने में मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ, इसलिए दारुणरूप से मैं सन्तप्त हो रहा हूँ। कुम्भ ने कहा : हे महाबाहो, सत्यस्वरूप हो अथवा असत्यस्वरूप हो, जिस मल के प्रभाव से आप संसारी बनकर बैठे हैं वह लगा हुआ आप

में बड़ा मल क्या है, उसे बतलाइये। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे भद्र, वह मल सत्य है या असत्य, इसे तो नहीं जानता हूँ, परन्तु समस्त अनर्थरूप फल देनेवाले चित्तरूपी वृक्ष का वह मूल है, यों सामान्यरूप से उसे तो मैं जानता ही हूँ, विशेषरूप से भी वह अहंभाव एवं ममभाव रूप है, यों जानता हूँ। इस तरह सामान्य और विशेषरूप से जानता हुआ भी उस मल को छोड़ने के लिए मैं कोई उपाय नहीं जानता। यद्यपि ';अहं, 'मम' बुद्धि के अभाव से उस मल का बार–बार मैंने परित्याग किया, तथापि उसके मूल का उच्छेद न होने के कारण बार–बार आकर वह मुझे लग जाता है, अतः उसके मूल के उच्छेद का उपाय मुझसे कहिए, यह निष्कर्ष है ॥३९–४१॥

'कूटस्थ होने से सत्य वस्तु कारण हो ही नहीं सकती, असत्य वस्तु कारण है', यह कहना तो असत्यभूत कारण में कार्य उत्पन्न हुआ, इस अर्थ में पर्यवसित होकर कार्य की असत्यता को ही सिद्ध करता है। इस तरह पर्यवसित हुए आत्मा के एकत्वरूप रहस्य को राजा की बुद्धि के अनुसार ही समझानेवाले कुम्भ–लोकप्रसिद्धि के अनुरूप अहंकार का कारण आप ही अपनी बुद्धि से खोज कर कहिए – यह कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, जो कार्य कारण से उत्पन्न होता है वह सर्वत्र ही उत्पन्न होगा, क्योंकि भलीभाँति विचार करने से ऐसे कार्य की सत्ता प्रतीत ही नहीं होती ॥४२॥ जैसे अहम्भावरूप कारण से मन आदि रूप संसार का अंकुर कार्य उत्पन्न होता है वैसे अपनी बुद्धि से विचार कर अहम्भावरूप कार्य जिस कारण से होता है वह कारण अब मुझसे कहिए ॥४३॥

इस प्रकार पूछे गये राजा ने बहुत देर तक अपनी बुद्धि से अन्वेषण कर यह निश्चय किया कि देहादि आकृतिओं का परिज्ञान न होने पर उनमें अहन्ताभिमान किसी तरह नहीं हो सकता, इसलिए उनका परिज्ञान ही अहन्ताभिमान में कारण है, यही कहते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, शरीर आदि में अहन्ताभिमानरूप जो दोष है उसका कारण शरीर आदि का परिज्ञान ही है, यह मैं जानता हूँ। हे मुनीश्वर, वह जिस उपाय से शान्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिए। चिति को चेत्योन्मुख बनाकर (दृश्य की ओर आकृष्ट कर) अहम्भाव से अवस्थित हुए ये देह आदि केवल दुःख के लिए ही तत्पर हैं, इसलिए हे मुनीश्वर, चेत्योन्मुखताजनित दुःख की शान्ति के लिए चेत्यवर्ग की जिस उपाय से शान्ति होती हो, वह मुझसे कहिये। कुम्भ ने कहा : साधो, 'चिति की चेत्योन्मुखता में देह आदि वेद्य पदार्थ ही कारण हैं' इस प्रकार का कारणज्ञान आप यदि रखते हैं, तो आप मुझे शीघ्र बतलाइये कि वह आपका अभिमत कारण कौन है ? तदनन्तर आपका अभिमत कारण जिस क्रम से अकारणरूप ही बन जायेगा उस क्रम को मैं आपसे कहूँगा ॥४४–४६॥

स्पष्टीकरण के लिए पूछे गये अर्थ का फिर अनुवाद करते हैं।

सामान्यतः विषयज्ञान का स्वरूप और विशेषतः विषयज्ञान का स्वरूप–इन दोनों के प्रति मिथ्या होने से कारणता के लिए सर्वथा असमर्थ ही विषय कारणता को प्राप्त हुआ है, इसलिए यहाँ पर जो आपका अभिप्रेत कारण है, उसे कहिए ॥४७॥

पूछे जाने पर राजा शिखिध्वज अपना अभिप्रेत बतलाते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, सामान्यतः विषयज्ञान का स्वरूप और विशेषतः विषयज्ञान का

स्वरूप – इन दोनों के प्रति यह देह आदि बाह्य आध्यात्मिक पदार्थ–सत्ता ही यहाँ कारण है ॥४८॥

ज्ञान के प्रति देह आदि की सत्ता कैसे कारण होगी, इस पर कहते हैं।

असत्यरूप से भासित होनेवाली शरीर आदि वस्तु की सत्ता से ज्ञान ऐसे उत्पन्न होता है (📖) जैसे वायु की लेखा से वृक्षादि में संचलन। अहन्ताज्ञानस्वरूप चित्त का बीज जिस रीति से देहादिसत्ता में असत्त्व मैं नहीं जानता (अतः वह असत्त्व जिस रीति से जाना जाता हो, उस रीति का मुझे उपदेश दीजिए, यह प्रकृत में राजा का भाव है) ॥४९,५०॥

इस तरह पूछे गये कुम्भ – विषयाकार से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, इस तरह का जो भ्रम राजा शिखिध्वज के हृदय में बैठा हुआ है उसका निवारण करने के लिए देहादि दृश्य पदार्थों में सत्त्व नहीं है, यों प्रतिज्ञा करते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, यदि देहादि वस्तुओं की सत्ता रहती तब तो आपका अभिमत ज्ञान अपने निमित्तभूत देहादि आकारवाला होता यानी देहादि आकार से ज्ञान की उत्पत्ति होती, किन्तु देहादि की सत्ता का अभाव होने से वह ज्ञान किंविषयक होगा ? अर्थात् जब देह आदि की सत्ता ही नहीं है तब उस ज्ञान का विषय होगा ही कौन ? अर्थात् ज्ञान निर्विषयक ही होगा ॥५१॥

प्रत्यक्ष उपलब्ध हो रहे देहादि का आप कैसे अपलाप करते हैं ? यों राजा शिखिध्वज पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, जिस पदार्थ का प्रत्यक्षात्मक कोई एक स्वरूप उपलब्ध हो रहा है वह असत्स्वरूप कैसे है ? *(सद्रूप से उपलब्ध हो रहे पदार्थ में असत् की प्रतिज्ञा विरुद्ध है – इसको दृष्टान्त से भी बतलाते हैं।)* आप कहिये तो, प्रकाश भला तम कैसे हो सकता है ? ॥५२॥ हे मुने, हाथ, पैर आदि से संयुक्त तथा क्रिया–फलरूप विलास आदि से समन्वित सदा हम लोगों से अनुभूत हो रहा यह शरीर कैसे नहीं है ? ॥५३॥

भ्रान्तिग्रस्त उपलब्ध हुए पदार्थों में व्यभिचार होने के कारण एकमात्र उपलब्धि से दृश्य पदार्थों की सत्ता का निर्णय नहीं किया जा सकता, किन्तु कारणों के विद्यमान रहते जिस कार्य की उपलब्धि होती है उसीकी सत्ता मानी जाती है और वे कारण इसमें विद्यमान नहीं हैं, यह कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे भूमिपाल, इस संसार में जिस कार्य का कारण विद्यमान नहीं है वह कार्य भी अपना अस्तित्व नहीं रखता, फिर उसका ज्ञान तो विभ्रम ही है ॥५४॥ बिना कारण के यह शरीररूपी कार्य नहीं रह सकता। जिस द्रव्य का बीज नहीं है उसकी उत्पत्ति कहाँ कभी होती है ? ॥५५॥ हे राजन्, बिना कारण के जो कार्य सामने सत् की नाईं अनुभूत होता है उसे मृगतृष्णाजल के सदृश देखनेवाले के विभ्रम से उत्पन्न समझिए ॥५६॥ मिथ्याभ्रम से उदित हुए शरीर आदि को आप अविद्यमान ही जानिये, क्योंकि अत्यधिक यत्नशील मनुष्य को भी यह मृगतृष्णाजल लब्ध नहीं होता ॥५७॥

तब क्या ये देह आदि वन्ध्यापुत्र की देह की नाईं अत्यन्त असत् ही होंगे, यह राजा शिखिध्वज आशंका करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुने, असद्रूप दो चन्द्रबिम्ब आदि के कारण का न दिखाई पड़ना तो

(📖) निमित्तभूत शरीर आदि वस्तुओं की सत्ता से स्वयं ज्ञान भी, सोना आदि गलाने की घरिया में निषिक्त धातुओं के द्रव की नाईं, शरीर आदि आकार से उदित होता है, यह तात्पर्य है।

युक्त ही है, क्या किसीके सामने वन्ध्यापुत्र के सारे अंगों में आभूषण शोभित होते हैं ? ॥५८॥

'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाण होने से तथा वैसा ही विद्वानों का अनुभव होने से एवं कारण का निरूपण न होने से यह आपके द्वारा की गई आपत्ति इष्ट है, ऐसा कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, शरीर आदि अस्थिपंजररूपी यह कार्य बिना कारण के ही अनुभूत हो रहा है, इसलिए असंभव (किसीसे उत्पन्न न) होने के कारण इसे अविद्यमान ही जानिये ॥५९॥

इतिहास, अनुमान, आप्त पुरुषों की उक्ति तथा अनुगत स्थानसाम्यरूप हेतु आदि प्रमाण से इस शरीर का कारण पिता तो अवश्य ज्ञात है, फिर इसका आप कैसे अपलाप करते हैं ? यों राजा शिखिध्वज आशंका करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुनीश्वर, हाथ, पैर आदि से युक्त प्रतिदिन दिखाई दे रहे इस शरीर का भला पिता कारण कैसे नहीं है ? ॥६०॥

उसकी भी कोई सत्ता नहीं है, दोनों में एक ही न्याय समानरूप से लगता है, इस गूढ़ अभिप्राय से युक्त कुम्भ ऋषि उसी उत्तर को फिर कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, कारण का अभाव होने से सचमुच पिता भी नहीं है। जो पदार्थ असत् से उत्पन्न हुआ रहता है वह भी असद्रूप ही कहा जाता है। कार्यभूत पदार्थों का कारण बीज कहा जाता है। हे राजन्, इस संसार में बिना बीज के अंकुर नहीं उत्पन्न होता। इसलिए जिस कार्य का कारण नहीं है वह कार्य भी बीज का अभाव रहने से नहीं है। जो उसका ज्ञान मनुष्य को होता है वह तो बिलकुल विभ्रम है। अवश्य ही जो वस्तु बीजशून्य है वह है ही नहीं। अतः उसका जो मनुष्य को ज्ञान होता है वह – दो चन्द्र, मरुभूमि में जल और वन्ध्यापुत्र की दशा के समान – बुद्धिविभ्रम है ॥६१–६४॥

गूढ़ अभिप्राय को न समझ रहे राजा शिखिध्वज आशंका करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुनीश्वर, तीनों लोक में प्रजा उत्पन्न करनेवाले दक्ष प्रजापति आदि पितामहों, उनके लड़कों और पिता आदि पूर्वों की उत्पत्ति में आद्य पितामह (हिरण्यगर्भ) कारण क्यों नहीं है ? अर्थात् सूक्ष्मभूत लिंगसमष्टिरूप वह हिरण्यगर्भ पुत्र, पिता और पितामह आदि सम्पूर्ण व्यष्टि और समष्टिरूप स्थूलों की उत्पत्ति में कारण क्यों नहीं है ? ॥६५॥

उसका भी कारण बतलाना अत्यन्त कठिन है, हम कह नहीं सकते, अनिर्वचनीय है, अतः उसकी भी असत्ता में समान ही न्याय लगता है, इस अत्यन्त गूढ़ अभिप्राय को उत्तररूप से कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे भूपते, जब कारण के अभाव में किसीका भी भाव नहीं रहता यानी किसीकी भी सत्ता नहीं ठहरती, यह सदा नियम है तब पितामह यानी हिरण्यगर्भ जो कारण है, वह भी है ही नहीं ॥६६॥

'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्ति ॥' (जो महर्षि रुद्र सम्पूर्ण देवताओं का प्रभव और उद्भव है, विश्व में सबसे श्रेष्ठ तथा जो उत्पन्न हो रहे हिरण्यगर्भ को देखता है वही देव हम लोगों को शुभ स्मृति से संयुक्त करता है) इत्यादि मन्त्रवर्णों में उसका उत्पादक तथा उत्पन्न हो रहे उसको कृपादृष्टि से देख रहा ईश्वर कारण प्रसिद्ध ही है, फिर उसका अपलाप कैसे करते हैं, इस आशंका का परिहार करते हुए

गूढ़ अभिप्राय को खोलते हैं।

ठीक है, यद्यपि ईश्वर है तथापि माया द्वारा अपने में भेद की उसने कल्पना कर ली है अतः माया द्वारा भ्रम हो जाने के कारण अन्यरूप से दिखाई दे रहा भी वह पितामह उस ईश्वर से अन्य नहीं है। यदि आप पूछें कि ऐसा क्यों ? तो इसका उत्तर हम आगे चलकर आपको बतलायेंगे कि सत्यस्वरूप चिदंश के परिणामी न होने से वह कारणशून्य है। परिशेष में मायांश जड़ को ही उसका कारण कहना पड़ेगा, क्योंकि अविद्यारूप उस अपने कारण के नित्य उदित विद्या द्वारा बाधित होने के कारण उसका ईश्वर में सदा ही अभाव रहता है ॥६७॥

इस रीति से पितामह की भुवनादि सर्गों में जो अर्थक्रियाकारिता का प्रतिभास है उसकी भी व्याख्या हो चुकी, यह कहते हैं।

इस रीति से आपके पितामह की जो भुवनादि सृष्टि में अर्थक्रियाकारिता है वह भी मृगतृष्णाजल की नाईं भ्रान्तिरूप ही अवभासित होती है, क्योंकि वह बिलकुल भ्रमात्मक है। इस तरह मेरी युक्तिपूर्ण उक्ति से जनित – पितामह के शरीर तक यह सम्पूर्ण कार्यपरम्परा प्रबन्ध मिथ्या है, इस तरह के तुम्हारे यौक्तिक बोध से – उसकी सत्यत्वेन अत्यन्त दृढ़ बनाई गई स्थिति बहुत दूर हटा दी गई। अब दूसरा जो प्रतिभासमात्ररूप से अवशिष्ट अंश है उसका भी तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्त आपको उपदेश देकर परिमार्जन करता हूँ ॥६८,६९॥

उक्त अर्थ का ही संग्रह कर उपसंहार करते हैं।

हे भूमिप, मेरी कही गई युक्ति से चिति से व्यतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता न होने के कारण चिद्रूप ही यह देवाधिदेव पूर्वोक्त ईश्वर हिरण्यगर्भ से लेकर स्तम्बपर्यन्त सृष्टिपरम्परारूप से जो स्फुरित होता है वह चिदात्मकरूप से अपने स्वरूप में ही स्फुरित होता है, अणुमात्र भी न तो किसी दूसरे का सम्पादन करता है और न स्वयं किसी दूसरे से सम्पादित होता है। उसीने स्वयं अपने–आपको आत्मा, स्वरूप, पद्मज आदि नाम और रूपों की कल्पना से 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' (सम्पूर्ण रूपों का विरचन करके उनका फिर नामकरण कर व्यवहार कर रहा जो धीर स्थित है) इत्यादि श्रुतियों से कहा है। इस तरह पर्यालोचन करने पर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि यह समस्त द्वैतप्रपंच शान्त ब्रह्म ही अवस्थित है ॥७०॥

चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त

पंचानबेवाँ सर्ग

अविद्या की शान्ति का उपाय तथा आत्मज्ञान से चिर विश्रान्ति का वर्णन।

पहले यह जो कहा गया था कि यह सारा प्रपंच मृगतृष्णाजल के सदृश भ्रान्तिरूप ही प्रतीत होता है, इस पर यह शंका होती है कि यह दृष्टान्त देना बिलकुल असंगत है, क्योंकि मृगतृष्णाजल से न स्नान होता है या न तो उसका पान ही होता है, किसी तरह उसमें अर्थक्रियाकारिता है नहीं और इस प्रपंच में तो सब तरह की अर्थक्रियाकारिता प्रसिद्ध है, यों राजा प्रश्न करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे ब्रह्मवित्, ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक जो कुछ यह संसार प्रतिभासित

होता है, वह यदि भ्रमरूप है, तो वह अर्थक्रियासमर्थ और दुःख का कारण कैसे है, भ्रमात्मक वस्तु तो अर्थक्रियासमर्थ और दुःख हेतु दिखाई नहीं पड़ती ॥१॥

सत्यसंकल्पभावना से दृढ़ किया गया मिथ्याभूत अर्थ–क्रियासमर्थ और दुःख का उत्पादक होता है, यह बात देव या असुरों की माया से निर्मित शस्त्र, अस्त्र, हाथी, घोड़ा, सेना आदि में जब प्रसिद्ध ही है, तब जगदीश्वर की माया से बनाये गये प्रपंच के लिए तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : भद्र, यह जो सृष्टिरूपी जगत् की भ्रान्ति है, उसमें प्राणियों के प्राक्तन कर्मों की उपभोगार्थता होने से, आपकी कथित प्रणाली के अनुसार अर्थक्रियासामर्थ्य और दुःख आदि की हेतुता है, क्योंकि सत्यसंकल्प परमात्मा की भावना ही तत्–तत् अर्थक्रियादिरूप से तथाकथित सृष्टि में परिणत हुई है, इसमें दृष्टान्त है – जल। जैसे जल में रूक्षता या पीठ बनने की योग्यता है नहीं, परन्तु शीत के कारण पत्थररूप (बर्फरूप) बने हुए जल में, दीर्घकाल के बाद स्फटिक आदिरूप में परिणाम हो जाने पर रूक्षता, पीठ आदि बन जाने की अर्थक्रिया प्रसिद्ध है। बस यही प्रकार इस भ्रमात्मक सृष्टि के विषय में भी जानना चाहिए ॥२॥

यही कारण है कि ज्ञानाभ्यास के परिपाक क्रम से मूलअज्ञान का शैथिल्य हो जानेपर जगत् की क्रमशः सूक्ष्मता हो जाने से अज्ञान के साथ–साथ जगत् का भी नाश हो जाता है, यह कहते हैं।

यदि अज्ञान ज्ञानादि के अभ्यास से शिथिल हो गया, तो उस प्रकार का अज्ञानजनित भ्रमात्मक संसार भी नष्ट ही हो गया, यह ज्ञानियों का मत है। क्योंकि अज्ञान का विनाश न होने पर जगत्–रूप आकार का विच्छेद किसी काल में नहीं हो सकता ॥३॥

अज्ञान को शिथिल बना देने में एकमात्र कारण है–इन्द्रियनिरोध के अभ्यास से बाह्यवृत्तियों का शिथिलीकरण, यह कहते हैं।

समस्त बाह्याकार वृत्तियों का जो अपक्षय है, वही क्रमशः तत्त्वज्ञान के सम्पादन द्वारा परम पद का साक्षात्कार हो जाने पर इस भ्रमात्मक प्रपंच की शान्ति में कारण हो जाता है ॥४॥

लोक में भी अपक्षयपूर्वक ही स्थूल भावों का विनाश प्रसिद्ध है, यह कहते हैं।

व्यवहार में भी जिन देह आदि का अपक्षय हो जाता है, क्रमशः उनका, पूर्व अवयवों के विनाश से, स्वयं विनाश भी उपपन्न हो जाता है ॥५॥

दर्शित रीति से क्रमशः अज्ञान की शिथिलता द्वारा जगत् का बाध हो जाने पर ही अपने नित्यसिद्ध पूर्णतारूप पुरुषस्वभाव में प्रतिष्ठा हो जाती है, यह कहते हैं।

हे राजन्, इसी अज्ञाननाशक्रम से ही पूर्णतास्वभाववाले आप आदि पुरुष हैं। अतः यह सारा प्रपंच मृगतृष्णाजल की नाईं केवल भ्रम के स्वरूप में उदित होकर अवस्थित है, यह आप जानिए ॥६॥

शंका के बाद उपसंहार कर प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए कहते हैं।

वास्तव में जो सृष्टि बनानेवाले आदि ब्रह्मा पितामह हैं, उनकी भी सत्ता है नहीं, इसलिए उनके द्वारा निर्मित प्रपंच की सत्ता हो ही कैसे सकती है ? जो वस्तु असत् वस्तु से सिद्ध की जाती हो, वह त्रिकाल में भी सिद्ध नहीं हो सकती ॥७॥

उसका फल दिखलाते हैं।

हे भद्र, यह जो भूत-सृष्टि दिखाई पड़ती है, वह मृगतृष्णाजल के सदृश मिथ्या ही उदित हुई है, इसलिए शुक्ति में रजतज्ञान के सदृश विचार से ही उसका विलय हो जाता है ॥८॥

यही कारण है कि जगत् का स्वरूप भ्रान्ति ही है, दूसरा नहीं – यह कहते हैं।

कारण का अस्तित्व न होने से कार्य की सत्ता हो ही नहीं सकती, असत् कारण से असत् कार्य की जो उत्पत्ति होती देखी जाती है, उसका स्वरूप मिथ्याज्ञान के सिवा और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता ॥९॥

इसलिए विचार द्वारा मिथ्यारूप से देखा गया पदार्थ अर्थक्रिया के साथ स्वरूप से भी वंचित हो जाता है, यह कहते हैं।

मिथ्याज्ञान के कारण दिखाई पड़नेवाला पदार्थ किसी काल में भी अस्तित्व नहीं रख सकता, क्या कहीं किसीने मृगतृष्णाजल से घड़े भरे हैं ? ॥१०॥

तब तो पितामह के प्रति निर्विशेष ब्रह्म ही कारण क्यों नहीं होता ? यदि कहो कि परिणामी होने पर वह अनित्य हो जायेगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि क्रमशः हुए सब परिणामों में अनुवृत्ति होने के कारण घटत्वादिरूप जाति के सदृश उसकी नित्यता आ सकती है, यों राजा शंका करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मुनिश्वर, आदि सर्जक हिरण्यगर्भ का अनन्त, अजन्मा, अव्यक्त, चिदाकाश, अविनाशी, सर्वोपद्रवशून्य, सर्वातिशायी, निर्विशेष ब्रह्म कारण क्यों नहीं है ? ॥११॥

श्रुति, युक्ति और अनुभव का विरोध होने से हिरण्यगर्भ का कारण निर्विशेष ब्रह्म नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण ही है, क्योंकि 'तदेतद्ब्रह्मा पूर्वमनपरम्' इस श्रुति से पूर्वत्वरूप कारणत्व का और अपरत्वरूप कार्यत्व का निषेध किया गया है। 'नेह नानास्ति किंचन' इस श्रुति से द्वैतमात्र का निषेध किया गया है। 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुति से उसकी अनुवृत्ति का निषेध किया गया है और कूटस्थ का परिणाम न बनने के कारण वह सर्वप्रपंच से निर्मुक्त है ॥१२॥

अन्य कारकों की अप्रसिद्धि होने से उनको लेकर इसमें स्वातन्त्र्यरूप अकर्तृत्व भी नहीं आ सकता, यह कहते हैं।

ब्रह्म न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। उसका न कोई निमित्त है और न कोई उपादान है। उसमें न तर्कों का स्थान है और न इन्द्रियवृत्तियाँ ही गमन कर सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में आप बतलाइये तो ब्रह्म किस तरह कारण बनेगा ? ब्रह्म निर्धर्मक होने से ही यदि अकारण है, तो इससे वह कार्यत्वरूप लक्षण या धर्म से शून्य ही होगा। ऐसी परिस्थिति में यदि आप यह सम्भावना करें कि कार्यकारणात्मक जगत् ही है, तब तो वह जगत् वस्तुकृतपरिच्छेद और देश-काल कृतपरिच्छेद से रहित होकर चिदेकरसस्वरूप ब्रह्म ही बन गया, यह भी साथ-साथ भावना कर लीजिए। फिर जगत्भाव और कार्यकारणता रही ही कहाँ ? ॥१३,१४॥

इसी रीति से जीवरूपता की भ्रान्ति के कारण उसमें प्राप्त हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्व का भी निरास करना चाहिए, यह कहते हैं।

जो अतर्क्य, अविज्ञेय, शान्त, विकारशून्य और कल्याणरूप है उसमें कर्तुत्व और भोक्तृत्व किस तरह, किसका, किससे और किस समय होगा ? बतलाइये ॥१५॥

निष्कर्ष बतलाते हैं।

इसलिए यह जगत् न किसीसे कुछ किया गया है और न इसकी सत्ता ही है। परिपूर्णस्वभाववाले आप न कर्ता हैं और न भोक्ता हैं। जहाँ हाथ डालिए वहाँ आपको सब कुछ शान्त अजन्मा, आनन्दात्मक केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, यह मिलेगा। कारण की सत्ता ही नहीं है, इसलिए यह जगत् किसीका भी कार्य नहीं है। कारण का स्वरूप न रहने से जो कार्यस्वरूप दिखायी देता है वह केवल भ्रम से ही, इसलिए यह जगत् भ्रमात्मक ही है, यह जानिये। किसीका कार्य न होने से यह सारी सृष्टि तीनों काल में असत् है। इस रीति से यह जगत् जब किसी भी कार्य का कारण नहीं है तब अनायास समस्त पदार्थों की असत्ता सिद्ध हो जाती है। पदार्थों की असत्ता सिद्ध हो जाने पर फिर ज्ञान किसका और इस रीति से जब ज्ञान का ही अभाव सिद्ध हो गया तब अहंकार का कोई कारण ही नहीं रहता। *इस रीति से अहम्भाव का निरास करने के लिए उपाय बतलाकर अन्त में अवशिष्ट हुए आत्मतत्त्व का अनुभव कराते हैं।* इसलिए हे राजन्, आप सर्वविध मलों से निर्मुक्त परममुक्त ही हैं। बन्ध और मोक्ष की कथा से आपको प्रयोजन ही कौन है ॥१६-१९॥

उपदिष्ट अर्थ का अपने अनुभव से अनुमोदन कर रहे राजा – युक्तिपूर्वक आपने उपदेश दिया – यों कहते हुए अनुवाद करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे भगवन्, असलियत मैं जान गया। आपने बहुत ही उत्तम और युक्तियुक्त कहा। कारण न होने से यह ब्रह्म जगत् का उत्पादक नहीं हो सकता है, यह भी जानता हूँ। कर्ता के अभाव से जगत् का अभाव है, जगत् के अभाव से नाम-रूपात्मक दृष्टि का अभाव है, इससे उसके बीज चित्त आदि का भी अभाव है और इसीसे अहन्ता आदि कुछ भी सत्ता नहीं रखते। इस प्रकार की स्थिति होने पर मैं निर्मल ही हूँ, सर्वज्ञ हूँ और दिव्यस्वरूप हूँ। मैं अपने आपको ही प्रणाम करता हूँ, क्योंकि चितिस्वरूप से भिन्न दूसरा चेत्यविषय है ही नहीं, यह आपने मुझे बतला दिया। आपकी बतलाई हुई युक्ति से विचारपूर्वक सब पदार्थों का स्वरूप जानने से 'अहम्' आदि से लेकर अनन्त तक के जितने दृश्य पदार्थ हैं वे सब असद्रूप ही भासते हैं, इसलिए सब द्वैत के बाध से मैं आकाशमण्डल की नाईं विक्षेपशून्य होकर अवस्थित हूँ ॥२०-२३॥

उसी स्थिति का अभिनयपूर्वक उपसंहार करते हैं।

अत्यन्त आश्चर्य है कि, देश, काल, कला एवं क्रियाओं से युक्त यह जो जगत् के पदार्थों की विभक्त दृष्टि थी वह दीर्घकाल के अनन्तर शान्त हो गई। अब विकारशून्य केवल ब्रह्म ही बच गया। अब मैं शान्ति का अनुभव करता हूँ, मुक्त हो गया हूँ, सब ओर से पूर्ण स्वभाव होकर स्थित हूँ, न जाता हूँ, न उदित होता हूँ और न अस्त होता हूँ। हे भगवन्, मैं जैसे इस रूप में हूँ वैसे आप भी चिदेकरस यथास्थित आत्मस्वरूप होकर स्थित हो जाइये, क्योंकि उस प्रकार की स्थिति में आपका स्वरूप बनकर मैं परम पुरुषार्थरूप शुद्ध वाणी से अगम्य निरतिशय सुख ही बनकर विराजित हूँ ॥२४,२५॥

पंचानबेवाँ सर्ग समाप्त

छियानबेवाँ सर्ग

प्रबुद्ध हुए राजा को दृश्य-सत्ता का परिमार्जन, जिस उपाय से हो सकता है उस उपाय का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, राजा शिखिध्वज पूर्वोक्त रीति से परब्रह्म में विश्रान्ति पाकर वायुशून्य प्रदेश में स्थित दीप के सदृश मुहूर्त काल तक निश्चलरूप से स्थित हो गये। अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति का उदय होने से उनका मन तुच्छ बाह्य वृत्तियों से निर्मुक्त होकर प्रसन्न हो गया था। अनन्तर राजा शिखिध्वज ने, जो निर्विकल्प समाधि में तत्पर थे, अखण्डाकारवृत्तिरूप विकल्प को भी तिरस्कृत कर-क्षीरसमुद्र में गिरे हुए जलबिन्दु के सदृश, अन्तःकरण को ब्रह्मरूप बनाकर ब्रह्म में एकरूप से जब प्रविष्ट होने की इच्छा की, तभी उस अवस्था को ताड़कर अपनी सहज लीलाभरी वाणी से कुम्भ ने उन्हें तत्काल जगाया ॥१,२॥

समस्त दृश्यों के, अधिक क्या कहें, अखण्डाकार वृत्ति के भी विलय के साथ हम निरतिशय ब्रह्मानन्द के सागर में प्रविष्ट होने की इच्छा कर रहे थे, आपने बीच में व्यर्थ ही व्युत्थित कर विघ्न डाला, अब हमें वहाँ प्रवेश मिलेगा ही नहीं, इस तरह राजा की कहने की इच्छा जानकर कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, अब आप अज्ञानरूपी निद्रा से जाग गये हैं और निरतिशयानन्दरूप बनकर स्थित हैं, इसलिए अब न तो आपको समस्त दृश्यों के विनाश से कोई मतलब है और न उनके अविनाश से ही कोई मतलब है, अर्थात् अज्ञान रहने पर परब्रह्मरूपी आनन्दसमुद्र में प्रवेश नहीं हो सकता। जब अज्ञान का विनाश हो गया, तब तो दृश्यों का विनाश हो चाहे न हो, एक बार देखा गया ब्रह्म सदा ही अनावृत्त और सुलभ रहता है। हे प्रिय, एक बार विस्पष्टरूप से देखा गया आत्मा समस्त अनिष्टकारक वस्तुओं का आश्रय नहीं रहता यानी उस आत्मा में दुःखप्रद प्रपंच का सम्बन्ध रहता ही नहीं, अब आप समस्त कल्पनारूपी कलनों से निर्मुक्त होकर जीवन्मुक्त बन गये हैं। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, जब मुनिश्रेष्ठ उस कुम्भ ने राजा शिखिध्वज को उस तरह समझाया, तब वह बोधपूर्ण हो गया और महामोहरूपी पिटारी से बाहर निकल कर खूब शोभने लगा। यद्यपि उसकी बुद्धि पूर्ण विश्रान्त हो चुकी थी, व्युत्थानकाल में भी क्षणमात्र में ही उसने समस्त दृश्यों की असत्यता जान ली थी, तथापि उस मुक्तात्मा ने लीला से यानी कुम्भ के परिपक्व बोध के साथ अपने बोध की तुलना करने की लीला से कुम्भ से कहा। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे मानदी, हे आनन्ददायक, यद्यपि यह सब कुछ मेरा एक तरह से ज्ञातप्राय ही हो गया है, तथापि बोध की दृढ़ता के लिए मैं आपसे जो कुछ प्रश्न करता हूँ, उसे फिर मेरे समक्ष कहिए। ब्रह्मरूप पद निरतिशय सुखरूप, दुःखशून्य और अशुद्ध चेताओं से अगम्य है, उस पद के अविद्या से आवृत्त होने पर उसमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन नामक यह विश्वरूप ज्ञान किस निमित्त से होता है ? क्या वह सत् निमित्त से होता है या असत् निमित्त से ? सत् निमित्त से तो हो नहीं सकता, कारण कि सत्-वस्तु में विकार आदि नहीं रहते, असत् से भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस बोध में सत्त्वका जो परिज्ञान होता है, वह होगा ही नहीं ॥३-८॥

उस प्रकार पूछे गये, तथा अध्यास द्वारा उन दोनों की उपपत्ति करनेवाले कुम्भ मुनि – आपका प्रश्न

युक्ति–पूर्ण है और प्रश्नकर्ता आप कहे जानेवाले अर्थ के अवधारण में पटु भी हैं, यों प्रशंसा करते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे महाराज, मैंने पहले जिस आत्मतत्त्व का उपदेश दिया था उसे ग्रहण कर अज्ञानरूपी आवरण से निर्मुक्त हो जाने के कारण आप देदीप्यमान होकर खूब शोभ रहे हैं। अब आपको जानने के लिए जो यह कुछ बच गया है उसे सुनिये ॥९॥

सबसे पहले अध्यास की सामग्री बतलाने के लिए अध्यारोप कर संस्कारसहकृत अज्ञानशबल अधिष्ठान का दिग्दर्शन करानेवाले कुम्भमुनि पूर्वसृष्टि का प्रलय दर्शाते हैं।

राजन्, यह जो कुछ भी स्थावर, जंगम नानाविध आकार–प्रकार से भरा हुआ जगत् दिखाई पड़ता है वह सब कल्प की समाप्ति में विनष्ट हो जाता है ॥१०॥

कल्पान्त में एकमात्र बाकी बचे हुए अधिष्ठान को दिखलाते हैं।

तदनन्तर जब कि महाकल्प का ताण्डव समाप्त हो जाता है, तब एकमात्र प्रसन्न गम्भीर व्यापकरूप सारवस्तु (परब्रह्म–तत्त्व) अवशिष्ट रह जाती है, वह न तो तेज से तुलित की जा सकती है और न घन अन्धकार से तुलित की जा सकती है। वह वस्तु चिन्मात्रस्वरूप है, उसमें किसी तरह का मल नहीं है, शान्ति का आधार है, चारों ओर चमकता निरवधि आकाश है, उसमें किसी प्रकार की कल्पना की ही नहीं जा सकती। जिसके विषय में मैं कुछ कह रहा हूँ, वह केवल स्वस्वरूप का साक्षात्कार करनेवाली बुद्धि से युक्त होकर जब प्रकाशित होने लग जाती है, तब अज्ञानकाल में प्रतीत अज्ञान आदि मल उसमें नहीं रहते, अतः अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है। क्रोधादिविकार उसमें रहते नहीं, चारों ओर उसकी सत्ता है, उज्ज्वल परमात्मस्वरूप वही प्रसन्न ज्ञानरूप तेज है। उसमें अनुमानादि तर्कों का प्रसार होता नहीं। वह बाह्य इन्द्रियों की विषय नहीं है, वह सम, शिव और अनिन्दित है। जिसको ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं, वह वही है। सर्वत्र पूर्णरूप से उदित आत्म–ज्ञान से नितान्त पूर्ण है ॥११–१४॥ जितने छोटे–से–छोटे पदार्थ हैं, उनमें सबसे छोटा (सूक्ष्म) यही है, जो स्थूल से भी स्थूल पदार्थ हैं, उनमें सबमें स्थूल यही है। गुरुतम पदार्थों में सबसे गुरुतम और श्रेष्ठों में सबसे बढ़कर श्रेष्ठ भी यही है। महात्मन्, यह इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म है कि इसके सामने यह जो आकाश है, वह अणु के सामने स्थित स्थूलरूप महामेरु के समान स्थूल मालूम पड़ता है। और वह इतना अत्यन्त स्थूल है कि उसके सामने यह सारा ब्रह्माण्ड परमाणु के सदृश सूक्ष्मरूप से कहीं भासता है और कहीं भासता भी नहीं। इस तरह का मायाशबल जो अधिष्ठानरूप पद है, उसमें पूर्व के संस्कारों के उद्‌बोधन से उद्‌भूत हुआ तत्–तत् प्राणियों के कर्म को अनुसरण करनेवाला अध्यासजनित जो विश्वरूप का प्रकाश है वही नारायण से उत्पन्न हिरण्यगर्भ का अहंभावरूप ज्ञानाध्यास है, यह आप जानिए। उस ज्ञानाध्यास में विषयरूप से स्थित् जगत् ही विराट्‌रूपी विषयाध्यास है ॥१५–१८॥

अध्यासपक्ष में अधिष्ठान की सत्ता ही से कार्य और कारण दोनों में सत्ता का निर्वाह हो जाने के कारण उसमें सत्ता की प्रतीति, ज्ञान से उसका बाध और सत् वस्तु की कूटस्थता अनुपपन्न नहीं हो सकती, यह आशय रखकर दृष्टान्तपूर्वक अध्यस्त की अधिष्ठान से अभिन्नता बतलाते हैं।

महात्मन्, जैसे वायु और वायु का स्पन्दन–इन दोनों में भेद नहीं है, वैसे ही शून्यरूपता और

आकाशरूपता के सदृश चैतन्यरूपता और अहंरूपता में भेद नहीं है (♨) ॥१९॥

यह असत्-कार्यवादियों के मत में दीक्षित न हो जाय, इस अभिप्राय से केवल अधिष्ठानसत्ता से ही कार्य की ब्रह्म में त्रैकालिक-सत्ता है, यह भी दृष्टान्त देकर बतला रहे कुम्भ विशेष ज्ञातव्य दर्शाते हैं।

देश और काल से परिच्छिन्न (भेद प्राप्त) जल में विद्यमान तरंग आदि जलरूप कारण को लेकर जैसे सहेतुक हैं, उनकी जलसत्ता से अतिरिक्त सत्ता जैसे नहीं है, वैसे देश और काल से अपरिच्छिन्न ब्रह्म में प्रतीयमान जगत् सहेतुक नहीं है, क्योंकि तरंगादिस्थल में आन्तरालिक जलकारणता के सदृश यहाँ कोई आन्तरालिक कारण नहीं है, ब्रह्म तो मूलकारण ही है, अतः निर्हेतुक की पृथक् सत्ता कैसे होगी ? किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती। देश-काल-परिच्छिन्न सुवर्ण में कटक आदि सुवर्णरूप कारण को लेकर सकारण हैं, उनकी जैसे पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही देशकालादि परिच्छेद से शून्य ब्रह्म में विद्यमान निर्हेतुक जगत् की भी ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं हो सकती। इसी तरह वह ब्रह्मरूप सारवस्तु श्रेष्ठ है, उसका समस्त जगत् के ऊपर साम्राज्य है, वह अविनाशी, अद्वैत, निर्मल और परम शान्त है, समस्त जगत् उसके सामने तिनके के टुकड़े के सदृश अति तुच्छ है। इसी प्रकार यह पर वस्तु ऐसी कल्याणरूप है, ईश्वररूप जिसके अस्तित्व से प्रसिद्ध यह जगत्पदार्थों की शोभा अस्तित्व धारण करती है। हे राजन्, कल्पप्रलय के अनन्तर अवशिष्ट रहनेवाली वह सारभूत वस्तु इस समस्त ब्रह्माण्ड में एक ही है, केवल वह चिन्मात्रत्वरूप है, निरुपाधि प्रेम का आस्पद है। द्वितीय की सहिष्णुता न होने से यद्यपि वह एक है, तथापि एकत्व की आश्रय नहीं है। इसलिए हे राजन्, कोई भी दूसरी कल्पना इस संसार में है ही नहीं। जो आपको निर्मल आत्मतत्व अवगत हुआ है, वही परिपूर्ण और अविनाशी है। सम्पूर्ण आकार-प्रकारों से युक्त होकर मानों उदित हुआ वह सर्वस्वरूप होकर सदा ही स्थित रहता है। इन्द्रियों से दृश्य न होने के कारण तथा हाथ आदि से प्राप्य न होने के कारण वह न कार्य (ज्ञान और कर्म से जनित अतिशय का आधार) है और न कारण (ज्ञान और कर्म का सम्पादक) है। प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणों से वेद्य न होने के कारण वह स्वानुभवमात्रगम्य कुछ अनिर्वचनीय ही उत्तम (निरतिशयानन्दात्मक) वस्तु है, वह सबकी आत्मा है और सब इसकी आत्मा है। अतिसूक्ष्म, स्वच्छ तथा अनुभवमात्ररूप है ॥२०-२७॥ व्यवहार की दृष्टि में शब्द और शब्दार्थभूत समस्त पदार्थों का ही वह स्वरूपभूत है, अतः अपने आप ही अपना कारण कैसे होगा ? परमार्थदृष्टि में अगम्य अति उत्कृष्ट अद्वितीय प्रकाश का स्वरूपभूत है, अतः अद्वितीय वस्तु कारण किस द्वितीय के लिए होगी ? एवं व्यवहार में अद्वैत असत् है और द्वैत सत् है, परमार्थ में तो अद्वैत सत् और द्वैत असत् है, ऐसी परिस्थिति में सत् और असत् का परस्पर कार्यकारणभाव हो ही कैसे सकता है ? वास्तव में जो किसीका बीज नहीं है और जो शब्द से अगम्य होने के कारण कारण नहीं होता, उस व्यापक वस्तु से प्रमाण-प्रमेयरूप जगत् कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। वह न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। केवल वह सत्य, चिद्घन

(♨) यहाँ पहला संसर्गाध्यास में दृष्टान्त है और दूसरा तादात्म्याध्यास में दृष्टान्त है, निरपेक्ष होने के कारण वायु और आकाशत्व अधिष्ठान के दृष्टान्त हैं तथा देशसापेक्ष होने के कारण स्पन्द और शून्यता अध्यस्त के दृष्टान्त हैं, यह जानना चाहिए।

और विकृतिशून्य है। आत्मरूप, अन्यप्रमाणों से अगम्य तथा अविनाशी स्वात्मानुभवरूप भी वही है ॥२८–३०॥

इन सब बातों से अध्यासपक्ष में किसीको भी जन्म आदि विकार की प्रसक्ति नहीं होती, केवल कूटस्थत्व ही सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

हे मुने, इससे यह सिद्ध हुआ कि परब्रह्म से किसीकी भी उत्पत्ति नहीं होती, क्या कोई भी पुरुष किसी तरह से क्या सकारण तरंग आदि को जलादि से पृथक् प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता, बस इसी तरह देशकाल के परिच्छेद से शून्य ब्रह्म में अकारण जगत भी ब्रह्म से पृथक् नहीं रह सकता। निष्कर्ष यह है कि लोक में यह प्रसिद्ध है कि तरंग के प्रति जल कारण है, परन्तु विमर्शकाल में सकारण तरंग जल से भिन्न नहीं ठहरता, इसी प्रकार परिच्छेदशून्य ब्रह्म में विचारकाल में जगत्कारणता ठहर नहीं सकती ॥३१॥

'जलेस्ति देशकालान्ते' इत्यादि जो पहले कहा गया था, उसीका आपने यहाँपर उपसंहार किया, परन्तु उसमें ऊपर नीचे उक्ति का जो वैषम्य आपने किया है, उसका तात्पर्य क्या है, यों राजा पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : मुनिश्रेष्ठ, जल आदि में जो तरंग आदि हैं, वे तो सकारणक हैं, यह मैं मानता हूँ, परन्तु यह नहीं मानता कि परब्रह्म में अहन्ता आदि जगत् अकारणक है ॥३२॥

समुद्र पंचीकृत जल का कार्य है, अतः पंचीकृत जल के कारण भूतों के द्वारा तथा वायु आदि अन्य निमित्तों के द्वारा जलके परिणामभूत तरंग आदि सकारणक हैं, परन्तु ब्रह्म का तो कोई कारण प्रसिद्ध है नहीं और न कोई उसका सहकारी कारण है, इसलिए ब्रह्मविवर्त जगत् अकारणक कहा, यही वैषम्य मेरा अभिप्रेत है। इस तरह वैषम्य तत्त्वज्ञान के पूर्व कोई समझ नहीं सकता, परन्तु आपने तो तत्त्व अब जान लिया है, अतः आपके लिए वह सुबोध है, इस आशय से कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, आपका कथन सत्य है, परन्तु आपने तो अब तत्त्वतः सब कुछ जान लिया है, इसलिए उस वैषम्य का परिज्ञान आपसे दूर नहीं रह सकता। यह अहन्ता आदि जगत् इस ब्रह्म में कुछ अस्तित्व ही नहीं रखता ॥३३॥

सब द्वैत का बाध हो जाने के कारण यदि आप 'जगत् अकारणक है' यों कहते हैं, तो 'ब्रह्म में जगत् है' यह क्यों कहते हैं, ऐसा कहने में तात्पर्य क्या है' इस पर कहते हैं।

'जगत्' शब्द का प्रसिद्ध जो अर्थात्मकस्वरूप है, उससे निर्मुक्त परम शान्त कल्याणमय परमात्मा ही जगत् है, उससे अतिरिक्त कुछ है नहीं। आकाश में सूक्ष्मतर आकाश ने ही उसका निर्माण किया है अर्थात् जैसे आकाश में सूक्ष्मभूत मायारूप आकाश से गन्धर्वादि नगर निर्मित होते हैं, वैसे ही ब्रह्माकाश में भी सूक्ष्मभूत माया से जगत् का निर्माण हुआ है, वास्तव में कुछ नहीं है। जैसे आकाश शून्यरूप नहीं है, परन्तु प्रतीयमान विरुद्ध शून्यत्व आकाश की सत्ता से सत्ता प्राप्त करता है, वैसे ही परमेश्वर में अविद्यमान जगत् उसकी सत्ता से सत्ता प्राप्त करता है, वह चैतन्यैकरूप से सदृश और जड़रूप से विसदृश भी है। उस प्रकार का यह जगत् भलीभाँति जान लिये जाने पर परम शिवरूप हो जाता है, क्योंकि उत्तमज्ञान के प्रभाव से विष भी अमृत हो जाता है। यदि जगत् भलीभाँति न जाना गया तो वह भयंकर दुःख देनेवाला होता है, ठीक ही है – विषबुद्धि यदि अमृत में हो जाय, तो वह खाया गया भी विष

के रस में ही परिणत हो जाता है – खानेवाले को मार डालता है। विद्या की सहायता से या अविद्या की सहायता से युक्त होकर जो कोई भी पुरुष जिस प्रकार से जिस-जिस वस्तु को चैतन्य परमात्मारूप जानता है, उस पुरुष को वह वह वस्तु तत्काल ही उक्तरूप ईश्वरात्मक बन जाती है ॥३४-३८॥ जैसे नेत्रों के दोष-विभ्रमों से ज्वाला केशोण्ड्रक आदि रूपों में चित्र-विचित्ररूप से आविर्भूत हुई भी वास्तव में वह अपने ही स्वरूप से रहती है, वैसे ही दोष-विशेष से अन्यान्य रूपों में आविर्भूत भी ब्रह्मसत्ता अपने ही असलीरूप से अवस्थित रहती है। साधो, जो सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म चैतन्यस्वरूप से अवस्थित है, वही अपने विषय में मन्दबुद्धि बनकर उस मन्दबोध के कारण देह, देही आदि जगत् के रूप में मानों लक्षित होता है। चूँकि अबोधवश ही इस जगद्रूप से विशुद्ध परम आनन्दरूप परमात्मा भासता है, इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि अहन्ता आदि जगत् को लेकर प्रश्न करना प्रकृत में अनुचित है। जो वस्तु सत् होकर विद्यमान है, उसीके विषय में प्रश्न करना शोभता है, परन्तु भलीभाँति विचारा गया भी जो विद्यमान है नहीं, उसके विषय में विचारार्थ प्रश्न ही क्या ? जिस प्रकार अवयवों की असत्ता-दशा में सुवर्ण की स्थिति के विषय में प्रश्न करना अयोग्य है, वैसे ही अहम्भाव आदि जगत् की असत्ता-दशा में ईश्वर की स्थिति के विषय में प्रश्न करना भी अयोग्य है। विमर्श करने पर जगत् का कोई भी कारण नहीं है, अतः यह तीनों काल में है ही नहीं। केवल अज्ञान के कारण इस तरह जगत् के रूप में ब्रह्म ही स्फुरित होता है। ब्रह्म का स्वरूपतः जब परिज्ञान नहीं रहता, तब अपरिज्ञात ब्रह्म ही जड़ जगत् का यह बृहदाकार धारण कर अवस्थित हो जाता है ॥३९-४४॥

यदि पृथिवी आदि का वास्तव में अस्तित्व है नहीं, तो 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि श्रुति से प्रतिपादित जो यह सिद्धान्त है कि अन्तर्यामी ईश्वर द्वारा प्रेरित हुए ही सम्पूर्ण पदार्थ एक दूसरे के कार्य में समर्थ होते हैं, उसकी उपपत्ति कैसे होगी ?

मायाशबल परमात्मा के स्वरूपभूत समस्त पदार्थ उसीसे (मायाशबल परमात्मा से) माया द्वारा परस्पर मिलने के लिए सामग्रीरूप से प्रेरित होकर पंचभूतात्मक पिंड में मायिक ही तत्-तत् कार्यरूप चमत्कार उस प्रकार करते रहते हैं, जिस प्रकार यौवन में स्त्री-पुरुष के जोड़े काम से प्रेरित होकर पुत्रादि कार्यरूप चमत्कार करते रहते हैं ॥४५॥ आवृत चैतन्यभाव ही मायिक नानारूप से अनेक-सा बनकर तत्-तत् कार्यरूप से उस प्रकार परिच्छिन्न हो जाता है, जिस प्रकार वही आवृत चैतन्यमात्र स्वात्मज्ञानरूपत्व से व्याप्त होकर परमार्थरूप से चमत्कार करता है ॥४६॥

ब्रह्म के ही ब्रह्मभूत मायिक चमत्कार में और तत्त्वज्ञान से परमार्थिकरूप की प्राप्तिरूप चमत्कार में 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि श्रुति का उदाहरण देते हैं।

प्रलयकाल में केवल वासना छोड़कर जब सब उपाधियाँ विलीन हो जाती हैं, तब मायाशबल ब्रह्म में एकीभूत हुए जीव कल्प के प्रारम्भ में भोगजनक अदृष्ट का परिपाक होने पर फिर अपनी-अपनी व्यष्टि-समष्टि उपाधियों का सृष्टि द्वारा जो उद्धार करते हैं, वह अपरिच्छिन्न ब्रह्म से अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप ही कार्यों का माया से उद्धार करते हैं, स्थितिकाल में वे जीव अवान्तर कार्यों को ऐहिक आमुष्मिक भोग-साधन जो बनाते हैं, वह भी पूर्ण अपरिच्छिन्न ब्रह्म से पूर्णरूप ही बनाते हैं। अनन्तर जो तत्त्वज्ञान से मुक्त होते हैं, वह भी पूर्ण से ही, माया के अपच्छेद से; पूर्णरूप हो जाते हैं, क्योंकि माया का विनाश

हो जाने पर पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। हे साधो, जो चिन्मात्ररूप वस्तु में चिन्मात्र ही सृष्टिज्ञान प्रथित होता है, वह वास्तव में प्रथित न होकर ही प्रथित होता है, यह महान् आश्चर्य है। अहं प्रत्यगात्मरूप चिति ही सृष्टि के आरम्भ में अपना निर्विकार, तेजोमय आदिअन्तशून्य स्वरूप न छोड़ती हुई ही और न होती हुई ही स्वयं चैतन्य के द्वारा अनन्त मनोरूप मानों बन जाती है। तदनन्तर स्थूलता की कल्पना से आभासशील होकर वह स्वतः स्वयंभू का विराट्–रूप संसार बन जाती है। तदनन्तर व्यष्टिजीव का स्वरूप धारण कर भ्रान्ति से जगत् में सत्यता ही देखती है और परमार्थदशा में अधिष्ठान की सत्यता देखती है। पृथ्वी आदि भूतों की भावना से पृथ्वी आदि चार प्रकार के भूत बन जाती है और दृश्यभावना से तत्क्षण दृश्यरूप बन जाती है। हे महात्मन्, प्रशान्त, स्वभाव से ही शब्दों और अर्थों से निर्मुक्त, अतएव व्यपदेशशून्य, स्वप्रकाशरूप अनुभवात्मक, अद्वितीय वस्तु माया एवं मायिक अवलोकरूप हो रही जगत् के विस्ताररूप से जगत्–सी होकर अवस्थित है ॥४७–५२॥

छियानबेवाँ सर्ग समाप्त

सत्तानबेवाँ सर्ग

पूर्व सर्ग में कारणशून्य दृश्य उत्पन्न ही नहीं हुआ है, यह कहकर दृश्य का परिमार्जन किया गया, अब चिति के दृश्यज्ञानत्व का प्रयत्नपूर्वक परिमार्जन किया जाता है।

इस प्रकार पूर्व सर्ग के बीसवें श्लोक में कहा गया समुद्रतरंगदृष्टान्त और उसका अवान्तर वैषम्य दृश्यमार्जन में उपयोगी है, यों कहकर उसका उपपादन किया, अब इक्कीसवें श्लोक में उक्त सुवर्णकटक दृष्टान्त और उसके अवान्तर वैषम्य का उसी प्रकार उपपादन करना चाहिए, यह कहने के लिए कुम्भ अनुवाद करते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे महाराज, देश और काल से परिच्छिन्न सुवर्ण में इसी तरह का कल्पित जन्यजनक क्रम है यानी कटकादि को लेकर जन्यजनकभाव की उपपत्ति की गई है। शान्त स्वभाव से विचारने पर तो न कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ विलीन ही होता है। अपनी ही सत्ता में अवस्थित ब्रह्म न किसीका उपादान कारण है और न किसीका निमित्त कारण है, वह केवल विशुद्ध अनुभवरूप है, अनुभवरूप उससे भिन्न दूसरा कुछ भी पदार्थ है नहीं, जो कुछ अहन्ता आदि जगत् पदार्थ भासता है, वह भी असीम ब्रह्मरूप ही है ॥१,२॥

दृश्य की असत्ता भले ही हो, परन्तु उसकी असत्ता होने पर विशुद्ध चैतन्य में दृश्यानुभवरूपता की जो प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति कैसे होगी ? यों राजा प्रश्न करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : मुनिवर, मैं मानता हूँ कि आनन्दात्मक चैतन्य में अहन्तादि दुःखप्रचुर जगत् नहीं रहता, परन्तु उसमें जो सर्गवेदन भासित होता है, वह किस कारण से होता है, उसे शीघ्र मुझसे कहिए ॥३॥

आकाश में विस्तृत सूर्यप्रकाश में अध्यस्त गन्धर्वनगर आदि की प्रकाशरूपता जैसे प्रतीत होती है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए, इस आशय से कुम्भ कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : साधो, असीम जगत् का विस्तार करनेवाला जो अधिष्ठान सद्रूप अनादि अनन्त

ब्रह्म है, वह सृष्टि के ज्ञान के सदृश बनकर अवस्थित है, अतः उसमें अध्यस्त भुवन विशुद्ध अधिष्ठान्मात्रस्वरूप है, इसीलिए वही जगत्–शरीर कहा जाता है ॥४॥

इस विषय में विज्ञानवादी बौद्धों का यह मत है – भुवन आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब भीतरी ज्ञान के परिणामरूप हैं, अज्ञानवश उनका बाह्यार्थवत् ज्ञान होता है, वास्तव में बाह्यार्थरूप हैं नहीं। गौतम, कणाद आदि पृथ्वी आदि पाँच भूतरूप बाह्य अर्थों को परमार्थ में भी सत्यरूप मानते हैं, माध्यमिक का कहना है कि शून्य ही बाह्य–आभ्यन्तर ग्राह्यग्राहकरूप से अज्ञानवश स्फुरित होता है, वास्तव में कुछ भी है नहीं – इन मतों का खण्डन कर रहे कुम्भ कहते हैं।

भद्र, न तो विज्ञानरूप अर्थ है, न बाह्य अर्थ है और शून्यरूप ही अर्थ है, क्योंकि सभी वादियों की कल्पनाएँ ज्ञान के रहते ही हो सकती हैं, ज्ञान के अभाव में नहीं, इसलिए ज्ञान की शून्यता, क्षणिकता, जन्यता, विनाशिता या परिणति कोई भी किसी तरह से नहीं कह सकता, अतः वही सारभूत वस्तु है। चैतन्यसार का जिस तरह से उपपादन किया जा सकता है, उस तरह से मैं उपपादन करता हूँ, आप उसमें दृष्टान्त का श्रवण कीजिए ॥५॥ जिस तरह जल में द्रवत्व सारभूत वस्तु है, उसी तरह सब पदार्थों की सारभूत वस्तु चैतन्य ही है। यदि चैतन्य नाम की वस्तु नहीं होगी, तो साधक के अभाव से सब जगत् 'है या नहीं है' इस प्रकार के व्यपदेश के लिए क्या अयोग्य होगा, यह विचार करने की बात है। इसी तरह रसभूत चिति की अचितिता कारण के बिना निरूपित नहीं की जा सकती। वह अनन्त चितिरूप माया द्वारा अपने स्वरूप में जगत् के आकार से या परमार्थ चैतन्यमात्ररूप से प्रकाशित करने में समर्थ है, अतः वह विद्यायुक्त या अविद्यायुक्त जैसा भी रहता है, वैसा ही प्रतीति से भी अवस्थित है ॥६॥

यदि वह स्वच्छ और अस्वच्छ दोनों स्वभावों से रहता है, तो उसमें स्वच्छस्वभावमात्रता की व्यवस्था कैसे होगी, इस पर कहते हैं।

सत्त्वमात्र का जो स्वभाव है, वही स्वच्छभाव है और सत्त्व का विरुद्धभाव अस्वच्छभाव है, अस्वच्छभाव अपने विरोधी सत्त्व का हनन करे चाहे न करे – दोनों ओर से उसकी सिद्धि ही नहीं है अतः सत्त्व और उसके विरोधी अस्वच्छभाव एवं असत्त्व की, प्रतियोगी और व्यवच्छेद का अभाव होने से, अस्वच्छता न होने के कारण परा चिति में स्वच्छभाव की व्यवस्था स्वभावतः सिद्ध हो जाती है ॥७॥

यदि शंका हो कि अस्वच्छभाव का सर्वथा अपलाप क्यों करते हैं – स्वच्छ चिद्रूप ही अस्वच्छ जगत्भाव के प्रति कारण बनने योग्य है, यों कल्पना क्यों नहीं करते, तो इस पर कहते हैं।

भद्र, यदि प्रशान्त ब्रह्मरूप पद अस्वच्छ जगत् के प्रति कारण बनने के लिए योग्य है, तो श्रुति आदि में निष्क्रिय, अगम्य, अप्रतर्क्य आदि शब्दों से जो वह कहा गया है, उसकी उपपत्ति किस तरह होगी ? इन सब युक्तियों से यह निश्चित होता है कि ब्रह्म किसी भी कार्य का न निमित्त कारण है और न उपादान कारण ही है, अतः इस सर्ग का अस्तित्व किसी काल में है ही नहीं ॥८,९॥

चिति के अध्यास के बिना दूसरे किसी भी उपाय से सृष्टि की उपपत्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं।

चैतन्य के अध्यास के बिना इस सृष्टि की दूसरी कोई उपपत्ति है ही नहीं, जिससे कि उसका उपपादन किया जाय, इससे जड़ सर्ग का अस्तित्व रहता ही नहीं। जो भी कुछ यह नेत्र के सामने नृत्य

करता है, वह एक तरह से अज्ञानवश चैतन्यघन ही स्फुरित हो रहा है। वही अहम्भाव, जगत् आदि शब्द और शब्दार्थरूप रसों से रंजित-सा होकर भासता है ॥१०,११॥

तब अकारणक ही यह जगत् माना जाय, इस तरह के यदृच्छावादिपक्ष का निरास करते हैं।

कारण का अभाव रहने पर किसी भी पदार्थ में कार्य उत्पन्न नहीं होता। जगत् में द्वित्व, एकत्व आदि का जो भान होता है, वह आकाशपुष्प के सदृश विकल्पमात्र ही है ॥१२॥

तब चिद्रूप ही जगत् और उसका कारण चिद्रूप ही ब्रह्म है। यदि कहो कि चिद्रूप की एकता में यह कार्य और यह कारण, यों विभाग करनेवाला कौन होगा, तो जन्म और नाश ही कार्य-कारण का विभाग करनेवाले होंगे, इस पर कहते हैं।

घट, पट आदि जागतिक वस्तु चिद्रूप नहीं हो सकती, क्योंकि जागतिक वस्तुओं का नाश अवश्यम्भावी है। चिति का नाश चिति से तो हो नहीं सकता, क्योंकि नाशकाल में यदि चिति की सत्ता मान ली जाय, तो 'चितिनाश' शब्द का कोई विषय ही नहीं होगा। जड़वस्तु से भी चिति का नाश नहीं माना जा सकता, क्योंकि जड़वस्तु चितिनाश में समर्थ नहीं है। यदि कहो कि चिति का नाश भी चिद्रूप ही है, अतः अपने और दूसरे के प्रकाशन में दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि चिद्रूप चितिविनाश स्वोत्पत्ति और स्वप्रतियोगी का प्रकाशक किस तरह हो सकेगा ? अपनी उत्पत्ति और उत्पत्तिपूर्वकालिक प्रतियोगी चैतन्य दोनों का उक्त नाश परिज्ञान कर नहीं सकता। अपनी उत्पत्ति और प्रतियोगी के ज्ञान के सिवा उसका नाश स्वयं उत्पन्न हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। साक्षी से स्वोत्पत्ति और स्वप्रतियोगी का ज्ञान तो हो नहीं सकता, क्योंकि चिति का विषय चिति नहीं होगी, अतः उसके वेद्यभूत उत्पत्ति विनाश और जगत् में जड़ता ही सिद्ध है, इस प्रकार जगत् में जड़ता सिद्ध हो जाने पर कारण का निरूपण न होने से कारण के बिना यदि उत्पत्ति मानी जाय, तो सदा ही जन्म और सदा ही विनाश होने लगेगा, क्योंकि जन्म और विनाश का निवारक तो कोई है नहीं। यदि आप (स्वभाववादी) पदार्थों को यों ही प्रमाणशून्य एवं अनुभवविरुद्ध नित्य-उत्पत्तिस्वभाव और नित्य विनाशस्वभाव मानते हैं, तो श्रुतिप्रमाणानुसार एवं विद्वानों के अनुभव से सिद्ध अखण्ड चैतन्यैकरूप स्वीकार करने में आपको कौन पीड़ा है, यह बतलाइये ॥१३,१४॥

यदि सब कुछ चैतन्यैकरसरूप है, तब चित् और अचित् यों द्विविध उपलम्भ कैसे होता है, इस पर कहते हैं।

साधो, यह चित् है और यह अचित् है, इस प्रकार का यह जो उपलम्भ होता है वह केवल चित्त की चमत्कृति है, दूसरा कुछ भी नहीं है। संसार में केवल चितित्त्व की ही सत्ता है। द्वित्व और एकत्व कुछ नहीं है, केवल कल्पनामात्र है। हे राजन्, इससे पदार्थसत्ता का अभाव होने पर उनकी भावना की असत्ता अनायास सिद्ध हो जाती है। सम्पूर्ण भावनाओं की असत्ता होने पर तो आपकी अहम्भावना का अस्तित्व कैसे रह सकता है ? अहम्भाव के असम्भव से फिर दूसरा बचता ही कौन है ? जिसे कि चित्त कहा जाय। इसलिए चित्त ही अहंरूप है, अहमर्थ से भिन्न दूसरा चित्तनामक पदार्थ है ही नहीं और जीव-ब्रह्मभेद तथा दृश्य-दृक् का भेद भी नहीं है। अतः वासना से रहित, शान्त मन से युक्त और बाहर की वाणी से रहित हो जाने पर आप परम चिदाकाशमय होकर अवशिष्ट हो जाते हैं, आप सदेह

होवें, चाहे विदेह होवें, चाहे अनेक पदार्थों के बीच में रहें, तो भी पर्वत के समान अटलरूप ही हैं, आपमें कुछ भी विक्रिया नहीं है। शुद्ध चैतन्यदृष्टि के सम्बन्ध से, जड़ पदार्थ की कदापि सिद्धि न होने के कारण, जड़ पदार्थों की भावना का भी अभाव हो जाने से भावनाजनित जीवरूप रहता ही नहीं, केवल स्वयं आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। 'सब ब्रह्मस्वरूप ही है' इत्यादि वेदार्थभावना से जनित ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा केवल ब्रह्मरूप अर्थ के ही प्रकाशित हो जाने पर फिर बेचारी चिन्ता का अस्तित्व ही कहाँ रहा ?। सब द्वैत का बाध हो जाने के कारण आप ब्रह्मरूप ही हैं, वह ब्रह्म निर्मल, कारणशून्य और आरम्भ से मुक्त हैं, वह शाश्वत है, निरामय है, आदि और मध्य से रहित है। वह एक होता हुआ भी अनेकरूप हुआ है, वास्तव में जगत् असत् और शून्य है। जगत्प्रतिभासरूप चिति भी अविकृत ब्रह्म ही है, अतः अन्त में वही अवशिष्ट रहता है, यह तात्पर्य है ॥१५–२१॥

सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठानबेवाँ सर्ग

चित्त है ही नहीं, इस ज्ञान को दृढ़ बनाने के निमित्त विषय की असत्ता से
चित्त का अभाव और अन्त में अकेले सत् ब्रह्म की सत्ता का सविस्तर वर्णन।

प्रकाश के रहते ही रूप आदि का जैसे प्रकाश देखा जाता है, वैसे ही चित्त के रहते ही चिति का या दूसरे पदार्थ का प्रकाश देखा जाता है, अन्यथा नहीं; इस परिस्थिति में यदि ब्रह्माकारवृत्तियुक्त चित्त बाधित हो जायेगा, तो दीपनाश होने पर जैसे अन्धकार हो जाता है, वैसे ही अन्धकार हो जायेगा। दूसरी बात यह है – जो सचित्त हैं, वे ही सचेतन हैं और जो अचित्त हैं, वे चेतनशून्य हैं, यह लोक में प्रसिद्ध है, अतः जीवन्मुक्त यदि नष्ट चित्त होंगे, तो मृत्तिका के सदृश अचेतन ही हो जायेंगे, परन्तु वैसा देखा तो जाता नहीं। अपितु चित्त के रहते ही निरतिशयानन्दरूपी परमपुरुषार्थ–शास्त्रफल–का अनुभव किया जा सकता है, चित्त के अभाव में नहीं, अननुभूत कोई भी पुरुषार्थ नहीं होता। किंतु, एक प्रश्न भी होता है, वह यह कि क्या ब्रह्माकार चित्त ही चित्त का बाध करेगा या दूसरा ? पहला तो कर नहीं सकता, क्योंकि स्वात्मा में क्रियाविरोध है; यह कहीं नहीं दृष्ट है कि काठ आदि दाह्य वस्तु का दहन कर रही अग्नि अपने–आपका भी दहन करे। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा बाधित होनेवाला जगत् उसका बाधक हो नहीं सकता। चित्तवृत्ति से अतिरिक्त लोक में बाधक अप्रसिद्ध होने से सुन्दोपसुन्दन्याय का अवसर भी नहीं लाया जा सकता। ब्रह्म तो अनादि है, अतः वह सबका साधक होने के कारण बाधक नहीं हो सकता, इसलिए चित्तबाध निरर्थक, दुष्कर और सर्वानुभव से विरुद्ध है, इत्यादि आशंकाओं के निरसन द्वारा बोध की दृढ़ता चाहनेवाले राजा शिखिध्वज पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : मुनिवर, चित्त का अस्तित्व ही नहीं है, इस प्रकार का बोध मुझे युक्ति से जिस तरह विस्पष्ट हो, उसे कहिए। चाहे वह युक्ति पूर्वोक्त ही हो चाहे दूसरी हो, क्योंकि अभी तक चित्त नहीं है, यह हमने दृढ़तापूर्वक नहीं जाना है ॥१॥

समस्त दोषों का परिहार कर जो युक्ति चित्त की बाधक है, उसे कहने के लिए कुम्भ मुनि चित्त का असत्त्व है और चित्त के अधिष्ठानभूत ब्रह्म का ही केवल सत्त्व है, यों प्रतिज्ञा करते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, चित्तनाम का पदार्थ किसी काल में, किसी देश में या किसी वस्तुरूप में कहीं है ही नहीं और जो यह चित्त-सा मालूम पड़ रहा है, वह ब्रह्मनाम की अविकारी वस्तु ही है ॥२॥ चूँकि सम्पूर्ण चित्त आदि प्रपंच अज्ञानात्मक है, इसलिए उसका अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि जो अज्ञानात्मक वस्तु रहती है, उसका ज्ञान से बाध हो जाता है। अतः अधिष्ठान ब्रह्म में अहम्, त्वम्, तत् इत्यादि कल्पित सजावट कैसे रह सकती है ? निचोड़ यह है – स्वात्मा में तभी क्रियाविरोध होता, जब कि अज्ञानबाध के सिवा दूसरा कोई चित्तादि का बाध होता। किन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि अज्ञानबाध ही अज्ञानकार्य आदि की निवृत्तिरूप है, अतः अज्ञानबाध की स्थिति में चित्त का अस्तित्व ठहर सकता ही नहीं। अतएव फिर अन्धत्व आदि दोष हो भी सकते नहीं, क्योंकि अज्ञान ही सर्वान्धित्व का प्रयोजक है; अज्ञानबाध होने पर स्वप्रकाश पूर्णानन्द का अवशेष रहने से निरतिशय पुरुषार्थ सिद्ध ही हो जाता है। चित्त के अधीन चैतन्य है भी नहीं, किन्तु अभिव्यक्त चिति के अधीन चैतन्य है, इस प्रकार का चैतन्य जीवन्मुक्तों में, चित्त का नाश होनेपर भी है ही; अतः जीवन्मुक्त अचेतन नहीं हो सकते। चित्त का विनाश हो जाने पर चित्तकृत चिति की अभिव्यक्ति भाग जायेगी, यह कहना तो सुविचारमूलक हो नहीं सकता, क्योंकि अनभिव्यक्त अज्ञानरूप आवरण के ही कारण रहती है। जब आवारक अज्ञान ही हट गया, तब चिति की अभिव्यक्ति स्वाभाविक होने से उसकी अनभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती, मेघ के आवरण का विनाश कर वायु द्वारा की गई सूर्य की अभिव्यक्ति शरत्काल में वायु के न रहने पर क्या नष्ट हो जाती है ? अर्थात् नहीं, सूर्याभिव्यक्ति बनी ही रहती है, बस यही न्याय प्रकृत में है ॥३॥ जो कुछ भी यह उदित जगत् है, वह कुछ है ही नहीं, यहाँ यदि कुछ है, तो सब ब्रह्म ही है, अतः किससे क्या किस तरह जाना जाय ॥४॥

उक्त अर्थ में 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुति का प्रमाणरूप से उद्धरण करते हैं।

प्राकृत प्रलय के अनन्तर पुराण आदि में प्रसिद्ध जो सृष्टि है, उस सृष्टि के आरम्भ में ही यह चित्त आदि जगत् उत्पन्न नहीं है, इसलिए मैंने 'यह चित्त-सा मालूम' पड़ता है, इत्यादि रूप से जो कहीं-कहीं निर्देश किया है, वह केवल आपके बोध के लिए ही किया है ॥५॥

प्रकृत अर्थ के साधन में पूर्वोक्त युक्ति भी समर्थ है।

उपादान आदि कारणरूप से जो प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है और जितने भावरूप से प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है, इसलिए ब्रह्म कारण नहीं है और इस जगत् का भी कोई कारण नहीं है। यों अज्ञानजनित भ्रान्तिरूप ही जगत् है, इसलिए उसकी किसी काल में सत्ता नहीं है। अतः यह जो दिखाई पड़ता है, वह भासनात्मक ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं ॥६,७॥

यदि सर्ग आदि वास्तव में नहीं है, तो 'तदात्मानं स्वयमकुरुत', 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा', 'एकं बीजं बहुधा यः करोति', 'कर्ता भोक्ता महेश्वरः' इत्यादि श्रुति-स्मृति-वचनों का प्रयोजन क्या ? यदि यह शंका हो, तो उसका समाधान यह है कि 'नेह नानास्ति किंचन' इस श्रुति में अपेक्षित निषेध्य का समर्पण कर अद्वैततत्त्व का व्युत्पादन करना ही उनका प्रयोजन है, तत्त्वार्थता उनमें नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

जो देव नामरहित और रूपरहित है, उस ब्रह्मरूप देव के विषय में कहना कि यह देव इस असदात्मक जगत् का निर्माण करता है वह न तो युक्त्यात्मक है, न सत्य है और वैसा न तो लोगों

का अनुभव है। जो स्वात्मा ईश्वर है, वह निराकार, अनाम और किसी दूसरे से आहत न होनेवाला है, इसलिए वह जगत् करता है, इत्यादि जो तात्पर्यशून्य अर्थवादों की सर्वज्ञ के विषय में उक्ति है, वह केवल उपहास के लिए ही है ॥८,९॥

इस प्रकार जगदुत्पत्ति की असिद्धि होने पर प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि अनायास सिद्ध है, यह कहते हैं।

हे राजन्, इसी प्रयोग से चित्त का अस्तित्व नहीं रहता, हे साधो, जब जगत् का ही अस्तित्व है नहीं, तब जगत् के अन्तर्गत चित्त का अस्तित्व तो कैसे रह सकता है ? ॥१०॥

जगत् की असत्ता में विषयों की असत्ता से भी चित्त की सत्ता नहीं है, यह कहते हैं।

चित्त तो वासनामात्ररूप है, वासना तब होती है, जब कि वास्य यानी वासना का कर्म (विषय) रहे। परन्तु वासना का कर्म जो जगत् है, वह तो स्वयं असत् है, अतः चित्त का अस्तित्व ही कहाँ ? ॥११॥

तब चित्तादि व्यवहार का विषय कौन है ? माया से उपहित ब्रह्म ही है, यह कहते हैं।

जो यह स्वयं ब्रह्मस्वरूप आत्मा अपने ही स्वरूप से अपने में स्फुरित होता है, उसीके चित्त आदि नाम हैं और उसीने उनकी रचना भी की है ॥१२॥

'चेतो हि वासनामात्रम्' इत्यादि श्लोक की व्याख्या करते हैं।

पहले तो कारण के अभाव से ही यह दृश्य वासना का विषय जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है, अतः चित्तरूपता आई कहाँ से ? ॥१३॥

'यदिदं कचति' इत्यादि श्लोक का भी, परमार्थदृष्टि से उसके फल–वर्णन में तात्पर्य है, यों व्याख्यान करते हैं।

अतः केवल चिदाकाशस्वरूप परमाकाश नामक विशुद्ध विज्ञान ही यह स्फुरित हो रहा है, इसलिए जगत् की सत्ता कहाँ से आई ? ॥१४॥

मायातत्त्वदृष्टि से भी उसकी व्याख्या करते हैं।

परमाकाशस्वरूप चितिदर्पण में जो कुछ अनिर्वचनीय मायारूप थोड़ा–सा स्फुरित हो रहा है, वह चित् रूपी दर्पण के कारण ही उत्पन्न है, अतः असल में न चित्त है और न जगत्–क्रिया है। समस्त अनर्थों को उत्पन्न करनेवाली अहम्, त्वम्, जगत् इत्यादि जो यह प्रतिपत्ति (ज्ञान) होती है, वह वास्तविक नहीं है, किन्तु साक्षीरूप मुझ में स्वप्न के सदृश मिथ्यारूप ही भासती है। चूँकि वासना के विषय जगत् की असत्ता होने से वासना की सत्ता नहीं है, इसलिए वासनात्मक चित्त ही कैसा, कहाँ, किससे और किस तरह से हो सकता है ? जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं है, वे ही चित्त और इस दृश्य जगत् को सद्रूप जानते हैं, वस्तुतः चित्त असत् है, उसका कोई आकार नहीं है और न पहले उत्पन्न ही हुआ है। चित्त इसलिए पहले उत्पन्न नहीं हुआ कि सर्ग के आरम्भ में ही उसे पैदा करनेवाला कोई कारण न था और लोक, शास्त्र और अनुभव से दृश्य वस्तु में अनादिता, अजता और स्थिरता की उपपत्ति कभी हो नहीं सकती। साकार, स्थूल तथा प्रतिघातयोग्य आकृतिवाले इस जगत् के लोक, शास्त्र और अनुभव से सिद्ध जो ये महाप्रलय आदि यानी प्रलयान्त विकार हैं, उनका निराकरण करना योग्य नहीं है, क्योंकि निराकरण करने में उपपादक जो हेतु हो सकते हैं, वे हैं ही नहीं। शास्त्र, अनुभव और वेदार्थ सिद्धान्तों के ऊपर दृष्टिपात करने से वे प्राकृत आदि तीन प्रलय

हैं ही नहीं, यह कहनेवाला उन्मत्त ही हो सकता है। जिसकी बुद्धि में लोक, शास्त्र और वेद प्रमाण नहीं हैं, वह केवल लोक का आश्रय करनेवाले असत् चार्वाक आदि से भी अत्यन्त मूर्ख है, अतः सज्जन को उसका कभी अवलम्बन नहीं करना चाहिए ॥१५–२३॥

तब श्रुति में उक्तब्रह्मकारणतापक्ष का ही अवलम्बन कीजिए, इस पर कहते हैं।

साकार तथा प्रतिघातयुक्त इस दृश्य जगत् का कहीं पर भी निराकार प्रतिघातशून्य ब्रह्म कारण नहीं हो सकता ॥२४॥

निराकार ब्रह्म में कारणत्व का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति का तात्पर्य 'तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः' इत्यादि बादरायणन्याय से जगत् तत्त्वतः ब्रह्मरूप ही है, इस अर्थ में पहले कहा ही जा चुका है। इस तरह ब्रह्मरूप से लक्ष्यमाण जगत् व्यवहार में, मूर्तरूपता का विनाश न होने से, अर्थक्रिया में समर्थ है ही, इसलिए लोकविरोध नहीं हो सकता। परमार्थ से तो ब्रह्मरूप ही जगत् है, मूढदृष्टिवालों के मत में प्रसिद्ध जो उसका रूप है, तद्रूप नहीं, अतः वेदविरोध भी नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

हे मुने, इस तरह अप्रसिद्धरूप से (अकारणत्वादिरूप से) लक्ष्यमाण ब्रह्म सदा ही तत्स्वरूप है। इस तरह सिद्धान्त होते हुए भी व्यवहार में जगत् अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है, यह भी नहीं है और परमार्थ में जगत् ब्रह्मरूप नहीं है, यह भी नहीं हो सकता ॥२५॥

अब समस्त सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियों का और 'नेति नेति' इत्यादि सृष्टिनिराकरण करनेवाली श्रुतियों का तात्पर्य, मिलाकर, कहते हैं।

इससे अंशशून्य, प्रतिघातरहित, चिदाकाश, निराकार, अनन्त, पूर्व से पूर्व होते हुए भी निरंश, पूर्णस्वभाव, सदाप्राप्त ब्रह्मका–जो यह समस्वरूप स्वतः अपना कचन है, वह अपना स्वरूप ही सर्ग–प्रलयरूपधारी जगत् के रूप में जब तक अज्ञान रहता है तब तक जाना जाता है, यह सृष्टि-श्रुतियों का तात्पर्य है और वही एकक्षण के बाद 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रों के अनुसार ज्ञात हुआ सत् ब्रह्मरूप होकर द्वैत–निर्मुक्त स्वभाव में स्थित हो जाता है, यह सृष्टिनिराकरण करनेवाली श्रुतियों का तात्पर्य है। शास्त्रीय बोध से सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, न तो कहीं जगत् आदि का ज्ञान है, न कहीं चित्त का अभाव है, न कहीं चित्त आदि हैं और न कहीं द्वैत–ऐक्य आदि की कल्पना ही है। उस प्रकार जाना गया समस्त जगत् उपद्रवनिर्मुक्त होकर निराधार, अजन्मा, अनादि, स्वात्मरूप यथास्थित सद्ब्रह्मरूप ही हो जाता है। यंह जो अज्ञानियों द्वारा देखे गये रूप से युक्त जगत् है, वह न नाना है और न अनाना ही है, अतः यथास्थित का व्यवहार कर रहे आप उत्तम काठ के सदृश वाग् आदि व्यापारों से निर्मुक्त होकर स्थित रहिए ॥२६–३०॥

अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त

निनानबेवाँ सर्ग

स्थूणानिखनन न्याय से बोध को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रबुद्ध हुए भी
राजा शिखिध्वज को कुम्भ द्वारा पुनः बोधित करना।

इस तरह बोधित हुए राजा शिखिध्वज–उपदेशजन्य ज्ञान से सम्पूर्ण सन्देह आदि का बीज मेरा अज्ञान नष्ट हो गया – यों शब्दोच्चारण कर दिखलाते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे महामुने, आपकी दया से मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे स्मृति (विस्मृत हुए आत्मा का साक्षात्कार) लब्ध हो गई, मेरा सन्देह दूर हो गया; मेरी बुद्धि विश्रान्त हो गई, मैं आत्मवान् होकर अब स्थित हूँ। भगवन्, अब मैंने ज्ञेय वस्तु का ज्ञान कर लिया, महामौनी हो गया, मायारूपी महासमुद्र को पार कर गया; अब मैं शान्त हूँ, मैं अहंकारस्वरूप नहीं हूँ, आत्मज्ञानी बनकर सर्वविध विकारों से शून्य होकर अवस्थित हूँ। अहो, अति चिरकाल तक मैं भवसागर में परिभ्रमण करता रहा, परन्तु अभी मैं अक्षुब्ध अक्षय स्थान को प्राप्त हुआ हूँ। हे मुने, इस तरह अवस्थित होने पर मूर्खों से अवबुद्ध अहन्तासहित ये तीनों जगत् नहीं हैं। जो कुछ यह भासित हो रहा है उसे मैं ब्रह्मरूप ही जानता हूँ ॥१–४॥

राजा शिखिध्वज द्वारा कही गई बातों का अनुमोदन कर रहे कुम्भ ऋषि कहते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, आपका कथन सत्य है। जिस चिदाकाश में यह जगत् ही नहीं है वहाँ इस तरह का 'अहं त्वम्' आदि भानात्मक गन्धर्व–नगर–व्यवहार कैसा ? कहाँ, किस निमित्त से और किस प्रकार हो सकता है ? हे राजन्, आप यथाप्राप्त व्यवहार करते हुए शान्तमना, मौनी मुनि बनकर प्रशान्त सागर के उदर में शान्त हुए आवर्तपरिस्पन्दन के सदृश अवस्थित रहिये। यह सब यथास्थित शान्त ब्रह्म–स्वरूप ही इस तरह अवस्थित है। मैं और यह सब जगत्–शब्दार्थस्वरूप आकाशमय ही है यानी शून्य ही है। यह सब संसार आदि और अन्त से शून्य चित्चमत्कृतिनामक जो आत्मस्वरूप आकाश है वही अपने चाकचक्य से दीपित हो रहा है। जैसे कुण्डल आदि रचनाविशेषदृष्टि के शान्त हो जाने पर सुवर्णमात्र अवशिष्ट रह जाता है वैसे ही जगदादि अर्थों के शान्त हो जाने पर एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। जैसे समष्टि–अहंकारात्मक स्वयंभू संकल्पमात्र हैं वैसे ही स्वयं व्यष्टि–अहंकार भी संकल्पमात्र है। समष्टि और व्यष्टि का बन्ध और मोक्ष–ये दोनों क्रमशः अभिमान और अभिमान–परित्याग से जनित आत्म–वेदन के अधीन होकर व्यवस्थित हैं ॥५–१०॥

उसीको स्पष्टरूप से बतलाते हैं।

'देह आदि मैं हूँ' इस तरह का संकल्प अत्यन्त विनाशी बन्धन के लिए होता है तथा 'देहादिरूप मैं नहीं हूँ' इस तरह का संकल्प विमलात्मक मोक्ष के लिए होता है ॥११॥

मोक्ष क्या है, यह कहते हैं।

सदा क्रमशः हो रहे बन्ध–मोक्ष तथा संकल्पादि शब्दार्थों का साक्षिभूत जो स्वरूप–ज्ञान है वही सद्ब्रह्म और कैवल्य कहा जाता है। अहंकारज्ञान का अज्ञान मोक्ष है तथा अहंकारज्ञान ही बन्ध है। इसलिए हे राजन्, 'मैं वह ब्रह्म ही हूँ, अहं पदार्थ मैं नहीं हूँ' इस तरह के शुद्ध कैवल्यात्मक बोध से युक्त होकर आत्मवान् बन जाइये ॥१२,१३॥

शुद्ध कैवल्यात्मक बोध संकल्प के क्षय से सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

सम्यग् ज्ञानोदय में हेतुभूत संकल्प के त्यागमात्र से मोक्ष की सिद्धि के लिए असदात्मक संकल्प अपने आप ही नष्ट हो जाता है ॥१४॥

शुद्ध ब्रह्म कारण नहीं हो सकता, इससे दृश्य पदार्थों का अभाव है – दृश्य पदार्थों का अभाव निश्चित होने से संकल्प का क्षय हो जाता है, संकल्प के क्षय से अहंभाव का क्षय हो जाता है और

अहंभाव के क्षय से जीवभावादिरूप संसार का क्षय हो जाता है; उसके बाद एकमात्र ब्रह्म अवशिष्ट रह जाता है, इस क्रम को बतलाते हैं।

अप्रतर्क्यस्वरूप शिव में कारणता नहीं है, कारण के अभाव से कार्य पदार्थ भी नहीं है, कार्य पदार्थों के अभाव की सिद्धि होने पर उनका ज्ञान (संकल्प) सिद्ध नहीं है और संकल्परूप कारण के अभाव से अहंभाव का भी उदय नहीं हो सकता। अहम्भाव का उदय न होने से किसका कैसा संसार ? और संसार के अभाव से सर्वात्मक केवल परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। ज्ञान से पहले भी जो यह जगद्रूप से अवभासित होता था वह परमार्थरूप से ब्रह्म ही उस तरह से अवस्थित था। तत्त्वबोध से कोई अपूर्व नहीं प्रकट होता, किन्तु परब्रह्मस्वरूप स्वभाव में स्थित परब्रह्म ही परब्रह्म से अपूर्व स्वरूप ही प्रकट होता है। उस (सदैकरूपत्व) हेतु से जो सर्वात्मक वस्तु है, वह वज्रशिला से निबिडित (परिपूर्ण) यानी वज्रशिला के उदर की नाईं दृढ़ और स्थिर है, उसमें स्थित जो जगत् है, उसे वज्रमणि के रश्मिमय हजारों प्रतिबिम्बों के आकारों के सदृश जानिये ॥१५-१९॥

अब वह मुक्ति में कैसे स्थित है, उसे कहते हैं।

संकल्प के नष्ट हो जाने पर सामने स्थित संकल्पनगर का जो रूप रहता है उसे आप आकाश से भी बढ़कर अत्यन्त स्वच्छ सत्असत्मय इस जगत् का रूप समझिये ॥२०॥

तब अचल ब्रह्म में जगत्-स्पन्दन का प्रत्यय कैसे होता है, इस पर कहते हैं।

जैसे वज्रशिला के उदर में प्रतिबिम्बात्मक पुरुष स्पन्दनशील न होता हुआ भी स्पन्दित होता है वैसे ही स्पन्दनशील, मनन-रहित शान्त और जगत्-शब्दार्थ से रहित इस जगत् को जो देखता है वही देखता है। सम्यग् ज्ञान का उदय होने पर ब्रह्य रूपदर्शन तथा आन्तरिक मानसिक कल्पनाएँ निःसार हैं, ऐसी आगमप्रमाण से उत्पन्न जो स्थिर भावना उत्पन्न होती है उसीको विद्वान् लोग निर्वाण की हेतु होने से निर्वाण (मोक्ष) कहते हैं ॥२१,२२॥

'जगच्छब्दार्थरहितं यः पश्यति स पश्यति' यह जो कहा है उसकी दृष्टान्तपूर्वक व्याख्या करते हैं।

जैसे स्पन्दशून्य वायु, दीपादि आकारविशेष से शून्य आकाशगत प्रकाश अथवा कटकादि रचनाविशेष से शून्य सुवर्ण है वैसे ही जगत् भी किसी रचनाविशेष से शून्य ब्रह्म ही है, ऐसी सम्भावना अवश्य करनी चाहिए ॥२३॥

'रूपालोकमनस्काराः' इसकी भी व्याख्या करते हैं।

बोध से ब्रह्मरूप जगत् के ये बाह्य रूपदर्शन तथा आन्तरिक मानसिक कल्पनाएँ, जो जगत् की प्रतीति करानेवाली है; नितान्त असद्रूप से अवभासित हो जाती हैं। जिस तरह समुद्र में अनेक भी तरंग आदि तरंगशब्दार्थ से रहित जलमात्र ही हैं; उसी तरह बहुत-सी वस्तुएँ ज्ञान का उदय होने पर सर्गशब्दार्थ से रहित सर्गशून्य एकमात्रब्रह्म ही हैं ॥२४,२५॥

'सर्ग' शब्द के अर्थभूत भेद का बाध हो जानेपर सृष्टि और परब्रह्म में ऐक्य ही भासित होता है, इसको व्यतिरेक से दृढ़ करते हैं।

यह सृष्टि ही सृष्टिशब्द के अर्थ से (भेद से) रहित परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है, क्योंकि यह शाश्वत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इसी श्रुति का वाक्यार्थ है। सबका उपबृंहण (विकास) करता है, इसलिए

'ब्रह्म' है, इस प्रकार ब्रह्मशब्द की अर्थसम्पत्ति होने पर ही लोक में सर्गशब्दार्थ की बुद्धि की गई है और सर्गशब्दार्थ की संसिद्धि होने पर यानी सर्ग-नाम और रूप का विसर्ग (त्याग)-इस तरह सर्ग-शब्दार्थ की सम्पत्ति होने पर त्रिविध परिच्छेद की निवृत्ति हो जाने से 'बृह' धातु के अनुसार ब्रह्मशब्द का अर्थ निकलता है, इसलिए सर्गशब्द और ब्रह्मशब्द दोनों एकार्थक ही हैं ॥२६,२७॥

तब अशब्द वस्तु में ब्रह्मशब्द की प्रवृत्ति कैसे होती है, इस पर कहते हैं।

समस्त शब्दभावना और समस्त शब्दार्थभावना से अभिव्यक्त शुद्ध चिदाकाश ही अवस्थित रहता है वही ब्रह्मशब्द से कहा जाता है। थोड़े भी परिच्छेद का स्वीकार कर लेने पर 'बृह' धातु के अर्थ में संकोच हो जायेगा, अतः अशब्द शब्द से जैसे कहा जाता है वैसे ही ब्रह्मशब्द से भी वही कहा जाता है, यह भाव है। अथवा जगत्-शब्द के सदृश ब्रह्मशब्द का जो वाच्यभूत अर्थ है उसको जान लेने के बाद लक्षणा द्वारा अखण्डार्थरूप सम्यग्ज्ञान सिद्ध हो जाने पर जो अवशिष्ट अज, शान्त आत्मवस्तु रहती है उससे ब्रह्मशब्दादि वाणी भी निवृत्त हो जाती है। हे राजन्, तत्त्वज्ञान हो जानेपर यह समस्त जगत्स्वरूप जो यथास्थित है, वह अतिदृढ़ वज्रपाषाणरूप परब्रह्मस्वरूप ही है और जिस दशा में अज्ञान के कारण 'मैं सर्वात्मक हूँ' यह ज्ञान नहीं हुआ, उस दशा में भी एकात्मक स्वस्वरूप होकर रहता ही है, इसलिए ब्रह्म और ज़गत् की एक ही सत्ता है ॥२८-३०॥

निनानबेवाँ सर्ग समाप्त

सौवाँ सर्ग

ब्रह्म सत्ता से ब्रह्म के सदृश जगत् की पृथक सत्ता का निषेध
तथा जन्म आदि विकारों से रहित ब्रह्म की स्वतः सत्ता का विधान।

यदि ब्रह्म और जगत् इन दोनों की एक ही सत्ता है तब उसी सत्ता से ब्रह्म की नाईं जगत् भी परमार्थ सत्य क्यों नहीं होगा, मिथ्या वस्तु के कारण का तो निरूपण अत्यन्त कठिन है, परन्तु सत्य वस्तु का तुल्यस्वरूप होने के कारण ब्रह्म कारण हो सकता है, यों राजा शिखिध्वज आशंका करते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे महाबुद्धे, यदि ऐसी बात है तो जिस तरह परब्रह्मरूप कारण सत्य है वैसे ही यह जगत् कार्य भी सत्य है, यह मैं जानता हूँ। कुम्भ ने कहा : हे राजन्, जिसमें कारणता है उसका वैसा कार्य हो सकता है। परन्तु जो निर्गुण ब्रह्म है वह तो पहले से ही कारण नहीं है, फिर उससे कार्य होगा ही कैसे ? ॥१,२॥

ठीक है, तब निर्विशेष ब्रह्म में स्थित मायाशबल ही जगत् का कारण है, यदि ऐसा कहें, तो इस पर कहते हैं।

इस निर्विशेष ब्रह्म में कोई मायाशबल कारण और कोई उसका कार्य जगत् किसी समय है ही नहीं। मायादृष्टि से ही माया, मायाशबल और उसके कार्यों की स्थिति रहती है। परमार्थदृष्टि से तो यह सम्पूर्ण विद्यमान जगत् सर्वात्मक शान्त और अज ही है। इस विषय में वार्तिक में कहा गया है - 'अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥ यानी अविद्या है, यह भी अविद्या में रहकर ही कल्पना की जाती है, ब्रह्मदृष्टि से तो यह अविद्या किसी तरह युक्तिसिद्ध

हो ही नहीं सकती ॥३॥

अजन्मा होने से इसमें सादृश्यप्रसक्ति अवश्य होगी, यह कहते हैं।

जो कार्य कारण से उत्पन्न होता है वह कारण के सदृश होता है। जो यहाँ उत्पन्न ही नहीं होता, उसमें भला सादृश्य आयेगा ही कहाँ से ? ॥४॥

उत्पन्न क्यों नहीं होता, इस पर कहते हैं।

हे राजन्, भला आप बतलाइये तो सही, जिसका कोई बीज है ही नहीं, वह उत्पन्न कैसे होगा ?

बीज के अभाव से वही बीज क्यों नहीं होगा, इस पर कहते हैं।

हे राजन्, जो वस्तु अप्रतर्क्य और अगम्य है, उसमें बीजता ही कहाँ ठहरेगी ? ॥५॥

उसमें बीजादि हेतुओं का अभाव कैसे है, यदि ऐसी शंका हो, तो इसका उत्तर यह है कि प्रमाण से सिद्ध उसके उचित देश और काल नहीं है, इसीको कहते हैं।

देश और काल के वश से सभी पदार्थ कारण से युक्त और प्रमाण से गम्य होते हैं। तब तो ब्रह्मविषयक प्रमा में ही निमित्त और उपादान कारण विषय रहें; तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि विरोध है, यह कहते हैं।

जिस प्रमाण का कर्ता आदि कारकमात्र का विरोधी ब्रह्म विषय है, उससे हेतु और उपादान कारण की प्रमा उत्पन्न होती है, यह कैसे बोल सकते हैं ? ॥६॥ चूँकि कर्ता, कर्म और कारणशून्य परमशिव में कारणता नहीं है, इसलिए जगत् शब्दार्थज्ञान का वह कारण नहीं है ॥७॥ अतएव हे राजन्, शुद्ध आकाशसदृश, सदात्मक निर्विशेष जो ब्रह्मवस्तु स्थित है उसीको आप अपने हृदय में 'मैं वही शुद्ध ब्रह्म हूँ' यों तत्त्वदृष्टि से धारण कीजिये। वही असम्यग् दर्शियों का विषय असीम जगत् है ॥८॥

चिन्मात्ररूप प्रमा से ही यह जगत् ब्रह्मरूप बन जाता है और अतत्त्वाकार मन की भ्रान्ति से ब्रह्म जगद्रूप बन जाता है, यह कहते हैं।

चिन्मात्र अजर शान्त जो एक वस्तु है वही प्रमा की विषय की जाती है, उसीसे यह जगत् सत्, शान्त ब्रह्मरूप जाना जाता है (तथा ब्रह्म ही अतत्त्वाकार मन की भ्रान्ति से जगद्रूप से अवबुद्ध होता है) ॥९॥ हे पृथिवीपते, चित्त का जो अन्यथाभाव है वही ब्रह्मस्वरूपहानि कही गयी है, जो पण्डितों से स्वानुभूत है ॥१०॥

उसीको स्पष्ट बतलाते हैं।

हे नृप, नाशस्वभाव उस चित्त को नाशात्मक जानिये, क्योंकि क्षणभर के लिए भी आत्मस्वरूपविस्मरणरूप वह नाश कल्पकालपर्यन्त विस्मृत चित्तशब्द से कहा जाता है ॥११॥

असंकल्प द्वारा पर्यवसित तत्त्वज्ञान से वह चित्त नष्ट हो जाता है, यह कहते हैं।

सम्यग् ज्ञानोदय के हेतुभूत असंकल्पमात्र से असदात्मक संकल्पस्वरूप चित्त स्वयं ही मोक्षसिद्धि के लिए क्षीण हो जाता है ॥१२॥

ठीक है, संकल्प का नाश हो जाय, फिर भी विश्व की निवृत्ति कैसे होगी, यदि ऐसी आशंका की जाय, तो उसका उत्तर यह है कि मिथ्या होने से ही। 'विशति परमात्मन्येकीभवति न वस्त्वन्तरतयाऽवतिष्ठत इति विश्वम्' (जो परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है – एकरूप से मिल जाता है, न कि किसी दूसरी वस्तु के रूप से रहता है उसका नाम है – विश्व) ऐसे विश्वशब्द के निवर्चन को हृदय

में रखकर कहते हैं।

अपने अधिष्ठान ब्रह्म में प्रविष्ट होनेवाला, यह विश्वशब्द का अर्थ है – इसके अनुसार यदि अपने नाम से ही अपना अभाव स्वीकार करनेवाला यह विश्व कहा जाता है, तो हे कमलनेत्र, (आप बतलाइये तो सही) यह विद्यमान कैसे हो सकता है ? ॥१३॥

इसमें लोकवृत्त को प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं।

हे राजन्, दोनों हाथ उठाकर जो ऊँचे स्वर से बार-बार यह कहता है कि मैं शूद्र हूँ, वह भला विप्र कैसे हो सकता है और उसका विप्रत्व है कैसा ? सन्निपात से कुपित धातुवाला जो मनुष्य बार-बार ऊँचे स्वर से चिल्लाता है कि मैं मर गया, मैं मर गया; हे राजन्, उसे आप जान लीजिये कि वह मृत्यु की गोद में सो गया है, उसका जीवन एक भ्रममात्र है ॥१४,१५॥

तब चित्त आदि हैं, इस अनुभव की क्या दशा होगी, यदि ऐसी आशंका हो, तो उसका उत्तर यह है कि वह सब बिलकुल भ्रान्तिमात्र है, इसे अनेक दृष्टान्तों से बतलाते हैं।

अलातचक्र के सदृश भ्रमाकृति जो यहाँ जगत्, चित्त आदि दिखाई देता है वह मृगतृष्णाजल, दो चन्द्र आदि की भ्रान्ति तथा बालकल्पित वेताल आदि की नाईं है ॥१६॥

ठीक है, तब तो भ्रान्ति के एक बहुत बड़े पुंजरूप उसे सत् ही मान लीजिये। नहीं, ऐसा कहते हैं।

हे महीपते, जो सर्वथा भ्रमपुंजस्वरूप है वह भला सत्य नाम से कैसे कहा जा सकता है ? अज्ञानजनित भ्रान्ति ही अन्तःकरण और चित्तादिशब्दों से कही जाती है। सत् की नाईं अवस्थित असत् अज्ञान ही चित्त कहा जाता है। अज्ञान असंवेदनस्वरूप है और ज्ञान है संवेदनरूप ॥१७,१८॥

तब अज्ञानरूप से ही चित्तादि को सत्य कहा जाय, इस पर कहते हैं।

संवेदनरूप ज्ञान से अज्ञान में सत्त्वबुद्धि का नाश हो जाता है, हे साधो, मरुमरीचिका में जलज्ञान व्यर्थ भ्रान्ति ही है। जैसे मरुमरीचिका में हुआ जलज्ञान 'यह जल नहीं है', इस ज्ञान से नष्ट हो जाता है वैसे ही 'यह चित्त है' इस रूप से हृदय में हुआ संवित् का जो प्रौढ़ अज्ञानात्मक मल है वह 'यह चित्त नहीं है' इस ज्ञान से समूल विनष्ट हो जाता है। जैसे अज्ञानभ्रम से उत्पन्न हुई रज्जु में सर्परूपता 'यह सर्प नहीं है' इस तरह के हृदय में आरूढ़ ज्ञान से नष्ट हो जाती है, वैसे ही आत्मा में अज्ञानभ्रम से उत्पन्न हुआ मनोरूप चित्त 'यह चित्त नहीं है' इस तरह के हृदय में आरूढ़ विज्ञान से विनष्ट हो जाता है। चित्त, मन, अहंकार आदि सकल पदार्थ हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः इस जगत् में चित्त नहीं है और इसी तरह अहंकारादि से संयुक्त देहादि कुछ भी नहीं है, किन्तु एकान्त निर्मल एक संवित् ही है। विमूढ़ उस संवित् के द्वारा ही संकल्प, चित्त आदि की रचना की गई थी। आज प्रबुद्ध हुई संवित् ने संकल्प के अभाव से उन सबका परित्याग कर दिया। हे महाबाहो, जैसे पवन से अग्नि में ज्वालाजाल ऊपर उठता है और उसके अभाव से फिर नष्ट हो जाता है वैसे ही संकल्प से जो पदार्थ आता है वह संकल्प के अभाव से चला जाता है। जैसे जल से समुद्र ग्रस्त है वैसे ही आत्मतत्त्व से अत्यन्त घनीभूत विस्तृत ब्रह्मसत्ता से यह सारा संसार व्याप्त (ग्रस्त) है। मैं नहीं हूँ, अन्य नहीं है, न आप हैं, न ये सब पदार्थ हैं, न चित्त है, न इन्द्रियाँ हैं और न आकाश ही है। केवल एक निर्मल आत्मा ही है ॥१९-२८॥

तब जीवन्मुक्त लोग घटादि–आकार किसको देखते हैं, इस पर कहते हैं।

घटादि के आकाररूप से एक वह आत्मा ही जीवन्मुक्तों को दिखाई देता है। यह चित्त है, यह मैं हूँ, इत्यादि कुकल्पना उन्हें कैसी ? हे महीपते, इस त्रैलोक्य में न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता ही है। सत् और असत् भावनारूप यह केवल चिति का उल्लासमात्र है। यह सर्वात्मक व्यापक ब्रह्म परमात्मा ही जब एक बार प्रकट हुआ, तब द्वित्व और एकत्व रहता ही नहीं। भ्रम तथा मृत्यु आदि का भय भी नहीं रहता। इसलिए हे मित्र, आप सम्पूर्ण इन्द्रियों में तथा इन्द्रियों से ग्राह्य अग्नि आदि के आकारों में सन्मात्रस्वरूप से व्याप्त हैं, अतः हे महाबुद्धे, आप दाह हेतु आध्यात्मिकादि भावों से दग्ध नहीं हो सकते और न आप कहीं लिप्त ही हो सकते हैं। हे मित्र, निर्मल आकाशस्वरूप तथा कैवल्यानन्तरूप आपका न तो कुछ विनष्ट हो सकता है और न कुछ बढ़ ही सकता है। इच्छा और अनिच्छा स्वरूप शक्तियाँ तथा क्रियाशक्ति भी आप ही हैं, क्योंकि हे मित्र, अपनी कलाओं से पृथक् चन्द्रमा उपलब्ध नहीं होता। हे महीपते, अजन्मा, अजर, अनादि अजस्वभाव (📖) निर्मल, सदा एकरूप, सकृत् प्रकाशस्वरूप, कलनारहित, अपने स्वरूप का परिचय करानेवाली लीला से युक्त, सन्मात्र से उदित, सम्पूर्ण व्यवहारों से पूर्व सिद्ध जो अज वस्तु है वही आत्मतत्त्व है ॥२९–३५॥

सौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ एकवाँ सर्ग

ज्ञान की दृढ़ता से राजा शिखिध्वज की कृतकृत्यता,
जीवन्मुक्ति में अचित्तता तथा तत्त्व की स्थिति का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह अकृत्रिम कुम्भ के उस कथन का विचार कर रहे राजा शिखिध्वज अपने पूर्व भाव को छोड़कर क्षण भर स्वयं उस आत्मपद में प्राप्त हो गये। शिलातल में खोदी गई स्पन्दनशून्य अवयवों से युक्त आकारवाली प्रतिमा की नाईं वह राजा मन और नेत्र के व्यापारों को बन्दकर शान्तवाक् मुनि हो गये। हे महाबाहो, उसके बाद एक मुहूर्त में प्रबुद्ध हुए अतएव विकसित नेत्रवाले उस राजा से कुम्भरूपिणी चूडाला बोल उठी। कुम्भ ने कहा : हे महाबाहो, महान, शुद्ध, विस्तृत, निर्मल तथा योगियों की सुन्दर शय्या के समान इस निरतिशयानन्द पद में क्या आप विश्रान्त हो चुके ? राजन्, क्या आप अन्तःकरण से प्रबुद्ध हो चुके ? क्या आपने अपनी भ्रान्ति छोड़ दी ? क्या आपने ज्ञेय पदार्थ का अच्छी तरह ज्ञान कर लिया ? क्या आपने द्रष्टव्य वस्तु देख ली ? राजा शिखिध्वज ने कहा : हे भगवन्, आपकी दया से मैंने वह महती आत्मपदवी देख ली, जो निरतिशयानन्दरूपी भूमिका तथा हिरण्यगर्भ के आनन्दतक विषयानन्दसमूह के ऊपर (उत्कर्ष की पराकाष्ठा में) अवस्थित है। अहो, वेद्य वस्तु को जान लेनेवाले सज्जन महात्माओं का संग इस अनादि संसार में कभी भी अनुभूत न होनेवाला जो निरतिशयानन्द है तत्प्रचुर है, अतः सर्वोत्कृष्ट फल का प्रदाता है ॥१–७॥

(📖) यहाँ पर तीन 'अज' पदों से जन्म, वृद्धि और विपरिणाम का खण्डन किया गया हैं तथा 'सदा एकरूप' इस विशेषण से अन्य विकारों का खण्डन किया गया है, यह समझ लेना चाहिए।

सामान्यरूप से कही गई बात की विशेषरूप से व्याख्या करते हैं।

भगवन्, जिस महाअमृत की प्राप्ति महा अमृतस्वरूप ही मैंने अज्ञानवश सारे जन्म में नहीं की, आज आपके समागम से उसकी मैंने स्वयं अनायास ही प्राप्ति की। हे कमललोचन, अनन्त और आद्य इस अमृतरूपी आत्मपद को मैंने पहले ही क्यों नहीं प्राप्त किया ? ॥८,९॥

चित्तगत कषायों का (वासनाओं का) परिपाक न होने से पहले आप ज्ञान प्राप्त न कर सके, इस समय तो तपस्या के द्वारा उनका परिपाक हो जाने से आपने प्राप्त कर लिया, इस आशय से कुम्भ उत्तर देते हैं।

कुम्भ ने कहा : हे राजन्, भोग की इच्छाओं का त्याग कर चुके मन के उपशान्त होकर अवस्थित हो जाने पर सम्पूर्ण इन्द्रियों और मन के भोगरूप कषायों का पाक सम्पन्न हो जाने से चित्त में उपदेश की विमल उक्तियाँ उस तरह स्थिति को प्राप्त होती हैं, जिस तरह सफेद शुद्ध वस्त्र के ऊपर कुंकुम जल के बिन्दु (ॾ)। हे राजन्, आपके अनन्त स्ववासनास्वरूप कषायों का, जो अनेक जन्म के शरीरों द्वारा एकत्र किये गये थे, आज परिपाक उदित हुआ है। हे कमललोचन साधो, काल से पककर लिंग देह से सम्पूर्ण मल (卐) उस तरह गिर जाते हैं, जिस तरह काल से पककर वृक्षों से उनके फल नीचे गिर जाते हैं। हे मित्र, वासनात्मक मलों के शरीर से दूर चले जाने पर गुरु जो विमल उपदेश देते हैं, वह अन्तःकरण में उस तरह शीघ्र प्रविष्ट हो जाता है, जिस तरह कमल के दंड रूप लक्ष्य में बाण। हे महामते, कषायों का पाक सम्पन्न हो जानेपर आज आप मेरे द्वारा विबोधित हुए हैं, इसलिए आज ही आपके अज्ञान का सर्वथा नाश हुआ। आज आपके कषायों का खूब परिपाक हो गया। आज ही आपने ज्ञानार्थ उपदेश का तात्पर्यरूप से अवधारण किया है। उपदिष्ट अर्थों का अपने हृदय में धारण करने से आप इस समय इस संसार में उपदेश से समन्वित हो गये। उपदेश-फलस्वरूप साक्षात्कार ज्ञानवान् भी अभी आप हुए हैं। हे राजन्, सत्संग के बहाने आज आपके शुभ और अशुभ सब तरह के कर्मों का बिलकुल क्षय सम्पन्न हो गया ॥१०-१७॥

आपका अज्ञान आज ही मध्याह्नकाल में क्षीण हुआ है, यह मुझे अच्छी तरह मालूम है, यह कहते हैं।

हे महीपते, जब तक आज के दिन का यह पूर्वभाग अवशेष था, तभी तक आपको चित्त में 'अहं, मम' इत्यादिरूप अज्ञान भी बना हुआ था, यह मुझे खूब मालूम है। हे भूपते, आज ही मध्याह्न में मेरे वचनों के ज्ञान से हृदय से बिलकुल हटा दिये गये आपके चित्त के क्षीण होने पर आप प्रबुद्ध (आत्मज्ञान से सम्पन्न) हुए हैं। जब तक हृदय में मन की सत्ता बनी रहती है तब तक अज्ञान की संस्थिति जमी रहती है। अचित्तरूप से (निःस्वरूपताबुद्धि से) चित्त का परित्याग हो जाने पर ज्ञान का अभ्युदय होता है। द्वित्व और एकत्व की दृष्टि ही चित्त है वही अज्ञान कहा जाता है। परमात्मा की अभिव्यक्ति से जो इन दोनों का लय है वही ज्ञान है और वही परा गति है। हे राजन्, अब आप प्रबुद्ध हो चुके, विमुक्त हो चुके, क्योंकि आत्मा में एक दूसरे के परस्पर अध्यास से सत् और असद्रूप चित्त का आपने

(ॾ) देखिये स्मृति :

कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञाने तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रजायते॥

(卐) रागादि कषाय और पाप।

परित्याग कर दिया, जो जगत् की कल्पना का स्थान है। हे महीपते, अब आप शोकशून्य, आयासरहित, निःसंग, अनन्य, आत्मज्ञानसम्पन्न और महान् उदय से युक्त मौनी बनकर निर्मल स्वरूप में अवस्थित रहिये ॥१८-२३॥

चित्त का परित्याग हो जाने पर जीवन्मुक्त पुरुषों को किस अन्तःकरण से व्यवहार की सिद्धि होती है, यह पूछने के लिए राजा भूमिका बाँधते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : मुनिवर, यों आपके कहने के अनुसार मूर्ख जन्तु के लिए ही चित्त की भूमि है, प्रबुद्ध हुए के लिए नहीं। हे प्रभो, यदि आत्मज्ञानी के लिए चित्त नहीं है तो कृपाकर बतलाइये कि ये अविद्यमान मनवाले जीवन्मुक्त-आपसे लेकर और दूसरे पुरुष-इस संसार में कैसे विहार करते हैं तथा हे मुनीश्वर, आप मुझे अच्छी तरह समझाकर इसको पूर्ण रीति से कहिए और इस तरह की दूसरी यानी सूर्य आदि की किरणों से विलक्षण अपनी वचनरूपी किरणों से मेरे हृदय के अन्धकार को, जो प्रसिद्ध अन्धकार से विलक्षण है, भलीभाँति दूर कर दीजिये। कुम्भ ने कहा : हे तत्त्वज्ञ, जैसा आप कह रहे हैं, ठीक वह वैसा ही है उससे विपरीत तनिक भी नहीं है। जिस तरह पत्थर में अंकुर नहीं रहता वैसे ही जीवन्मुक्तों में चित्त नहीं रहता। पुनः उत्पन्न होने योग्य जो घनवासना रहती है वह चित्तशब्द से कही जाती है, वह आत्मज्ञानी में नहीं रहती। हे राजन्, जिस वासना से तत्त्वज्ञानी यहाँ कर्मों में विहार क़रते हैं, पुनर्जन्म से रहित उसे आप सत्त्वनामधारिणी जानिये। तात्पर्य यह है कि जैसे भूना हुआ तथा छिलकारहित धान धानशब्द से नहीं कहा जाता और वह अंकुर पैदा करने में समर्थ भी नहीं रहता वैसे ही तत्त्वज्ञान से भूना गया आवरण शून्य सत्त्व मनशब्द से नहीं कहा जाता और न वह पुनर्जन्म के समर्थ ही रहता है ॥२४-२९॥

जीवन्मुक्तों के व्यवहाराभास में वही कारणाभास है, यह कहते हैं।

जितेन्द्रिय जीवन्मुक्त महात्मा लोग सत्त्व में स्थित होकर आसक्ति छोड़ करके विहार करते हैं, चित्त में स्थित होकर कभी नहीं। मूढ़ चित्त को चित्त कहते हैं और प्रबुद्ध चित्त को सत्त्व कहते हैं, अप्रबुद्ध (अज्ञानी) लोग चित्त में स्थित रहते हैं और महाबुद्धिमान् (ज्ञानी) लोग सत्त्व में स्थित रहते हैं। चित्त पुनः उत्पन्न होता है, लेकिन सत्त्व फिर उत्पन्न नहीं होता। हे भूपते, अप्रबुद्ध को बन्ध है, प्रबुद्ध को नहीं ॥३०-३२॥

आपका भी सत्त्व के बल से ही जीवनपर्यन्त व्यवहार चलता रहेगा, इस आशय से कहते हैं।

हे महीपते, महात्यागी बनकर आप सत्त्वसम्पन्न हो चुके हैं। आज आपने पूर्णरूप से अपने चित्त का परित्याग कर दिया, यह मैं जानता हूँ। हे राजन्, आज ही तो आप सम्पूर्ण वासनाओं से निर्मुक्त होकर सुशोभित हो रहे हैं। हे मुने, अब आपका मन आकाश के समान स्वच्छ हो गया, यह मैं मानता हूँ। हे राजन्, आप परम शम को प्राप्त हो चुके हैं। आप सिद्ध होकर सम से भी सम स्थिति में पहुँच गये हैं। जो महात्याग आपको पहले वांछित था वह यही है कि सर्वस्वरूप उस चित्त का आपने परित्याग कर दिया ॥३३-३५॥

चित्त के परित्याग में तप, दान, आदि सम्पूर्ण कर्म अन्तर्भूत हैं और उसके फल में धन, स्वर्ग, अपवर्ग आदि सब तप आदि के फल अन्तर्भूत हैं, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे साधो, उपदिष्ट अर्थ ग्रहण करने में अतिसमर्थ अतएव परम बोधवती अपनी बुद्धि से किया गया चित्त का परित्याग ही तप, दानादि तथा उनके फल स्वर्ग, अपवर्ग, धन आदि भी है ॥३६॥

तप आदि के फल में ज्ञान के फल का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं।

हे भूपते, तप कितने दुःखों का नाश कर सकता है, क्योंकि चित्तत्यागरूप समता से प्राप्त जो ज्ञान का फल मोक्षसुख है वह क्षय से अतिशय निर्मुक्त है यानी उसमें क्षय का अत्यन्त अभाव है ॥३७॥

असत्य और अनित्य वस्तु में सत्य और नित्य वस्तु के अन्तर्भाव की संभावना भी नहीं है।

ज्ञान का फल सत्य और शाश्वत है। जो कुछ थोड़ा–बहुत स्वर्गादि फल है वह तो सत्य है ही नहीं, वह क्षणभंगुर है। वह आविर्भाव और तिरोभाव से – उत्पत्ति और विनाश से – आक्रान्त होने के कारण भूत और भविष्यत् काल में अनुभूत नहीं होता, केवल वर्तमानकाल में अवस्थित हुआ ही स्वप्नवत् अनुभूत होता है ॥३८॥

तुच्छ और अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त होनेवाला स्वर्गादि सुख है, वह अज्ञानियों को बड़ा लगता है। वह तत्त्वविदों को नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे महीपते, स्वर्गनाम का कौन–सा सुख है ? वह भी तो हजारों अवर्जनीय धर्मकीर्तन आदि अपराधों द्वारा सन्देह से ही स्थित है। जिस पुरुष को आत्मज्ञान की सिद्धि प्राप्त नहीं है उसीको क्रियाकाण्ड शुभफल प्रदान करनेवाला होता है ॥३९॥

ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ होने से अज्ञानियों को तुच्छ स्वर्गादि फल के लिए यत्न करना ठीक ही है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

हे राजन्, जिसने सुवर्ण की प्राप्ति नहीं की वह क्या पित्तल छोड़ देगा ? *(आपको तो पहले ज्ञान दुर्लभ नहीं था, तथापि आप व्यर्थ ही तपरूपी क्लेश में फँस गये, यह कहते हैं।)* आपको तो चूडाला आदि की सत्संगति से सुखपूर्वक ज्ञान मिल सकता था ॥४०॥ फिर आप क्यों इस कृच्छ्चान्द्रायण आदि तपःक्लेशप्रचुर अनर्थ में अभी तक निमग्न हैं, जो कि वानप्रस्थ आश्रमआदि के अभिमान आदि हजारों विकल्पविक्षेपांशों से साध्य कुत्सित कर्म का ही एक सम्बन्धी है ॥४१॥

स्वर्गादि महासुख की हेतु तपस्या अनर्थरूप कैसे है, इस पर कहते हैं।

हे सुमते, इस तपस्या का आदि भाग आचरणावस्था है और अन्तिम भाग फलक्षयावस्था है, इसलिए इसके आदि और अन्त दोनों भाग दुःखरूप हैं। केवल इसका मध्य जो स्वर्गादि भोगावस्था है उसीमें कुछ सुख है। तब क्या मैंने व्यर्थ ही तपस्या की, इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं। चूँकि तपस्या के द्वारा ही आपके चित्तगत कषायों का परिपाक होने से इस समय तत्त्वज्ञान का समय प्राप्त हुआ है, इसलिए सभी तपोरूप विकल्पांश जिस अविकल्प तत्त्वज्ञान में परिणत होते हैं और जिसके फल से फलवान् भी बनते हैं, उस ज्ञान में आप स्थिर हो जाइये। भाव यह है कि 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादि श्रुतिप्रमाण होने से तत्त्वज्ञानप्राप्तिरूप फल से ही आपकी तपस्या की सफलता है ॥४२॥

ज्ञान के फल चिदाकाश का लाभ होने से सभी का लाभ हो गया, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् की एक उसीसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, ऐसी श्रुति है, इस आशय से कहते हैं।

आकाश से भी अति स्वच्छ उस चिदाकाश से सभी पदार्थ समुत्पन्न होकर दिखाई पड़ते हैं तथा

उसी चिदाकाश में विलय को भी प्राप्त हो जाते हैं। हे मित्र शिखिध्वज, यद्यपि यह कार्य है और यह कार्य नहीं है इत्यादि सभी तरह के संकल्प ब्रह्मरूपी समुद्र के बिन्दु ही हैं तथापि तुच्छ होने से वे निष्फल हैं, इसलिए इन सबको छोड़कर पूर्ण का ही (समुद्रस्थानीय निर्विशेष का ही) समाश्रय कीजिये। हे सखे, जैसे कोई स्त्री, जिसको अभी तक पति प्राप्त नहीं हुआ है, प्राप्त करने योग्य पति के प्रति 'मेरे इष्ट की सिद्धि के लिए थोड़ी–सी प्रार्थना कर दो' यों दूसरी प्रार्थना करती है, वैसे ही स्वयं उस पति की ही क्यों नहीं प्रार्थना करती ? तात्पर्य यह कि स्वाधीनतापूर्वक उस पतिका लाभ हो जाने पर तो उसके अधीन में रहनेवाली वस्तुओं का अपने–आप ही लाभ हो जायेगा ॥४३–४५॥

आत्मातिरिक्त इच्छित पदार्थों में पुरुषार्थता स्वीकार कर, लब्ध होने के कारण ही, वे अप्रार्थनीय हैं, यों बतलाया। वस्तुतस्तु तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में तुच्छ होने के कारण वे अग्राह्य ही हैं, यह कहते हैं।

हे मित्र, संकल्प से रचित हुए आपत्ति की नाईं अरमणीय इन पदार्थों का आत्मज्ञानी महात्मा लोग, जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान, ग्रहण नहीं करते ॥४६॥

ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर स्वर्गादि–साधनों के समान अपवर्ग के साधन भी हेय ही हो जाते हैं, इस आशय से कहते हैं।

स्वर्ग और मोक्ष आदि फल प्रदान करनेवाले जो कुछ कर्म हैं, उन सबका त्यागकर सबमें समानरूप से भासमान जो आप हैं वही आप निश्चित बने रहिये ॥४७॥

चित्त की चंचलता के बिना समस्त पदार्थों में सद्–अंश का सत्त्वरूप से और असद्–अंश का नित्य नष्टस्वरूप से ग्रहण करना चाहिए, इसे कहते हैं।

हे राजन्, समस्त अभिलाषाओं को छोड़कर इन सब पदार्थों में सत्त्व का सत्त्वरूप से और नाश्य का नाशरूप से ग्रहण करते हुए आप अपने चित्त को परिस्पंदशून्य बनाकर अवस्थित रहिये ॥४८॥

'अस्पन्दितचित्तभूः' इस कथन का प्रयोजन बतलाते हैं।

क्योंकि अपरिस्पन्दित चित्तवाले पुरुष को संसार की प्राप्ति उस तरह नहीं होती, जिस तरह विवेकज्ञान का उदय होने पर स्वाभाविक प्रवृत्तिरूपी पुरुष के अपराध से उत्पन्न विपत्ति प्राप्त नहीं होती। हे महीपते, इन तीनों जगत् में जो–जो दुःख मनुष्यों के निकट पहुँचते हैं वे सबके सब चित्त की चपलता से ही उत्पन्न हुए रहते हैं। इसलिए जिसका चित्त स्थिर, शान्त, स्पन्दनशून्य और अचपल है वही पुरुष सदा परमानन्दी है तथा वही आवरणशून्य होने के कारण साम्राज्य का (आत्मसाक्षात्कार का) भाजन है। हे तत्त्वज्ञ, आप स्पन्द और अस्पन्द को साक्षिमात्रस्वरूप के अवलोकन से एक बनाकर उस साक्षी को भी शाश्वत ब्रह्मात्मा के साथ एकता में पहुँचाकर भूमानन्दभाव से पूर्णकाम होकर अवस्थित रहिये ॥४९–५२॥

स्पन्द और अस्पन्द विरुद्ध धर्मवाले इन दोनों को एकत्र कैसे किया जा सकता है, यह राजा शिखिध्वज पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे सम्पूर्ण संशयों का विच्छेद करनेवाले विभो, आप कृपाकर मुझे शीघ्र बतलाइये कि स्पन्द और अस्पन्द ये दोनों ऐक्य को कैसे प्राप्त होते हैं ॥५३॥

इन दोनों में स्वरूपतः ऐक्य विरोध होनेपर भी अधिष्ठान साक्षिचिन्मात्ररूप से विरोध नहीं है, यों

अपना अभिप्राय प्रकाशित करते हुए कुम्भ ऋषि कहते हैं।

कुम्भ ऋषि ने कहा : जैसे सागर जलरूप से एक है वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् चिन्मात्रस्वरूप से एक वस्तु है। जैसे शुद्ध जल ही तरंगों से स्पन्दित होता है वैसे ही वही अधिष्ठानचिन्मात्र बुद्धिवृत्तियों से स्पन्दित होता है, अर्थात् स्पन्दस्वरूप से विवर्तित होता है। हे राजन्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों ने जिसे ब्रह्म, चिन्मात्र, अमल, सत्त्व इत्यादि नामों से कहा है उस ब्रह्म को ही मूढ़ लोग जगद्रूप से देखते हैं ॥५४,५५॥

स्पन्द और अस्पन्द में एकता का उपपादन करते हैं।

इस सृष्टि में जो सर्वस्व है वह चिति का स्पन्द ही है, क्योंकि उसीसे संसार उत्पन्न होता है। संसार में विन्ध्यादिरूप जो परिस्पन्द है वह द्वितीय शब्दस्पन्द के समान है। तात्पर्य यह कि वह केवल नाममात्र का परिस्पन्द है और कुछ नहीं ॥५६॥

ठीक है, ऐसा ही सही। फिर भी स्पन्द और स्पन्दशून्य में एकता कैसे, इस पर कहते हैं।

यदि तत्–तत् साक्ष्यात्मा ही चिति का स्पन्द और अस्पन्द है तथा एकरूप से भावित है तो ऐसी स्थिति में वहाँ केवल यह निर्मल आत्मस्वरूप शिव ही अवशेष रहता है ॥५७॥

तब सृष्टि कहाँ जायेगी, इस पर कहते हैं।

यह सर्ग चिति का स्पन्दमात्रस्वरूप है। चूँकि यह असम्यक् दृष्टिवाले पुरुषों को भ्रान्ति से, रज्जु में सर्पभ्रम की नाईं, उदित होता है, अतः सम्यग् दृष्टि से ही इसका विलय होता है ॥५८॥ स्पन्दनयुक्त चिति सर्गनाम से कही जाती है और स्पन्दनशून्य चिति तो तुर्यातीतपद में आरूढ़ है। इस व्यापक चिति को हम वाणी से कहने में पार नहीं पा सकते ॥५९॥

वह कब उदित होती है, उसे कहते हैं।

शास्त्रों के निरन्तर अभ्यास के योग से तथा सज्जन पुरुषों के सम्पर्क से जैसे तिमिर दोष के विनाश से नेत्र के निर्मल बन जानेपर नित्य सिद्ध ही चन्द्रैकता उदित होती है वैसे ही समय से चित्त के निर्मल बन जाने पर यह चिति उदित होती है ॥६०॥

यदि आप इस चिति का वाणी से कथन करने में समर्थ नहीं है तो फिर आप मेरे सदृश लोगों से कहते ही कैसे हैं, इस पर कहते हैं।

जिन लोगों ने स्वयं अपने स्वरूप का अनुभव किया है उन लोगों से अपनी अनुभूतियों के द्वारा ही एकमात्र प्रकाशित इस विस्तृत आत्मस्वरूप का अपने–आप लोकदृष्टि से वर्णन किया जाता है ॥६१॥

आप भी स्वानुभूति की प्राप्ति कर चुके हैं, इसलिए मेरे वचन से केवल उसे स्थिर कर लीजिये, यह कहते हैं।

आदि और मध्य से शून्यस्वरूप को आप प्राप्त हो चुके हैं, अतः आप अपने इसी पद में निविष्ट होकर अवस्थित रहिये। भेदक देहादिरूपों का अभाव होने से ही सब देहों में आपका भेद नहीं है। यही कारण है कि आप महान् चितिस्वरूप तत्त्वबोध से प्रादुर्भुत हुए हैं। इसीलिए हे साधो, आप शोकशून्य हैं ॥६२॥

एक सौ एकवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दोवाँ सर्ग

अनुज्ञा लेकर कुम्भ ऋषि के अन्तर्हित हो जाने पर विस्मित हुए
राजा शिखिध्वज की चिरकाल तक विचार करने के बाद समाधि में विश्रान्ति।

कुम्भ ऋषि ने कहा : हे महीपते शिखिध्वज, जिस तरह यह सब विश्व उत्पन्न होता है तथा जिस तरह प्रलय को प्राप्त होता है, वह सब कुछ अध्यारोप और अपवाद से पूर्ण ब्रह्मतत्त्व ही मैंने आपसे कहा है। हे मुनिनायक, इसको गुरु और शास्त्र से सुनकर तथा अपने विचार से मननकर भलीभाँति समझ करके साक्षात् दृष्ट तथा आवरण का नाश हो जाने से स्पष्ट हुए परमपद में किसी समय समाधि की प्रधानता से तथा किसी समय व्यवहार से जैसा आप चाहें वैसा ही अवस्थित रहिये। अब तो मैं इन्द्र की सभा में जा रहा हूँ। इस पर्वकाल में भगवान् नारदमुनि इन्द्र की सभा में ब्रह्मलोक से आ गये होंगे। यदि वहाँ मुझे वे न देख पायेंगे, तो बहुत क्रुद्ध होंगे। भव्य पुरुष को कभी भी गुरुओं को उद्वेजित (क्रुद्ध) नहीं करना चाहिए। संकल्प की लेखा छोड़कर किसी भी वस्तु की अभिलाषा न रखते हुए आप सदा आत्मदृष्टि में ही अवस्थित रहियेगा, क्योंकि यही एक परम पवित्र दृष्टि है, जिसका मैंने आपको उपदेश दिया है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यों कहकर वह कुम्भरूपिणी चूडाला – हाथ में फूल लेकर कुम्भ को प्रणाम करने के लिए राजा शिखिध्वज ज्यों ही प्रतिवचन बोलना चाहते हैं त्यों ही – अन्तर्हित हो गई (卍)। जैसे स्वप्न आदि में प्रतिभा में आयी हुई धानादि वस्तु अन्त में (जागने पर) दिखाई नहीं देती वैसे ही राजा शिखिध्वज ने अपने आगे अवस्थित कुम्भ को नहीं देखा। कुम्भ ऋषि के चले जाने पर राजा शिखिध्वज परम विस्मय को प्राप्त हो गया। उसी आश्चर्य को सोच रहा वह चित्रलिखित की नाईं स्थित हो गया। राजा शिखिध्वज ने यह विचार किया कि यह विधाता की ही विचित्र लीला है कि कुम्भ के ब्याज से सदा अभ्युदयस्वरूप ब्रह्म का मुझे बोध कराया गया। कहाँ तो नारदमुनि का पुत्र कुम्भ और कहाँ मैं तुच्छ शिखिध्वज ? केवल यह भाग्योदयकाल के संयोग से ही वह मैं भली-भाँति बोधित हुआ। अहो, देवपुत्र ने कैसा सर्वांग सुन्दर युक्तियुक्त कहा, अहो, मोहनिद्रा में व्याकुल पड़ा हुआ मैं अब चिरकाल के बाद प्रबुद्ध हुआ। मैं कहाँ क्रियाजालरूप कुत्सित कीचड़ में फँस गया था, जो यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए, इत्यादि विभ्रम का चक्ररूप था। अहो, यह प्रत्यक्ष की गई आत्म-स्वरूप विशुद्ध और शीतल साम्राज्यपदवी अमृतोद्भव सुधाकर की आकृति से युक्त है। वह वासनाशून्य मेरे मन को यहाँ खूब शीतल कर रही है ॥१-१३॥

उसीसे अपनी पूर्णकामता का वर्णन करते हैं।

मैं शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ, मैं खूब तृप्त हो रहा हूँ तथा एकमात्र सुख से अवस्थित हूँ। तृण का अग्रभाग भी अब मैं नहीं चाहता। मैं जैसा हूँ वैसा ही अपने स्वरूप में अवस्थित हूँ। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यों सोच रहा, वासनाओं से शून्य अन्तःकरण से युक्त वह राजा शिखिध्वज, पत्थर में खुदी गई प्रतिमा के समान, वागादि चेष्टाओं से रहित होकर समाधि में अवस्थित हो गया। उसके बाद

(卍) 'साध्वी स्त्रियों द्वारा पतिकृत नमस्कार के ग्राह्य न होने से' वह कुम्भरूपिणी चूड़ाला नहीं चाहती थी कि मेरा स्वामी मुझे नमस्कार करें, इसलिए वह स्वयं प्रणाम कर शीघ्र अन्तर्हित हो गई।

निर्विकल्प और उसी समाधि में अचल प्रतिष्ठा प्राप्त कर वह राजा शिखिध्वज पर्वत के शिखर के सदृश अवस्थित हो गया। वह राजा शिखिध्वज उस समाधि में अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर समरस बन करके चिरकाल के बाद विश्रान्तमति होने से शीघ्र ही समस्त भयों से छुटकारा पाकर चिरकाल से चले आ रहे योग के द्वारा परिपूर्णस्वभाव होकर सो गया अर्थात् सुषुप्त की नाईं विश्राम करने लगा ॥१४-१७॥

एक सौ दोवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तीनवाँ सर्ग

चूडाला का अपने घर में जाकर पुनः तीन दिन के बाद वहाँ से लौट आना,
बड़े यत्न के साथ समाधि से राजा को उठाना तथा तत्त्ववर्णन करना।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, उक्त रीति से वह राजा शिखिध्वज तो निर्विकल्प समाधि में अवस्थित होने से काष्ठ और भीत के सदृश अवस्थित हो गया, परन्तु उस चूडाला की क्या दशा हुई, अब उसे आप सुनिये। उस कुम्भ ऋषि के वेष से वह चूडाला अपने पति उस राजा शिखिध्वज को प्रबोधित करके स्वयं अन्तर्हित हो आकाश में बड़े वेग से उड़ गई। माया से विरचित देवपुत्र की आकृति को उसने आकाश में ही छोड़ दिया और सुन्दर विदग्ध मुग्ध स्त्रीशरीररूप आकार को धारण कर लिया। आकाश मार्ग से अपने नगर में पहुँचकर शीघ्र ही अन्तःपुर के भीतर प्रविष्ट हो गई। बाद में, सबके सामने प्रकट हुई और प्रजानुरंजनरूप राज्य कार्य करने लग गई। तदन्तर तीन दिन के बाद वह फिर आकाश में आकर योग से कुम्भ ऋषि बन गई और कुम्भ ऋषि का वेष धारणकर राजा शिखिध्वज के जंगल में पहुँची। जंगल की भूमि पर उतरकर चूडाला ने उसी तरह उसी रूप से उस राजा को निर्विकल्प समाधि में स्थित प्रतिमाकार-निर्मित काठ की नाईं निश्चल देखा। अहो, यह बड़े सौभाग्य की बात है कि यह राजा शान्त, सम और स्वस्थरूप से आत्मा में विश्रान्ति लाभकर अवस्थित है', यों उसने बार-बार कहा। इसलिए इसे परमपद से बोधित कर दूँ-जगा दूँ, क्योंकि प्रारब्धकर्म के अवशेष रहते अभी यह देह का त्याग क्यों करे। राज्य के साथ या जब तक जंगल के भोगजनक कर्म का क्षय नहीं हो जाता तब तक जंगल के साथ कुछ दिन और चेष्टाएँ किया करे। फिर तो हम दोनों देह छोड़कर तुल्यस्वभाव हो करके एक ही साथ कैवल्य धाम को प्राप्त होंगे। मैंने इसको जो पहले उपदेश दिया है वह विषम हो जायेगा, क्योंकि उसका अभी देह छोड़ने से परिणाम (सप्तम भूमिका में अवस्थिति तक परिपाक) नहीं हो सकता अतः जीवन्मुक्तिसुखानुभव के लिए इसे जगाना उचित है। इसलिए इस समाधि के अभ्यासयोग से इसे मैं अब उठाती हूँ। यों विचारकर उस चूडाला ने अपने स्वामी के आगे वनचरों को भी भयप्रदान करनेवाला बार-बार सिंहनाद किया। बार-बार किये गये उस सिंहनाद से भी वह राजा पर्वत में शिला की नाईं जब विचलित नहीं हुआ, तब उस चूडाला ने उसको हाथ से खूब इधर-उधर हिलाया-डुलाया। हाथ से इधर-उधर खूब हिलाने-डुलाने और गिराने पर भी जब राजा न जाग सका तब कुम्भरूपिणी चूडाला सोचने लगी - अहो, यह साधु भगवान् अपने स्वरूप में सप्तभूमिका-प्रवेश तक परिणत हो चुका है, इसको किस युक्ति से अब मैं जगाऊँ। अथवा इस महात्मा

को मैं क्यों जगाऊँ ? विदेहमुक्ति प्राप्तकर सुखपूर्वक अवस्थित रहे न। मैं भी अब यह महिला का शरीर छोड़कर अपुनर्जन्म के लिए साथ ही चली जाऊँ, इस जीवन में कौन–सा अधिक सुख रखा है। यों सोचकर अपना शरीर छोड़ने के लिए वह सती चूडाला जब बिलकुल तैयार हो गई तब एक बार फिर उसने विचार किया, क्योंकि वह एक महा–बुद्धिमती (🕮) थी। पहले राजा के इस शरीर को तो देख लूँ कि इसमें बोध के बीजभूत वासनाशून्य मन का संस्कारलेशरूप से कुछ शेष यदि प्रारब्ध से बची हुई माया के लेश से उपहित हार्द ब्रह्म में है तब तो उसके उद्‌भव का समय आने पर यह भगवान स्वयं प्रबोध को उस प्रकार प्राप्त होगा, जिस प्रकार वसन्त के आरम्भ में वृक्ष के मूलप्रदेश में अवस्थित पृथिवी के रस में सूक्ष्मभाव से लीन भावि पुष्प समूह। इसलिए मेरे द्वारा प्रबोधित होकर मेरे ही समान जीवन्मुक्तरूप से विहार कर रहा यह स्थित रहे। यदि यह मैं समझ लेती हूँ कि यह मुक्त हो गया है तो मैं अभी इसके साथ चली जाती हूँ। यों विचारकर सुन्दरवर्णवाली, उस चूडाला ने स्पर्शरूप हेतु द्वारा देह की गरमी जानकर अभी जीता है – यों अपने पति को आशंकापूर्वक देखकर जागने के जो कारण होते हैं उनके लाभ से जान लिया कि इसमें सत्त्व अभी अवशिष्ट है। और उसने यह कहा कि इसके हृदय में अभी सत्त्व तो बचा हुआ है ॥१–२२॥

'स्पर्शनेन नयेन च' – यह जो कहा गया इसमें नयशब्दार्थ की जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे ब्रह्मन्, अत्यन्त शान्तचित्त, काष्ठ और लोष्ट के समान स्थितिवाले ध्यानशाली प्राणी का सत्त्वशेष कैसे जाना जाता है ॥२३॥

देह में वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय आदि विकारों का अनुदय सत्त्वशेष में हेतु है, ऐसा उत्तर देने के लिए हेतुगम्य का अनुवाद करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जैसे बीज के अन्दर पुष्प और फल दुर्लक्ष्य अणु के सदृश ही विद्यमान रहता है वैसे ही जिस किसी ध्यानशाली प्राणी में जगाने के कारण हैं उसके हृदय में अणु की नाईं अगम्य सत्त्वशेष विद्यमान रहता है। चित्त के विकार से शून्य, निश्चल सत्–चिद्रूप बन गये, निर्विकल्प, सर्वस्वरूप और अचल पर्वत की नाईं संस्थितिवाले उस पुरुष का शरीर, सबमें एकरूप से रहनेवाले आत्मा में सदा तृप्त रहने के कारण, न तो आनन्दित होता है, न ग्लानि को प्राप्त होता है, न अस्त होता है और न उदय को ही प्राप्त होता है, किन्तु समानरूप होकर अवस्थित रहता है। द्वित्व और एकत्व आदि से युक्त जिस पुरुष का मन चंचल रहता है उसीका शरीर अन्यरूपता को प्राप्त हो जाता है, चंचलतारहित पुरुष का कभी नहीं ॥२४–२७॥

वह क्यों, इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जगत् के व्यवहार के हेतुभूत सम्पूर्ण भावविकारों का कारण चित्तस्पन्द उस तरह है, जिस तरह कुसुमों का वसन्त। हे श्रीरामजी, इसलिए इस देह से देहान्तर में जानेवाले चित्त का इस देह में बार–बार प्रयत्नपूर्वक निगृहीत किया जा रहा भी हर्ष, कोप और सम्मोह रोका नहीं जा सकता, यही

(🕮) अवश्य भोक्तव्य उसके शेष प्रारब्ध कर्म को अपनी बुद्धि से देखकर उस चूडाला ने फिर विचार किया, यह सूचित करने के लिए 'महामति' यह विशेषण दिया गया है।

दूसरे जन्म में हेतु है ॥२८,२९॥

चित्त में हर्षादि विकारों का उपशम हो जानेपर शरीर में भी विकार निवृत्त हो जाते हैं।

चित्त की शान्ति हो जानेपर निर्वासनिक चित्त द्वारा अस्मरण से त्यागी गई भी भावविकारों की जननी यह देह आकाश की नाईं पुरुष को बाधित नहीं करती। निष्कर्ष यह निकला कि चित्त का अहन्त्वरूप से स्वीकार ही देह में वृद्धि आदि विकारों का कारण है। जैसे समान जलसन्तति में तरंग आदि की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही समान वासनारहित चित्तसन्ततिदशा में जरा आदि विकार या राग आदि दोष नहीं दिखाई पड़ते ॥३०,३१॥

कितने समय तक जीवन्मुक्त निर्वासनिक मन को देखते हैं, ऐसी यदि शंका हो, तो अवशिष्ट प्रारब्ध के क्षय द्वारा जबतक उसका विनाश न हो तब तक, यों उत्तर देते हैं।

सत्त्व के उपशम के बिना सत्त्व का अनुपलम्भ नहीं होता। जब प्रातिभासिक वैषम्य से निर्मुक्त तत्त्व दिखाई पड़ता है तभी अवशिष्ट प्रारब्धविनाशकाल में वह पूर्णरूप से विलीन हो जाता है ॥३२॥

निर्वासनिक मन का विनाश हो जाने पर मृत देह भी विलीन हो जाती है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जिस देह में न तो चित्त और न निर्वासनिक मन ही रहता है वह ताप में हिम की नाईं मरण द्वारा विलीन हो जाती है ॥३३॥

शिखिध्वज की देह में तो जीवनहेतुओं का चूडाला ने अवलोकन किया, यह कहते हैं।

शिखिध्वज की वह देह चित्तशून्य तो थी, परन्तु वह गरमी से युक्त और निर्वासनिक मन से युक्त थी, इससे वह ग्लानि की पात्र नहीं थी ॥३४॥

प्रश्न का समाधान कर प्रस्तुत विषय का अनुसन्धान करते हैं।

अपने स्वामी की उस तरह से अवस्थित देह को देखकर अपने शरीर का त्याग न करती हुई सुन्दर अंगों से सुशोभित उस चूडाला ने शीघ्र विचार किया। सर्वव्यापक विशुद्ध चितितत्त्व में प्रविष्ट होकर अर्थात् अपने स्वामी की काया में प्रवेश द्वारा स्वामी के ही हार्द ब्रह्म में प्रविष्ट होकर वहाँ स्थित होती हुई मैं चिरकाल के बाद जागनेवाले अपने स्वामी को जगाती हूँ ॥३५,३६॥

चिरकाल के बाद तो यह स्वयं समाधि से उठ जायेगा, इसे जगाने के लिए शीघ्रता करने की मुझे क्या आवश्यकता, इस पर कहते हैं।

यदि मैं इसे न जगाती हूँ तो भी यह चिरकाल के बाद स्वयं जाग जायेगा, लेकिन मैं यों अकेली हो क्यों अवस्थित रहूँ, इसलिए इसे जगाती हूँ। यों विचारकर इन्द्रियपंजररूपी अपनी देह को छोड़ करके स्वामी की देह में प्रविष्ट होकर आदि और अन्त से वर्जित अपने स्वामी के हार्द ब्रह्मस्वरूप चितितत्त्व में चूडाला स्थिति को प्राप्त हो गई। वहाँ पहुँचकर सत्त्वसम्पन्न अपने स्वामी की निर्विकल्प समाधि से जल और दूध की नाईं एकरस बनी हुई चेतना का स्पन्दन कर वह चूडाला फिर अपनी देह में उस तरह प्रविष्ट हो गई, जिस तरह अपने घोंसले में चिड़िया। तदनन्तर कुम्भस्वरूपिणी वह चूडाला वहाँ से उठकर कुसुमपूर्ण स्थान में जाकर बैठ गई और वहीं बैठी हुई भ्रमरियों के गुंजार को तिरस्कृत कर रही वह चूडाला सामगान में प्रवृत्त हो गई। उस सामस्वर को सुनकर सत्त्वगुण से सम्पन्न चिदाभास से युक्त राजा की बुद्धि नखाग्र से लेकर मस्तक तक देह में अहंभाव की व्याप्ति से युक्त होकर ऐसे अवबुद्ध हुई,

जैसे वसन्त में पद्मिनी। जिस तरह सूर्य कमलिनी को विकसित करते हैं वैसे ही सत्त्वसम्पत्ति से युक्त राजा शिखिध्वज ने समाधि में निमीलित अपने नेत्र को विकसित किया। राजा शिखिध्वज ने साम के गान में तत्पर अपने आगे स्थित कुम्भऋषि को दिव्य शरीर से युक्त दूसरे सामवेद-जैसा देखा। अहो, हम धन्य हैं कि यह मुनि स्वयं यहाँ पुनः प्राप्त हैं, इतनी बात कह रहे राजा शिखिध्वज ने कुम्भ को पुष्पांजलि समर्पित की (८)। भगवन्, यह हमारे सौभाग्य की बात है कि आपके पावन चित्त में हम पुनः उदित हुए हैं। अथवा हे मुने, हम अपने भाग्य की क्या सराहना करें, भला ऐसे महासत्त्वशाली कौन हैं, जो अपने आप ही दूसरों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए सदा प्रस्तुत नहीं रहते ? हे भगवन्, हमें पवित्र करने के लिए ही आपका यहाँ आगमन हुआ है यदि यह बात न हो, तो फिर आप ही कृपाकर बतलाइये कि यहाँ आपके आने में दूसरा कौन-सा कारण है ? कुम्भ ने कहा : हे राजन्, अनिन्दित होकर मैं आपके यहाँ से जबसे गया तभी से मेरा चित्त आपके साथ यहीं स्थित रहा। यही कारण है कि मैं रम्य स्वर्ग में भी नहीं ठहर सका और आपके समीप इस समय ठहरा हुआ हूँ। हे महीपते, बहुत-सी रम्य वस्तुओं के बीच में चित्त को जो सबसे अच्छी मालूम पड़ती है वह बड़े उद्योग से ही प्राप्त होकर सामने स्थित मिलती है, बिना उद्योग के कभी नहीं, इसलिए आपके दर्शन के उद्योगवश से ही यहाँ मेरा आगमन हुआ है ॥३७-४८॥

मुझमें जो आपकी इतनी प्रीति बढ़ गई है, इसका अतिशय कारण क्या है ?

हे राजन्, इस जगत् में मेरा आपके सदृश बन्धु, आप्ता, सुहृत्, मित्र, सखा अथवा विश्वनीय कोई शिष्य भी नहीं है, ऐसा मैं समझता हूँ। राजा शिखिध्वज ने कहा : अहो, आज इस मन्दराचल के ऊपर हमारे पुण्यवृक्ष फल गये, क्योंकि असंग हुए भी आप हमारा समागम चाह रहे हैं। हे प्रभो, मुझमें प्रीति होने के कारण यदि आपको स्वर्ग अच्छा नहीं जान पड़ता, तो यहीं मेरे निकट रहिये। आपके लिए यह जंगल है, ये वृक्ष हैं और यह मैं हूँ उपस्थित आपका आदृत सेवक ॥४९-५१॥

आपके द्वारा बतलाई गई समाधि से जनित जो सुख है, उससे तृप्त मुझे भी स्वर्ग की इच्छा नहीं होती।

आपके द्वारा बतलाई गई योगयुक्ति से जैसे मैं विश्राम ले रहा हूँ, हे साधो, मैं समझता हूँ कि स्वर्ग में भला वैसा विश्राम कहाँ से होगा। जिस भूमानन्द संस्थिति का आपने मुझे उपदेश दिया है उसी स्वच्छ स्वप्रकाशस्वरूप स्थिति का अवलम्बनकर आप यहाँ यथेच्छ स्वर्ग या भूतल में विहार कीजिये। कुम्भ ने कहा : हे राजन्, परमानन्द परमपद में क्या आप विश्राम ले चुके ? क्या इस भेदमय दुःख का आप भलीभाँति त्याग कर चुके ? हे राजन्, ऊपर-ऊपर से रमणीय दिखाई दे रहे इन संकल्पों से भोगों की नीरसतापूर्वक आपका प्रेम क्या बिलकुल निर्मूलता को प्राप्त हो गया ? हेय और उपादेय दशा को अतिक्रान्त कर गया ? शम से समस्थिति से युक्त शान्त आपका मन क्या प्रारब्धवश प्राप्त विषयों में उद्वेगशून्य होकर अवस्थित हो गया ? राजा शिखिध्वज ने कहा : हे भगवन्, आपकी दया से मैंने वह गति देख ली, जो दृश्यों को अतिक्रान्त कर चुकी है; मैंने संसार की सीमा का अन्त पाया और लाभ करने योग्य वस्तु का लाभ कर लिया। चिरकाल के बाद थोड़े समय तक ही यानी केवल तीन दिन तक

(८) इससे तपस्या के प्रभाव से पूर्वसंचित फूलों में अम्लानता प्रकट होती है।

ही निरामय होकर मैंने विश्राम किया, प्राप्त करने योग्य सब प्राप्त कर लिया, अब मैं तृप्त होकर चिरकाल के लिए स्थित हूँ। अब हमें किसी तरह का उपदेश देना उपयुक्त नहीं है। सर्वत्र ही मैं अतितृप्त हो गया हूँ। सन्तापादि सांसारिक ज्वर से शून्य होकर मैं अवस्थित हूँ। मैंने अज्ञात का ज्ञान कर लिया, अप्राप्त की प्राप्ति कर ली, छोड़ने योग्य वस्तु छोड़ दी तथा मेरा मन वासनाशून्य हो गया और मैंने आत्मा के तत्त्वरूपी परत्व का आश्रय कर लिया। अब मुझसे अतिरिक्त कोई अवशिष्ट नहीं है ॥५२-६०॥

यदि आपसे भिन्न कोई दूसरा है ही नहीं, तो आप फिर किस स्वरूप से अवशिष्ट हैं, इस पर कहते हैं।

संसारशून्य, मोह और भय से रहित, रागादि दोषों से मुक्त, नित्यप्रकाशरूप, सर्वत्र एकरूप की भावना से युक्त, सब तरह से सौम्य, सर्वस्वरूप, सकल कल्पनाओं से निर्मुक्त, आकाशकोश के समान स्वच्छ मैं एकरूप होकर स्थित हूँ ॥६१॥

एक सौ तीनवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चारवाँ सर्ग

कुम्भ के रमण से राजा की संभोगेच्छा, स्वर्ग के बहाने नगर में जाना
और खिन्न होकर वहाँ से फिर लौट आना।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यों अध्यात्मविषयक विचित्र कथाओं को परस्पर कह रहे वे दोनों तत्त्वज्ञानी तीन मुहूर्त तक वन में स्थित रहे। उसके बाद वहाँ से उठकर फल-मूल आदि के द्वारा रक्षा करनेवाले, आनन्ददायक किसी पर्वत की चोटीपर जाकर विहार करने लगे, जहाँ सरस कमल और सारस पक्षियों के जोड़े सुशोभित हो रहे थे। फिर वहाँ से उठकर उस महाअरण्य की उन वनवीथियों में जीवन्मुक्तों के प्रसिद्ध आचार के अनुसार व्यवहार करते हुए तथा अध्यात्मविषयक विचित्र कथाओं से परस्पर संलाप करते हुए उन दोनों ने आठ दिन गँवा दिये। उसके अनन्तर कुम्भ ने कहा : राजन्, चलिए, किसी दूसरे जंगल में किसी पर्वत के ऊपर चलें। राजा ने उसे स्वीकार कर लिया, तब वे दोनों वहाँ से चल पड़े। अनेक तरह के वनों, जंगलों, नदी के तटों, अनेक तालाबों, गुल्मसमूहों (कुंजों), गहन पर्वत की चोटियों, बहुत-सी नदियों, नाना देशों, ग्रामों, नगरों, उपवनों, मनोहर शब्दवाले पर्वतों, कुंजों, तीर्थों और आश्रमों में पहुँचकर समानस्नेह से युक्त, वे दोनों मिलकर तुल्यचित्तवृत्ति से युक्त होकर परस्पर एक दूसरे से अपना अनुभव कहते थे, वे दोनों समानचित्त तथा समान उत्साहवाले थे। हे राघव, वे दोनों पितर और देवताओं की एक साथ पूजा करते थे, एक ही साथ वे दोनों भोजन करते थे। सन्तप्त तथा जलार्द्र शीतल प्रदेशों में उन दोनों की बुद्धि समान थी। स्निग्धहृदय वे दोनों मित्र स्त्री-पुरुष तमालवनखण्डों में और मन्दार के जंगलों में विहार करते फिरे ॥१-९॥

बिना घर की स्थिति का लक्षण बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, यह घर है, यह घर नहीं है, इस तरह की विकल्प-कल्पना उन दोनों के मन को उस प्रकार न हर सकी, जिस प्रकार झंझावात सुमेरु पर्वत को ॥१०॥

उनमें प्रिय और अप्रिय का विकल्प भी नहीं था, इसे कहते हैं।

वे दोनों मित्र कहीं तो धूलि से घूसरगात्र, कहीं चन्दन से चर्चित अगर कहीं पर तो भस्म से विभूषितगात्र होकर विचरण करते-फिरते थे। वे दोनों कहीं दिव्य वस्त्र धारण किये हुए; चित्रविचित्र वस्त्र से शोभित हुए, कहीं पल्लवों से आच्छन्न और कहीं कुसुमों से मण्डित हुए विचरते थे। हे श्रीरामजी, कुछ इने-गिने ही दिनों में समानचित्त हो जाने से तथा उस निर्वासन मन के कारण उत्कृष्ट हो जाने से राजा शिखिध्वज कुम्भ के समान शोभित होने लगा। अनन्तर, देवसन्तान के समान कान्ति से युक्त तथा अपूर्व शोभा को प्राप्त उस राजा शिखिध्वज को देखकर मानिनी चूडाला विचार करने लगी। एक ओर तो सामने यह उदारात्मा मेरे स्वामी हैं और दूसरी ओर ये मनोहर कानन की भूमियाँ हैं, फिर यह अनायास प्राप्त जो हम लोगों की स्थिति है, वह काम से (रतिसुख से) वंचित नहीं रह सकती। प्रारब्ध-प्राप्त भोगों के प्रति अनिवृत्त गतिवाले यानी बे-रोक-टोक प्रारब्ध से प्राप्त हुए सुख-दुःखों का अनुभव करनेवाले जीवन्मुक्त महात्मा यदि केवल एक भोगनिवृत्ति करने में ही आग्रह कर लें, तो वह उनकी तुच्छ मूढ़ता ही होगी ॥११-१६॥

अधर्म, रोग और श्रम आदि के कारणभूत भोगों से लोकसंग्रह के लिए दूर हट जाना चाहिए, यह ठीक है, परन्तु यहाँ उनकी प्रसक्ति है ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

यह अपना स्वामी उदारात्मा है, रोगनिर्मुक्त है, इसकी नयी अवस्था है और ये सब कुसुमसमूह घर हैं, इस तरह की सब सामग्रियों के उपस्थित रहते भी जो स्त्री अपने स्वामी में अनुरागवती नहीं होती वह यदि अजीवन्मुक्ता है तो अपने स्वामी के उपभोग के विनाश से जनित पाप से बिलकुल नष्ट हो चुकी है और यदि वह जीवन्मुक्ता है, तो लोकसंग्रह के भंग से जनित निन्दा आदि के द्वारा नष्ट हो चुकी है। वनपुष्पलताओं के घर में स्वाधीन पति के रहते जो प्रिया सुखपूर्वक रमण नहीं करती वह दुष्ट अंगना मर चुकी है। एकान्त स्थान में सर्वांगसुन्दर रमणीय अपने विवाहित पति को पाकर जो सती स्त्री रमण नहीं करती उस दुष्ट महिला को धिक्कार है। उदार अर्थ से भरे यथाप्राप्त भी अनिन्द्य अपने भोग का सदा त्याग कर रहे, वेद्य पदार्थ का ज्ञान रखनेवाले तत्त्वज्ञानी पुरुष ने कौन-सा अधिक फल उत्पन्न किया? ॥१७-२०॥

तात्पर्य यह कि यथाप्राप्त भोगों का त्याग करके ज्ञानी कुछ भी अधिक फल उत्पन्न नहीं कर सकता।

इसलिए मैं अपनी बुद्धि से इस कानन में शीघ्र कुछ प्रपंच की रचना करूँ, जिससे कि यह मानप्रदान करनेवाला मेरा पति राजा मुझमें रति सुख का लाभ करे। यों विचारकर काननकुंज में बैठी हुई कुम्भवेषधारिणी चूडाला ने अपने पति से उस तरह कहा, जिस तरह कोकिला अपने पति कोकिल से कहती हो। कुम्भ ने कहा : हे राजन्, यह चैत्रमास का शुक्ल पक्ष है और महान् प्रतिपदा दिवस है। आज स्वर्ग में इन्द्र की समारोहपूर्वक बड़ी सभा होगी, जिसमें सब देवर्षियों का समागम होगा। मुझे अपने पिताजी के सामने वहाँ पहुँच कर उनका साक्षात्कार करना ही चाहिए, क्योकि यथास्थित नियति का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए। हे राजन्, नवीन पुष्पों से शोभित इस वन-भूमि में किसी तरह के उद्वेग को न प्राप्त कर विहार करते हुए आप सायंकाल तक मेरी अवश्य प्रतीक्षा कीजियेगा। हे राजन्, आज सायंकाल को स्वर्ग से मैं निश्चित आ जाऊँगा, क्योंकि मेरे आत्मसन्तोष के लिए आपका साथ

मुझे स्वर्ग से भी बढ़कर प्रिय है। यों कहकर अपनी प्रीति–जैसी कल्पतरू के कुसुम की मनोहर मंजरी कुम्भ ने अपने मित्र राजा शिखिध्वज को उसकी प्रसन्नता के लिए दे दी। हे प्रिय मित्र, यहाँ शीघ्र आना, यों राजा शिखिध्वज के कहते ही वह कुम्भ वन से आकाश में, शरत्कालीन निर्जल मेघ की नाईं, उड़ गये। आकाश में जा रहे उस कुम्भ ने पुष्पमाला की पुष्पांजली, जो वनवायु से चारों ओर प्रसरण शील हो रही थी, ऐसे छोड़ दी, जैसे हिमकाल का मेघ हिम। जैसे मयूर तब तक मेघ को लगातार देखते ही रहता है जब तक कि वह मेघ उसकी आँखों से ओझल नहीं हो जाता, वैसे ही उस समय आकाश में जा रहे अपने मित्र को राजा शिखिध्वज तब तक उन्निद्र होकर देखते रहे जब तक कि कुम्भ आँखों से ओझल नहीं हो गये, क्योंकि बुद्धिमानों की प्रीति दुस्त्याज्य होती है – छोड़ते नहीं बनती ॥२१–३०॥

शिखिध्वज की दृष्टि के बाहर जाकर आकाश में चूडाला ने अपने कुम्भशरीर का परित्याग कर दिया और वह मुग्धा अपने पूर्वरूप में उस तरह आ गई जिस तरह आवर्त के शान्त हो जाने पर जलश्री। आकाश–पथ से वह चूडाला स्वर्ग के समान रमणीय अपने नगर में पहुँच गई, जहाँ पताका फहरा रही थी अतएव जो मंजरीयुक्त आकारवाले कल्पवृक्ष के सदृश मालूम हो रहा था। स्त्रियों से भरे हुए अपने अन्तःपुर में अदृश्यरूप से वह चूडाला उस तरह प्रविष्ट हो गई, जिस तरह लताओं से शोभित वृक्ष में वसन्त की महालक्ष्मी। वहाँ झटपट सब राज्यकार्यों का सम्पादन कर वह चूडाला, जैसे वृक्ष से फल या पुष्प गिरता है, वैसे ही राजा शिखिध्वज के आगे आकर गिरी। हिमयुक्त चन्द्र जैसे कमल को खिन्न बना देता है वैसे ही अत्यन्त खिन्न मनवाली श्यामा उस चूडाला ने अपने स्वामी की सन्निधि में अपने मुख को श्यामद्युति से युक्त खिन्न बना दिया। उस तरह के आकार से युक्त उसे देखकर राजा शिखिध्वज उठकर खड़ा हो गया और खिन्न चित्त हो गया। खिन्न चित्त उस राजा ने बड़े आदर के साथ यह कहा : देवपुत्र, आपको नमस्कार है। आपके मुख में ग्लानि झलक रही है, अतः आप खिन्न चित्त दीख रहे हैं। आप तो कुम्भ हैं। इस मानसिक ताप को दूर कर दीजिए और इस आसन पर बैठ जाइये। मित्र, कमल जैसे जल की आर्द्रता का आश्रय नहीं करते, वैसे ही जो अपने स्वरूप में स्थित सन्त महानुभाव वेद्य वस्तु का ज्ञान किये हुए रहते हैं वे हर्ष और विषाद जनित स्थिति का आश्रय नहीं करते। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यों राजा शिखिध्वज के कहने पर आसन पर बैठते–बैठते कुम्भ ने फटे बाँस की ध्वनि के समान विषादभरी वाणी से कहा ॥३१–३९॥

वेद्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त किये हुए पुरुष हर्ष और विषाद जनित स्थिति का आश्रय नहीं करते' यह जो राजा ने कहा है उसमें कुछ विशेष कहने की इच्छा कर रहे कुम्भ कहते हैं।

जब तक देह की स्थिति रहती है तब तक आनेवाली हर्ष–शोक आदि अवस्थाओं में ज्ञानजनित समचित्तता के कारण कर्मेन्द्रियों की चेष्टाओं में जो अवस्थित नहीं रहते वे तत्त्वज्ञानी प्रारब्धप्राप्त कर्मेन्द्रियों की चेष्टाओं का उद्भव हो जानेमात्र से शठ नहीं हो जाते ॥४०॥

अतत्त्वज्ञों में ऐसी बात नहीं है, यह कहते हैं।

हे राजन्, जो अतत्त्वज्ञानी मूढ़ हैं वे बालचित्त होने से ही यानी उनमें समचित्तरूपता का अभाव होने से ही हठात् गृहीत तत्–तत् कर्मेन्द्रियों की निग्रहावस्थाओं से स्वभावतः (अज्ञानस्वभाव से ही) च्युत हो जाते हैं ॥४१॥

जब तक देह रहेगी तब तक प्रारब्धप्रयुक्त कर्मेन्द्रियों में हर्ष–ग्लानि आदि दशा ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में एक–सी रहेगी ही, इसी आशय से दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।

जैसे जब तक तिल है तब तक तेल भी है, वैसे ही जब तक देह रहेगी तब तक कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त हर्ष और ग्लानि आदि की दशा रहेगी ही।

उसीको व्यतिरेकी दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं।

जो देहदशा को प्राप्त नहीं होता वह खड्ग से आकाश का छेदन करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानियों को भी देहदशा का अतिक्रमण होता ही नहीं, अतः मैं भी उसका अनुकरण करूँ तो क्या दोष है ॥४२॥

ऐसी स्थिति में चित्त की समता से देहगत दुःखों का समाधि के कारण अदर्शन होना ही उनका परित्याग है, जबर्दस्ती कर्मेन्द्रियों के निग्रह से उन्हें सहन करना उनका परित्याग नहीं, यह निष्कर्ष है, इसे कहते हैं।

समाधि से चित्त की जो समता है यही देह में प्राप्त दुःखों का सर्वोत्तम परित्याग है। कर्मेन्द्रियों की संस्थिति से यानी कर्मेन्द्रियों के निग्रह से उन्हें सहन करना उनका परित्याग नहीं है ॥४३॥ हे राजन्, तत्त्वज्ञानी को तब तक सभी दशाओं में यथाप्राप्त सदाचार का कर्मेन्द्रियों के द्वारा परिपालन करते हुए ही अवस्थित रहना चाहिए, जब तक कि इस देह की स्थिति बनी हुई है। ज्ञानेन्द्रियों तथा मन आदि से तो सदा समचित्त होकर ही अवस्थित रहना चाहिए, कभी भी वैषम्यभाव को प्राप्त होकर नहीं ॥४४॥

कर्मेन्द्रियों के द्वारा देहदशाओं में अनिषिद्ध का अनुवर्तन ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण जीवन्मुक्तों में प्रसिद्ध ही है, यह कहते हैं।

ब्रह्मा आदि सभी उदित हृदय से युक्त (जीवनमुक्त) ज्ञानी लोग देह की अवस्थाओं में अवस्थित रहते हैं, यही प्रारब्धकर्मरूप नियति का निश्चय है ॥४५॥

प्रारब्धकर्मरूपी नियति का उल्लंघन अज्ञ या तत्त्वज्ञ किसीसे नहीं किया जा सकता, इसे कहते हैं।

अज्ञ या तत्त्वज्ञ सर्वविध प्राणियों से समन्वित जो यह दृश्यसमूह है वह सब नियति की ही ओर उस तरह दौड़ता है, जिस तरह जल सागर की ओर ॥४६॥

तब क्या तत्त्वज्ञानी और मूर्ख दोनों बराबर ही हैं, नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं।

तत्त्वज्ञानी लोग बुद्धि आदि के साम्य तथा हाथ, पैर आदि के संचालन से जब तक प्राप्त एक अन्तिम देह का पतन नहीं हो जाता तब तक इस नियति को पूर्णतः बिताते चलते हैं ॥४७॥

परन्तु अज्ञानी वैसा नहीं करते, यह कहते हैं।

परन्तु अज्ञानी सब तरह के क्षोभ से सुख–दुःख की दशाओं में आहत होकर लाखों शरीरों के द्वारा नियति को अपूर्णरूप से बिताते चलते हैं ॥४८॥

प्रारब्धकर्मरूपी नियति के स्वरूप को दिखला रहे कुम्भ ऋषि उसकी सबसे दुर्लंघ्यता का अनुवाद कर उपसंहार करते हैं।

हे राजन्, इस प्राणी को इस जन्म में इस रीति से सुखों में और इस रीति से दुःख की दशाओं में अवस्थित रहना चाहिए। अपने–अपने कर्मों के अनुसार जीवों को जैसा ललाटाक्षर प्राप्त है तत्–

तत् विषय में अज्ञ या ज्ञानी सब भूतों में वैसा ही यह नियति (प्रारब्धकर्म) का नियत विकास है, जो पूर्वोक्त रीति से दुर्लंघ्य है ॥४९॥

एक सौ चारवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पाँचवाँ सर्ग

दुर्वासा मुनि के शाप से रात्रि में स्त्रीत्वप्राप्ति का कुम्भ द्वारा कथन तथा परस्पर समाधानों से सन्तुष्ट हुए उन दोनों की स्थिति का वर्णन।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे महाभाग, हे वेद्यविदों में श्रेष्ठ, अपने–अपने भाग्यचक्र के अनुसार जो ये सब जीव स्थित हैं, उनमें यद्यपि आप देवता हैं, तो भी इस तरह के विषाद के हेतु उद्वेग को किस कारण प्राप्त किये हैं, यह आप मुझसे कहिए। कुम्भ ने कहा : हे भूमिपाल, यह मेरा चित्त जो विकृत हुआ है, उसके विषय में आज इस संसार में मेरे लिए जो घटना घटी, उसे पूरी तरह मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये। भद्र, घन, जड़ और काला होते हुए भी मेघ मुक्तवृष्टि होकर जैसे हलका हो जाता है, वैसे सुहृदजनों में प्रकाशित किया गया दुःख अत्यंत हलका हो जाता है। पूछ रहे मित्र के कारण अन्तःकरण भलीभाँति प्रसन्नता (स्वच्छता) उस तरह प्राप्त करता है, जिस तरह स्वच्छता के लिए प्राप्त हुए कतक–रज के कारण जल स्वच्छता को प्राप्त करता है। आपको पुष्पांजलि समर्पित कर यहाँ से पहले निकला और फिर आकाश को लाँघकर मैं स्वर्ग में पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर पिताजी के साथ महेन्द्र के सभा स्थान में क्रमानुसार बैठ गया और तदनन्तर उत्थान–समय में पिताजी से अलग हुआ मैं उठकर यहाँ आने के लिए स्वर्ग का परित्याग कर आकाशमण्डल में आ गया। मैं सूर्य के घोड़ों के साथ साथ अपने अनुकूल प्रवह नामक वायु के मार्ग के उसके प्रवाह से ही अभिमत देश में आया। अपने अभिमत देश में आने के बाद प्रवहनामक वायु द्वारा आगे ले जाये जा रहे भगवान् सूर्य एक मार्ग से एक ओर गये और मैं दूसरे मार्ग से समुद्र में मानों तैरता हुआ आकाश की ओर जा रहा था। अनन्तर मैंने जलपूर्ण मेघों के मध्यमार्ग से वेगपूर्वक सामने चले आ रहे महान् दुर्वासा मुनि को देखा। दुर्वासा मुनि को मेघसदृश नीलेवस्त्रों ने ही ढाँक रखा था और विद्युत् के सदृश चमकीले कंकण ने उन्हें सुशाभित किया था। जिस दशा में मैंने उन्हें देखा, उस दशा में ठीक अभिसारिका (प्रेमिका) – से लगते थे। उनके अंगों के चन्दन को यानी अंगराग को ओस की धारा ने धो डाला था। भूमि पर राजित अतएव तीरस्थ वृक्षों की सुन्दर छाया से समन्वित अपनी प्रिय तपोलक्ष्मी के सदृश अवस्थित प्रसिद्ध भागीरथी की ओर वेग से वे इसलिए दौड़े जा रहे थे कि सन्ध्यावन्दन का समय बीत न जाय। आकाश में विचरण कर रहे मैंने उन मुनि को नमस्कार कर कहा कि हे मुनिवर, नीलमेघ के सदृश वस्त्र धारण करने के कारण आप अँधेरी रात की अभिसारिका के सदृश लगते हैं। हे मानद, महाराज दुर्वासा ने उस वाक्य को सुनकर मेरे ऊपर शाप छोड़ा, जाओ, तुम इस दुरुक्ति के कारण हाव–भावविलासों से पूर्ण, स्तन केशवाली कमनीय रमणी आज से प्रत्येक रात में हो जाया करोगे। जीर्ण–शीर्ण ब्राह्मण दुर्वासा मुनि के मुख से निकले उस अशुभ वाक्य को सुनकर ज्यों–ही मैं कुछ विचारता हूँ, त्यों–ही वे मुनि अन्तर्हित हो गये। हे साधो, उस प्रकार मैं आकाशतल से ही उद्विग्न–मन होकर यहाँ आया हूँ। आपसे मैंने सब कुछ कह दिया कि मैं रात्रि

में अंगना हो गया हूँ। यह स्त्रीभाव रात्रियों में मैं कैसे निभा सकूँगा। हा ! मैं रात में स्तनधारिणी घोषित हो जाऊँगा। पिताजी के सामने मैं क्या कहूँगा। अहो, इस संसार में भवितव्यों की बड़ी ही विचित्र गति है, क्योंकि मैं भी आज दैव से युवकों के लिए मांस बन गया यानी गृध्रामिषन्याय से अनेक युवकों में परस्पर कलह को पैदा करनेवाला हो गया ॥१-१७॥

उसी न्याय का स्पष्टीकरण करते हैं।

महान् कष्ट यह हो गया कि अब मेरे अपहरण के लिए यहाँ स्वर्ग में कामव्याकुल मति देवकुमारों में संघर्ष छिड़ जायेगा। गुरुजन, देवता एवं ब्राह्मणों के सामने रात में लज्जापरवश स्त्रीरूप मैं किस तरह से निराबाध वास कर सकूँगा। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, उस तरह कहकर वह कुम्भ एक क्षण तक चित्त की एकाग्रता में चुपचाप स्थित होकर इस विषय में धैर्य धारणकर फिर बोलने लगा। अज्ञानी की तरह मैं क्यों सोच रहा हूँ, मेरी आत्मा का इससे क्या बिगड़ा। प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए स्त्रीभाव का मुझसे अन्य यह शरीर ही अनुभव करेगा। इससे असंग चिन्मात्रस्वरूप मेरी क्षति क्या हुई ॥१८-२१॥

राजा भी उसके कथन का अनुमोदन कर कहते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवपुत्र, उस तरह की इस व्यर्थ चिन्ता से कौन अर्थ सिद्ध होनेवाला है। प्रारब्धवश जो आता है, उसे आने दीजिए, उससे देह की आत्मा लिप्त नहीं हो सकती। जो भी कुछ सुख या दुःख आते जाते हैं, वे सब देह के लिए ही आते-जाते हैं, उनमें से कोई भी देही आत्मा के (देहोपलक्षित चैतन्यात्मा के) लिए नहीं। मुनिवर, अवश्य प्राप्त होनेवाले प्रारब्धकर्म-फलों के विषय में कभी खेद न करनेवाले आप भी यदि खेद करने लग जायेंगे, तो अविवेकी पुरुषों को अविवेकजनित खेद की चिकित्सा के लिए आपके सदृश शास्त्रीय तत्त्व का अनुभव करानेवाला दूसरा कौन चिकित्सक शरण देगा अर्थात् कोई भी नहीं देगा ॥२२-२४॥

मैं तो समझता हूँ कि यह आपका खेद नहीं है, किन्तु केवल खेदोचित वाणी का ही लोकाचार का वर्णन करने के लिए उपयोग कर रहे हैं, यह कहते हैं।

खेद के विषय में खेदोपयोगी कुछ कहना चाहिए, इस अभिप्राय से आपने कुछ कहा, यह मेरा मन्तव्य है। अब आप समता धारण कर प्रकृतिस्थ हो अखिन्नरूप से स्थित हो जाइए। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामभद्र, उस तरह के अनेक वाक्यों के द्वारा वे दोनों परस्पर अपने-आप आश्वासन कर स्थित हो गये। उन दोनों को अरण्य से बड़ा प्रेम था, वे एक दूसरे के अभिन्न मित्र थे और परस्पर एक दूसरे के दुःख से दुःखी रहनेवाले थे। परस्पर आश्वासन ग्रहण करने के बाद कुम्भ में स्त्रीरूपता का मानों उत्पादन कर रहे जगत् के दीपकरूप भगवान् सूर्य भी, तेल के क्षय से दीपक की नाईं, अस्ताचल की ओर चल दिये। जगत् के समस्त व्यवहारों के साथ-साथ कमल संकुचित होने लगे, पथिकों के साथ-साथ मार्ग अन्धकार के कारण अस्फुट होने लगे, पथिक और पथिकस्त्रियों के अन्तःकरण वियोगशोकरूप अन्धकार से आक्रान्त होने लगे। समुद्र के द्वीप में रहनेवाले धीवर लोग जालों से पक्षी, मछलियों और समुद्रस्थ रत्नों को एकत्रित करते हैं, इसलिए समुद्रद्वीप में रहनेवाले धीवरों के सदृश एक जगह सब पक्षियों को बटोर रहा नीचे का भुवन और एक जगह तारकरूपी रत्नों को इकट्ठा कर रहा

ऊपर का भुवन ‐ ये दोनों एक दूसरे की समता करने लग गये। विकसित कुमुदों के भंडार अतएव हँस रहे पुरुष के सदृश स्थित तारों से परिपूर्ण आकाश की ओर चक्रवाक और घूम रहे भ्रमरों के झुण्ड-के-झुण्ड उत्ताल निनादध्वनि करते हुए उड़ने लगे। वे दोनों मित्र उठकर उदयोन्मुख निशाकर से युक्त सन्ध्या को अभिवादन कर तथा जपकर्म कर एक गुल्म के (लतागृह के) भीतर बैठ गये। तदनन्तर, वहाँ धीरे-धीरे क्रमशः स्त्री के अंगों में परिवर्तित होनेवाले कुम्भ सामने बैठे हुए राजा शिखिध्वज से गद्गद् होकर कहने लगे। हे राजन्, अब मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं अपने शरीर की अंगलताओं के साथ भूमि पर मानों गिर रहा हूँ, स्फुरित हो रहा हूँ और विगलित होने लग गया हूँ। अब मानता हूँ कि आपके सामने लज्जा के साथ ही मैं स्त्रीरूप बनता जा रहा हूँ। हे राजन्, देखिये, ये मेरे केश – दिन की समाप्ति में बढ़नेवाले घने अँधेरे के सदृश – स्फुरणशील तारों की माला से मालित होकर यानी मोती आदि की मालाओं से समन्वित होकर – बढ़ रहे हैं। महाराज, देखिये तो सही, वसन्तकाल में गगन की ओर मुख किये कमलिनी के कोरकों के (कलियों के) सदृश मेरी छाती में उर्ध्वमुख स्तन निकल रहे हैं। हे मित्रवर, यह देखिये, मेरी देह से ही स्त्रियों के – जैसे धीरे धीरे एड़ी तक मेरे लिए लम्बे-लम्बे वस्त्र निकल रहे हैं। हे प्रिय मित्र, देखिये, मेरे अंगों से ही, वृक्ष से उसके अंगों से (शाखाओं से) फूलों की नाईं, भूषण, रत्न और विविध मालाएँ निकल रहीं हैं। प्रिय, यह देखिये, हिमांशु की किरणों के सदृश मनोहर मेरे मस्तक पर अपने आप ही, पर्वत पर कुहरे की नाईं, पट्टवस्त्र निकल रहा है। हे मानद, मुझे सभी तरह के स्त्रियों के चिह्न उत्पन्न हो गये, मुझे धिक्कार है, महान् कष्ट है, मैं महान् विषाद का अनुभव करता हूँ, क्या करूँ, अब मैं स्त्री बन गया। हे साधो, हा धिक्कार है, कष्ट है, अब मैं पूर्ण स्त्रीरूप ही होकर स्थित हूँ, प्रत्यक्षतः भीतर नितम्ब और मांसल इन जंघाओं का मैं अनुभव करता हूँ॥२५-४०॥ उस तरह कहकर जंगल में खिन्न हो वह कुम्भ चुपचाप हो गया। उसे देखकर राजा भी उसी तरह विषादयुक्त होकर अवस्थित थे। मुहूर्तकाल तक विचार कर राजा शिखिध्वज यह वचन बोले – कष्ट का विषय है कि प्रसिद्ध यह निर्मलचित्त महामुनि कुम्भ वरवर्णिनी (रमणी) बन गये। हे साधो, आप तो जानने योग्य सब कुछ जानते हैं, इसलिए भावी की गति आपसे अपरिचित है नहीं। अतः इस अवश्यंभावी विषय में आप अपने हृदय में खेद मत कीजिए। हे ज्ञानपूर्ण, तत्-तत् जो अवश्यंभाविनी सुख-दुःखात्मक दशाएँ हैं, वे तत्त्ववेत्ताओं को केवल शरीर में ही आती हैं, अन्तःकरण में नहीं और अज्ञानियों को तो ये दशाएँ शरीर में तथा वासनारूप से अन्तःकरण में भी आती है। कुम्भ ने कहा : हे राजन्, आपका कथन सत्य है, अवश्यंभावी आया हुआ स्त्रीपन अब तो रातों में निभा ही लेता हूँ और खेद छोड़ देता हूँ, क्योंकि भाग्यचक्र का उल्लंघन कौन कर सकता है। उस प्रकार निर्णयकर और उस खेद को कुछ हलका-सा बनाकर एक ही शय्यापर उन दोनों ने उस रात्रि को बहुत देर में बिताया (△)। अनन्तर कुम्भ प्रातःकाल में युवती स्त्री के स्वरूप का परित्याग कर कुम्भसदृश स्तनों से रहित शरीरवाले असली कुम्भ बन गये। इस तरह राजरानी वरवर्णिनी (सुरूपा) चूडाला अपने पति के सामने पहले कुम्भ मुनि के रूप में बनी और पीछे स्त्री के रूप में बनी। वनों के अन्दर रात में कुमारी धर्म से युक्त वह चूडाला विचरण करती रही

(△) राजा को कुम्भ के ऊपर आई हुई विपत्ति की चिन्ता से और रानी चूडाला को अपने स्वामी के समागम की उत्कण्ठा से निद्रा न आने के कारण उन्होंने रात्रि बहुत देर में बिताई, यह तात्पर्य है।

और दिन में कुम्भ का रूप धारण कर मित्र पति के साथ विचरण करती रही ॥४१-४९॥

किस-किस स्थान में किस-किस तरह उसने विहार किया ?

कैलास, मन्दराचल, महेन्द्राचल, सुमेरु तथा सह्याद्रि आदि पर्वतों के शिखरों पर योगबल से अस्खलित गमनागमन कर रही अपने अनुकूल वर्ताव कर रहे प्रिय मित्र पति के साथ वह नारी चूडाला पुष्प मालाओं और हारों से अलंकृत होकर इच्छानुसार विहार करती थी ॥५०॥

एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छठा सर्ग

महेन्द्रपर्वत पर अग्नि के सामने उन दोनों का विवाह और सुवर्ण गुफा में पुष्पशय्या पर समागम-यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, तदनन्तर कुछ ही दिनों के बीत जाने पर वह कुम्भरूपधारिणी चूडाला अपने पति से यह कहने लगी। कमलपत्र के सदृश विशाल नेत्रवाले हे राजन्, मेरा यह वचन आप सुनिये। प्रतिदिन मैं रात में स्त्री ही बनकर रहता हूँ। इसलिए मैं ऐसा स्त्रीरूप को सफल बनाना चाहता हूँ, अतः किसी स्वामी को मैं उस अपने स्त्री शरीर का विवाह द्वारा प्रदान करूँगा। इस त्रिलोकी में आप ही एक भर्ता के रूप में मुझे पसन्द पड़ रहे हैं। अतः रात में विवाह द्वारा अपनी भार्या के रूप में मेरा सदा स्वीकार कीजिए। हे साधो, अपने प्रियमित्र के साथ अनायास प्राप्त हुआ स्त्रीसुख भोगने की इच्छा कर रहा हूँ, अतः आप मेरी प्रार्थना का खण्डनकर मेरे विघ्नकारक मत बनिये। राजन्, सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक देवता, ऋषि आदि सबमें चले आ रहे और बिना बाधा के हो रहे इस प्रस्तुत विवाह कार्य को यदि आप करें, तो वैसा कर रहे आपको क्या दोष लगेगा अर्थात् कुछ नहीं। सब वस्तुओं में इच्छा, अनिच्छा और तज्जनित फलों का चारों ओर से त्याग करके हम लोग न तो इच्छावाले हैं और न अनिच्छावाले हैं, इसलिए इस अभीष्ट कार्य को करें, कुछ भी बिगड़ेगा नहीं। शिखिध्वज ने कहा : हे सखे, इस विवाह कार्य को करने से न शुभफल या न अशुभ फल देखता हूँ, इससे हे महाबुद्धे, आप जैसा चाहें, वैसा करें। समरूप बन गये इस चित्त में मैं ये तीनों जगत् अपना ही रूप जानता हूँ, अतः जैसा चाहें, वैसा करें। कुम्भ ने कहा : हे महीपाल, यदि यह बात है, तो आज ही शुभ लग्न है। यह चल रहे श्रावण की पूर्णिमा है। कल ही मैंने विवाहलग्न आदि सबका गणित कर लिया है। हे महाबाहो, आज रात में ही जब कि समस्त कलाओं से परिपूर्ण निर्मल चन्द्रमा उदित होंगे, तब ही अपने दोनों का गान्धर्वविधि से विवाह होगा। हे कान तक के लम्बे-लम्बे नेत्रोंवाले महाराज, यह जो मनोरम, महेन्द्रपर्वत के माथे के ऊपर सींग-जैसा उन्नत शिखर है, जहाँ रत्नरूपी दीपकों का पूर्ण प्रकाश पड़ता है, मणिमय कन्दरारूपी अनेक मन्दिर है, जो पुष्पों के बोझों से झुके हुए ऊँचे-ऊँचे अनेक वृक्षों से सुशोभित है, जंगली फूलों की लताओं के विलासपूर्ण रमणीय-नृत्यों से लुभावना लगता है, उस शिखरपर अपने प्रिय पति पूर्णचन्द्र के साथ आकाशगत तारिकाएँ रात में हम दोनों का विवाह देखें। हे राजन्, अब आप उठिये, जंगल के कोटरों से विवाह के लिए हम लोग रत्नों के साथ चन्दन, पुष्प आदि सामग्री को एकत्र करें। यों कहकर कुम्भ उठे और उस राजा के साथ फूलों को बिनने तथा रत्न आदि का संचय करने लग

गये। तदनन्तर एक मुहूर्त में उन दोनों ने सुन्दर चिकने उस रत्नप्रचुर शिखर पर एक स्थान में देवता, अग्नि आदि का पूजन करने के लिए पुष्पों के ढेर के ढेर बना डाले। दूसरे स्थान में भी हार, अम्बर मणि आदि के यथेच्छ ढेर के ढेर उस प्रकार लगा दिये, जिस प्रकार पुण्य के परिपाक-काल से मानों सौभाग्य के यथेच्छ ढेर के ढेर लगा दिये गये हों। उस प्रकार सुवर्ण की गुफा में विवाह की सामग्री एकत्रित कर वे दोनों महामित्र गंगानदी में स्नान के लिए चले गये। वहाँ कुम्भ ने गजराज के गण्डस्थल के सदृश सुदृढ़ कन्धों वाले महाराज शिखिध्वज को बड़े ही आदर से दही, दूध, अक्षत आदि मंगल द्रव्यों से स्नान कराया। भविष्यकाल की दयिता कुम्भरूप धारण की हुई प्रिय अंगना चूडाला को भविष्य के स्वामी राजा शिखिध्वज ने भी मंगलस्नान कराया। अनन्तर, वहाँ पर स्नान किये उन दोनों नें देवता, पितर और ऋषियों की पूजा की। ज्ञानी होते हुए भी उनकी पूजा में प्रवृत्ति इसलिए हुई कि वे जैसे क्रियाजनित फलों में अनिच्छा रखते थे, वैसे ही क्रियाफलों के त्याग में भी अनिच्छा रखते थे। यद्यपि वे शाश्वत आत्मज्ञानरूपी रस से पूरी तरह तृप्त थे, तथापि इस जगतीस्थिति की व्यवस्था के लिए उन्होंने सिद्धि के प्रभाव से निर्मित अन्न आदि का भव्य भोजन किया। तदनन्तर धवल, कल्पवृक्ष के वस्त्रों का परिधान कर वे दोनों कल्पवृक्ष के फल खाकर शास्त्रोक्त क्रम से विवाह की वेदी की ओर बढ़ आये। इधर इतने समय से विवाह के लिए उत्कण्ठित हो रहे उन दोनों का मानों प्रिय करने के लिए तत्काल ही भगवान् भास्कर ने अस्ताचल की ओर प्रस्थान किया। अनन्तर उनकी सन्ध्यावन्दन आदि विधि समाप्त हो गई, मन्त्र-जप, अघमर्षण आदि भी उन्होंने कर लिया। इधर उनका विवाह देखने के लिए आकाशमण्डल में समस्त तारे भी आ धमके ॥१-२६॥ इधर स्त्री-पुरुष के जोड़ों में प्रीति पैदा करनेवाली सखी त्रियामा रात्रि भी कुइयों के हास से युक्त हो तुषारसमूह बरसाती हुई आ गई। जिस तरह आकाशमण्डल में ब्रह्माजी ने चन्द्र और सूर्य से संयुक्त ज्योतिश्चक्र की योजना की है, उसी तरह मुनिवर कुम्भ ने भी इधर शिखर पर अनेक जाति के रत्नों से दीपकों की योजना की। रात्रि के आगमन पर स्त्रीरूप धारण करनेवाले कुम्भ ने राजा को अनेक भूषणों से सजाया। उसे चन्दन और कपूर से मिलित केसर और कस्तूरी से; हार, केयूर और कंकणों से; कल्पलता से उत्पादित वस्त्रोंसे; मालाओं के कारण उत्कृष्ट शोभावाले रत्नगुच्छे आदि उत्तम आभूषणों से; विविध भूषणों के लिए योग्य कण्ठादि मालाओं से; कल्पलताओं के गुच्छों से; मन्दार, पारिजात और सन्तान नामक देवतरू के फूलों से; बड़े बड़े अनेक रत्नों से तथा चन्द्र के सदृश कान्तिमान् चूड़ामणि से खूब सजा दिया। इतने ही समय में महामुनि कुम्भ वधूरूप में परिणत हो गये, घन स्तनमण्डल के भार से भरित और तत्क्षण ही विलासी हो गये। अनन्तर उन्होंने विचारा कि मैं यह वधू अब बन गया, अब यह कामरूप वर को शरीर दे देना चाहिए और कालोचित कृत्य अवश्य कर देना चाहिए ॥२७-३३॥

इसीलिए कामरूप से स्वामी की कल्पना कर मन में कहते हैं।

यह मैं कमनीय वधू हूँ और हृदयस्थ आप भर्ता के रूप में सामने अवस्थित हैं, अतः हे कामरूप, आप आइये, मुझे स्वीकार कीजिए, यह आपका अवसर है। यों मन में विचारकर सामने वनवेदी-प्रदेश में अवस्थित उदीयमान आदित्य के सदृश तेजस्वी भर्ता की और, काम की ओर रति के सदृश, बढ़ गई। हे मानद, आपकी मैं मदनिका नाम की भार्या हूँ, आपके चरणों में अनुरागपूर्वक प्रणाम करती हूँ। यों

कहकर निर्दोष अंगोवाली तथा लज्जा से विनम्र मुखवाली उस मदनिकाने चंचल केशवाले मस्तक से अपने शोभ रहे पति को प्रणाम किया। फिर उसने कहा : हे स्वामिन्, पहले मुझे अलंकारों से अलंकृत कीजिए तदनन्तर अग्नि प्रज्वलित कर शास्त्रोक्त प्रक्रिया से मेरा पाणिग्रहण कीजिए। हे राजन्, आप इस समय खूब सुन्दर लग रहे हैं, मुझे कामपीड़ित कर रहे हैं। अधिक क्या कहूँ ? रति के विवाह में प्रसिद्ध कामदेव का भी अपनी शोभा से तिरस्कार कर आप स्थित हैं ॥३४–३९॥

राजा की उक्त शोभा का ही वर्णन करते हैं।

हे राजन्, आपकी प्रसिद्ध जो ये मालाएँ हैं, वे इन्दु की किरणों–सी मालूम पड़ती हैं और आपके गले का यह जो हार है, वह मेरुपर्वत पर के गंगाप्रवाह की शोभा धारण कर रहा है। हे नृप, मन्दार–पुष्पों से गूँथे गये केशों से आप ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे केशरों से युक्त चंचल भ्रमरों से सुवर्ण कमल शोभते हों। हे प्रभो, रत्नकिरणों, कुसुमों तथा स्थिर तेजोलक्ष्मी के कारण आप रत्नों के स्थानभूत मेरुपर्वत का भी अतिक्रमण कर अवस्थित हैं। उस तरह के विविध वर्णन कर रहे वे कुछ ही क्षण में होनेवाले दम्पती, जिनका कि पहले से ही गुप्त दाम्पत्य था, एक दूसरे से अत्यन्त सन्तुष्ट हो रहे थे। इधर सुवर्णपत्थर के आसन पर बैठे हुए महाराज शिखिध्वज ने महारानी मदनिका को स्वयं खूब सजाया। तत्–तत् विभूषण के लिए उपयोगी अंगों में समर्पित नानाविध अलंकारों से, चमकीले मणि, रत्न आदि विभूषणों से युक्त मालाओं से, वस्त्रों से, अंगरागों से तथा फूलों से वह कोमलांगी, मददायिनी मदनिका विवाह के लिए उत्कण्ठित गिरिजा और काम की पत्नी कामिनी रति के सदृश शोभने लगी। महारानी मदनिका को सजाकर महाराजा शिखिध्वज ने कहा : हे मृग के बच्चे सदृश नेत्रोंवाली, अब तुम नवोत्पन्न लक्ष्मी की नाईं शोभित हो रही हो। इन्द्र के साथ इन्द्राणी का जो सौभाग्य है, भगवान् विष्णु के साथ लक्ष्मी का जो सौभाग्य है, शम्भु के साथ गौरी का जो सौभाग्य है, वही सौभाग्य मेरे साथ तुम्हारा होवे। स्तन के पद्मकोश और अनुराग के सदृश अंकुरों से युक्त हृदयवाली; नेत्रों के सदृश चंचल नीलोत्पलवाली और आमोदों के कारण मधुर भ्रमरझांकारोंवाली विख्यात पद्मिनी के सदृश तुम अवस्थित हो ॥४०–४९॥

अब कल्पलता के रूप में उसका वर्णन करते हैं।

हे मदनिके, तुम्हें मैं कल्पतरू वृक्ष की लता ही मानता हूँ, क्योंकि तुम्हारे हाथ ही सुन्दर लाल पल्लव हैं, ये स्तन ही तुमसे स्तवकों के रूप में धारण किये गये हैं और तुम अनेक फलों से लदी हो। भद्रे, तुम्हारे अंग हिम के सदृश शीतल और निर्मल हैं, तुम्हारा हास्य ज्योत्स्ना का अनुकरण कर रहा है – इन सबके कारण तुम उदित पूर्णचन्द्र की शोभा के सदृश हृष्ट होकर सुन्दर आह्लाद दे रही हो। हे वरारोहे, अब चलो, तुम स्वयं ही विवाह की वेदी को अलंकृत करो। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, तदनन्तर उन दोनों ने वेदी में लगे हुए जो खम्भे थे, उन्हें फूलवाली लताओं से सजाया। उन लताओं में फलों के गुच्छों की तरह दिखाई पड़नेवाले हीरा, मानिक आदि नव तरह के रत्नपाषाणों के गुच्छे लगाये गये थे। उसकी चारों दिशाएँ चार नारियल के फलों से तथा गंगाजल से परिपूर्ण नवरचित चार घड़ों से सुशोभित की गई थी। उसके बाद वेदी के बीच में विवाह के लिए अग्नि की स्थापना कर के उसे चन्दन की लकड़ियों से उन्होंने प्रज्वलित किया। ज्वाला के प्रज्वलित हो जानेपर दाहिने ओर

स्थित उसकी प्रदक्षिणा की। फिर उसके आगे पल्लवों के आसनपर पूर्वाभिमुख होकर वे स्वयं बैठ गये। उस समय वे दोनों दम्पती बड़े ही कमनीय लगते थे। दोनों में से उस शिखिध्वज ने स्वयं तिल और लाजा का अग्नि में होमकर बारबार उठ कर अपने हाथों से उस कान्ता मदनिका का परिग्रह किया। अरण्य में गौरी और शंकर की नाईं परस्पर सुशोभित हो रहे मंगलस्वरूप उस दम्पती ने अग्नि की प्रदक्षिणा की ॥५०–५७॥

एक दूसरे को शरीर देने में उन्होंने एक दूसरे को दान क्या दिया ? इस पर कहते हैं।

एक दूसरे के प्रेम के लिए लोलुप, ज्ञानरूप सर्वोपरि धन से परिपूर्ण अपना–अपना हृदय ही उन्होंने एक दूसरे को अपने–अपने दाय के रूप में दान दिया। एक दूसरे के प्रति किये गये स्मित हास से उनके कमनीय मुखमण्डल में महती शोभा झलक रही थी। उन्होंने अग्नि की पहले तीन प्रदक्षिणाएँ कीं, फिर उसमें लाजा होम किया। इस वैवाहिक विधि से बराबर सन्तुष्ट होकर उस वर–वधू ने एक दूसरे द्वारा ग्रहण किया गया अपना–अपना हाथ छुड़ा लिया। उनके कान्तिपूर्ण, स्मित कर रहे मुख नवीन उदित दो चन्द्रमा के सदृश लग रहे थे। अनन्तर पहले से निर्मित नूतन फूलों के पलंग पर वे सोने के लिए चले गये। इसी बीच चन्द्र ने, आकाशतल से मानों इनकी शोभा निहारने के लिए, धीरे–धीरे रात्रि के चतुर्थभाग पर आक्रमण किया यानी वैवाहिक कृत्य करते–करते रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया। जैसे चपल कामुक जनकी दृष्टि ललनाओं का छिद्र देखने के लिए एकान्त में अपनी किरणें फेंकती है, वैसे ही चपल चन्द्रमा ने ललना का छिद्र देखने के लिए लतागृह में पुष्पशय्यापर अपनी किरणें फेंकी। अनन्तर पूर्णरूप से चन्द्र के उदित हो जाने पर संगम के लिए शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहे उस सुशोभित दम्पती ने प्रसिद्ध–प्रसिद्ध नवीन वार्तालापों से स्वल्प समय तक विश्राम लिया। अनन्तर उठकर उन दोनों प्रेमियों ने सुवर्णमय गुफा में, जिसमें कि चमकीले रत्नरूपी दीपक जल रहे थे, प्रवेश किया। इस गुफा का पहले से हीं उन्होंने स्वयं निर्माण कर रखा था। वह इतनी गुप्त थी कि इसमें चन्द्र के किरणों की गति भी नहीं हो सकती थी। प्रवेश करने के बाद उन्होंने वहाँ पर कुसुमों से बना हुए एक नवीन पलंग देखा। वह चारों ओर खोदे गये सुवर्णमय कमलों से, दूसरे मन्दार आदि अम्लान पुष्पों से, शय्या जितनी ऊँची होती है, उतने ऊँचे सुन्दर बराबर सजाये गये कुसुमों से–जो कि शय्या के सदृश लम्बे चन्द्रबिम्ब के सदृश प्रतीत हो रहे थे और तुषार–स्थली के सदृश शीतल थे – व्याप्त था। अधिक क्या कहें, वह सुन्दर शैय्या क्षीरसागर की जलधारा के सदृश धवल थी, चन्द्रज्योत्सना के पिण्ड के समान सुन्दर आह्लाद उत्पन्न करनेवाला था, भीत में पड़ा हुआ कामदेव का मानों प्रतिबिम्ब ही था, उसमें सुगन्ध तो भरी पड़ी थी, यथा–प्रमाण ऊँचा थां, बड़ा ही रमणीय था। पूर्णरूप से निर्मल उस पुष्पराशि पर (पलंग पर) वह नवीन जोड़ा – जो कि राज छोड़ने के समय से लेकर अभी तक वह भ्रान्तिसुखानुभव देनेवाले उस पलंग पर वे, क्षीरसागर में मन्दराचल की नाईं, शोभ रहे थे ॥५८–६९॥ भद्र, परस्पर अनिर्वचनीय प्रेमभरी मनोहर उन–उन वाणी के विलासों से तथा उस समय के लिए उचित आलिंगन आदि कृत्यों से सुहावने गन्ध, माल्य, ताम्बूल के समर्पण आदि शुभ आचारों से जनित नवीन–नवीन संभोगसुख से उस निर्मल दम्पती की लम्बी वह रात मुहूर्त के सदृश बीत गई ॥७०॥

एक सौ छठा सर्ग समाप्त

एक सौ सातवाँ सर्ग

अनेक पर्वतों पर विहार, राजा की अनासक्ति की परीक्षा के लिए माया से
इन्द्रदर्शन करना तथा स्वर्ग को बुलाना आदि – इन सबका वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, रात बीत जाने के बाद, जब कि प्रभात में अंशुमाली सूर्य के लाल रंगने समस्त भूवन का कोना–कोना रँग दिया, तब शिखिध्वज की भार्या मदनिका अपने पहले के कुम्भरूप में आ गई। श्रीरामजी, मैंने आपसे जैसे कहा, वैसे वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज स्वतः विवाहित हो गये और देवताओं के सदृश भोगसामग्री से पूर्ण होने के कारण वे प्रिय देवदम्पती ही बन गये। प्रतिदिन ऐसी चित्रविचित्र वनपंक्तियों में विलास करते थे, जहाँ कि पके–पके फलों के समूह भरे पड़े रहते थे और पल्लवों की अनोखी शोभा निखरती रहती थी। दिन में तो वे अत्यन्त प्रिय मित्र बन जाते थे और रात में प्रिय पतिपत्नी बन जाते थे। प्रभा और दीपक की नाईं इतने वे मिले–जुले थे कि कभी अलग होते ही नहीं थे। उन्होंने अरण्य के कुंजों में, पर्वतों की गुफाओं में, मन्दारवृक्षों से अतिगहन (घने) तमालवृक्षों की झाड़ियों में, सह्याद्रि, दर्दुर, कैलास, महेन्द्र, मलय, गन्धमादन, विन्ध्याचल तथा लोकालोक पर्वत और नदियों के तटों मे रमण किया। तीन दिन बीत जाने के बाद जब कि उसके पति निद्रा ले रहे थे, तब वह चूडाला अपने नगर की ओर जाकर वहाँ राजकार्यों का सम्पादन कर फिर वापस आ गई। वे कुम्भ और शिखिध्वज, जो दिन में स्वच्छहृदय मित्र और रात के प्रिय पति–पत्नी थे, अनेक तरह के पुष्पों से मालित होकर परस्पर अत्यन्त मुदित रहते थे ॥१–८॥

किस–किस स्थान में कितने–कितने समय तक वे रहे, यह बतलाते हैं।

महीनेभर तो उन्होंने महेन्द्र पर्वत के उपर के गुफाघर में निवास किया। वह घर अत्यन्त रमणीय था, उसके चारों ओर चीड़ के ऊँचे वृक्ष लगे थे, उसकी दीवारें रत्नशिलाओं की बनी थीं। वहाँ पर देवता और किन्नर उनका आगत–स्वागत खूब किया करते थे। उसके बाद उन्होंने उसी तरह पन्द्रह दिन तक शुक्तिमान् पर्वत के पृष्ठ के, जो कि हाथों से लेने योग्य, अनेक दुःखों के विनाशक फल, पुष्प आदि से युक्त मन्दारों के कारण वनमाला से मालित हो गया था, कल्पवल्ली के कुंज में निवास किया ॥९॥ दो मास तक मैनाक पर्वत के दक्षिण के तट पर पारिजात वन में, जो कि देवताओं में भोग्य फूलों के गुच्छों का मण्डप ही था, रह कर विहार किया। तदनन्तर मेरूपर्वत के दक्षिण भाग की ओर स्थित जामुन के वृक्षों के वनखण्ड के नीचे विद्यमान जम्बू नदी के किनारे, जो कि हाथी के जैसे बड़े–बड़े जामुनों के रसरूपी आसवों के कारण जामुनों का नदरूप हो गया था, मासभर निवास किया। उत्तरी कुरुओं के मण्डल में वे दस दिन तक रहे और सत्ताईस दिन तक उत्तर के कोशल देश में रहे। रात में पति–पत्नीरूप हो जानेवाले उन महाभाग्यवान् मित्रों ने उसी तरह दूसरे–दूसरे चित्र–विचित्र देशों में और पर्वतों पर रहकर खूब विहार किया। तदनन्तर धीरे–धीरे कुछ महीनों के व्यतीत हो जाने के पश्चात् देवपुत्र का स्वरूप धारण की हुई वह चूडाला विचार करने लगी। अब मैं सुन्दर–सुन्दर नानाविध उपभोगों से शिखिध्वज की परीक्षा करूँगी। परीक्षा के द्वारा इसकी अनासक्ति मैं जब दृढ़ कर दूँगी, तभी यह फिर कभी भोगों में प्रेम नहीं करेगा। यों विचार कर चूडाला ने जंगलभूमि में अपनी माया से देवताओं और

अप्सराओं के साथ–साथ आये हुए इन्द्र को दिखलाया। अपने परिवार के साथ आये हुए इन्द्र को देखकर वन में वास किये हुए राजा शिखिध्वज ने पहले उनकी यथाविधि अर्घ्य, पाद्य आदि से पूजा की (फिर उनसे प्रश्न किया) ॥१०–१८॥

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवराज, आपने स्वयं इतने दूर से यहाँ आने का परिश्रम क्यों उठाया। जिस प्रयोजन को लेकर आप यहाँ पधारे हों, उसे प्रसन्नतापूर्वक कहिए। इन्द्र ने कहा : हे राजन्, हम लोगों के हृदय में लगे हुए सूत्ररूपी आपके सद्‌गुणों के आधिक्य से वशीभूत होकर ये हम यहाँ उस तरह आ गये हैं, जिस तरह हृदय मे बँधे हुए सूत्र से वशीभूत होकर अरण्य के पक्षी आ जाते हैं। राजन्, उठिये और स्वर्ग चलिये, क्योंकि वहाँ पर आपके गुणों के श्रवण से जनित महान् आश्चर्य से चकित हुए समस्त देवता और देवांगनाएँ आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रही हैं ॥१९–२१॥

आकाश में गमन करने की तो मुझ में शक्ति है नहीं, फिर मैं स्वर्ग में कैसे आऊँ, इस पर कहते हैं।

राजन्, और भी इन सिद्धपादुका, गुटिका, खड्ग, पारद आदि का स्वीकार कर सिद्धों के मार्ग से आप स्वर्गमण्डल में आने का अंगीकार कीजिए। हे तत्त्वज्ञ, आपके सरीखे जो साधु महात्मा हैं, वे अपने पास आई हुई लक्ष्मी का अस्वीकार कर अपमान नहीं करते और अप्राप्त लक्ष्मी की अभिलाषा भी नहीं करते। महात्मन्, जिस तरह भगवान् नारायण के आगमन से तीनों लोक पवित्र होते हैं, वैसे ही निर्विघ्न सुखपूर्वक विहार कर रहे आपके आगमन से आज ही स्वर्ग पवित्र हो जाय। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे देवताओं के अधिनायक, मेरा मन्तव्य तो यह है कि सभी स्थल (देश) स्वर्ग के सदृश ही सुखप्रद हैं; क्योंकि मैं जिस भूमानन्दात्मक परम आत्मा को स्वर्ग मानता हूँ, उसकी सर्वत्र सत्ता है। मेरे लिए कहीं पर परिच्छिन्न है नहीं ॥२२–२६॥

पूर्णकाम होने से भी मेरे लिए सर्वत्र सुख है, यों कहते हैं।

हे प्रभो, मैं सभी जगह सन्तुष्ट रहता हूँ, सभी जगह विहरण करता हूँ। मेरे मन में कोई भी इच्छा नहीं हैं, क्योंकि जहाँ–जहाँ मैं जाता हूँ, वहाँ सर्वत्र ही मैं आनन्द से परिपूर्ण रहता हूँ। हे इन्द्र, इन सब बातों से मैं परिच्छिन्न किसी एक स्थान में रहनेवाले ऐसे तुच्छ स्वर्ग के प्रति जाने की सम्भावना ही नहीं कर सकता। अतः लाचारी है कि मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सकूँगा। जो विषय असम्भव है, उसके लिए आपको आज्ञा देना ही अनुचित है, अतः आज्ञापालन न करना मेरा अपराध नहीं हो सकता, यह तात्पर्य है। इन्द्र ने कहा : हे साधो, जिन लोगों ने जानने योग्य तत्त्व जान लिया है और जिनकी बुद्धि परिपूर्ण हो गई है, वे भोग भोगें चाहे न भोगें, दोनों ही बराबर हैं। ऐसा होने पर भी विषयोपभोग सज्जनों ने अपने प्रारब्ध का क्षय करने के लिए किया ही है और मैं भी उसे अच्छा ही मानता हूँ। यद्यपि इस तरह दूसरी बार इन्द्र ने राजा से कहा तथापि स्वर्ग जाने की इच्छा न रहने के कारण राजा शिखिध्वज प्रत्युत्तर न देकर जब चुपचाप मौन ही रहे, तब पुनः सखेद देवराज ने कहा : राजन् यदि आप स्वर्ग के लिए निरपेक्ष ही हैं, तो मैं ही यहाँ से क्यों न चला जाऊँ। क्योंकि मेरे आने में जो प्रयोजन रहा, उसकी सिद्धि तो आपसे हो नहीं रही है। उसके बाद जब कि राजा अपनी अर्ध स्वीकृति दे कर कह रहे थे कि मैं आज तो स्वर्ग नहीं आऊँगा, परन्तु फिर राज्यगद्दी पर बैठकर पहले की तरह आपके शत्रुओं को मारने के लिए स्वर्ग में आ जाऊँगा। तब 'हे राजन्, आपको राज्यप्राप्तिरूप कल्याण शीघ्र हो' यों आशीर्वाद

देते हुए देवराज इन्द्र अन्तर्हित हो गये। देवराज इन्द्र के अदृश्य हो जाने पर उनके साथ का दूसरा देवसमूह भी ऐसे अदृश्य हो गया, जैसे समुद्र में वायु के अदृश्य हो जाने पर व्याकुल हुए मगर, फेन, सर्प आदि से युक्त तरंगसमूह अदृश्य हो जाता है॥२७-३२॥

एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ आठवाँ सर्ग

क्रोध की परीक्षा करने के लिए माया से चूडाला का राजा को
उपपतिसमागम दिखलाना तथा अन्त में अपना असली रूप दिखलाना - यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इन्द्र के आने की माया का उपसंहार कर चूडाला विचारने लगी - सौभाग्य का विषय है कि यह भूमिपति विषयभोगों की लालसाओं से आकृष्ट तो नहीं हुआ। इन्द्र के आने पर भी यह इस प्रकार शान्त रहा और उसके मुख आदि अवयवों की स्थिति भी आकाश के सदृश विशुद्ध रही। इसने इन्द्र का अर्घ्य, पाद्य आदि से पूजन भी किसी तरह के क्षोभ के बिना शिष्टों के-जैसा उचितरूप से किया। अब मैं दूसरी बार भी इसकी राग-द्वेष से भरे, बुद्धि में क्षोभ पैदा करानेवाले किसी मायाप्रपंच को रचकर आदरपूर्वक परीक्षा करती हूँ (देखें, उत्तीर्ण होता हैं कि नहीं) उस प्रकार विचार कर वह रात्रि में चन्द्रमा का उदय हो जाने पर कमनीय सती मदनिका के रूप में परिवर्तित हो गई। उस समय जब कि अरण्य में खिले फूलों से युक्त वृक्ष और लताओं की समृद्धि से परिपूर्ण, मधुर सुगन्ध से भरपूर मलयपर्वत की वायु बह रही थी, राजा शिखिध्वज भी सन्ध्याकाल के जपकर्म में तत्पर होकर भागीरथी के तट पर स्थित थे, तब सघन फूलों के गुच्छों से युक्त, वनदेवियों के अन्तःपुररूपी देवतरुओं के छोटे-छोटे लताकुंज में उसने काममद से युक्त होकर प्रवेश किया। वहाँ मालाओं से अलंकृत होकर वह मदनिका संकल्प से रचित पुष्पशय्या पर माया से बनाये गये अपने अनुरूप युवा जार पुरुष को - जिसको कि दाढ़ी-मूँछ निकली नहीं थी अतएव जो दाढ़ी-मूँछवाले शिखिध्वज की अपेक्षा अधिक सुन्दर लगता था, जिसे लताकुंज में प्रवेश के पहले से ही उसने अपने गले लगाया था- लेकर लेट गई। जपकर्म के अनन्तर सन्ध्या के स्थान कुंज से उठकर राजा ने मदनिका का अन्वेषण आरम्भ किया। अन्वेषण करने पर उसने लताकुंज में मदनिका को और उसके गले में लगे सुन्दर जार पुरुष को देखा। उस जार युवा के कन्धे मदनिका के केशों से और उसके अपने दीर्घ केशों से वेष्टित हो गये थे। उसका सारा शरीर चन्दनों से अवलिप्त था। उसके माथे पर के केश-भूषण शय्यापर बार-बार इधर-उधर के परिवर्तन एवं परस्पर के मर्दनों से अस्त-व्यस्त हो गये थे। सुवर्ण सदृश कान्तिवाले, मोड़ने के कारण आकार में द्विगुण हुए मदनिका के भुजरूपी तकिये पर वह जार अपना कान, आँख का आखिरी भाग, कपोलतल और केश रखकर लेट रहा था। शिखिध्वज ने तदनन्तर यह भी देखा कि स्त्री-पुरुष दोनों के मुख परस्पर के हास से पूर्ण है। एक दूसरे का मुख एक दूसरे के मुख से लगा हुआ है। इन्होंने कल्पलता के वस्त्र पहिने हैं। उन्होंने चंचल माल्ययुक्त पुष्पशय्यापर शयन किया है, ये काम से आतुर और पूर्ण व्याकुल हैं, अपने अंगों के आलिंगन के बहाने एक दूसरे को अपना प्रेम समर्पण कर रहे हैं॥१-१२॥ ये एक दूसरे के सामने ही मुख किये हुए हैं, बड़े आनन्द में मस्त हैं, प्रबल काममद के

कारण इनको बाह्यवस्तु की ओर कुछ भी ध्यान नहीं है, फूलों से एक दूसरे का ताडन कर रहे हैं और छातियों से ही स्तनों का मर्दन कर रहे हैं। यह सब देखकर राजा क्रोधरूपी विकार से रहित अन्तःकरण से अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और उसने यह कहा : बहुत ही आनन्द का विषय है कि ये दोनों व्यभिचारी कैसे आनन्दपूर्वक अवस्थित हैं। अकस्मात् आये हुए अपने को देखकर डरे हुए उन दोनों के प्रति राजा ने कहा : हे प्रिये, तुम दोनों अपनी इच्छा के अनुसार सुख से जैसे स्थित हो, उसी तरह स्थित रहो, मैं तुम लोगों के कार्य में विघ्न क्यों डालूँ। यों कहकर वे राजा वहाँ से हट गये। तदनन्तर एक मुहूर्तमात्र में उस मायाजाल का उपसंहार कर प्रिय उपपति के साथ संभोग करने के कारण विकसित शरीर को दिखलाती हुई वह चूड़ाला लताकुंज से बाहर निकल आई। इस राजा को उसने सुवर्ण की शिला पर बैठे हुए देखा। वे एकान्त में समाधि लगाकर बैठे थे, उनके नेत्र कुछ-कुछ विकसित (खुले हुए) थे। जहाँ राजा बैठे हुए थे, उस प्रदेश में जाकर लज्जा से विनम्रमुख होकर अंगना मदनिका क्षणभर चुपचाप खड़ी हो गई। उस समय उसके मन में अपने पापकर्म के लिए भारी खेद था और उसका मुख फीका पड़ गया था। एक क्षण के बाद ध्यान से उठकर राजा शिखिध्वज उस मदनिका के प्रति क्षोभरहित अन्तःकरण से अन्यन्त मधुर यह वाक्य बोले : हे तन्वि, क्या शीघ्र ही किसीने तुम्हारे आनन्द में बाधा पहुँचाई, अच्छा कहो, तुमने आनन्द का उपभोग तो किया न। समस्त प्राणी केवल एकमात्र आनन्द के लिए ही जिस-किसी वस्तु के ग्रहण में प्रयत्न करते हैं। हे विलासिनि, जाओ, फिर उस अपने कान्त को प्रेमभरी चेष्टाओं से सन्तुष्ट करो, क्योंकि तीनों जगत् में परस्पर स्वाभाविक स्नेह बड़ा दुर्लभ होता है ॥१३-२१॥

हे मानिनि, तुम्हारे इस कार्य से मैं किसी तरह के उद्वेग का अनुभव नहीं करता, क्योंकि संसार की वस्तुस्थिति जो जानते हैं, उन्होंने जानना चाहिए – इस संसार में जो जो वस्तु इष्टतम (अति प्यारी) है, वह सब वस्तु तुम्हारे सदृश ही है यानी दूसरे के उपभोग के योग्य है। इसलिए तुम्हारे कार्य से मेरी कुम्भ में श्रद्धा नष्ट नहीं हो सकती। हे कोमलांगि, मैं और कुम्भ दोनों तो यहाँ किसी तरह के राग से छूये ही नहीं गये। तुम तो उन दोनों से भिन्न कोई तीसरी दुर्वासा मुनि के शाप से पैदा हुई बाला हो। अतः तुम जो चाहो, वह बे-रोक-टोक कर सकती हो। मदनिका ने कहा : हे महाभाग, आप जो कह रहे हैं, वह सब ठीक ही कह रहे हैं, क्योंकि यह स्त्री का स्वभाव ही महान् चंचल है। स्त्रियों में आठगुना काम रहता है, अतः महाराज, आप मेरे ऊपर क्रोध न करें। महाराज, मैं तो अबला हूँ, आप जब सन्ध्या-जप में बैठे हुए थे, तब इस गहन कानन में रात्रि में इस कामी पुरुष ने मुझसे प्रार्थना की। मैं बेचारी दीन अबला क्या कर सकती हूँ। राजन्, जिसका विवाह हो गया है, वह पति-पराधीन होने के कारण स्वातन्त्र्यबल से हीन ही है – इस तरह की अबला और अविवाहित तारूण्ययुक्त कुमारी-दोनों भी एकान्त में कामी जनको पाकर रति का निरोध नहीं कर सकतीं, यह स्त्रियों का स्वभाव है। यदि दैववश रति में बाधा पहुँची, तो कामी पुरुष अपने शरीर में मन आदि की स्थिरता नहीं कर सकता यानी चंचलतर हुए मन आदि से युक्त वह सन्तप्त होने लगता है। ऐसी स्त्रियाँ परपुरुष का समागम नहीं कर सकतीं, जिनके पास पुरुषों को वश में करनेवाला सौन्दर्य नहीं है और जिनके पास वैसा सौन्दर्य है, वे यदि एकान्त में परपुरुष के सामने हो जाय, तो उनका समागम न होने में कोई कारण ही मालूम नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में स्वामी का क्रोध; शास्त्रीय निषेध, जनापवाद, सतीत्व आदि क्या कर सकेंगे यानी प्रबलतर

रतिराग से बाधित हुए वे क्रोध आदि एकान्त में जार के साथ नाता जोड़ने में बाधक नहीं हो सकते। हे स्वामिन्, मैं अबला स्त्री हूँ, बाला हूँ, मूर्ख हूँ, मैंने भयंकर अपराध किया है; आप क्षमा प्रदान कीजिए, क्योंकि साधु पुरुष क्षमाशील ही हुआ करते हैं ॥२२-२८॥

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे बाले, मेरे अन्तःकरण में तो तुम्हारे कृत्य से, आकाश में वृक्ष की नाईं, तनिक भी क्रोध नहीं है। केवल शिष्टजनों की निन्दा के भय से मैं तुम्हें अपनी वधू के रूप में अब नहीं चाहता। हे अंगने, अब हम दोनों केवल मित्रता से इन वनप्रान्तों में पहले की नाईं रागनिर्मुक्त होकर निरन्तर साथ-साथ ही सुखपूर्वक खेल-कूद किया करेंगे। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, वहाँ पर उस तरह अविकृत रूप से अब राजा शिखिध्वज स्थित थे, तब परीक्षित उसके राग-द्वेष की वासनाओं से निर्मुक्त अन्तःकरण से अत्यन्त प्रसन्न हुई वह चूडाला अपने मन में विचार करने लगी। हो ! निश्चय ही ये मेरे भगवान् शिखिध्वज सर्वोच्च समभाव को प्राप्त हो गये हैं। राग से निर्मुक्त हो जाने के कारण इन में क्रोध का तो नामो-निशान नहीं रहा, ये सचमुच जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं। इन्द्र के द्वाश्चय हरा जो उत्तमोत्तम भोग और बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ दी जा रही थीं, उन भोगों ने और सिद्धियों ने इनको अपनी ओर तनिक भी नहीं खींचा। इन को न सुख, न दुःख, न आपत्तियाँ और न सम्पत्तियाँ ही अपनी ओर खींच सकती हैं। मैं जिन्हें जीवन्मुक्तों का लक्षण मानती हूँ वे सब शान्ति, क्षमा, धीरज, तृप्ति आदि प्रशंसित और कमनीय बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ इस समय अकेले इन्हीं का आश्रय कर रही हैं। अब मैं इन्हें दूसरे नारायण के रूप में मान रही हूँ। बड़े-बड़े विशिष्ट गुणों की स्थिति हो जाने के कारण इन्हें मेरे वृत्तान्त का यदि स्मरण दिलाया जाय, तो बहुत अच्छा हो। चूँकि ये पूर्णरूप से योग्य हो चुके हैं, इसलिए मैं अपना समस्त वृत्तान्त इन्हें स्मरण कराती हूँ। अब मैं इस कुम्भरूप का परित्याग कर चूडाला बन जाती हूँ। ऐसा विचारकर अटल निश्चयवाली चूडाला ने मदनिका के शरीर का त्याग कर राजा को वहाँ पर तत्क्षण ही चूडाला शरीर बतलाया। उस समय ऐसा मालूम पड़ने लगा, मानों मदनिका के शरीर से चूडाला निकली हो और राजा के सामने योगधारणा से युक्त वह ऐसी शोभने लगी जैसे किसी पिटारी में से निकली हुई कोई रत्नश्री किसी के सामने शोभती हो। राजा शिखिध्वज ने निर्मल अंगों से सुशोभित, फिर स्वामी के चित्त को अनुरक्त करने में चतुर, कमनीय मदनिका को ही, अपनी पूर्व-प्रियभार्या चूड़ाला के रूप में देखा। वसन्तकाल में खिली हुई सुन्दर पद्मिनी की नाईं (अथवा आविभूर्त विष्णु की पद्महस्ता लक्ष्मी की नाईं), जब रामावतार की समाप्ति हो जाने पर श्रीरामचन्द्र विष्णुरूप बन गये थे तब पहले सीता के रूप में भूमि के गर्भ में प्रविष्ट हुई और फिर उससे निकली हुई लक्ष्मी की नाईं तथा पिटारी से प्रकट हुई रत्नशोभा की नाईं उस राजा ने अपनी भार्या चूडाला को देखा ॥२९-३९॥

एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ नौवाँ सर्ग

बार बार देखकर और ध्यान से सब कुछ जानकर अत्यन्त आश्चर्यचकित और सन्तुष्ट हुए राजा का प्रशंसापूर्वक चूडाला को आलिंगन करना और रात्रि बिताना।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामजी, तदनन्तर अपनी पहले की भार्या देखकर आश्चर्य के

मारे राजा शिखिध्वज के नेत्र विकसित हो गये और वह विस्मययुक्त वाणी से यह कहने लगे : कमल के पत्तों के समान विशाल नेत्रवाली हे सुन्दरि, तुम कौन हो, कहाँ से आई हो, क्या तुम ही कुम्भ आदि का रूप धारण कर यहाँ रहती हो, कितने समय तक यहाँ रहोगी और मेरे पास आने का क्या प्रयोजन है ? हे सुन्दरि, अवयवों के गठन से, उनकी चेष्टाओं से, स्मित से, प्रेमभरी वाणी बोलने की शैली से और मेरी भार्या के जैसे तुम्हारे विलास से तुम चूडाला की मूर्ति के ही सदृश दिखाई दे रही हो। चूडाला ने कहा : प्रभो, हाँ ऐसा ही जानिए, मैं बिना किसी संशय से चूडाला ही हूँ। स्वाभाविक शरीर से ही मैंने आज आपकी प्राप्ति की है। महाराज, इस अरण्य में कुम्भ आदि के शरीरों के निर्माण द्वारा मेरा जो माया प्रपंच सैकड़ों शाखा–प्रशाखाओं के रूप में आपके सामने आया, वह केवल आपको बोध देने के लिए ही मैंने रचा था। मोहवश राज्य छोड़कर जबसे तप के लिए वन में आप आये, तभी से मैं आपको ज्ञान देने के लिए प्रयत्नशील रही। राजन्, इस कुम्भ के शरीर से मैंने ही आपको बोधित किया है। मैंने माया से जिन कुम्भ आदि शरीरों का निर्माण किया था, वह केवल आपको ज्ञान देने के लिए ही था। वास्तव में कुम्भ आदि कुछ भी सत्य नहीं थे। हे महाराज, अब तो आप ज्ञेय वस्तु को जान चुके हैं, इसलिए आप पूर्वोक्त योग–धारणा से अविकल सब देख लेंगे। हे तत्त्वज्ञ, आप शीघ्र ही ध्यान लगाकर देखिए। जब चूडाला ने वैसा राजा से कहा तब योगधारणा के अनुकूल आसन बाँधकर ध्यान से अपना विशेष सब हाल अच्छी तरह से जान लिया। राज्यपरित्याग से लेकर चूडाला के साक्षात्कार तक जितनी अपने लिए घटनाएँ घटीं थीं, उन सबका राजा ने मुहूर्तमात्र के ध्यान से प्रत्यक्षतः ज्ञान कर लिया ॥१–१०॥

राज्यत्याग से लेकर वर्तमान क्षणपर्यन्त हुई यावत् घटनाओं का साक्षात्कार कर लेने के बाद राजा समाधि से विरत हो गये। जब समाधि टूट गई, तब हर्ष के मारे विकसित हुए नेत्रकमलवाले राजाने वेगपूर्वक रोमांचों के कारण उज्ज्वलता प्राप्त किये हाथों को फैलाकर अपनी कान्ता चूडाला को दीर्घ काल के बाद ऐसे आलिंगन किया, जैसे नेवला–नेवली का आलिंगन करे। उस समय उसके अंग विदीर्ण हो रहे थे, घन–स्नेह टपक रहा था, आँसुओं की धारा बह रही थी और अनुराग स्फुरित हो रहा था। हर्ष से पूर्ण उनके उस आलिंगन में जो अनिर्वचनीय परमानन्दरूप श्रृंगार का भाव व्यक्त हो रहा था, उसका शेषनाग भी अपनी जिह्वाओं से वर्णन नहीं कर सकते। जैसे अमावास्या के दिन सूर्य और चन्द्रमा एक दूसरे के शरीर में मिले हुए रहते हैं वैसे; गीली मिट्टी से बनाये गये मिले जोड़े के – जैसे, पाषाणशिला पर बनाई गई परस्पर आलिंगन की हुई दो श्लिष्ट मूर्त्तियों के–जैसे परस्पर आलिंगन किये हुए वे दोनों प्रीतिपूर्ण पति–पत्नी बहुत देर तक मिलित ही रहे। एक मुहूर्त के बाद जिन में से स्वेदजल टपक रहा था, जो रोमांचों से स्थूल हो गये थे, ऐसे अपने दोनों हाथों को उस स्निग्ध दम्पत्ति ने (पति–पत्नीने) धीरे धीरे कुछ शिथिल किया। उनके हृदय आनन्दामृत से पूर्ण थे, आनन्द के आधिक्य से उनका मन ऐसा जड़ बना था कि उसका परिज्ञान करने में कोई हेतु दूसरा प्रतीत नहीं हो रहा था अतएव वे एक तरह से ठीक शून्यहृदय हो गये थे। अपना–अपना हाथ छुड़ाकर और किसी खास लक्ष्य स्थान में नयनों को न लाकर यों ही वे कुछ कालतक स्थित रहे। घने आनन्द से विभोर क्षणभर मौन रहकर राजा शिखिध्वज चिबुकपर हाथ लगा कर चूडाला से प्रेममृदु वाणी कहने लगे : अहा ! अत्यन्त मधुर और स्नेहप्रचुर, कुलीन स्त्रियों का अनुराग कितना व्यापक रहता है, इसका वर्णन किसी तरह नहीं हो सकता, वह बड़ा

सुन्दर और अमृत से भी स्वादिष्ट रहता है, साक्षात् पुण्य ही अनुराग के रूप में अनुभूत होता है ॥ हे भद्रे, तुम्हारे सूक्ष्म अंग हैं, तुम बाल चन्द्रमा के सदृश अत्यन्त मुग्ध हो, अपने स्वामी के हेतु तुमने दीर्घकालतक कितना बड़ा दारुण क्लेश सहा। प्रिये, इस तरह तुम्हारी जिस बुद्धि के द्वारा (स्वामी के प्रति स्नेहबुद्धि के द्वारा) दुस्तर उस संसाररूपी अन्धकार से मैं पार करा दिया गया, उसकी उपमा किससे दी जा सकती है अर्थात् किसीसे भी नहीं ॥११-२१॥ हे कृशांगि, अरुन्धती, इन्द्राणी, गौरी, गायत्री, लक्ष्मी, सरस्वती आदि बड़ी–बड़ी पुण्यस्त्रियाँ कोमल अंगवाली तुम्हारी गुणसम्पत्ति से सब नीचे ही हैं। हे सुन्दरि, स्त्रियों में अपने अलौकिक सौन्दर्य के कारण प्रसिद्ध हुई जो धी, श्री, कान्ति, क्षमा, मैत्री, करुणा आदि सर्वोत्तम दक्ष कन्याएँ हैं, उनमें भी तुम, सती की नाईं, सर्वप्रथम ही मालूम हो रही हो। बड़ा भारी सतत प्रयत्न करके जो तुमने अलौकिक बोध देकर मेरा उपकार किया है, उसके लिए किस प्रत्युपकार से तुम्हारा मन सन्तुष्ट होगा। तुम कृतार्थ हो चुकी हो, तुम्हारा मन जिस प्रत्युपकार से सन्तुष्ट हो सकता है, वैसा प्रत्युपकार ही संसार में दुर्लभ है। अनादिकाल से चले आ रहे अनन्त गहन से भी गहन मोह से संसार–सागर में गिरे हुए स्वामी को प्रयत्नशील कुलस्त्रियाँ ही पार करा देती हैं। स्वामी के लिए कुलीन स्त्रियाँ ही सखा, बन्धु, सुहृद्, चाकर, गुरु, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, घर, दास आदि सब कुछ हैं। सब तरह के प्रयत्नों से कुलीन स्त्रियों का निरन्तर पूजन करना चाहिए, क्योंकि इहलोक और परलोक–दोनों का सम्पूर्ण सुख स्त्रियों में ही भलीभाँति निहित है ॥२२-२८॥

निरीह और कृतकृत्य तुम्हारा प्रत्युपकार करने में मैं असमर्थ हूँ, यों राजा कहते हैं।

सब प्रकार की इच्छाओं से रहित और संसाररूपी महान् दुस्तर सागर से पार हो चुकी तुम्हारे लिए इस महान् उपकार का प्रत्युपकार किस तरह मैं कर सकूँगा ? हे प्रिये, तुम्हें मैं कुलांगना मानता हूँ, इस लोक में लोकप्रसिद्ध जितनी कुलांगनाएँ हैं, उनके ऊपर इस समय तुमने विजय पा ली। अबसे स्त्रियों के सौजन्य की जब प्रशंसा होगी, तब तुम्हारी ही सर्वप्रथम गणना होगी। हे मानिनि, अपनी अपेक्षा उत्तम गुणों में बढ़ जानेवाली तुम्हारी रचना करनेवाले ब्रह्माजी के ऊपर निश्चय ही अरुन्धती आदि स्त्रियाँ क्रुद्ध होती होंगी, यह मैं मानता हूँ। रूप, सौजन्य और उत्तमोत्तम गुणरूपी रत्नों की निधिभूत हे चूडाले, तुम सती (पतिव्रता) हो, आओ, तुम्हारे गुणों से उत्साहित हुए मेरा तुम फिर आलिंगन करो। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामभद्र, उस प्रकार कहकर राजा शिखिध्वज ने – मृग के बच्चे के सदृश विशाल नेत्रवाली उस चूडाला का – फिर गाढ़ ऐसे आलिंगन किया, जैसे नेवले को नेवली। चूडाला ने कहा : हे देव, शुष्क क्रियाओं के चक्कर में निरत और व्याकुलमति आपको बार–बार देखकर मैं अत्यन्त दुःखित होती थी। इसलिए हे देव, आपको तत्त्वज्ञान देकर मैंने वह अपना स्वार्थ ही सिद्ध किया है। इस विषय में आप मेरा गौरव व्यर्थ ही बढ़ा रहे हैं। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे वरारोहे, तुम जिस तरह से शुभ स्वार्थ सिद्ध कर रही हो, उसी तरह से अब सभी कुलीन स्त्रियाँ स्वार्थ सिद्ध करें, यह मैं चाहता हूँ। चूडाला ने कहा : हे कान्त, हे विभो, अब आप इस जगत्–रूपी जाल के एकदम किनारेपर आकर विश्रान्त हो गये हैं। आज अपना वह पयोव्रत, उपवास आदि पहले का तुच्छ मोह क्या आप देख रहे हैं ? यह करूँ, यह न करूँ, यह प्राप्त करूँ – इस तरही बुद्धि की अपक्वदशाजनित कोमलतारूप जो स्थिति थी , उसके प्रति क्या आप अपने मन में अब हँसते हैं कि नहीं। हे देव, जैसे आकाश में पर्वत

नहीं दिखाई देते, वैसे अब आप में वे पहले की तुच्छ तृष्णाओं के संग्रह और तुच्छ संकल्परूपी कल्पनाएँ नहीं दिखाई देतीं। प्रिय आज आप किसके स्वरूप बन गये हैं, किस वस्तु में आपकी निष्ठा है, आप क्या चाहते हैं। हे विभो, आप पहले की शारीरिक चेष्टाओं को सत्य देखते हैं या असत्य (तुच्छ) देखते हैं ? राजा शिखिध्वज ने कहा : सुमनों से (फूलों से) पूर्ण नीलकमलमाला का अनुसरण करनेवाले नेत्रों से सुशोभित हे चूडाले, मेरे आत्मस्वरूपभूत हुई तुम जिस-जिसके अन्दर (मोह, विवेक, तत्त्वज्ञान आदि के अन्दर) प्रकाशकरूप से विद्यमान हो; उस-उसके अन्दर मैं भी प्रकाशकरूप से विद्यमान हूँ, इसलिए अब तुम जिस तरह देखती हो, वैसे ही मैं भी देखता हूँ, अपने अनुभव से ही तुम्हें मेरी निष्ठा जान लेनी चाहिए ॥२९-४१॥

उसीका विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं।

मुझे किसी विषय की इच्छा नहीं है, मेरा कोई अंश नहीं है, मैं आकाश के सदृश अत्यन्त निर्मल हूँ, निस्पृह हूँ, शान्त हूँ, परमार्थ सत्स्वरूप हूँ, देह आदि में अहंभाव का भ्रम छोड़कर, बहुत काल बीत जाने के पीछे, वास्तव में, मैं जिस रूप का था, उस रूप का ही बनकर अब स्थित हूँ। आत्मा में निरन्तर आसक्त हुए चित्तपर ही मैं अवलम्बित रहता हूँ, इसलिए मैंने वह अलौकिक आनन्ददशा प्राप्त कर ली है, जिससे कि हजारों प्रयत्नों से हरि, हर आदि महामहिमशाली देवता भी मुझे अलग नहीं कर सकते। हे भ्रमरलोचने, समस्त परिच्छेदों से निर्मुक्त यानी परिपूर्ण विशुद्ध चिन्मात्र आत्मा में मैं स्थित हो गया हूँ, मैं अब अपने वास्तवरूप में स्थित होकर बैठा हूँ और संसाररूपी भ्रम से एकदम अलग हो गया हूँ। हे सुन्दरि, न तो मैं तुष्ट हुँ, न खिन्न हूँ, न कार्य हूँ, न कारण हूँ, न स्थूल हूँ और न सूक्ष्म हूँ, किन्तु मैं केवल अबाधित (जिसका किसी काल में बाध नहीं होता) वस्तु ही हूँ। हे चूडाले, सूर्यबिम्ब से निकले हुए तथा भीत पर न गिरे हुए यानी केवल आकाश में फैले हुए, क्षय और अतिशय से रहित विशुद्ध प्रकाश के समान अब मैं बन गया हूँ। हे पतिव्रते, मैं शान्त हूँ, जगत् का वैषम्य निकालकर साम्य प्राप्त किये हूँ, स्वरूपनिष्ठ हूँ, बिना मन का हूँ, व्यापक मोक्ष भी मैं हूँ और सम हूँ। तरंग के सदृश चंचल कटाक्षवाली हे प्रिये, जो 'तत्' वस्तु है, वही मैं हूँ, अब दूसरा कुछ नहीं कह सकता हूँ, तुम मेरी गुरु हो, तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ। विशाल नेत्रवाली तुम्हारे प्रसाद से ही मैं भवसागर से पार उतर गया। अब मैं, अग्नि में सौ बार शुद्ध किये गये सोने के सदृश फिर मल ग्रहण नहीं कर सकता। शान्त, स्वस्थ, कोमल, स्वरूपस्थिति में अत्यन्त उद्योगी, वीतराग, वासनाशून्य अन्तःकरण से युक्त, सबसे परे और सर्वव्यापक होकर, आकाश की नाईं, यह मैं तुम्हारे सामने अवस्थित हूँ।४२-५०॥

चूडाला ने कहा : हे महासत्त्व, हे प्राणेश, हे हृदयप्रिय, हे प्रभो, हे महामते, जब कि आप उस प्रकार की स्थिति में स्थित हैं। तब अब आपको क्या रूचता है, कहिए। शिखिध्वज ने कहा : हे तन्वि, यह अच्छा नहीं लगता, इस प्रकार जिस वस्तु का निरादर किया जाता है, उस वस्तु को मैं नहीं जानता और यह अभीष्ट है, इस प्रकार जिस वस्तु की चाहना की जाती है उसे भी मैं नहीं जानता। तुम जिस तरह से जो आचरण करती ही, व्युत्थानकाल में उसे मैं उसी तरह का जानता हूँ। हे प्रिये, जो जो वस्तु जिस तरह से तुम्हें अभिमत है, वह सब उसी तरह की अविकलरूप से रहे। मैं तो आकाश के सदृश निर्लेप, उदासीनता और पूर्णतारूप सौन्दर्य से युक्त हो गया हूँ, इसलिए किसी भी वस्तु का अनुसन्धान करना

नहीं जानता। हे सुन्दरि, जो ही कुछ तुम कर्तव्यरूप से जानती हो, उसीको तुम करो। मैं भी मणि जिस तरह अपने भीतर प्रतिबिम्ब धारण करता है उसी तरह उसे अपने हृदय में धारण करूँगा। इच्छा, अनिच्छा और उनके विषयों से निर्मुक्त चित्त के कारण मैं प्रारब्धप्राप्त अनिन्दित या निन्दित वस्तु की न स्तुति करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ, इसलिए तुम जैसा चाहो वैसा करो। चूडाला ने कहा : हे महाबाहो, यदि ऐसी बात है, तो पहले आप मेरा मत सुनिये और हे जीवन्मुक्तस्वरूप, सुनने के अनन्तर उसीका आप आचरण कीजिये। महाराज, अज्ञान का विनाश करनेवाले सर्वत्र अद्वैतबोध से सम्पन्न हम लोग सभी तरह की इच्छाओं से निर्मुक्त और आकाश के सदृश विशद होकर अवस्थित हो गये हैं। हे राजन्, हम लोगों के लिए जैसी अनुपकारक राज्यभोगादि की अपेक्षा है वैसी ही अनुपकारक उनकी उपेक्षा भी है, क्योंकि चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय और मुख्य प्राण अपने-अपने उचित विषयों की यदि अनिच्छा करें, तो उससे आत्मा में कौन-सा उपकार होगा ? ज्ञानियों को अज्ञानियों की तरह देहादि-अध्यास तो है नहीं, जिससे कि विषयोपभोग से देहादि के मलिन हो जानेपर आत्मा भी मलिन हो जाय। जो तत्त्ववित् है वह तो निष्क्रिय असंग चिन्मात्रस्वरूप ही है, इसलिए ऐसा कौन तत्त्वज्ञानी होगा, जो विषयोपभोगों का अभ्यास करेगा। इसलिए हे पुरुषोत्तम, प्रारब्ध के केवल उपभोग से आत्मा में मलिनता की प्राप्ति न होने के कारण प्रारब्धभोग के आरम्भ में, अन्त में और मध्य में हम लोग जिस स्वभाव के हैं, उसी स्वभाव के होकर केवल अवशिष्ट प्रारब्ध का भोग से विनाशकर स्थित रहें, इससे न तो हम विपरीत हो जायेंगे और न दूसरे ही बन जायेंगे। हे प्रभो, वर्तमान समय में यह जो अपना अवशिष्ट आयुकाल है, उसको राज्यभोग से बिताकर क्रमशः कुछ समय के बाद हम लोग विदेहमुक्त हो जायेंगे ॥५१-६०॥

'तस्मादाद्यन्तमध्येषु' इस उक्ति के अर्थान्तर की भी संभावना कर रहे राजा शिखिध्वज जिज्ञासु होकर पूछते हैं।

राजा शिखिध्वज ने कहा : हे चंचले, प्रारब्धभोग के आदि, मध्य और अन्त में हम लोग किस तरह के हैं और अवशिष्ट प्रारब्ध का भोग द्वारा विनाश कर किस तरह से स्थित रहेंगे, यह कहो ॥६१॥

राजा के अभिप्राय के अनुसार ही चूडाला भी उस उक्ति का अर्थ कहती है।

चूडाला ने कहा : हे राजश्रेष्ठ, हम लोग आदि, अन्त और मध्य में राजा ही हैं, इसलिए केवल मोह छोड़कर फिर उस राजरूप में ही हो जायेंगे। अपने ही नगर में सिंहासन पर आरूढ़ आप राजा बन जाइये और अन्तःपुर की सब स्त्रियों की भूषणरूप मैं आपकी पटरानी बन जाऊँ और हे राजन्, अपनी जो नगरी है वह दीर्घकाल के बाद अनेक राजाओं से युक्त, प्रसन्न प्रजावर्ग से पूर्ण, नाच रही नई-नई अंगनाओं से शोभित, ध्वजाओं एवं बज रहे नगाड़ों से व्याप्त और नानाविध फुलवाड़ियों से सुहावनी होकर अब फिर लहलहा रही लता, मंजरी, एवं गुंजार कर रही मकरन्दासक्त भ्रमरपंक्तियों से युक्त वसन्त की लतालक्ष्मी के सदृश हो जाय। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चूडाला ने उस प्रकार जब राजा शिखिध्वज से कहा, तब वे हँसकर निःशंक हो चूड़ाला से क्षोभरहित और मधुरवाक्य कहने लगे। हे विशालाक्षि, हे प्रिये, यदि यही बात है, तो स्वर्ग में हम लोगों को जो स्वाधीन सिद्ध भोगलक्ष्मियाँ मिल रहीं हैं, उन्हींमें निवास क्यों न करें ? चूडाला ने कहा : हे राजन्, हमको तो न भोगों

की इच्छा है और न विभूतियों की ही इच्छा है। मेरी स्थिति तो स्वभाव के वश से जो भी कुछ प्राप्त हो जाता है, उसीके अनुसार रहती है। मेरे सुख के लिए न तो स्वर्ग है, न राज्य है और न क्रियाकलाप ही है। केवल अपने स्वरूप में स्थिति के अनुकूल व्यापारों से युक्त होकर मैं स्थिति के अनुसार किसी तरह के क्षोभ के बिना स्थित रहती हूँ। यह सुख है और यह दुःख है, इस तरह के द्वन्द्वों का जब विनाश ही हो गया है, तब उसीके साथ-साथ इस शान्त पद में सुखपूर्वक स्थित ही हूँ। राजा शिखिध्वज ने कहा : हे विशालाक्षि, निर्विकार बुद्धि से तुमने जो यह कहा है वह ठीक ही है, क्योंकि राज्य का ग्रहण करें या त्याग करें आत्मा का कौन-सा उपकार होगा। हे भद्रे, सुख-दुःख की अवस्थाओं के विषय में चिन्ता का परित्याग कर मात्सर्य से रहित होकर हम लोग जिस तरह से स्थित हैं उसी तरह से अपने स्वरूप में निष्ठ होकर स्थित रहें। इस प्रकार वहाँ पर परस्पर वार्तालाप के कथन से रमणीय उन दोनों पति-पत्नी का दिन समाप्तप्राय हो गया। तदनन्तर उठकर दोषनिर्मुक्त उन दोनों शास्त्रविहित सायंसन्ध्या की। वे परस्पर अभीष्ट भोग के लिए उत्कण्ठित होते हुए भी वासना न रहने के कारण उत्कण्ठा से रहित थे और तत्-तत् समय में प्राप्त कार्य के ज्ञाता थे। स्वर्ग की सिद्धि का अनादर कर पूर्णचित्त होकर वे दोनों एक ही शय्यापर सो गये और उन-उन प्रणय चेष्टाओं से जीवन्मुक्त उन दोनों की वह रात्रि व्यतीत हो गई। परस्पर के अनुभव से सिद्ध जो भोग और मोक्षरूप सुख था, उसकी-प्रणय-वचनों के विलासों के संमिश्रण से - प्रशंसा कर रहे उत्तम प्रेमी उस दम्पती की बुद्धि में उत्कण्ठा पैदा करानेवाली वह लम्बी रात भी मुहूर्त की नाईं व्यतीत हो गई ॥६२-७६॥

एक सौ नौवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ दसवाँ सर्ग

संकल्प की सेना और हाथी के साथ वे दोनों अपने नगर में आ गये तथा
चिरकाल तक राज्य करने के बाद वे दोनों विदेहमुक्ति को प्राप्त हो गये, यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, रात बीत जाने पर पिटारी से निकले हुए जगत् के प्रकाशक मणि के सदृश प्रसिद्ध सूर्य भगवान् का उदय हो जाने पर जब आकाश बिलकुल अन्धकार से शून्य हो गया - साफ हो गया, जब मनुष्यों के लाल-लाल नेत्रों के सदृश कमलों का वन खिलने लगा और सम्पूर्ण लोकों में फैले हुए आचारों की नाईं जब सूर्य की किरणें चारों ओर दूर तक फैल गई तब वे दोनों स्त्री-पुरुष उठ गये। उठकर सन्ध्याक्रम का सम्पादन करके वे दोनों कांचन की गुफा में जाकर कोमल, चिकने तथा मनोहर पत्तों के बनाये गये आसन पर बैठ गये ॥१-३॥ तदनन्तर उठकर राजा शिखिध्वज की कान्ता चूड़ाला ने अपने सामने स्थित सात समुद्रों के जल से पूर्ण रत्नकुम्भ को राज्याभिषेक के लिए संकल्पित किया। पूर्व की ओर मुँह करके बैठे हुए अपने स्वामी राजा शिखिध्वज को जलसे भरे हुए उस मंगल घड़े से राजपत्नी चूडाला ने अपने निष्कण्टक स्वराज्य में अभिषिक्त किया। संकल्पमात्र से उपस्थित अपने सुवर्ण के सिंहासन पर अभिषिक्त होकर बैठे हुए राजा से देवरूपिणी पतले सुन्दर अंगोंवाली उस चूडाला ने कहा : हे प्रभो, केवल मुनियों के योग्य इस शान्त तेज को छोड़कर अब आपको शासन करने के योग्य इन्द्रादि अष्टपालों का तेज धारण करना चाहिए।

चूडाला द्वारा वन में यों कहने पर ठीक है, ऐसा ही करता हूँ – इस तरह बोल रहे राजा शिखिध्वज ने महाराज के स्वरूप को धारण कर लिया ॥४–८॥ तदनन्तर पट्टाभिषेक न होने के कारण द्वारपाल के स्थान पर बड़े विनय के साथ स्थित उस मानिनी चूडाला से राजा ने कहा : हे मनोरमे, अब तुम्हें महारानी के पद पर अभिषिक्त कर पटरानी बनाता हूँ। इस तरह कहकर तालाब में स्नान कराकर तथा महारानी के पद पर अभिषिक्त करके राजा ने अपनी उस प्रिया से कहा : हे कमलपत्र–सी आँखोंवाली प्रिये, तुम योगसिद्धि के द्वारा अपने सत्यसंकल्प से उत्पन्न, नानाविध अलंकार, शस्त्रास्त्र आदि महाविभव से युक्त बड़ी भारी सेना क्षणभर में एकत्र कर सकती हो। अपने स्वामी का ऐसा वचन सुनकर सुन्दर रंगवाली उस चूडाला ने, वर्षाकाल के मेघ के सदृश, रणवीरों के सैन्य का संकल्प किया। तदनन्तर उन दोनों ने वह सेना देखी, जो हाथी–घोड़ों से व्याप्त थी, जिसने पताकाओं से आकाश को भर दिया था और जिसने सारे जंगल को अवकाश से शून्य बना दिया था। जिसके तुरही आदि के शब्दों से पर्वत की गुफाएँ तथा गहनकोटर प्रतिध्वनि कर रहे थे और मस्तक के रत्नों के महाप्रकाश से अन्धकार के समूह को जिसने चूर्णचूर्ण बना दिया था। राजाओं के बनाये गये अनेक समूहों से युक्त उस सेना में, जिसके मदगन्ध को दूसरे हाथी नहीं सह सकते, ऐसे एक सुन्दर मदगन्धवाले हाथी के ऊपर वे राजदम्पती (वे राजा और रानी) सवार हुए। तदनन्तर अपनी प्रियतमा महारानी के साथ महाबलवान् वह राजा शिखिध्वज पैदल और रथ से व्याप्त उस बड़ी भारी सेना को खींचता हुआ तथा पर्वतों को हिला देनेवाली उस सेना से, भूमि से उठी हुई महावायु–जैसी, रसाशैल को (पृथ्वीरूप पहाड़ को) भेदन करता हुआ उस वन से शीघ्र चल दिया ॥९–१७॥

उस महेन्द्र पर्वत से राजा शिखिध्वज चल पड़ा। रास्ते में पर्वतों, अनेक देशों, नदियों और जंगलों के साथ–साथ अनेक गाँवों को देख रहे तथा राज्यपरित्याग कर अपने नगर से बाहर निकलने पर तत्–तत् देशवासियों के साथ जो–जो घटनाएँ जहाँ पर अपने ऊपर घटी थीं उन्हें अपनी प्रिया को दिखला रहे राजा शिखिध्वज ने थोड़े ही समय में स्वर्ग–सी सुन्दरी अपनी नगरी में प्रवेश किया। वहाँ उसके संमानित उन सामन्तों (सरदारों) ने जय शब्द से उसके आगमन को जाना और जानते ही वे उत्कण्ठितचित्त होकर उसकी अगवानी के लिए नगर से शीघ्र बाहर निकल आये। नगाड़े आदि की उन्नत ध्वनि से युक्त तथा एक दूसरे में मिल गई उन दोनों सेनाओं के साथ वह राजा शिखिध्वज अपने नगर में प्रविष्ट हुआ ॥१८–२१॥ नगर की स्त्रियों द्वारा जिसके ऊपर लाजांजलियों और पुष्पांजलियों से वृष्टि की गई थी, ऐसे उस राजा ने व्यापारियों के मार्ग को, जो उत्तरोत्तर अत्यन्त रमणीय था, देखते हुए अपने राजमहल में – जो छोटी–छोटी पताकाओं तथा ध्वजाओं से खूब सजाया गया था, मोतियों के तोरणों से मनोहर था, जहाँ पर स्त्रियाँ नृत्य और गान कर रहीं थीं, जो अपने स्थान पर कैलास पर्वत की नाईं उन्नत था – प्रवेश कर उसने लोक–शास्त्र प्रसिद्ध दही, दूर्वा, अक्षत, शंख, वीणा, छत्र, चँवर आदि राजा के योग्य मांगलिक तत्–तत् वस्तुओं से युक्त विनीत अपने अमात्य आदि प्रकृति समूह का भलीभाँति सम्मान किया। सात दिन तक नगर में खूब उत्तम उत्सव करके अपने अन्तःपुर में राजा ने अपने राजकार्यों का सम्पादन किया। हे श्रीरामजी, इस पृथिवीतल के ऊपर दस हजार वर्षों तक चूडाला के साथ राज्य करके वह राजा शिखिध्वज इस देहधारण से विरत हो गया। हे श्रीरामचन्द्रजी,

इस शरीर का त्याग कर फिर जन्म न लेने के लिए, तेलरहित दीपक की नाईं, वह महामति राजा शिखिध्वज निर्वाण को (कैवल्य मुक्ति को) प्राप्त हो गया। उस तरह की समदृष्टि से दश हजार वर्षों तक राज्य करके तथा उस अपनी प्रिया चूडाला के साथ खूब रमण करके वह राजा निर्वाण को प्राप्त हो गया। हे श्रीरामजी, भय और विषाद से शून्य, मान और मात्सर्य से मुक्त तथा उपस्थित सहज कर्मों का सम्पादन करनेवाले, भोगों में वैराग्यबुद्धि रखकर सबमें समरूप ब्रह्मदृष्टि से युक्त होते हुए उस आर्य शिखिध्वज ने उपर्युक्त बोध के द्वारा कामस्वरूप मृत्यु को जीतकर दस हजार वर्षों तक जम्बूद्वीप में एकछत्र राज्य किया ॥२२-२९॥

श्लोक के पूर्वार्ध से शिखिध्वज की स्थिति का अनुवाद करके उत्तरार्ध से उसी स्थिति का रामचन्द्र के लिए कर्त्तव्यरूप से उपदेश करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इस तरह सम्पूर्ण राजाओं के मस्तक के चूडामणिरूप से स्थित होकर दीर्घकालतक इस भूतलपर नानाविध अनेक भोगों का उपभोग कर सन्मात्ररूप अवशिष्ट वह राजा शिखिध्वज अजर परमपद में अवस्थित हो गया। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरह आप भी प्रारब्ध-प्राप्त प्रकृत कार्यों का अनुसरण करते हुए शोक-शून्य होकर समाधि में स्थित रहिये अथवा स्वयं खूब भोग-मोक्षलक्ष्मी का अनुसरण करते हुए आप सभी व्यवहारों में स्थित रहिये। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आप की समाधि और व्युत्थान के फल में कोई भेद नहीं है ॥३०॥

एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त

चूडाला का आख्यान समाप्त

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग

जैसे चूडाला रानी ने राजा को सबका त्याग कराया, वैसे ही कचनामक अपने पुत्र को बृहस्पति ने सबका त्याग कराया और अन्त में अहंकार के त्याग से वह पूर्ण आत्मज्ञानी बन गया-यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, यह शिखिध्वज की छोटी-सी कहानी मैंने आपसे आद्योपान्त कही। इस मार्ग का अनुसरण कर रहे आप कभी भी खिन्न नहीं होंगे यानी आपकी सारी चिन्ताएँ निकल जायेगी। भद्र, राग और द्वेष का नामों-निशान मिटा देनेवाली, शिखिध्वज की वृत्ति का अवलम्बन कर राग-द्वेष से निर्मुक्त बुद्धि से प्रत्यक्ष किये गये पारमार्थिक पूर्णानन्द पद से सुशोभित होकर निरन्तर स्थित रहिए। हे रामभद्र, जिस प्रकार राजा शिखिध्वज ने उस तरह व्यवहार करते हुए राज्य किया, उसी प्रकार से आप भी राज्य में व्यवहार करते हुए भोग और मोक्ष से भरपूर रहिए। हे राघव, शिखिध्वज के प्रसिद्ध सर्वत्यागरूप उपाय से ही जैसे बृहस्पति के पुत्र कच ने ज्ञान प्राप्त किया, वैसे ही आप भी ज्ञान प्राप्त कीजिए। श्रीरामजी ने कहा : भगवन्, बृहस्पति के पुत्र समस्त वैभवों से परिपूर्ण कच ने जिस क्रम से ज्ञान प्राप्त किया उस क्रम को संक्षेपतः मुझसे कहिए ॥१-५॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, देवताओं के आचार्य बृहस्पति के पुत्र श्रीमान् कच ने राजा शिखिध्वज की नाईं ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया, इसकी कथा आप सुनिये। कच का अभी बाल्यकाल समाप्त ही हुआ था और ज्यों ही यौवन आरम्भ हुआ, त्यों ही वह संसारसागर को तर

जाने के लिए कटिबद्ध हो गया। वह पद और पदार्थ का उत्तम ज्ञाता था। वह अपने पिता बृहस्पति से कहने लगा। कच ने कहा : हे भगवन्, हे सब धर्मों का ज्ञान रखनेवाले पिताजी, तन्तु के सदृश हजारों बन्धनों को देनेवाले जीव से युक्त मेरे–जैसा जन्तु इस संसाररूपी पिंजड़े से कैसे बाहर निकल सकता है, यह आप कहिये। बृहस्पति ने कहा : हे पुत्र, अनर्थरूप हजारों मगरों के निवासस्थानभूत इस संसाररूपी सागर से किसी तरह के उद्वेग के बिना किये गये सर्वत्याग से तत्काल ही जन्तु निकल जा सकता है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, अपने पिता का परम पवित्र उस तरह का वचन सुनकर कच सभीका परित्याग करके एकान्तवन में चला गया। पुत्र के चले जाने से बृहस्पति को चित्त में कुछ भी उद्वेग नहीं हुआ, क्योंकि जो महान् होते हैं, वे संयोग और वियोग दोनों में सुमेरु पर्वत के सदृश निश्चल मनवाले होते हैं यानी उन दोनों दशाओं में महात्माओं के मन में कुछ भी उद्वेग आदि विकार नहीं होते। हे पापशून्य, वन में जाने के अनन्तर उसे जब आठ वर्ष व्यतीत हो गये, तब किसी महाअरण्य में उस कच ने अपने पिताजी को फिर प्राप्त किया जो कि उसके चित्त का परिपाकतारतम्य जानकर बचे हुए का त्याग कराने के लिए ही आये थे। कच ने पहले अपने पिताजी की विधिपूर्वक पूजा की, फिर उन्हें प्रणाम किया। बृहस्पति ने भी अपने पुत्र का आलिंगन किया। इतना होने के बाद अत्यन्त मधुरवाणी से उस कच ने बृहस्पति से पुनः पूछा। कच ने कहा : हे तात, मैंने जो सर्वत्याग किया है, उसका आज यद्यपि आठवाँ वर्ष है, तथापि निर्मल शान्ति मैं प्राप्त नहीं कर रहा हूँ। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अरण्य में उस तरह के दीन वचन कच बोल रहा ही था की 'सभी का त्याग करो' यों कहकर बृहस्पति आकाश में अदृश्य हो गये। बृहस्पति के चले जाने के अनन्तर कच ने अपने शरीर पर से वल्कल आदि का भी परित्याग कर दिया और यह चन्द्र, बादल, तारे और सूर्य से रहित शरत् काल के आकाश की (जब सूर्योदय काल समीप रहता है, तब के आकाश की) नाईं दिगम्बर हो गया ॥६–१६॥ शरत्–काल में आकाशतल की नाईं उसने वर्षाकाल में गुफा आदि का आश्रय कर मेघवर्षण आदि का परित्याग कर दिया। शरद् आदि ऋतुओं में गुफा आदि का परिहार कर अनावृत दिशाओं में रहने लगा। उसका शरीर शान्त और सुन्न हो गया था तथा वह साँसमात्र ले रहा था। तीन वर्ष के बाद किसी एक जंगल में फिर अपने गुरु उसी पिताजी को खिन्न–चित्त उसने प्राप्त किया। भक्ति से उसने अपने पिताजी का पूजन, अभिवादन आदि किया, पिता ने भी अपने पुत्र का आलिंगन किया, अनन्तर खेद के कारण गद्गद वाणी से वह कच पूछने लगा। कच ने कहा : तातचरण, मैंने सबका त्याग कर दिया। कन्था, दण्ड, कमण्डलु आदि का भी त्याग कर दिया तथापि अपने आत्मपद में मेरी स्थिति नहीं हुई, अब मैं क्या करूँ ? बृहस्पति ने कहा : पुत्र, चित्त ही सब कुछ है, अतः उसीका त्यागकर तुम अपने स्वरूप में विराजित हो जाओगे। सर्वज्ञ लोग चित्तत्याग को ही सर्वत्याग कहते हैं। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, पुत्र से ऐसा कहकर बृहस्पति शीघ्रता से आकाश में उड़ गये, अनन्तर अन्तःकरण से खेद निकाल कर वह कच छोड़ने के लिए चित्त की खोज करने लगा। खोज करने पर भी जब उसे चित्त की प्राप्ति नहीं हुई, तब वह सोचने लगा और बुद्धि से ही अपने पिताजी के समीप गया यानी पिताजी का स्मरण किया ॥१७–२३॥

त्रिपुर का दाह करने पर जैसे असुरों का स्वयं दाह हो गया, उस तरह देह, इन्द्रिय आदि का त्याग

करने पर चित्त का स्वयं त्याग हो जायेगा, इस पर कहते हैं।

देह आदि जो कुछ ये प्रसिद्ध पदार्थ हैं, वे तो चित्त नहीं कहे जा सकते और उनमें चित्त कहाँ रहता है, इसका भी निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए बेचारे अपराधशून्य देह आदि का मैं व्यर्थ क्यों त्याग करूँ ? इस परिस्थिति में अब चित्तस्वरूप महाशत्रु को जानने के लिए पिताजी के पास ही जाता हूँ। जानकर मैं उसका त्याग करूँगा। तदनन्तर जल्द ही समस्त शोकों से निर्मुक्त हो जाऊँगा। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : रघुवर, ऐसा विचार कर वह कच स्वर्ग में चला गया तथा बृहस्पति के पास जाकर स्नेहपूर्वक वन्दना और प्रणाम किया। एकान्त में उसने उनसे पूछा : हे भगवन्, चित्त क्या है, इसका आप मुझे उपदेश दीजिए और चित्त का स्वरूप भी बतलाइये, जिससे कि मैं उसका त्याग करूँ। बृहस्पति ने कहा : आयुष्मन्, चित्ततत्त्वज्ञ महानुभाव अपने अहंकार को ही चित्त जानते हैं, अतः जन्तु का जो यह भीतरी अहम्भाव है, वही चित्त कहा जाता है। कच ने कहा : हे तैंतीस करोड़ देवताओं के गुरो, हे महामते, अहम्भाव ही चित्तरूप कैसे हो सकता है, उसे मुझसे कहिए, क्योंकि लोक में अहंकार की आत्मा के रूप में प्रसिद्धि है, यदि उसका त्याग कर देंगे, तो शून्यता ही हो जायेगी ॥२४-२९॥

और आत्मा का त्याग भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह त्याग का विषय है ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे योगियों में श्रेष्ठ, मैं तो मानता हूँ कि इसका त्याग इतना असम्भव-सा है कि किसी तरह सिद्ध हो ही नहीं सकता, इसलिए इसका त्याग कैसे होगा ? ॥३०॥

सत्य है, जब तक उसके साक्षी का परिचय नहीं हो जाता, तब तक उसका परित्याग करना असम्भव है, परन्तु जब साक्षी का परिचय हो जाता है, तब उसका त्याग कर सकते हैं, इस आशय से कहते हैं।

बृहस्पति ने कहा : हे पुत्र, अहंकाररूप चित्त का त्याग तो फूलों के मर्दन से भी और नेत्रों के मीलन से भी अत्यन्त सुलभ है, अतः इसके त्याग में तनिक भी क्लेश नहीं है। हे तनय, इसका त्याग जिस उपाय से सुलभ होता है, उस उपाय को कहता हूँ, सुनो। जो वस्तु केवल अज्ञान से उत्पन्न होती है, उसका ज्ञान से विनाश हो जाता है, यह अहंकार शुद्ध साक्षी के अपरिचयरूप मोह से उत्पन्न हुआ है, अतः साक्षी का परिचय हो जाने पर नष्ट हो जायेगा। हे पुत्र, जैसे मिथ्या भ्रम कुछ वस्तु नहीं है, वैसे ही अहंकार भी वास्तव में कुछ है ही नहीं। अज्ञानियों की दृष्टि से यह उस प्रकार असत् होता हुआ उत्पन्न हुआ है, जिस प्रकार बालक की दृष्टि से असत् वेताल उत्पन्न होता है। जैसे डोरी में अज्ञान से साँप मिथ्या भासता है अथवा जैसे शुष्क मरुभूमि में अज्ञान से मिथ्या पानी का ज्ञान होता है, वैसे ही अज्ञान से अहंकार भी मिथ्या ही भासता है। जैसे चन्द्रमा एक ही है, परन्तु उसमें मोह से असत्य द्वित्व दिखाई देता है, वेसे ही यह अहंकार मोह से ही दिखाई देता है। वह न तो सत्य है, न असत्य ही है और न सत्य-असत्य ही है ॥३१-३५॥

सब प्रपंच यदि मिथ्या है, तो कौन-सी चीज सत्य है, इसे कहते हैं -

एक, आदि और अन्त से रहित, चैतन्यमात्र, सभी ओर से निर्मल, आकाश से भी अत्यन्त स्वच्छ सर्वानुभवरूप आत्मा ही सत्य वस्तु है ॥३६॥

यदि उसकी सत्ता न मानी जाय, तो जगत् का प्रकाश ही नहीं हो सकेगा, अतः उसका अस्तित्व

है, यह कहते हैं।

सभी जगह और सभी प्राणियों में निरन्तर सब ओर से प्रकाश करनेवाला वही एक आत्मवस्तु उस प्रकार चमकता है, जिस प्रकार चंचल, समुद्र की तरंगों में जल ही जल चमकता है ॥३७॥

ऐसी स्थिति में द्रष्टा और दृश्यों के बीच में यह अहंकार है कौन, किस निमित्त से उत्पन्न हुआ, और किस तरह का है, यह कहना अत्यन्त ही विचारणीय है यानी कह ही नहीं सकते, ऐसा कहते हैं।

द्रष्टा और दृश्य के बीच में यह कौन–सी अहंकार नाम की वस्तु है, किस हेतु से उत्पन्न हुई और उसका स्वरूप क्या है ? कोई कह सकता है ? कोई भी नहीं। क्या कहीं जल में शुष्क धूलिराशि या अग्नि से उत्पन्न जल किसीने देखा ? अर्थात् किसीने भी नहीं। हे पुत्र, यह पिता आदि से उत्पन्न हुआ देह आदि मैं हूँ, इस व्यर्थ बुद्धि को छोड़ दो जो कि तुच्छ, परिमिताकार और देश–काल के द्वारा हुए वृद्धि आदि विकारों से परिणत हुई है ॥३८,३९॥

तब मैं कौन हूँ ?

देश, काल आदि परिच्छेदों से शून्य, स्वच्छ, निरन्तर उदयस्वभाव, व्यापक सब पदार्थों के रूप से भासमान, निर्मल अद्वय चिन्मात्रस्वरूप तुम हो ॥४०॥

'सर्वार्थमयम्' इस शब्द का सब पदार्थों का सारभूत भी अर्थ है, इसको दृष्टान्तपूर्वक दर्शाते हुए प्रकृत का उपसंहार करते हैं।

जैसे चारों दिशाओं में स्थित फल, पुष्प और पत्तों का हेतुभूत एवं सारभूत वृक्षों में रहनेवाला रस है, वैसे ही तुम समस्त जगत् का कारणभूत और सारभूत भीतर रहनेवाला सर्वदा ही स्थित, अत्यन्त विमल, अनन्त, नित्य चिदात्मस्वरूप ही हो। हे कच, अखण्ड–अद्वय सन्मात्रस्वरूप बने हुए तुम्हारी यह परिच्छिन्न अहंबुद्धि कौन–सी चीज है अर्थात् कोई नहीं।४१॥

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बारहवाँ सर्ग

कच की आख्यायिका से प्रबुद्ध हुए रामजी के प्रश्न से वसिष्ठजी द्वारा
आकाश की रक्षा करनेवाले मिथ्यापुरुष का आख्यान–कथन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, उस देवगुरु से अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ एकरूपता से सम्पन्न करानेवाला उत्तमोत्तम उस प्रकार का परम उपदेश पाकर उनका पुत्र जीवन्मुक्त हो गया। हे रामजी, जिस प्रकार बृहस्पति का पुत्र कच ममतारहित, अहंकारशून्य, मोहरूपी गाँठ से निर्मुक्त और शान्तबुद्धि होकर स्थित रहा उसी प्रकार आप भी निर्विकार होकर स्थित हो जाइए। भद्र, इस अहंकार को आप असत् जानिये, इसका न तो आश्रय कीजिए और न त्याग ही कीजिए, क्योंकि असत् खरगोश के सींगों का कहीं आश्रय और त्याग किसी से किया जा सकता है ? ॥१–३॥

यत्न से जब तक उसका निवारण नहीं किया जायेगा, तब तक कैसे जन्म–मरण का भय निकलेगा, इस पर कहते हैं।

जब अहंकार ही असम्भव है, तब आपके जन्म–मरण ही कैसे ? ऐसा कौन है, जो आकाश में पेड़

लगाकर फल बटोरता हो। अहंकाररूपी खेत के रहने पर ही कामादि वासनाएँ अंकुरित हो सकती हैं, परंतु उसका बाध हो जाने पर वे कुछ नहीं कर सकतीं, यह भाव है ॥४॥

अहंकार का बाध हो जाने पर अवशिष्ट हुआ मैं किस प्रकार का हूँ, इस पर कहते हैं।

जब अहंकार का बाध हो जाता है, तब आप अंशशून्य, संकल्प–विकल्पों से रहित, समस्त पदार्थरूप, व्यापक, परमाणु से भी सूक्ष्म, मन से रहित चिन्मात्रस्वरूप होकर रह जाते हैं ॥५॥

उक्त चिन्मात्ररूप मैं अहम्भाव से युक्त होकर किस तरह का हो गया। इस पर कहते हैं।

जैसे जल के तरंग आदि जलरूप होते हुए भी जल से भिन्न की नाईं भासते हैं अथवा जैसे सुवर्ण के कटक आदि सुवर्णरूप होते हुए भी सुवर्ण से भिन्न की नाईं भासते हैं, वैसे ही आप चिन्मात्र होते हुए भी अहम्भाव से युक्त होकर उससे भिन्न की नाईं भासने लग गये हैं। हे पापशून्य, सम्पूर्ण जगत् आत्मा के अज्ञान से ही मायामय बनकर मानों स्थित हो जाता है और आत्मा के ज्ञान से वह सब ब्रह्मरूप बनकर स्थित हो जाता है। श्रीरामजी, यह कार्य है और यह कारण है – इन दोनों बुद्धियों का त्याग कर उनमें अनुगत सन्मात्र को बचाकर उसी में अपनी स्थिति बनाइए और सुखी हो जाइए। जिस तरह मिथ्यापुरुष अनुगत बची हुई वस्तु में प्रतिष्ठित न होकर दुःखी हुआ, उस प्रकार व्यर्थ दुःखी मत होइए। यह अत्यंत गाढ़ जो संसार की माया है, उसका पार पाना यद्यपि अत्यंत कठिन है, तथापि जैसे शरद् ऋतु कुहरे को काट डालती है, वैसे ही उसे आत्मज्ञान शीघ्र काट डालता है। श्रीरामजी ने कहा : गुरुवर, आपके ज्ञानरूपी अमृत से मैं अपने अन्दर ऐसे परम सन्तुष्ट हो गया हूँ, जैसे वृष्टि के प्रतिबन्ध से (अभाव से) भयभीत हुआ चातक दैव से प्राप्त हुई वृष्टि से सन्तुष्ट हो जाता है। महाराज, अमृत के सदृश ज्ञान से अभिषिक्त हुआ मैं भीतर शीतलता का महान् अनुभव कर रहा हूँ और हिरण्यगर्भ की सम्पत्तिपर्यन्त जितनी उत्तमोत्तम सम्पत्तियाँ हैं उन सबके सिर पर रहनेवाली निरतिशय आनन्दरूपी सम्पत्ति के ऊपर मैं अपना आधिपत्य जमा कर स्थित हूँ। परंतु मधुर वचन कह रहे आपकी उक्तियों के आस्वाद से मुझे ऐसे तृप्ति नहीं होती, जैसे चन्द्रमा की किरणों के आस्वाद से प्यासे चकोर को तृप्ति नहीं होती। भगवन्, ज्ञातव्य तत्त्व के ज्ञान से यद्यपि मैं तृप्त तो हो गया हूँ, तथापि आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ। भला बतलाइये तो सही कि कौन ऐसा प्राणी है, जो तृप्त होता हुआ भी सामने पड़े हुए अमृतरूपी पेय को न पीता हो ? ॥६–१३॥

इस प्रकार प्रशंसा से अभिमुख किये गये गुरुजी के प्रति 'मा दुःखितो भव व्यर्थं त्वं मिथ्यापुरुषो यथा' इत्यादि से पहले सूचित हुए मिथ्यापुरुष का कुतूहल से श्रीरामजी आख्यान पूछते हैं।

हे मुनिश्रेष्ठ, मुझसे शीघ्र कहिए कि कौन वस्तु मिथ्यापुरुष नाम की कही जाती है, जिसने कि वस्तु को अवस्तु बना दिया और अवस्तुभूत समस्त जगत् को वस्तु बना डाला ॥१४॥ महाराज वसिष्ठ ने कहा : हे राघव, मिथ्यापुरुष को जानने के लिए यह सुन्दर आख्यायिका आप सुनिये, जो मेरे द्वारा कही जाती है और हास्यप्रद है ॥१५॥ हे महाबाहो, कोई एक मायायन्त्र से भरा पुरुष था, वह केवल बालक के सदृश कोमल बुद्धि से विक्षिप्त और अज्ञान से आवृत था ॥१६॥

मनुष्यों की जहाँ दृष्टि नहीं जाती, ऐसे एकान्त स्थान में भी वह स्वरूपतः मिथ्या ही था, यह कहते हैं।

वह किसी एक निर्जन एकान्त प्रदेश में उत्पन्न हुआ था और उसी शून्य प्रदेश में रहता था। वह वास्तव में आकाश में केशोण्ड्रक सदृश और मरुभूमि में मृगतृष्णाजल के सदृश मिथ्या ही था। उस मिथ्यापुरुष को छोड़कर उस स्थान में दूसरा कुछ है नहीं और जो कुछ भी वहाँ पर यदि प्रतीत होता है, तो अकेला वही प्रतीत होता है। यदि वह किसी दूसरे को देखता है, तो वह भी उसीकी भ्रान्ति से ही देखता है, यह सब होते हुए भी वह 'मै ही यहाँ सब कुछ हूँ' यों नहीं देखता, क्योंकि वह दुर्मति है। वहाँ वृद्धि को प्राप्त हुए उस मिथ्यापुरुष को मन में एक संकल्प हुआ, वह यह कि इस आकाश का मैं ही कारण हूँ और आकाश मेरा कार्य है, अतः आकाशरूप मैं ही निश्चल होकर उसको व्याप्तकर उसकी रक्षा करता हूँ। मेरी प्रिय से प्रिय वस्तु आकाश है, अतः उसे कहीं पर रखकर स्वयं मैं ही उसकी बड़े आदर से रक्षा करूँ, इस तरह विचारकर आकाश की रक्षा के लिए उसने एक घर का निर्माण किया। हे रघुनन्दन, तदनन्तर उस घर के अन्दर उसने यह आस्था बाँध ली कि यह आकाश मेरा है और इसकी मैंने रक्षा की है और गृहाकाश से वह सन्तुष्ट हो गया। अनन्तर कुछ काल के बाद उसका वह घर उस प्रकार नष्ट हो गया, जिस प्रकार दूसरी ॠतु से यानी शरत् ॠतु से मेघ या वायु से छोटे-छोटे तरंग नष्ट हो जाते हैं। जब वह नष्ट हो गया तब मिथ्यापुरुष इस प्रकार शोक करने लगा, हा गृहाकाश, तुम नष्ट हो गये, अरे तुम एक ही क्षण में कहाँ चले गये, हा हा, तुम टूट गये, तुम बड़े अच्छे रहे। इस प्रकार सैकड़ों बार शोक कर फिर उस दुर्बुद्धि मिथ्यापुरुष ने वहाँ पर आकाश की रक्षा करने के लिए एक कूप का निर्माण किया और उसी कूपाकाश में पहले के-जैसी आस्था बाँधकर रहने लगा। अनन्तर कुछ समय के बाद उसका वह कूप भी नाश को प्राप्त हो गया यानी मिट्टी आदि से ढह गया। जब कूपाकाश नष्ट हो गया, तब वह उससे महान् शोकसागर में निमग्न हो गया। कूपाकाश के लिए शोक कर चुकने के अनन्तर उसने तत्काल ही एक घड़े का निर्माण किया और घटाकाश की रक्षा में तत्पर होकर स्वयं उसके अभिमान-सुख को प्राप्त हुआ ॥१७-२६॥ हे रघुकुलश्रेष्ठ, काल से उसका वह घर भी नष्ट हो गया। भाग्यहीन जिस किसी दिशा का ग्रहण करता है, वह नष्ट ही हो जाती है। घड़े के आकाश का शोक कर लेने के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिए कुण्ड का निर्माण किया और उसी प्रकार उसी अभिमान से कुण्डाकाश की रक्षा के लिए तत्पर हो गया। कुछ काल के बाद वनगज आदि के गिरने आदि से इसका कुण्ड भी विनाश को उस प्रकार प्राप्त हो गया, जिस प्रकार तेज से अन्धकार विनाश को प्राप्त हो जाता है। कुण्डाकाश के विषय में भी उसने महान् शोक किया। कुण्ड के आकाश का शोक करने के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिए एक ऐसे घर का निर्माण किया, जिसमें चारों दिशाओं में कमरे तथा बीच में एक समाकार कमरा था। फिर उसीके आकाश की रक्षा में तन्मय हो गया। जिसने अनेक प्रजाओं का ग्रास कर लिया है, उस काल ने इसका भी ऐसे अपहरण कर लिया, जैसे वायु जीर्ण पत्ते का अपहरण कर लेती है। उससे भी वह शोकनिमग्न हो गया। उस चतुःशाल घर के शोक के बाद उसने आकाश की रक्षा के लिए मेघाकार कुसूल (धान्य रखने का कोठार) बनाया और फिर उसीके आकाश की रक्षा में निरत हो गया। उसके उस कुसूल को भी काल ने ऐसे अपहृत कर दिया जैसे वायु मेघ को अपहृत कर देता है। उस कुसूलविनाश के शोक से वह खूब ही सन्तप्त

हो गया। इस प्रकार घर, चतुःशाल, कुण्ड और कुसूल आदि से आकाश की रक्षा कर रहे उस मिथ्यापुरुष का यह कभी समाप्त न होनेवाला काल बीतता ही जाता था। हे श्रीरामचन्द्रजी, उस रीति से गहन घर, कूप, कुण्ड आदि उपाधियों से आकाश को आत्मबुद्धि से उदर में पकड़कर स्थित रहा वह मिथ्यापुरुष गमनागमन की आसक्ति से मूढ़ अतएव विवश होकर उनके अभिमान से ही घर आदि का निर्माण, रक्षण और विनाश होनेपर एक दुःख से अति कठिन दूसरे दुःख में आता और जाता रहता है ॥२७-३५॥

एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तेरहवाँ सर्ग

'मिथ्यापुरुष' शब्द आदि का अर्थ और उक्त आख्यायिका का साम्यवर्णन द्वारा तात्पर्य-कथन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, मिथ्यापुरुष के प्रसंग से आपने जिस मायामय पुरुष का कथन किया, वह किस अभिप्राय से किया है और उसके द्वारा किये आकाशरक्षण का भी क्या अभिप्राय है, यह मुझसे कहिए। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, सुनिए, अभी जो मैंने मिथ्यापुरुष की कथा आपसे कही है, उसका असली तात्पर्य आपसे प्रकट करता हूँ। हे रघुनन्दन, मैंने मायायन्त्रमय जिस पुरुष का उस कथा में उल्लेख किया है, इसे आप अहंकार ही जानिए, वही मायारूप आकाश में उत्पन्न हुआ है। हे साधो, जिस इस मायामय आकाश के एक कोने में यह जगत् अवस्थित है, वह स्वयं सृष्टि के पहले भी असीम, असत् और शून्यरूप ही रहता है ॥१-४॥

क्या अधिष्ठानरहित मायाकाश से यह जगत् उत्पन्न होकर उसमें स्थित है ? नहीं, ऐसा कहते हैं।

भद्र, उस मायाकाश के अन्दर पामरों से अत्यन्त अगम्य परमब्रह्म अधिष्ठान रूप से विराजित है और आकाश से शब्द की नाईं उस ब्रह्मरूप अधिष्ठानवाले मायारूप आकाश से सबसे पहले अहंकार का ऐसे उदय होता है, जैसे वायु से सबसे पहले स्पन्दन का उदय होता है। वास्तव में अहंकार आत्मा तो है नहीं, परन्तु भ्रान्ति से स्वयं अपने को आत्मा ही समझकर अपने कारणभूत मायाकाश में बढ़ जाता है और अनेक संकल्पविकल्पों से किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मानने लगता है। तदनन्तर उसी कल्पित 'अहम्' इस अपने अभिधान से यह इष्ट वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए सतत प्रयत्न करता-रहता है। अनात्मा होते हुए भी आत्मा की रक्षा करने में व्याकुलमति हुआ यह अहंकार पूर्व-पूर्व शरीरों का नाश हो जाने पर उत्तरोत्तर काम, कर्म तथा वासना के अनुसार बार-बार अनेक तरह के शरीरों की रचना किया करता है। वह अहंकार ही पूर्वोक्त कथा का मायापुरुष है और वही मिथ्यापुरुष है, क्योंकि माया से जो अहंकार उत्पन्न हुआ है, वह असत् एवं मिथ्यारूप ही है ॥५-८॥

कुआँ, घड़ा आदि शब्दों से भी ऊँच-नीच शरीर ही लक्षणा से मैंने कहे हैं, यह कहते हैं।

कुआँ, कुण्ड, चतुःशाल, घड़ा आदि यानी ऊँच-नीच शरीरों की रचा कर मैंने आत्मा की रक्षा की, यों चैतन्ययुक्त मायामय आत्मा में आत्मभावना कर लेता है। हे राघव, जिन-जिन जगदाकाररूप विभ्रमों से यानी क्रियारूप उपाधियों से यह अहंकार आत्मा को मोहित करता है, उसके नानाविध

क्रियाओं के कारण पड़े हुए ये यौगिक नाम आप सुनिए। (४) जीव, बुद्धि, मन, चित्त, माया, प्रकृति संकल्प (卐) तथा कलना, काल और कला इत्यादि प्रसिद्ध नामों से एवं दूसरे भी अनेक नामों से हजारों रूपों को धारण किया हुआ अहंकार कल्पित अर्थों को लेकर इस संसार में अपनी धाक जमाकर अवस्थित है ॥९-१२॥

'तस्मादन्यं न तत्राऽस्ति' यह जो पूर्व सर्ग में कहा गया है उसे अनुभव पर चढ़ाते हैं।

पूर्णात्मा परब्रह्म में अपने से ही सर्व प्रथम शून्यस्वरूप भूताकाश जब विस्तृत हुआ है, तब उसमें वायु आदि की कल्पनाओं से कल्पित हुआ जगत् युक्तिपूर्वक विचार करने से गन्धर्वनगर के सदृश दीवार आदि आवरण से शून्य ही निश्चित होता है। छिद्ररहित ब्रह्म से ब्रह्म में छिद्ररूप आकाश की पहले उत्पत्ति नहीं हो सकती। शून्यस्वरूप अतिविस्तृत अचल आकाश तदनन्तर चलनात्मा वायु कैसे हो सकता है ? नीरूप अनुष्ण वायु भी स्वविरुद्ध तेजोरूप कैसे हो सकती है ? दाहस्वभाव उष्ण तेज स्वविरुद्ध जलस्वरूप कैसे हो सकता है ? एवं जल भी कठिन पृथिवीरूप कैसे हो सकता है ? इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव में इस जगत् की कोई नींव है ही नहीं। उसीमें वह पुरुष मिथ्या ही सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ स्थित था। श्रीरामजी, जिस तरह आकाश में आत्मबुद्धि की शंका से आकाश की रक्षा करते हुए उस मिथ्यापुरुष ने घट आदि का निर्माण कर उनके आकाशों का रक्षण करने में अनेक तरह के क्लेशों का अनुभव किया, उस तरह आप क्लेशों का अनुभव न कीजिये। भद्र, जो आत्मा है वह तो आकाश से भी बड़ा है, परमशुद्ध है, अत्यन्त सूक्ष्म है, परम कल्याणरूप तथा शुभ है। उसको कौन पकड़ सकता है और कौन उसकी रक्षा कर सकता है ? जब इस शरीररूप आश्रय का विनाश हो जाता है, तब आत्मा नष्ट हो गया, इस शंका से केवल हृदयाकाश के लिए ये प्राणी निरर्थक शोक किया करते हैं। जैसे घट आदि के विनष्ट हो जाने पर घटादि का आकाश कभी नष्ट नहीं होता वैसे ही देहों के नष्ट हो जाने पर देही का यानी देहउपलक्षित आत्मा का कभी विनाश नहीं होता। हे रामजी, चूँकि यह आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप आकाश और अणु से भी सूक्ष्म तथा अहंकार से निर्मुक्त केवल स्वप्रकाश चित् ही है, इसलिए आकाश के समान उसका नाश नहीं होता। कहीं किसी समय न कुछ उत्पन्न होता है और न मरता ही है, केवल जगदात्मक विवर्तरूप से वह ब्रह्म ही चमकता है। श्रीरामजी, आत्मा सत्यरूप है, एक है, प्राप्य स्थान है, शान्त है, आदि मध्य और अन्त से निर्मुक्त है तथा सत्ता और असत्ता से रहित है, ऐसा निश्चय कर परम सुखी हो जाइये ॥१३-२०॥

पूर्व सर्ग में वर्णित मिथ्यापुरुषरूप अहंकार का परित्याग कराते हुए श्रीवसिष्ठजी आखिर में बचे हुए चैतन्यमात्र में आप स्थिर हो जाइये, इस तरह के उपदेश के साथ-साथ उपसंहार करते हैं।

---

(४) प्राणधारण से जीव, बाह्य अर्थों के निश्चय से बुद्धि, उनके मनन से मन, उनके चिन्तन से चित्त, असत्कल्पना से माया, परिणामी स्वभाव से प्रकृति, संकल्पन से संकल्प, संकल्पित अर्थ के आकलन से कलन, संकल्पित अर्थ के विपरिणाम आदि में हेतु होने से काल तथा उसमें एकदेशरूप भेद की कल्पना से कला - यों तत्-तत् क्रियाभेद के कारण अहंकार के ये नाम पड़े हैं, वह जान लेना चाहिए।

(卐) काम, संकल्प, विचिकित्सा आदि श्रुति-स्मृति प्रसिद्ध नामों से।

हे श्रीरामजी, सम्पूर्ण आपत्तियों के आधार, चंचल, परतंत्रता के उत्पादक, तत्क्षण ही नरक में गिरानेवाले विवेक के शत्रु, निन्द्य, अज्ञान से भरे अहंकार स्थान को देह, इन्द्रिय आदि कलाओं के साथ–साथ तत्त्वज्ञान से मूलोच्छेदपूर्वक छोड़कर यदि आप अवशिष्ट विशुद्ध चिन्मात्रस्वरूप में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जायेंगे, तो सबसे उत्तमता प्राप्त करेंगे ॥२१॥

एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौदहवाँ सर्ग

अनेक दृष्टान्तों से सत् और असत् का स्वरूप बतलाकर
असद्रूप के निरास द्वारा सद्रूप में स्थिरता का वर्णन।

समस्त जगत् केवल मन का संकल्प–विकल्प ही है, इसलिए निर्विकल्प चैतन्यवस्तु के प्रदर्शन से ही उसका निरास सुलभ है, यह समझाने के लिए पहले परब्रह्म में मन की कल्पना कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, सृष्टि के आदिकाल में समस्त कल्पनाओं से पहले संकल्प–विकल्पात्मक इस विशाल जगत् की रचना में समर्थ मन उत्पन्न हुआ। वह तभी से उस परब्रह्म में अभिन्न सत्ता से स्थित हुआ ही अनेक भिन्न–भिन्न कल्पनाओं का निमित्त बनकर आज तक विद्यमान है ॥१॥

अभिन्नसत्ता से परब्रह्म में हुई उसकी स्थिति में दृष्टान्त बतलाते हैं।

हे राघव, फूलों में जैसे सुगन्ध, सागर में जैसे बड़े–बड़े तरंग और सूर्य में जैसे किरणें अभिन्न सत्ता से रहती हैं, वैसे ही ब्रह्म में मन भी अभिन्न सत्ता से रहता है। हे श्रीरामजी, इन्द्रियों से अगम्य उस आत्मतत्त्व के एकमात्र अज्ञान से ही मन ने उसमें समस्त जगत् के कारणरूप से स्थिति प्राप्त की है। इसलिए यह जगत् रज्जुसर्प के सदृश कहीं किसी दूसरे कारण से प्राप्त नहीं हुआ है ॥२,३॥

ऐसी परिस्थिति में जगत् की जब चिन्मात्र से अलग भावना की जाती है तब वह अलग ही भासता है और जब चिन्मात्ररूप से भावना की जाती है तब चिद्रूप ब्रह्म ही हो जाता है, यों दृष्टान्तों से उपपादन करते हैं।

हे राघव, जो पुरुष इन किरणों की सूर्य से अलग भावना करता है उस पुरुष के लिए ये किरणें सूर्य से अलग ही हो जाती है। जिसने केयूर की सुवर्ण से पृथक्‌रूप से भावना की, उसकी दृष्टि में सुवर्ण से पृथक् ही केयूर प्रतीत होता है, क्योंकि उसकी भावना में केयूर सुवर्ण नहीं है। जिसने किरणों की सूर्यस्वरूप से ही भावना की, उसकी दृष्टि में वे किरणें सूर्यरूप ही ठहरती हैं और वह यह कहता है कि सूर्य रश्मि भेदों से शून्य ही है यानी सूर्य और किरणों का परस्पर कोई भेद नहीं है। जिसने तरंग की जलभिन्नरूप से भावना की, उसमें एकमात्र तरंगबुद्धि ही स्थित रहती है, जल बुद्धि नहीं। जो पुरुष तरंग की जलरूपता से भावना करता है उसे सामान्य जलबुद्धि ही होती है। ऐसा पुरुष जल और तरंग के भेद से निर्मुक्त निर्विकल्प कहा जाता है। जो पुरुष केयूर कनक से भिन्न नहीं है, ऐसी भावना करता है वह सामान्य कनकबुद्धिवाला भेदशून्य निर्विकल्प कहा जाता है। ज्वालापंक्ति अग्नि से भिन्न है, ऐसी जो पुरुष भावना करता है उसे अग्निबुद्धि उत्पन्न नहीं

होती, केवल ज्वालाबुद्धि ही रहती है ॥४–१०॥

कल्पित आकारों से युक्त बुद्धि कल्पित आकारों में ही आस्था बाँधकर अनेक तरह की कल्पना करती है, यह कहते हैं।

अभ्रपंक्ति के सदृश ज्वालापंक्ति के आकार को प्राप्त हुई उक्त बुद्धिवृत्ति ज्वाला में आस्था बाँधती है, ज्वालापंक्ति में स्थित चलन, ऊर्ध्वगमन आदि की कल्पना करती है तथा व्याकुल हो जाती है। ज्वाला की पंक्ति अग्नि से भिन्न नहीं है, इस तरह की जो भावना करता है उसको केवल अग्निबुद्धि ही रहती है और वह निर्विकल्प कहा जाता है। जो पुरुष निर्विकल्प यानी ग्राह्य और ग्राहक की द्विधा से निर्मुक्त हो जाता है वही महान् है। उसकी आत्मबुद्धि कभी क्षीण नहीं होती। इस जगत् में प्राप्त करने के योग्य जो कुछ भी है, वह सब उसने प्राप्त कर लिया। वह इन मन के विकल्पों से जनित पदार्थों में सत्यत्वबुद्धि से कभी नहीं फँसता ॥११–१३॥

दृष्टान्त में जो विकल्पत्याग की शैली युक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है, उसका दार्ष्टान्ति में उपदेश देते हैं।

हे रामभद्र, सम्पूर्ण नानारूपता का (द्वैतभाव का) परित्याग कर विषय–सम्बन्ध से निर्मुक्त चेतनतत्त्वभूत विशुद्ध चिन्मात्र जो भीतर का आत्मतत्त्व है उसमें स्थित हो जाइये। स्वप्रकाश स्वयमात्मा ही अपने–आप जब, स्पन्दनशक्ति को वायु के सदृश, संकल्पनात्मक शक्ति को उत्पन्न करता है तब भिन्न की तरह भासनेवाला संकल्पकलनात्मक मनरूप हो जाता है और विश्वाकार अपनी आकृति की भावना कर रहा वह समष्टि मन बन जाता है। वह विश्वाकार संकल्परूप समष्टिचित्त इस जगत् की जिस रूप से कल्पना करता है तत्क्षण ही संकल्पों से उस रूप का हो जाता है। वही मन कीटरूप, ब्रह्मरूप, सुमेरुरूप एवं मरुभूमिरूप हो जाता है, उसीके जीव, अहंकार, बुद्धि, चित्त आदि नाम हैं। वही चित्त संकल्प से द्वित्व और एकत्व प्राप्त कर जगत् की व्यवस्था बनाता है और उसके बाद उसीमें नानारूप स्वयं हो जाता है। यह जो जगद्रूप विशाल आकार देखा जाता है, वह सब मन का संकल्प ही है, वह न सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु स्वप्नों के सदृश अनिर्वचनीय ही उत्पन्न हुआ है। जैसे साधारण प्राणी का मनोराज्य विविध सामग्री रचनाओं से सुन्दर है, वैसे ही हिरण्यगर्भ का भी यह व्यापक मनोराज्य सुन्दर है ॥१४–२१॥

मिथ्या होने से ही जब तत्त्वज्ञान से 'जगत् ब्रह्मरूप है', ऐसी भावना की जाती है तब उसका मायिक रूप नष्ट हो जाता है, यह कहते हैं।

जगत् परब्रह्मस्वरूप है, इस प्रकार की भावना करने पर प्रसिद्ध यह जगत् विलीन हो जाता है। परमार्थतः जगत् यदि देखा जाय, तो कुछ भी नहीं है ॥२२॥

तत्त्वसाक्षात्कार न होने पर जगत् का क्या स्वरूप रहता है, उसे कहते हैं।

यदि दृश्य जगत् को अपरमार्थतः देखा जाय, तो हजारों शाखा–प्रशाखाओं में विभक्त हो जाता है। जैसे समुद्र जलरूप ही होता हुआ ऊर्मि, तरंग आदि कल्पनायोग्य रूप का परिग्रहण कर प्रत्यक्ष समुद्रस्वरूप धारण करता है, वैसे ही हजारों कर्म कर रहा भी पुरुष चिदाभासयुक्त मन के स्पन्दन के बिना कूटस्थ चैतन्य का अपूर्व कुछ भी विकार आदि नहीं कर सकता, इसलिए आप भी तुच्छतर

दृश्यभेद का त्यागकर जाना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, बोलना, व्यवहार करना, सोना आदि व्यवहार करते हुए भी अभिनव जगद्रूप कुछ सत्य नहीं है, किन्तु पूर्वसिद्ध ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, इस प्रकार की भावना कीजिये और स्थित रहिये। आप जो कुछ करते हैं उसे निर्मल चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही जानिये, क्योंकि ब्रह्म ही जगत् के रूप में विवर्तित होकर उपबृंहित (विकसित) है। अतः जगत् उससे भिन्न नहीं है। समस्त पदार्थ जब चैतन्य–साररूप ही स्थित है तब समस्त जगत् संवित्रूप ही है, यह मानना चाहिए, दूसरी कल्पना नहीं है। जगज्जाल के नाम से जब यह केवल संवित् का स्फुरण ही विद्यमान है तब यह दूसरा है, यह उससे भिन्न है, इत्यादि मिथ्याज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ। जितने आकार हैं उन सबमें एक संवित् का ही अस्तित्व होने से न संवेद्य का अस्तित्व है और न उसके मूल का ही अस्तित्व है, इसलिए बन्ध और मोक्ष ही किस तरह के ? हे श्रीरामजी, यह मोक्ष है, यह बन्ध है इत्यादि समस्त निष्फल अभिमानरूप चिन्ताओं का बलपूर्वक त्यागकर वाक् आदि समस्त इन्द्रियों के ऊपर विजय पाकर मौनी, जितेन्द्रिय तथा मान और मद से रहित होकर अपने योग्य राज्य आदि कार्यों को करते हुए अहंकाररहित आप महात्मा ही बनकर स्थित रहिये ॥२३–३०॥

एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग

महाकर्ता आदि शब्दों की व्याख्याओं से भृंगीश के प्रति
महादेवजी के द्वारा जीवन्मुक्तों के लक्षणों का निरूपण।

महाराज श्रीवसिष्ठजी ने कहा : हे अनघ, आप पुण्य–पाप आदि की शंकाओं का परित्याग कर और निर्भय अविनाशी कूटस्थ आत्मभाव का अवलम्बन कर महाकर्ता महाभोक्ता एवं महात्यागी हो जाइये। श्रीरामजी ने कहा : हे प्रभो, किस लक्षण की प्राप्ति होने पर पुरुष महाकर्ता कहा जाता है, किस लक्षण की प्राप्ति होने पर पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है तथा किस लक्षण की प्राप्ति होने पर पुरुष महात्यागी कहा जाता है, यह भलीभाँति मुझसे कहिये। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, पहले भगवान् महादेवजी ने ये तीन व्रत भृंगीश से कहे थे और इन्हीं तीनों व्रतों के प्रभाव से भृंगीश संसारज्वर से निर्मुक्त हो गया था। किसी समय की बात है कि सुमेरु पर्वत के अग्नि सदृश उत्तरीय शिखर पर अपने समस्त परिवार से युक्त होकर भगवान् शंकर विराजमान थे। हे श्रीरामजी, अपने परिवार के साथ बैठे हुए उमापति से साधारण आत्मज्ञान रखनेवाला महान् तेजस्वी विनम्र भृंगीश ने, जो वहीं पर उपस्थित था, अंजलि बाँधकर पूछा। भृंगीश ने कहा : हे भगवन्, हे देवताधीशों के स्वामी, हे सर्वज्ञ, हे परमेश्वर, जो मैं आपसे पूछता हूँ, उसे कृपाकर मुझसे शीघ्र कहिये। हे नाथ, तरंग के सदृश थोड़े समय में नष्ट हो जानेवाली इस सृष्टि रचना का अवलोकन कर मैं बड़ा मुग्ध हो गया हूँ। यद्यपि साधारणरूप से तत्त्व का परिज्ञान होते हुए भी उससे विश्रान्ति मुझे नहीं मिल रही है। महाराज, इस जगद्रूपी जीर्ण–शीर्ण घर के अन्दर विश्रान्तिसुख से रमणीय किस आन्तरनिश्चय का अवलम्बन कर मैं समग्र चिन्ताज्वर से निर्मुक्त होकर निश्चलरूप से स्थित रह सकता हूँ ? ईश्वर ने कहा : हे अनघ, तुम यत्र–तत्र की समस्त शंकाओं का पिण्ड छोड़कर अविनाशी निर्भय कूटस्थ आत्मभाव का अवलम्बन कर

महाभोक्ता, महाकर्ता और महात्यागी हो जाओ। भृंगीश ने कहा : हे प्रभो, ऐसे कौन से लक्षण हैं, जिनकी प्राप्ति हो जाने पर पुरुष महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी कहा जा सकता है, उन्हें मुझसे भलीभाँति कहिये ॥१–१०॥

'समस्त शंकाओं का पिण्ड छोड़कर', यह जो अंश कहा गया है, उसीकी विशद व्याख्या करते हैं।

हे महाभाग, आत्मा न तो कर्ता है और न भोक्ता ही है, इस प्रकार के निश्चय से कर्तृत्व आदि शंकाओं से रहित मनवाला होकर समयानुसार प्राप्त धर्म और अधर्म का जो पुरुष अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो पुरुष राग–द्वेष पैदा करनेवाली चेष्टा और सुख–दुःख की प्रयोजक धर्म–अधर्मरूप क्रियाका–फलाफल की इच्छा से रहित मन से–एकमात्र लोकसंग्रहार्थ आचरण करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। अहम्भाव से शून्य, निर्मल और मात्सर्यनिर्मुक्त जो पुरुष उद्वेग को छोड़कर मुनि की क्रियाओं से युक्त होकर मनन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। प्रारब्ध से अनुष्ठित हुए अश्वमेध आदि सत्कर्म और कलंजभक्षण आदि असत्कर्मों की दशा में 'मैं धार्मिक हूँ, मैं अधार्मिक हूँ', इत्यादि कुशंका से कल्पित धर्म और अधर्म के द्वारा जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो कहीं पर भी स्नेह नहीं रखता, जो साक्षी के सदृश निर्विकार रहता है, और जो प्राप्त कार्य का निरीह (निर्वासनिक) होकर बर्ताव करता है, वह पुरुष महाकर्ता कहा जाता है। उद्वेग और आनन्द से रहित जो पुरुष निर्मल समबुद्धि से शोकजनक परिस्थितियों में शोक नहीं करता और हर्षजनक परिस्थितियों में हर्ष नहीं करता, वह महाकर्ता कहा जाता है। अपने प्रारब्ध से जिस समय में जो भी कोई उचित कार्य प्राप्त हो जाय, उस समय में उस कार्य के लिए चेष्टा करने में तत्पर रहनेवाला, आसक्तिशून्य जो बुद्धिमान् मुनि है, वह महाकर्ता कहा जाता है। उदासीन होकर विहित और निषिद्ध कर्मों का स्वयं आचरण या दूसरों को आचरण कराने के लिए प्रेरणा कर रहा जो पुरुष–मन में आत्मा के अकर्तृत्वनिश्चय से–दोनों जगह समभाव से युक्त रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो स्वभाव से ही शान्त है, जो मित्र और शत्रुओं में शुभाशुभ का आचरण करने पर भी समता नहीं छोड़ता, वह महाकर्ता कहा जाता है। जन्म, स्थिति, विनाश आदि भावविकारों में तथा वृद्धि एवं ह्रास से युक्त शरीरों में आत्मबुद्धि के कारण जिसका मन एकरूप ही रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥११–२०॥

महाभोक्ता के लक्षण कहते हैं।

जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो किसीकी अभिलाषा नहीं करता और जो प्रारब्ध से प्राप्त हुए सुख, दुःख आदि सबका उपभोग करता है–वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण कर रहा भी अद्वय, असंग आत्मा में निष्ठा के कारण वास्तव में ग्रहण नहीं करता; हाथ, पैर आदि से लेनदेन, गमन आदि का आचरण कर रहा भी जो आत्मबुद्धि से आचरण नहीं करता एवं उपभोग कर रहा भी नित्यतृप्त आत्मा के दर्शन के कारण उपभोग नहीं करता–वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष खिन्नबुद्धि न होकर उदासीन साक्षी के सदृश समस्त लोकव्यवहारों को किसी प्रकार की इच्छा के बिना देखता रहता है – वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है ॥२१–२३॥ विक्षेप के हेतु सुख–दुःखों से; जय, पराजय आदि क्रिया–योगों से तथा लाभअलाभों से जिस पुरुष का चित्त

विक्षेप को प्राप्त नहीं होता – वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष जरा, मरण, आपत्ति, राज्य और दारिद्रय आदि सबको ब्रह्मदृष्टि से रम्य ही समझता है – वह महाभोक्ता कहा जाता है। जैसे समुद्र भिन्न-भिन्न जलों को समानरूप से ग्रहण करता है वैसे ही जो मनुष्य बड़े-बड़े सुख-दुःखों को भोग के लिए समानरूप से (तुल्यवृत्ति से) ग्रहण करता है – वह महाभोक्ता कहा जाता है। चन्द्रबिम्ब से जैसे किरणें उदित न होती हुई भी उदित होती हैं वैसे ही जिस पुरुष से अहिंसा, समता, सन्तुष्टि आदि गुण वस्तुतः उदित न होते हुए भी उदित होते हैं – वह महाभोक्ता कहा जाता है। कड़ुआ, खट्टा, नमकीन, तीखा, अदिव्य, दिव्य, उत्तम (सुस्वाद) या अधम (अस्वादु निकृष्ट) भी अन्न जो पुरुष समान बुद्धि से खा लेता है – वह महाभोक्ता कहा जाता है। सरस और नीरस तथा सुरत और विरत को (रतिविघात को) जो सौम्य पुरुष एक सा देखता है – वह महाभोक्ता कहा जाता है। क्षारयुक्त तथा चीनी से बनाये गये नानाविध भक्ष्य पदार्थों में एवं शुभ या अशुभ वस्तुओं में जिस पुरुष की निश्चल समता रहती है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। यह पदार्थ भोजन करने योग्य है और यह भोजन करने योग्य नहीं है, इस तरह की विकल्पभावना को छोड़ करके जो पुरुष अभिलाषाओं से शून्य होकर भोजन करता है – वह महाभोक्ता कहा जाता है। आपत्ति, सम्पत्ति, मोह तथा आनन्ददायक उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट अन्न या वस्तु का जो – सर्वत्र एकरूप ब्रह्मदृष्टि से – उपभोग करता है – वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है। धर्म, अधर्म, सुख, दुःख तथा जन्म एवं मरण का जिस पुरुष ने निरतिशयानन्द पूर्णाद्वयात्म बुद्धि से त्याग कर दिया है – वह महात्यागी कहा जाता है। सम्पूर्ण इच्छाओं, समस्त शंकाओं, वाणी, मन और शरीर की सभी चेष्टाओं तथा सर्वविध निश्चयों का जिस पुरुष ने अपनी बुद्धि से भलीभाँति त्याग कर दिया है – वह महात्यागी कहा जाता है। देह, मन, इन्द्रियों तथा मन की स्थिति की सत्ता का तत्-तत् दुःखों के साथ जिसने मिथ्यात्वबुद्धि से परित्याग कर दिया है – वह महात्यागी कहा जाता है। शरीर मेरा नहीं है, मेरा जन्म भी नहीं हुआ है, इष्ट और अनिष्ट के आचरणरूप विहित और निषिद्ध कर्म भी मेरे नहीं है – यों अपने हृदय में जिस पुरुष ने दृढ़ निश्चय कर लिया है –वह महात्यागी कहा जाता है। जिस पुरुष ने धर्म और अधर्म (शारीरिक) तथा वाणी आदि द्वारा चेष्टित (मानसिक) सब विषयों का परित्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। जितनी यह सम्पूर्ण दृश्य कलना दिखाई दे रही है उसका जिस पुरुष ने अच्छी तरह से त्याग कर दिया है – वह महात्यागी कहा जाता है ॥२४-३८॥

अब उपसंहार करते हैं।

हे अनघ, देवदेवेश भगवान् शंकर ने बहुत दिन पहले भृंगीश को इस तरह का (पूर्वोक्त रीति का) उपदेश दिया था। हे रामजी, आप भी इसी दृष्टि का अवलम्बन कर सांसारिक तापों से शून्य होकर अवस्थित रहिये ॥३९॥

जिस भावना से पुरुष अनायास महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी बन जाता है, उस भावना का श्रीरामजी को उपदेश देते हैं।

हे श्रीरामजी, अज्ञानरूप अंजन से शून्य निर्मल स्थिति को प्राप्तकर आप यह भावना कीजिये कि सदा प्रकाशमान, निर्मलस्वरूप, आदि और अन्त से शून्य केवल परब्रह्म ही अन्त में विद्यमान रहता है, ब्रह्म से अतिरिक्त कल्पनाजनित कुछ भी पदार्थ नहीं है। इस प्रकार की निरन्तर भावना कर कल्पनारूपी

मलों से निर्मुक्त वृत्तिवाले होकर निर्वाण पद को प्राप्त कीजिये ॥४०॥ हे प्रिय, इस संसार में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह सब कल्पों में प्रसिद्ध कार्य और कारण का मूल कारण निर्विकार परमात्मस्वरूप परब्रह्म ही है। वह बड़े-बड़े अनेक सर्गों से विशाल आकारवाला होनेपर भी असल में आकाशरूप ही है, यानी सम्पूर्ण विकल्पों से निर्मुक्त ही है। चूँकि कहीं पर कुछ भी पदार्थ चाहे वह स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो या चाहे कारणरूप हो, सदैकरस परब्रह्म से भिन्न किसी तरह नहीं हो सकता, इसलिए हे साधो, आप 'मैं सद्रूप ब्रह्म हूँ', इस प्रकार का अपने अन्दर निश्चय करके सर्वप्रथम समाधि के अभ्यास का बल प्राप्त कर स्थित रहिये। तदनन्तर फिर क्रम से सप्तम भूमिका के ऊपर चढ़कर सम्पूर्ण आशंकाओं के विलास को छोड़कर बैठ जाइये ॥४१,४२॥ हे साधो, यदि आप अन्तर्मुख होकर अहंकारशून्य स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं, तो बाहर के समस्त कार्यों का निरन्तर सम्पादन करते हुए भी आप कभी भी खेद को नहीं प्राप्त होते हैं ॥४३॥

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सोलहवाँ सर्ग

गल रहे तथा गलित हुए चित्त के लक्षणों का वर्णन।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे सर्वधर्मज्ञ, हे भगवन्, अहंकार नामक चित्त जिस समय गलित हो जाता है या गलने लग जाता है उस समय हुए वासनाशून्य मन का क्या स्वरूप होता है ? ।१॥

यों श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा पूछे जाने पर, मोह आदि दोषों का क्षय ही पहले मुख्य स्वरूप है, ऐसा महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, शुभ्र (वासनाशून्य) मन को परीक्षा करने के लिए दूसरों के द्वारा जबर्दस्ती पैदा कराये गये भी – लोभ, मोह आदि दोष उस तरह लिप्त नहीं कर सकते, जिस तरह जल कमल को लिप्त नहीं कर सकते ॥२॥

सदा मुख की प्रसन्नता भी उसका लक्षण है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, ज्ञानाग्नि से विवादहेतु पापरूप अहंकारनामक चित्त के विलीन हो जाने पर प्रसन्नता आदि शोभाएँ मुख को नहीं छोड़ती ॥३॥

कही हुई बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहे महाराज वसिष्ठजी दूसरे लक्षण भी कहते हैं।

(चित्त के नष्ट हो जाने पर) वासनाओं की गाँठे छिन्न-भिन्न-सी होकर धीरे-धीरे बिलकुल टूटने लग जाती है। क्रोध कम होने लग जाता है और मोह तो निःसन्देह मन्दता को प्राप्त हो जाता है। काम थक जाता है और लोभ तो न जाने कहाँ भाग जाता है, इन्द्रियाँ खूब उल्लसित नहीं होतीं और न खेद ही अधिक स्फुरित होता है। उस समय दुःख बढ़ते नहीं और सुख अभिमानी बनाते नहीं है। हृदय में ठण्डक पहुँचानेवाली समता सब जगह उदित होती है ॥४-६॥

ज्ञानियों के मुख पर भी सुख-दुःख के चिह्न प्रसाद और मालिन्य आदि किसी समय दिखाई देते हैं जैसे कि दुर्वासा ऋषि का शाप सुनने पर कुम्भ तथा राजा शिखिध्वज के मुख पर अथवा विश्वामित्र के द्वारा हरिश्चन्द्र को ठगने पर तथा पुत्र को मारने पर वसिष्ठजी के मुख पर उदासी साफ झलक रही थी,

ऐसी दशा में 'प्रसन्नता आदि शोभाएँ मुँह को नहीं छोड़ती' यह आपका लक्षण कैसे घटता है ? यदि ऐसी आशंका की जाय, तो उस पर कहते हैं।

ये सुख, दुःख आदि यदि दिखाई देते भी हैं, तो फिर वे दिखाईमात्र ही देते हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष की दृष्टि में तुच्छ होने के कारण उसके मन को वे लिप्त नहीं कर पाते हैं। भोग करानेवाले प्रबल प्रारब्ध से दुःख और दुःख के चिह्न मालिन्य की आभा का कभी उदय होने पर भी अगले क्षण में ही मिथ्यात्वबुद्धि से उनके बाधित हो जाने पर ज्ञानी पुरुष के चित्त को वे लिप्त नहीं कर पाते, इसलिए ज्ञानियों के मुख पर जो स्वाभाविक प्रसन्नता रहती है, उसका विघात नहीं होता, यह तात्पर्य है ॥७॥ चित्त गल जाने पर साधु पुरुष देवताओं का भी स्पृहणीय बन जाता है। इस पुरुष के हृदय में शीतल चांदनीरूपी समता उदित होती है ॥८॥ ऐसा साधु पुरुष यों ही स्वभावतः उपशान्त, कमनीय, सेव्य, अप्रतिरोधी (दूसरे की अभिलाषा का विघात न करनेवाले) विनीत, बलशाली, स्वच्छ और महान् शरीर को धारण करता है। विभव और दरिद्रता से विषम, विचित्र और महान् होता हुआ भी यह संसारविभ्रम गलित-अहंकारवाले सज्जनों के प्रति न तो आनन्द के लिए है और न खेद के लिए है ॥९,१०॥

अब आत्मलाभ की अत्यन्त सुलभता दर्शा रहे महाराज वसिष्ठजी उसके लिए प्रवृत्त न हुए पुरुषों की निन्दा करते हैं।

बुद्धिरूपी प्रकाश से लभ्य इस परमात्मवस्तु में, जिसका लाभ होने पर समस्त आपत्तियाँ अस्त हो जाती हैं, जो मनुष्य मोह के कारण प्रवृत्त नहीं होता, उस नराधम को धिक्कार है ॥११॥

तब उसकी प्रवृत्ति में कौन-सा प्रथम उपाय है, यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो उस पर-विवेक और वैराग्य ही उसकी प्रवृत्ति में प्रथम उपाय है-यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, दुःखरूपी रत्नों का भंडार, जन्म और मरण से युक्त संसारसागर को पार करने की इच्छा रख रहे पुरुष के लिए निरतिशयानन्द आत्मा में चिरकाल तक समुचित विश्रान्ति पाने में 'मैं कौन हूँ' 'यह जगत् क्या है, परमात्मतत्त्व कैसा है ? इन तुच्छ भोगों से कौन-सा फल मिलेगा' यों निरन्तर खूब अभ्यस्त हुई विचार और वैराग्यरूपिणी मति ही परम उपाय अभिमत है, इसलिए उसीका आश्रय करना चाहिए, यह भाव है ॥१२॥

एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है, इस विचार में दृष्टान्तभूत मनु भगवन्
द्वारा वर्णित इक्ष्वाकु के विवेक का वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, इक्ष्वाकु वंश में समुत्पन्न आप के मूलपुरुष इक्ष्वाकुनामक राजा जिस तरह के विचार से मुक्त हो गये, उस विचार को आप सुनिये। अपने राज्य का परिपालन कर रहे इक्ष्वाकु नामक राजा किसी समय एकान्त में जाकर अपने मन से स्वयं यह विचार करने लगे। बुढ़ापा, मृत्यु, संक्षोभ, सुख, दुःख तथा नानाविध भ्रमों से पूर्ण स्थितिवाले इस दृश्य प्रपंच

का हेतु क्या है ? विचार कर रहे भी वह राजा जब जगत् के कारण को न समझ सके तब उन्होंने एक दिन ब्रह्मलोक से आये हुए सभा में बैठे तथा पूंजित हुए अपने पिता प्रजापति मनु से पूछा ॥१–४॥

इक्ष्वाकु ने कहा : हे भगवन्, आपकी दया ही आपसे धृष्टतापूर्वक पूछने के लिए मुझे प्रेरित कर रही है। हे करुणानिधे, यह सृष्टि कहाँ से आई है, इसका स्वरूप कैसा है, यह संख्या और परिमाण से कितनी बड़ी है, किस भोक्ता तथा स्वामी की यह भोग्य बनी हुई है। कब किसने इसकी रचना की है इत्यादि सब आप वैदिक रीति से अच्छी तरह कहिये। अर्थात् वेद आदि के आधार पर चले आ रहे उपदेशपरम्परारूप सम्प्रदाय के अनुसार जो आपको मालूम हुआ हो उसी का आप वर्णन कीजिये, तर्क से नई कल्पना करके कुछ कहने की दया न कीजिये। हे भगवन्, सघन दूर तक बिछाये गये जाल से पक्षी की नाईं इस विषम संसारजाल से मैं किस तरह मुक्त हो सकूँगा ? मनु ने कहा : हे राजन्, अहो चिरकाल के बाद सुन्दर विकासयुक्त विवेक होने पर तुमने यह ऐसा प्रश्न किया है, जो मिथ्याभूत अनर्थों का उच्छेद कर देनेवाला तथा सब प्रश्नों का सार है ॥५–८॥

उन प्रश्नों में सर्वप्रथम तत्त्वोपदेश में अत्यन्त उपयोगी होने के कारण 'स्वरूपं चास्य की दृशम्' (इस जगत् का स्वरूप कैसा है) इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

हे महीपते, जो कुछ यह दिखाई दे रहा है, वह वस्तुतः कुछ भी नहीं है। यह गन्धर्वनगर तथा मरुस्थल में जल जैसा अवस्थित है। भाव यह कि मिथ्याभूत जगत् का जो असत्स्वरूप है वह सर्वथा असत् ही है ॥९॥

अपने उपादान कारण में परमसूक्ष्मरूप से स्थित कार्य ही अपने कारणों के द्वारा आविर्भूत होता है – ऐसा सांख्यवादी लोग कहते हैं और वेदान्ती लोग कहते हैं कि सद्ब्रह्म ही जगद्रूप से सृष्टि में सम्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहते हैं कि जगत् कुछ भी नहीं है ? इन दोनों में सांख्यवादी के प्रति कहते हैं।

साक्षी या इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु दिखाई नहीं देती वह किसीभी रूप से, प्रमाण न होने के कारण, अपने उपादान कारण में स्थित नहीं है। षष्ठ मननामक इन्द्रिय से अतीत होने के कारण उसकी सम्भावना भी नहीं है ॥१०॥

वेदान्ती के प्रति कहते हैं।

हाँ, इस सृष्टि में अविनाशी जो पर वस्तु है, वह तो स्थित है ही, वही 'सत्', 'आत्मा' इत्यादि नामों से कही जाती है ॥११॥ हे राजन्, यह सम्पूर्ण दृश्यों से भरी हुई सृष्टिपरम्परा उसी सदात्मस्वरूप महान् दर्पण में प्रतिबिम्ब को प्राप्त हो गयी है (&) ॥१२॥

तब 'बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि संकल्प करके ब्रह्म में जगत् और जीवभाव का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति का क्या अभिप्राय है, इस आशंका पर कहते हैं।

तेज के स्वभाव से उत्पन्न हुई ब्रह्म की स्फुरणशील कोई शक्तियाँ तो स्थूल समष्टि के अभिमान

(&) दर्पण की सत्ता जैसे प्रतिबिम्बों में है वैसे ही संसर्गाध्यास से ब्रह्म की सत्ता से अनुविद्ध यद्यपि जगत् है, तथापि इसकी स्वतः सत्ता नहीं ही है, इसलिए 'तन्नास्ति नृप किंचन' यह जो कहा गया है वह बिलकुल ठीक ही है, यह भाव है।

से ब्रह्माण्डरूप में विवर्तित हो जाती हैं; कोई पृथिवी आदि के अभिमान से प्राणिरूपता को प्राप्त हो जाती हैं और इनसे अतिरिक्त जो कोई शक्तियाँ हैं वे अन्यता को यानी चार तरह के प्राणियों के रूप में प्राप्त हो जाती हैं इस तरह जगत् की स्थिति होती है ॥१३॥

मिथ्याभूत उपाधियों में भ्रान्ति के कारण चिदाभासों की कल्पना की गयी है, वस्तुतः उनकी प्रसक्ति नहीं है, इसको कहते हैं।

इस संसार में न तो किसीका बन्ध है और न मोक्ष है, केवल एकमात्र सब विकारों से शून्य ब्रह्म ही है। इसमें न तो ऐक्य है और न द्वित्व ही है, केवल संवित्सार ही विलसित हो रहा है। ।१४॥

उक्त द्वितीय प्रश्न के उत्तर का उपसंहार करते हैं।

जैसे एक जल तरंगभेदों से स्फुरित होता है वैसे ही चिद्रूप ब्रह्म भी जगत् के नानाभेदों से स्फुरित होता है और वह मायामात्र होने से कुछ भी नहीं है, इसलिए हे राजन् बन्ध और मोक्ष के भ्रम को दूर फेंककर जिसको संसार का भय है ही नहीं, ऐसा तुम अभयरूप ब्रह्मसार ही हो जाओ ॥१५॥

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अठारहवाँ सर्ग

कहाँ से कब किसकी किसके द्वारा यह सृष्टि हुई है
इत्यादि प्रश्नों का उत्तर तथा आत्मदर्शन के उपायों का मनु द्वारा वर्णन।

सबसे पहले शुद्ध संवित् के जीवभाव में निमित्त बतलाते हैं।

मनु ने कहा : हे राजन्, जैसे जल तरंगरूपता को प्राप्त होता है, वैसे ही तत्-तत् संस्कारों से विचित्र अविद्या में शुद्धचैतन्य की प्रतिबिम्बस्वरूप संवित्तियाँ संकल्प की ओर उन्मुख होती हुइ जीवस्वरूपता को प्राप्त होती हैं॥१॥ उपाधिरूप से आविर्भूत हुए इस संसार में (समष्टि और व्यष्टिरूप मन के कार्य में) वे जीव चक्कर काटते-फिरते हैं। यदि सचमुच पूछा जाय तो सुख-दुःख की दशाओं का मोह मन में रहता है, आत्मा में नहीं ॥२॥

अदृश्य आत्मा दृश्य मन में या सांसारिक दुःखों से पूर्ण प्राणी अविवेक रहने पर अथवा विवेक होने पर संसार के दुःखों से विमुक्त हुआ जीव कैसे दिखाई देता है, यदि ऐसी आशंका की जाय, तो उस पर कहते हैं।

जैसे ग्रसित हुए चन्द्रमा के कारण अदृश्य भी राहु दिखाई देता है वैसे ही दृश्य अन्तःकरण तथा चरमसाक्षात्काररूप उसके परिणाम के कारण अनुभवमात्रस्वरूप आत्मा भी दिखाई देता है। परमेश्वर न तो अनेक शास्त्रों के द्वारा दिखाई देता है और न गुरु के द्वारा ही दिखाई देता है वह तो अपनी सत्त्वस्थ (अहन्ता-ममता से शून्य) बुद्धि से ही अपने आप दिखाई देता है ॥३,४॥

देहेन्द्रियादि में अहन्ता और ममता की शून्यता किस तरह देखनी चाहिए, इसे दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट बतलाते हैं।

जैसे मार्ग में राग-द्वेषशून्य बुद्धि से पथिक देखे जाते हैं वैसे ही अपनी सत्त्वस्थ बुद्धि से ही इन अपनी इन्द्रिय आदि का अवलोकन करना चाहिए। सज्जनों को इनमें आदर बुद्धि कभी न रखनी

चाहिए और न इन्हें उपवास आदि के द्वारा सताना चाहिए। पदार्थमात्रता में आविष्ट (जैसे वे हैं वैसे) वे सुखपूर्वक रहा करें। हे राजन्, अपनी बुद्धि से देहादि पदार्थमात्र का (उदासीन पदार्थ साधारण का) दूर से ही त्यागकर अपने अन्तःकरण को शीतल बनाकर शुद्ध आत्मदृष्टि से आत्मभाव प्रचुर हो जाओ। 'देह मैं ही हूँ' यह जो बुद्धि है वह संसार में फँसानेवाली है, इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को ऐसी बुद्धि कभी नहीं अपनानी चाहिए। किंचिन्मात्र भी कलंक जिसमें नहीं है ऐसा जो चिन्मात्रस्वरूप है उसी रूप का मैं आकाश से भी सूक्ष्म हूँ – यह जो नित्य बुद्धि है वह संसार में फँसानेवाली नहीं है ॥५–९॥

बाहर और भीतर असंग चिति के प्रवेश से जड़ जगत् के स्फुरण में अनुरूप दृष्टान्त बतलाते हैं।

जैसे निर्मल जल के बाहर और भीतर सब जगह प्रकाशक तेज रहता है, वैसे ही सब वस्तुओं में बाहर और भीतर सब जगह आत्मा रहता हैं। जैसे अंगद (केयूर) आदिरूप आभूषणों का आकार सुवर्ण के ही अवयवों का एक वैचित्र्य है, वैसे जगत् तथा इसकी जड़ मायारूप आकार भी आत्मा की ही कलाओं का एक वैचित्र्य है ॥१०,११॥

कालरूपी समुद्र के लिए आत्मा में अगस्त्य मुनि का आरोप करना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिये काल को ही जगद्रूपी नदियों का उपसंहारस्थान (समुद्र) कहते हैं।

विनाशरूपी बडवाग्नि से आक्रान्त भयंकर कालरूपी सागर में प्राणिसमूहरूपी तरंगोंवाली जगज्जालरूपी नदियाँ यद्यपि मिल जाती हैं। तथापि सम्पूर्ण जगज्जाल का भक्षक होने पर भी आज तक जिसकी तृप्ति न हो सकी, ऐसे कालरूपी सागर का जो पानकर्ता है, उस आत्मस्वरूपी महाअगस्त्य की हे राजन्, आप सदा–भावना करते रहिये। अनात्मभूत इस देहादि दृश्यसमूह में आत्मता का त्यागकर यानी इस देहादि दृश्यसमूह को आत्मा न समझकर निर्वासनिक भाव में उपारूढ़ हो करके गूढ़रूप से सुखपूर्वक स्थित रहिये ॥१२–१४॥

नित्यस्वरूप आत्मा का लाभ होने पर भी उसकी अलब्धताकी भ्रान्ति से मनुष्य को शोक होता है, इसको कहते हैं।

जैसे स्तनकोटर के ऊपर सोये हुए बच्चे को भूलकर उसकी माँ अपने बच्चे के लिए रोती है वैसे ही आत्मा के लिए यह मनुष्य रोता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर यह प्राणी आत्मा को अजर और अमर न जानकर 'हा, मैं मर गया, मैं अनाथ हो गया, हा अब तो मैं बिलकुल नष्ट ही हो गया' यों विलाप करता है। जैसे परिस्पन्द के कारण एक ही जल नाना प्रकार के आकारों में दिखाई देता है वैसे ही संकल्पवश से यह चिद्रूप ब्रह्म ही नाना प्रकार के आकारों में कार्यपरम्परा से बढ़ता है। हे पुत्र, तुम संकल्परूपी कलंकों से निर्मुक्त चित्त को आत्मा में स्थापित करके फिर उपशान्त–से होते हुए (क्योंकि उस समय समूल सम्पूर्ण संसार की उपशान्ति हो जाने पर भी प्रारब्ध भोगके उपयोगी उसके प्रतिभास का अवशेष रह जाता है) व्यवहार के लिए देहेन्द्रियादि का स्पन्दन होने पर भी उसकी आभासमात्रता होने से संस्पन्दशून्य ब्रह्म की नाईं इस व्यवहारपूर्ण भूमि में स्वस्थ और सुखी होकर स्थित रहो और इस राज्य का परिपालन करते रहो ॥१५–१८॥

एक सौ अठारहवाँ सर्ग मसाप्त

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग

विद्या और अविद्यारूपी आत्मशक्तियों के द्वारा सत्य और असत्य का निश्चय हो जाने से बन्ध और मोक्ष में पुरुष की स्वतन्त्रता रहती है, यह वर्णन।

'स्पन्देऽप्यसंस्पन्दमिवेह तिष्ठ' (इस व्यवहारभूमि में देहेन्द्रियादि स्पन्द होने पर भी स्पन्दशून्य ब्रह्म के सदृश स्वस्थ और सुखी बनकर रहो) इत्यादि जो कहा गया है सो यहाँ पर ब्रह्म माया द्वारा किसालेए स्पन्दित होता है और किसलिए स्पन्द से शून्य स्थित रहता है, इस तरह की इक्ष्वाकु की जिज्ञासु को चेष्टाओं से समझकर मनु महाराज कहते हैं।

मनु ने कहा : सर्वव्यापक यह परमात्मा प्रसवधर्मिणी अविद्याशक्ति से अविद्वानों के सामने स्वयंसृष्टिरूप क्रियाओं से बच्चों की नाईं क्रीड़ा किया करता है और विद्वानों के सामने सृष्टिसंहाररूप विद्याशक्ति से समूल सृष्टि का संहार करके कूटस्थ अद्वय आत्मा में सदैव स्थित रहता है ॥१॥

राग से प्रवृत्त हुए चेतन में जैसे सृष्टिशक्ति का उदय अपने आप होता है वैसे ही वैराग्य से निवृत्त हुए चेतन में संहारशक्ति का उदय भी अपने आप ही होता है, इसे कहते हैं।

राग से प्रवृत्त इसमें स्वयं ही ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे कि यह संसार के बन्धन में फँस जाता है तथा स्वयं ही वैराग्य से निवृत्त हुए उसमें ऐसी भी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे कि यह मुक्त हो जाता है ॥२॥

जिस ज्ञातात्मा की जीव, जगत् दोनों मे साधारण एक सत्तारूप से संभावना की जा रही है, उसमें होनेवाली विशेष बाह्य, आध्यात्मिक पदार्थों की कल्पना में दृष्टान्त देते हैं।

चन्द्र, सूर्य, अग्नि, तप्तलोह एवं रत्न आदि की प्रभा या ज्वाला; वृक्षों के पत्ते आदि तथा झरनों के कण जैसे कल्पित हैं, वैसे ही बृहत् इस ब्रह्म में जगत् की तथा ज़गत्–ग्राहक बुद्धि की विचित्रता भी कल्पित ही हैं। वही ब्रह्म अब्रह्म –जैसा होकर अज्ञानियों के लिए दुःखप्रद होकर अवस्थित है ॥३,४॥

सर्वव्यापक स्वयंप्रकाश आत्मा का दर्शन न होना तथा असद्रूप एवं प्रकाशशून्य जगत् का दर्शन होना, यह एक बड़ा भारी आश्चर्य है और इस तरह का आश्चर्य एकमात्र अघटितघटनापटीयसी माया के बल से ही हुआ है, इसे कहते हैं।

हे तात, अहो ! विश्व को मोह में डाल देनेवाली यह माया कैसी विचित्र है, जिसके बल से सम्पूर्ण अंगों में (बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों में) भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त भी आत्मा को यह जीव नहीं देख पाता ॥५॥

तब किस भावना से आत्मा को देखकर यह जीव सुखी होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर उस भावना को कहते हैं।

यह सारा संसार चिद्रूपी दर्पण है, (दर्पण में जैसे नगर आदि प्रातिभासिक हैं वैसे ही ब्रह्म में यह जगत् प्रातिभासिक ही है वास्तविक नहीं है।)

इंस तरह की भावना कर रहा जो प्राणी अपनी सारी इच्छाएँ नष्ट कर मोहरूपी हजारों बाणों से कभी भी न छूटनेवाली ब्रह्मरूपी कवच पहिने हुए रहता है वही सुखी है ॥६॥ (इस दुस्तर संसारसागर

को पार कर जाने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह) अहमर्थ से यानी अहंकार से विमुक्त तथा निर्मलसात्त्विक अन्तःकरण से 'सभी पदार्थ आकाश के सदृश निराधार चिद्रूप ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करें ॥७॥ भद्र, यह अच्छा है और यह अच्छा नहीं है, इस प्रकार की भावना ही आपके दुःख की कारण है। जब वह भावना सर्वत्र समदृष्टिरूपी अग्नि से जल गयी, तब दुःख की प्राप्ति ही कहाँ ? ॥८॥ हे राजन्, समाधि के अभ्यास से सभी पदार्थों की विस्मृति हो जाती है, इस विस्मृतिरूपी शस्त्र से प्रियअप्रियरूप विषमता की कल्पना को समदृष्टि की दृढ़ता द्वारा आप स्वयं ही काट डाले, क्योंकि वही राग-द्वेष की हेतु है ॥९॥ हे राजन्, तुम पहले समाधि से बाह्य अर्थों की भावना का और उसके हेतु धर्मअधर्म के जंगल का छेदन करो फिर उत्तम सूक्ष्मता (ब्रह्मभाव) प्राप्त कर शोकरहित हो जाओ ॥१०॥ हे पुत्र, सबसे पहले तुम सदसद्वस्तु के विवेक के विलास से युक्त होकर समाधि से समस्त बाह्य कल्पनाओं से निर्मुक्त हो जाओ तथा समस्त इन विशाल भुवनों को अपने पूर्ण आत्मा के स्वरूप से ओत-प्रोत कर दो। तदनन्तर असीम ब्रह्मरूप सुख के अभ्युदय को प्राप्त होकर उसके साथ एकरूप होते हुए संसाररूप रोग से शून्य होकर पाँचवीं और छठी भूमिकाओं में दीर्घकालतक स्थिर रहो और अन्त में सातवीं भूमिका में विक्षेपरूप विषमता की आत्यन्तिक शान्ति से जनित सम, शुभ्र और निर्मलाकार से युक्त हो तुम निर्भय चैतन्यशरीर बन जाओ ॥११॥

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बीसवाँ सर्ग

मुक्ति चाहनेवाले पुरुष के लिए आरम्भ की तीन, मुक्त होनेवाले के लिए चौथी और मुक्त हुए पुरुष के लिए आगे की तीन-यों सात भूमिकाओं का वर्णन ।

'परं समेत्य तानवम्' इस पहले सर्ग के श्लोकांश से भूमिका के अभ्यास का जो फल कहा गया है उस फल की प्राप्ति में कारणभूत जो अलग-अलग भूमिकाएँ हैं उनका वर्णन करते हैं।

मनु महाराज ने कहा : हे राजन्, सबसे पहले शास्त्र और सज्जनों की संगति से अपनी बुद्धि बढ़ानी चाहिए, यही योग की या योगी की पहली भूमिका कही गयी है। निष्कर्ष यह है कि साधनचतुष्टय की प्राप्ति तथा गुरु एवं सतीर्थ्य (सहपाठी) आदि की सहायता लेकर किया गया श्रवण ही पहली भूमिका है और यही उत्पत्ति प्रकरण में दर्शायी गयी है। मनन दूसरी भूमिका है, असंग अद्वितीय आत्मा की भावना यानी निदिध्यासन तीसरी भूमिका है और तत्त्वसाक्षात्कार से अज्ञान आदि निखिल प्रपंच की निवृत्ति करनेवाली विलापनी नाम की चौथी भूमिका है, यही चौथी भूमिका अविद्याविलयरूप कही जाती है। समाधि के परिपाक से हुआ विशुद्ध संविद्रूप प्रकाशमय जो आनन्द है उस आनन्द की स्वरूपभूत पाँचवीं भूमिका है, इस भूमिका में जीवन्मुक्त पुरुष आधे सोये या जागे हुए पुरुष के सदृश रहता है; जैसे निद्राशेष से आधा सोया हुआ पुरुष या आधा जागा हुआ पुरुष बाहर के शब्द आदि को जानते हुए भी भीतर से निद्रासुख में आसक्त होकर उत्तर-प्रत्युत्तर करने की इच्छा नहीं करता वैसे ही व्यवहारदशा में भी योगी इस भूमिका में आसक्त होकर बाह्य व्यवहारों से उदासीन ही रहता है ॥१-३॥ छठी भूमिका स्व-संवेदनरूप होती है यानी छठी भूमिका का स्वरूप स्वभावतः ही नष्ट न होनेवाली ब्रह्माकारानुभववृत्ति

है । इसका आकार एकमात्र आनन्दघन है और इसकी स्थिति सुषुप्त पुरुष की-सी रहती है । ब्रह्माकारानुभवात्मक वृत्तिरूप तुर्यावस्था (♨) (छठी भूमिका) भी जिसमें विलीन हो जाती है, ऐसी मुक्तिरूप अवस्था ही सप्तम भूमिका है, यही अवस्था समता, स्वच्छता और परिपूर्णतारूप है, इसमें केवल पूर्णस्वप्रकाशस्वरूप परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है । सबसे उत्तम मुक्तिरूप जो तुर्यातीत अवस्था है, वह जब विदेहमुक्ति में पर्यवसित हो जाती है, तब जीवित योगियों की विषय नहीं होती । इन सातों में जो पहले की तीन भूमिकाएँ विद्यमान हैं, वे जाग्रत्रूप ही हैं और चौथी जो भूमिका है वह तो स्वप्न ही कही गयी है, क्योंकि उसमें जगत् स्वप्न के सदृश रहता है । आनन्द के साथ एकीभाव हो जाने से पाँचवीं अवस्था सुषुप्तरूप है तथा अन्य पदार्थों के ज्ञान से रहित एकमात्र स्वसंवेदनरूप छठी भूमिका तुर्यशब्द से कही जाती है । तुर्यातीत शब्द से कहलानेवाली अवस्था सातवीं भूमिका सबसे अन्तिम है । यह अवस्था मन और वाणी से परे है तथा केवल स्वप्रकाशपरब्रह्मरूप ही है ॥४-९॥

सातवीं भूमिका में सब दृश्यों का प्रत्यगात्मा में ठीक-ठीक विलय हो जाने के कारण आत्यन्तिक जीवन्मुक्तता है, यह कहते हैं ।

हे राजन्, प्रसिद्ध सप्तम भूमिका के अवलम्बन से सब दृश्यों का प्रत्यगात्मा में विलयकर तुमने यदि चेत्य की भावना न की तो निश्चय मुक्त ही हो जाओगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ॥१०॥ क्योंकि शरीर रहे चाहे शरीर न रहे, इस निश्चय से विषय और विषयसंग से जनित सुख दुःखों से जिसकी बुद्धि आकृष्ट नहीं होती, वह जीवन्मुक्तमति पुरुष है, यह अटल सिद्धान्त है ॥११॥

सातवीं भूमिका में जीवन्मुक्त को कैसा अनुभव होता है, इसे कहते हैं ।

मैं न तो मरता हूँ न जीता हूँ, यह मैं न तो सत् हूँ या न असत् हूँ, ऐसे सुदृढ़ अनुभव से अपने स्वरूप में ही आराम करता हुआ वह पुरुष सप्तम भूमिका में स्थित रहता है । यही उसका मुक्त स्वरूप कहा गया है ॥१२॥ व्यवहार करता हो, चाहे व्यवहार से विरत हो, गृहस्थ हो, चाहे अकेला विचरण करनेवाला यति हो, परंतु पुरुष 'मैं असत् दृश्यरूप नहीं हूँ, किंतु विशुद्ध चैतन्यरूप हूँ' ऐसा निश्चय करने से सदा शोक से निर्मुक्त ही रहता है ॥१३॥ मैं लिप्त नहीं हूँ, अजर हूँ, नीराग हूँ, वासनाओं से शून्य हूँ और निर्मल चैतन्यरूप आकाश हूँ, ऐसा मानकर पुरुष शोक से छूट जाता है । मैं अन्त और आदि से रहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ, शान्त हूँ, सम-विषम सभी पदार्थों में एकरूप से प्रकाशमान हूँ, ऐसा मानकर पुरुष शोक से परे हो जाता है ॥१४,१५॥ अत्यन्त तुच्छ तृणों के अग्रभाग में, असीम आकाश में अत्यन्त प्रकाशशील सूर्य में, मनुष्यों में, नागों में, देवताओं में जो प्रसिद्ध सन्मात्रस्वरूप है, प्रत्यक्चिन्मात्रस्वरूप वही मैं हूँ, यों जानकर फिर इस संसाररूप शोक से ग्रस्त नहीं होता । ऊपर, नीचे एवं अगल-बगल सर्वत्र चिद्रूप मेरी ही महिमा व्यापकरूप से विद्यमान है, इस प्रकार असीम विलासोंवाले उस परमात्मा की महिमा जानकर कौन ऐसा पुरुष होगा, जो जन्म-मरण आदि दुःखों से युक्त रहेगा ? ॥१६,१७॥

जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं, उनका भी जीवन विषयोपभोग के अधीन है, अतः विषय का नाश होने

(♨) आरम्भ की तीन भूमिकाओं को एक मानकर छठी भूमिका के लिए चतुर्थार्थक तुर्यशब्द का प्रयोग किया गया है ।

पर जैसे अज्ञानी को दुःख प्राप्त होता है वैसे ही ज्ञानी को भी दुःख प्राप्त होगा, ऐसी आशंका कर कुछ विशेष कहने के लिए विषय का नाश होने पर ज्ञानी को दुःख की उत्पत्ति किस रीति से होती है, उसे बतलाते हैं।

दृढ़ आसक्ति लेकर अज्ञानी पुरुष जिस अर्थ का सेवन करता है वह उसे आपाततः सुख देता है। जो ऐसा अर्थ आपाततः सुखजनक होता है वह तत्क्षण ही नाश से दुःखजनक भी हो जाता है। इस रीति से यह बात सिद्ध हो गयी कि सुख और दुःख साथ–साथ ही चलते हैं ॥१८॥ चतुर्थादि भूमिकाओं में स्वल्प वासना से युक्त हो या सप्तम भूमिका में बिलकुल वासनारहित होकर जो पुरुष जिस अर्थ का सेवन करता है वह अर्थ उस पुरुष के लिए न सुखजनक होता है और न नाशकाल में दुःखजनक ही होता है ॥१९॥ हे अनघ, वासनानिर्मुक्त बुद्धि से जो कर्म किया जाता है वह कर्म जले हुए बीज के सदृश रहता है वह फिर अंकुर पैदा नहीं करता ॥२०॥ हे प्रिय, देह, इन्द्रिय आदि भिन्न–भिन्न जो कारण हैं उन्हीं के द्वारा कर्म किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में एक कर्ता और एक भोक्ता की उपपत्ति कैसे हो सकती है यानी जो समुदाय कर्म करता है वह समुदाय ही उस कर्मफल का भोक्ता हो सकता है, असंग अद्वितीय एकं आत्मा नहीं ॥२१॥ समस्त देह, इन्द्रिय आदि पदार्थों से अहन्ताध्यास को भलीभाँति हटाकर अलग हुआ चन्द्र के सदृश शीतल परिपूर्ण ज्ञानीपुरुष दीप्ति से सूर्य के सदृश चमकने लग जाता है ॥२२॥ देहरूपी सेमल के वृक्ष से की जा रही और की गयी कर्मरूपी रुई की राशि ज्ञानरूपी वायु से कम्पित होकर न जाने उड़कर कहाँ चली जाती है ॥२३॥ राजन्, जितने अज्ञान के अंश हैं (कलाएँ), वे सब यदि बार–बार उनका परिशीलन न किया जाय तो, नष्ट हो जाते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥२४॥ किंतु यह जो ज्ञानकला है, वह यदि भीतर एक बार उत्पन्न हो जाय, तो उर्वरा भूमि में बोये गये धान के सदृश बलपूर्वक दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है, नष्ट नहीं होती ॥२५॥ जैसे सरोवरों में या समुद्र में तरंग आदि के रूप में केवल स्वच्छ जल ही जल स्फुरित होता है, वैसे ही समस्त वस्तुओं में विश्वरूप एक आत्मा ही स्फुरित होता है, दूसरा नहीं, अतः हे प्रिय, यह जो सारा संसार है, उसे तुम तत्त्वज्ञान से अशेष संकल्पों से रहित सत्यरूप अद्वितीय ब्रह्म ही जानो ॥२६॥

एक सौ बीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग

जिस भावना से आकृष्ट होकर जीव संसार में फँस जाता है और जिस भावना से दूर होकर जीव संसार से मुक्त हो जाता है उन दोनों भावनाओं का मनुमहाराज द्वारा उत्तम निरूपण।

यदि आत्मा निरतिशयानन्दरूप ब्रह्म ही है, तब उसका जीव नाम कब तक रहता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं।

मनु महाराज ने कहा : हे राजन्, पुरुष को (आत्मा को) जब तक विषयभोग की अभिलाषा बनी रहती है, तभी तक उसका जीवनाम रहता है। यह अभिलाषा भी अविवेक के कारण ही उसे होती है, वास्तव में नहीं। जब विवेक से विषयभोग की अभिलाषा नष्ट हो जाती है, तब आत्मा अपना जीवरूप छोड़कर निर्विकार होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥१,२॥

एकमात्र भोग की अभिलाषा ही जीव को स्वर्ग, नरक आदि में खींच ले जाती है, अतः उसे छोड़ देना चाहिए, यों कहते हैं।

हे राजन्, कर्मवश से ऊपर के लोक से नीचे के लोक में तथा नीचे के लोक से ऊपर के लोक में दीर्घ काल तक आवागमन कर रहे तुम संसाररूपी रहट की भोगचिन्तारूपी रज्जु में घड़े के सदृश फँस मत जाओ ॥३॥

चिन्ता रज्जु का विषयों के साथ बन्धन बतलाते हैं।

'ये पुत्र, कलत्र आदि मेरे हैं और मैं इन पुत्र, कलत्र आदि का हूँ' इस तरह के मोह से व्यवहाररूपी दृढ़ भ्रम का जो मूर्ख सेवन करते हैं, वे नीचे से भी नीचे की ओर जाते हैं ॥४॥

बन्धन का अनुवाद कर, उसके मूल कारण तादात्म्यअध्यास को भी छुड़ा रहे मनु महाराज अध्यासत्याग का फल सर्वोत्कर्ष बतलाते हैं।

'पुत्र, कलत्र आदि का मैं सम्बन्धी हूँ और पुत्र, कलत्र आदि परिवार मेरा सम्बन्धी है, मैं ऐसा हूँ' इस तरह का मोह जिन लोगों ने बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया है, वे महानुभाव ऊपर से भी ऊपर की ओर जाते हैं। हे नृप, अपने आप ही प्रकाशित हो रहे अपने स्वरूप का शीघ्र ही आश्रय कर बैठ जाओ और समस्त जगत् को परिपूर्ण चिदाकाशरूप ही देखो। जिस समय में ही तुम उस प्रकार के पूर्ण तथा अखण्डित चैतन्यात्मा का स्वरूप जान जाओगे, उसी समय संसार तर जाओगे और परमेश्वररूप हो जाओगे ॥५–७॥

जीवात्मा जगत् का तो कर्ता है नहीं, फिर वह परमेश्वररूप कैसे बन जायेगा ? इस शंका पर कहते हैं।

ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु और वरुण जिस–जिस वस्तु का निर्माण करने के लिए उद्यत हैं, उन सबका चिद्रूप मैं ही निर्माण करता हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिए ॥८॥

ये जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब असत्य हैं, उनमें तत्त्ववेत्ता पुरुष अपनी कर्तृत्व की कैसे भावना करेगा, ऐसी यदि किसी को आशंका हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि जितनी कल्पनाएँ हैं, वे आत्मा की सत्यता से सत्य हैं, इस आशय से कहते हैं।

जो–जो दर्शनशास्त्र हैं, चाहे वे वैदिक हों चाहे अवैदिक, उनमें जिस समय जिस–जिस मत का प्रतिपादन किया जाता है, हे पुत्र, वह सब सत्य ही है, क्योंकि चिद्–विलास पर किसी तरह का अंकुश नहीं है ॥९॥

संसार के पार हो जाने से कौन–सा लाभ है, इस पर कहते हैं।

जो पुरुष ब्रह्मचैतन्यस्वरूप बन गया है, अतएव जो संसाररूपी मृत्यु से पार हो चुका है और जिसका चित्त विलीन हो गया है, ऐसे महापुरुष को जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसकी उपमा किस आनन्द से दी जा सकती है यानी उसकी उपमा हो ही नहीं सकती। निष्कर्ष यह हाथ लगा कि संसार के पार हो जाने से पुरुष को निरूपम परमानन्द की प्राप्ति उत्तम लाभ है ॥१०॥

ब्रह्म की सत्यता को लेकर यदि आप जगत् को शून्यरूप नहीं मानते, तो द्वैतरूप आपत्ति आ जायेगी। यदि 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति के आधार पर जगत् को शून्यरूप मानते हैं, तो सबको पैदा

करनेवाले परमेश्वर की रूपता नहीं बन सकती। और यदि जगत् चैतन्य का रूप नहीं है, तो चैतन्य का कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि नीरूप का कहीं पर भी ज्ञान नहीं होता। यदि जगत् को चैतन्य का रूप मान लिया जाय, तो चैतन्य सविकार हो जायेगा। यदि जगत् आत्मरूप न माना जाय, तो असंग आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध न हो सकने से आत्मा की सत्ता और स्फूर्ति जगत् में हो नहीं सकेगी। यदि आत्मरूप मानें, तो जगत् का ज्ञान से बाध नहीं हो सकेगा, इत्यादि दोषों का – अनिर्वचनीयतावाद का अवलम्बनकर परिहार करते हैं।

यह जगत् न तो अशून्यरूप है, न शून्यरूप है, न अचिद्रूप है, न चिद्रूप है, न आत्मरूप है और न अनात्मरूप ही है, किंतु अनिर्वचनीय है, यों भावना करते हुए तुम स्थित रहो ॥११॥

तब जगत् किस तरह से शान्त हो जाता है, इस पर कहते हैं।

इस आत्मा का पारमार्थिकस्वरूप प्राप्त कर यानी प्रत्यक्ष कर अविद्या शान्त हो जाती है। कोई मोक्ष नामका न तो प्रदेश है, मोक्ष नाम का न कोई काल है और न कोई स्थिति ही मोक्ष नामवाली है। यह जो वासनारूपी प्रकृति (अविद्या) है, वह अहंकाररूपी मोह के विनाश से विलीन हो जाती है और यह अविद्या विलय ही प्रसिद्ध मोक्ष है ॥१२,१३॥

जब अविद्या का नाश हो जाता है, तब पुरुष की स्थिति कैसी रहती है, इस पर कहते हैं।

जब योगी पुरुष की अविद्या नष्ट हो जाती है, तब उसकी नाना प्रकार के शास्त्रार्थों के विचार की चंचलता नष्ट हो जाती है, काव्य, नाटक आदि विषयों की उत्कण्ठा नष्ट हो जाती है और उसके सारे विकल्पविभ्रम विलीन हो जाते हैं। वह केवल समभाव में निष्ठा रखकर ब्रह्मरूप होकर सुखपूर्वक अवस्थित रहता है ॥१४॥

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ बाईसवाँ सर्ग

सुदृढ़ आत्मबोध से सम्पन्न तथा तुरीयातीत पद में स्थित
जीवन्मुक्त यति की दिनचर्या का लक्षणों से मनु द्वारा वर्णन।

'निरस्तनिःशेषविकल्पविप्लवा' (उसके सारे विकल्पविभ्रम विलीन हो जाते हैं।) इत्यादि से जो योगी की स्थिति कही गयी है, उसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

मनु ने कहा : जिस किसी पुरुष के द्वारा वस्त्रों से ढक दिया गया, जिस किसी पुरुष के द्वारा खिला दिया गया तथा जहाँ–कहीं सो जानेवाला योगी, सम्राट् की नाईं, (📖) सुशोभित होता है ॥१॥

उसके अर्थ सिद्ध विद्वत्संन्यास का वर्णन करते हैं।

(📖) सम्राट की नाईं यानी मनुष्यों के आनन्द की परमावधि में पहुँचे हुए राजा नी नाईं। यह उपमा अज्ञानियों की दृष्टि से दी गयी है, तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि से तो उस तरह के जीवन्मुक्त यति के आनन्द की उपमा ही नहीं है; क्योंकि 'यतो वाचो निर्वतन्ते' इत्यादि श्रुति से हिरण्यगर्भ के आनन्द तक विषयानन्दरूपी जलबिन्दुओं का महासागर बतलाकर उस परमानन्द की कोई सीमा है ही नहीं, यह प्रतिपादन किया गया है।

वर्णों एवं आश्रमों, धर्मों तथा आचारों से रहित और शास्त्रों के नियमन से वर्जित वह संन्यासी जगज्जाल से यानी ऐहिक और पारलोकिक क्रियाओं के कर्तृत्व की तथा उनके फल भोक्तृत्व की वासनाओं से, पिंजड़े से सिंह की नाईं निकल जाता है। एकमात्र निरतिशयानन्द के अनुभव का विषय यानी निरतिशयानन्दरूप अतएव विषय की आशादशाओं से निर्मुक्त यानी अत्यंत विरक्त हुआ पुरुष, शरत्-काल में आकाश की नाईं, किसी निरूपाधिक शोभा को प्राप्त हो जाता है। पर्वत के ऊपर स्थित महासरोवर की तरह गम्भीर और प्रसन्न तथा निरन्तर ब्रह्मानन्द के आस्वादन से च्युत न हुआ योगी अपनी आत्मा में ही अपने स्वरूप से रमण करता रहता है। सम्पूर्ण कर्मों के फलों का त्याग करनेवाला नित्यतृप्त और निराश्रय वह योगी पुरुष न तो पुण्य से, न पाप से और न हर्ष-विषाद आदि से ही लिप्त होता है। जैसे स्फटिक मणि किसी प्रतिबिम्बभूत नील, पीत आदि द्रव्यविशेष से रंजन को प्राप्त नहीं होता यानी प्रतिबिम्बभूत किसी द्रव्य के रंग को धारण नहीं करता वैसे ही ब्रह्मज्ञानी भी कर्मफल से अपने अन्तःकरण में किसी के रंग को धारण नहीं करता ॥२-६॥

उसीको स्पष्ट बतलाते हैं।

भिन्न-भिन्न जाति के जनसमूह के व्यूह में विहार कर रहा, भेद और अभिमान से रहित ब्रह्मज्ञानी, प्रतिबिम्ब में किये गये छेदन पूजन की नाईं, अपनी देह के छेदन और गन्ध-पुष्प आदि के द्वारा पूजन से खेद और आह्लाद को नहीं जानता। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानी देह के छेदन से किसी तरह के खेद का या गन्धादि के द्वारा पूजन से किसी तरह के आह्लाद का अनुभव नहीं करता, कारण कि वह छेदन और पूजन दोनों को देह के प्रतिबिम्ब के समान मिथ्या समझता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष पूजित होने पर भी पूजा करनेवाले की स्तुति (प्रशंसा) नहीं करता तथा पूजा से रहित हुआ भी वह किसी तरह के विकार को प्राप्त नहीं होता। वह सम्पूर्ण आचारों और सब नीतियों के क्रमों से कभी संयुक्त और कभी वियुक्त भी रहता है। उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष से संसार उद्विग्न नहीं होता - भय नहीं करता और न वही संसार से उद्विग्न होता है। राग-द्वेष के कारण विषयों से उत्पन्न भय और आनन्द से वह कदाचित् प्रबल प्रारब्ध रहने के कारण संयुक्त और वियुक्त भी रहता है। वह महान् आशयवाला ब्रह्मज्ञानी कुशलबुद्धि पुरुष के भी प्रमितिविषय में स्वयं अन्तर्भूत नहीं होता अर्थात् बड़े-बड़े तीक्ष्ण बुद्धिवाले पुरुष भी तत्त्वतः उस ब्रह्मज्ञानी की सीमा जान नहीं सकते। किंतु व्यवहारतः तो एक छोटा बच्चा भी उसे प्रमिति का विषय बना डालता है यानी थोड़े से भी अनुवर्तन से उसको अपने वश में कर डालता है। इसमें कारण यह है कि शुद्ध चित्त होने के कारण वह ब्रह्मवेत्ता अत्यन्त सरल है ॥७-१०॥

ज्ञानकाल में ही मुक्ति तथा देहादि का बाध हो जाने से ज्ञानी को फिर मुक्ति के लिए किसी तीर्थ आदि की या देह-त्याग की चिन्ता ही नहीं रहती, यह कहते हैं।

हे राजन्, वह ज्ञानी पुरुष अपने शरीर का किसी पुण्य तीर्थ में त्याग कर दे या किसी चाण्डाल के घर में भी जाकर त्याग कर दे अथवा कभी भी शरीर का त्याग न करे या वर्तमान क्षण में ही त्याग कर दे, फिर भी वह अन्तःकरणशून्य पुरुष ज्ञानप्राप्तिकाल में पहले ही मुक्त और विदेह हो चुका है ॥११॥

उसके उपपादन के लिए बन्ध और मोक्ष का स्वरूप कहते हैं।

क्योंकि अहंकार की भ्रान्ति सांसारिक बन्धन के लिए है यानी अहंभ्रान्ति बन्ध है और ज्ञान से

अहंकार का नाश मोक्ष है। विभूति और वैभव चाहनेवाले पुरुष को यत्नपूर्वक उस ब्रह्मज्ञानी की पूजा, स्तुति, नमस्कार, दर्शन और अभिवादन करना चाहिए ॥१२,१३॥

उस जीवन्मुक्त ज्ञानी का पूजन ही परम पुरुषार्थ दिलानेवाले ज्ञान में हेतु भी है, यह कहते हैं।

हे प्रिय पुत्र, जिनके सांसारिक रोग क्षीण हो गये हैं, ऐसे जीवन्मुक्त सज्जनों के पूजन से जो परम पवित्र पद ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जाता है वह न तो यज्ञों और तीर्थों से प्राप्त किया जाता है एवं न तपस्याओं तथा दानों से ही प्राप्त किया जाता है ॥१४॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, यों कहकर मनु भगवान् मेरुशिखर के ऊपर चले गये और इक्ष्वाकु भी उस दृष्टि का अवलम्बन कर स्थिर हो गये ॥१५॥

एक सौ बाईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ तेईसवाँ सर्ग

अज्ञानी अन्य सिद्धों की अपेक्षा ज्ञानी के परिपूर्ण होने से उसको आकाशगमन और अणिमादि सिद्धियों की इच्छा ही नहीं होती, इस विशेष बात का वर्णन।

कहे गये लक्षणोंवाले जीवन्मुक्त पुरुष में मणि, मन्त्र आदि के द्वारा सिद्ध हुए पुरुषों की नाईं आकाशगमन आदि सिद्धिरूप भी कोई विशेष है या नहीं इस तरह के सन्देह से युक्त श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

हे आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवन्, जैसा कि आपने जीवन्मुक्तों के लक्षणों का वर्णन किया है वैसा ही यदि है, तो आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष में (अन्य सिद्धों की अपेक्षा) कौन-सा विशेष रहता है ? ॥१॥

उस जीवन्मुक्त पुरुष में अन्य सिद्धों द्वारा अनुभूत न होनेवाला निरतिशयानन्द अनुभव ही विशेष है, इस आशय से उत्तर देते हैं।

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुष की बुद्धि अन्य सिद्धों के अगम्य विषय में (परमात्मतत्त्वांश में ही) दृढ़रूप से जम जाती है, यही कारण है कि नित्यतृप्त शान्तचित्त होकर वह अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है और कुछ नहीं चाहता ॥२॥

मन्त्रसिद्धि आदि से सिद्ध हुए पुरुषों के रूप से भी मैं ही अवस्थित हूँ, इस तरह की सर्वात्मबुद्धि होने के कारण उन सिद्धों द्वारा प्राप्त आकाशगमन आदि सिद्धियों की भी ज्ञानी ने प्राप्ति कर ही ली है, इसलिए उन सिद्धियों में उसे कुछ भी अपूर्वता प्रतीत नहीं होती, यह कहते हैं।

मन्त्र की सिद्धि से, तप की सिद्धि से एवं तन्त्र की सिद्ध से युक्त सिद्धों के द्वारा प्राप्त की गयी जो नानाविध आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं उनमें सर्वात्मभाव रखनेवाले ज्ञानी के लिए कौन-सी अपूर्व बात है ? ॥३॥

यदि अणिमा आदि सिद्धियों को दूसरे प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए उनमें अपूर्व शब्द का अर्थ (अनन्यप्राप्तत्व) भी घटता है, तथापि अनेक मन्त्रसिद्ध आदि पुरुषों द्वारा उनकी प्राप्ति की गयी है; इसलिए उनमें भी अपूर्वता नहीं है, यह कहते हैं।

मन्त्रसिद्धि आदि से युक्त उन्हीं नानाविध सिद्धों ने प्रयत्नपूर्वक साधन कर जिन अणिमा आदि

सिद्धियों की प्राप्ति की है उन सिद्धियों की भी आत्मज्ञानी विद्वान् ने अनायास ही प्राप्ति कर ली है, इसलिए उनमें भी अपूर्वता नहीं है ।।४।।

तब तत्त्ववेत्ता पुरुष में सिद्धों की अपेक्षा विशेष क्या है, इस प्रश्न पर कहते हैं ।

यही इसमें विशेष है कि वह मूढ़बुद्धि पुरुषों के समान नहीं रहता यानी तत्त्वज्ञान ही इसमें विशेष है । इस प्रसिद्ध महाबुद्धि का मन सर्वत्र बाह्य वस्तुओं में आसक्ति के परित्याग से निरन्तर रागशून्य तथा निर्मल ही बना रहता है और वह ज्ञानी पुरुष कभी भी भोग्य विषयों में नहीं फँसता ।।५।।

रागशून्य होने से जो फल होते हैं उनका तत्त्वज्ञानी के लक्षणों के रूप में वर्णन करते हुए महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं ।

जिसका स्वरूप समस्त धर्मों से रहित ब्रह्मचैतन्य बन गया है तथा तत्त्वज्ञान से दीर्घकालिक सांसारिक भ्रम की निवृत्ति हो जाने के कारण जो विश्रान्त हो चुका है ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुष का इतना ही लक्षण है कि उसमें काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ आदि आपत्तियों का प्रतिदिन अत्यन्त अपक्षय ही रहता है ।।६।।

एक सौ तेईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ चौबीसवाँ सर्ग

जीवों की निष्कारणता, राग से बद्धता तथा अवस्था आदि का वर्णन ।

दूसरी सिद्धियों की अपेक्षा आत्मज्ञान का उत्कर्ष इसलिए है कि वह नित्य निरतिशयानन्दानुभवरूप है और प्रत्यगात्मा की निरतिशयानन्दरूपता इसलिए है कि वह ब्रह्मरूप है, इस बात को युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के लिए ब्रह्म ही अपने स्वरूप की उपेक्षा से जीवरूप को प्राप्त करता है, यह कहते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामभद्र, जैसे कोई ब्राह्मण अपने स्वभावसिद्ध सात्त्विक ब्राह्मणधर्म का धीरे–धीरे उल्लंघन कर दीर्घकाल के बाद नीच स्त्री की नीचरूपता का अंगीकार करता है वैसे ही परब्रह्म परमात्मा भी बुद्धि आदि के संग से बुद्धिजनित भोग की इच्छा से अपने नित्यसिद्ध पूर्णानन्द स्वभाव का उल्लंघन कर जीवरूपता का अंगीकार करता है । प्रत्येक सृष्टि में दो तरह के (उपाधि की प्रधानता से भोग्य और उपहित की प्रधानता से भोक्ता – यों दो तरह के) पदार्थ आविर्भूत होते हैं । वे दोनों तरह के पदार्थ माया में रहनेवाले अनादि दो तरह की संस्कार परम्परा का अनुसरण कर रहे हिरण्यगर्भ के प्रथम स्पन्द से उत्पन्न होते हैं और मिथ्यारूप होने के कारण वे किसी प्रकार की असली सामग्री की अपेक्षा नहीं करते । ठीक ही है कि स्वप्न के घट आदि पदार्थ दण्ड, चक्र आदि अपनी उत्पत्ति में सामग्री की अपेक्षा नहीं रखते ।।१,२।।

श्रुतियों में जन्म और कर्म का, बीजांकुर के सदृश, अनादि परस्पर कार्यकारणभाव बतलाया गया है । ऐसी परिस्थिति में कर्मशून्य ईश्वर का जीवरूप से प्रथम सृष्टि में प्रादुर्भाव कैसे होता है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं ।

हे प्रिय, उपहित चैतन्य के द्वारा सम्पादित कर्मों से ही प्राणी ईश्वर से निकलकर भिन्न–भिन्न अनेक तरह के जन्मों का अनुभव करते हैं । निष्कर्ष यह निकला कि ईश्वर को जीवरूप बनने में कर्मों की

अपेक्षा नहीं होती, किंतु जीवरूप बन जाने के बाद शरीरआदि के उत्पादन में पूर्व-पूर्व देह आदि से जनित कर्मों की अपेक्षा होती है। जल में प्रतिबिम्ब पड़ने में सूर्य को चलनादि क्रिया की आवश्यकता नहीं होती, किंतु सूर्य प्रतिबिम्ब को भिन्न-भिन्न तरंगों में संक्रान्त होने के लिए या तत्-तत् तरंग आदि गत प्रतिबिम्ब के विकार का अनुभव करने के लिए उपाधिक्रिया की अपेक्षा होती है, यह नियम है। इसी नियम के अनुसार ईश्वर को प्रकृत में कर्म की अपेक्षा नहीं होती ॥३॥

उसी को स्पष्टरूप से कहते हैं।

जन्म और कर्म का परस्पर यह कार्यकारणभाव इसी तरह का है। समस्त जीव परमपिता परमात्मा से निष्कारण ही चले आ रहे हैं। परमपिता परमात्मा से निकलने के बाद उन जीवों के अपने-अपने जो कर्म हैं वे सुख और दुःख के कारण होते हैं तथा अपने-अपने ज्ञान के अनुसार उत्पन्न हुआ जो संकल्प और विकल्प रहता है वही दुःखादिजनक कर्मों का कारण होता है। भद्र, चूँकि इस संसाररूपी बन्धन का एकमात्र संकल्प ही कारण है, इसलिए आप उसका परित्याग कर दीजिये और चूँकि संकल्प का अभाव ही मोक्ष है, इसलिए आप संकल्पविनाश के अभ्यास में तत्पर हो जाइये। श्रीरामजी, धीरे-धीरे निरन्तर संकल्प-विकल्प की अवस्थाओं का परिहार करते हुए आप विषय और इन्द्रियों के विभ्रमों से सावधान हो जाइये, क्योंकि विषय और इन्द्रियों का विभ्रम होने पर ही किसी में अनुकूलता और किसी में प्रतिकूलता समझ कर प्रवृत्ति और निवृत्ति का संकल्प हुआ करता है तथा फिर पुरुष विषय बन्धनों में फँस जाता है, इसलिए संकल्प की जड़ खोदने में सावधान होना परम आवश्यक है। राघव, न तो आप अपने को ग्राह्य विषयरूप समझिये और न ग्राहक इन्द्रिय आदि रूप ही समझिये। आप समस्त विषयों की चिन्ता का परित्याग कर परम सीमा में विद्यमान रहनेवाला जो साक्षी स्वरूप है तद्रूप बन जाइये ॥४-८॥

यदि असावधानी रखेंगे, तो अनुकूल विषय में प्रीति अवश्य होगी; इस बात को दर्शाते हुए महाराज वसिष्ठजी वैराग्य के अभ्यास की भी आवश्यकता बतलाते हैं।

हे निष्पाप रामभद्र, जो इन्द्रियों का समुदाय है वह जिस-जिस अर्थ की ओर निरन्तर दौड़ता है उस-उस अर्थ में राग द्वारा बद्ध हो जाता है, इसलिए उन-उन अर्थों में राग न करनेवाला पुरुष ही मुक्त होता है ॥९॥

राग और विराग का अलग-अलग स्वरूप बतलाते हुए उनसे क्रमशः बन्ध और मोक्ष होता है, यह बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, इस संसार स्थिति में यदि आपको कोई चीज अच्छी लगती है, तो आप बद्ध हैं और यदि आपको अपने चित्त में कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती है, तो आप मुक्त हैं, यह जान लीजिये ॥१०॥ इसलिए हे रामभद्र, तुच्छातितुच्छ तृण से लेकर उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट हिरण्यगर्भ-शरीर तक के जितने स्थावर-जंगमरूप पदार्थ हैं उनमें से कोई भी आपको रुचिकर न हो ॥११॥

यह मान लिया कि उत्तमवैराग्य से भोक्तृत्वजनित बन्ध के ऊपर मनुष्य विजय पा सकता है, तथापि जीवित पुरुष स्नान-भोजन आदि क्रियाओं का किसी तरह परित्याग नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थिति में स्नान आदि क्रियाओं से जनित बन्धन तो रहेगा ही, इस प्रश्न पर कहते हैं।

जो कुछ आप करते हैं, जो कुछ आप खाते हैं, जो कुछ होमते हैं, जो कुछ देते हैं; उन सब क्रियाओं में जितेन्द्रिय और कूटस्थ-आत्मा में प्रविष्टमति हो जाने पर न आप कर्ता होते हैं और न भोक्ता ही होते हैं ॥१२॥

इष्ट वस्तु के वियोग से अनिष्ट की संभावना है और उससे उत्पन्न शोक से बन्धन की प्राप्ति – यों आशंका कर कहते हैं।

जो उत्तम पुरुष हैं वे न तो गयी-गुजरी वस्तु के विषय मे शोक करते हैं और न भविष्य के विषय में चिन्ता ही करते हैं। वे तो वर्तमानकाल में जो कुछ कर्म प्राप्त हो जाता है उसी का यथावत् अंगीकार कर लेते हैं ॥१३॥

सब बन्धनों पर विजय पाने के लिए एकमात्र मन पर विजय पाना ही उपाय है और मन पर विजय मन से ही हो सकती है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तृष्णा, मोह, मद आदि जितने हेयभाव हैं वे सब मन में ही गुँथे हुए रहते हैं, इसलिए बुद्धिमान पुरुष को अपने मन से ही मन को कुचल देना चाहिए ॥१४॥

जिस उपाय के द्वारा मन से मन के ऊपर विजय पायी जाती है उस उपाय को कहते हैं।

जैसे अति तीक्ष्ण लोहे से लोहा काटा जाता है वैसे ही सब भ्रमों की शान्ति के लिए अतितीक्ष्ण विवेकयुक्त मन से दोषयुक्त मन काटा जाता है ॥१५॥

मन से मन पर विजय पाने में प्राप्त आत्माश्रय दोष का वारण करते हैं।

मल हटाने का विज्ञान रखनेवाले विद्वान् लोग मल से ही मल को धो डालते हैं, अस्त्र से अस्त्रों का वारण करते हैं और विष से विष को दूर करते हैं ॥१६॥

जीव तो मन से वेष्टित रहता है, उसमें से कितना अंश अलग करके मन से काट देना चाहिए, यह बतलाने के लिए जीव के स्वरूपों का विभाग करते हैं।

जीव के तीन रूप हैं – एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म और तीसरा पर। उनमें से इसका तीसरा जो पररूप है उसका तो आप आश्रय कीजिये और बाकी बचे दो रूपों को मन से काट दीजिये ॥१७॥

उन्हीं रूपों को दिखलाते हैं।

हाथ-पैरवाला जो यह शरीर भोग के लिए निरन्तर लालायित रहता है वही यहाँ भोगार्थ इस जीव का स्थूलस्वरूप स्थित है ॥१८॥ हे रामजी, संकल्पप्रचुररूप धारण करनेवाला तथा संसारस्थिति तक रहनेवाला जो चित्त है उस चित्त को ही इस जीव का आतिवाहिक दूसरा रूप समझिये। भद्र, आदि और अन्त से निर्मुक्त, अबाधित, चैतन्यमात्र, समस्त विकल्पों से निर्मुक्त तथा समस्त विश्व का प्रकाश करनेवाला जो रूप है वही इसका तीसरा रूप है, यह आप जानिये। हे राघव, यही परमपवित्र तुर्यपद है। इसीमें आप अपनी स्थिति बाँध लीजिये, पहले के दो रूपों का परित्यागकर उनमें आत्मबुद्धि मत कीजिये ॥१९-२१॥

जाग्रत् और स्वप्न में जीव के स्थूल और सूक्ष्म दो रूप प्रसिद्ध हैं ही। उनका परित्याग कर देने पर भी तो जीव की भलीभाँति परिशुद्धि नहीं हो सकती, इसलिए जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं से परे की जिज्ञासा करते हुए श्रीरामजी पूछते हैं।

हे मुनिनायक, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं में स्थित (संकीर्ण) अतएव स्पष्टरूप से न देखा गया जो तुर्यरूप है उसे विशेषरूप से खूब अच्छी तरह विचार करके कहिये। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामभद्र, अहंभाव तथा सत् और असत् का त्याग करके जो आसक्त, सम और स्वच्छ स्वरूप स्थित रहता है वही तुर्यरूप है। जीवन्मुक्तों में जिसकी अन्तिम स्थिति है, जो स्वच्छ, समरूप और शान्त है, जो व्यवहारकाल में 'साक्षी की अवस्था' प्रसिद्ध है वही तुर्यावस्था कही जाती है ॥२२–२४॥

जाग्रत् आदि अवस्थाओं से उसके सांकर्य का निवारण करते हैं।

संकल्पों का अभाव रहने से यह अवस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है और अज्ञान का अभाव रहने से यह न सुषुप्ति ही है ॥२५॥

अद्वितीय तुरीय अवस्था जाग्रतादि द्वैतकाल में जीवन्मुक्तों को भी कैसे हो सकती है ? यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

सामने दिखाई दे रहा यह जो जगत् है, उसकी ज्ञान से हुई जो निवृत्ति है, उसी को शान्त एवं अच्छी तरह प्रबुद्ध हुए (ज्ञानी) पुरुषों का तुर्यपद कहते हैं, यही संसार अप्रबुद्ध (अज्ञानी) पुरुषों के लिए स्थिररूप से अवस्थित है। अहंकार का त्याग होने पर जब समता की उत्पत्ति हो जाती है तब जल में विलीन हुए नमक के टुकड़ों के समान चित्त के गल जाने पर तुर्यावस्था उपस्थित हो जाती है। हे देवोपम श्रीरामजी, इसके अनन्तर अब आप इस दृष्टान्त को सुनिये, जो मैं कह रहा हूँ, उससे प्रबुद्ध हुए भी आप और अधिक बोध को प्राप्त हो जायेंगे। किसी एक विस्तृत घने जंगल में महामौन धारण कर बैठे हुए किसी एक अद्‌भुत मुनि को देखकर बाण से विद्ध अतएव भागे हुए मृग के पीछे दौड़े जा रहे एक व्याध ने उस मुनि से यह पूछा : हे मुने, मेरे बाण के द्वारा घायल हुआ एक मृग यहाँ आया था, वह कहाँ चला गया ? इस तरह का उस व्याध का प्रश्न सुनकर उस मुनि ने उस व्याध को उत्तर दिया। हे साधो, हम जंगल के निवासी मुनि सब समान शीलवाले होते हैं। व्यवहारों में समर्थ जो अहंकार रहता है वह हम लोगों में है नहीं। हे सखे, सम्पूर्ण इन्द्रियों का कार्य अकेला अहंकाररूप मन ही करता है और वह मेरा मन निःसन्देह चिरकाल से बिलकुल गलित हो चुका है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक किसी भी दशा को मैं नहीं जानता, एकमात्र उसी तुर्यपद में मैं अवस्थित रहता हूँ, जहाँ दृश्य नहीं रहता। हे राघव, उस मुनिश्रेष्ठ का ऐसा वचन सुनकर वह बहेलिया उसके अर्थ को न समझकर अपनी अभीष्ट दिशा की ओर चला गया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि हे महाबाहो, तुर्य से अन्य कोई दशा नहीं है। निर्विकल्प चित् ही तुर्य है और वही यहाँ पर विद्यमान है, अन्य कुछ नहीं ॥२६–३५॥ क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति – ये तीनों चित्त के रूप हैं। (रज आदि गुणों की प्रधानता से तीन विभाग करके तीन अवस्थाओं को दर्शाते हैं) घोर, शान्त और मूढ़ – यों तीन रूप से अपना चित्त यहाँ पर अवस्थित है ॥३६॥ जाग्रत् अवस्था का चित्त घोर है, स्वप्न–अवस्था का चित्त शान्त है और सुषुप्त भाव में स्थित है मूढ़ चित्त। रज आदि तीन गुणोंवाली माया का उच्छेद हो जाने पर इन तीनों से हीन हुआ चित्त मृत है ॥३७॥

योगियों के अवशिष्ट प्रारब्ध को भोग के लिए, भस्म में शुक्लता की नाईं, मृतचित्त में केवल सत्त्वांश ही बच जाता है, रज और तम के अंश का तो लेश भी नहीं रहता, यह कहते हैं।

जो मृत चित्त है उसमें एकमात्र सत्त्व ही, भस्म में शुक्लता की नाई, समरूप से स्थित रहता है। इसी का समस्त योगी जन समाधि के अभ्यास से बड़े यत्न के साथ सम्पादन करते हैं – उपार्जन करते हैं, क्योंकि वैसे चित्त में निर्मलता अधिक रहने से स्वात्मसुख का सदा ही आविर्भाव रहता है ॥३८॥ हे रामचन्द्रजी, समस्त संकल्पों के विलासों से मुक्त उस तुर्यपद में अपनी सांसारिक आत्मा को सब विकारों से शून्य बनाकर आप स्थित रहिये; जिसमें भलीभाँति स्थित रहकर अनेक बड़े–बड़े मुनिजन भेद को शान्त करके सदा ही मुक्त हो चुके हैं ॥३९॥

एक सौ चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ पचीसवाँ सर्ग

द्वैत के अपलापरूप तथा सिद्धान्तभूत तुर्यपद में,
जहाँ सभी वादियों को भ्रम होता है, स्थिरता का उपायपूर्वक वर्णन।

आत्मा को ले करके प्रवृत्त हुए श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि समस्त शास्त्रों का परम सिद्धान्त सम्पूर्ण द्वैत का अपलाप करना ही है, वह द्वैत चाहे जीव का अविद्या के साथ अवस्थात्रयरूप हो, चाहे ईश्वर का माया के साथ आकाश आदि प्रपंचरूप हो, न कि उनका सिद्धान्त वस्तुतत्त्व को प्रकाशित करना है, क्योंकि स्वप्रकाशस्वरूप आत्मवस्तु के स्वतःसिद्ध होने से उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है, यही कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, समस्त द्वैत का अपलाप करना ही सकल अध्यात्म शास्त्रों का परम सिद्धान्त है। यहाँ न तो अविद्या है और न माया ही है, किन्तु शास्त्रों से (☗) जिसका परिज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा सम्पूर्ण उपद्रवों से रहित नित्य अपरोक्ष ब्रह्म ही है ॥१॥

श्रुति आदि के सिद्धान्तों का परिज्ञान न होने से ही अपनी बुद्धि के वैभव से जगत् के मूल का अन्वेषण करनेवाले वादियों की शब्द से वाच्य सम्पूर्ण शक्तिआत्मक मायाशबल ब्रह्म के विषय में बुद्धि में विचित्र दोष आ जाने के कारण अनेक तरह की – कल्पनाएँ हुआ करती हैं, यह कहते हैं।

शान्त, चिदाभासरूप्न, स्वच्छ,सर्वत्र एकरूप से विद्यमान तथा समग्र शक्तियों से समन्वित 'ब्रह्म' इस कल्पित नाम में ही अपनी–अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक तरह के सिद्धान्तों की कल्पना करके कोई शून्य, कोई विज्ञानमात्र और कोई ईश्वररूप कहते हुए आपस में विवाद किया करते हैं। हे अनघ, मायापर्यन्त सभी इस दृश्य समूह का परित्याग करके मन के साथ–साथ सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापारों के उपरम से महामौनी बन जाइये। तदनन्तर मननरहित, क्षीणचित्त और प्रशान्त बुद्धि होकर पूर्णानन्दरूप चिदात्मा में एकरूप होते हुए गूँगे, अन्धे और बधिर के सदृश शान्तात्मा बनकर आप अपने स्वरूप में स्थित रहिये। हे राघव, अपने–आप नित्य अंतर्मुख तथा अपने अन्दर पूर्णबुद्धि होकर पंचमादि भूमिकाओं को जीत लेने के कारण जाग्रत अवस्था में स्थित होते हुए भी सुषुप्त – जैसे स्थित होकर आप कर्म करते चलिये। भीतर से सबका परित्याग करते हुए आप बाहर से प्रारब्ध–प्राप्त कार्यों को करते रहिये।

(☗) इसमें 'यतो वाचो निवर्न्त अप्राप्य मनसा सह' यह श्रुति प्रमाण है। द्रविड़ाचार्य ने भी इस विषय में कहा है : 'यद्यप्रमेयं ब्रह्म किमर्थं शास्त्रमिति चेत्, सिद्धं तु निवर्तकत्वात्।'

चित्त की सत्ता ही परम दुःख और चित्त की असत्ता ही परम सुख है, इसलिए हे राघव, चिदेकरूप होते हुए आप प्रिय और अप्रिय का अनुसन्धान न करके चित्त का नाश कर दीजिये ॥२-७॥

प्रिय और अप्रिय का अनुसन्धान न करके यह जो कहा है, उसीको स्पष्ट करते हैं।

रम्य या अरम्य वस्तु को देखकर पत्थर के समान समभाव में स्थित रहना चाहिए। बस, इतने ही अपने यत्न से यह संसार जीत लिया जाता है ॥८॥ सुख-दुःख और इन दोनों के साधनों की (संसार-सागर को पार कर जाने की इच्छा रखनेवाले प्राणी को) कभी भी चिन्ता न करनी चाहिए। बस, इतने ही अपने यत्न से अनन्त सुख प्राप्त होता है ॥९॥ जिसने तीनों लोकों की सभी वस्तुओं के सारका ज्ञान कर लिया है अतएव जो चारों ओर स्वतः फैले हुए प्रकाश से शोभायमान निरतिशय सुखस्वरूप तथा अमृतमय बन गया है, अतएव जो खूब परिपुष्ट हुए मण्डलवाले शशांक के यानी पूर्णचन्द्र के सदृश हो गया है, ऐसा परमात्मस्वरूप को प्राप्त हुआ तत्त्वज्ञ अपने अन्दर जीवन्मुक्ति सुख को प्राप्त करता है। प्रारब्धप्राप्त कार्यों का बाहर से सम्पादन करता हुआ भी वह भीतर से कुछ नहीं करता ॥१०॥

एक सौ पचीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग

योगभूमिकाओं का अभ्यासक्रम तथा लक्षण,
मध्य में मृत्यु हो जाने पर भोग एवं जन्मान्तर में जय आदि का वर्णन।

'जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरुकर्माणि राघव' (हे राघव, जाग्रत् काल में ही सुषुप्ति में स्थित-जैसे होकर आप सभी कर्म करते चलिए) इत्यादि से चतुर्थ भूमिका में आरुढ़ हुए रामजी को पंचमादिभूमिकाओं में स्थिति सम्पादन करने की जो सलाह दी गयी है, तदनुसार उन भूमिकाओं में अपनी स्थिति बनाने की इच्छा करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अपने से जीत ली गयी या जीती जानेवाली भूमिकाओं का विभाग जानने के लिए उनके लक्षण और अभ्यासक्रम को पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुने, सातों भूमिकाओं का अभ्यास कैसे किया जाता है तथा प्रत्येक भूमिका में योगी के चिह्न किस तरह के होते हैं ॥१॥

पूछे गये भूमिकाओं के अभ्यासक्रम को कहने की इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी 'उसका अधिकारी प्रवृत्तिशास्त्र के अधिकारी से भिन्न हैं, यों दिखलाने के लिए दोनों अधिकारियों का विभाग करके उनके भिन्न-भिन्न लक्षण कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, वेदमार्ग में स्थित पुरुष दो तरह के होते हैं - एक प्रवृत्त और दूसरा निवृत्त। (प्रवृत्तिमार्ग का पथिक स्वर्ग की अभिलाषा रखनेवाला तथा निवृत्तिमार्ग का पथिक मोक्ष का अभिलाषी होता है।) स्वर्ग और अपवर्ग की ओर उन्मुख हुए इन दोनों का लक्षण (मैं कहता हूँ) आप सुनिये ॥२॥

पहले रागादि दोषों के कारण विपरीत बुद्धिवाले कर्मों में प्रवृत्त हुए पुरुष का लक्षण कहते हैं।

जो सम्पूर्ण विषयों से शून्य है, वह प्रसिद्ध निर्वाण पदार्थ चीज ही क्या है ? तात्पर्य यह कि भोगों में प्रेम रखनेवाले पुरुष उसे कुछ नहीं समझते। थोड़ा-बहुत उत्तम या अधम भोगों से सम्पन्न यह संसार

ही मेरे लिए सबसे अच्छा है। (८) यों निश्चयकर वेदप्रतिपादित नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों को जो करता है वह पुरुष प्रवृत्त कहा गया है ॥३॥

निवृत्त पुरुष का लक्षण कहने की इच्छा रखते हुए महाराज वसिष्ठजी निवृत्ति में हेतुरूप विवेक का वर्णन करने के लिए उसकी दुर्लभता बतलाते हैं।

जैसे लवणसागर में स्थित बड़े कछुए की गर्दन अनेक बार कण्ठ के छेद में प्रविष्ट होकर उससे बाहर निकलने पर भी लवणसमुद्र के रस का ही आस्वाद लेती तथा उसी को सर्वश्रेष्ठ रस मानती हुई क्षीरसागर के रस को कुछ नहीं जान पाती, किंतु प्रलयकाल के समय क्षार और क्षीर दोनों सागरों के एक जगह मिलने का अवसर आने पर उन दोनों के उदररूपी छिद्र में ग्रीवा का प्रवेश होने पर क्षीर सागर के रस का आस्वाद लेकर 'क्षारसागर के रस की अपेक्षा क्षीरसागर का रस कहीं अधिकस्वादयुक्त है' – यों विवेकसम्पन्न होकर वह ग्रीवा उस क्षीरसागर के रस में ही आसक्त हो जाती है; वैसे ही जीव भी पहले विषयरसास्वाद को ही सर्वश्रेष्ठ रसास्वाद मानता हुआ अनेक जन्मों के बाद अंत में भाग्योदय होने पर अध्यात्मशास्त्र के रस का आस्वाद लेकर विवेकी बनकर उसमें आसक्त हो जाता है ॥४॥

इसको किस तरह का विवेक उत्पन्न होता है, यह कहते हैं।

अहो, संसार की यह व्यवस्था बिलकुल असार है। इस व्यवस्था से मुझे क्या मतलब है, अनुचित परिणामवाले इन कर्मों से ही मैं अपना दिन क्यों गँवाता हूँ। क्रियाजनित उत्पत्ति, प्राप्ति और विकृतिरूप संस्कारों से निर्मुक्त (कूटस्थ) परम विश्रान्ति का स्थान कौन हो सकता है ? यों विचारकर जो अपने अन्तःकरण में 'मुझे इसका अवश्य सम्पादन करना चाहिए' – इस तरह के निश्चय से युक्त रहता है वह पुरुष निवृत्त कहा गया है ॥५,६॥

निवृत्त पुरुष की प्रथम भूमिका प्राप्ति का क्रम कहते हैं।

मैं विरागी बनकर किस तरह संसारसागर को तैर जाऊँ, इस तरह के विचार में तत्पर जब सद्बुद्धि प्राणी होता है, तब भोग और उसके साधनों की चिन्ताओं में प्रतिदिन हृदय के अन्दर उसको नीरसता उत्पन्न होती है, चित्त शुद्धि के अनुकूल शौच, सत्संग, ईश्वरोपासना, जप आदिरूप क्रियाओं में वह पुरुष संसक्त होता है और प्रतिदिन चित्त शुद्धि की वृद्धि से तृष्णा का क्षय हो जाने के कारण वह प्रसन्न होता है। ग्राम्य जड़ चेष्टाओं में वह निरन्तर घृणा करने लग जाता है, दूसरों के छिपे हुएं दोषों का वह उद्घाटन नहीं करता और स्वयं पुण्य कर्मों का ही सेवन करता है।अपने तथा दूसरों के मन में उद्वेग न पहुँचानेवाले एवं थोड़े परिश्रम से महाफलवाले यम, नियम आदि कर्मों का वह सेवन करता है, पाप से सदा डरता है और भोगों में पाप अवश्य होने के कारण वह उनकी कभी अभिलाषा नहीं करता। वह स्नेह और प्रणय से पूर्ण, कोमल, सत्य, प्रिय और हितकारक तथा देश और काल के उपयुक्त वचन बोलता है ॥७–११॥

इस तरह के गुणों से विशिष्ट पुरुष सत्शास्त्रश्रवणाधिकाररूप प्रथम भूमिका में अवतरित होता है, यह कहते हैं।

---

(८) इस विषय में एक बड़ी अच्छी उक्ति है, सुनिये :
'अपि वृन्दावने शून्ये शृंगालत्वं स वांछति। न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ॥'

जिस समय पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है उस समय वह पहली शुभेच्छा नामक एक भूमिका में प्राप्त होता है तथा मन, कर्म एवं वाणी से शान्ति, दान्ति, ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न सज्जन पुरुषों की सेवा करता है। जिस–किसी जगह से उन सज्जनों की सेवा के अनुकूल धन आदि [illegible] जुटाकर उनकी सेवा करता हुआ वह उनके मुख से ज्ञानदायक शास्त्रों का यानी पुराणों एवं मोक्षधर्म का प्रतिपादन करनेवाली अध्यात्म–संहिताओं का श्रवण करता है। संसारसागर को तैर जाने के लिए इस तरह के विचार से सम्पन्न जो पुरुष होता है वह प्रथम भूमिका में प्रविष्ट हुआ कहा गया है, किंतु उक्त साधनचतुष्टय आदि सम्पत्ति से जो हीन पुरुष है वह तो अध्यात्मशास्त्रों के अवलोकन में आसक्त होता हुआ भी राग आदि के कारण अनधिकारी पुरुष को ठग–ठग कर उनके द्वारा प्राप्त धनादि से अपना केवल पेट पालन करता है, इसलिए वह वंचक कहा गया है। इसके बाद अधिकार की प्राप्ति होने से वह विचारनामक दूसरी योगभूमिका में अवतीर्ण होता है ॥१२–१४॥

वहाँ वह क्या करता है, सो बतलाते हैं।

उस समय वह श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा, ध्यान और कर्मों में तत्पर रहनेवालों के मध्य में अध्यात्म शास्त्रों की प्रशस्त व्याख्या करने के कारण जिन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है ऐसे श्रेष्ठ पण्डितों का आश्रय करता है अर्थात् श्रवण–मननादि विचार के लिए आत्मतत्त्व के अनुभव और उपदेश में अत्यन्त कुशल होने के कारण सर्वश्रेष्ठ गुरुओं की (१) शरण में जाता है। स्वयं व्याकरण आदि षडंगों का अच्छा ज्ञाता होने के कारण पदों तथा वाच्यलक्ष्य आदिरूप उनके अर्थों एवं लक्षणा, व्यंजना आदि उनके विभागों का जिसे खूब ज्ञान हो चुका है – ऐसा विवेकी शिष्य अपने गुरु के मुख से अध्यात्मशास्त्र का श्रवण कर कार्य और अकार्य का विनिर्णय तत्त्वतः ऐसे जान लेता है, जैसे घर का मालिक अपना घर। लोक मर्यादा के अनुसार बाहर जो कुछ भी थोड़ी–सी आश्रित मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह और लोभ की अधिकता रहती है उसे भी वह उस तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप केंचुल को। यों पूर्वोक्त सद्वासनाओं से वासित अन्तःकरणवाला वह पुरुष, जो कि दूसरी भूमिका में पहुँच चुका है, शास्त्र, गुरु और सज्जनों की सेवा से पूर्ण परमतत्त्व को अच्छी तरह जान जाता है ॥१५–१८॥

इस तरह दूसरी भूमिका में पहुँचे हुए पुरुष का तीसरी भूमिका में प्रवेश बतलाते हैं।

इसके अनन्तर असंगनामक अन्य तीसरी योग्य भूमिका में वह पुरुष ऐसे प्रविष्ट होता है, जैसे कान्त अपनी कान्ता की निर्मल पुष्पशय्या पर ॥१९॥ अध्यात्मविषयक शास्त्रों के अद्वैत आत्मरूप वाक्यार्थ में ('अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यार्थ में) अपनी बुद्धि को निश्चलतापूर्वक स्थापित कर तपस्वियों के आश्रमों में विश्रामों से, अध्यात्मशास्त्रों की कथाओं के क्रमों से तथा वैसे ही संसार की निन्दा करनेवाले वैराग्य के साधनक्रमों से पत्थर की चट्टानरूपी शय्या पर आसीन हो अपनी सारी आयु गँवाता है (२)। चित्त के उपशम से शोभित होनेवाले तथा असंगता के सुख से सौम्य वनवास के विहार

---

(१) देखिये श्रुति–'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' इत्यादि।

(२) ये दोनों श्लोक पूर्वभूमिकाओं के अनुवादरूप हैं।

से वह नीतिमान् अपने काल को बिताता है, क्योंकि गाँव में रहने पर अधिक विक्षेप होने के कारण समाधि के अभ्यास का भलीभाँति निर्वाह नहीं हो सकता है ॥२०–२२॥

चित्त के प्रसन्न होने पर व्युत्थानकाल में पूर्व की दो भूमिकाओं के धर्मों का अनुसरण भी अत्यन्त आवश्यक है, इसे दिखलाते हैं।

अध्यात्म विषयक सत्–शास्त्रों के अभ्यास से तथा पुण्यकर्मों के निमित्त से जीव की यह आत्मदृष्टि यथार्थ प्रफुल्लित होती है ॥२३॥

'असंगता के सुख से सौम्य' इस उक्ति की विभाग कर व्याख्या करते हैं।

तीसरी भूमिका में पहुँचकर ज्ञानी पुरुष दो तरह के असंग का स्वयं अनुभव करता है। हे श्रीरामजी, आप उसके इन भेद को सुनिये ॥२४॥ यह असंग दो तरह का है – एक सामान्य (पूर्व भूमिका के समान साधारण) और दूसरा श्रेष्ठ। अपनी देह की क्रियाओं का कर्ता तथा उन क्रियाओं के फलों का भोक्ता मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं निष्क्रिय तथा नित्यतृप्त हूँ। दूसरों की क्रियाओं तथा उनके फलों का भी मैं बाध्य और बाधक नहीं हूँ, क्योंकि व्यापारशून्य हूँ ॥२५॥ इस तरह के निश्चय से दृश्य पदार्थों में संसक्त न होना ही सामान्य असंग कहा गया है। सुख या दुःख सब कुछ पूर्वकर्म से निर्मित और ईश्वर के अधीन है। इसमें मेरा कर्तृत्व कैसा ? ये विस्तृत भोग (विषय) अन्त में परितापी होने के कारण महारोग हैं तथा ये सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ हैं, क्योंकि इनके उपार्जन और रक्षण के लिए मनुष्यों को नाना प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं। संयोग सब वियोग के लिए ही हैं और ये मानसिक चिन्ताएँ बुद्धि की व्याधियाँ हैं, सब पदार्थों को विनाश के गड्ढे में ढकेल रहा काल तो उन्हें निगल जाने के लिए ही सदा प्रस्तुत रहता है। इस तरह अनास्था होने से 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यार्थों में संलग्न चित्तवाले पुरुष की सम्पूर्ण पदार्थों में जो आन्तरिक अभावना है वही सामान्य असंग कहलाता है ॥२६–२९॥

पूर्व भूमिकाओं में सत्संग आदि उपायों से इसी असंग का भलीभाँति अभ्यास करना चाहिए, यह कहते हैं।

इसी पूर्वोक्त अभ्यासयोग से, महात्माओं की संगति, दुर्जनों की असंगति से, श्रवण–मननात्मक आत्मविचारों के अन्तःकरण में प्रयोग से (आवर्तन से) (&) तथा लगातार अभ्यासयोग द्वारा अपने पुरुष प्रयत्न से संसारसागर के पार, सबके सार, परमकारणभूत आत्मतत्त्व के – प्रमाण और प्रमेय की असंभावना के निरास द्वारा हस्तामलकवत् दृढ़रूप से खूब स्पष्ट हो जाने पर यानी ठीक ऐसा ही आत्मवस्तु है, इस विश्वास का विषय हो जाने पर मैं कर्ता नहीं हूँ, किंतु ईश्वर ही कर्ता है; पूर्व जन्म में किया गया या वर्तमानकाल में किया जा रहा मेरा कोई कर्म नहीं है इत्यादि अभाव और उसके प्रतियोगी आदि के विषय में विकल्प करनेवाली शब्दार्थ भावना को भी बहुत दूर फेंककर जो शान्त मौनरूप से रहना है वही श्रेष्ठ असंग कहलाता है ॥३०–३३॥ न भीतर, न बाहर, न ऊपर, न नीचे, न दिशाओं में, न आकाश में, न पदार्थों में, न अपदार्थों में, न जड़ में और न चिदाभास में यानी बाहर या भीतर आदि सभी वस्तुओं में आलम्बनशून्य होकर स्थित जो स्वप्रकाशचिद्रूप, शान्त, अन्यप्रकाशक से शून्य आकाश के समान स्वच्छ, एकरस और गम्भीर, आदि – अन्त से रहित तथा

(&) देखिये भगवान् बादरायण का सूत्र : 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'।

जो अत्यन्त कान्त ब्रह्म है वही श्रेष्ठ असंग कहा जाता है ॥३४,३५॥

यह समाधि सदाचार से उपवर्धित विवेक–ज्ञान का फल है, यह कहने के लिए विवेक का पद्मरूप से निरूपण करते हैं।

सन्तोषरूपी सुगन्ध से मधुर (अथवा सन्तोषजनित हर्ष से मधुर–मकरन्दवाला), उपासना, गुरुशुश्रुषा, श्रवण आदि निष्काम कर्मरूपी निर्मल पल्लवों से युक्त और चित्तरूपी नाल के अग्र भाग में संलीन हुए रागादि वासनाओं से उत्पन्न अनेक तरह के विघ्नरूपी कण्टकों से संकीर्ण विचाररूपी सूर्य से विकास को प्राप्त हुआ यह विवेकरूपी कमल हृदय में रूढ़ होकर असंगनामक यह तृतीय भूमिकारूप फल फलता है ॥३६,३७॥

अनेक जन्मों के संचित सुकृतों के परिपाक तथा इस लोक के पुण्यों के संचय से दैववश कहीं पहली भूमिका ही यदि अंकुरित हो गयी, तो बड़े प्रयत्न के साथ सज्जनों की संगति आदि करके उसकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि यदि वह कहीं रक्षित रह गयी तो, फिर वही द्वितीय आदि भूमिकाओं में अनायास परिणत हो जायेगी, इसलिए उसी की रक्षा में अधिक यत्न करना चाहिए, यह उपदेश देते हैं।

तत्त्वज्ञानी पुरुषों के समवाय से यानी दान, मान, भजन आदि उपायों के द्वारा सम्मेलन से तथा पुण्यकर्मों के संचय से दैववश कहीं पहली भूमिका उत्पन्न होती है। थोड़ी सी शुभ प्रवृत्ति में उन्मुख होने के कारण, मेघों से अंकुरित भूमि की नाईं, तत्त्वज्ञानियों में अंकुरित उस प्रथम भूमिका की प्रतिदिन विवेकउपदेशरूपी जल के सिंचन से इस तरह प्रयत्नपूर्वक रक्षा और पालन करना चाहिए कि वह म्लान न होने पावे। शुभेच्छानामक यह पहली भूमिका चार साधनों के मध्य में वैराग्यरूपी या शान्ति आदिरूपी जिस अंश से सर्वप्रथम अंकुरित होकर उल्लसित होती है उसी अंश को बड़े यत्न के साथ प्रतिदिन अभिवृद्धि में ऐसे पहुँचाना चाहिए, जैसे कृषक धान आदि के अंकुर को अभिवृद्धि में पहुँचाता है ॥३८–४०॥

अभिवर्द्धित वह एक ही अंश अन्य उत्तर की भूमिकाओं का स्वयं साधन करेगा, यह कहते हैं।

अन्तःकरण में विचार द्वारा उदय को प्राप्त हुई यह पहली भूमिका ही अन्य भूमिकाओं की उत्पत्ति का स्थान बन जाती है। इसी भूमिका के कारण द्वितीय और तृतीय भूमिका को भी यत्न से विवेकी पुरुष प्राप्त कर सकता है ॥४१॥

उपायों के साथ वर्णित सफल तृतीय भूमिका का उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यही श्रेष्ठ असंगनामक तीसरी भूमिका है। इस भूमिका में वर्तमान पुरुष सम्पूर्ण संकल्प की कल्पनाओं से शून्य हो जाता है ॥४२॥

प्रसंगवश, बीच में मूर्खों के ऊपर दया आ जाने से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, असत्कुल में उत्पन्न, कामोपभोग के लिए प्रवृत्त, अधम तथा योगियों के संग को न प्राप्त किये हुए मूढ़ पुरुष का उद्धार कैसे होगा ? (🔔) हे भगवन्, पहली, दूसरी,

---

(🔔) सत्कुल में उत्पन्न होना आदि जो वेदान्तशास्त्र के अधिकारियों के लक्षण हैं उस सब विशेषणों से रहित, अध्यात्मशास्त्र की कथाओं से सदा विमुख रहनेवाले तथा कामोपभोग के लिए हीं प्रवृत्तिमार्ग के पथिक बने हुए अधम पुरुषों को किसी दूसरे उपाय से मोक्ष हो सकता है या नहीं, यही इस प्रश्न का आशय है ।

तीसरी या अन्य किसी भूमिका में आरूढ़ होकर मर गये प्राणी की कैसी गति होती है ? यह कहिये ॥४३,४४॥

पहले प्रश्न का उत्तर देते हैं।

प्रवृद्ध रागादि दोषों वाले मूढ़ पुरुष को काकतालीययोग से यानी दैवगति से सैकड़ों जन्मों के बाद जब तक अपने विचार से या साधुओं की संगति से वैराग्य उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक उसका यह विस्तृत संसार रहता ही है ॥४५॥ वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर प्रथम भूमिका का उदय प्राणी को अवश्य होता है और तदनन्तर उसका संसार नष्ट हो जाता है, यही शास्त्रों के अर्थों का संग्रह है शास्त्रों का परम सिद्धान्त है ॥४६॥

द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं।

प्रथमादि भूमिकाओं में पहुँचकर अपना जीवन (देह) उत्सर्ग करनेवाले प्राणी का भूमिकाओं के प्रकर्ष के अनुसार ही पूर्वजन्म का – दुष्कृत नष्ट हो जाता है। तदनन्तर वह योगी देवताओं के विमानों में, लोकपालों के नगरों में तथा सुमेरु पर्वत के उपवनों की झाड़ियों में रमणियों (अप्सराओं) को साथ लेकर खूब रमण करता है। उसके बाद पूर्व जन्म में किये गये पुण्यों और पापों का भोगसमूहों के द्वारा नाश हो जाने पर वे योगी लोग पवित्र, गुणवान् और लक्ष्मीपात्र सज्जनों के सुरक्षित घर में जन्म लेते हैं और जन्म लेकर ये लोग योग की वासना से वासित अन्तःकरणवाले होने के कारण योग का ही सेवन करते हैं। वहाँ पर पूर्वजन्म में की गयी भावनाओं से अभ्यस्त हुए योग भूमिकाओं के क्रम का स्मरण करके वे बुद्धिमान् लोग आगे के भूमिका क्रम का खूब अभ्यास करने लग जाते हैं ॥४७–५१॥

दोनों प्रश्नों का उत्तर देकर अब प्रकृत का अनुसरण कर रहे हैं।

हे श्रीरामजी, ये पूर्वोक्त तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् कही गयी हैं, क्योंकि इन भूमिकाओं में यथावत् भेदबुद्धि रहने से यह सम्पूर्ण दृश्यसमूह उस जाग्रत्काल की नाईं ही दिखाई पड़ता है। इन तीनों भूमिकाओं में योगयुक्त पुरुषों को केवल पूज्यता उदित होती है, जिसे देखकर 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इस न्याय से मूढ़बुद्धि पुरुषों को भी मुक्त होने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है ॥५२,५३॥

उसी आर्द्रता का सबसे पहले लक्षण करते हैं।

नित्य–नैमित्तिक सब कामों को भलीभाँति करता हुआ तथा अकर्तव्यों को न करता हुआ जो प्राकृत आचार में स्थित रहता है वह आर्य कहा गया है। अपने वृद्ध पुरुषों के आचारों के अनुसार, शास्त्रोक्त तथा चित्त को प्रसन्न रखनेवाले यथास्थित व्यवहारों का जो ग्रहण करता है वह आर्य कहा गया है। योगी का वही आर्यत्व शुभेच्छानामक प्रथम भूमिका में अंकुरित, द्वितीय भूमिका में श्रवण आदि के द्वारा विकास को प्राप्त तथा तृतीय भूमिका में चित्त की एकाग्रतारूप फल से फलित होता है ॥५४–५६॥

इस तीसरी भूमिका की प्राप्ति के बीच में ही मृत्यु को प्राप्त कर चुके निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से पापशून्य हुए योगियों को 'कर्मणा पितृलोकः विद्याया देवलोकः' इत्यादि श्रुतियों में बतलाया गया उपभोग भी देवलोक आदि में करना पड़ता है, परंतु यह भोग शुभ संकल्पों से उत्पन्न सब वासनाओं से युक्त होने के कारण, काम्यकर्म का अनुष्ठान करनेवाले पुरुषों की नाईं, रागादि दुर्वासनाओं के द्वारा अधःपतन

का हेतु नहीं होता, इसी आशय से कहते हैं।

इस तीसरी भूमिका की प्राप्ति के बीच में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ योगी पुरुष शुभ संकल्पजनित उत्तम वासनायुक्त भोगों का चिरकाल तक उपभोग कर पुनः योगी ही होता है। तीन भूमिकाओं का अभ्यास करने से अज्ञान के नष्ट हो जाने पर सम्यक्ज्ञान का उदय होने के बाद जब पूर्णचन्द्रोदय के सदृश चित्त हो जाता है तब चौथी भूमिका में पहुँचे हुए युक्तचित्त योगी लोग सम्पूर्ण जगत् को विभागशून्य आदि और अन्त से रहित आनन्दैकरस देखते हैं। द्वैत के बिलकुल शान्त हो जाने पर जब अद्वैत स्थिर हो जाता है तब चौथी भूमिका में गये हुए योगी लोग सब लोकों को स्वप्न के समान देखने लगते हैं। तीन भूमिकाओं को जाग्रत् कहते हैं, क्योंकि ज़ैसे जाग्रत् में व्यावहारिक सत्ता से जगत् का भान होता है, वैसे ही इनमें भी व्यावहारिक सत्ता से जगत् का भान होता है और चौथी भूमिका को स्वप्न कहते हैं, क्योंकि जैसे स्वप्न में प्रातिभासिक सत्ता से जगत् का भान होता है, वैसे ही इसमें भी भान प्रातिभासिक सत्ता से ही होता है *(पंचम भूमिका के लिए सुषुप्तिपद का प्रयोग होने में कारणभूत सुषुप्ति का सादृश्य बतलाते हैं।)* शरत्काल में विच्छिन्न मेघ के विलीन हो जाने पर जैसे केवल शुभ्र आकाशरूप बच जाता है वैसे ही पंचम भूमिका में सम्पूर्ण व्यापारों के विलीन हो जाने पर केवल शुद्ध चिन्मात्र ही बच जाता है। एवं, पंचम भूमिका के लिए जो सुषुप्ति शब्द का प्रयोग आता है इसमें कारण यही है कि सुषुप्तिकाल में जैसे समस्त व्यावहारिक भान विलीन हो जाते हैं, वैसे ही इस पंचम भूमिका में व्यावहारिक और अवशिष्ट प्रातिभासिक त्रिपुटीभान भी विलीन हो जाते हैं, अतः पंचम भूमिका एक तरह से सुषुप्ति के सदृश ही ठहरी, इसलिए सुषुप्ति और पंचम भूमिका में समानता होने से पंचम भूमिका के लिए सुषुप्ति शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र श्रुति आदि में किया गया है, यह निष्कर्ष है ॥५७-६१॥ जो पुरुष पंचम भूमिका में पहुँच गया है, वह केवल चैतन्य सत्तारूप बनकर रह जाता है। सुषुप्तरूप अमुख्य नाम से कही जा रही पंचम भूमिका प्राप्त कर पुरुष समस्त विकारांशों से निर्मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्मरूप तत्त्व में स्थित हो जाता है। जो पाँचवीं भूमिका में पहुँच चुका है, वह द्वैतज्ञान से रहित होकर गाढ़ सुषुप्त के सदृश स्थित रहता है, उसका अपना पूर्णस्वरूप प्रकाशित हो जाता है और भीतर से ज्ञानी रहता है। पाँचवी भूमिका में स्थित पुरुष अन्तर्मुख वृत्ति से रहता है। यद्यपि बाह्य व्यापार में तत्पर रहता है तथापि निरन्तर चारों ओर से शान्त होने के कारण निद्रालु के सदृश दिखाई देता है। इस भूमिका में वासनाशून्य हो अभ्यास करता हुआ पुरुष क्रमशः तुर्यनाम की अन्य छठी भूमिका में चला जाता है ॥६२-६५॥

छठी भूमिका का लक्षण बतलाते हैं।

जहाँ पर न तो सत्, न असत्, न अहंकार और न अहंकार का अभाव ही रहता है, किंतु क्षीण मनन होने के कारण यानी निर्विकल्प होने के कारण योगी केवल द्वैत और अद्वैत से शून्य ही रहता है। अहंकाररूप गाँठ के (🔔) विच्छिन्न हो जाने से उस योगी के सभी सन्देह नष्ट हो जाते हैं और वासनाओं से शून्य जीवन्मुक्त वह योगी निर्वाण को न प्राप्त हुआ भी (देह धारण कर रहा भी) अहंकार और

(🔔) इसमें 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (उसके हृदय की गाँठ टूट जाती है और सब सन्देह दूर हो जाते हैं। यह श्रुति प्रमाण है।

वासनाओं से शून्य होने के कारण निर्वाण को प्राप्त हुआ, चित्रलिखित दीप की नाईं, स्थित रहता है। जीवन्मुक्त वह योगी जड़ जगत् के स्वभाव से बाहर और भीतर से शून्य, आकाश में शून्य घट की नाईं, स्थित रहता है तथा आनन्दपरिपूर्ण स्वभाव होने के कारण बाहर और भीतर से पूर्ण होकर, सागर में परिपूर्ण घट के समान, स्थित रहता है। उसके अद्वितीय रूप की संसार–दशा में कभी प्रसिद्धि न होने से वह किसी उत्तम आश्चर्यमय अपूर्व रूप से सम्पन्न रहता है अथवा वास्तविक दृष्टि से तो वह किसी भी रूप से कुछ भी सम्पन्न न हुआ रहता है। छठी भूमिका में स्थित होकर वह योगी सातवीं भूमिका में पहुँचता है ॥६६–६९॥ सातवीं योगभूमिका विदेहमुक्तता कही गयी है। वह शान्तस्वरूप, वाणी का अगम्य (♣) और संसार की भूमिकाओं की सीमा है। कोई लोग (शैव लोग) उसे शिव कहते हैं, कोई लोग (वेदान्ती) उसे ब्रह्म कहते हैं और कोई लोग (सांख्य, योगी) उसे प्रकृति से पुरुष का विवेक कहते हैं। इस तरह भिन्न–भिन्न लोगों ने अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पित रूपों से सप्तम भूमिका की भावना की है। यद्यपि यह भूमिका सर्वथा उपदेश योग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपदेश किया जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सातों भूमिकाएँ मैने आपसे कह दीं। इनके अभ्यासयोग से मनुष्य दुःख का अनुभव नहीं करता ॥७०–७३॥

उत्तम वैराग्य होने पर ही भूमिकाओं में प्रवेश होता है, अन्यथा नहीं; इसका मदोन्मत्त हथिनी की आख्यायिका के बहाने वर्णन करते हैं।

धीरे–धीरे खूब झूम–झूमकर चलनेवाली, अत्यन्त मदोन्मत्त, लड़ाई करने में सदा तत्पर, अपने बड़े–बड़े दाँतों से प्रख्याति को प्राप्त कर चुकी तथा अत्यन्त अनर्थ को पैदा करनेवाली एक हथिनी है। यदि वह किसी तरह मार दी जाती है, तो इन समस्त भूमिकाओं में मनुष्य विजयी बन सकता है। वह मदोन्मत्त हथिनी जब तक पराक्रम से जीत नहीं ली जाती, तब तक कौन ऐसा वीर है जो उससे आक्रान्त क्षुद्र सांसारिक सम्पत्तिरूपी युद्ध भूमियों में प्रवेश करने के लिए भी समर्थ हो सकता है ? श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, वह कौन प्रमत्त हथिनी है, वे युद्ध भूमियाँ कौन हैं, कैसे यह मारी जाती है तथा कहाँ यह चिरकाल तक रमण करती है। महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मुझे यह मिल जाय, ऐसी जो इच्छा है उसीका नाम हथिनी है, वह शरीररूपी जंगल में रहती है और मत्त होकर अनेक तरह के शोक, मोह आदि उल्लासों को पैदा करने में तत्पर रहती है। मतवाले इन्द्रियों के समूह ही उसके उग्र प्रकृति के बच्चे हैं, वह जीभ से मनोहर भाषण करती है, शुभाशुभ कर्मरूपी दो दाँतों से युक्त वह मनरूपी गहन स्थान में लीन रहती है। चारों ओर दूर तक फैल रहे शरीर से युक्त वासनाओं का समूह ही इस हथिनी का मद है और हे श्रीरामजी, संसारदृष्टियाँ इसकी युद्ध भूमियाँ हैं। यहाँ पर पुरुष बार–बार जय और पराजय का अनुभव करता है। यह इच्छा नामवाली हथिनी कृपण प्राणि समूहों को मारती

(♣) यानी वह योगियों के मानस अनुभव से ही एकमात्र गम्य है। जीवित ज्ञानी पुरुष के लिए यदि सातवीं भूमिका ही नहीं है, तो फिर वह योगियों के मानस अनुभव से गम्य कैसे होगी, ऐसा किसी को भ्रम न करना चाहिए, क्योंकि 'सा सीमा भवभूमिषु' इत्यादि से उसमें संसार की भूमियों की सीमारूपता जो बतलाई गयी है, उससे विरोध होने लगेगा तथा 'आसामभ्यासयोगेन' इत्यादि उत्तरोत्तर भूमिकाओं के अभ्यास का जो निर्देश किया गया है, उससे भी विरोध होने लगेगा।

है। वासना, चेष्टा, मन, चित्त, संकल्प, भावना और स्पृहा इत्यादि इसके नामों का समूह है, यह समूह चित्तरूपी कोश के अन्दर रहता है ॥७४-८२॥

'कथं निहन्यते चैषा' (यह कैसे मारी जाती है) इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

अन्य सभी अस्त्रों का तिरस्कार कर धैर्यनामक सर्वश्रेष्ठ अस्त्र से बहुत दूर तक फैली हुई तथा सम्पूर्ण विषयों के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हुई इस इच्छारूपी हथिनी को सब तरह से जीत लेना चाहिए। 'यह वस्तु मुझे इस तरह प्राप्त हो जाय' यह इच्छा जब तक अन्तःकरण के भीतर विकसित रहती है तभी तक यह महाभयंकर कुत्सित संसाररूपी महाविष से उत्पन्न महामारी बनी रहती है। 'यह मुझे मिल जाय' यह जो संकल्प है, बस इतना ही संसार है तथा इसका शान्त हो जाना मोक्ष है, यही ज्ञानोपदेश-संग्रह है ॥८३-८५॥

तृष्णारूपी संसार का नाश ही मोक्षभूमिका के उदय में हेतु होने से मोक्ष है, भूमिकाओं के उदय में वैराग्य कारण कैसे है, इसको दिखलाते हैं।

पुरुषों के राग आदि अपराध से मलिन हुए मन में श्रुतियों के अनुकूल आचार्य आदि का उपदेश, कमल के पत्तों के ऊपर जलबिन्दु की नाईं, तनिक भी नहीं जमता, लेकिन वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न इच्छारहित विमल आकृतिवाले पुरुष में स्वयं निर्मल अतः दूसरे का चित्त प्रसन्न करने में कारणरूप गुरुउपदेशवाक्य, दर्पण में तैलबिन्दु की नाईं, संक्रान्त हो जाता है – खूब जम जाता है ॥८६॥

राग आदि की उत्पत्ति न होने में तथा उत्पन्न हुए राग आदि के छेदन में उपाय बतलाते हैं।

एकमात्र विषयों की स्मृति का परित्याग कर देने से इच्छारूपी संसार का अंकुर उत्पन्न नहीं होता। विषवृक्ष के अंकुरों की पंक्ति – जैसी अनेक तरह का अनर्थ पैदा करनेवाली, इस इच्छा को तनिक भी बढ़ते ही विषयों के विस्मरणरूप शस्त्र से काट देना चाहिए, इच्छा से व्याप्त हुआ जीव अपने वांछित अर्थ की सिद्धि के लिए दीनता को कभी नहीं छोड़ सकता ॥८७,८८॥

असंवेदन के स्वरूप का व्युत्पादन करते हैं।

सुन्दर असंवेदन में यानी उत्तमरूप से विषयों का स्मरण न होने में श्रेष्ठ प्रयत्न यही है कि चित्त अपने भीतर समस्त व्यापारों से निर्मुक्त होकर अवधानशून्य सोये हुए सैकड़ों मृतकों की नाईं बैठा रहे। हे श्रीरामजी, अनर्थ पैदा करनेवाली उस इच्छारूप मछली को आप सब लोग प्रत्याहाररूपी बंसी में फँसाकर बाँध रखिये ॥८९,९०॥

कल्पनाओं के त्याग से ही मुक्ति होती है, यह आपने पहले अनेक बार कहा है, अब आप इच्छा के त्याग से मुक्ति होती है, यह कैसे कहते हैं, यदि ऐसी आशंका की जाय, तो उस पर कहते हैं।

यह मुझे मिल जाय, इस तीव्र इच्छा को ही उत्तम पुरुष कल्पना कहते हैं और बाह्य पदार्थों का जो विस्मरण है, उसको कल्पना का त्याग कहते हैं ॥९१॥

संकल्प ही सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है, यह जो पहले कहा गया है, उसका भी यही अभिप्राय है, यह इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, संकल्प को ही आप स्मरण समझिये और विस्मरण को तो विद्वान् लोग शिवस्वरूप समझते ही हैं। संकल्प में पहले के अनुभूत पदार्थों की तथा अननुभूत पदार्थों की भी भावना की जाती

है ॥९२॥ अनुभूत और अननुभूत सब तरह की स्मृति का शीघ्र ही विस्मरण कर काष्ठ के समान मूढ़ एवं महामति होकर स्थित रहिये ॥९३॥

सभी प्राणियों को विषय संकल्पों के त्याग के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं होती, इसलिए उनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए, इस अपने समस्त उपदेश रहस्य को अब परम कारुणिक महाराज वसिष्ठजी चिल्लाकर दृढ़ करने की अभिलाषा से कहते हैं।

मैं ऊपर हाथ उठाकर बार–बार ऊँचे स्वर से चिल्लाकर यह कह रहा हूँ, लेकिन कोई उसे सुनता नहीं कि संकल्पत्याग ही परम श्रेय का सम्पादक है, उसकी भावना तुम लोग अपने हृदय में क्यों नहीं करते ॥९४॥ हे श्रीरामजी, यह श्रुतियों से (♨) उक्त और लोक में भी प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों और मन के व्यापारों को छोड़कर केवल चुपचाप बैठा हुआ ही पुरुष उस परम पद को प्राप्त करता है, जिस भूमानन्दरूप परम पद में हिरण्यगर्भ तक का भी साम्राज्य तृण की नाईं तुच्छ बन जाता है ॥९५॥

सर्वथा संकल्पत्याग होने पर देहादि–स्पन्दन के अभाव से व्यवहार का लोप हो जाने पर कैसे जीवन रह सकता है, यदि ऐसी कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

अपने गन्तव्यस्थान (गृह आदि) की ओर जाने के लिए अविच्छिन्न चित्तवृत्तिधारा से युक्त पथिक के पैर में जैसे बिना संकल्प के ही स्पन्दन प्रतिक्षण होते रहते हैं यानी उस पथिक के पैर अपने अभीष्ट स्थान की ओर जाने के लिए बे–रोक–टोक उठते जाते हैं, वैसे ही योगी के भी पूर्वजन्म में किये गये अभ्यासरूपी अदृष्ट के वश से ही अनिषिद्ध अपने कर्मों में स्पन्दन होता रहेगा ॥९६॥ हे श्रीरामजी, इस विषय में अधिक कहने की क्या आवश्यकता है ? संक्षेप से मैं इतना ही कहता हूँ कि संकल्प ही सबसे बढ़कर बन्धन है और उसका न रहना ही मोक्ष है ॥९७॥

किस दृष्टि से संकल्प का परित्याग होगा, उस दृष्टि को कहते हैं।

इस तरह सम्पूर्ण संसार को अज, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा नित्यसिद्ध परमार्थचिद्रूप देखते हुए आप शान्त होकर सुखपूर्वक स्थित रहिये। 'अहं' और 'मम' इस अध्यस्त सम्पूर्ण भेदों के विस्मरण को ही ब्रह्मज्ञानी लोग जीव–ब्रह्मैक्य रूप योग कहते हैं और वह योग शान्त, अक्षय और सुदृढ़रूप से स्थित है। हे श्रीरामजी, आप इस योग में स्थित होकर सब कार्य करते रहिये। यदि आप समाधि में तत्पर हो चुके हैं, तो फिर आप कर्म मत कीजिये। हे श्रीरामजी, विषयों के विस्मरण को ही स्वाभाविक चित्त का क्षय तथा जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप उसमें अत्यन्त तन्मय होकर जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥९८–१००॥

चूडाला द्वारा दिखलाया गया सर्वत्याग भी सम्पूर्ण प्रपंचों की निवृत्तिरूप होने के कारण उक्त स्थिति रूप ही है, इसको कहते हैं।

हे श्रीरामजी, शिव, सर्वगत, शान्त, ज्ञानात्मक, अज और कल्याणरूप ब्रह्म के साथ जो एकत्व की भावना है यानी यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्मस्वरूप है, यह जो परिपूर्ण भावना है वही सर्वत्याग कहा गया है। हे राघव, आप निरन्तर अपने हृदय के अन्दर उसकी भावना करते हुए अपना कर्तव्य कर्म करते

(♨) देखिये श्रुति :

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्॥

चलिये ॥१०१॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, 'अहं,' 'मम' (यह मैं हूँ, यह मेरा है) यह भावना कर रहा पुरुष दुःख से छुटकारा नहीं पाता तथा 'अहं' 'मम' यह भावना न कर रहा पुरुष मुक्त हो जाता है, अब आपको जो अच्छा लगे वही कीजिये ॥१०२॥

एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग

रामजी की विश्रान्ति, भरद्वाज मुनि की उत्कण्ठापूर्वक उक्तियाँ,
जाग्रत् आदि अवस्थाओं के लक्षण तथा तुरीय पद - इनका वर्णन।

यहाँ तक श्रीवसिष्ठ मुनि और श्रीरामजी का परस्पर संवाद हुआ उसे सुनाकर वाल्मीकि मुनि रामजी की विश्रान्ति का स्मरण कर स्वयं आप भी पूर्णानन्द आत्मा में विश्रान्त हो गये। उस समय वे बिलकुल चुपचाप हो गये थे। इस प्रकार की अपने गुरु की स्थिति देखकर भरद्वाज, परमानन्द में अपनी स्थिति न पाकर, आगे और कुछ सुनने की इच्छा से पूछते हैं।

भरद्वाज ने कहा : हे गुरो, रघुकुल में सर्वश्रेष्ठ, विशुद्धमति श्रीरामभद्र ने अपने गुरु महाराज वसिष्ठजी के द्वारा अनेक प्रकारों से उपदिष्ट इस अतिप्राचीन (आदिम ब्रह्मा से लेकर महर्षियों के सम्प्रदाय में चले आ रहे) ज्ञानरूपी सार का श्रवणकर क्या और भी कुछ जिज्ञासु होकर पूछा था या वे उतने ही उपदेश से सम्पूर्ण सन्देहों से रहित एवं तारतम्यशून्य प्रत्यक्ष अनुभूत आत्मसुख से परिपूर्ण होकर पूर्णज्ञानरूप आत्मा बनकर स्थित हो गये, यह मुझसे कहिए ॥१॥

जितना उपदेश रामजी ने सुना उतना तुमने भी तो सुना, यदि तुम्हें सन्देह की निवृत्ति हुई है, तो उन्हें भी सन्देह की निवृत्ति हो गयी। यदि नहीं हुई है तो उन्हें भी नहीं हुई, यों तुम स्वयं ही क्यों नहीं जान लेते, इस आशंका पर भरद्वाजजी अपने में और श्रीरामभद्र में महान् अन्तर बतलाते हैं।

असल में श्रीरामभद्र तो महान् योगी, सबके वन्द्य, देवों के स्वामी, जनम-मरण से रहित, विशुद्ध ज्ञानमय, समस्त गुणों की खान, समस्त ऐश्वर्यों के आधार तथा तीनों लोकों के उत्पादन, रक्षण एवं अनुग्रह आदि में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र थे। वे केवल लोगों पर अनुग्रह के लिए ज्ञानशास्त्र की प्रवृत्ति करने के उद्देश्य से स्वेच्छा से ही अपने अज्ञान की कल्पना कर श्रवणार्थ प्रवृत्त हुए, मैं तो आरम्भ से ही अज्ञानी हूँ, मुमुक्षु हूँ और मेरे पास साधनों की भी कमी है, अतः हम दोनों में महान् अन्तर है, यह तात्पर्य है ॥२॥

यों पूछे गये वाल्मीकिजी प्रश्न की द्वितीय कोटिका कथाशेष से समर्थन करते हुए उत्तर देते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा : भरद्वाज, समस्त वेदान्तशास्त्र का जिसमें संग्रह भरा था, ऐसे वसिष्ठमुनि के पूर्वोक्त वचनों का श्रवणकर कमललोचन तथा अखिल विज्ञानों के ज्ञाता श्रीरामभद्र मुहूर्तपर्यन्त अपने आत्मस्वरूप में जाग्रत और विकसित हो उठे। शक्तिपात के (📖) प्रभाव से उनके अविद्या के पुट खुल

(📖) 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषद् के महावाक्यों से उत्पन्न जो अखण्ड आकारवाली चित्त की वृत्ति है, उसमें हुआ नित्य-निरतिशय आनन्दरूप आत्मतत्त्व का आविर्भाव ही यहाँ 'शक्तिपात' शब्द का अर्थ समझना चाहिए। अथवा योगशास्त्र में वर्णित - सुषुम्ना के मार्ग में षट्चक्रों का भेदनकर कुण्डलिनी का ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश होकर जो शिवशक्ति का संयोग होता है, यही संयोग 'शक्तिपात'

गये और उनका निर्मल चैतन्य प्रकाशित हो उठा। उस समय वे अपने-आप प्रकाशित हो रहे आत्मानन्द से पूर्ण हो गये थे। उस समय प्रश्न, उत्तर और विभाग (उक्त एवं अनुक्त अंश का विवेचन) आदि करने की जो पद्धति होती है, इससे विरत हो गये थे। उनका चित्त आनन्दरूप अमृत से पूर्ण हो गया था। उनके अंगों में रोमरूपी कण्टक हो गये थे। वे सर्वाधिष्ठान चैतन्यरूप बन गये थे, इससे वे चारों ओर से परिपूर्ण होकर विराजित थे। अणिमा आदि आठ सिद्धियों की प्राप्ति करने की इच्छाएँ उनमें तृण के तुल्य हो गयी थीं यानी उनका नामनिशान नहीं था। उन्होंने उस समय वसिष्ठजी से कुछ भी नहीं कहा। वे शिवपद में परिणत हो गये थे ॥३-६॥

इस प्रकार उत्तम अधिकारी श्रीरामचन्द्रजी को ज्ञान की प्राप्ति हुई, यह वर्णन कर अब मन्द, मध्यम अधिकारियों को चित्तशुद्धि के लिए विशिष्ट उपासना और मनन के उपायभूत तीन अवस्थाओं के विवेक एवं दृश्य प्रपंच के विवेक आदि कहने के लिए उनका उपक्रम करने में हेतु भरद्वाज की उत्कण्ठा आदि का वाल्मीकिजी वर्णन करते हैं।

भरद्वाज ने कहा : हे मुनियों के नायक, अहो, मैं आश्चर्यचकित हूँ कि श्रीरामभद्र तो, महान् आत्मपद प्राप्त कर चुके, परंतु हम लोगों को उस तरह के आत्मपद की प्राप्ति कैसे होगी। मेरे जैसे मूर्ख, स्तब्ध, अल्पज्ञ पापी कहाँ और ब्रह्मा आदि द्वारा चाही जा रही दुर्लभ रामजी की स्थिति कहाँ ? हे बड़े-बड़े मुनियों के गुरो, अहो, मैं किस तरह आत्मपद में विश्रान्ति पा सकूँगा और इस दुस्तर संसाररूपी महासागर के मोहरूपी जल से पार किस तरह हो सकूँगा, यह शीघ्र मुझसे कहिए ॥७-९॥

इस प्रकार पूछे गये वाल्मीकि मुनि 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' न्याय से सिद्ध श्रुत ग्रन्थों की बार-बार आवृत्ति करना ही प्रथम उपाय है, यह उपदेश देते हैं।

वाल्मीकि महाराज ने कहा : हे शिष्य आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण रामवृत्तान्त, जो वसिष्ठजी के वाक्यों में रहा, मैंने तुमसे कहा। तुम अपनी बुद्धि से पहले विचार कर पीछे उसका अनुसन्धान करो। मैं भी इस प्रसंग में तुमसे तुम्हारे अनुभव में उपयोगी जो तीन अवस्थाओं के विवेचन आदि वक्तव्य हैं, उन्हें कहता हूँ, सुनो ॥१०॥

चूँकि यह सारा प्रपंच मिथ्याभूत अविद्या से उत्पन्न हुआ है, इसलिए प्रपंच झूठा है और आखिर में चैतन्यरूप अद्वैत तत्त्व का ही राज रहता है, यह बुद्धिमान् मनुष्य अनायास जान सकता है, यह कहते हैं।

भद्र, यह जो यहाँ अविद्या का प्रपंच है, वह तनिक भी सत्य नहीं है यानी समस्त संसाररूप प्रपंच एकदम मिथ्या ही है। उसमें अधिष्ठानभूत जो तत्त्व है, उसको अलग कर पण्डित लोग निकाल लेते हैं

शब्द का अर्थ समझना चाहिए। मन्त्रशास्त्र में शक्तिपात शब्द का अर्थ वर्णित है - गुरुजी की शिष्य के ऊपर जब अत्यन्त दया हो जाती है, तब वे अपनी देह छोड़कर शिष्य की देह में प्रवेश कर जाते हैं, तदनन्तर शिष्यदेह की प्रत्येक नाड़ी का शोधन कर उसकी कुण्डलिनी में सप्तचक्रों में संचारण द्वारा समस्त भुवनों का वृत्तान्त प्रत्यक्ष दिखलाते हैं, यह दिखलाना ही शक्तिपात है। परंतु इस मन्त्रशास्त्रवर्णित अर्थ का यहाँ ग्रहण करना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि श्रीरामभद्र स्वय ही ईश्वर हैं, अतः उनमें सर्वज्ञत्व आदि धर्म स्वतः सिद्ध हैं, इसलिए इन धर्मों की श्रीरामभद्र को न तो कोई आवश्यकता है और न उससे लोकोपकार की सिद्धि ही है।

और अपण्डित लोग उस मिथ्या संसार को लेकर परस्पर कलह करते हैं ॥११॥

मिथ्याभूत द्वैत प्रपंच से वास्तव अद्वैत वस्तु की हानि नहीं होती, यह कहते हैं।

हे प्रियमित्र, असल में चैतन्य वस्तु से कुछ भी अलग नहीं है, अतः मिथ्या प्रपंच से किसका अवरोध किया जा सकता है। प्रणव, महावाक्य आदि जो मैं रहस्य तुमसे आगे जाकर प्रकट करनेवाला हूँ, उनके अभ्यास से तुम अपने चित्त को विशुद्ध बना डालो ॥१२॥

सबसे पहले प्रणव की प्रथम मात्रा से बोधित होनेवाला जगत्प्रपंच का मिथ्यापन, उसके साक्षी का विवेक करने के लिए, सिद्ध करते हैं।

प्रपंच को ग्रहण करनेवाला जो जाग्रत व्यापार है, उसको निद्रा ही कहते हैं और जिसके भीतर चैतन्य दीपक प्रकाशित रहता है, उसे निरंजन (साक्षी) कहते हैं। हे मित्र, यह जो प्रपंच है, इसका मूल कारण झूठा अज्ञान ही है और अन्त भी झूठा अज्ञान ही है। मध्यकाल में भी विचारने पर इसकी कोई सत्ता न होने के कारण केवल प्रतीति ही रहती है, अतः उत्तम विद्वान् इसमें किसी तरह की आस्था नहीं करते ॥१३,१४॥

जो वस्तु असत् रहती है, वह भी अनादि वासनायुक्त अविद्या से, गन्धर्वनगर के सदृश, दिखलाई पड़ती है, यह कहते हैं।

अनादि वासना के दोष से असत् यह संसार दिखलाई देता है, उसका गन्धर्वनग़र के सदृश मिथ्यास्वरूप है। यह अनेकविध भ्रमों से भरा पड़ा है। भद्र, तुम चैतन्यरूप अमृतकन्दली का अभ्यास न कर वासनारूपी विषवल्ली का आश्रय कर क्यों व्यर्थ मोह में फँसे हो ? जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब स्पष्ट हो जाता है कि पहले यानी चित्त की स्थिरता के हेतु ज्ञानरूपी आलम्बन का आश्रय करने के पहले भी यह जाग्रत जगत् था ही नहीं और ऊपर की चतुर्थ अवस्था में भी जाग्रत आदि कुछ है नहीं। यह विषय उन सभी योगियों के अनुभव से सिद्ध है, जो सर्वस्वतन्त्र आत्मज्ञान से परिपूर्ण हैं ॥१५-१७॥

जब तक अज्ञान रहता है, तभी तक चितिरूपी नदी में जगत्-रूपी तरंगों का उद्भव होता रहता है, यह कहते हैं।

सुधास्वरूप रस से परिपूर्ण चितिरूपी महानदी तभी तक जगत्तरंगों से युक्त रहती है, जब तक उसमें आत्मरूप से प्रवेश नहीं किया जाता यानी मुख्य आत्मज्ञान नहीं होता ॥१८॥

जो वस्तु आदि और अन्तकाल में नहीं रहती, वह मध्य में भी नहीं रह सकती, क्योंकि जिसका जो स्वभाव होता है, वह किसी भी काल में बदल नहीं सकता। यह स्वप्न स्थल में सभी को ज्ञात है, इस तरह की अनुमान शैली दर्शाते हैं।

हे सखे, यह समस्त जगत् न तो आरम्भ में है और न अन्त में ही है। इसलिए तुम यह भी समझ लो कि मध्य में भी यह है ही नहीं। इस जगत् का सारा वृत्तान्त ऐसा है, जैसा कि स्वप्न का है। अविद्या से उत्पन्न हुए ये सारे भेद, जल में बुलबुलों की नाईं, क्षण-क्षण में उत्पन्न हो होकर एकमात्र ज्ञानरूप समुद्र में विलीन हो जाते हैं। उत्तम शान्ति देनेवाली आत्मसंवित्तिरूपी नदी पहले जानकर फिर उसमें गोता लगाकर वे बाह्यभ्रान्तिरूप निदाघ (गर्मी के काल) सुखपूर्वक निकल जाय ॥१९-२१॥

अब वाल्मीकिजी अज्ञान का लवणसागर के रूप में वर्णन करते हैं।

अकेला अज्ञानरूपी समुद्र ही समस्त जगत् को व्याप्त कर स्थित है । इस समुद्र में अनादि भ्रान्तिवासनारूप वायु से उत्पन्न हुआ सबसे बड़ा यह 'अहम्' नाम का तरंग है ॥२२॥

छोटे–छोटे तरंगों को दर्शाते हैं ।

उन–उन विषयों में चित्त के गिरने के जो नानाविध प्रकार हैं, उनके हेतुभूत राग आदि दोष इस समुद्र के छोटे–छोटे तरंग कल्पित किये गये हैं । ममता ही इसमें आवर्त है, यह यथेष्ट जहाँ चाहता है, वहाँ प्रवृत्ति करने लग जाता है । इस समुद्र में राग और द्वेष बड़े–बड़े मगर हैं, उन्हीं दो मगरों से पहले तत्काल ही तुम पकड़ लिये जाते हो और तदनन्तर अनर्थरूपी पाताल में तुम्हारा प्रवेश निश्चित हो जाता है, यह प्रवेश किसी से भी रोका नहीं जा सकता ॥२३,२४॥

यदि तुम्हें समुद्र में ही डूबना है, तो आनन्दसमुद्र में क्यों नहीं डूबते, यह कहते हैं ।

भद्र, (यदि तुम्हें समुद्र में डूबना ही है, तो) प्रशान्त तथा अमृतरूप तरंगों से पूर्ण केवल आनन्दामृत के समुद्र में ही क्यों नहीं डूबते ? व्यर्थ द्वैतरूप मगरों से पूर्ण लवणसागर के तरंगों में क्यों डूबते हो ? ॥२५॥

यह संसार श्रीरामजी के लिए तो तत्त्वज्ञान से चला गया, मेरे लिये तो गया ही नहीं, परंतु स्थित है, इस तरह के शोकहेतु मोह का कारण कहते हैं ।

कौन स्थित है, किसके लिए कौन चला गया, किस हेतु से क्या फल मिला, इस तरह के शोक की हेतु माया में (मोह में) तुम क्यों गोते लगा रहे हो ? मैं तुमसे कहता हूँ कि ऐसे मोह में विवेकी बनकर गोते मत लगाओ । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि वेदान्तवाक्य जब यह कहते हैं कि जो कुछ यह जगत् है, वह सब आत्मरूप एक तत्त्व ही है, तब हे प्रिय, ऐसी कौन दूसरी वस्तु चली गयी है, जो तुम्हारे नानाविध शोकों की विषय बन बैठी है । जिनको अज्ञान है, उन बालकों के प्रति तो ब्रह्म का जगत् के रूप में विवर्त होता है, परंतु जो पुण्यवान् पुरुष निरन्तर आनन्दरूप आत्मा में अपनी सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित हैं, उनके प्रति ब्रह्म का जगत् के रूप में विवर्त होता ही नहीं ॥२६–२८॥

किसी समय तत्त्वज्ञानियों को मोह जो दिखाई पड़ता है, वह कैसे ? इस पर कहते हैं ।

जिस पुरुष को तनिक भी विवेक नहीं है, वह शोक करता है और अकस्मात् प्रसन्न भी होता है, परंतु जिसको तत्त्वज्ञान हो गया है, वह निरन्तर हँसता ही रहता है, उसे जो किसी समय मोह दिखाई पड़ता है, वह केवल अज्ञानियों की चेष्टा का अनुकरण ही है ॥२९॥

यह बात अज्ञानियों में नहीं हो सकती, क्योंकि अविद्या से आक्रान्त अज्ञानियों को, जल में स्थलबुद्धि के सदृश, अनात्मा में आत्मबुद्धि रहती है, यह कहते हैं ।

प्रसिद्ध जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अज्ञानी लोगों के लिए अविद्या से ढका रहता है, इसलिए उन्हें जल में स्थल और स्थल में जल का जैसे संशय बना रहता है, वैसे ही कल्पित अनात्मा में आत्मा का और आत्मा में अनात्मा का संशय बना रहता है, अतः अज्ञानियों के लिए उक्त बात हो नहीं सकती ॥३०॥

'जगत् परमाणु है' इत्यादि सिद्धान्त माननेवाले वादियों की रीति से भी विवेक हो जाने पर जब कि शोक चला जाता है, तब 'समस्त जगत् मायामय है' इस सिद्धान्त में विवेक हो जाने पर तो शोक न चला जाय, यह शंका तो हो ही नहीं सकती, इस आशय से कहते हैं ।

पृथ्वी आदि जितने महाभूत हैं, वे सब परमाणुमय हैं, यह मत यदि मान लिया जाय, तो भी यहाँ ऐसी कौन आत्मा नष्ट हो गयी, जिसका शोक किया जाय, क्योंकि परमाणुवाद में भी देह आदि के अनात्मा होने के कारण उनके नाश से आत्मा का नाश तो होता नहीं ॥३१॥

अपनी प्रिय वस्तु के नाश से प्राणी को शोक अवश्य होता है। यदि वह प्रिय वस्तु सद्रूप है, तब तो वह कभी नष्ट नहीं हो सकती और यदि असद्रूप है, तो वह कदापि स्थित नहीं रह सकती, इस तरह दोनों प्रकारों से उस आत्म–वस्तु के नाश की किसी तरह भी सिद्धि न होने के कारण शोक का कोई हेतु है ही नहीं, इस आशय से कहते हैं।

हे मित्र, न तो असद्वस्तु की उत्पत्ति होती है और न सद्वस्तु का अभाव होता है, केवल माया द्वारा विरचित चित्र–विचित्र रचनाओं के ये आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं। यदि देहादि रचनाविशेष मायिक है, तो फिर ऐन्द्रजालिक द्वारा दिखाई गयी माया की नाईं इसे उदासीन और तटस्थ अवभासित होना चाहिए, शोक, मोह आदि दुःखों से भरे हुए हजारों अनर्थ उत्पन्न करने में इसके पास विशेष हेतु क्या है, यदि ऐसी तुम आशंका करो, तो उस पर हम कहते हैं, सुनो। हे मित्र, यह तुम्हारी आशंका सत्य है, आधुनिक कोई हेतु इसके पास उपस्थित नहीं है, किंतु पुण्य और पाप में प्रवृत्ति रूप जो अनेक पूर्व जन्मों का संचित पुरुषप्रयत्न है वही पुण्य–पापनामक विशेष हेतु इसके पास उपस्थित है। उसी से वह मायिक देह आदि पुष्यादि–फल के भोग के लिए विष के समान मरण–मूर्च्छा आदि हजारों हेतुओं के स्वरूप में परिणत हो जाता है और सैकड़ों बार उपदेश देने पर भी अध्यात्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्रों का अर्थ पाप के कारण इसके हृदय में स्थान नहीं कर पाता, इसलिए हे मित्र, उस पाप के विनाश के लिए अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के वास्ते अर्धनारीश्वर आदि का वेष धारण किये हुए जगद्गुरु सगुण परमेश्वर की तुम उपासना करो। हे मित्र, अभी तक तुम्हारे समस्त पाप नष्ट नहीं हो गये हैं। प्राणियों द्वारा किये गये पुण्य–पापरूपी कर्म ही इस पशुपति भगवान् के प्राणीरूपी पशुओं के बंधन के लिए पाशरूप से विविध श्रुति आदि प्रमाणों के द्वारा प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं। हे सखे, तुम तब तक साकार (📖) देव का भजन करो, जब तक तुम्हारा चित्त विशुद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि उस भजन से विघ्नों द्वारा किसी तरह की बाधा न पहुँचाये जाने के कारण निराकार परमतत्त्व में तुम्हारी सहज स्थिति दृढ़ हो जायेगी। साकार महेश्वर की उपासना से प्राप्त विशुद्ध सत्त्व के बल से हजारों विविध व्यामोहों के द्वारा प्रचण्ड बने अज्ञान की इस व्यामोह–शक्ति को जीतकर गुरु और शास्त्रों के उपदेश में विश्वासयुक्त मन से इन्द्रियों के साथ–साथ मनोनिग्रहरूप योग के मार्ग का अनुसरण करो। अनन्तर क्षणभर की समाधि लगाकर अपने से ही प्रत्यगात्मा का अवलोकन करो, ताकि उस प्रत्यगात्मा के दर्शन से तमोगुण से आच्छादित तुम्हारी बुद्धिरूपी रात प्रभातरूप में परिणत हो जाय। केवल पुरुष प्रयत्नरूप कर्मों से कोई मतलब सिद्ध नहीं होता, भगवान् महेश्वर के एकमात्र अनुग्रह से ही मनुष्य प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति कर लेते हैं ॥३२–३८॥

अच्छे कुल में उत्पत्ति, सदाचार, चान्द्रायणादि तप तथा अग्निहोत्रादि कर्मों का सम्पादन आदिरूप

(📖) देखिये, श्रुति भी कह रही है : उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्। ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥ इत्यादि।

वर्तमान काल के पुरुषप्रयत्न पूर्वजन्म के कर्मों की अपेक्षा प्रबल होते हैं, यह तो आप पहले ही सिद्ध कर चुके हैं, अब फिर आप ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता क्यों बतला रहे हैं, इस आशंका पर कहते हैं।

हे मित्र, महेश्वर के अनुग्रह के बिना केवल कुलीनता, सदाचारिता, नीति और पराक्रम आदि कुछ भी नहीं काम कर पाते, क्योंकि पूर्वजन्म के कर्म अधिक बलवान् होते हैं। पूर्वजन्मों के कर्मों के अनन्त तथा इस जन्म के पुरुष प्रयत्नों के अल्प होने के कारण ईश्वर के अनुग्रह के बिना उनके ऊपर विजय नहीं पायी जा सकती, इसलिए ईश्वरानुग्रहरूपी सहायता हृदय में करके ही इस जन्म के पुरुष प्रयत्नों की प्रबलता पहले सिद्ध की गयी है, उसे छोड़कर नहीं, यह भाव है ॥३९॥

तब तो भगवान् महेश्वर की उपासना ही करनी चाहिए, यम, नियम, ज्ञान आदि की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसी आशंका होने पर कहते हैं।

सखे, ईश्वर की शरण में गये हुए भी तुम पुरुष के तर्कों से अगम्य तथा एकमात्र श्रुति से गम्य धर्मादिसहित ज्ञानरूप प्रतीकार से यानी मूलसहित सम्पूर्ण कर्मों के निरासोपाय से क्यों उद्विग्न हो रहे हो, क्योंकि उपासना द्वारा प्रसन्न किया गया ईश्वर भी ललाट के ऊपर लिखे गये अक्षरों को अपने हाथ से स्वयं नहीं मिटा सकता, किंतु ज्ञानकृत मूलोच्छेदोपाय से ही मिटा सकता है ॥४०॥

गुरु और शास्त्रों में शिष्य को बोध दिलाने की शक्ति, शिष्य में चित्त की शुद्धि द्वारा ऊहापोह में अधिक कुशलता के कारण समझने की शक्ति तथा रागादि में मूल सहित उखड़ जाने की योग्यतारूप परिपाक आदि सब सामग्रियों का मिलना भी ईश्वर की इच्छारूप नियति के वश ही रहता है, इसे कहते हैं।

कहाँ तो वाणी और मन के अगम्य अखण्ड ब्रह्मात्मचिति को बतलानेवाला गुरु, कहाँ उसके जानने की योग्यतारूप शिष्य का कौशल और कहाँ शम, दम आदि के क्रम से अपने सर्वनाश के लिए परिणत यह मोहरूप वल्लरी ? परंतु जिसके प्रभाव से यह सारी सामग्री परस्पर एक दूसरे में मिल गयी है, वह ईश्वर की इच्छा अचिन्तनीय है ॥४१॥

इसलिए ऐसी सामग्री उपलब्ध होने पर मोह को जीत लेने के लिए खूब उत्साह रखना ही युक्त है, बीच में आकर शोक करना ठीक नहीं, इसे कहते हैं।

हे भरद्वाज, तुम अपने विवेक से इस मोह का स्पष्टरूप से त्याग कर दो, फिर तो निःसन्देह तुम असाधारण ज्ञान को प्राप्त कर लोगे ॥४२॥

किसी बड़े कार्य में सामग्रीहीन पुरुष को ही शोक करना उचित है, महाराजों की नाईं सर्वसम्पन्न तुम्हें शोक करना तो ठीक नहीं, इस आशय से कहते हैं।

महाशक्ति सम्पन्न राजा युद्ध आदि महाविपत्तियों में फँस जाने पर भी धन, नौकर आदि सामग्रियों से सम्पन्न होने के कारण दूसरों के लिए अतर्कित भी पृथिवी परिपालन, दुष्टनिग्रह, शिष्टपरिपालन आदि कार्य केवल अज्ञान से ही करने में समर्थ होता है, किंतु अल्पशक्ति सम्पन्न पुरुष तो धनादिक्षतिरूप साधारण एक छोटी-सी आपत्ति आ जाने पर भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर शोक करने लगता है क्योंकि उसे पार करने में धैर्य आदि सामग्रीरूप हेतु उसके पास नहीं रहता ॥४३॥

जीवन्मुक्त पुरुषों को दृष्टान्त बनाकर पुण्य-सामग्री रहने पर मुझे बोध अवश्य ही हो जायेगा, यह

अनुमान करके सबसे पहले पुण्य कमाने में मनुष्य को प्रवृत्त होना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

भगवान् महेश्वर की दया से अनेक जन्मों के बाद आत्मज्ञान प्रकट होता है, यह आत्मज्ञान मुझे भी सामग्री रहने पर अवश्य होगा, ऐसा प्रत्येक पुरुष को अनुमान कर लेना चाहिए, क्योंकि यहाँ जीवन्मुक्त धीर पुरुषों में अनेक जन्मों के संचित पुण्य से आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है, यह दृष्टान्त है ॥४४॥

पाप के समान पुण्य भी संसारबन्धन का कारण है, अतः शत्रुस्वरूप हुआ पुण्य क्यों कमाया जाय ? इस आशंका पर कहते हैं।

हे पुत्र, विषयों में अनुराग होने पर शत्रुस्वरूप हुए जिस पुण्यकर्म से तुम्हें इस तरह का बन्धन प्राप्त हुआ है, विषयों में अनुराग न होने पर मित्रस्वरूप हुए उसी पुण्यकर्म से तुम मोक्ष पा जाओगे ॥४५॥

अधिक पुण्य के द्वारा पूर्वजन्म के पापों का नाश होने पर शम, दम आदिरूप अमृत से शीतलता प्राप्त करनेवाले पुरुषों को आधिदैविक आदि तीनों तरह के तापों की शान्ति हो जाती है, इसे कहते हैं।

रागादि दोषों से शून्य सज्जनों का यह सत्कर्मों का संवेग प्राणियों के पूर्वजन्म के पापों को नष्ट करता हुआ उनके त्रिविध तापों को ऐसे शान्त कर देता है, जैसे वर्षा का समूह दावानल को ॥४६॥

पुण्योपार्जन के बाद दृढ़ वैराग्य होने पर जो कार्य करना चाहिए उसका उपदेश देते हैं।

हे मित्र, यदि अपना कल्याण चाहते हो, तो संसार चक्र के आवर्त में भ्रमण मत करो, (अथवा 'संसारचक्रावर्तभ्रम ्रमम्' इस पाठ के अनुसार – संसार चक्र के आवर्तरूपी भ्रम में यदि तुम भ्रम करना नहीं चाहते, तो) सब कभ। ्रुं छोड़–छाड़कर श्रवण आदि उपायों से तुम केवल ब्रह्म में आसक्त हो जाओ। जब तक बाह्य विषयों में आसक्ति है यानी जब तक ब्रह्म में आसक्ति नहीं है तभी तक विकल्प से उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखाई देता है। हे मित्र, जल के तरंगयुक्त होने पर ही समुद्र अपने तट की ओर जाकर उससे टक्कर खा करके विक्षिप्त होता है, जल के निश्चल रहने पर तो वह केवल जलरूप ही दिखाई देता है। विवेकज्ञानरूप दृष्टि (चक्षु) को ढक देनेवाले इस शोक का तुम अवलम्बन क्यों कर रहे हो। हे मित्र, अभंगुर वह प्रज्ञारूपी यष्टि (छड़ी) ही इस तरह शोक से अन्धे बने हुए तुम्हारा तब तक निर्वाह करे जब तक कि तुम्हारी विवेक दृष्टि खुल नहीं जाती। हर्ष और शोक के आत्मज्ञान के उत्साह के विनाशक – तरंगों से, तृणों की नाईं, जो लोग इस संसारसागर में बहते हैं वे लोग महात्माओं की गणना में कभी नहीं गिने जाते। हे सखे, वह सारा जगत् (जीवसमूह) हर्ष, विषाद आदि अवस्थारूप झूले पर निरन्तर आरूढ़ है। इसे छः ऋतु रूप या काम, क्रोध आदि रूप छः झूलों से झुलाकर काल–क्रीड़ा करता है, अतः इसमें तुम खिन्न क्यों हो रहे हो अर्थात् खिलवाड़ करने के लिए कल्पित पदार्थों के संयोग और वियोग में खेद करना युक्त नहीं है। इस तरह की नानाविध क्रीड़ाओं में उत्कण्ठा रखनेवाला एकमात्र काल ही अनेक उपायों से एक के पीछे एक अनेक जगतों को उत्पन्न करता है, विनाश करता है, फिर तत्काल ही उत्पन्न करता है और फिर विनाश करता है ॥४७–५२॥

जैसे दूसरे प्राणियों के शरीर आदि का काल भोजन कर डालता है वैसे ही अपने शरीर आदि का भी काल भोजन कर डालता है, इस नियम को मानकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि जो जिसका खाद्य है, उसे वह अवश्य ही खा डालेगा। जब इस तरह का निश्चय हो जाता है, तब शरीर आदि में से अहन्ताभिमान का भी परित्याग हो जाता है और तदनन्तर शोक का प्रसंग नहीं आता, यह कहते हैं।

हे भद्र, केवल कालरूप सर्प द्वारा बलपूर्वक आक्रमण कर भक्षित किये जानेवाले जन्तुओं के बीच में वास्तव में न कोई विशेष ज्ञान है, न कोई ऐसे ज्ञान का विषय विशेषरूप धर्म है और न कोई ऐसे धर्म का आश्रय (धर्मी) ही है ॥५३॥ जो देवयोनि हैं वे भी जब दुष्ट काल के पिण्ड से छूटे हुए नहीं हैं यानी देवताओं को भी जब दुष्ट काल पचा जाता है, तब निमेषपर्यन्त रहनेवाले विनाशी शरीरों की तो कथा ही क्या ॥५४॥

वास्तव में तुम साक्षीरूप ही हो, इसलिए तुम्हें दूर से केवल संसारनृत्य का कौतुक ही देखना चाहिए, न कि शोक, मोह आदि विकारों से विकृत होकर स्वयं नृत्य करना चाहिए, यह कहते हैं।

भद्र, धन नाश आदि विपत्तियों में विकृत इन्द्रियों से युक्त होकर प्रेमपूर्वक क्यों स्वयं ही नृत्य करने लग जाते हो, क्षणभर चुपचाप बैठकर संसारनाटक तो देखो। हे भरद्वाज, अनेक रंगों से युक्त इस जगत् को क्षणभंगुर देखकर ज्ञानी पुरुष तनिक भी शोक नहीं करता। अमंगल देनेवाले शोक को छोड़ दो, मंगलमय वस्तुओं का विचार करो और चिदानन्दघन स्वच्छ परमात्मा की भावना करो ॥५५-५७॥

जो मंगलमय वस्तुएँ हैं, उन्हें बतलाते हैं।

जो पुरुष देव, द्विज और गुरुओं के ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल चित्तवाले हो गये हैं और जो वेदादि सत्-शास्त्रों में प्रमाण्यबुद्धि रखते हैं ऐसे पुरुषों के ऊपर महेश्वर का परम अनुग्रह होता है अर्थात् देव, द्विज आदि के ऊपर श्रद्धा आदि रखने से ईश्वरानुग्रहरूप परम मंगल प्राप्त होता है, इसलिए देवादि में श्रद्धा आदि ईश्वरानुग्रहरूप मंगल के साधन होने से मंगलरूप हैं और ईश्वरानुग्रह साक्षात् ज्ञान का साधन होने से उनसे भी बढ़कर मंगलरूप है। भरद्वाज ने कहा : भगवन्, आपके प्रसाद से मैंने पूर्णरूप से सब साधनों का रहस्य यह जान लिया कि वैराग्य से बढ़कर दूसरा इस संसार में उद्धार करनेवाला बन्धु नहीं है और संसार से बढ़कर दूसरा मारनेवाला कोई शत्रु नहीं है। अब मैं अनेक वाक्यरूप समस्त ग्रन्थ से महाराज वसिष्ठजी द्वारा कहे गये ज्ञानरूपी रहस्य का सम्पूर्ण निचोड़ थोड़े शब्दों में सुनना चाहता हूँ, कृपाकर कहिए। वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, मुक्ति देनेवाले इस महाज्ञान को तुम सुनो, इसके केवल सुनने से ही फिर संसाररूपी सागर में तुम गोते नहीं लगाओगे ॥५८-६१॥

जगत् का लय करने में हेतुभूत अपवाद कहने की इच्छा से अध्यारोप द्वारा अनेक प्रकार से स्थित एक ही मंगलरूप देव को नमस्कार करते हैं।

जो देव वास्तव में एक होता हुआ भी अध्यारोप द्वारा उत्पत्ति, स्थिति और संहाररूप कार्यों से अनेक प्रकार का होकर स्थित है, उस सच्चिदानन्दरूप परमात्मा को नमस्कार है ॥६२॥

प्रश्न के अनुसार उत्तर कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

जब प्रपंच का लय किया जाता है तब जिस उपाय से परमतत्त्व प्रकाशित होता है उस उपाय को तुम्हें संक्षेप से श्रुतिकथित क्रम का अवलम्बन कर कहता हूँ ॥६३॥

अलग-अलग प्रकरणों में कहे गये तत्त्व को सूक्ष्मबुद्धिवाले पुरुष स्वयं ही पूर्वापर के विचार से जान सकते हैं, इस प्रकार समझने की तुममें सुबुद्धि विख्यात थी, परंतु इस समय वह कैसे नष्ट हो गयी, यों कहे जानेवाले अर्थ के ग्रहण में अवधानार्थ भरद्वाज को वाल्मीकि महाराज फटकार सुनाते हैं।

हे भरद्वाज, पूर्वापर ग्रन्थ के विचार में पटु तुम्हारी स्मृति कहाँ चली गई, उसीसे स्वयं ही सब कुछ हस्तामलकवत् जाना जा सकता है ॥६४॥ पहले अपने अन्तःकरण से तत्त्व का स्वयं ही विचार करना चाहिए, इसीसे वह आत्मवस्तु स्वयं प्राप्त की जा सकती है। इसके प्राप्त होने से पुरुष फिर शोक नहीं करता। हे भरद्वाज, सत्संग और सत्–शास्त्र से प्राप्त विवेक से वैराग्ययुक्त होकर पुरुष को इसी तत्त्व की बार–बार भावना करनी चाहिए ॥६५॥

एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठाईसवाँ सर्ग

प्रविलापनयुक्ति से भरद्वाज मुनि की कृतार्थता,
ज्ञानियों के कर्तव्य तथा राम के व्युत्थापन का क्रम–यह वर्णन।

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति' इत्यादि श्रुति के तात्पर्य के वर्णन द्वारा साक्षात्कारपर्यंत सांगोपांग प्रपंच के प्रविलापन का प्रकार कहने के लिए उपक्रम करते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, शम, दम, उपरति यानी काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्याग से एवं विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से जनित सुख से (विषयासक्ति से) शून्य, श्रद्धा से युक्त मुलायम आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को जीत करके योगी तब तक ॐकार का उच्चारण करता रहे अर्थात् दीर्घता से जप करता रहे, जब तक मन प्रसन्न न हो जाय। तदनन्तर अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए प्राणायाम करे और उसके पीछे विषयों से इन्द्रियों को धीरे–धीरे खींच ले। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ इनमें जिस–जिस की जिस–जिस उपादान कारण से उत्पत्ति हुई है, उस उसको जानकर यानी श्रुति आदि के द्वारा अनुसन्धान कर पीछे उनके उपादान कारणभूत उन–उन भूतों और देवों में उन सबका लय कर दे। इस तरह आध्यात्मिक देह, इन्द्रिय आदि भाव को छोड़कर 'उनका कारणभूत देवतासमष्टिरूप अकारार्थ विराट् मैं ही हूँ' इस तरह की भावना से पहले विराट् में स्थित होकर; उसके बाद उसके कारणभूत उकारार्थ सूक्ष्मभूत लिंगसमष्ट्यात्मक हिरण्यगर्भ में उस विराट् का लय करके 'हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ' इस भावना से स्थित रह जाय। तदनन्तर उसके कारणभूत त्रिगुणात्मक माया से उपहित मकारार्थ अव्याकृत में उस हिरण्यगर्भ का भी लय करके 'अव्याकृतस्वरूप मैं ही हूँ' इस भावना से स्थित हो जाय। उसके पश्चात् सम्पूर्ण जगत् के मूलकारणरूप से उपलक्षित अव्याकृतसहित सबके अधिष्ठानभूत अर्धमात्रा से लक्षित परमकारण शुद्धब्रह्म में उस अव्याकृत का भी लय करके स्थित हो जाय ॥१–५॥

देह, इन्द्रिय आदि में जिसकी जिससे उत्पत्ति हुई है, उसका उसमें लय कर दे, यह जो कहा गया है उसका विशेषरूप से फिर विवरण करते हैं।

मांस आदि जो पार्थिव भाग हैं उनका पृथिवी में, रक्त आदि जो जलीय भाग हैं उनका जल में तथा जो तैजस भाग हैं उनका तेज में, उनकी तन्मात्रारूपता जानकर लय कर दे। वायुभाग का महावायु में और आकाशभाग का आकाश में लय कर दे। इसी तरह घ्राण आदि इन्द्रियों का भी उनके आरम्भक

देवतोपाधिभूत सूक्ष्म पृथिवी आदि में लय करके 'दिशः श्रोतं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध जीव के भाग की प्रसिद्धि के लिए कर्ण आदि गोलकों में प्रवेश द्वारा श्रोत्र आदिरूप इन्द्रियभाव को प्राप्त दिशा आदि देवताओं का क्रमशः उन देवताओं में ही लय कर दे ॥६,७॥ अपने श्रोत्रेन्द्रिय का दिशाओं में और त्वगिन्द्रिय का विद्युत् में लय कर दे। चक्षुरिन्द्रिय का सूर्य में तथा रसनेन्द्रिय का जल के देवता वरुण में लय कर दे। प्राण का वायु में, वाणी का अग्नि में और हस्तेन्द्रिय का इन्द्र में लय कर दे। अपने पादेन्द्रिय का विष्णु में तथा गुदा-इन्द्रिय का मित्र में लय कर दे। उपस्थेन्द्रिय का कश्यप में लय करके उसके बाद मन का चन्द्रमा में लय कर दे। इसी तरह बुद्धि का चतुर्मुख ब्रह्मा में लय कर दे। हे मित्र, इन्द्रियों के बहाने देवता ही सब स्थित हैं, इन्द्रियों के नाम से कोई दूसरी वस्तुएँ स्थित नहीं हैं, इनका मैं तुम्हें तत्त्वोपदेश द्वारा लय करने का आदेश 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (वाणी बनकर अग्नि मुख में प्रविष्ट हो गयी) इस श्रुतिवाक्य को प्रमाण मानकर ही दे रहा हूँ। स्वतः अपने मन से किसी तरह की कोई कल्पना करके मैंने इन अर्थों को तुझसे प्रकट नहीं किया है ॥८-११॥

देह, इन्द्रिय आदि को विलीन करने का तरीका बतलानेवाले संग्रह श्लोक को यों बतलाकर अब 'विराजि प्रथमं स्थित्वा' (विराट् मैं ही हूँ, इस भावना से पहले विराट्-रूप में स्थित होकर) इस उक्ति को और साफ करके बतला रहे हैं।

इस तरह अपनी देह को उसके कारण में विलीन करके 'मैं विराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करे ॥१२॥

'अव्याकृते स्थितः पश्चात्' (अव्याकृत में स्थित होकर उसके पीछे) इसकी व्याख्या के प्रसंग में ब्रह्मविद्या के इच्छुक पुरुष को पहले उपास्यरूप से कही गयी, सारे ब्रह्माण्ड की आत्मा विराट् पुरुष के हृदयकमल के ऊपर सदा स्थित रहनेवाली और ब्रह्मविद्या से घटित अर्ध शरीर से युक्त मायाशबल सम्पूर्ण जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारणरूप ब्रह्म की मूर्ति को दर्शा रहे महाराज वाल्मीकि मुनि वही सम्पूर्ण प्राणियों का माता-पिता के रूप से भी कारण है यह बतलाते हैं।

सारे ब्रह्माण्ड के भीतर जो यह अर्धनारीश्वर भगवान् स्थित है वही सम्पूर्ण भूतों का आधार तथा कारण कहा गया है ॥१३॥ वह सबका पिता होने से ही अपने विरचित, देव, मनुष्य आदिरूप समस्त जगत को अन्न-पान आदि के द्वारा जीवित रखने के उपाय में व्यवस्थित होकर हविष् तथा वृष्टि आदि से सबके पोषक श्रौत-स्मार्त यज्ञों की सृष्टिरूप से ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित है। *(प्रासंगिक बात बतलाकर प्रस्तुत देहेन्द्रियादि का विलय बतलाने के लिए ब्रह्माण्ड का आवरण बतलाते हैं।)* इस ब्रह्माण्ड के घेरे से बाहर द्विगुण पृथिवी है और उस पृथिवी से द्विगुण जल है *('एभिरावरणैरण्डं व्याप्तं दशगुणोत्तरैः इत्यादिरूप से ब्रह्माण्ड की अपेक्षा उत्तरोत्तर दस गुण अधिक पृथिवी आदि का आवरण यद्यपि पुरुषों में सुना जाता है तथापि द्विगुण ही उसे भी समझना चाहिए, क्योंकि चारों ओर से घेरकर पाँच कोश की प्रदक्षिणा करने पर जैसे पचीस कोश की प्रदक्षिणा हो जाती है वैसे ही एक के पचगुने को दो बार गुण देने से दसगुने की सिद्धि हो जाती है अथवा पुराणों में जो आवरण कहा गया मिलता है वह अपंचीकृत भूतों का आवरण है, किंतु यहाँ तो पंचीकृतभूतों के अभिप्राय से कहा गया है, यों किसी तरह का विरोध नहीं दीखता)*॥१४॥ जल से द्विगुण तेज है, तेज से द्विगुण वायु है और वायु से द्विगुण आकाश है। यों क्रमशः एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर द्विगुण हैं। पंचीकृत या अपंचीकृत आकाश से यह सारा जगत् ग्रथित

है। योगी को चाहिए कि वह पृथिवी का जल में लय करके उस जल को फिर तेज में लीन कर दे। तेज को वायु में विलीन करके उस वायु को फिर आकाश में विलीन कर दे और आकाश को समस्त स्थूल प्रपंचों की उत्पत्ति के कारणभूत हिरण्यगर्भाकाश में विलीन कर दे। उस हिरण्यगर्भाकाश में एकमात्र लिंग शरीर धारणकर योगी क्षणभर स्थित रहे। *(योगी का वह लिंग शरीर क्या है, इस पर कहते हैं)* वासनाएँ, सूक्ष्मभूत, कर्म, अविद्या, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि – इन सबको पण्डित लोग लिंग शरीर कहते हैं। तदनन्तर स्थूल उपाधि का लय हो जाने से अर्ध शरीर से सम्पन्न हुआ–सा वह योगी ब्रह्माण्डरूपता के अभिमान का त्याग करके उससे बाहर निकल कर सूक्ष्मभूतात्मक लिंगसमष्टिदेह में 'मैं' ही आत्मरूप अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ हूँ' यों चिन्तन करे ॥१५–१९॥

चार मुखवाला शरीर ही हिरण्यगर्भनाम से लोक में प्रसिद्ध है, जिसकी कमल से उत्पत्ति हुई है, यह तो भूतसूक्ष्मसमष्ट्यात्मा चार मुखवाला नहीं है, फिर यह हिरण्यगर्भ कैसे हो सकता है, यदि यह आशंका हो, तो इस पर कहते हैं।

सूक्ष्मभूतों में अभिमान करके बैठा हुआ यही – ब्रह्माण्ड–प्रविलापन के पहले ब्रह्माण्डगत ऐश्वर्यों का भोग करने के लिए कमल से उत्पन्न अपने शरीर की कल्पना करके चारमुखवाला था। *(ऐसे हिरण्यगर्भ की आत्मभावना करने के अनन्तर कर्तव्य बतलाते हैं)* अपंचीकृत भूतों की भी अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म उपाधिरूप से अव्याकृत मायांश में तथा उपहित चिदाकार से अव्यक्त में लिंग शरीर को भी विलीन कर बुद्धिमान् योगी स्थित रहे। जिसमें यह समस्त जगत रहता है वह अव्याकृत और अव्यक्त नाम और रूपों से विनिर्मुक्त है। उसीको कोई (सांख्यवादी) प्रकृति, कोई (वेदान्ती लोग) माया तथा दूसरे (नैयायिक) परमाणु कहते हैं। तर्क से विभ्रान्त चित्तवाले कोई (बौद्ध लोग) उसे संवृतिरूप अविद्या कहते हैं। उस अव्याकृत में प्रलयकाल में सभी पदार्थ लय को (षष्ठभावविकार को) प्राप्त होकर अनभिव्यक्त स्वरूप को धारण करते हुए उसकी सत्ता से ही अवस्थित रहते हैं ॥२०–२२॥

कैसे स्थित रहते हैं, यह कहते हैं।

जब तक दूसरी सृष्टि नहीं होती तब तक परस्पर के सम्बन्ध से शून्य तथा चिति की भोग्यतारूप आस्वाद से रहित होकर उस अव्याकृत स्वरूप में ही स्थित रहते हैं और प्रलय के अनन्तर सृष्टिकाल में फिर उसी प्रकृतिभूत अव्याकृत से सब उत्पन्न होते हैं ॥२३॥ अनुलोमक्रम से यानी आकाशादि क्रम से सृष्टि होती है और प्रतिलोमक्रम से यानी सृष्टि के विपरीत क्रम से उसी में सबका संहार होता है। इसलिए तीनों स्थान को यानी विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत या स्थूल, सूक्ष्म और कारण अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को छोड़कर (☙) अविनाशी तुरीय पद का तब तक ध्यान करे जब तक उसकी साक्षात् प्राप्ति न हो जाय। ध्यान से दीप्त हुई आखिरी साक्षात्कारात्मक वृत्ति से, ध्यान के कर्ता और कारणरूप लिंग का भी प्रविलापन कर निरतिशय परब्रह्म में उस प्रकार प्रविष्ट हो जाय, जिस प्रकार घट के विनष्ट हो जाने पर घटाकाश महाकाश में प्रविष्ट हो जाता है ॥२४॥

'नान्तः प्रज्ञम्' इत्यादि श्रुति में लिंग का बाध दिखाई नहीं देता, इसलिए कैसे उसकी निवृत्ति

(☙) अर्थात् 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्' इस श्रुति द्वारा दिखाये गये मार्ग से छोड़कर।

होगी, यह आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि तीनों स्थानों का बाध होने पर लिंग का बाध अर्थतः सिद्ध हो जाता है, क्योंकि स्थूलसूक्ष्मभूत और इन्द्रिय आदि में ही लिंग की स्थिति है, यह दिखलाते हैं।

शुद्ध ब्रह्म में जब कि अज्ञान का आवरण आ जाता है तब अव्याकृत के अस्तित्व में सूक्ष्मभूत द्वारा लिंग की उत्पत्ति होती है, इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि किसी हालत में भी अज्ञान के बिना लिंग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः अज्ञान ही लिंग का मूलाधार ठहरा। परम्परया स्थूलसूक्ष्मभूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म और वायु भी उसके आधार हैं। ऐसी दशा में अज्ञानरूप मूल आधार की निवृत्ति हो जाने पर लिंगरूपी बेड़ी का भंग सिद्ध ही हो जाता है ॥२५॥

इस तरह वाल्मीकि महाराज ने भरद्वाज को प्रणव के अर्थ का विस्तार कर बोध किया और इससे वे ज्ञानी बन गये। अब भरद्वाज अपने अनुभव की परीक्षा करने के लिए उसे प्रकट करते हुए कहते हैं।

भरद्वाज ने कहा : महाराज, मैं अब सभी तरह से लिंगरूपी बेड़ी के बन्धन से निर्मुक्त हो गया हूँ और चूँकि मैं चैतन्य का अंश हूँ, इससे चैतन्यरूपी आनन्दसागर में प्रविष्ट हो गया हूँ। अंश और अंशवान् का असल में अभेद होने के कारण मैं समस्त उपाधियों से शून्य परमात्मा ही हूँ। मैं कूटस्थ, शुद्ध, व्यापक और चैतन्यरूप हूँ; चैतन्यशक्तिमान् नहीं हूँ ॥२६,२७॥

किस तरह के अभेद से तुम परमात्मारूप बन गये हो, इस पर कहते हैं।

जैसे एक ही घट का घट और कलश यों भिन्न–भिन्न नाम कल्पित है इसीसे घटयुक्त आकाश में घटाकाश और कलशाकाश यों भिन्न–भिन्न नाम कल्पित है और इसी से घटयुक्त आकाश में घटाकाश और कलशाकाश यों भिन्न–भिन्न व्यवहार कल्पित है, वैसे ही एक ही अज्ञान का भिन्न–भिन्न जगत नाम कल्पित है। इसी से जगद्युक्त मुझमें जीव, ईश्वर आदि भिन्न–भिन्न व्यवहारों की कल्पना की गयी थी। जैसे व्यवहार में एक घट के ही नाश से घट और कलश दोनों की निवृत्ति हो जाने से घटाकाश, कलशाकाश, महाकाश आदि भेद मिटकर शुद्ध आकाशरूप ऐक्य बन जाता है, वैसे ही एकमात्र अज्ञान की ही निवृत्ति हो जाने से सब नामों का भेद मिटकर एकमात्र चैतन्य का साम्राज्य मुझे प्राप्त हो गया है। इसी तरह की एकता के उद्देश्य से ही ब्रह्मभूत हुए मेरे विषय में 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ बड़े आदर से कहती हैं ॥२८॥

'यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरे घृते घृतम्। अविशेषो भवेत् तद्वज्जीवात्मा परमात्मनि॥' (जैसे जल मे डाला गया जल, दूध में डाला गया दूध और घी में डाला गया घी एकरूप हो जाता है वैसे ही परमात्मा में जीव एकरूप हो जाता है।) इत्यादि श्रुतियों से ऐसा ही ऐक्य दिखलाया गया है, इस आशय से उदाहरण देते हैं।

जैसे अग्नि में छोड़ा गया अग्नि उसी की समानता को (एकता को) प्राप्त होता है और तद्रूप एवं उसी नाम का होकर ही वह ज्ञात होता है, किसी विशेषरूप से वह ज्ञात नहीं होता तथा जैसे लवणसागर में फेंका गया तृण आदि लवणरूप ही हो जाता है वैसे ही चेतन में फेंका गया (लीन किया गया) अचेतन यह जगत् भी चेतन ही हो जाता है। जैसे लवणसागर में फेंका गया लवण का ढेला या सिन्धु में फेंका गया सैंधव समुद्र में वा सिन्धु में प्रविष्ट होकर अपने नाम–रूप से विनिर्मुक्त हो समुद्ररूपता या सिन्धुरूपता को प्राप्त कर लेता है या जैसे जल में छोड़ा गया जल, दूध में छोड़ा गया दूध और घी में

छोड़ा गया घी – ये सबके सब विनष्ट न होते हुए ही तद्रूप हो जाते हैं, किसी विशेषरूप से (पृथक्‌रूप से) गृहीत नहीं होते वैसे ही सब भाव से नित्य–आनन्दस्वरूप, सर्वसाक्षी, परमकारण, चिदेकरस परब्रह्म में प्रविष्ट होकर मैं तद्रूप ही हो गया हूँ, पृथक्‌रूप से मैं गृहीत नहीं होता ॥२९–३३॥

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्' इत्यादि श्रुति के साथ अपना अनुभव मिलाकर बतलाते हैं।

नित्य, सर्वव्यापी, शान्त, सर्वदोषरहित, निरंजन, निष्कल, निष्क्रिय, केवल शुद्ध वह परब्रह्म मैं ही हूँ। हेय और उपादेय से निर्मुक्त सत्यस्वरूप, इन्द्रियरहित, एकमात्र अपने संकल्प से असद्रूप भी इस जगत् की सत्ता के सम्पादन में समर्थ सद्रूप, केवल शुद्ध परब्रह्म ही मैं हूँ। पुण्य और पाप से रहित, जगत् का परम कारण, अद्वितीय, आनन्दरूप, अविनाशी और ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म ही मैं हूँ। इस तरह सत्यसंकल्पादिगुणों से युक्त, माया के सत्त्व आदि गुणों से शून्य, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप ब्रह्म का – अध्यात्मशास्त्रों के श्रवण तथा गुरु की शुश्रूषा (सेवा) आदि में तत्पर एवं अपने वर्णाश्रमधर्म में निष्ठा रखनेवाला योगाभ्यासी पुरुष सदा ध्यान करे। इस रीति से परब्रह्म का अभ्यास कर रहे साधक पुरुष का मन उसी ब्रह्म में अस्त हो जाता है और उसके मन के अस्त हो जाने पर आत्मा स्वयं प्रकाशित होने लग जाता है। प्रकाश होने पर सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है और आत्मा में सुख अवभासित होने लगता है तथा आत्मा स्वयं ही अपने–आप अपने आनन्दस्वरूप को प्राप्त होता है ॥३४–३९॥

कैसे आनन्दस्वरूप को प्राप्त होता है, इस पर कहते हैं।

मुझसे अतिरिक्त कोई दूसरा चिदानन्दमय प्रभु नहीं है। अकेला मैं ही परब्रह्म हूँ, यों आत्मा भीतर से प्रकाशित होता है ॥४०॥

इस तरह भरद्वाज के द्वारा कहे गये अनुभव को सुनकर सन्तुष्ट हुए वाल्मीकि मुनि भरद्वाज के अनुभव को दृढ़ करने के लिए अवश्य कर्तव्यरूप से 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्' इत्यादि श्रुति से सिद्ध संन्यास का उपदेश देते हैं।

वाल्मीकि मुनि ने कहा : हे मित्र, संसारचक्र के आवर्त में भ्रमण करते हुए यदि तुम गृहस्थी में विश्रान्तिसुख की प्राप्ति नहीं कर रहे हो, तो सब कर्मों को छोड़कर एकमात्र ब्रह्म में ही बिना किसी विक्षेप के आसक्त हो जाओ, क्योंकि 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस श्रुति के अनुसार यह निश्चित है कि किसी दूसरे व्यापार में तत्पर न रहकर केवल ब्रह्म में आसक्त हुए संन्यासी की ही मूल–सहित भ्रान्ति की शान्ति हो जाती है। तात्पर्य यह कि एकमात्र संन्यासी को ही शान्ति–सुख मिलता है ॥४१॥ भरद्वाज ने कहा : हे गुरो, आपके द्वारा कहा गया यह सब ज्ञान मुझे अवगत हो गया, मेरी बुद्धि एकदम निर्मल हो गयी, अब मेरा यह संसार चिरकाल तक नहीं टिक सकता। भगवन्, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ज्ञानियों के लिए कैसा कर्म विहित है, यानी क्या उन्हें कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, यदि करना चाहिए तो, क्यों केवल प्रवृत्तिरूप कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, या निवृत्तिरूप कर्मों का (📖) ॥४२,४३॥

(📖) 'पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम बलवान होता है' इस न्याय के अनुसार इस श्लोक में भरद्वाज ने दो प्रश्न किये हैं। उनमें पहला यह है – जीवन्मुक्त ज्ञानी को कर्मों का अनुष्ठान करना

सबसे पहले तुम्हें काम्य निषिद्ध कर्मों का एवं ज्ञानविरोधी विक्षेप आदि दोषों को पैदा करनेवाले अन्यान्य कर्मों का त्यागकर शास्त्र के अभ्यास द्वारा ज्ञानी बन जाना चाहिए। इसके बाद तुम स्वयं ही 'ज्ञानी के कर्म कैसे होते हैं' इस प्रश्न का उत्तर जान जाओगे। जब क्रमशः तत्-तत् भूमिका परिपक्व हो जाती है। तब तत्-तत् कर्मों की शान्ति जो होती है उसका उसी समय तुम अनुभव कर सकते हो और प्रारब्ध कर्मों की विचित्रता होने के कारण ज्ञानियों की एकरूप से स्थिति दिखाई न पड़ने से 'ज्ञानियों के कर्म प्रवृत्यात्मक ही हैं या निवृत्त्यात्मक ही हैं' – ऐसा नियम तो कोई नहीं कर सकता। इस आशय से वाल्मीकि महाराज उत्तर देते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा : इसलिए सम्पूर्ण कर्मों के त्याग के साथ ब्रह्म में एकमात्र आसक्त हो जाना ही संसारभ्रम के निवर्तक ज्ञान में उपाय है, इस मेरे उपदिष्ट अर्थ का अच्छी तरह ज्ञान कर लेने से तुम्हारे सदृश मुमुक्षु पुरुषों को – वही कर्म करना चाहिए, जिस कर्म का सम्पादन करने पर श्रवण आदि में कोई विघ्नरूप दोष न आ पड़े तथा चित्त में विक्षेप डालनेवाले मालिन्य पातकादि और किसी तरह का दूसरा दोष न उपस्थित हो जाय। विशेष करके मुमुक्ष को काम्य, निषिद्ध तथा दृष्टि के विक्षेप में साधनभूत कोई कर्म नहीं करना चाहिए ॥४४॥

सम्पूर्ण मानसिक गुणों के त्याग से पूर्णानन्द, अद्वय, विशुद्ध, असंग, चिदेकरसत्वादि ब्रह्म के गुणों की प्राप्ति होने पर ही यह जीव ज्ञानी बन सकता है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं।

मन के गुणों को छोड़कर जब जीव ब्रह्म के गुणों से युक्त हो जाता है तब इसकी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और यह सर्वव्यापी प्रभु बन जाता है। देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन चार कोशों से

चाहिए, या नहीं। और दूसरा यह है, यदि उसके लिए कर्मों का विधान है तो उसे पहले के सदृश नित्य, नैमित्तिक और काम्य सभी कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए अथवा कामनारहित होकर अपने आश्रम के उचित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। यद्यपि 'सखे संन्यस्य कर्माणि' इस पूर्व के श्लोक से प्रतिपादित सर्वकर्मसंन्यास को भरद्वाज ने ज्ञानी के कार्यरूप से सुना ही है, इसलिए इस तरह के दोनों प्रश्नों को करना अयुक्त-सा प्रतीत हो रहा है, तथापि (यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति) (जीवनपर्यन्त अग्नि होत्र होम करे) इत्यादि श्रुतियों से जीवनपर्यन्त कर्तव्यरूप से बतलाये गये कर्मों का 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि वाक्यों से दीक्षा-करण में परित्याग कर दिये जाने पर भी दीक्षा की समाप्ति हो जाने पर जैसे उनका अंगीकार किया जाता है, वैसे ही 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्मजिज्ञासा के निमित्त छोड़े गये कर्मों का भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बाद निमित्त के हट जाने पर फिर अंगीकार का प्रसंग आ सकता है। यदि इस विषय मे यह शंका हो कि 'सखे संन्यस्य कर्माणि' इत्यादि वाक्यों से विद्वानों के लिए ही सब कर्मों का संन्यास विहित है, अतः ज्ञानियों को कर्मानुष्ठान की प्राप्ति ही नहीं हो सकती, तो यह भी शंका नगण्य है, क्योंकि जिन लोगों ने पूर्व जन्म में ज्ञान की इच्छा से सब कर्मों का संन्यास किया है, उनको उनसे ही गृहस्थ आदि आश्रमों में तत्त्वज्ञान हो जाता है, ऐसे विशेष पुरुषों के प्रति 'सखे संन्यस्य' इत्यादि से किसी प्राप्त संन्यास का ही विधान किया गया है, अतः उक्त वाक्य में ज्ञानेच्छा के लिए संन्यास परिपालन विधान की शक्ति ही नहीं रहती, इससे निचोड़ यह निकला कि श्री भरद्वाज ने जो प्रश्न किये हैं, वे युक्त पूर्ण है, युक्ति से रहित नहीं हैं।

परे जो आनन्दमय कोशात्मा है तथा उससे भी परे जो अधिष्ठान ब्रह्म है वही मैं हूँ, इस तरह जब जीव ध्यान करता है तब मुक्त होता है। कर्ता, कार्य और करण; भोग्य, भोक्ता और भोग; ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय – इनसे विनिर्मुक्त तथा इनके प्रयोजक सम्पूर्ण देहादि उपाधियों से एवं इनके फलस्वरूप सुख और दुःखों से जब जीव विनिर्मुक्त होता है तब बिलकुल पूर्णरूप से मुक्त होता है। सम्पूर्ण भूतों में अपने को तथा अपने में सम्पूर्ण भूतों को जब जीव अभेदरूप से देखने लगता है तब वह मुक्त होता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों स्थानों को छोड़कर जब जीव तुरीय आत्मानन्दरूप में प्रवेश करता है तब मुक्त होता है। जाग्रत और स्वप्नावस्था की बीज तथा सुषुप्ति से रहित जो जीव की परमात्मा में स्थिति रूप चैतन्यसुखात्मिका तुरीयावस्था है वही योग की (निदिध्यासन के परिपाक से जन्य निर्विकल्प समाधि की अथवा मुख्य अधिकारी के विचारमात्र से जन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञान की) परिसमाप्ति है, जो सबसे बड़ा सुखात्मक ज्ञान है। मन के अस्त हो जाने पर मनुष्यों को और किसी दूसरी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती ॥४५–५१॥

उस अमृत के सागर में विश्रान्त हो जाने पर आपको द्वैतदर्शन की ही प्राप्ति नहीं है, फिर कर्मरूपी लवणसागर के तरंगों में डूबने की तो बात ही दूर रही, इस आशय से कहते हैं।

सखे, (यदि तुम्हें समुद्र में डूबना ही है, तो) प्रशान्त तथा अमृतमय तरंगों से पूर्ण केवल आनन्दामृत के समुद्र में क्यों नहीं डूबते ? व्यर्थ द्वैतरूप मकरों से पूर्ण लवणसागर के तरंगों में क्यों डूबते हो ? ॥५२॥

पूर्व में कहे गये महेश्वर की उपासना करके उससे दया प्राप्त कर लेने पर तुम्हें वसिष्ठजी के द्वारा कहे गये ज्ञानमार्ग से या योगमार्ग से तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद एक के विज्ञान से सबका विज्ञान हो जाने पर तथा सम्पूर्ण संशयों के मूल अज्ञान का नाश हो जाने पर सब सन्देहों के विच्छेद से – विश्रान्ति अवश्य होगी, यह उपसंहार करते हैं।

हे प्रिय, अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के वास्ते अर्धनारीश्वर आदि वेष धारण किये हुए जगद्गुरु सगुण परमेश्वर की उपासना करो, यह जो वसिष्ठ महाराज ने तुम्हें उपदेश दिया है, हे महाप्राज्ञ भरद्वाज, उनके इसी ज्ञानमार्ग या योगमार्ग से तुम सब कुछ जान जाओगे, यह बिलकुल निश्चित है – इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥५३,५४॥

उसमें शास्त्राचार्यों के उपदेश तथा अपने अनुभव की एकार्थनिष्ठता के निश्चय के लिए अर्थचिन्तनावृत्तिरूप परामर्श (विचार) और शब्दघोषणावृत्तिरूप (एक ही शब्द को बार–बार रटनारूप) अभ्यास अवश्य करना चाहिए, यह कहते हैं।

क्योंकि शास्त्रों के विचार से, गुरु के वाक्यों का अर्थ ठीक–ठीक समझने से तथा अभ्यास से सब कार्यों की सिद्धि होती है, यह वेदों का अनुशासन है। इसलिए हे भरद्वाज, तुम सब कुछ छोड़–छाड़कर केवल अभ्यास में अपना मन स्थिर करो। भरद्वाज ने कहा : हे मुने, श्रीरामचन्द्रजी तो ब्रह्म में अपने से ही परमयोग को यानी उपाधि के त्याग से ऐक्य को प्राप्त हो गये, किन्तु फिर महाराज वसिष्ठजी ने उन्हें व्यवहार में कैसे लगाया। यह जानकर मैं भी इसी तरह के अभ्यास के लिये यत्न करूँगा और समाधि से उठने के बाद मेरा भी वैसा ही व्यवहार चलेगा। वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, जब महामना साधु–स्वभाव श्रीरामजी अपने स्वरूप में अवस्थित हो गये, तब ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठजी से विश्वामित्र कहने लगे : हे ब्रह्मपुत्र

महाभाग वसिष्ठजी, आप महान् हैं। पहले कहे गये शक्तिपात के द्वारा शिष्योद्धारसामर्थ्यरूप अपना गुरुत्व (शिक्षकत्व) आपने शीघ्र ही हम लोगों को दिखला दिया ॥५५-६०॥

अपना शरीर छोड़कर श्रीरामजी के शरीर में प्रविष्ट होकर मैंने कुण्डलिनी का संचार आदि तो किया है नहीं, फिर तुमने 'शक्तिपात' को समझ कैसे लिया, इस पर कहते हैं।

अपने दर्शन, स्पर्श और वाक्य प्रयोग से जो कृपा करके शिष्य के शरीर में शिव-स्वरूप परमात्मा का प्रवेश उत्पन्न कर दे, वही गुरु है। अमोघ संकल्पवाले आपके सदृश महापुरुषों की कृपादृष्टि से भी उत्तम शिष्य की कुण्डलिनी के षट्चक्रभेदन द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में परम शिव का प्रवेशरूप शक्तिपात सिद्ध हो जाता है, यह भाव है ॥६१॥

श्रीरामचन्द्रजी अच्छे शिष्य हैं, यह दर्शाते हैं।

आपके शिष्य श्रीरामचन्द्रजी भी विशुद्धात्मा और स्वयं विरक्त थे, केवल आत्मा में विश्रान्ति चाह रहे थे, सो आपके संवाद से परम पद को प्राप्त हो गये ॥६२॥ गुरुवाक्यश्रवण से होनेवाले बोध में शिष्य की बुद्धि ही कारण है। काम, कर्म और वासनारूप तीनों मलों का यदि परिपाक नहीं हुआ है, तो परिपक्व की नाईं फिर शिष्य कैसे जान सकता है ॥६३॥

अच्छे बुद्धिमान शिष्यों की उपस्थिति में शास्त्र सफल हुआ अवश्य देखा गया है, यह कहते हैं।

यह ज्ञान ही गुरु और शिष्य का प्रत्यक्ष प्रयोजन है, क्योंकि यदि गुरु और शिष्य दोनों योग्य होंगे, तो इस तरह के कैवल्यरूपी सब पुरुषार्थों के भी वे भाजन अवश्य होंगे ही ॥६४॥

यों महाराज वसिष्ठजी की प्रशंसा करके उपस्थित कर्तव्य बतलाते हैं।

भगवन्, हम लोगों के ऊपर दया करके अब आप श्रीरामचन्द्रजी को समाधि से उठा सकते हैं, क्योंकि आप तो परमपद में कृतकृत्य हो चुके हैं, लेकिन हम लोग अभी तक सांसारिक कार्यों में ही फँसे हुए हैं। हे विभो, बड़े कष्ट के साथ जिसके लिए मैंने स्वयं राजा दशरथ से प्रार्थना की है और जिस मतलब से यहाँ आपके पास आया हूँ उस मेरे निर्विघ्न यज्ञ सिद्धिरूप कार्य का स्मरण करते हुए आप श्रीरामचन्द्रजी को अब समाधि से उठाने की कृपा कीजिये। हे मुने, मेरे उस सब कार्य को आप अपने शुद्ध मन से व्यर्थ न बना डालें। श्रीरामचन्द्रजी के समाधि से उठने पर अन्य भी अवतार के प्रयोजन जो देवताओं के कार्य हैं उनका भी हम लोग सम्पादन कर लेंगे ॥६५-६७॥

दूसरे कार्यों को दिखलाते हुए स्पष्टरूप से देवकार्य बतलाते हैं।

जब मैं श्रीरामचन्द्रजी को अपने आश्रम ले जाऊँगा तब वे राक्षसों का नाश करेंगे और उसके बाद अहल्या को शाप से मुक्त करेंगे। तदनन्तर निश्चय करके भगवान् शंकर का धनुष तोड़कर जनकदुलारी सीता के साथ अपना विवाह करेंगे। और यह भी निश्चित है कि जमदग्नि के लड़के परशुराम की गति को (परलोकमार्ग को) वे नष्ट कर देंगे। इस संसार में पिता-पितामह के राज्य को छोड़-छाड़कर वनवास के बहाने जंगल में पहुँच करके जीवन्मुक्त होने के कारण ही अभय और निःस्पृह होते हुए श्रीरामचन्द्रजी दण्डकारण्य के निवासी मुनियों, अनेक तीर्थों तथा अन्यान्य प्राणियों का राक्षसों का वध करके भय से उद्धार करेंगे ॥६८-७०॥ सीताहरणप्रयुक्त हुई दुर्गति के बहाने रावण आदि का वध करके भी इस पृथिवी के ऊपर स्त्री में आसक्त हुए सभी पुरुषों की कैसी दुर्गति होती है, यह

दिखलायेंगे और तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी इन्द्र के वरदान द्वारा युद्ध में मरे हुए वानर, रीछ आदि पुनः कैसे जी उठे – यह भी दिखलायेंगे। उसके बाद अग्नि में प्रवेश द्वारा सीता की शुद्धि की इच्छा कर रहे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी शिष्ट पुरुषों में अपने उत्तम चरित्र की माननीयता दर्शायेंगे। तदनन्तर राज्य में अभिषिक्त होकर स्वयं जीवन्मुक्त तथा निःस्पृह होते हुए भी कर्म करने के अधिकारी पुरुषों को कर्मानुष्ठान से ही गति मिलती है, यह दिखलाने के लिए क्रियाकाण्ड में तत्पर होंगे एवं ज्ञान (उपासना) और कर्म दोनों के अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मलोक आदि की गति दिखलाने के लिए उपासना और कर्म दोनों का समुच्चय करेंगे ॥७१-७३॥

कर्ममार्ग में प्रवृत्त होकर केवल वर्तमान काल के मनुष्य का ही भगवान उस पृथिवी पर उपकार नहीं करेंगे, बल्कि उत्तरकाल में स्मरण, कीर्तन तथा अपने चरित्र के प्रबोधन आदि के द्वारा अपने अनुगत भक्तों को जीवन्मुक्ति-सुख भी प्रदान करेंगे, यह कहते हैं।

जो लोग भगवान् का दर्शन करेंगे, उनके चरित्र का स्मरण तथा श्रवण करेंगे एवं जो लोग भगवान के स्वरूप का दूसरों को बोध करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओं में अनुगत अपने भक्तों को भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्ति-सुख प्रदान करेंगे। इस तरह तीनों लोक का तथा मेरा भी हित इस महापुरुष महात्मा श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा सम्पूर्णरूप से सम्पन्न होगा ॥७४,७५॥

अब सामाजिकों में श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति बढ़ाते हुए श्री विश्वामित्रजी कहते हैं।

हे सत्पुरुषों,आप सब लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार कीजिये। एकमात्र इनके नमस्कार से ही आप लोग सबको जीत लेंगे अर्थात् आप लोगों को किसी दूसरे साधन की आवश्यकता न होगी। आप लोगों में कोई भी पुरुष श्रेष्ठ भगवान श्रीरामचन्द्रजी की नाईं ही जीवन्मुक्त होकर निर्विकल्प समाधि में विश्रान्ति पाकर सुखपूर्वक बढ़ता रहे। वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, इस तरह का विश्वामित्र का भाषण सुनकर वे सिद्ध तथा वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ योगीन्द्र सब श्री रामचन्द्रजी की उत्तरचरित्ररूप दुर्लभ कथा सुनकर पुनः भगवान श्रीराम के चरणकमलरज के आदर में यानी नमस्कार में तथा उनके स्मरण में आस्थायुक्त हो गये। मैथिलीपति श्रीराम की कथा सुनने से भगवान् वसिष्ठजी तथा और दूसरे महर्षि भी तृप्त न हो सके, इसलिए उन सबने दूसरों के द्वारा कहे गये गुण के सागर उनके गुणों का श्रवण किया तथा सुने गये गुणों का दूसरों से वर्णन किया। तदनन्तर भगवान वसिष्ठ ऋषि विश्वामित्र मुनि से कहने लगे : हे मुने विश्वामित्रजी, इन श्रोताओं को आप साफ-साफ बतला दीजिये कि ये राजीवलोचन रघुकुलसमुद्भव श्रीरामचन्द्रजी इस जन्म के पहले देव या मनुष्य क्या थे? (📖) विश्वामित्रजी ने कहा : हे सज्जनों, आप सब लोग इन्हीं श्रीरामचन्द्रजी में (✎) विश्वास कर लीजिये कि परमपुरुष साक्षात् भगवान् वासुदेव ये ही हैं, विश्व के कल्याण के लिए जिन्होंने क्षीरसागर का मंथन किया था तथा गूढ़ अभिप्राय से भरी उपनिषदों के तत्त्वगोचर ये ही हैं अर्थात् किसी अन्य प्रमाण के विषय ये नहीं हैं। परिपूर्णपरानन्द, समस्वरूप, श्रीवत्समणि के चिह्न से सुशोभित यही श्रीरामचन्द्रजी भक्ति से भलीभाँति प्रसन्न कर दिये जाने पर

(📖) अज्ञजनों के अभिप्राय के अनुसार यह प्रश्न किया गया है।

(✎) अज्ञजनों के अभिप्राय के अनुसार ही यह उत्तर भी दिया गया है।

सब प्राणियों को सब पुरुषार्थों के प्रदाता होते हैं। कुपित होकर यही श्रीरामचन्द्रजी सबका संहार करते हैं और यही मिथ्या पदार्थों की सृष्टि करते हैं। यही विश्व के आदि तथा विश्व के उत्पादक हैं और यही विश्व के धाता, पालनकर्ता तथा महासखा भी हैं। जिन्होंने अपने विचार द्वारा निःसार और कोमल कार्यकारणबन्धरूप संसार का बाध कर दिया है ऐसे संसार की खिल्ली उड़ानेवाले वीतराग यति लोग इसी आनन्द के सागर में गोते लगाते हैं ॥७६-८४॥

यही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ज्ञानयुक्त, नित्यमुक्त, माया के नियामक तथा माया के भीतर बद्ध - यों चार प्रकार से स्थित हैं, यह कहते हैं।

यही परम पुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहीं पर ज्ञान से मुक्त, कहीं पर तुर्यपदाभिधेय अपने स्वरूप में स्थित अतएव नित्यमुक्त, कहीं पर प्रकृति (माया) के नियामक और कहीं पर माया के भीतर बद्ध हुए-से मालूम पड़ते हैं। यही भगवान् वेदमय शरीरधारी हैं, तीनों गुणों से परे अति गहन यही हैं और शिक्षा कल्प आदि छः अंगों से समन्वित वेदात्मा अद्भुत पुरुष यही हैं। विश्व का पालन करनेवाले चतुर्भुज विष्णु भगवान यही हैं, विश्व के रचयिता चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और सारे संसार का संहार करनेवाले त्रिलोचन भगवान् महादेव भी यही हैं। ये अजन्मा होते हुए भी अपनी शक्ति के सम्बन्ध से जन्म लेते हैं, ये सबसे महान् हैं, मोहरूपी नींद में सोये हुए न रहने के कारण ये सदा जागरुक रहते हैं और रूपरहित होते हुए भी ये भगवान् इस विश्व को धारण करते हैं। जैसे पराक्रम से विजय प्राप्त की जाती है, तेज से जैसे भास्वररूप प्रकाश धारण किया जाता है, जैसे सुने गये शास्त्र से प्रज्ञा में उत्कर्ष प्राप्त किया जाता है वैसे ही ये भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी श्रीगरुड़जी से ढोये जाते हैं। ये राजा दशरथजी धन्य हैं, जिनके पुत्र परम पुरुष साक्षात् भगवान् हुए। वह दशकण्ठ रावण भी धन्य है, जिसका ये अपने चित्त से यानी यह रावण मेरा दुश्मन है - इस रूप से चिन्तन करेंगे। हा, विष्णुशरीरधारी इनसे शून्य स्वर्ग की दशा शोचनीय हो गयी है, और हा, शेषमूर्ति श्रीलक्ष्मणजी जो यहाँ पाताल से आ गये हैं, इसलिए उस पाताल की दशा भी अब शोचनीय हो गयी है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के यहाँ आ जाने से यह भूलोक श्रेष्ठता को प्राप्त हो गया है। क्षीरसागर में शयन करनेवाले विष्णु भगवान् ही श्रीरामचन्द्रजी के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। ये ही श्रीरामचन्द्रजी चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं। अपनी इन्द्रियों को रोक रखनेवाले योगी लोग ही श्रीरामचन्द्रजी को वस्तुतः जानते हैं, हम लोग तो इनके इस छोटे स्वरूप का ही निरूपण या दर्शन करने में समर्थ हैं ॥८५-९३॥

इन्होंने अपने अवतार से रघु के वंश को भी पवित्र कर डाला है, यह कहते हैं।

हे वसिष्ठजी, हम लोगों ने ऐसा सुना है कि ये ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी रघु के वंश के पापों का उच्छेद करनेवाले हैं। अब आप कृपाकर इन्हें व्यवहार में लगाइये। वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, यों कहकर महामुनि विश्वामित्रजी चुपचाप बैठ गये, परंतु महातेजस्वी महाराज वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी से कहने लगे : हे रामजी, हे महाबाहो, हे चिन्मय महापुरुष, यह आत्मा में विश्रान्ति का समय नहीं है। (उठिये, आइये) कुछ दिन तक अभी इस संसार के लिए आनन्दकारक बनिये। जब तक लोग उत्तम अधिकार प्राप्त नहीं करते तब तक योगी को निर्मल समाधि में बैठ जाना युक्त नहीं होता। इसलिए हे पुत्र, कुछ काल तक विनाशी राज्य आदि विषयों का अनुभव करके तथा देवताओं के कार्य आदि अपने

ऊपर लिये गये अधिकार भार को समाप्त करके पीछे समाधि लगाओ और सुखी रहो। वाल्मीकिजी ने कहा : इस तरह महाराज वसिष्ठजी के कहने पर ब्रह्म के साथ ऐक्य को प्राप्त हुए श्रीरामचन्द्रजी बाह्य अर्थों को न सुनने से तथा वाणी आदि इन्द्रियों की चेष्टाओं का उपरम हो जाने से जब कुछ भी न बोल सके तब वसिष्ठ महाराज उनके शरीर में संकल्प द्वारा प्रविष्ट होकर उनकी सुषुम्ना नाड़ी से धीरे–धीरे हृदयकमल में जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उनके विलीन हुए जीवोपाधि लिंग शरीर को घनीभूत बनाकर उसे बाहर ऐसे खींच लाये, जैसे बीज के अन्दर प्रविष्ट होकर वायु बीजान्तर्गत अंकुर को बाहर खींच लाती है। पहले प्राण आदि बीजभूत आधारशक्ति में, उसके बाद प्राणों का आविर्भाव होने पर प्राणों में और तत्पश्चात् मन का आविर्भाव होने पर मन में चिदाभासरूप से क्रमशः प्रवेश करनेवाला प्रकाशात्मक जीव – प्राण द्वारा सम्पूर्ण नाड़ी रन्ध्रों में प्रवेश करके समस्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को आविष्कृत करते हुए धीरे से आँखें खोलकर बाहर बैठे हुए अपने पूज्य वसिष्ठ आदि विद्वानों को देख करके स्वयं कृतकृत्य होने के कारण समस्त अभिलाषाओं से शून्य, कृत्य एवं अकृत्य (अवश्य कर्तव्य और त्याज्य) के व्यवहार के गुण और दोषों की चिन्ता से तथा इनको करने या न करने से होनेवाली हानि और लाभ की चिन्ता से रहित होते हुए 'अब ये लोग इस तरह मुझसे क्या कहते हैं', इस अभिप्राय से उन सबकी प्रतीक्षा कर – स्थित रहा। तदनन्तर हे राम, हे राम, हे महाबाहो, इत्यादि पहले जो कहा गया महाराज वसिष्ठजी का वचन था, वही फिर उन्हींके द्वारा सुनाया गया, उसे सुनकर एवं यह गुरुवाक्य अनुल्लंघनीय है – इस अपने पिता की तथा बन्धुओं की प्रार्थना को भी सुन करके सर्वज्ञ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने अवतार का मतलब समझते हुए सावधान होकर कहने लगे ॥९४–१०१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे भगवन्, आपकी दया से यह जीव अब विधि और निषेध का पात्र नहीं रहा, साक्षात् प्रभुस्वरूप (ब्रह्मरूप) हो गया है; तथापि आपका वाक्य तो मुझे सर्वदा पालन करना ही होगा। हे महामुने, वेदों, आगमों, पुराणों और स्मृतियों में भी गुरुवाक्य ही विधि कही गयी है और उसके विरुद्ध आचरण करना निषेध कहा गया है ॥१०२,१०३॥

परमपुरुषार्थ दानरूप गुरु द्वारा किये गये उपकार की कोई दूसरी निष्कृति न देख रहे श्रीरामजी ने अब अपने सिर पर उनके चरण रखने के बहाने अपने को ही गुरु महाराज को समर्पित करके सबसे उत्कृष्ट ज्ञान की महिमा तथा स्वयं प्रत्यक्ष समनुभूत गुरु के माहात्म्य का वहाँ पर उपस्थित सब लोगों को उपदेश दिया, यह कहते हैं।

यों कहकर उस महात्मा वसिष्ठ महाराज के चरणों को अपने सिर पर रखकर सबकी आत्मा करुणासागर श्रीरामचन्द्रजी बोले : हे सभ्य पुरुषों, आप सब लोग हमारे इस निर्णय को अच्छी तरह सुन लीजिये, इससे आप लोगों का बड़ा कल्याण होगा। यह हमें बिलकुल निश्चित है कि आत्मतत्त्वज्ञान तथा आत्मतत्त्वज्ञानी गुरु से बढ़कर इस संसार में और कोई दूसरी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है। सिद्ध आदि सब लोगों ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसा आप कह रहे हैं वैसा ही आपकी दया से हम लोगों के मन में स्थित था और अब तो वह सब आपके इस संवाद से बिलकुल दृढ़ हो गया ॥१०४–१०६॥ हे महाराज श्रीरामचन्द्रजी, आप सुखी होइये, आपको नमस्कार हैं। अब हम लोग वसिष्ठजी से भी अनुमति लेकर जहाँ से आये थे वहीं जा रहे हैं। वाल्मीकिजी ने कहा : हे भरद्वाज, यों कहकर भगवान्

श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति करते हुए वे सबके सब चल दिये और श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर फूलों की वृष्टि होने लगी। हे भरद्वाज, श्रीरामचन्द्रजी की यह सब पूरी कथा मैंने तुसे कह सुनायी, इसी क्रम से तुम भी अपना सब कार्य करते हुए सुखी रहो ॥१०७–१०९॥

अब उपसंहार करते हैं।

हे भरद्वाज, महाराज वसिष्ठजी की वचनपंक्तिरूपी रत्नमाला से भूषित यह जो श्रीरामचन्द्रजी की सिद्धि मैंने तुमसे कही है, वह निखिल कविकुलों और योगियों की सेवा के योग्य है तथा परम गुरु के कृपाकटाक्ष से श्रवणादि के द्वारा सेवित होती हुई वह मुक्तिमार्ग को देती है ॥११०॥ जो कोई इस वसिष्ठ और श्रीरामचन्द्रजी के संवाद प्रकार को प्रतिदिन सुनेगा, वह मोह–मालिन्य–राग–द्वेष–महापातक और उपपातक आदि सब दोषों से युक्त अवस्थाओं में रहते हुए भी एकमात्र श्रवण से ही सब दोषों से मुक्त हो जायेगा और शान्तिआदिगुणों की प्राप्ति द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर लेगा, फिर अधिकारी पुरुष के लिए तो कहना ही क्या ॥१११॥

एक सौ अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

योगवासिष्ठ निर्वाणप्रकरण भाषानुवाद में पूर्वार्ध समाप्त

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

आदिकवि श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिप्रणीत

श्री योगवासिष्ठ महारामायण

परमहंस श्रीमद् आनंद बोधेन्द्र सरस्वती प्रणीत

'श्रीवासिष्ठ महारामायण' (तात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्यासहित) का हिन्दी अनुवाद

निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध

पहला सर्ग

ममता, अहंकार एवं संकल्प-विकल्प से रहित जीवन्मुक्त पुरुष जैसा जीवनयापन और आचरण करते हैं वैसा निर्वचन करने के लिए युक्ति का कथन।

इस निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्ध में श्रीरामजी की समाधि के प्रदर्शनव्याज से यह दर्शाया गया कि जो उत्तमअधिकारी पुरुष हैं उनके बार-बार किये गये श्रवण का जब परिपाक हो जाता है तब आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान का आविर्भाव होकर परमपद में तत्काल ही उनकी विश्रान्ति हो जाती है। अब ऐसे जो उत्तमअधिकारी हैं उनकी किसी प्रारब्ध के बल से कदाचित् समाधि टूट भी जाय, तो भी जिस रीति से उस परम पद में निरन्तर विश्रान्ति अनायास सिद्ध हो जा सकती है उस रीति से उत्तरोत्तर की भूमिकाओं में उन्हें चढ़ाने के लिए इस उत्तरार्ध प्रकरण का आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में सबसे पहले 'अहं ममेति संविदन्' (卐) यह जो पूर्व प्रकरण के अन्त में कहा गया है उसको लेकर – हे महाराज, कल्पनाजनित देह-धारण आदि व्यवहार सब कल्पनाओं का परित्याग कर देने पर कैसे सिद्ध हो सकता है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामभद्र ने कहा : हे ब्रह्मन्, देह, प्राण आदि में जब पुरुष अहन्ता, ममता आदि कल्पनाएँ छोड़ देता है तब सब तरह की क्रियाओं की शान्ति हो जाने के कारण देह को ठीक-ठीक रखनेवाली तथा उसकी पोषक प्राण आदि चेष्टाएँ उस पुरुष में रहेगी ही नहीं। ऐसी दशा में उसका शरीर तत्काल ही गिर जायेगा, अतः आपने सर्वकल्पनात्यागी पुरुष के लिए जो व्यवहार आदि हमें बतलाये, वे कैसे हो सकते हैं ? ॥१॥

पुरुष का जीवन कल्पनाधीन नहीं है, जिससे कि कल्पनात्याग से शरीर त्याग का प्रसंग हो जाय, किन्तु जीवन भोगजनक प्रारब्ध के अधीन है। असल में विचार किया जाय, तो कल्पनात्याग ही जीवन के अधीन है, इसलिए अपने उपजीव्य जीवन का कल्पनात्याग कैसे बाध कर सकता है ? ऐसी दशा में कल्पनात्याग होने पर जीवन का न रहना ही विरुद्ध है, इस आशय से महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं।

(卐) अहं ममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यते। असंविदन् विमुच्यते यदीप्सितं तदाचर।। नि.पू.१२६।१०२

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष जीवनसम्पन्न है उसीका कल्पनात्याग हो सकता है। जो जीवनसम्पन्न नहीं है उसका नहीं हो सकता। इस कल्पनात्याग का स्वरूप जिस प्रकार से जीवनविरुद्ध नहीं है उसी प्रकार से मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, उसे आप सुनिये। वह कानों के लिए अत्यन्त ही मधुर है ॥२॥ भद्र, आत्मा को शरीर आदि के-जैसा छोटा जो मान बैठता है उसे ही कल्पना के स्वरूप को जाननेवाले विद्वान् कल्पना कहते हैं और आत्मा को आकाश के सदृश अपरिच्छिन्न जानकर अपने पारमार्थिक स्वरूप का निरन्तर जो अनुसन्धान करना है, उसे कल्पनात्याग कहते हैं ॥३॥ कल्पना के स्वरूप को जाननेवाले विद्वान आत्मा की परिच्छिन्न पदार्थों के सदृश भावना को ही कल्पना कहते हैं और आकाश के सदृश अपरिच्छिन्न परमार्थ स्वरूप की भावना को संकल्पत्याग कहते हैं ॥४॥ उत्तम महानुभाव लोग यह सम्पूर्ण देहादि दृश्य वस्तु परमार्थसत्य है- इस अभिमान को ही कल्पना कहते हैं और चूँकि दृश्य आकाश के कार्य भूतचतुष्टय का विकार है, इसलिए तत्त्वतः अकेला आकाशरूप अर्थ ही स्फुरित होता है, यों अर्थ के पर्यालोचन को संकल्प का त्याग कहते हैं। ये दोनों ही भ्रान्तपुरुष के अनुभव के विरुद्ध होने पर भी जीवन के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि जी रहे पुरुष की ही भ्रान्ति की निवृत्ति देखी जाती है, यह तात्पर्य है ॥५॥ हे रामजी, विषयों के स्मरण को आप संकल्प जानिये तथा यह भी जान लीजिये कि विषयों के अस्मरण को विद्वान् लोग शिवस्वरूप समझते हैं। वह स्मरण अनुभूत और अनुभूत यों दो तरह का कहा जाता है अर्थात् भूत और भावी दोनों तरह के विषयों का स्मरण होता है ॥६॥ हे महामते, अनुभूत व अननुभूत दोनों तरह की स्मृतियों कां विस्मरण कर तथा अननुमिति आदि अन्य सब वृत्तियों का भी शीघ्र विस्मरण कर अपरिच्छिन्न ब्रह्माकार में लीन होकर आप काष्ठ के तुल्य दृढ़ और निश्चल बनकर चिरकाल तक जीवित रहिये ॥७॥

व्यवहारकाल में तो स्मृतिमात्र का निरोध करना चाहिए, यह कहते हैं।

सब पदार्थों के विस्मरण से युक्त होकर प्रारब्ध प्राप्त कार्यों में आप स्थित रहिये, क्योंकि पूर्वजन्म के दृढ़ अभ्यासमात्र से होनेवाले स्तनपान आदि कर्मों से अर्धसुप्त बालक के स्पन्दन के सदृश पूर्वापर-स्मृति की आवश्यकता नहीं रहती ॥८॥ संकल्पशून्य प्रवाह से यानी किसी प्रयोजन एवं उद्देश्य के बिना ही एकमात्र पूर्व के संस्कार से कुम्हार का चक्र कृतकार्य होने पर भी जब तक वेग नष्ट नहीं हो जाता तब तक जैसे भ्रमण किया ही करता है, वैसे ही हे पापशून्य श्रीरामजी, आप भी अपने कर्मों में पूर्वजन्म के संस्कार के वश से चेष्टा करते रहिये ॥९॥ क्षीण चित्त से युक्त अतएव वासनाशून्य मन के संस्कार के वेग से अनुगत होकर हे श्रीरामजी, आप प्रवाहपतित ही अपने कर्मों में चेष्टा करते रहिये ॥१०॥ मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वर से चिल्लाकर यह कह रहा हूँ लेकिन कोई उसे सुनता ही नहीं कि संकल्पत्याग ही परम श्रेय का सम्पादक है अतः उसकी भावना तुम लोग अपने हृदय में क्यों नहीं करते ? ॥११॥ अहो, इस मोह का माहात्म्य तो देखो कि

यह सम्पूर्ण दुःखों को छुड़ानेवाला विचारनामक चिन्तामणि हृदय में स्थित रहते हुए भी सब मनुष्यों से त्यक्त हो रहा है ॥१२॥ दृश्य–दर्शन से निर्मुक्त जो आत्मतत्त्व है वही मुख्य असंकल्प है। हे श्रीरामजी, आप तन्मय ही हो जाइये। यही परम श्रेय है, इसका आप स्वयं अनुभव कर लीजिये ॥१३॥

हे श्रीरामजी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि संकल्प की चेष्टा छोड़कर एकमात्र चुपचाप स्थित रहने से ही वह परम पद प्राप्त हो जाता है, जहाँ पर यह सम्पूर्ण हिरण्यगर्भ तक का भी साम्राज्य तृण की नाईं तुच्छ बन जाता है ॥१४॥

प्राक्तन संकल्पप्रयुक्त क्रियाओं के वेग से ही वेगक्षयपर्यन्त जो व्यवहार की सिद्धि होती है, उसमें पहले कहे गये दृष्टान्त को फिर कहते हैं।

अपने एकमात्र गन्तव्यस्थान गृह आदि की ओर जाने के लिए तत्पर पथिक के पैर में स्पन्दन बिना संकल्प के ही प्रतिक्षण होते रहते हैं यानी उस पथिक के पैर अपने अभीष्ट स्थान की ओर जाने के लिए संकल्परहित ही होकर बे–रोक–टोक उठते जाते हैं, वैसे ही हे श्रीरामजी, आप भी संकल्पशून्य होकर ही अपने कर्मों में स्पन्दन करते चलिये ॥१५॥

'अवेदनमसंकल्पस्तन्मयेनैव भूयताम्' यह जो ऊपर कहा गया है उसका व्यवहारकाल में भी उपपादन करते हैं।

हे श्रीरामजी, समस्त कर्म और उनके विस्तृत फलों को, सोये हुए की नाईं, बिलकुल भूलकर प्रवाहपतित (प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए) कर्म के लिए संकल्पशून्य होकर स्पन्दन करते चलिये ॥१६॥ जैसे स्वतः संकल्प से निर्मुक्त एक छोटा–सा तृण वायु आदि के प्रवाह में पड़कर दूसरे तृण आदि के साथ संयोग और वियोगरूप कार्य में स्पन्दनशील बनता है वैसे ही हे श्रीरामजी, आप भी सुख और दुःख की कुछ भी भावना न करते हुए संकल्पनिर्मुक्त होकर प्रवाहपतित अपने कार्य में चेष्टाशील बने रहिये ॥१७॥ दूसरों के कौतुक के लिए नृत्य आदि कर रही–सी स्थित कठपुतली को जैसे नट के समान श्रृंगार आदि रस की भावना नहीं होती, वैसे ही प्रारब्धप्राप्त कर्म कर रहे आपको भी हृदय के भीतर कार्यों में, विषयसुख में मूर्ख की नाईं, रस की भावना (कौतुक बुद्धि) बिलकुल न हो ॥१८॥ समस्त इन्द्रियों के द्वारा विषयों के अनुभव आपको ऐसे नीरस मालूम पड़े, जैसे कि हेमन्त ऋतु में सिर्फ अपने आकारमात्र से दिखाई दे रही लताएँ ॥१९॥ बोधरूपी सूर्य जिसके रसका (भावना का) पान कर गया है, ऐसी पंचकोश संवलित चिदाभास, मनसहित प्राणवर्ग, ज्ञानेन्द्रियवर्ग, कर्मेन्द्रियवर्ग, ज्ञानकर्मेन्द्रियवर्ग सहित अन्तःकरण और शरीर– इन छः स्पन्दनयुक्त षट्वर्गों की सत्ता से युक्त आप यन्त्रगत स्पन्दन के समान ऐसे स्थित रहिये, जैसे लता से वेष्टित शिशिर ऋतु में नीरस वृक्ष स्थित रहता है ॥२०॥

भला नीरस षड्वर्ग का जीवन कैसे रह सकता है, इस आशंका पर कहते हैं।

आवरणशून्य भूमानन्दस्वरूप चिति ही षड्वर्ग का जीवन की पुष्टि आदि में हेतुभूत आन्तरिक

रस है। स्वभावतः बाह्य विषय–रसों के आस्वाद में प्रवृत्त हुए भी षड्वर्गों को उधर से अपने यत्न से हटाकर उन्हें अपने जीवन की पुष्टि में हेतुभूत चितिरूपी आन्तरिक रस की ओर ले जा करके ऐसे जिलाये रहिये, जैसे हेमन्तऋतु बाहरी जल के अभाव में भी अपने आन्तरिक रस से ही वृक्षों को जिलाये रहती है ॥२१॥

इन्द्रियवृत्तियों को विषयों की ओर जाने से न रोकने में तथा उन्हें सरस बनाये रखने में क्या होगा ? इस आशंका पर कहते हैं।

यदि आपकी इन्द्रियवृत्तियाँ बाह्य विषयों की ओर लगी रहेगी तथा आप उन्हें सरस बनायें रखेंगे, तो चाहे आप विषयों का उपभोग करें या न करें, किन्तु आपका यह संसार के अनर्थों का समूह तो कभी भी शान्त न होगा ॥२२॥ संकल्पशून्य होकर यदि आप वायु, अग्निज्वाला, यन्त्र और जल के समान स्पन्द करते रहेंगे, तब तो आप अत्यन्त श्रेय के लिए समर्थ हो सकेंगे ॥२३॥ जन्मरूपी ज्वर के निवारण के लिए यही सबसे बढ़कर उत्तम उपाय है कि अपने कर्मों में जो कर्तृत्व अभ्यस्त हो, वह वासनारहित हो ॥२४॥ वासनाओं और संकल्पों से शून्य होकर प्रारब्ध–प्राप्त कार्यों के अनुसार बर्ताव कर रहे आप चाक के ऊपर भ्रमण करनेवाले सन्निवेश (घटादि रचना विशेष) की नाईं धीरे–धीरे उत्तरोत्तर उपशमशील होते हुए अपने कर्मों में स्पन्द करते रहिये ॥२५॥ कर्मफल में आपकी आसक्त बुद्धि न हो और कर्मों के त्याग में भी आपकी आसक्ति (कर्मत्याग के फल में आसक्ति) न हो। इन दोनों का आप त्याग कर दीजिये या आप इन दोनों का आश्रय कीजिये। फल में आसक्ति न करने पर कर्म करने या छोड़ देने में कुछ भी विशेषता नहीं रहती ॥२६॥

हे श्रीरामजी, अब इस विषय में और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में यही कह देता हूँ कि संकल्प ही मन का बन्धन है और उसका अभाव ही मुक्ति है ॥२७॥ यहाँ पर न कहीं कोई कार्य है और न कहीं कोई अकार्य (त्याज्य) है, किन्तु सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवस्वरूप ब्रह्म ही है, इसलिए हे श्रीरामजी आप जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥२८॥ सांसारिक सब कार्य निष्क्रिय ब्रह्मरूप हैं और निष्क्रिय ब्रह्मभाव में स्थिति अवश्य करना चाहिए – यों देखते हुए आप परमार्थ चैतन्यरूप होकर सुखपूर्वक शान्त बैठे रहिये ॥२९॥ हे श्रीरामजी, विषयों के विस्मरण को ही चित्त का क्षय तथा जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप उसमें अत्यन्त तन्मय होकर जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥३०॥

स्पन्दशून्य होकर चुपचाप बैठे रहना तो एकमात्र दुःखदायक ही होगा, जैसे कि आम–वात से जड़ बना दिया गया शरीर दुःखदायी होता है, इस शंका का वारण करते हैं।

सम, शान्त, शिव, सूक्ष्म, द्वैत एवं ऐक्य से वर्जित, व्यापक, अनन्त और शुद्ध परब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर कौन किसलिए खिन्न हो सकता है ? ॥३१॥ मरुभूमि में अंकुर की नाईं आपमें

संकल्प का उदय न हो तथा पत्थर के उदर में लता की नाईं आप में इच्छा भी उदित न हो ॥३२॥ संकल्पशून्य शान्त पुरुष को जीवित रहते या न रहते इस संसार में किये या न किये गये लौकिक या वैदिक कर्मों से इस लोक या परलोक के लिए कोई भी फल नहीं होता ॥३३॥

क्यों नहीं होता, इस शंका पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, चूँकि आप कर्म और अकर्म इन दोनों के बाध की अवधि हैं यानी ये दोनों आपमें एकरूप से मिल चुके हैं, इसलिए कर्म अकर्मात्मक हुए सदा अभेदरूप आपके प्रातिभासिक कर्मरूप से विवर्तमान होने पर भी वस्तुतः आपमें कर्मता नहीं है और प्रातिभासिक कर्तारूप से विवर्तमान होने पर भी वस्तुतः कर्तृता नहीं है । मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य को कर्म और कर्तृत्व आदि में सत्यत्वबुद्धि रहती है उसीको कर्मफल मिलते हैं, सो तो आपमें है ही नहीं ॥३४॥

यही कारण है कि देहादि में 'अहं, मम' इस तरह का ज्ञान रखनेवाले को ही विधि और निषेध शास्त्रों के अधिकार से कर्मकृत बन्धन होता है, दूसरे को नहीं, यह जो पहले कहा जा चुका है, उसे ही फिर कहते हैं।

हे श्रीरामजी,'अहं', 'मम' (यह मैं हूँ, यह मेरा है) यह भावना कर रहे आप सांसारिक दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकते तथा 'अहं', 'मम' यह भावना न कर रहे आप मुक्ति पा सकते हैं, अतः इनमें जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये ॥३५॥

हे श्रीरामजी, 'अहं', 'मम' यह सर्वथा नहीं है । जो है सो केवल परम शिव ही है । भूमानन्द शिव से अन्य यह दृश्यरूप प्रातिभासिक जगत तो अनिर्वचनीय (अवस्तु) ही है ॥३६॥

इसीको स्पष्टरूप से कहते हैं ।

हे रामभद्र, जो कुछ यह जगत् दिखाई दे रहा है, वह सुवर्ण की कटक अंगद आदि रूपता के सदृश केवल प्रतीतिमात्र है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं है । आत्मा से भिन्न इसका अनुभव न करना ही इसका नाश है । आत्मा के अज्ञान का नाश होने के अनन्तर अवशिष्ट दृश्य–बाध का अधिष्ठान तो ज्ञान का अविषय ही है । इसी को अनुभवी लोग सत्य, एक और परम पुरुषार्थ कहते हैं ॥३७॥

पहला सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

सम्पूर्ण जगत् में शिवमयरूपता बतलाने के बाद कर्म के बीज का
अन्वेषण करके उसका समूल निवारण किया जाता है, यह वर्णन ।

'सर्वं शिवमयं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम्' (सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवमय ब्रह्म ही है, इसलिए हे श्रीरामजी, आप जैसे पहले थे वैसे ही स्थित रहिये) यह जो कहा गया है, उसका यहाँ उपपादन करने के लिए पहले प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी, द्वैतता और एकता से रहित, मननशून्य, शान्त आत्मा ही अपने पारमार्थिक स्वभाव में तत्त्व-दृष्टि से अवस्थित है। जिस तरह मिट्टी की सेना मिट्टीमय है उसी तरह शिव का यह सारा संसार शिवमय है ॥१॥

जो-जो चिति से भास्य है वह सब चिति का विवर्त होने से चिन्मय-चिति-स्वरूप-ही है, उसे चार अन्तःकरणों में क्रमशः दर्शाते हैं।

काल, आकार, क्रिया, नाम और अर्थ से समन्वित मन, अहंकार, चित्त और बुद्धि आदिरूप सब चिति से भास्य होने के कारण चिन्मय ही (a) है ॥२॥

इस प्रकार बाह्य इन्द्रिय, इन्द्रियों से जनित ज्ञान तथा ज्ञान के जो विषय हैं उनमें भी चिद्व्याप्तिप्रयुक्त ही अपरोक्ष प्रकाश है, इसलिए उनमें भी विवेकी पुरुष शिवरूपता का ही अवलोकन करते हैं, इस आशय से कहते हैं।

बाह्य रूप, रस, शब्द, स्पर्श आदि के आलोचन तथा मनके क्रम यानी बाह्य सविकल्पक ज्ञान और उपादान बुद्धियाँ एवं उनके विषय सबके सब शिवरूपी पंकमय हैं।

यों सभी पदार्थों को शिवरूप देखने पर सम्पूर्ण त्रिपुटीरूप से एकमात्र शिव ही दिखाई देता है, शिव से अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु इस संसार में देखने में नहीं आती, यह कहते हैं।

चूँकि इस संसार की सभी वस्तुएँ अनन्त शिवस्वरूप पंक ही हैं, इसलिए कौन किससे प्रकाशित होता है ? ॥३॥

इसीको फिर स्पष्टरूप से बतलाते हैं।

हे श्रीरामजी, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, देश, काल, दिशा आदि तथा भाव और अभाव आदि विवर्त, ये सबके सब शिवपंकमयात्मक ही हैं ॥४॥

'अहं' और 'मम' (मैं और मेरा) इन दो रूपों से ही सम्पूर्ण विवर्तों का संग्रहकर फिर 'ये सभी वस्तुएँ चिति से व्याप्त हैं' इस तरह से उनमें चिति-व्याप्ति की भलीभाँति आलोचना करने पर एकमात्र चिति के ही साररूप से बच जाने के कारण उसमें स्थिति सुलभ हो जाती है, इसी अभिप्राय से कहते हैं।

चूँकि हे श्रीरामचन्द्रजी, सारभूत परमेश्वर से भिन्न 'अहं' 'मम' इत्यादि विवर्त कुछ भी नहीं है,

---

(a) सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि चिति का चेत्य (विषय) की ओर उन्मुख होनेरूप जो मनन है वह चिति से व्याप्त ही है। तदनन्तर विषयों का अभिमान, अध्यवसाय, स्मरण, काम और संकल्प आदि जो वृत्तियाँ उदित होती हैं वे भी चिति से व्याप्त ही उदित होती हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है तथा चिति और चेत्य का सम्बन्धरूप काल, विषयों का आकार, उसकी क्रिया-इस प्रकार नाम और अर्थ के सहित जो सम्पूर्ण अन्तःकरण का संसरण है वह भी साक्षात् साक्षी से वेद्य होने के कारण शिवमय ही है, यह प्रत्येक विद्वान् को जान लेना चाहिए।

इसलिए संसक्तमति न होते हुए यानी स्त्री, पुत्र आदि विषयों में तनिक भी आसक्ति न रखते हुए आप शिला के उदर में प्रसिद्ध वाणी आदि चेष्टाशून्य मौन के समान स्थित (📖) रहिये ॥५॥

अनन्त कोटि जन्मों के संचित पाप और पुण्यरूपी कर्मों का अपरोक्षरूप से भान न होने के कारण शिवमयताअवलोकन द्वारा बाध सिद्ध तो हो नहीं सकता, इसलिए अन्ततोगत्वा जब तक मृत्यु न हो जाय तब तक चेष्टाशून्य होकर रहनारूप ही उनका त्याग एकमात्र उनके निवारण में उपाय है, क्योंकि ज्ञानी पुरुष को कर्म करने से न तो कोई फल मिलने की अपेक्षा है और न नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के त्याग से प्रत्यवाय लगने की ही आशा है, जिससे कि चुपचाप स्थित रहना उससे न हो सकेगा, ऐसी सम्भावना करके श्रीरामजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे प्रभो, 'अहं' 'मम' इत्यादि दृश्यसमूह की असद्रूप से भावना कर रहे ज्ञानी पुरुष को कर्मों के त्याग से क्या अशुभ होता है तथा उनके अनुष्ठान से क्या शुभ होता है ? ॥६॥

सचमुच आपका नैष्कर्म्य सिद्ध हो जाय, यदि अज्ञानरूप मूल के साथ आप कर्मों का त्याग कर सकें। परन्तु मूल का त्याग करना तो अत्यन्त ही कठिन है, यह दिखलाने के लिए महाराज वशिष्ठजी–श्रीरामचन्द्रजी मुझसे 'कर्मों का मूल क्या है' इसका निश्चय कर पूछ रहे हैं या यों ही पूछ रहे हैं– इसकी परीक्षा करने के लिए हे श्रीरामजी, आपने कर्मों का स्वरूप कैसे निश्चित किया है, उनका फलात्मक विस्तार कैसा है, उनका मूल क्या है, उनमें नाश योग्य अंश और उसका उपाय आपने कैसा निश्चित किया है– यह पूछतें हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे निष्पाप श्रीरामजी, मैं आपसे पूछ रहा हूँ उसे शीघ्र कहिये। यदि वास्तव में आप जानते हों, तो कहिये, कर्म किसे कहते हैं ? ॥७॥ कर्म का विस्तार कैसा है, उसका मूल क्या है और उसके किस अंश का नाश किया जाता है ? यानी उसका नाशनीय अंश कौन है ? और वह किस तरह नष्ट होता है। यह भी अच्छी तरह कहिये ॥८॥

श्रीरामजी ने कहा : हे भगवान्, जो नाशनीय अंश है, उसका भलीभाँति मूलोच्छेदपूर्वक नाश कर देना चाहिए, केवल शाखा आदि को कतरकर नहीं ॥९॥

कर्म का स्वरूप और उसके नाश का प्रकार, जो अपने को अभिप्रेत है, श्रीरामजी बतलाते हैं।

बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह अपने पुण्य और पापरूप कर्मों को नष्ट कर दे और मूल उखाड़कर नाश कर देने से वे बिलकुल नष्ट भी हो सकते हैं ॥१०॥

तीसरे प्रश्न का उत्तर कहते हैं।

हे ब्रह्मन्, कर्मरूपी वृक्ष के मूल मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये। जिनको उखाड़ फेंकने से

(📖) क्योंकि अपरोक्ष चिति की व्याप्ति के द्वारा ही नाम और रूपात्मक समस्त प्रपंच शिवस्वरूप है, ऐसा निर्णय कर बाध द्वारा उस स्वरूप में अनायास अवस्थिति हो सकती है।

निर्मूल होकर यह वृक्ष फिर नहीं पनपता ॥११॥

इस लोक के कर्म का मूल शरीर ही पूर्वजन्म के कर्म का विस्ताररूप भी होता है, इस दूसरे प्रश्न का भी शरीर का ही कर्मवृक्षरूप से वर्णन करके समाधान देते हैं।

हे ब्रह्मन्, संसाररूपी जंगल में रोपा गया यह शरीर ही कर्मवृक्षरूप से उत्पन्न है । यह कर्मरूपी वृक्ष विचित्र हाथ, पैर आदि अंगरूपी शाखाओं से विराजमान है ॥१२॥ सुख-दुःखरूपी नानाविध फलों की पंक्तियों से समन्वित इस वृक्ष का पूर्व जन्म में किया गया भला या बुरा कर्म ही बीज है । क्षणिक तरुण अवस्था से यह कमनीय दिखाई देता है और वृद्धावस्थारूपी फूलों से हँसता है ॥१३॥ प्रत्येक क्षण में कालरूपी उग्र बन्दर हर्ष, विषाद, रोग, जरा आदि विकार की चेष्टाओं के द्वारा इसकी आकृति को नष्ट करता है । निद्रारूपी हेमन्त ऋतु के जठर में इसके स्वप्नरूपी पत्तों के निर्गम संकुचित हुए रहते हैं ॥१४॥ अपनी वृद्धावस्थारूपी शिशिर ऋतु के अन्त में इसके चेष्टारूप पत्तों के समूह शान्त और शीर्ण हो जाते हैं । जगत्-रूपी जंगल में उत्पन्न हुए इस वृक्ष के समीप में स्त्री, पुत्र आदि पोष्यवर्गरूपी बहुत-से तृण पैदा हुए हैं ॥१५॥ हाथों और पैरों के पिछले हिस्से तथा ओष्ठ, कान और जीभ आदि इसके लाल-लाल कोमल पल्लवरूप अवयव हैं और हाथों एवं पैरों के तलवे कुछ कठोर होने से कम लालिमा लिये हुए इसके कुछ गोल तथा सुन्दर रेखाओं से युक्त चंचल पत्ते हैं ॥१६॥ भीतर में स्थित नाड़ियों तथा हड्डियों से लिप्त होने के कारण सुन्दर, कोमल और चिकनी मूर्ति लाल अंगुलियाँ ही इसके वायु से कम्पित हो रहे बाल पल्लव हैं ॥१७॥ काटने पर भी पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाली कोमल, चिकनी, तीक्ष्ण अग्रभागों से युक्त दूज की चन्द्रकला के आकारवाली इसकी नख पंक्तियाँ ही गोल-गोल कलियाँ है ॥१८॥ इस तरह देह वृक्षरूप से उत्पन्न हुए पूर्व जन्म के कर्म की कर्मेन्द्रियाँ ही मूल है । *(इनमें वृक्षमूल के धर्म दिखलाते हैं)* इनमें जो छिद्रों से युक्त हैं, वे तो आसंग-कामादिरूपी साँपों से डँसे गये हैं और जो बिना छिद्रों के हैं उनमें भी बड़ी-बड़ी गाँठें पड़ गई हैं ॥१९॥

हे भगवान्, दृढ़ हड्डियों की गाँठों से बँधी, नाड़ियों में भरे गये अन्नरसों में डूबी हुई, वासनारूपी रस को पी जानेवाली तथा अपने रक्तरूप रस से परिपूर्ण; एड़ी के ऊपर की गाँठ से युक्त, दृढ़ अंगोंवाली, सुन्दर त्वचाओं से समन्वित और चिकनी उन कर्मेन्द्रियों के भी मूल आप ज्ञानेन्द्रियों को जानिये ॥२०,२१॥ ज्ञानेन्द्रियाँ देह से बाहर बहुत दूर विषय प्रदेशों में जाकर भी विषयों को पकड़ लेने में अत्यन्त समर्थ हैं, नेत्रगोलक आदि पांच तरह के स्थानों में वे आश्रित हैं और अपने-अपने विषय-वासनारूपी कीचड़ में निमग्न अतएव वासनायुक्त हैं तथा उन्हें निगृहीत करना शक्य नहीं है - काबू के बाहर है ॥२२॥ उन ज्ञानेन्द्रियों का भी महान् स्तम्भयुक्त मूल यह मन है, इसने तीनों लोक को व्याप्त कर रक्खा है तथा यही अनन्त

रूपादि रसद्रवों को पांच ज्ञानेन्द्रियों के स्रोतरूपी नाड़ियों के द्वारा खींचकर उनका उपभोग कर लेने के बाद फिर उन्हें फेंक देता है ॥२३॥

हे भगवान्, उस मन का मूल तत्त्वज्ञानी लोग चेत्य (विषय) की ओर उन्मुख हुए चिदात्मक जीव को (चिदाभास को) कहते हैं। चेत्यांश का मूल अविद्याशबल (मायाशबल) चिति है। उस चिदाभासरूप चिति का भी मूल बिम्बभूत ब्रह्म है, जो सब मूलों का एक कारण है। हे ब्रह्मन्, चूँकि वह अशब्द, अनन्त, शुद्ध और सत्यस्वरूप है, इसलिए उस ब्रह्म का कोई दूसरा मूल नहीं है ॥२४,२५॥

हे महर्षे, इस तरह सम्पूर्ण कर्मों का मूल विषयों की ओर उन्मुख हुई चिति ही है। वह अहंकारादि के साथ तादात्म्यापन्न होकर 'मैं ही सब कुछ करती हूँ' यों कर्ता के स्वरूप की भावना करके क्रियात्मक स्पन्द बनकर उसके फल के लिए प्रवृत्त होती है ॥२६॥ हे मुने, सब कर्मों का आदि बीज यह जीव चेतन ही है, क्योंकि उसके रहने पर ही यह बड़ी-बड़ी टहनियोंवाला शरीररूपी सेमल का वृक्ष पैदा होता है ॥२७॥ यह जीवचैतन्य जिस समय अहंकार आदि से युक्त 'मैं ही चेतन कर्ता हूँ' इस तरह की उद्बुद्ध हुई शब्दार्थभावना से समन्वित होता है उसी समय कर्मों की बीजता को प्राप्त होता है, अन्यथा यह अपने सत् परम पदरूप से ही स्थित रहता है ॥२८॥

फिर इसीको स्पष्टरूप से कहते हैं।

यह जीवचेतन जब चेतनशब्दार्थ की भावना से यानी चैतन्यात्मक 'मैं ही सब कुछ करता हूँ' इस तरह की भावना से वेष्टित होता है तब कर्मों की बीजता को प्राप्त होता है, अन्यथा अपने परम सद्रूप पद से स्थित रहता है ॥२९॥

उक्त अर्थ की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए गुरुवाक्य को ही प्रमाणरूप से उपस्थित करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अब उपसंहार करते हैं।

इसलिए हे मुनीश्वर, अपने शरीर आदि में अहंरूपता के आकार की भावना ही इस संसार में सब कर्मों की कारण है। यह जो मैंने कर्मों का मूल आपसे कहा है, सो आपने ही पहले मुझसे कहा था, अतः आपके वचन का अवलम्बन करके ही मैंने यह सब आपसे कहा है ॥३०॥

हे श्रीरामजी, यह जो आपने कर्मों का मूल मुझे सुनाया है, इसका त्याग चुपचाप बैठे रहने या देह का त्याग कर देने से नहीं हो सकता है और न तो कर्मों की निवृत्ति ही आपके द्वारा दिखलाये गये मार्ग से हो सकती है, इस अभिप्राय से महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, जब तक देहरूप उपाधि उपस्थित है तब तक वेदनात्मक इस सूक्ष्म कर्म का क्या त्याग और क्या अनुष्ठान हो सकता है ? ॥३१॥

देह के विद्यमान रहते बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यों के अध्यास को दूर करना अत्यन्त ही कठिन है, यह कहते हैं।

देह रहते बाह्य और आभ्यन्तर जिस-जिस की यह जीवचेतन भावना करता है उसी रूप

का यह शीघ्र हो जाता है, चाहे वह सत्याकार हो या विभ्रम से भरा हुआ बिलकुल असत्य ही क्यों न हो ? ॥३२॥ यदि भावना नहीं करता, तो यह अच्छी तरह इस संसार के भ्रम से मुक्त हो जाता है । वह भ्रम सत्य हो या असत्य इस विचार से क्या प्रयोजन है ? ॥३३॥ यह जीवचेतन ही वासना, इच्छा, मन, कर्म, संकल्प आदि नामवाले औपाधिक उत्पन्न भ्रमों से अपने अन्दर संसाररूप से विकसित होता है ॥३४॥

तब तो प्रतिबिम्ब की हेतु चित्तरूप उपाधि का ही प्रबोध से निरास करना चाहिए, इस शंका पर कहते हैं ।

देहरूपी घर के भीतर स्थित प्रबुद्ध हुए या अप्रबुद्ध हुए इस जीव का देहपर्यन्त चित्त रहेगा ही, उसका त्याग हो नहीं सकता ॥३५॥ जीवन धारण कर रहे प्राणियों के चित्त का भला कैसे त्याग हो सकता है । इसलिए चुपचाप बैठे रहने या देह के त्याग से सब कर्मों का कभी त्याग नहीं हो सकता, किन्तु यथा प्राप्त सब व्यवहारों को करते समय भी 'असंग, अद्वितीय, कूटस्थ चिन्मात्रस्वरूप मैं कुछ भी नहीं करता', इस निष्क्रिय आत्मस्वभाव की स्थिति से कर्मशब्दार्थ की भावना के उत्पन्न न होने पर यत्न के बिना भी कर्म और अकर्मरूपता का विकल्प छूट जाने से यह कर्म–त्याग स्वयं ही हो जाता है ॥३६॥

इससे भिन्न किसी दूसरे मार्ग से कर्म का त्याग अत्यन्त कठिन है, यह कहते हैं ।

इससे अन्य दूसरे कर्म त्याग का संभव न होने पर जो केवल अपने शरीर से कर्तव्यता त्यागरूप (शास्त्रविहित या लौकिक कर्मों को छोड़कर चुपचाप बैठनारूप त्याग) करता है, उसके द्वारा यह कुछ भी नहीं किया गया समझना चाहिए ॥३७॥ बोध होने के बाद दृश्य–प्रतिभास का स्वयमेव लय होने से जो जगत् का अत्यन्तअभाव होता है उसी को असंग त्याग और मोक्ष भी कहते हैं ॥३८॥

बोध से तो वेद्य का ही बाध होता है, वेदन का नहीं, फिर उसका बाध कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं ।

वेद्य (विषयों) के रहने पर ही वेदन होता है । किन्तु यदि सृष्टि के आदि में ही वेद्यदृष्टि उत्पन्न नहीं हुई, तो फिर वह वर्तमानकाल में तो है ही नहीं । इसलिए क्या और कहाँ वेदन है (📖) ? ॥३९॥ चिदाभासतारूप वेद्योन्मुखता का परित्याग कर जो वेदन का शुद्ध चिदात्मकरूप अवशिष्ट रहता है वह द्वैतवेदन नहीं है, क्योंकि वह कर्म–क्रिया नहीं है, जिससे कि 'विद्' धातु से भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर जो 'विद्' धातु का अर्थ होता है वह हो । किन्तु वह शांत ब्रह्म ही है, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं ॥४०॥ चिदाभासात्मक जो चेतन है वह तो कर्म–क्रियारूप ही कहा गया है, क्योंकि बुद्धि आदि व्यापार द्वारा जल आदि में प्रतिबिम्बित आकाश

(📖) तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में वेद्यदृष्टि (विषयदृष्टि) न तो उत्पन्न हुई है और न विद्यमान ही है, क्योंकि उपाधि का बाध होने पर चिदाभास की अलग स्थिति नहीं रहती, यह भाव है ।

की नाईं वह विकास को प्राप्त हुआ है । यही कारण है कि अनुभवी विद्वान लोग मोक्ष को चिदाभासशून्य ही कहते हैं। उन लोगों की विवेकी शिष्य के प्रति इसी तरह की उपदेशवाणी सुनाई देती है ॥४१॥

इस तरह यह सिद्ध हो गया है कि जब तक यह शरीर खड़ा है तब तक सुखपूर्वक व्यवहार होता ही रहेगा, इसी आशय से कहते हैं।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जब तक यह शरीर खड़ा है तब तक कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। जो लोग कर्मों की पूजा करते हैं वे लोग उसके मूल को नहीं छोड़ते ॥४२॥ अपने कर्म का मूल वासनात्मक मन सम्बन्धी चिदाभास संवित् ही है। उसका उच्छेद जब तक यह शरीर है तब तक ज्ञान के बिना हो नहीं सकता ॥४३॥

हे श्रीरामजी, यही चिदाभाससंवित् भीतर अन्य कर्मों के मूल काम, वासना आदि को पैदा करने में तत्पर और श्रेष्ठ है ॥४४॥

इसलिए मेरे द्वारा कहा गया ही सबसे बढ़िया कर्मत्याग में उपाय है, इस आशय से कहते हैं।

जो तत्त्वज्ञानी चिदाभासरूपी संवित् को मूल अज्ञान के साथ अपने यत्न से तत्त्व को समझकर स्वरूप से च्युत कर देता है वह उससे उत्पन्न तत्-तत् दृश्यदर्शनरूप वृत्तिअवच्छिन्न चिदाभासात्मक सूक्ष्म संवित् को अप्रतिसन्धानरूप मूलबाधक अपने यत्न से ही काट देता है अर्थात् उसे काटने के लिए पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है ॥४५॥ जो चिदाभास को शुद्ध आत्मदृष्टि से विचारकर विचलित कर देता है वह संसाररूपी वृक्ष का तत्त्वज्ञान के द्वारा सर्वबाधरूपी मूलोच्छेद कर डालता है ॥४६॥

हे श्रीरामजी, चूँकि चिति के अभाव से रहित, सजातीय और विजातीय भेदों से शून्य, दृश्य पदार्थों से हीन जो एक आकाश है वह तत्त्वदृष्टि से ब्रह्मरूप ही है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी लोग उसी को हम सब चेतनों का सार (पारमार्थिक रूप) कहते हैं ॥४७॥

दूसरा सर्ग समाप्त

तीसरा सर्ग

द्वैत का अत्यन्त बाध हो जाने पर विद्वानों को जिस उपाय से आत्मतत्त्व अवेदनरूप और निष्क्रिय सिद्ध होता है, उस उपाय का वर्णन ।

'अवेदनं विदुर्मोक्षम्' इत्यादि पूर्ववचन से जो कहा गया है उस विषय में श्री रामचन्द्रजी शंका करते हैं।

श्रीरामजी ने कहा : हे मुनीन्द्र, जो वेदन(ज्ञान) पदार्थ है उसे अवेदनरूप कैसे बनाया जा सकता है ? न तो असत्वस्तु की सत्ता हो सकती है और न सद्वस्तु का अभाव हो सकता है ॥१॥

(यद्यपि 'वेद्योन्मुखत्वं संत्यज्य' इत्यादि से अवेदन शब्दार्थ का निरूपण हो जाने से श्रीरामभद्र

को यह शंका नहीं होनी चाहिए, तथापि 'येन संविदसंवित्या' इस कथन से वेदन नाश ही असंवेदन कहा गया है यह बात 'तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते' इस वाक्य द्वारा प्रतिपादित अवेदन की ब्रह्मरूपता नहीं घटती, क्योंकि सत् असत् नहीं हो सकता, इसलिए शंका का अवसर है।)

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जिस समय यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि असत् वस्तु की उत्पत्ति और सद्वस्तु का विनाश नहीं होता, उस दशा में वेदन को अवेदन बनाना स्वयं ही सुलभ हो जाता है ॥२॥ संसारदशा में प्रसिद्ध यह वेदन शब्द और इसका अर्थ ये दोनों एक तरह से रज्जूसर्पभ्रम के सदृश मिथ्या हैं। मिथ्यासामग्री से मिथ्यारूप उत्पन्न हुए हैं और मृगजल के सदृश ये केवल दिखाई देते हैं ॥३॥ हे राघव, वेदनशब्द और उसके अर्थ का न जानना उत्तम है तथा उनका ज्ञान होना दुःख है, इसलिए आप अविनाशी तटस्थ आत्मस्वरूप को जानिये और त्रिपुटीभान के अन्तर्गतवृत्ति से युक्त चेतन के आभास को आत्मरूप मत समझिये ॥४॥ प्राणी के लिए सबसे बढ़कर दुःख पैदा करनेवाला वेदनशब्द और उसका अर्थ जानना है, इसलिए वेदनशब्द और उसके अर्थ का परिज्ञान समूल नष्टकर अपने असलस्वरूप में अवस्थित रहिये ॥५॥

व्यवहारकाल में उसका उच्छेद किस तरह करना चाहिए, इस पर कहते हैं।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटीभान जिस समय होता है, उस समय व्यावहारिक ज्ञानरूप शब्द और उसका अर्थ प्राप्त होता है उन दोनों की यथायोग्य सर्वार्थरूप कुटस्थ चैतन्य तथा सर्वशब्दरूप 'ओम्' शब्द में लक्षणाकर कूटस्थ चैतन्यमात्र ही आत्मा है और यही मोक्ष का आविर्भाव है, यों सुदृढ़ निश्चय कर ज्ञानी पुरुष समस्त विक्षेपात्मक प्रपंचों का परित्याग कर व्यवहार करे ॥६॥

इस प्रकार के ज्ञानरूप व्यवहार से ही ज्ञानी को पूर्वोत्तर शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता और उनका विनाश भी हो जाता है, यह कहते हैं।

विवेकी पुरुष को अपना शुभाशुभ कर्म विनष्ट कर देना चाहिए। यह विनाश 'शुभाशुभ कर्मों का आत्मा के साथ तनिक भी किसी समय सम्बन्ध नहीं है', इस प्रकार के बोधरूप तत्त्वज्ञान से स्वयं सिद्ध हो जाता है ॥७॥

मूलसहित कर्मों का विनाश करने से संसार अशेषरूप से शान्त हो जाता है। जब कि आत्मतत्त्व भलीभाँति विचारित एवं प्रत्यक्ष किया जाता है तब समूल कर्मों का विनाश हो जाता है ॥८॥ जैसे बिल्व की मज्जा भीतर बीज आदि का निर्माण करती है, परन्तु बीज आदि जैसे बिल्व से भिन्न नहीं रहते, वैसे ही चिद्रूप आत्मा भी अपने भीतर चित्तसंज्ञा एवं क्रिया, कारक आदि त्रिपुटी का निर्माण करता है, पर चित्त आदि उससे तनिक भी भिन्न नहीं है ॥९॥ भूलोक की रचना के अन्तर्गत जम्बूद्वीप आदि की रचना जैसे भूमि से पृथक् नहीं है, वैसे ही चिदाकाश के अन्तर्गत सब भूत और भुवन आदि सन्मात्र परब्रह्म चिदाकाश से तनिक भी पृथक् नहीं हैं ॥१०॥ जो जल है वही उसके अन्तर्गत द्रवत्व भी है। इसी तरह से चिति के अन्तर्गत विद्यमान चित्त्व एवं चित्त चिति से

पृथक् नहीं है, क्योंकि चित्त्व और चित्त शब्द के जो अर्थ हैं, वे केवल चैतन्यवाचक चितिधातु के ही अर्थ हैं ॥११॥ जैसे जल में द्रवत्व और तेज में प्रभा ग्रहकत्व–स्मर्तृत्व धर्मों से शून्य है, वैसे ही ब्रह्म में चित्त्व और चित्त ग्रहकत्व एवं स्मर्तृत्व धर्म से शून्य है ॥१२॥

चित्त्व और चित्त ग्रहकत्व और स्मर्तृत्व धर्म से शून्य कैसे है ? यह कहते हैं।

'चेतयति इति चित्' (जो प्रकाशन करता है वह चित् है) इस व्युत्पत्ति से अर्थ का प्रकाश चिति का कर्म ही मालूम पड़ता है। परन्तु यह कूटस्थ चैतन्य में निर्मूल भ्रमसिद्ध यक्ष के समान किसी कारण के बिना मिथ्यारूप ही प्रतीत होता है, इसलिए चिति में उसकी उत्पत्ति ही नहीं है और न उसका अस्तित्व ही है ॥१३॥

इस रीति से चिंतनक्रिया के चेतन से पृथक् न सिद्ध होने पर विषय भी चेतन से पृथक् सिद्ध नहीं है, यह कहते हैं।

वायु और उसके स्पन्दन की नाईं जब चेतन और उसकी अर्थप्रकाशनरूप क्रिया अहेतुक है, तब स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में होनेवाला वह अर्थप्रकाश आत्मचेतनरूप ही है, भिन्न नहीं है ॥१४॥ सम्पूर्ण कर्मों का विस्तार यह देह ही है, उसका मूल अहंकार है और शाखाएँ संसार है। अचेतनरूप (चिदाभासरूप क्रिया से शून्य) मूलोच्छेदक अनहंकार से शाखाओं के सहित यह ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे स्पन्दनशून्य वायु ॥१५॥

यह नहीं समझना चाहिये कि चिदाभास के उच्छेद से जीव का स्वरूप नष्ट हो गया, किन्तु उसने तो ब्रह्मस्वरूप से अनन्तात्मा होकर अपने अनर्थरूप संसार का मूलोच्छेद कर परम पुरुषार्थ का सम्पादन कर लिया, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिदाभासात्मक क्रिया का उच्छेद करके पत्थर के समान निश्चल अनन्त परब्रह्म परमात्मरूप होकर संसार के मूल को ऐसे उखाड़ फेंकिये, जैसे वराह के मुख का अग्रभाग मोथा को समूल उखाड़ फेंकता है ॥१६॥ पूर्वोक्त रीति से ही कर्मबीज से मूल का त्याग किया जाता है, दूसरी रीति से नहीं। इसलिए हे राघव, आपके हृदय में सदा स्थित रहनेवाला वेदनात्मक कर्ममूल शान्त हो जाय ॥१७॥ इस कर्मबीज का मूल जब त्याग दिया जाता है तब जीव के लिए न चिदाभास की सत्ता रहती है और न दृश्यप्रपंच की ही सत्ता रहती है। ऐसी स्थिति में विदिततत्त्व शान्त ब्रह्मज्ञानी न किसी वस्तु का ग्रहण करते हैं और न किसी वस्तु का परित्याग ही करते हैं, क्योंकि उस समय उन्हें त्याग और ग्रहण का परिज्ञान ही नहीं रहता। अनन्तर वे आकाश के सदृश निर्मल एवं विशद हृदय से युक्त होकर ज्ञानी पुरुष मानसिक विकल्पों से शून्य होकर जैसी उनकी मूल स्थिति है उसी रीति से अवस्थित रहते हैं। जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसे करते हैं और नहीं भी करते हैं ॥१८–२०॥ जैसे नदी के प्रवाह में पतित तृण, काष्ठ आदि सब कुछ स्पन्दित होता है। वैसे ही ज्ञानियों की कर्मेन्द्रियाँ किसी प्रकार के मनोविकार के बिना अर्धसुप्त या बालक की नाईं

स्पन्दित होती हैं ॥२१॥ सबसे बढ़े–चढ़े ब्रह्मानंद के प्राप्त हो जाने पर भोगलम्पट करणवृत्तियाँ भी नीरस होकर अपने–अपने विषयों के प्रकाशन में असमर्थ–सी बनकर भीतर या बाहर कुछ भी नहीं कर पाती ॥२२॥ वह पूर्वोक्त विज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग है और यह त्याग आत्मबोध से स्वतः सिद्ध हो जाता है। इतर देहादि के स्पन्दनरूप कर्म के करने से या न करने से प्रयोजन ही क्या ? ॥२३॥ विषयों से विनिर्मुक्त, वासनाओं से शून्य, सुदृढ़रूप से स्थित, शान्त, एकरूप, कृत और अकृत के अनुसन्धान से रहित जो अवेदन है वही कर्मत्याग कहा जाता है ॥२४॥ दीर्घकाल से भूले गये कर्मों के सदृश विषयों का भलीभाँति पुनः–पुनः स्मरण न होना ही कर्मत्याग कहा जाता है। वह विस्मरण निरन्तर खम्भे के पेट के सदृश ठोस और एकरूप का होना चाहिए ॥२५॥ जो मिथ्या ज्ञानी पुरुष मूलत्याग के बिना केवल इन्द्रिय संयममात्ररूप करते हैं, उन अज्ञानी पशुओं को कर्मत्यागरूप पिशाचिका खा जाती है ॥२६॥ मूलसहित कर्मत्याग के द्वारा जो ज्ञानी शान्ति प्राप्त कर बैठे हैं उन्हें यहाँ कृत–अकृत कर्म से कोई मतलब नहीं रहता ॥२७॥ पूर्वोक्त रीति से चूँकि ज्ञानी–पुरुष कर्मबीजरूपी अंशों का समूल भलीभाँति उच्छेदकर निरन्तर एकमात्र निर्विकल्प समाधि में स्थित रहते हैं, इसलिए वे सुख का उपयोग करते हैं ॥२८॥ ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध प्राप्त कार्य में कुछ प्रवृत्त हुए–से दिखाई देते हैं, परन्तु ये घूर्णमान शराब के नशे में उन्मत्त पुरुष के सदृश तथा यन्त्र से संचालित काठ की मूर्तियों के सदृश उसके अभिमान से रहित रहते हैं ॥२९॥ विविध विषय–विलासों से परिपूर्ण मोक्षलक्ष्मी से ज्ञानी पुरुष ऐसे अपने देह आदि के भान को भूले रहते हैं, जैसे अत्यन्त आसक्तिरूप व्यसन से साधारण पुरुष अपने देह आदि के भान को भूले रहते हैं और किसी अनिर्वचनीय पंचम आदि भूमिकाओं में प्राप्त होकर अर्धसुप्त एवं अर्धप्रबुद्ध के सदृश रहते हैं ॥३०॥ जो मूलोच्छेदपूर्वक छोड़ा जाता है वही छोड़ा गया कहा जाता है और जो मूलोच्छेद के बिना त्याग है, वह शाखाच्छेदन के सदृश ही है ॥३१॥ मूल के छेदन के बिना केवल शाखाग्र से काटा गया कर्मरूपी वृक्ष फिर हजारों शाखा–प्रशाखाओं के विस्तार से दुःख के लिए बढ़ता ही रहता है ॥३२॥ हे भद्र, पूर्वोक्त अवेदनस्वरूप से ही कर्मत्याग सिद्ध होता है, दूसरे से नहीं, इसलिए बतलाये गये क्रम से उसी के अभ्यास में तत्पर रहिये ॥३३॥ श्रीरामजी, जो कोई पुरुष उस प्रकार का कर्मत्याग न कर दूसरे अत्यागरूपी त्याग को करने में प्रवृत्त रहते हैं वे मानों गगन ताड़ने के लिए ही उद्यत रहते हैं ॥३४॥ आत्मबोध से कर्मत्याग स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। इच्छारहित जीवन्मुक्तों की बड़ी–बड़ी आडम्बरपूर्ण क्रियाएँ भी अक्रियारूप ही हैं, क्योंकि उनका मूलभूतबीज जल चुका है। जिसके तन्तु जल चुके हैं ऐसा वस्त्र वस्त्र के सदृश दिखाई दे रहा भी वास्तविक वस्त्र नहीं है ॥३५॥ भोगासक्तिरूप रस की भावना से ही बुद्धिसहित इन्द्रियों के द्वारा निष्पादित कर्म ऐसे सफल होता है, जैसे रस्सी के द्वारा कूपकाष्ठ जल निकालना, सींचना आदिरूप रसभावना से धान पैदा कर सफल होता है। वह काष्ठ वृथा चेष्टा से जैसे व्यर्थ है वैसे ही अन्य शारीरिक

चेष्टारूप स्पन्द भी निष्फल है ।।३६।। ज्ञान से कर्मत्याग के सिद्ध हो जाने पर वासनाशून्य जीवन्मुक्त पुरुष चाहे घर में रहे या जंगल में, धनादि सम्पत्ति के नाश से दरिद्र हो या धनादि सम्पत्ति की वृद्धि से अभ्युदय को प्राप्त हो, किन्तु है वह रहता सर्वत्र एक-सा ही ।।३७।। शान्त पुरुष के लिए घर ही निर्जन दूरस्थ जंगल है तथा अशान्त पुरुष के लिए निर्जन महान् जंगल भी जनसमुदाय से ठसाठस भरी नगरी है ।।३८।। परिशान्तमति तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए स्वप्न में भी निर्जन, निर्मल, विस्तृत और अति मनोहर वन भूमि हृदय के अन्दर ही विराजमान है ।।३९।। ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए दृश्य प्रपंचवाले तत्त्वज्ञानी के लिए यह संसार ही स्पन्दन से शून्य, आकाशमयी, अशेष-विशेष पदार्थों से शून्य महाटवी है ।।४०।। अनन्त संकल्पोंवाले तथा जगत् की स्थिति को हृदय में रखनेवाले अज्ञानी के लिए सम्पूर्ण सागरों सहित सारी पृथिवी हृदय के अन्दर ही विराजमान है ।।४१।। अज्ञानी दीन मनुष्य के लिए विविध द्वन्द्वों से भरी हुई, अनेकविध कार्यों के आरम्भ से युक्त तथा अनेक तरह के आकारों से समन्वित ग्रह मण्डली हृदय के भीतर ही विराजमान है ।।४२।।

हे श्रीरामजी, अज्ञानी पुरुष के लिए विविध आवश्यक कार्यों से यानी धनोपार्जन, धनव्यय, दूरदेश में प्रवास, कलह आदि से सर्वदा ही लोभ, मोह, शोक, भय, आसक्ति आदि विकारों से पूर्ण छोटे-छोटे कसबों, बड़े-बड़े नगरों तथा देश-देशान्तरों एवं पर्वतों से युक्त यह सारी पृथिवी मलिन हृदय में जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित हो, वैसे प्रतिबिम्बित होती ही है ।।४३।।

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

अहन्ता ही संसार का मूल है। इसका आत्मबोध से अनहंभाव की भावना करने पर त्याग हो जाता है, यह वर्णन।

सम्पूर्ण दृश्यों का त्याग ही द्रष्टा आत्मा का मोक्ष है। तेल खतम हो जाने पर दीप-निर्वाण के समान तत्त्वज्ञान से सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच के मूल अज्ञान का निर्वाण (नाश) हो जाने पर ही वह सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, चेतन आत्मरूप तत्त्वबोध हो जाने पर जब अहन्तादि के सहित जगत् शान्त हो जाता है तब तेल समाप्त हो जाने पर जैसे दीप बुझ जाता है वैसे ही सब दृश्य प्रपंचों का त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं ।।१।। कर्मों का त्याग वस्तुतः त्याग नहीं कहा गया है, बोध ही मुख्य त्याग कहा गया है। जिसमें जगत् का प्रतिभास नहीं है ऐसा परिशिष्ट मुख्य एक आत्मा ही सर्वत्यागरूपी मोक्ष है, यह अविनाशी तथा अहन्तादि विकारों से रहित है ।।२।। 'पामरजन तक प्रसिद्ध यह देहादि दृश्य प्रपंच ही मैं हूँ' तथा 'देहादि से सम्बध्ध यह भोग्य जगत् मेरा है', इस तरह के तादात्म्याध्यास और संसर्गाध्यास रूप दो बन्धनों के, तेलरहित दीपक की नाईं, समूल शान्त हो जाने पर सर्वोत्तम बोध ही (एकमात्र चैतन्य ही आत्मा है, इस प्रकार का ज्ञान ही) शेष रह

जाता है, इसीका नाम परमनिर्वाण यानी मोक्ष है ॥३॥

उक्त अर्थ को व्यतिरेक से भी दृढ़ करते हैं।

'यह देहादिरूप मैं हूँ तथा स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं' इस प्रकार का अध्यासरूप संसार जिसका शान्त नहीं है उसे न ज्ञान है, न शान्ति है, न त्याग ही है और न निवृति यानी मोक्षरूप सुख ही है ॥४॥ यह स्त्री, पुत्र, धन आदि सब मेरे हैं , यह शरीर, इन्द्रिय आदि मैं हूँ, सिर्फ इतने अध्यास की जो निवृत्ति है वह अध्यस्त पदार्थों के बाध का अधिष्ठानरूप होने से बोधरूप तथा सर्वथा शान्त शिवस्वरूप है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥५॥ तत्त्वबोध के द्वारा अहमंश के क्षीण हो जाने पर *(हे श्रीरामजी, यह आप समझ लीजिए कि)* ममता का आधार सारा संसार ही विनाश को प्राप्त हो गया। *(सब जगत् का नाश होने पर सर्वस्व नाश की आशंका से डरे हुए पुरुष के प्रति समाधान देते हैं।)* और सच पूछिये तो यथार्थ में कहीं कुछ भी नष्ट नहीं हुआ। क्योंकि सर्वत्र आनन्दघन एक आत्मा ही स्थित है ॥६॥

अहंबुद्धि को नष्ट करने में बिलकुल सरल उपाय बतलाते हैं।

अहंकार की भावना करनेवाला जीव एकमात्र अहंकार की भावना न करने से ही बिना किसी विघ्न के (ॾ) शान्त हो जाता है। और यह मुक्ति सिर्फ इतने ही साधन से सिद्ध हो जाती है, इसके लिए अनेक साधनों के सम्पादन में व्यर्थ क्लेश क्यों किया जाय ? ॥७॥

अनहंबुद्धि भी तो अहंबुद्धि की नाईं द्वैतरूप होने के कारण अध्यास ही है, फिर वह किससे शान्त होती है, यदि यह पूछिये,तो इसका उत्तर यह है कि पंक के साथ कतकधूलि की नाईं अहंबुद्धि के साथ वह भी अपने-आप चिदात्मा में शान्त हो जाती है, यह उपपत्तिपूर्वक कहते हैं।

मैं देहादि नहीं हूँ, किन्तु चिन्मात्ररूप ही हूँ, इस बुद्धि को भी यदि आप द्वैतभ्रमबुद्धि ही कहें, तो यह परमार्थचित्स्वभाव को छोड़कर और कुछ नहीं है। क्योंकि चितिस्वरूप तो आकाश के समान विशद है, इसलिए इसमें भ्रम की स्थिति ही कहाँ रह सकती है ॥८॥

भ्रम, भ्रमसाधन, भ्रमफल एवं उनके आश्रय सभी ज्ञानमात्र के परिणाम हैं, इसलिए अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, यह कहते हैं।

न भ्रम है, न भ्रम का साधन है,न भ्रम का फल है और न भ्रम का आश्रय ही है, जो कुछ है, वह सब अज्ञान ही है, इसलिए जब आपको तत्त्वज्ञान हो जायेगा तब उसी से आप में उनकी सत्ता नहीं रहेगी ॥९॥ हे श्रीरामजी, यह जो प्रपंच दिखाई दे रहा है, वास्तव में उसे चिन्मात्र ही समझिये। स्वरूपतः विस्तृत प्रपंच असत् खरगोश के सींग के सदृश ही है, इसलिए आप जगत् के विषय में समस्त वाग्व्यवहार को छोड़कर चुपचाप बैठे रहिये, क्योंकि पूर्वोक्त प्रणाली से सब कुछ परिशिष्ट आत्मस्वरूप ही है ॥१०॥

(ॾ) अर्थात् 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस बुद्धि से रजत के अध्यासबाध में जैसे कोई विघ्न नहीं है।

जब–जब अहंभाव का उदय प्राप्त हो तब–तब उसी समय में अहंभाव विरोधिनी अनहंभावबुद्धि पैदा करना चाहिए, यह कहते हैं।

जिस कारणसामग्री से निमेषमात्र में शीघ्र अहंबुद्धि उत्पन्न होती है उस सामग्री से विरुद्ध तत्काल अनहंभाव का उत्पादन कर पुरुष किसी प्रकार के शोक से सन्तप्त नहीं होता ॥११॥

भद्र, इस तरह निरन्तर अत्यन्त सावधानी से पैदा किये गये अनहंभाव अहंभाव को शीघ्र आकाशपुष्प के सदृश निर्वचनीय बनाकर रण में धनुष चढ़ाये गये अर्जुनबाण के सदृश अपरांमुख हो ब्रह्मरूप लक्ष्य का दृढ़ अवलम्बन कर निरन्तर आप अवस्थित रहिये ॥१२॥

हे रामभद्र, इस रीति से निरन्तर अहन्ता की आकाशपुष्प आदि के सदृश भावना कर रहे आप समस्त सांसारिक भावनाओं से निर्मुक्त होकर संसारसागर से पार हो जाइये ॥१३॥ भद्र, स्वाभाविक अज्ञानजनित अहंभाव के ऊपर विजय पाने में जिसकी स्वयं वीरता नहीं है उस पशु की उत्तमपद प्राप्ति के लिए कोई चर्चा ही क्या हो सकती है, यह कहिये ॥१४॥ जिस उत्तम ज्ञानी पुरुष ने सबसे पहले काम, क्रोध आदि छः शत्रुओं के ऊपर विजय पा ली है, वही बड़े–बड़े अर्थों का भाजन हो सकता है; दूसरा मनुष्यरूपी गदहा नहीं ॥१५॥ जो पुरुष अपने अन्दर की मनोवृत्ति को जीत रहा है या जो जीत चुका है वह पुरुष विवेकज्ञान का पात्र गिना जाता है और वही 'पुरुष' इस शब्द से कहा जाता है यानी उसी पुरुष ने अपना जन्म सफल बनाया है ॥१६॥ भद्र, समुद्र में शिला के सदृश जो–जो विषय आपके लिए प्रारब्धवश प्राप्त हो जाये, उन सब विषयों से आप 'वह विषय मैं नहीं हूँ' इस प्रकार की भावना करते हुए अपना सम्बन्ध ही हटा दीजिये ॥१७॥ 'मैं देहादि विषयरूप नहीं हूँ', ऐसा जानते हुए और अनेक तरह की युक्तियों से ज्ञानरूप सुख का अच्छी तरह अनुभव करते हुए भी क्यों आप अज्ञानी के सदृश मोह में फँसते हैं अर्थात् नहीं ही फँसना चाहिए ॥१८॥ युक्ति से विचारने पर जैसे सुवर्ण में कटक आदिरूपता केवल भ्रान्ति को छोड़कर कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है वैसे ही इस आत्मा में युक्ति से विचारने पर देहादि ज्ञेय वस्तु भ्रान्ति को छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। आपकी वैसी भ्रान्ति केवल विषयों के विस्मरण से ही नष्ट हो जायेगी ॥१९॥

हजारों युक्तियों के प्रदर्शन से कोई प्रयोजन नहीं है केवल 'देहादि मैं नहीं हूँ' अकेली इस भावना का अभ्यास कर लेने पर ही सब भ्रान्तियाँ निकल जायेगी, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, वायु में क्रिया के सदृश आपके भीतर जो–जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन–उन भावों के आप 'मैं भावरूप नहीं हूँ' इस तरह की भावनावृत्ति से अपने को अनाश्रय बना दीजिये ॥२०॥ जिस पुरुष ने सबसे पहले अहंभाव का त्यागकर लोभ, लज्जा, मद और मोह के ऊपर विजय नहीं पाई, वह पुरुष नास्तिकता, यथेष्टाचरण आदि के उत्पादक इस आध्यात्मशास्त्र का अनधिकारी है। उसे इसमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए यदि वह प्रवृत्ति करेगा, तो नास्तिक एवं स्वेच्छाचारी ही बन

जायेगा ॥२१॥ पवन में स्पन्दन के सदृश आपमें जो अहन्ता स्थित है वह आपके परमात्मस्वरूप बन जाने पर वायु में स्पन्दन के सदृश आपसे पृथक् नहीं रह सकती ॥२२॥ कूटस्थ अद्वितीय चैतन्यमात्र के ज्ञान से परमात्मा में जब संसार एकरूप से मिल जाता है तब वह बहुत ही भला लगता है। ठीक ही है कि माला में भ्रान्ति से कल्पित सर्प आदि भयंकर अर्थ जब माला के ज्ञान से मालास्वरूप हो जाते है तब मालारूप से कण्ठ में धारण करने पर सुन्दर लगते ही है ॥२३॥

यदि आत्मज्ञान से जीव और जगत् की परमात्मरूप अवयवी के रूप में उत्पत्ति आपने मान ली, तो उसके बाद दूसरे भावविकार भी उत्पन्न होंगे ही, ऐसी स्थिति में उन विकारों से तथा जीवभाव, जगद्भाव एवं उनके ध्वंस आदि को लेकर द्वैतापत्ति भी होगी, इस शंका पर कहते हैं।

वस्तुतः परमात्मा न तो कभी उदित (उत्पन्न) होता है और न कभी अस्त ही और जब इस परमात्मा से भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब उससे भिन्न कौन भाव रहा और कौन अभाव रहा, कहने का तात्पर्य यह कि बाध से कल्पित की जो अधिष्ठानरूपता है, वह न तो उत्पत्तिरूप है और न नाशरूप है, किन्तु नित्यसिद्ध आत्मरूप है। और विकार आदि में हेतु तो क्रिया ही रहती है, ज्ञान नहीं, इसलिए जीव की परमात्मरूपता के बाद द्वैत कभी भी नहीं हो सकता ॥२४॥ तत्त्वज्ञान से ज्ञाता, ज्ञेय ज्ञानरूप त्रिपुटी का बाध हो जाने पर त्रिपुटीजनित जीव का विनाश हो जाता है। इससे यही बात निकली कि 'त्वं' पद का लक्ष्य, पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप परब्रह्म जो 'तत्' पद के लक्ष्य पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप स्वभाव में पहले से स्थित है, इसीका तत्त्वज्ञान विस्तार कर देता है, अपूर्व किसीका भी उत्पादन नहीं करता ॥२५॥

दीप के निर्वाण के समान आभास सहित अविद्या का फल निर्वाण अपूर्व ज्ञान का उत्पन्न हुआ। यह अवश्य ही मानना होगा, अन्यथा ज्ञान निष्फल हो जायेगा। इस पर कहते हैं।

ठीक है, यद्यपि निर्वाण ज्ञान का फल है तथापि वह अपूर्व उत्पन्न हुआ। यह कहना अत्यन्त अप्रसिद्ध है, क्योंकि अन्धकारशून्य सूर्य में अन्धकारनिवृत्ति के समान प्रपंचशून्य ब्रह्म में प्रपंच-निवृत्ति और नित्यशान्त में शान्ति कही गयी है। अतः अनर्थ निवृत्तिरूप ज्ञान का कोई अपूर्व फल नहीं हुआ। इसी तरह नित्यसिद्ध निरतिशयानन्द शिव में आनन्दप्राप्तिरूप फल भी कोई अपूर्व पदार्थ नहीं है। इस तरह ज्ञान का फल मानने पर द्वैतापत्ति नहीं आ सकती। यदि प्रत्यक् में (जीवात्मा में) बन्ध और ब्रह्म में आकाशादि पदार्थ सत्य होते, तो उनका निर्वाण दीपनिर्वाण के समान अपूर्व होता, लेकिन ऐसा है नहीं। रज्जु में सर्पनिर्वाण के समान प्रत्यगात्मा के बन्ध का निर्वाण भी वास्तव में अनिर्वाणरूप ही है। ब्रह्म भी वास्तव में आकाशादि सत्य पदार्थों से युक्त नहीं रहता, इसलिए उनकी निवृत्ति द्वैत को सिद्ध नहीं कर सकती ॥२६॥

अनहंभावना असह्य है, इसका खण्डन करते हैं।

जब शस्त्रों के आघात सहे जाते हैं, जब व्याधियों की पीड़ाएँ सही जाती है तब 'मैं नहीं हूँ' इतनी भावना को सहने में कौन–सा क्लेश हो रहा है ? ॥२७॥

जितने जगत् के पदार्थ है, उन सबका अविनाशी कारण देहादि में अहंभाव रखना ही है। ज्ञान द्वारा उसका निर्मूलन हो जाने पर यह जगत् तो अपने आप उखड़ जाता है ॥२८॥ निःसार भी मुख के बाष्प से जैसे परम स्वच्छ दर्पण मलिन हुआ प्रतीत होता है वैसे ही परमात्मारूपी दर्पण अहंकाररूपी निःसार भी मुखबाष्प से सारवत् मलिन हुआ प्रतीत होता है। अहंकाररूप निःसार बाष्प के शान्त होने पर तो परमात्मा निर्मल हो जाता है ॥२९॥ परमात्मारूप वायु में अहंकाररूप स्पन्द है। उसे शान्त होने पर अनिर्देश्य, अनाभास, अज और अविनाशी अद्वय चिदाकाशमात्र शेष रहता है ॥३०॥

बाह्य अनर्थों के अवलोकन में भी अहंकार ही हेतु है, यह कहते हैं।

अहंकार सामने उपस्थित द्रव्यों का चिति में प्रतिबिम्ब प्रदान करता है। उस अहंकार के शान्त हो जाने पर वह चिति निराभास, अनन्त, अज और अविनाशी परमात्मस्वरूप ही रह जाती है ॥३१॥ अहंकाररूपी मेघ के छिन्न–भिन्न हो जाने पर परमार्थरूप शरत्काल का आकाश, सर्वोत्तम, स्वच्छ असीम चिति लक्ष्मी से खूब सुन्दर भासित होने लग जाता है ॥३२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, जो विशुद्ध सुवर्णरूप चिरकालिक चैतन्य है, वह अहंकाररूप मल के सम्पर्क से जीवरूपी ताम्रभाव को प्राप्त हुआ है, परन्तु श्रवणादि उपायरूपी अग्नि में तपकर जब अहंकाररूपी मल से निर्मुक्त हो जाता है तब वही परमप्रकाशमय कान्तिमान् ब्रह्मरूपी सुवर्ण (☙) बन जाता है ॥३३॥

यदि आप यह कहें कि अहंकार की निवृत्ति हो जाने पर किस नाम से मेरा उपदेश होगा, तो इस पर मेरा कहना यह है कि समुद्र में विलीन सैन्धव आदि पदार्थों की तरह तत्–तत् नाम की निवृत्ति से जैसी अव्यपदेश्यता होती है वैसी ही आपकी भी अव्यपदेश्यता होगी। उस समय आप अनिर्वचनीय ब्रह्मस्वरूप हो जाओगे, यह कहते हैं।

जैसे समुद्र में विलीन हुए पदार्थों का स्वरूप अव्यपदेश्यता को प्राप्त हो जाता है वैसे ही अनहन्ता से ब्रह्म में विलीन हुई अहन्ता भी अव्यपदेश्यता को प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उस समय वह ब्रह्मरूप बन जाती है ॥३४॥

अहंकार निवृत्ति के बाद ब्रह्म आदि नाम से जो जीव का व्यवहार होता है वह भी अन्य पद के अर्थ की नाईं उसमें (जीवमें) अहंकाररूप अल्पत्व (छोटेपन का) नाशरूप जो बृहत्व (बड़प्पन) है, तत्स्वरूपप्रवृत्तिनिमित्त की कल्पना करके ही होता है, वस्तुतः नहीं होता, यह कहते हैं।

तरंग आदि धर्मों से शून्य अपने स्वाभाविक स्वरूप से स्थित हुआ जल जैसे पूर्व के तरंग आदि रूप से भीतर सत्य–सा प्रतीत होकर तरंग आदि नामों से व्यवहृत होता है और

(☙) देखिये यह श्रुति : 'परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।'

स्वाभाविक जलरूप से स्थित हुआ तरंग आदि नामों से व्यवहृत नहीं होता, वैसे ही अपने स्वरूप में स्थित आत्मा किसी नाम से व्यवहृत नहीं होता, परन्तु जब अहन्ता रहती है, तब वह अन्य पदार्थों के सदृश नामवाला सा बनकर स्थित रहता है और उन-उन लाक्षणिक नामों की कल्पना से व्यवहृत होता है ॥३५॥ अहंकार ही जन्ममरण रूप इस संसार का बीज है। भावना के मूल अज्ञान के नाश से जब यह अहंकाररूपी बीज दग्ध हो जाता है तब जगत् और बन्ध इत्यादि की कल्पना ही क्या रहती है ? ॥३६॥

इस संसार का बीज अहंकार ही है, इसका उपपादन करने के लिए 'यह कैसे उदित होता है' यह बतलाते हैं।

सत्, ब्रह्म, शिव, आत्मा, यानी त्रिकालअबाधित, अपरिच्छिन्न, निरतिशयानन्द अपरोक्ष चिदेकरस इन स्वभावों से युक्त परमात्मा में सत् आदि चारों स्वभावों के संकोचरूप नाम से कलंकित यानी मालिन्ययुक्त, समष्टि-अहन्ता ऐसी उदित होती है जैसी घटाकारपरिच्छेद से मिट्टी की स्वभाव विस्मृति ॥३७॥ इसलिए अहंकाररूपी बीज से यह दृश्यप्रपंच की सत्तारूपी बिम्ब लता उदित हुई है। जिसमें व्यष्टिभाव से अनन्त जगत्रूपी फल उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं ॥३८॥

इसीका विस्तृतरूप से वर्णन करते हैं।

इस अहमर्थरूपी मिर्च के बीज के भीतर पर्वतों, समुद्रों, पृथिवी और नदियों के सहित तथा बाह्य इन्द्रियों से होनेवाले पदार्थों के पर्यालोचन एवं मन के भीतर रहनेवाली काम-संकल्प आदिवृत्तिरूप एषणारूपी चमत्कृति उदित होती है ॥३९॥ अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ ये सबके सब अहमर्थरूपी विकसित कुसुम की सुगन्ध हैं ॥४०॥ सुमेरु के परभाग में सद्रूप दिन उदित होते ही सद्रूप पदार्थ का प्रकाश और मनन जैसे करता है वैसे ही आत्मा में उदित होते ही यह अहंकार जगत् को प्रकट करता है ॥४१॥ प्रारम्भ होते ही दिन जैसे पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही प्रारम्भ होते ही अहंकारभावना क्षण भर में असत् जगत् का निर्माण कर देती है ॥४२॥ ब्रह्मरूपी जल में अहंकाररूपी तेल का बिन्दु पड़ते ही जो चारों ओर फैल जाता है वही शीघ्र यह त्रिलोकीरूपी चक्र बनकर स्थित हो जाता है ॥४३॥ जिस तरह खराब आँखें खुली रहकर असद्रूप जगत् को सत्यरूप से खूब अनुभव करती है। किन्तु बन्द हो जाते ही नहीं करती; अहो, उसी तरह उन्मेष मात्र से यह अहन्ता असद्रूप जगत् को सत्यरूप से अनुभव करती है ॥४४॥

इसीको दृढ़ करने के लिए फिर कहते हैं।

जैसे आँख की पुतली सुषुप्ति, मरण या मूर्च्छा में जब तिरोहित हो जाती है या जब मोक्ष में पूर्णतया विलीन हो जाती है अथवा समाधि में साक्षात्कार द्वारा जब नष्ट हो जाती है तब

सांसारिक पदार्थों का अनुभव नहीं कर पाती; वैसे ही अहमर्थ के प्रसृत होने पर ही यह संसार अनुभूत होता है, अन्यथा नहीं ॥४५॥ नित्य परमात्मज्ञान से अहमंश के बिलकुल निःशेष कर दिये जाने पर यह संसाररूपी मृगजल पूर्णरूप से शान्त हो जाता है ॥४६॥

साधन और फल दोनों अतिसुलभ हैं, यह दिखलाते हैं ।

स्वप्रकाश चिदात्मा की एकमात्र भावना से साध्य (卍) स्वतःसिद्ध (卐) आत्मरूप इस श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति में हे श्रीरामजी, आप निरंकुश खेद या अहंभावादि भ्रान्ति को प्राप्त न हों ॥४७॥

किसी दूसरे पुरुष आदि बाह्य साधन की अपेक्षा न होने से भी इसको अतिसुलभ बतलाते हैं ।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, किसी दूसरे सहायक आदि साधन के बिना स्वयत्नमात्र से साध्य अनहंभावना के सिवा मैं दूसरा आपका कोई कल्याणकारण नहीं देखता ॥४८॥

सम्पूर्ण उपदेश सिद्धान्तों का सार संक्षेपरूप से दिखलाते हुए अब उपसंहार करते हैं ।

हे श्रीरामजी, सबसे पहले व्यष्टि–अहंभाव को भूलकर चारों ओर से पर्वत, अंतरिक्ष, पृथिवी, समुद्र, वायु तथा उसके मार्ग आकाशरूप होकर सारे संसार को परिपूर्ण बना करके अपने विभव का विस्तार करते हुए आप समष्टिभाव से स्थित हो जाइये । तदनन्तर स्थावर–जंगम सारा संसार ब्रह्मरूप ही है, इस तरह के ज्ञान से समस्त प्रपंचों का बाध करके प्रपंचशून्य, इन्द्रियों, अन्तःकरण के मलों तथा कलाओं से वर्जित होते हुए स्वस्थ, शान्त, विशोक और निर्मलात्मा होकर स्थित हो जाइये, क्योंकि इस तरह अध्यारोप तथा अपवाद न्याय से निष्प्रपंच आत्मरूप से अवशिष्ट रह जाना ही सम्पूर्ण वेदान्त सिद्धान्तों का सार है ॥४९॥

चौथा सर्ग समाप्त

पाँचवाँ सर्ग

जितेन्द्रिय पुरुषों में ही शास्त्रों का उपदेश सफल होता है, अजितेन्द्रियों में नहीं, इस विषय में भुशुण्ड द्वारा कथित विद्याधर कथा का वसिष्ठजी द्वारा वर्णन ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे रामजी, सबसे पहले मन के सहित इन्द्रियों के स्वभाव को (विषयों की ओर उन्मुख हो रही प्रवृत्ति को) जीतकर पीछे नित्यानित्य वस्तु के विवेक आदि साधनों में जो मनुष्य प्रवृत्त होता है उसीके लिए शास्त्र के और आचार्य के उपदेश का सारा फल

(卍) जड़ पदार्थों की नाईं इसमें फलव्याप्ति की अपेक्षा नहीं है, अतः इसके साधन में अतिसुलभता है, यह इससे दिखलाया गया ।

(卐) इससे फल में भी उत्पादन आदि किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता न होने से अतिसुलभता दिखलाई गई है ।

शीघ्र सिद्ध होता है, दूसरे के लिए नहीं ॥१॥ जिस दग्धबुद्धि ने अपने भीतर विषयों की ओर दौड़नेवाली अपनी इन्द्रियों के स्वभाव को नहीं जीत लिया उसको परमपद की प्राप्ति ऐसे दुर्लभ है, जैसे बालू में से तेल निकालना दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि बालू निचोड़ने का श्रम जैसे निष्फल है, वैसे ही चिरकाल से अभ्यस्त हुए भी, इन्द्रियों के स्वभाव को जीते बिना श्रवण, मनन आदि बिलकुल निष्फल है ॥२॥ शुद्ध निर्मल वस्त्र आदि में तेल बिन्दु की नाईं शुद्ध विमल चित्तवाले मनुष्य में थोड़ा भी उपदेश प्रविष्ट हो जाता है और साधन चतुष्टय से रिक्त चित्तवालों में ऐसे नहीं प्रविष्ट हो पाता जैसे दर्पण के भीतर मोती नहीं प्रविष्ट हो पाता ॥३॥ इस विषय में विद्वान लोग इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। भुशुण्डजी ने बहुत दिन पहले मुझसे मेरु पर्वत के शिखरपर यह कहा था ॥४॥ बात बहुत पुरानी है, कभी मेरु शिखर के एकान्त कोटर में किसी अध्यात्म कथा के प्रस्ताव में श्रीभुशुण्डजी से मैंने यह पूछा था ॥५॥ मैंने भुशुण्डजी से पूछा था कि हे प्रिय, यह बतलाओ कि इस संसार में मुग्धबुद्धि तथा आत्मज्ञानशून्य दीर्घजीवी तुम किसे स्मरण करते हो ? हे श्रीरामजी, मेरे पूछने पर उन्होंने यह कहा ॥६॥

भुशुण्डजी ने कहा : हे भगवन्, लोकालोकान्तर पर्वत की चोटी पर बहुत दिन पहले एक विद्याधर रहता था। वह अजित इन्द्रियों से अत्यन्त खेद को प्राप्त अतएव विश्रान्तिरस से हीन, आत्मज्ञानशून्य, विचारवान् तथा आयुवृद्धि के हेतुभूत सदाचार से सम्पन्न था ॥७॥ अनेक तरह के तप, यम और नियम से अक्षीणायु (परिपूर्ण आयु) होकर पूर्व कालमें वह चार कल्पों तक स्थित रहा ॥८॥ तदनन्तर चौथे कल्प के अन्त में चिरकालतक तप, नियम आदि के अनुष्ठान से उसको ऐसे विवेक उदित हुआ। जैसे बादल के उदय से विदूरभूमि में वैदुर्यमणि ॥९॥

विवेकस्वरूप दिखलाते हैं।

पुनः–पुनः जन्म, पुनः–पुनः मृत्यु तथा पुनः–पुनः वृद्धावस्था न हो, क्योंकि इसका विचार करते हुए मैं लज्जित हो रहा हूँ। अतः जहाँ ये बिलकुल न हों, ऐसी एक स्थिर कौन–सी वस्तु हो सकती है ? ॥१०॥ यों विचार करके पांच प्राण, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा स्थूल देह इन अठारह अवयवों से युक्त अपनी पुरी को चिरकाल तक धारण करने से श्रान्त तथा संसार के रससे विरक्त वह महात्मा मेरे पास कुछ पूछने आया ॥११॥ मेरे समीप आकर बड़े आदर के साथ उसने नमस्कार किया। मैंने भी सत्कार से उसे बैठाया। अनन्तर प्रश्न का अवसर पाकर उसने यह अनिन्दित वचन कहा ॥१२॥

अपने खेद के हेतुभूत इन्द्रियादिकों के दोषों का विस्तार से आगे चलकर वर्णन करने की इच्छा कर रहे विद्याधर भूमिका बाँध रहे हैं।

विद्याधर ने कहा : हे भगवान्, अपने–अपने विषयों में शीघ्रानुप्रवेशी होने के कारण अत्यन्त कोमल, प्रवेश के बाद अत्यन्त परितापी और तदनन्तर उनका हिलाना–डुलाना अशक्य होने से

पत्थर से भी अधिक दृढ़ और बलवान्, छेदन और भेदन में दक्ष अपने शरीर के अन्दर प्रविष्ट हुए बाण आदि शस्त्र और इन्द्रियाँ तुल्य हैं ॥१३॥ हे मुने ये इन्द्रियाँ हृदय में रूढ़ हैं, तमोमय हैं, अन्धकार से भरे सघन जंगल के तुल्य हैं, काम आदि वानरों से व्याप्त हैं एवं प्राण,मन, देह और हृदयस्थ भूख आदि दुःखरूपी छः तरंगों से युक्त हैं। तरंगों से युक्त होती हुई भी दैवात् कहीं अंकुरित हुए शम-दमादि गुणरूपी जंगल की दाहक होने से ये विपत्ति देनेवाली तथा मलिन हैं। अतः इस तरह की इन्द्रियों को एवं उनके आश्रय मन को जीतकर प्राणी सुखी हो सकता है, सांसारिक इन भोगों से कदापि सुखी नहीं हो सकता। अतः मुझे विद्याधरों के भोगरूपी इन पदार्थों से कोई मतलब अब नहीं हैं। हे भगवन्, यही कारण है कि विरक्त जिज्ञासु होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ ॥१४॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

चिरकाल तक दिव्य भोग को भोगे हुए विद्याधर के द्वारा परीक्षित विषयों में उन्मुख इन्द्रियों की नीति का वर्णन।

अतः चार साधनों से सम्पन्न मुझ ब्रह्मजिज्ञासु को हे ब्रह्मन्, आप ब्रह्मोपदेश दीजिये, यह कहते हैं।

विद्याधर ने कहा : हे भगवन्, आप मुझे उस परमपावन पद का शीघ्र उपदेश दीजिये। जो पूर्णरूप से कृपणता का निवर्तक, दुःखरहित तथा निरतिशयानन्दरूप होने से अति उदार है, आयासहीन तथा क्षय एवं अतिशय से शून्य है, आदि और अन्त से रहित है ॥१॥ *(हे भगवान्, मैं त्रिविधताप से अत्यन्त सन्तप्त हूँ। अतएव सागर में डूबने की इच्छा कर रहे सन्तप्त सिरवाले पुरुष की नाईं अब मुझसे विलम्ब सहा नहीं जाता।)*

यदि तुम्हारी ऐसी स्थिति है, तो फिर पहले ही क्यों नहीं आये ? इस पर कहते हैं।

हे मुने, इतने काल तक जडात्मा बनकर मैं गाढ़ निद्रा में सोया हुआ था। अब मन की तीव्रतर वैराग्यरूपी प्रसन्नता से जाग गया हूँ ॥२॥ हे भगवन्, मैं मन के महाभयंकर रोग काम से पीड़ित हूँ, अज्ञान की वृत्तियों दुर्वासनाओं से क्षुब्ध हूँ। मेरे समस्त कर्म दुरुच्छेद्य हैं। अतः अनात्मा में आत्माभिमानाकार से स्थित मोह से मेरा शीघ्र उद्धार कीजिये ॥३॥

विद्याधर तो सम्पूर्ण विद्याओं के आश्रय होने से अपने विद्याबल से ही समस्त दुःखों को दूर करने में समर्थ होते हैं, क्योंकि मणि-मन्त्र-रसायनादि की सिद्धियों तथा अणिमादि ऐश्वर्यों से वे युक्त रहते हैं, यह सुना जाता है, तो फिर यों श्रीसम्पन्न तुममें कामादि दुःख यातनाएँ तथा कातरता और कार्पण्यादि दोष क्यों आकर गिर पड़े ? जिससे कि श्रेष्ठ देवयोनि में उत्पन्न होने से अत्यन्त सबके मान्य होते हुए भी तुम आज निकृष्ट काकयोनि में पैदा हुए भी मेरी शरण आये हो

और मोह से अपने उद्धार का कारण मुझसे पूछ रहे हो ? इस आशंका पर कह रहे हैं।

सम्पूर्ण विद्याओं तथा अनेकविध सिद्धियों आदि श्रीसम्पत्तियों एवं अनेक प्रकार के गुणों से युक्त रहते विद्याधरों में भी अजितेन्द्रिय होने के कारण आत्मज्ञानशून्य होने से काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि दुःख यातनाएँ और कायरता दोष ऐसे शीघ्र गिरते हैं, जैसे लक्ष्मी के आधार विष तन्तुओं से युक्त उग्र पत्तोंवाले कमल के ऊपर तुषार गिरते हैं ॥४॥

ज्ञान का अभाव रहने पर धर्मानुष्ठान में अधिकार न होने से देवयोनियाँ मच्छरआदि योनियों के तुल्य ही हैं। यह सूचित करते हुए अपने वैराग्य के कारणभूत सर्वत्र दोषदर्शन का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

जीर्ण-शीर्ण जीव निरन्तर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। विषयलोलुप वे जीव कमल में मच्छरों के समान न तो धर्म के लिए कोई यत्न करते है न मोक्ष के लिए ही ॥५॥ अत्यन्त तुच्छ सुख के लिए हजारों बार पहले उपभुक्त हुए शब्दादि विषयों से धोखे की टट्टीरूप (ऐसी चीज जो दूसरों को धोखा देकर फँसाने के लिए हो) विषय-इन्द्रियसम्बन्ध द्वारा बार-बार ठगे गये हम बहुत दिनों से दुःखी हैं ॥६॥ कहीं एक जगह मन को स्थिर किये बिना मरुस्थल के सदृश क्षणभंगुर इन भोगों में भ्रमण कर रहे मेरे इस संसारपथ की न तो कहीं चरमसीमा है और न कहीं स्थिरता ही है ॥७॥ भोग की भूमियाँ आरम्भ में आपाततः रमणीय प्रतीत होती हैं। क्षण में ही विलीन हो जाती हैं, उनसे अनेक तरह के संसार उत्पन्न होते हैं, तत्काल ही उनमें विकार पैदा हो जाता है तथा उनका भीषण परिणाम होता है ॥८॥

बहुत अधिक पुण्यों से प्राप्त विद्याधर सम्पत्ति से ही तुम्हें विश्रान्ति क्यों नहीं मिल रही है ? इस आशंका पर कहते हैं।

हे तात, मैं इस तुच्छ विद्याधर सम्पत्ति से सन्तुष्ट नहीं हो रहा हूँ। मैं इसके साथ रमण करना नहीं चाहता, क्योंकि मान और अपमान ही इसमें बड़ी वस्तुएँ हैं। दुष्ट अहंकार से ग्रस्त जीवों के लिए ही यह अच्छी है और विवेकी पुरुषों के लिए सदा प्रतिकूल है ॥९॥

भुक्तभोगी होने के कारण सर्वत्र नीरसता दिखलाते हैं।

जहाँ कल्पवृक्ष-वल्ली द्वारा अनेक तरह की विभव-सम्पत्तियाँ प्रदान की जाती है, वैसी कुसुम के सदृश अत्यन्त कोमल चैत्ररथ की उद्यानभूमियाँ भी मैंने देख ली, यानी वहाँ के समस्त भोगों का उपभोग कर लिया। हे भगवन्, मेरु के कुंजों तथा विद्याधरों के नगरों में मैंने खूब विहार कर लिया। इतना ही नहीं, मैंने सर्वोत्तम अनेक जाति के विमानों एवं वायु के स्कन्धों की भूमियों में यानी शीतल-मन्द सुगन्ध हवा में भी इच्छानुसार विहार कर लिया। हे भगवन्, देवताओं की सेनाओं में, सुन्दर स्त्रियों की भुजलताओं में तथा हारादि से विभूषित कमनीय नायिकाओं के मनोहर विहारचमत्कारों से युक्त लोकपालों की नगरियों में चिरकालतक विश्राम भी मैंने खूब किया। हे तात, मैंने अब यह

भलीभाँति जान लिया कि इनमें कोई भी पदार्थ सुखदायक नहीं है। मानसिक दुःखरूपी विष की उष्णता से सबके सब दग्ध होकर भस्म हुए–जैसे मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥१०–१३॥

किस तरह के विवेकज्ञान से किस–किसका कैसे–कैसे परिज्ञान किया, इसको पहले चक्षु आदि इद्रियों में दिखलाते हैं।

रूप देखने में अति चपल, स्त्रियों के मुख देखने की स्पृहा रखनेवाले तथा बाह्य और आभ्यन्तर प्रकाशयुक्त नेत्र ने अपने विषयों के सम्बन्ध द्वारा मन को दूषित करने के लिए मुझे भारी दुःख में ढकेल दिया है ॥१४॥ स्त्री के शरीर के यह वस्त्र, आभूषण सिन्दूर आदि ही सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाले हैं, रक्त–मांस आदि नहीं, इस तरह के विवेचन के बिना ही एकमात्र रूप के पीछे–पीछे दौड़ने का स्वभाव होने के कारण नेत्र अवस्तु में भी दौड़ जाता है ॥१५॥ तत्–तत् विषयों में आसक्ति रखने से दूषित हुआ रागान्ध यह चित्त, दीपक के रूप से मोहित प्रेमी पतंग की नाईं सर्वोत्कृष्ट मरण आदि अनर्थ के लिए अपने ईच्छित दुर्व्यसनों की ओर झुककर जब तक नानाविध वध, बन्धन, नरक आदि आपत्तियों के वश में पड़ा रहता है तब तक इसे कहीं भी शान्त नहीं मिलती ॥१६॥

नेत्रों में कहे गये भेदों को घ्राण आदि इन्द्रियों में भी दिखलाते हैं।

हे तात्, इस संसार में अनेकविध अनर्थों के लिए चारों ओर खूब दौड़ रहे इस घ्राण को अश्व की नाईं रोकने में मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ ॥१७॥ अतिदोषयुक्त कोई प्रबल शत्रु जबर्दस्ती पकड़कर जैसे किसी पुरुष को दुर्गन्धपूर्ण जल बहानेवाले नगर के बड़े पनाले में 'तुम इसी में बराबर घूमते रहो' ऐसा आदेश देकर नियुक्त कर देता है, वैसे ही श्लेष्मादि दुर्गन्ध भरे जल बहा रहे अपने बिल में मुखश्वासानुसारी इस घ्राणेन्द्रिय ने मुझे नियुक्त कर दिया है ॥१८॥ तथा बहुत दिनों से भक्ष्याभक्ष्य के विचार से हीन इस जिह्वा ने पशुओं में सबसे बलवान् हाथियों और सबसे बुद्धिमान् सियारों से सुरक्षित दुःखों के पहाड़ों पर मुझे पर्याप्तरूप से घायल कर रक्खा है ॥१९॥ भगवन्, त्वगिन्द्रिय की स्पर्शलम्पटता को मैं ऐसे रोक नहीं सकता, जैसे ग्रीष्मकाल के प्रदीप्त सूर्य के ताप को ॥२०॥ हे मुने, सुन्दर शब्द का आस्वाद लेने की अभिलाषावाली श्रवण की शक्तियाँ मुझे विषम परिस्थिति में ऐसे ढकेल देती हैं, जैसे कोमल तृण खाने की इच्छाएँ हरिण को तृणों से ढके भयंकर कूप में ढकेल देती हैं ॥२१॥

तो क्या रूप से लेकर शब्दपर्यन्त सभी विषय तुम्हें दुर्लभ थे, जिससे कि उनके लिए तुम्हें अनर्थ प्राप्त हुआ। इस प्रकार नहीं यह कहते हैं।

मुनिवर, आनन्दजनक, नम्र सेवकजनों से प्रेरित, अतएव प्रणतप्राय वाद्य और गाने के शब्दों से मिली–जुली अनेक शुभ शब्दों की शोभाएँ सुन चुका हूँ ॥२२॥ अपने विषयों से सबका मन हरनेवाली तथा मनोहर शब्दोंवाले मणियों के आभूषणों से युक्त श्री, स्त्री, दिशाएँ और समुद्रों एवं

पर्वतों के मैंने अनेक तट देख लिये हैं ॥२३॥ विनीत स्त्रियों द्वारा लाये गये, मधुर आदि रसों के अनेक चमत्कारों से मनोरम, यथायोग्य मिलाने तथा पकाने आदि के चातुर्य के कारण गुणयुक्त सम्पादित षड्रसों का मैंने चिरकाल तक खूब स्वाद चखा है ॥२४॥ रेशमी मुलायम वस्त्रों, सुन्दर कान्ताओं, अनेक तरह के हारों, पुष्पशय्याओं तथा शीतल-मन्द-सुगन्ध युक्त पवन का भी मैंने भोगभूमियों में सर्वत्र निर्विघ्नतापूर्वक खूब स्पर्श किया है ॥२५॥ हे मुने, सुन्दर स्त्रियों के मुख, चन्दन, खस, अगुरु आदि औषधियाँ अनेक तरह के फूल तथा ढेर-के-ढेर कपूर, कस्तूरी आदि के मिश्रण इन सबकी मन्द-मन्द बह रही वायु से प्रेरित गन्धों का मैं बहुत अनुभव कर चुका हूँ ॥२६॥ हे मुने, मैंने शब्दादि विषयों का खूब श्रवण, स्पर्श और अवलोकन किया। विविध रसों का खूब आस्वाद लिया, तरह-तरह के फूलों को खूब सूँघा। महर्षे, पुनः पुनः इन विषयों का उपभोग करने से ये सबके सब विषय मेरे लिए सूखे काठ की नाईं बिलकुल नीरस हो चुके हैं। ऐसी स्थिति में ये विषय तो मेरे लिए एक तरह से वान्ताशनप्राय (वमन को खाने के सदृश) बन गये हैं, अतः हे भगवन् मुझसे शीघ्र कहिये, अब मैं किसका सेवन करूँ ? ॥२७॥ तृण, गुल्म आदि से लेकर ब्रह्मापर्यन्त के परिणाम में दुःखदायक विषयों का मैंने हजारों वर्षों तक अच्छी तरह भोग किया, लेकिन हे भगवन्, फिर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥२८॥ चिरकाल तक निष्कपट राज्य करके, अनेक सुन्दरियों का भोग करके तथा शत्रुओं के सैन्य को खूब चूर्ण-चूर्ण करके भी हे भगवन्, मनुष्य अपूर्व कौन-सा पदार्थ पा जाता हैं ? मेरी समझ में तो उसे नई कोई चीज नहीं मिलती ॥२९॥ भगवन्, जिन हिरण्यकशिपु आदि राजाओं ने तीनों लोक का चिरकाल तक लगातार मनमाना भोग किया तथा जिनके विनाश का साधन इस संसार में कुछ नहीं था, वे सब भी शीघ्र ही भस्मपद को प्राप्त हो गये नामावशेष हो गये ॥३०॥

ऐसी स्थिति में मनुष्य को क्या करना चाहिये, यह कहते हैं।

जिसके प्राप्त हो जाने से फिर कोई दूसरा प्राप्त करने योग्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रह जाता, हे मुने, सो कष्टपूर्ण चेष्टा से भी उसकी प्राप्ति में मनुष्य को सदा प्रयत्नशील बनना चाहिये ॥३१॥

चिरकाल तक अनेकविध बड़े-बड़े भोगों का भोग करनेवाले पुरुषों में भी भोगकाल समाप्त हो जाने पर जिन लोगों ने भोग नहीं किया है ऐसे अन्य पुरुषों की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं दीखती, यह कहते हैं।

जिन-जिन पुरुषों ने अत्यन्त रमणीय भोगों का चिरकाल तक इस संसार में खूब भोग किया, उन सब पुरुषों के मध्य में किसी के भी मस्तक के ऊपर पैदा हुआ कल्पतरु वृक्ष आज तक किसी से नहीं देखा गया, जिससे कि वह पुरुष उस कल्पतरु की छाया में सदैव पूर्णकाम होकर विश्राम करता रहे और न उसके पैर में आकाश में उड़नेवाला विमान आदि ही कोई पैदा हुआ देखा गया, जिससे कि वह सदा ही सर्वत्र विहार करता रहे ॥३२॥ दुःख से त्याज्य होनेवाली इस विषयरूपी

महाजंगल की पंक्तियों में बहुत दिन पहले ही इन इन्द्रियों ने मुझे ऐसे ठग लिया है, जैसे धूर्त बड़े-बड़े लड़के सुशील छोटे बच्चे को ठग लेते हैं ॥३३॥ शब्दादि विषयरूप भूत ही मन को बाहर खींचकर अपने-अपने भोगों के लिए श्रोत्र आदि भाव से स्थित हैं। इन कष्टदायक इन्द्रियनामवाले अपने विषयरूपी शत्रुओं को आज मैंने अच्छी तरह पहचान लिया। ये विषय और इन्द्रियरूपी शठ शिकारी शून्य संसाररूपी जंगल में सन्तप्त नररूपी मुझ मृग को धोखे से फँसाकर बार-बार आश्वासन दे देकर मार रहे हैं ॥३४,३५॥ जिनकी तालू के अन्दर भयंकर विष भरा रहता है ऐसे इन विषय और इन्द्रियरूपी साँपों से जो नहीं डँसे गये हों, ऐसे दो-तीन मनुष्य भी आज तक इस संसार में मुझे नहीं दीख पड़े ॥३६॥

इन्हें अवश्य जीतना चाहिये, यह दिखलाने के लिए इन्द्रियों का ही शत्रु की सेनारूप से वर्णन करते हैं।

हे तात, इस दुष्ट इन्द्रियरूपी सेना को जीतने के लिए कमर कसकर जो खड़े है वे ही इस संसार में सर्वोत्कृष्ट योद्धा हैं। यह दुष्ट इन्द्रियरूपी सेना भोगरूपी भयंकर हाथियों से युक्त है, तृष्णारूपी चंचल वागुरा (हिरन फँसाने का जाल) से युक्त है, लोभरूपी उग्र तलवारों से पूर्ण है, कोपरूपी बरछियों से अंकित है, शीतोष्णादि द्वन्द्वसमूहरूपी रथों से व्याप्त है, अहंकररूपी सेनापति से सुरक्षित है, चेष्टारूपी घोड़ों से यह भरी है, कामरूपी कोलाहलों से युक्त है और यह शरीररूपी नगर के सीमान्त को चारों ओर से आक्रान्त कर स्थित है ॥३७-३९॥ मतवाले ऐरावत का मस्तक फाड़ देना बिलकुल सरल है, लेकिन हे मुनीश्वर, कुमार्ग में प्रवृत्त अपनी इन्द्रियों को रोक रखना सरल नहीं है ॥४०॥ हे साधो, तत्त्वज्ञानियों की भी अपने पौरुष, महत्त्व, महाधैर्य और विश्रान्तिसम्पत्ति की अवधि इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करना ही है ॥४१॥ मनुष्य तभी तक देवताओं की भी मान्यता को प्राप्त करता है जब तक कि तृण की नाईं अपनी कृपण इन्द्रियों से विषयों की ओर खींच नहीं लिया जाता ॥४२॥ हे भगवन्, जो मनुष्य जितेन्द्रिय और महासत्त्व सम्पन्न हैं वे ही पृथिवी के ऊपर मनुष्य हैं। शेष इन पुरुषों को तो मैं चलते-फिरते मांस के अनेक यन्त्र समझता हूँ ॥४३॥ हे मुने, मनरूपी सेनापति की इन्द्रियपंचकरूपी इस सेना को जीतने का यदि कोई उपाय हो, तो कृपाकर बतलाइये, ताकि मैं भलीभाँति इसे जीत सकूँ ॥४४॥

मुझे तो एक ही उपाय मालूम है, इसे कहते हैं।

भोगों की आशा के त्याग के सिवा इन इन्द्रियरूपी भयंकर रोगों की शान्ति के लिए न तो कोई औषधियाँ हैं, न कोई तीर्थ हैं और न कोई मन्त्र ही दीखते हैं ॥४५॥ विषयों की ओर दौड़ रही इन इन्द्रियों ने मुझे परम खेद में ऐसे पहुँचा दिया है, जैसे महाभयंकर जंगल में अकेले जा रहे पथिक को चोर खेद में पहुँचा देते हैं ॥४६॥

इसके बाद तुल्य विशेषणों द्वारा पल्वल आदि के साम्य से इन्द्रियों का वर्णन करते हैं।

कीचड़ों से पूर्ण, मलिन, महादुर्भाग्ययुक्त, दुर्गन्धसहित शेवालों तथा उसके तुल्य गन्दे पदार्थों से कुत्सित ये छोंटी-छोटी तलैया और इन्द्रियाँ एक-सी हैं ॥४७॥ दुरतिक्रमणीय जाड्य और हिमों से गहन तथा अनेक तरह का आतंक पैदा करनेवाले ये जंगल और इन्द्रियसमुदाय एक-से हैं ॥४८॥ पंक से उत्पन्न तथा पंक के उत्पादक, छिद्रयुक्त, अत्यन्त दुर्लक्ष्य गुण (वासना और तन्तु) वाले, गाँठों से समन्वित और जड़ अंगोंवाले ये कमलनाल और इन्द्रिय समुदाय तुल्य हैं ॥४९॥ रुक्ष रत्नलुब्ध, तरंगों से युक्त और दुर्ग्रह ग्राहों से भयंकर, लवणसागर के जल और ये इन्द्रियसमुदाय एक - से हैं (☙) ॥५०॥ बान्धवों को उद्वेग पहुँचानेवाले, अन्य शरीर धारण करानेवाले और करुणा से क्रन्दन करानेवाले ये मरण और इन्द्रियसमुदाय समान हैं ॥५१॥ अविवेकियों के शत्रु और विवेकियों के मित्र, गहन, निरवधि तथा जनविश्रान्तिशून्य ये कानन और इन्द्रियगण तुल्य हैं ॥५२॥ घन आस्फोटवाले असार, मलिन, जड़ और विद्युत् प्रकाशवाले (♎) ये भयंकर मेघ और इन्द्रियसमुदाय तुल्य हैं ॥५३॥ क्षुद्र प्राणियों से गृहीत, महात्माओं से वर्जित तथा रज और तम से अभिभूत (卐) अपनी ये इन्द्रियाँ और कुपथ समान हैं ॥५४॥ नीचे गिराने में अत्यन्त निपुण, दोषाशीविषवाले (🕮) तथा रुखे लाखों कण्टकों से (🔔) युक्त जीर्ण गड्ढों के मुख और ये इन्द्रियाँ तुल्य हैं ॥५५॥ हे महामुने, अपने पेट पालने में प्रवीण, अनार्य, एकमात्र साहस में निरत और अन्धकार में विचरणशील ये राक्षस और इन्द्रियाँ तुल्य ही हैं ॥५६॥ भीतर में खोखले, असार, वक्र, गाँठयुक्त, एकमात्र जलाने में उपयोगी जीर्ण बाँस आदि की लकड़ियाँ और इन्द्रियाँ एक-सी है ॥५७॥ घनीभूत मोहादि के द्वारा चौर्य, कलह, द्यूत आदि दुर्व्यसनों में प्रबन्धनशील, दुष्टकूपों से गहन तथा महाअवकरों से (❦) तुच्छ असज्जनों के नगर और ये इन्द्रियाँ समान हैं ॥५८॥ अनन्त घटादि पदार्थों में

(☙) सुख स्पर्शवाला न होने के कारण लवणसागर का जल रुक्ष है तथा निष्ठुर होने के कारण ये इन्द्रियाँ भी रुक्ष हैं । रत्नों के लिए लोभी ये इन्द्रियाँ हैं तथा रत्नों से युक्त लवणसागर के जल हैं। काम, क्रोध आदि छः तरंगों से युक्त ये इन्द्रियाँ है तथा अपने तरंगों से युक्त लवणसागर के जल हैं। जिन्हें पकड़ लेना सहज नहीं है, ऐंसे अनेक ग्राहों से भयंकर तो लवणसागर के जल है तथा दुराग्रहरूपी ग्राहों से भयंकर ये इन्द्रियाँ हैं ।

(♎) बिजली के समान क्षणभर के लिए सुख का प्रकाश करनेवाली इन्द्रियाँ है तथा बिजली से जहाँ क्षण भर के लिए प्रकाश हो जाता है ऐसे तो ये हैं मेघ ।

(卐) धूलि और अन्धकार से अभिभूत कुपथ हैं और रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत इन्द्रियाँ हैं।

(🕮) भुजाओं के समान लम्बे-लम्बे विषधरोंवाले जीर्ण गड्ढों के मुख हैं तथा अनेकविध दोषरूपी साँपोंवाली ये इन्द्रियाँ हैं ।

(🔔) विषयरूपी लाखों रुक्ष काँटों से व्याप्त ये इन्द्रियाँ भी हैं ।

(❦) ढेर-के-ढेर कतवारों (कूड़ा-करकटों) से परिपूर्ण होने के कारण असज्जनों के नगर

कारणभूत, भ्रमण और कीचड़ से युक्त ये कुम्हार के चाक और इन्द्रियाँ दोनों समान हैं ॥५९॥

हे आपत्ति से उबारनेवाले भगवन्, इस तरह इन्द्रियों के कारण आपत्ति के सागर में डूबे हुए इस मुझ अकिंचन शरणागत का आप दया करके उपदेश से उद्धार कीजिये, क्योंकि इस संसार में आपके जैसे जो कोई दयावान् बड़े तत्त्वज्ञानी रहते हैं उनकी शरणागति परमशोक नाशक होती है, यों सभी शास्त्र तथा सभी लोग बतलाते है ॥६०॥

छठा सर्ग समाप्त

सातवाँ सर्ग

ब्रह्म की ही सत्ता है, जगत्रूपी दुःख की सत्ता है ही नहीं, यह सारा जगत् अज्ञान के कारण प्रतीत हुआ है तथा अहंकाररूपी बीज से यह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न हुआ है- इन सबका वर्णन।

भुशुण्ड ने कहा : हे ब्रह्मन्, तदनन्तर विद्याधर के उन पवित्र वचन को सुनकर प्रश्न के अनुसार मैंने सुस्पष्ट पदों से युक्त वाणी से यह उत्तर दिया ॥१॥ हे विद्याधराधीश, हर्ष का विषय है कि आज तुम कल्याण के लिए भाग्यवशात् जाग गये हो चिरकाल के बाद संसाररूपी अन्धकारपूर्ण कूपकुहर से आज तुम निकलने की चाह कर रहे हो ॥२॥ जिस तरह अग्नि से व्याप्त सुवर्ण द्रव–सन्तति अत्यन्त सुन्दरता से युक्त होकर शोभने लगती है, उसी तरह विवेक से निबिड़रूप को व्याप्त हुई तुम्हारी यह पवित्र बुद्धि किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य से शोभित हो रही है ॥३॥ अतः मुझे विश्वास है कि यह तुम्हारी बुद्धि मेरी उपदेशवाणी के अर्थ का बिना किसी प्रयत्न के अवश्य ही आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेगी, क्योंकि निर्मल दर्पण में पदार्थों का प्रतिबिम्ब बिना यत्न के ही पड़ता है ॥४॥ मैं जो कुछ यह कहूँगा, उन सबका तुम 'हाँ' कह करके ग्रहणकर लेना, तुम ग्रहण करने में ही समर्थ हो। मैंने इस विषय में चिरकालतक खूब अन्वेषण किया है, इसमें कुछ भी तुम विचार मत करो ॥५॥

सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच का विवेक हो जाने पर साक्षिरूप शुद्ध ब्रह्म ही एकमात्र अवशिष्ट रहता है, यही सम्पूर्ण वेदान्तों का रहस्य है; इस बात का संक्षेपरूप से पहले उपदेश देते हैं।

जो कुछ अहंकार आदि तुम्हारे हृदय में दृश्यरूप से प्रकाशित हो रहा है वह सब तुम नहीं हो। 'दृश्यों में ही कोई आत्मा है उसीको ढूँढ़कर मुझे प्राप्त करना चाहिए' इस तरह अपने हृदय में विचारकर आत्मा का चिरकालतक यदि तुम अन्वेषण करोगे, तो भी तुम आत्मा को प्राप्त नहीं करोगे, इसलिए दृश्यमात्रस्वरूप अज्ञान को छोड़कर तुम दृश्य प्रपंच के साक्षी आत्मा अपने को समझो ॥६॥

जैसे तुच्छ बने रहते हैं वैसे ही ये इन्द्रियाँ भी विषय-वासनारूपी कतवारों से परिपूर्ण होने के कारण अतितुच्छ बनी हैं।

यह समझना अनुचित होगा कि द्रष्टा और दृश्यरूप सम्पूर्ण प्रपंच का त्याग हो जाने पर शून्यतापत्ति आ जायेगी, क्योंकि सुख–दुःख के वैषम्य के प्रयोजक कल्पित दोषांश की निवृत्ति से वास्तविक परम कल्याणस्वरूप ब्रह्मभाव से परिपूर्ण सभी पदार्थ अवस्थित रहते ही है, इस आशय से कहते हैं।

न मैं हूँ, न तुम हो और न तो यह सारा संसार ही है, यदि ऐसा तुम निश्चय कर लेते हो, तो बस यह समझ लो कि यह समस्त दृश्यप्रपंच शिवस्वरूप है और न यह तुम्हारे सुख के लिए है और न दुःख के लिए है ॥७॥

ऊपर में जो दृश्यमात्र को अबोधस्वरूप बतला आये हैं, अब उसी का उपपादन करते हैं।

क्या सुषुप्ति में अहंकारादिभाव से घनीभूत प्रसिद्ध जो अज्ञान है, उसीसे जाग्रत् और स्वप्न स्वरूप यह संसार सारा उत्पन्न हुआ है अथवा पिघले हुए कठिन लोह के समान विलीन हुए जाग्रदादिरूप इस संसार से सुषुप्तिकाल का अज्ञान उत्पन्न हुआ है, इसका बहुत विचार करने पर भी कोई विनिगमक हेतु न होने से कार्यकारणभाव की व्यवस्था हम नहीं समझ रहे हैं। अतः काठिन्य और द्रवावस्था में घृत के एकत्व की नाईं इन दोनों में एकत्व होने से सब कुछ एकमात्र अज्ञानस्वरूप है, यही हमने आखिर में निश्चय किया है ॥८॥

यह सारा जगत् ब्रह्म का विवर्त है, इस तरह इस जगत् में ब्रह्मविवर्तता का अवलोकन ही त्याग है। बाधित हुए जगत् को तुच्छ समझने से तो कोई भी ब्रह्मस्वरूप सिद्ध नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठानरूपतापत्ति की भावना करने पर तो सम्पूर्ण पदार्थ ही ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाते हैं; यह कहते हैं।

मृगजल के समान यह सारा विश्व अवस्तुरूप होने के कारण सद्रूप से प्रतीत होने पर भी असद्रूप है। जो कुछ भी भासित हो रहा है वह सब ब्रह्मरूप ही है अथवा यों कह सकते हैं कि यह सारा दृश्यप्रपंच कुछ भी नहीं है या कुछ है ही ॥९॥

उक्त अभिप्राय को विशदरूप से बतलाते हए उसके प्रतिभास का भी खण्डन करते हैं।

मृगजल के समान यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है अथवा कुछ है ही। प्रतिभास्य के अभाव से यहाँ प्रतिभास भी नहीं है (卐) अतः एकमात्र शिवस्वरूप ही यह सारा विश्व स्थित है ॥१०॥

इस अनन्तरूप जगत् का प्रातिस्विकरूप से निरास न हो सकने से उसके बीज के दाह से ही उसका निरास हो सकता है, यह कहने के लिए अहंकार का जगद्रूपी वृक्ष के बीजरूप से वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, इस अहंकार को तुम विश्व का बीज समझो। क्योंकि एकमात्र इस अहंकार से ही

(卐) तात्पर्य यह है कि जैसे घट का अभाव रहने पर प्रकाश के रहते हुए भी घटप्रकाश नहीं रहता, वैसे ही प्रतिभास्य का अभाव रहने पर प्रतिभास भी नहीं रह सकता।

पर्वत, सागर, पृथ्वी, नदी आदि के सहित यह जगद्रूपी पुराना वृक्ष उत्पन्न होता है ॥११॥ सूक्ष्म अहंकाररूपी बीज से वह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और इन्द्रियों के विषयों में आसक्तिरूपी रस से परिपूर्ण नीचे के वन उस वृक्ष के मूल हैं ॥१२॥ अश्विनी आदि सत्ताईस तारे इसकी प्रधान कलियाँ हैं, अन्य तारों के समूह इसके अन्य कलियों के समूह हैं, प्राणियों की धर्मादिवासनाएँ इसके फूलों के गुच्छों के समूह हैं और पूर्ण चन्द्र फलका गुच्छा है ॥१३॥ महान् लोगों के स्वर्ग आदि लोकवर्ग इसके महान् शाखा समूहों के गर्भप्रदेश है। मेरु, मन्दर, सह्य आदि पर्वत इसकी पत्तों की पंक्तियाँ हैं ॥१४॥ सातों समुद्र इसके आलबालपरिखा (चारों ओर के थाले) हैं, पाताल इसका मूल कोटर है, सत्ययुग आदि चारों युग इसके घुणसमूह (संधि स्थान) हैं तथा प्रत्येक युग के वर्ष, ऋतु और मास आदि इस वृक्ष के पोर (कीड़े) हैं ॥१५॥ अज्ञान ही इसकी उत्पत्ति की भूमि है, अनेक जीव इसके करोड़ों पक्षी हैं, भ्रान्तिज्ञान ही इस वृक्ष का स्तम्भ है यानी सम्पूर्ण शाखाओं के आधारभूत मध्यभाग है तथा तत्त्वबोध से प्रपंचनिवृत्तिरूपी मोक्ष ही इसे जलाने के लिए दावाग्नि है ॥१६॥ इन्द्रियों से अर्थों की उपलब्धि यानी विषयों का साक्षात्कार एवं मन से होनेवाले संकल्प और विकल्प आदि इस वृक्ष के अनेक तरह के सुगन्धप्रसार हैं। अव्याकृत आकाश इसका विपुल वन है तथा नेत्र, ओष्ट आदिका विकार ही इसके शुक्तिजाल–जैसे फूलों का खिलना है ॥१७॥ सब ऋतुएँ इसकी विचित्र शाखाएँ हैं, दसों दिशाएँ उपशाखाएँ हैं, आत्मसंवित् इसके जीवन के लिए रस की धारा है और सूत्रात्मा ही इसका वात स्पन्द है ॥१८॥ प्रतिदिन उदय और अस्त में तत्पर चन्द्र और सूर्य की चंचल किरणें ही इसकी रम्यकुसुम मंजरियाँ हैं और सूर्य के साथ भ्रमण कर रहा अन्धकार ही भ्रमण कर रहे भ्रमर हैं ॥१९॥ इस तरह का यह संसाररूपी वृक्ष मूल से (जड़ से) पाताल को, मध्य से सभी दिशाओं को और अपने मस्तक से अन्तरिक्ष को परिपूर्ण करके वस्तुतः असद्रूप होने पर भी सद्रूप–सा स्थित है। उस अनहंभावरूपी अग्नि से उसका अहंकाररूपी बीज भुन दिये जाने पर जब तक इस शरीर का पतन नहीं हो जाता तब तक जीवन्मुक्तिभोग के लिए प्रतिभास के विद्यमान रहते हुए भी इसके संसाररूपी वृक्ष का जन्मादि के द्वारा पुनः प्ररोह नहीं हो सकता यानी फिर यह अंकुरित नहीं हो सकता ॥२०॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

आठवाँ सर्ग

इस संसाररूपी वृक्ष का ज्ञान से उच्छेद तथा यह संसार संकल्पमण्डप के सदृश है, इसका वर्णन।

पूर्वोक्त संसाररूपी वृक्ष का पुनः वर्णन करते हैं।

भुशुण्डीजी ने कहा : हे विद्याधर, जिसका मूलभाग नीचे के सात लोकसहित यह पृथिवी है, इसकी आलबालसहित वेदि लोकालोकान्तर पर्वतों की कन्दराएँ हैं और जो दसों दिशाओं और

आकाश में तिरछे शाखाओं के विस्तार तथा उसकी ओर शाखाओं के प्रसार से एवं तत्-तत् स्थानों में प्राणियों के जहाँ-तहाँ घूमने से अतिचंचल है, इस तरह का यह संसाररूपी वृक्ष अहंकाररूपी बीज से उत्पन्न होता है। ज्ञानरूपी अग्नि से बीज के दग्ध हो जाने पर कुछ भी उत्पन्न नहीं होता ॥१,२॥ रत्न की परीक्षा की नाईं तत्त्वदृष्टि से यह क्या है, इसका अच्छी तरह विचार करके 'यह केवल ब्रह्म ही है' यह निश्चय करने पर वह अहंकार कदापि कहीं नहीं रहता, बस यही वह ज्ञान है। इसीसे अहंकार दग्ध होता है ॥३॥ शरीर आदि में अहंभावना करने से संसार का बीज अहंकार रहता है सर्वत्र अहंभाव करने से वह नहीं रहता, यही सर्वोत्तम ज्ञान है ॥४॥

सत् या असत् से जिसकी उत्पत्ति की ही संभावना नहीं है उसकी स्थिति ही कहाँ से हो सकती है, वह तो बहुत दूर कहीं भगा दी गई है, ऐसा कहते हैं।

वस्तुतः जब सृष्टि के प्रारम्भ में ही इस सृष्टि के अभाव का योग है तब कहाँ से अहन्ता, कहाँ से त्वन्ता और कहाँ से हो सकता है द्वित्व एकत्व का भ्रम ?॥५॥

यह संसार तीनों काल में वस्तुतः है ही नहीं, इस पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिए संकल्पद्यूतमण्डप का आगे चलकर वर्णन करने की इच्छा कर रहे भुशुण्डजी महाराज पहले भूमिका बाँधते हैं।

आगे चलकर वर्णित होनेवाले तथा पूर्व में वर्णित हो चुके मूलसहित संकल्प का त्याग करने के लिए उसका उपायक्रम बतलानेवाले गुरु के वाक्य सुन उस गुरु द्वारा कहे गये क्रम से जो अपने प्रयत्न द्वारा स्वयं यत्न करते हैं वे तत्त्वज्ञानप्राप्ति के बाद संकल्परहित कैवल्यनामक परमपद को जीत लेते हैं ॥६॥ जैसे पाचक अपने पाक शास्त्र का भलीभाँति अभ्यास कर लेने पर उस पाक शास्त्र में वर्णित विधि से ही नाना प्रकार के भक्ष्य-भोज्य पदार्थों एवं नाना तरह के रसायनों का पाक बनाने से क्षुधा, तृष्णा, रोग, जरा आदि के ऊपर विजय प्राप्त करता है वैसे ही विवेकी पुरुष गुरु-शास्त्रोक्त मार्ग से अपने प्रयत्न द्वारा ही कैवल्यपद को प्राप्त करता है, दूसरी रीति से नहीं ॥७॥

यह सारा संसार स्वप्न एवं इन्द्रजालादि के सदृश अज्ञात चिति का चमत्कारमात्र है, इस चिति से बाहर कुछ भी नहीं है, यह कहते हैं।

हे विद्याधर, इस संसार को तुम यहाँ एकमात्र चितिका चमत्कार ही समझिए, उससे भिन्न कुछ नहीं। यह न तो दिशाओं में है, न बाहर है और न भीतर ही कहीं है ॥८॥

यह सारा प्रपंच चिति का एकमात्र चमत्कार ही है, इसका उपपादन करते हैं।

संकल्प के एकमात्र आविर्भाव से ही यह संसाररूपी चित्र दिखाई देता है और उसके अभाव से इस तरह विलीन हो जाता है, जिस तरह कि चित्रकार के चित्त में चित्र ॥९॥

यह सारा संसार संकल्पमात्र कल्पित है, इस कथन को दृढ़ बनाने के लिए संसार में संकल्पद्यूतमण्डप के आकार की कल्पना करते हैं।

हे विद्याधर, यह संसार मुक्ता और मणियों से विनिर्मित बड़े-बड़े खम्भों से युक्त तथा सुन्दरसुवर्ण से चित्रित लाखों योजन में बहुत दूर तक विस्तृत संकल्पकल्पित एक महामण्डप है ॥१०॥ यह हजारों मणिमय खम्भों से घिरा है, जिसके अग्रभाग में नीचे मुँह करके पिरोये गये सुमेरु की नाईं गुग्गुल लगे हुए हैं। यही कारण है कि कहीं-कहीं हजारों इन्द्रधनुष से व्याप्त-जैसा तथा कहीं-कहीं प्रलयकालीन संध्या के मेघों जैसा यह सुन्दर दिखता है ॥११॥ जिसके भीतर इधर-उधर निवास कर रहे स्त्री, बालक तथा पुरुषों की क्रीड़ा के लिए पाताल, स्वर्ग एवं अन्य लोकों के आकार की पिटारियाँ स्थापित की गई है, जो बीच-बीच में जहाँ-तहाँ अनेकविध नदियों, पर्वतों, जंगलों, हाथियों, घोड़ों, देवताओं, पक्षियों तथा मनुष्यों आदि की तरह-तरह की रचनाओं से युक्त है, वे पिटारियाँ कहीं प्राणियों तथा उनके उपभोग की वस्तुओं से ठसाठस भरी हैं, कहीं अन्धकार के विघातक मणियों, प्रदीपों, सूर्य और चन्द्र आदिकों के द्वारा व्यवहार चलने से शब्दयुक्त हैं एवं कहीं अन्धकारों तथा कहीं प्रकाशों से उनकी विचित्र तरह-तरह की संज्ञाएँ पड़ी हैं ॥१२,१३॥ क्रीड़ा लक्ष्मी के आकारभूत जिस मण्डप के भीतर स्त्रियों के श्रृंगार के लिए कर्णफूल आदि अलंकार प्रदान करनेवाले, सुगन्ध से रमणीय, चंचल मेघपंक्तिरूपी पल्लवों से युक्त अनेक कल्पवृक्ष लगाये गये हैं ॥१४॥ छोटे-छोटे बच्चों के निःश्वास से भी उड़ जानेवाले जहाँ पर कुलपर्वत गेंद बनाये गये हैं और शरत्काल के मेघ ही जिनके हाथ में चँवर धरा दिये गये हैं ॥१५॥

हे विद्याधर, जिस मण्डप में कल्प के अन्तकाल के मेघों ने पंखों के स्थान दखल कर लिये हैं। जहाँ यह सम्पूर्ण भूतल जुआँ खेलने का एक मेज है, जहाँ तारों के सहित आकाश चाँदनी है ॥१६॥ जिस मण्डप के भीतर आकाशरूप चौक में जहाँ संसार के आविर्भाव और तिरोभाव प्रतिरूप दाँव लगाये जा रहे हैं और खेलनेवाले ब्रह्मादि मण्डपस्वामियों के जिस जुएँ में चार प्रकार के जीवसमुदायोंरूपी शारिफलों (शतरंज के मोहरों) का बार-बार जन्म-मरण आदि के द्वारा भ्रमण हो रहा है तथा सूर्य, चन्द्र आदि नवग्रह ही जहाँ पाशे है ॥१७॥ इस तरह संकल्प करनेवाले का संकल्प ही अन्तःकरण में चिरकाल की भावना से जैसे सामने स्थित दृश्य के तुल्य एक तरह से सत्यता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही विधाता के संकल्पों से सुसमुत्थित यह जगद्रूपी मण्डप चिति का एकमात्र चमत्कारस्वरूप चित्रकार के चित्त में बनाये गये चित्र के तुल्य है ॥१८,१९॥ जो कुछ यहाँ स्फुरित हो रहा है वह सब असत्यरूप ही है। वह प्रतिभास से सत्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थरूप से तो बिलकुल है ही नहीं। यह असत् ही उत्पन्न हुआ है; न जाने कहाँ से माया के हाथी, घोड़े की नाईं यहाँ उत्पन्न हो गया है ॥२०॥ जैसे सुवर्ण में कटक आदि है वैसे ही जिसने अपने उदरकोटर में संसार को धारण कर रखा है ऐसा यह चिति का चमत्कार ही सब कुछ है तथा संकल्प-विकल्प न करने से ही इसका नाश होता है ॥२१॥ इस तरह इस संसार की उत्पत्ति और नाश तत्त्वज्ञानियों की अपनी इच्छा के अत्यन्त

ही अधीन है यानी तत्त्वज्ञानियों के अपने ऐच्छिक विकल्पों से इसका आविर्भाव तथा अविकल्पों से तिरोभाव होना अत्यन्त ही अपने अधीन है इसलिए हे विद्याधर, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो। जो पुरुष अन्न पानादि ऐहिक भोगसामग्रियों में तथा दान, यज्ञ आदि पारलौकिक भोगसामग्रियों में फलों की अनभिसन्धि को प्राप्त हो चुका है यानी जो पुरुष इसलोक तथा परलोक के कर्मफलों की इच्छा से शून्य हो चुका है वह कर्मों का कभी त्याग नहीं करता यानी फलप्राप्ति की इच्छा से शून्य होकर वह कर्म करता ही चलता है। हे विद्याधर, ऐसे उस पुरुष का यह अन्तिम जन्म समझिए ॥२२॥

विवेकज्ञानप्राप्ति से ही तुम्हें मुक्ति अवश्य मिल सकती है, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ, यों पुनर्जन्मादि की संभावना से भयभीत हुए उस विद्याधर को आश्वासन देते हैं।

हे शुद्धबुद्धे, अपने पतन के हेतुभूत अविवेक पद की अपेक्षा न करके तीनों जगत् को पवित्र करनेवाली इस दूसरी पुण्यमय विवेक पदवी को तुम प्राप्त हो चुके हो, अतः इस मन से तो तुम फिर अधःपतन में नहीं गिर सकते हो, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ। इसलिए तुम वाणी और मन की चेष्टा से शून्य निर्मल चिन्मात्रपद का अवलम्बन करके मन आदि इस दृश्यसमूह का परित्याग कर दो ॥२३॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नौवाँ सर्ग

चिति के अधीन जगत् का उदय, ध्वंस, सत्ता, स्फूर्ति तथा परिवर्तन है और
यह सारा विश्व चिन्मात्र चिति का स्फुरण है – यह वर्णन।

'हेम्नीव कटकादित्वं संसारोदरकोटरः'। चिच्चमत्कार एवायमविकल्पन संक्षयः॥ (नि.प्र.उत्त. सर्ग ८।२१) यह जो कहा गया है सो, इन दोनों का अनुभव कराने की इच्छा कर रहे भुशुण्डजी अविकल्प की रीति का सबसे पहले उपदेश दे रहे हैं।

हे निष्पाप विद्याधर, विषयों तथा विषयों में रहनेवाले क्रिया, गुण, दोष आदि के प्रकाशक चिद्रूप का तनिक भी स्मरण न करते हुए तुम निर्मल जल में प्रविष्ट सूर्य की किरणों की नाईं सर्वविध तापशून्य प्रकाशमात्रावशेष होकर बैठे रहो ॥१॥

'संसारोदरकोटरः' चिच्चमत्कार एवायम्' इसका भी उपपत्तिपूर्वक अनुभव कराते हैं।

जाड्यदुःखपरिणामित्वादिरूप अपना चिति का असादृश्य रहने पर भी तत्सदृश यह सारा दृश्य प्रपंच चेतना के कारण ही चेतन के भीतर, समुद्र में अग्नि के सदृश विद्यमान है, अन्यत्र नहीं। तात्पर्य यह है कि यदि अन्यत्र यह विद्यमान होता, तो उससे असम्बद्ध चेतना के द्वारा इसका प्रकाश कभी नहीं होता और ऐसा कोई पदार्थ है नहीं, जो अचेत्यमान सिद्ध हो सके तथा चेतना सक्रिया भी

नहीं है, इससे कि अन्यत्र विषयों में जाकर चैतन्य प्रदान कर सके। यदि वह चेतना सर्वगत मान ली जाती है, तब तो हे विद्याधर, हमारी प्रतिज्ञा सिद्ध हो चुकी, यह तुम समझ लो ॥२॥

इस तरह सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच की देशतः स्थिति चिति के अन्दर सिद्धकर अब उसे कालतः सूचित करते हुए चिति की कार्यता सिद्ध करते हैं।

चिति अपनी चेतनाशक्ति से सचेतन और अचेतन पदार्थों की पूर्व के ही समान हेतु (विवर्तोपादान) ऐसे हैं, जैसे कि अग्निज्वाला के विनाश और उत्पत्ति का हेतु पवन है। तात्पर्य यह है कि चिति का विवर्त ही चिति का चमत्कार है ॥३॥

इसमें 'अहम्' इस सचेतनांश के त्याग द्वारा ही सचेतन और अचेतन दोनों अंशों के त्याग की सिद्धि हो जाने से चिन्मात्र की अवस्थिति सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं।

अहम्पदार्थ कुछ नहीं है, यों अहंकार के आस्पद अंश का बाध करके प्रत्यक् चिद्रूप को शेष रखकर विकल्प के हेतुओं के क्षय से ही विकल्पनिर्मुक्त पूर्णचिति में तुम्हारी विश्रान्ति हो जाय। शेष बचे प्रारब्ध का क्षय होने पर तो जिस रूप से स्थित रह सकते हो, उसी रूप से तुम स्थित रहो ॥४॥

जल से पूर्ण दूध का जल नष्ट हो जाने पर भी जो रूप शेष रहता है उसी के समान तुम्हारा अनुपम ब्रह्मरूप ही शेषरूप रहता है, यह कहते हैं।

जैसे स्वच्छ जलसमूह के बाहर और भीतर सब जगह जल–ही–जल दीखता रहता है वैसे ही समस्त पदार्थों के बाहर और भीतर चिद्रूप से तुम्हीं स्थित दीखते हो ॥५॥

हे विद्याधर, यह अहंपदार्थ बिलकुल नहीं है, यों अहंकार का त्यागकर यदि तुम्हारा चिद्रूप चिति में पूर्ण ऐक्य को प्राप्त हो जाय, तो बताओ तो सही, तुम्हारे सिवा भला ऐसी प्रकाशित कौन–सी दूसरी वस्तु है, जिससे कि किसी अन्य के साथ ब्रह्मरूप तुम्हारी उपमा दी जाय ? ॥६॥ सुर और असुरों से व्याप्त पाताल, पृथिवी और स्वर्ग की नाईं स्थित एवं प्रीति, हर्ष, क्रोध, युद्ध, जय, पराजय आदि नाना भावों से तथा पलायन, अनुधावन आदि अत्यन्त वेगपूर्वक दौड़ने आदि भावों से व्याप्त तत्–तत् अनुरूप क्रियाकाल से व्याकुल हुआ–सा रंगमय चित्र में लिखित जगत्, दीवार में लिखित मुनिशरीर की नाईं, जैसे व्यापारशून्य ही स्थित रहता है वैसे ही मायाशबल चितिरूपी चित्रकार के द्वारा विरचित यह जगद्रूपी चित्र भी शुद्ध चिदाकाशरूपी दीवार में विकारशून्य अद्वयात्मरूप से ही संस्थित है, जगत्भाव से नहीं ॥७,८॥ अचेतन या चेतन (मिथ्या जगद्रूप या परमार्थ सद्ब्रह्मरूप) जो ही अपने–आप चिति में चित्रित होता है वही सब चेतनरूप हो जाता है। ये दोनों तुम्हारे अधीन हैं, अब इनमें जो तुम चाहो, सो करो–तुम्हारी इच्छा हो, तो समाधि लगाओ या न हो, तो उससे विरक्त हो जाओ ॥९॥ अज्ञानियों की अपेक्षा तत्त्वज्ञानियों में सिर्फ यही विशेषता रहती है कि जैसे मरुस्थल में महानदी आदि के रूप से दिखाई दे रही सूर्य की किरणें मज्जन, मरण आदि का भय उत्पन्न हो जाने पर उनको तैर जाने का कोई समुचित उपाय न सूझने

से मरुस्थल का ज्ञान न रखनेवालों को तट के इधर ही रोक रखती हैं, जिन महापुरुषों को मरुस्थल का असली ज्ञान हो चुका है उन्हें नहीं। उन्हें तो स्वच्छ भासती हैं; वैसे ही एक के विज्ञान से तत्त्वतः सबका विज्ञान हो जाने पर तत्त्वज्ञानियों को, चिदाकाश में स्फुरित हो रही ये चिति की चमत्कृतियाँ कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाती। उन्हें तो बिलकुल स्वच्छ मालूम पड़ती हैं, किन्तु अज्ञानियों को तो अवश्य ही बाधा पहुँचाती हैं ॥१०॥

अज्ञानियों को तो बाधा पहुँचाती ही हैं, इस आशय से कहते हैं।

तिमिर रोग से आक्रान्त नेत्रोंवाले पुरुषों को आकाश में जैसे केशोण्ड्रक आदि स्फुरित होते हैं, वैसे ही संसार में ही अवस्थित रहनेवाले अज्ञानी पुरुषों को यह जगद्रूप स्फुरित होता है *(ज्ञानी पुरुषों को नहीं, वे तो सबको ब्रह्मरूप से ही देखते है)* ॥११॥

मरुस्थल में सूर्य की किरणों की नाईं यह जो ऊपर का दृष्टान्त बतलाया गया है उसका दूसरी रीति से भी वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं।

हे विद्याधर, यों 'तुम और मैं' इत्याकरक अवबोधस्वरूप यह जगत् आभासमात्र यानी पूर्ववर्णित चिति का एकमात्र चमत्कार ही है, अतः यह अज्ञानियों की दृष्टि से ही उत्पन्न हुआ है, ज्ञानियों की दृष्टि से नहीं। एकमात्र सूर्य की किरणों से जिसकी रचना हुई है ऐसे गन्धर्वनगर के समान इस व्यवहारभूमि में दीवारआदि जगत् है। जगद्रूप से तो यह सब आकाश में लता की नाईं बिलकुल सत्य नहीं है। *(अतः यह जगत् चिति का निरोधक नहीं है। हे विद्याधर, मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इस तरह चिति की अपरिच्छिन्नता सिद्ध हो चुकी है)* ॥१२॥

नौवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

निर्विकार और कारणशून्य ब्रह्म ही यह सब स्थित है,यह जगत् कभी कहीं नहीं था, यह वर्णन।

ब्रह्म में जगत् का अपलाप सिद्ध करने के निमित्त उसकी जड़ता का खण्डन करने के लिए जड़रूप से अभिमत जगत् की चिद्रूपता का अनुभव कराते हैं।

हे विद्याधर,चेतन से भिन्न माने गये इस जगत् के स्फुरण को तुम चेतन से ही उत्पन्न जानो क्योंकि चेतनता स्फुरणरूप ही होती है (ᗝ)। जैसे जल में प्रतिबिम्बित अग्नि जल से भिन्न नहीं है वैसे ही यह जगत् भी चेतन से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है। अतः चैतन्य और जाड्य ये दोनों तनिक भी भिन्न नहीं हैं यानी जल की शीतलता से अलग प्रतिबिम्बभूत अग्नि की गरमी की नाईं चैतन्य से तनिक भी अलग जाड्यनाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं है ॥१॥

(ᗝ) तात्पर्य यह है कि यदि वह जगद्रूप स्फुरित होता है, तो फिर वह चेतन ही है, चेतन से इतर नहीं है।

एकमात्र जाड्य के अपलाप से ही जगत् का अपलाप सिद्ध करके विक्षेपशून्य होकर स्थित रहो, यह कहते हैं।

इसलिए हे विद्याधर, ज्ञान और अज्ञान में अभेद होने से परिच्छेदशून्य चित्रकार के चित्त में बने हुए चित्रस्थ उसके ज्ञान या गन्धर्वनगर के अधिष्ठान आकाश के मध्य के समान स्वस्थ स्थित रहो ॥२॥

'प्रलयकाल में भी अचिद्रूप जगत् सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में स्थित रहता ही है' जो श्रुति और स्मृति में वचन मिलते हैं वे मायाशबल के सर्वशक्ति सम्पन्न होने के कारण असत्यपदार्थों में भी ब्रह्मसत्ता की आरोप दृष्टि से ही व्यवहृत हुए मिलते हैं, जैसे कि भविष्य में उत्पन्न होनेवाले जल के स्वल्प फेन में वर्तमानकाल में उपस्थित जल की सत्ता से सत्ताव्यवहार मिलता है, इसी अभिप्राय से कहते हैं।

सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण ब्रह्म में अचित्त्व उसी तरह रहता है, जिस तरह अक्षुब्ध निर्मल जल में भविष्यत् फेनलव ॥३॥

वास्तविक दृष्टि से तो माया के असत्त्व होने के कारण निर्विकार अद्वितीय वस्तु में किसी तरह का क्षोभ और उसका हेतु न होने से जड़ सृष्टि की उत्पत्ति की संभावना ही नहीं है, यह कहते हैं।

कारण के बिना जैसे जल में फेन का लेश उदित नहीं होता, वैसे ही कारण के बिना ब्रह्म से सर्ग आदि भी उदित नहीं होता ॥४॥ तथा इस सृष्टिरचना में अकारण ब्रह्म में कोई कारण नहीं है। जगत् आदि कुछ भी इससे न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है ॥५॥ कारण का अत्यन्त अभाव होने से जगत् आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। मरुस्थल में जल की नाईं सामने देखा गया भी यह जगत् सर्वथा है ही नहीं ॥६॥ अज, शान्त और अनन्त ब्रह्म ही सब कुछ है, अंतःकरण का अभाव होने से यह निश्चित हो गया है कि सर्गबुद्धि भी नहीं है। चूँकि यह जगत् इत्यादि कुछ भी नहीं है, इसलिए यह सिद्ध है कि एकमात्र अखण्डित ब्रह्म ही सब कुछ है ॥७॥ इसलिए हे विद्याधर, तुम शिला के उदर के समान तथा आकाशकोश के सदृश हो। ब्रह्मैकघनस्वरूप होने के कारण तुम अज और अवयवरहित भी हो ॥८॥ हे विद्याधर, तुम ज्ञानरूप हो, किसी एक विशेषरूप का निश्चय न होने से सबमें अनुगत सत्तासामान्यस्वरूप होने के कारण तुम किंचिद्रूप तो अवश्य ही हो तथा विशेष का बाध होने पर सत्तासामान्य की भी निवृत्ति हो जाने से एवं एकरूप का निश्चय हो जाने से किंचिद्रूप भी नहीं हो। हे विद्याधर, बुद्धि तथा चिदाभासशून्य इस आत्मा में अपने–आप शान्त हो जाओ ॥९॥

प्रयोजन की अपेक्षा न चाहने से भी यह सृष्टि नहीं है, यह कहते हैं।

अज परमात्मा के नित्यानन्दस्वरूप होने के कारण कार्यसम्पादन करनेवाला कोई कारण नहीं है क्रिया निमित्त कोई फल नहीं है। इसलिए सृष्टि आदि का संभव न होने पर जो कुछ है, वह सब अज शिवस्वरूप ही है ॥१०॥

इस तरह तत्त्वदृष्टि से नित्यमुक्तता की सिद्धि का उपपादन करके इसका स्वीकार न करने पर मूर्खों में नित्यबद्धता की प्रसक्ति अनिवार्य होगी यानी मूर्ख सब नित्यबद्ध अवश्य रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं, यह कहते हैं।

अपनी मूर्खता में विलास करनेवाले जिन जीवों की दृष्टि में अजन्मा चिद्रूप नहीं है उनके लिए सृष्टि के नाश या उत्पत्ति के विषय में क्या विचार किया जाय। तात्पर्य यह है कि अनिर्मोक्ष दोष की सत्ता बनी रहने से उनके विषय में मोक्षोपाय की चिन्ता बिलकुल व्यर्थ है ॥११॥

अर्धप्रबुद्ध पुरुषों की दृष्टि से जैसी संसार की स्थिति रहती है, उसे कहते हैं।

जहाँ-जहाँ पर ब्रह्म है वहाँ-वहाँ जगत् के शब्दार्थरूप से शून्य इस तरह अनेकों जगत् हैं ही ॥१२॥ तृण, काष्ठ, जल और दीवार में सर्वत्र ही परब्रह्म स्थित है तथा सभी जगहों में सृष्टि का समूह परस्पर गुँथा हुआ स्थित है ॥१३॥

तब तो ऐसी दशामें ब्रह्म का मिथ्यासर्ग ही स्वभाव कहिये, हानि क्या है इस आशंका पर 'नहीं' यह कहते हैं।

ब्रह्म का क्या स्वभाव (🙏) है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनन्त परम ब्रह्मतत्त्व में स्वत्व और अस्वत्व दोनों का रहना अत्यन्त असंभव है ॥१४॥

व्यावर्तक में 'स्व' शब्द का असंघटन कहकर 'भाव' शब्द का असंघटन भी दिखलाते हैं।

अभाव की अपेक्षा रखनेवाले 'भाव' का भी सम्भव न होने से अनन्त परब्रह्म में स्वभाव आदि दुरुक्तियाँ अपना पैर नहीं जमा सकती ॥१५॥

व्यावर्त्य पदार्थ की प्रसिद्धि न रहने से भी 'स्व' और 'अभाव' इन दोनों पदों का संघटन नहीं बैठता, यह कहते हैं।

नित्य, अनन्त परब्रह्म में अस्वत्व और अभाव इन दोनों का अत्यन्त सम्भव न होने से स्वतःसिद्ध अव्यावर्तक स्वत्व और भावों में व्यवहृत स्वभाव शब्द का प्रयोग लोक में नहीं बैठता। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वभाव शब्द का जो तात्त्विक अर्थ है वह लोक में बिलकुल नहीं घटता ॥१६॥

जिस तरह ब्रह्म में सृष्टि आदि की सिद्धि न होने से वह अद्वय सिद्ध होता है उसी तरह प्रत्यगात्मा जीव में भी अहन्ता आदि की सिद्धि न होने से वह अद्वय सिद्ध होता है, यों दोनों तरह से विचार होने पर अखण्डता ही सिद्ध होती है, इस आशय से कहते हैं।

हे साधो, बुद्धि से विचारकर देखने पर तो अहन्ता कहीं उपलब्ध नहीं होती है। बच्चे के सामने वेताल के सदृश असद्रूप ही यह कहीं से आ टपकी है ॥१७॥ अहन्ता के शब्दार्थों से मुक्त जो

(🙏) अपना जो व्यावर्तक धर्म है उसे स्वभाव कहते हैं। उस स्वभाव की धर्मता अस्वभाव के व्यावर्तकरूप से ही कहनी पड़ेगी, इसलिए यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म का क्या स्वभाव है, क्योंकि उसमें स्वत्व-अस्वत्व नहीं है।

उपलब्ध होता है वह परब्रह्म ही है तथा अहन्ता के शब्दार्थों से युक्त जो उपलब्ध होता है वह शास्त्र और आचार्य के अुनभव से परीक्षा करके तत्त्वदृष्टि से देखने पर तो विलीन हो जाता है ॥१८॥

इस दृष्टि से जैसे जाड्य चित्स्वभाव को प्राप्त है वैसे ही जीव और जगत् का भेद भी अभेदस्वरूपता को ही प्राप्त है, यही दिखलाने के लिए सुवर्ण और कटक में अभेद दृष्टान्त पहले अनेक बार कहे जा चुके हैं, इसी अभिप्राय से अब उपसंहार भी करते हैं।

जगत् और ब्रह्मदृष्टि में जो भेद प्रतीत हो रहा है वास्तव में वह अभेद ही है। जगत् और ब्रह्म ये दोनों पर्यायशब्दों के अर्थविलास के तुल्य हैं। 'राहू का सिर' इस व्यपदेश के सदृश संकल्पमात्र ही इस भेद को विद्वानों ने कहा है, सत्य नहीं कहा है। जैसे सुवर्ण और कटक में अभेद है, वैसे ही जगत् और ब्रह्म इन दोनों में अभेद है ॥१९॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

इन्द्रियों को जीतकर पूर्ण ब्रह्म परमात्मा में मन की स्थिति तथा
देह आदि दृश्य पदार्थों में अनात्मभावना दृढ़ करनी चाहिए, यह वर्णन।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, वस्त्रों से न ढके अपने शरीर में लगे हुए शस्त्रों के आघात और तरुणी के स्तन आदि अंगों का अनुभव करके भी जो बुद्धिमान् पुरुष बिलकुल समभाव में स्थित है वही परमपद में स्थित है। तात्पर्य यह कि जब तक वैसी स्थिति नहीं आ जाती तब तक मनुष्य को इन्द्रियों के ऊपर विजयप्राप्त करने की दृढ़ चेष्टा और आत्मनिष्ठा से विरत नहीं होना चाहिए ॥१॥

इसी अर्थ को स्पष्टरूप से कहते हैं।

बड़े धैर्य के साथ अपने पुरुष प्रयत्न के द्वारा मनुष्य को तब तक इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए, जब तक कि शस्त्र और कान्ता, आदि बाह्य पदार्थों से उत्पन्न हो रहे विकारों को मिथ्यात्व बुद्धि से दूर फेंककर एकमात्र स्वात्मसुख विश्रान्तिरूप सुषुप्तता नहीं उदित हो जाती ॥२॥

मानसिक पीड़ाओं का संस्पर्श न होना ही दृढ़ तत्त्वज्ञान का लक्षण है, यह कहते हैं।

यथार्थ परमात्मतत्त्व को जाननेवाले पुरुष को सामने उपस्थित भी मानसिक पीड़ाएँ (卐) तनिक भी ऐसे नहीं लिप्त कर पाती जैसे कमल को जल नहीं लिप्त कर पाते ॥३॥ आकाश के सदृश स्वच्छ विविध प्रकार के चमकते हुए शस्त्रों तथा देदीप्यमान अनेक स्त्रियों के असंवित् में – शरीर में खूब संलग्न हो जाने पर भी (चिपक जाने पर भी) उन्हें असंलग्न-सा जो

(卐) जैसे कि शुक्ति में यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्ति ही है, यह यथार्थ ज्ञान हो जाने पर उस शुक्ति में रजत के लाभ या हानि जनित किसी तरह की मानसिक पीड़ा नहीं देखी जाती, यह भाव है।

शान्तात्मा देखता है, वही यथार्थ में देखता है यानी उसीको सचमुच यथार्थ में साक्षात्कारी ज्ञानवान् समझना चाहिए ॥४॥ जैसे विष अपने ही स्वरूप में घुण (कीड़ा) आदि विकारभाव को प्राप्त होता है और वह घुणता भी विष से अन्य कोई पदार्थ नहीं होती, वैसे ही अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए ब्रह्म भी स्वतत्त्व के एकमात्र परिज्ञान से नष्ट हो जानेवाली जीवरूपता को यानी जीवाकार विवर्तन को प्राप्त होता है। कहने का मतलब यह कि जीवता कोई ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है ॥५,६॥ अमरणस्वभाव जड़ विष अपने विषस्वभाव को न छोड़ते हुए ही जैसे मरणस्वभाव कीटरूप जीव होता है वैसे ही ब्रह्मचिति भी अपने रूप का त्याग न करती हुई मरणस्वभाव जड़रूप को प्राप्त हो जाती है ॥७॥

घुण की नाईं उत्पन्न हुए जीव की तरह यह सारा संसार भी उत्पन्न हुआ है यह कहते हैं।

विष में कीट के समान ब्रह्म में ब्रह्म से अनन्य होते हुए भी उससे अन्य सदृश भासमान यह सृष्टिरूप दुष्ट घुण भी कहीं से आविर्भूत हुआ है। यद्यपि यह उसी में स्थित उसी का रूप है तथापि उससे अन्य और उसमें स्थित नहीं सा भासता है ॥८॥

कृमि में जैसे विषस्वभावदृष्टि से जन्म और मरण नहीं होते, परन्तु आत्मस्वभावदृष्टि से तो होते ही हैं, वैसे ही जीव में भी ब्रह्मस्वभावदृष्टि से जन्म और मरण नहीं होते, किन्तु जीवस्वभावदृष्टि से तो होते ही हैं, यह कहते हैं।

जैसे विष अपने विषरूपी स्वभाव को न छोड़कर ही अपने अन्दर क्रमशः कृमि होता है तथा विषदृष्टि से न जन्म लेता है और न मरता ही है, किन्तु कृमिदृष्टि से मरता है, जन्म भी लेता है, वैसे ही यह आत्मा ब्रह्म भी ब्रह्मस्वरूप से न जन्म लेता है और न मरता है, किन्तु जीवस्वभाव से जन्म लेता और मरता भी है ॥९॥ देह, इन्द्रिय आदि विषय पदार्थों में अहन्ता–ममता की आसक्ति से अपने स्वरूप को तिरोहित न करके मनुष्य श्रवण, मनन आदि प्रयत्न द्वारा निष्पादित आत्मसाक्षात्कार ज्ञान के प्रयोजनभूत अपने से ही इस भवसागर को गाय के खुर के समान तैर जाता है, न कि मुझे इस संसारसागर से दैव (प्रारब्ध) पार लगायेगा, इस प्रयत्न की उपेक्षा करके ॥१०॥

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों का बाध हो जाने पर परिशिष्ट बचे परम दरिद्ररूपी एक आत्मस्वरूप में भला विश्रान्ति सुख की संभावना ही कैसे ? इस प्रसक्त अवहेलना का निवारण करते हैं।

सम्पूर्ण भावों को मात कर देनेवाली समस्त पदार्थों की सार सुखरूपावस्था तथा सांसारिक सभी तापों की निवृत्ति हो जाने से आन्तरिक शीतलता जिसमें विद्यमान है ऐसे परिपूर्ण आत्मस्वरूप में हे विद्याधर, किस तरह की अवहेलना हो सकती है ? ॥११॥

जीव के मन, अहंकार आदि कलंक की निवृत्ति में उपाय बतलाते हैं।

जागतिक सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता के भीतर सन्मात्रब्रह्मरूप से भावित निर्मल आत्मा में मन,

अहंकार, बुद्धिआदिरूप भला कौन–सा कलंक रह सकता है ? ॥१२॥ जैसे घट, पट आदि पदार्थों को तुम तटस्थरूप से देख रहे हो, वैसे ही हे विद्याधर, अहन्ता आदि का अभिमान छोड़ करके शरीर को पहले तटस्थरूप से देख लेने के बाद तुम अहन्ता, मन, बुद्धि और ज्ञान आदि को भी तटस्थरूप से ही देखते रहो ॥१३॥ तदनन्तर हे विद्याधर, सर्वसाक्षिस्वरूप होकर तुम बाह्य जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों तथा आन्तरिक मन, बुद्धि आदि का अनुभव न करते हुए अपनी स्वाभाविक स्थिति से बैठे रहो ॥१४॥

उस स्थिति में सम्पूर्ण गुण, दोष आदि के विक्षेपों के हेतुंओं की शान्ति रहती है, यह कहते हैं।

उस ज्ञानरूप अवस्था में सम्पत्ति या विपत्ति तथा उससे उत्पन्न सुख या दुःख किसी कारण से भी इस संसार में किसी को कभी भी कोई गुण या दोष उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उस दशा में कर्तृता के न रहने से भोक्तृता भी नहीं रहती (📖) ॥१५॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

अहंभाव भ्रान्तिमात्र है, जगत् का भ्रम चिति का विवर्त है,
उसकी मूल अविद्या है तथा अविद्या के नाश का क्रम क्या है-इन सबका वर्णन ।

अविद्या ही अहंभावरूपी सूक्ष्मप्रपंचभाव है। उसी की स्थूलरूपता होती है। इस रीति से समस्त विकल्पों के चिति का विवर्तमात्ररूप होने से सबमें एकता दिखलाते हैं।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, आकाश में ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ यों अपने मन से एक दूसरे आकाश की कल्पना कर लेना ही जैसे एक ही आकाश में भेद की भ्रान्ति है, वैसे ही अज्ञात आत्मा में सूक्ष्मप्रपंचात्मक सद्रूप अहंभाव की कल्पना करना एकमात्र भ्रान्ति है ॥१॥

दृष्टान्त में कल्पना करनेवाला तो कोई तीसरा ही पुरुष प्रतीत होता है वह तीसरा कौन है, यह पूछने पर उसे बतलाते हैं।

आकाश में ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ है। इस भ्रान्तिका कल्पक जैसे अहंभाव है वैसे ही अविद्या से आच्छादित होने से असत्–सा प्रतीत हो रहा अतएव शब्दादि से अव्यहार्य आत्मरूप सद्वस्तु ही कल्पक है ॥२॥ जैसे आकाश में अद्वितीय आकाशात्मा ही है, दूसरे आकाश को तो कल्पक पुरुष का संकल्पअवच्छिन्न चिद्रूप अपने संकल्पात्मक शरीर की ही उस रूप में कल्पना करके जानता है वैसे ही चूँकि अविद्या उपहित चिदात्मा अपने अविद्या रूप शरीर की 'मैं और यह' इत्यादि अभिमन्ता और अभिमन्तव्यरूप से कल्पना करके अवभासता है। इसलिए अज्ञान से अन्य न अहंभाव है और न अनहंभाव ही है ॥३॥ इसलिए हे विद्याधर, प्रत्येक को यह समझ लेना चाहिए

(📖) देखो यह श्रुति क्या कह रही है – 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्'।

कि वह चिद्रूप ऐसा है कि जहाँ परमाणु के आगे महामेरु की नाईं आकाश भी अति स्थूल है। सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठानभूत वह ब्रह्म परमसूक्ष्म है । उसी अतिसूक्ष्म ब्रह्मचिति की कल्पना आकाशादि यह स्थूल जगत्–रूप है ॥४॥

उस ब्रह्म की परम सूक्ष्मरूपता का उपपादन करते हैं।

आकाश से भी अत्यन्तसूक्ष्म अज्ञानरूपी अनादि विवर्त है, जो कि आत्मचिति अत्यन्त स्थूल है उस तरह का परमसूक्ष्म चेतन ही 'मैं, 'यह' इत्यादिरूप अनादि वासना से उत्तरोत्तर स्थूल हुए अपने स्वभाव की कल्पना करके जो सब पदार्थों को जानता है वही यह सब सृष्टिरूप से स्थित है ॥५॥ जैसे आवर्त आदि विकार जलद्रव के प्रसार हैं, वैसे ही आत्मा में अहन्ता आदि आध्यात्मिक तथा आकाश आदि आधिभौतिक यह जगत् आत्मचेतन विस्तृत विवर्तरूप है ॥६॥ चिति के विवर्त का अभाव ही प्रलय है, जो निश्चल जलद्रव की नाईं, स्पन्दनशून्य पवन के आकार के सदृश तथा आकाशहृदय के तुल्य है ॥७॥ इस तरह देश, काल आदिजगत् तथा इसके अवान्तर हजारों कार्यरूपी प्रसारों में भी एकमात्र घन, शून्य और निराभास चिति के विवर्त के सिवा अन्य कोई पारमार्थिकरूप उपपन्न नहीं है ॥८॥

इसमें उपपत्ति दिखलाते हैं।

चिति का ही विवर्त होने से काल, आकाश, नौका,जल, स्थल, निद्रा, जाग्रत् और स्वप्न में यह जगत् उदित के सदृश भासता है ॥९॥

चिति का जगत् के आकार में परिणामस्वरूप वास्तविक प्रसार क्यों नहीं है, इस पर कहते हैं।

आकाश से भी अत्यन्त अधिक स्वच्छ होने तथा संचलन आदि सब तरह विकारों से शून्य होने से चिति का विस्तार और संकोच वास्तव में नहीं होता *(अतएव इस संसार की उत्पत्ति और नाश एकमात्र ज्ञान से ही सिद्ध है)* ॥१०॥

सुख–दुःख आदि भोगों के अनुभवरूप तथा देह आदि में अहंभावरूप विकार तो चिदात्मा में दिखाई देते हैं, यदि यह कोई आशंका करे, तो उस पर कहते हैं।

ज्ञानस्वरूप आत्मा विषयजनित सुख–दुःख आदि भोगों का अनुभव नहीं करता और न इस आत्मा में यह तथा 'मैं' यह व्यवहार ही रहता है । किन्तु जल में द्रवत्व के समान अद्वितीय आत्मा भीतर अपने कूटस्थ स्वभाव में स्थित हैं। तात्पर्य यह है कि भोगादि विभ्रम चिदाभास को ही होते हैं, कूटस्थ आत्मा को नहीं होते ॥११॥ संकल्पशून्य आत्मा चिन्ता, लज्जा, हर्ष, भय, स्मृति, कीर्ति तथा इच्छा आदि मन की वृत्तियों के हेतु बाह्य विषयों को ऐसे नहीं देखता, जैसेकि अन्धकार में साँप के पैर ॥१२॥ हे विद्याधर, ब्रह्मरूपी चन्द्रबिम्ब से स्फुरित जीव चिदाभासरूपी ज्योत्सना के अंशभूत चाक्षुष आदि ज्ञानमय अमृत का द्रवरूपी जो यह सर्ग है वह परमेश्वर से भिन्न नहीं है, क्योंकि इस सृष्टि के आधारभूत दिशा (देश) और काल इन दोनों का निरवयव

और निष्क्रिय ब्रह्म में रहना संभव नहीं है। दिशा के रहने पर ही मूर्तद्रव्य की क्रिया से सर्गकाल की कल्पना की जा सकती है और वह क्रिया पहले से तो उपस्थित है नहीं। एवं काल के रहने पर ही दिशा आदि की उत्पत्ति की कल्पना की जा सकती है, लेकिन प्रलय में वह भी नहीं है, कारण कि क्रिया के अतिरिक्त उसका कोई साधक नहीं है। पूर्ण कूटस्थ में तो क्रिया का योग है ही नहीं। ऐसी स्थिति में उन दोनों के अभाव में किसी अन्य का अवकाश नहीं है, इस तरह यह सिद्ध है कि ब्रह्म से अतिरिक्त किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं है ॥१३॥ इस तरह भगवान् परमेश्वर के अपने से अभिन्न जगत् के आकार में सर्वसाधारण सच्चिदानन्दात्मरूप ने खूब चमकते हुए स्फुरित होने पर देह आदि किसी एक स्थान में विशेष अभिमान करके उसके अनुकूल या प्रतिकूल हेय या उपादेय कल्पना द्वारा अहंकारात्मा ही अन्य की नाईं स्फुरित होता है। इस तरह जल में आवर्तसमूह की नाईं यह सम्पूर्ण जगत्, जीव, बन्ध मोक्ष आदि की कल्पना जो कि एकमात्र भ्रान्त चित्त ही है, अणुमात्र भी और कुछ नहीं है ॥१४॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक इन दोनों का रूपक द्वारा एकीकरण करके उपपादन करते हैं।

मज्जन और उन्मज्जन के शब्दों से तथा विवर्तावर्तरूपी भ्रमणों से पूर्ण बराबर बह रही यह सृष्टिरूपी मृगजल की नदी स्फुरित हो रही है, जो कि तत्त्वसाक्षात्कार से शीघ्र ही चिरकाल के लिए क्षीण हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे मृगतृष्णा की नदी मरुभूमि के साक्षात्कार से शीघ्र नष्ट हो जाती है वैसे ही यह सृष्टि भी परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार से शीघ्र ही सदा के लिए क्षीण हो जाती है ॥१५॥ जैसे आवर्तों से जल या दूर से धूमसमूह निबिड़ मेघरूप से भासता है वैसे ही ब्रह्म और मन इन दोनों के मध्य में तीसरी यह सृष्टि विषयरूप होने से जड़ और सत्यरूप से स्फुरित होने के कारण अजड़रूप से भासती है ॥१६॥ आरी से लकड़ी चीरने पर जैसे आवर्त आदि भासते हैं वैसे ही देश–कालादि से शून्य परमात्मा में यह सृष्टि जड़ और अजड़रूप से भासती है ॥१७॥ मिथ्या होने से अपने स्वरूप से अत्यन्त कोमल तथा अधिष्ठान सत्ता से पत्थर की नाईं अति दृढ़ इस संसार रूपी कदलीस्तम्भ का स्फटिकशिला में प्रतिबिम्बित कदलीस्तम्भ से तनिक भी असाम्य विवेकदृष्टि से देखने पर नहीं मिलता। यदि कुछ मिलता भी है तो सिर्फ वह संकल्पकल्पित पल्लव विलक्षणता ही। कहने का तात्पर्य यह कि संकल्पकल्पित विलक्षण पल्लव के सिवा और कुछ तनिक भी वैसा दृश्य इन दोनों में नहीं मिलता ॥१८॥

पट के ऊपर विरचित चित्रगत राज्य के सादृश्य से अब इस जगत् का वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, यह रमणीय सारा संसार पट के ऊपर विरचित चित्रगत महाराज्य के सदृश्य प्रकाशयुक्त, सुन्दर और विकल्प से विस्फूर्जित है। हे विद्याधर, चित्रगत महाराज्य के सदृश ही यह भी परामर्श को न सहनेवाला (卐) है। इसके अन्दर हजारों पैर, मस्तक, नेत्र, हस्त,

(卐) परामर्श यानी विचार, इसको नहीं सहनेवाला यह संसार है अर्थात् विचार करनेपर तनिक भी

मुख तथा इनसे इच्छित और वितर्कित वस्तुएँ एवं नाना प्रकार के पर्वत, चतुर्विध प्राणियों के शरीर, दिशाएँ और अनेक नदियाँ परमात्मा के माप से प्रदेशमात्र के समान परिच्छिन्न हैं। अनेक प्रकार के रंजक द्रव्यों से रंजित चित्रगत महाराज्य की नाईं यह सारा संसार भी अनेक प्रकारके कामादि रूप रंगों से रंजित है। विरुद्ध वर्णवाले मार्जनद्रव्य से परिमार्जन कर देना ही एकमात्र जिसका नाश है ऐसे चित्रलिखित महाराज्य की नाईं यह सारा संसार भी केवल तीव्र वैराग्यमात्र से ही परिमार्जित होता है। हे विद्याधर, सुर, असुर, गन्धर्व, विद्याधर तथा बड़े नाग आदि से युक्त जड़ात्मक पवन स्पन्दनशील तथा द्रष्टाचेतन से चेतित चित्रलिखित महाराज्य की नाईं यह सारा संसार भी सुर, असुर, गन्धर्व आदि से युक्त सूत्रात्मा से स्पन्दनशील तथा ब्रह्मचेतन से चेतित है ॥१९–२२॥ अर्थशून्य तथा बाध्य होने से असत्यस्वरूप स्पन्दनात्मक विकल्पांश में यानी विकल्पात्मक वृत्ति जिसमें उदित होती है ऐसे मन में प्रतिबिम्बभाव से पतित संवित् भ्रान्ति में ऐसे प्रसरणशील होती है, जैसे जल में तैलबिन्दु ॥२३॥

कैसे प्रसरणशील होती है, यह कहते हैं।

मन को क्षोभित करनेवाले कामवासना आदि जालसमूहों से निबद्ध, सम्पूर्ण आवर्तरूप विकारों से समन्वित पुत्र, स्त्री आदि में फैल रहे स्नेह से मिश्रित मिथ्या होने के कारण उत्पन्न न हुए ही इन शब्द–स्पर्श आदि विषयों के बार–बार आस्वादनों के द्वारा जो संवित् प्रसरणशील होती है चित्रगत महाराज्यरूप से वर्णित यह संसार है ॥२४॥ इस रीति से यह आदिचिति ही अहंभावादि विकल्पों से बहिर्मुखी हो जीवभाव को प्राप्त करके भी परमात्मा से तनिक भी ऐसे भिन्न नहीं है, जैसे कि जलरूपता से भिन्न तोयता (जलत्व) नहीं है। तात्पर्य यह है कि भेदक उपाधियों के विकल्पमात्र होने से 'जीव' और 'ब्रह्म' शब्द का 'जल' और 'तोय' शब्द की नाईं एक अर्थ में पर्यवसान है ॥२५॥

उपाधि के अनुप्रवेश द्वारा नाम और रूपों का व्याकरण करनेवाले अहमर्थ जीव के ब्रह्ममात्र होने से जीव का भोग्य सर्गशब्दार्थ भी एकमात्र ब्रह्म ही है, यह कहते हैं।

यह चिद्रूपी सूर्य स्वात्मा ही है। यह उपाधि में प्रवेश द्वारा 'अहम्' इत्यादि नाम को प्राप्त होकर 'सर्ग' इस नाम से कहा जाता है। इसलिए यह सिद्ध है कि वास्तव में चेतन से अन्य न कोई सृष्टि है और न कोई इस सृष्टि का रचयिता ही है ॥२६॥

'राहु का सिर' यहाँ पर जैसे राहु और उसके सिर में अभेद सिद्ध है यानी जो राहु है वही तो उसका सिर है, इसी तरह जगत् और चित् में अभेद सिद्ध है। इन दोनों में एकमात्र अविद्याके कारण ही भेद की प्रतीति हो रही है। इसका दृष्टान्त देकर उपपादन करते हैं।

जैसे स्पन्दरूप अपनी सत्ता में वस्तुतः जलद्रव स्पन्दरहित ही है उसमें स्पन्द की प्रतीति तो

टीक नहीं सकता तथा चित्र भी दूसरे द्वारा हुए उपमर्दन को नहीं सह सकता।

एकमात्र विकल्प ही है, (४) वैसे ही आकाशादि प्रपंच की रचना में चिदात्मा न आकाशादिरूप से स्थित है, न इन सबका कर्ता है और न आकाशादि पदार्थों को अपने से भिन्न समझता ही है ॥२७॥

जलद्रव की भेदकल्पना में देश और कालका भेद नियामक है । पूर्वकाल और पूर्व-देश में स्थित जल उत्तरकाल और उत्तरदेश में उपलब्ध होता है । उत्तरदेश की प्राप्ति भी क्रियापूर्वक ही बाण आदि में देखी गई है, इसी तरह जल में भी द्रवणक्रियाभेद की कल्पना कर सकते हैं । परन्तु अद्वितीय ब्रह्म में तो देश और काल किसी का भेद नहीं है, अतः आकाश आदि भेदक कल्पना में कोई निमित्त न होने से जलद्रव का साम्य बहुत दूर चला गया यदि यह कोई शंका करे, तो उसका समाधान देते हैं ।

सृष्टिरूप होने से, देश, काल आदि के निर्माणपूर्वक ही चिदात्मा के आकाशादि विकल्पज्ञान का हम वर्णन कर रहे हैं, इसलिए जलद्रव का साम्य कहीं दूर चला गया, यह कोई नहीं कह सकता । (५) ॥२८॥

इस तरह विकल्पों के मन, अहंकार और बुद्धि आदि से साध्य होने के कारण आकाश आदि सृष्टिभेद के विकल्प समय में इनके असिद्ध होने से विकल्प की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? यह आशंका भी अनुपपत्ति आदि हजारों दोषों से पूर्ण एकमात्र अविद्या का स्वीकार कर लेने से ही अनायास परिहृत हो सकती है, इस आशय से कहते हैं ।

---

(४) जलं स्पन्दते' (जल स्पन्दित होता है) इस स्थल पर थोड़ा विचार किया जाय । क्या जल ही स्पन्दरूप से स्थित रहता है या अन्य कुछ ? जल से भिन्न अन्य कोई स्पन्दनरूप से स्थित रहता है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि अन्य किसी की यहाँ उपलब्धि नहीं होती । यदि यही मान लिया जाय कि वहाँ कोई अन्य ही स्पन्दित होता है तब तो उस स्पन्दन को जल की ही अपेक्षा है, यह नियम नहीं रह सकता । अतः दूसरा ही स्पन्दित होता है, यह प्रतीति होने लगेगी और साथ-साथ यह भी नहीं कह सकते कि वह नियम समवाय के बल पर सिद्ध है, क्योंकि सम्बन्ध की अनवस्था होने से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती । अब रही बात प्रथम पक्ष की । इस पक्ष में जलस्पन्द का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि स्पन्दात्मा स्पन्द नहीं करता, कारण कि यदि वह स्पन्द करे, तो उस स्पन्द में कर्तृत्वापत्ति आ जायेगी । इसलिए यह सिद्ध है कि जल द्रव अपनी स्पन्दात्मिका सत्ता में स्पन्दशून्य ही स्थित रहता है ।

(५) आकाश आदि सृष्टि के विकल्प की असंभावना के ऊपर जो आक्षेप किया जा रहा है, सो क्या आकाश आदि की सर्गात्मकदशा में आक्षेप किया जा रहा है या ब्रह्मदशा में ? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मदशा में आक्षेप किया जा रहा है तब तो यह आपत्ति में इष्ट है, क्योंकि ब्रह्मभाव में हम किसी तरह का कोई विकल्प स्वीकार करने को तैयार नहीं है । यदि यह कहा जाय कि सर्गात्मकदशा में आक्षेप किया जा रहा है, तो इस पर हमारा यह कहना है कि सर्गात्मकदशा में तो यह कहना ही पड़ेगा कि वह सृष्टिकाल प्रलयकाल से पूर्व है । इस तरह कालविभाव और संसारासंसार देश भेद का भी कल्पना द्वारा निर्माण करके हम चिदात्मा के

हे विद्याधर, मन, अहंभाव, बुद्धि आदि जो कुछ भी विकल्पज्ञान है उस सबको तुम एकमात्र अविद्या ही समझो, जो पुरुषप्रयत्न से शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥२९॥

किस-किस पौरुष से वह कितनी नष्ट होती है, यह बतला रहे हैं।

विनय, प्रणाम, दान, सम्मान आदि के द्वारा वशीभूत हुए तत्त्वज्ञानियों के साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीत करने के कारण प्रथम भूमिकापर्यन्त अभ्यस्त हुई उत्कट वैराग्य आदि चार साधनों की सिद्धि से पुत्र, स्त्री, धन आदि में ममताभ्यास के हेतुभूत इस अविद्या का आधा भाग नष्ट हो जाता है, श्रवण, मनन आदि शास्त्रविचारों से इस अविद्या का विक्षेप शक्तिरूप चौथा अंश-जो प्रमाण और प्रमेय की सम्भावना आदिरूप तथा देहादि में अहन्तारूप है-नष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मात्मसाक्षात्कार से उसका बचा हुआ आवरणशक्तिरूप चौथा भाग भी सूर्योदय के बाद अन्धकार की नाईं धीरे-धीरे क्रमशः नष्ट हो जाता है ॥३०॥ पूर्वोक्त रीति से भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा समकाल में और क्रमशः चार भागों में विभक्त अविद्या के नष्ट कर दिये जाने पर जो अवशिष्ट रहता है वह नामरूपरहित सन्मात्र ही परमपुरुषार्थ है ॥३१॥

संक्षेप से कही गई बात को विस्तार से सुनने की इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : महर्षे, अविद्या का आधा भाग आत्मज्ञानी विद्वानों के साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीतों से, एक चतुर्थांश शास्त्रों के विचारों से एवं दूसरा चतुर्थांश आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से कैसे नष्ट हो जाता है ? कृपाकर कहिये ॥३२॥ तदनन्तर हे मुनिनाथ, 'समकाल में' और 'क्रमशः' यह क्यों कहा जाता है ? तथा 'वह नामार्थरहित सन्मय ही है' - यहाँ पर यमयट्' प्रत्यय से असदंश को लेकर सत् और असत् जो कहा गया है, उसमें असदंश क्या है, सो दयाकर कहिये ॥३३॥

प्रश्नक्रम के अनुसार महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, संसारसागर को तैर जाने की इच्छा रखनेवाले विरक्त सज्जन पुरुष को आत्मज्ञानी विद्वान् तथा अन्य मुमुक्ष के साथ अपनी बुद्धि से यह विचार करना चाहिए कि यह संसार क्या है इसका परिणाम, मूल और सार क्या है तथा इसे तैर जाने का कौन-सा उपाय है ? ॥३४॥ संसारसागर से पार हो जाने की इच्छा रखनेवाले विद्वान् को चाहिये कि वह जहाँ-कहीं से विरक्त, मत्सररहित, आत्मज्ञानी सज्जन पुरुष को यत्नपूर्वक ढूँढ़कर उसकी आराधना करे ॥३५॥ हे वेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी, यह आप भलीभाँति जान लीजिये कि सज्जन पुरुष का समागम हो जाने पर अविद्या का आधा भाग

आकाशादि विकल्पज्ञान का वर्णन कर रहे हैं, अतः किसी को सन्देह करने का तनिक भी स्थान नहीं है कि जलद्रव का साम्य बिलकुल कहीं दूर चला गया। इस विषय में वार्तिककार की यह उक्ति भी स्मरणीय है : अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥

तो अन्य सब भूमिकाओं में ज्येष्ठ तथा साधनचतुष्टय सम्पत्ति से श्रेष्ठ शुभेच्छानामक प्रथम भूमिका प्रतिष्ठा के उदय से ही क्षय को प्राप्त हो गया ॥३६॥ हे श्रीरामजी, अविद्या का आधा भाग तो सिर्फ सज्जन पुरुषों के सम्पर्क से ही नष्ट हो जाता है। बाकी बचे दो चतुर्थ भागों में से एक भाग को बुद्धिमान् पुरुष को शास्त्रार्थों के पर्यालोचन से तथा दूसरे को अपने आत्म-साक्षात्काररूप यत्न से नष्ट कर देना चाहिए ॥३७॥ संसारबन्धन से मुक्त होने की कहीं एक उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गई, तो उस मुमुक्षु पुरुष को वैराग्य आदिसम्पत्ति ही भोगों तथा उनके साधनों से दूर हटा देती है और भोगों के नष्ट होने से अविद्या का चतुर्थ अंश अपने यत्न से ही नष्ट हो जाता है ॥३८॥ सज्जनों की संगति, शास्त्रों की चर्चा और अपने प्रयत्न-इन सबकी एक साथ प्राप्ति होने पर समकाल में यानी एक ही कालमें तथा एक-एक की प्राप्ति होने पर क्रमशः अविद्यारूपी मल क्षीण हो जाता है ॥३९॥ अविद्या का क्षय हो जाना ही जिसका एकमात्र अपना स्वरूप है ऐसा जो अविद्या के नाश के बाद अकिंचिद्रूप या किंचिद्रूप शेष रहता है वह परमार्थभूत नामार्थरहित, असत् और सत् भी (♨) कहा गया है ॥४०॥

हे श्रीरामजी, यह परिशिष्टवस्तु, आनन्दैकघन, जरादिविकारशून्य अनन्त, एक ब्रह्म ही है। जीव और जगद्रूप तो विकल्प का स्फुरण होने से सर्वथा अविद्यमान ही है। इसलिए हे श्रीरामजी, आप अपने को परमात्मतत्त्वरूप जानकर प्रमाण, प्रमेय आदि त्रिपुटी के मोह से शून्य होते हुए ब्रह्म ही होकर के सर्वातिशायी बृहत् होने से सब ओर से व्याप्त होकर विहार करते हुए शोकशून्यस्थित रहिये ॥४१॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

माया के कार्य में देश आदि की अपेक्षा का अभाव तथा
परमाणु के उदर में इन्द्र के राज्य की कल्पना का विस्तार-यह वर्णन।

'देश कालादि निर्माणपूर्वकं वेदनं विदुः' इत्यादि जो पूर्व सर्ग में कहा गया है, उसका उपपादन करने के लिए इन्द्र-त्रसरेणु आख्यान कहने के पहले भूमिका बाँधते हैं।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, इस मायिक विस्तृत जगद्रूप के धारण में देश और काल की अपेक्षा इस तरह नहीं है, जिस तरह आकाश में फैले हुए प्रकाश के धारण में खम्भों की अपेक्षा नहीं है ॥१॥ शान्त, पवन के अन्दर स्थित सुगन्ध या प्रकाश से भी अति सूक्ष्म, लघु और स्वच्छ यह त्रिलोकी मन के मनन की रचनामात्र है ॥२॥ हे साधो, चिति के चमत्कारमात्ररूप से दृढ़ इस जगद्रूपी अणु की अपेक्षा वायु के अन्तर्गत सौरभ भी मेरु की नाईं स्थूल है, इसमें तनिक भी सन्देह

(♨) अर्थक्रियाव्यवहार के योग्य न रहने से वह 'असत्' तथा अबाध्य परम पुरुषार्थरूप होने से वह 'सत्' कहा गया है।

नहीं है। क्योंकि वायु के अन्दर स्थित सुगन्ध या सौरभ का तो अन्य पुरुष भी अपनी घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा अनुभव करते हैं, परन्तु यह संसार की सृष्टि तो जिस पुरुष के मन में उदित होती है वही इसका ऐसे अनुभव करता है, जैसे मनोराज्य के पदार्थ का मनोराज्य साक्षी द्वारा या अपने स्वप्न का स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वयं अनुभव करता है ।।३,४।। पूर्वसिद्ध देश और काल की अपेक्षा न रखनेवाले तथा दूसरे के अनुभव में न आने से परम सौम्यरूप इसी विषय का एक बहुत पुराना इतिहास विद्वान लोग उदाहरणरूप में कहा करते हैं जो कि त्रसरेणु के उदर में बहुत दिन पहले इन्द्र को अनुभूत हुआ था ।।५।। कभी कहीं किसी एक कल्पवृक्ष में (सब तरह की कल्पनाओं के आधारभूत मायाशबलब्रह्म में युग की सन्धिरूप शाखा में) ब्रह्माण्डरूप गूलर का फल पैदा हुआ ।।६।।

उस फल का वर्णन करते हैं।

वह फल अन्य फलों से विलक्षण था। वह सुर और असुर आदि अनेक विविध भूतों के समूहरूपी मच्छरों की भनभनाहट से युक्त था तथा अनेक शैलरूपी कीलों से जड़ित दृढ़ पाताल स्वर्ग और भूमण्डलरूप दुर्घर्ष कपाटों से समन्वित था ।।७।। वह फल चिति की चमत्कृति रूप विचित्र रचनाशक्ति से सुन्दर, बहुत बड़ा, वासनारूपी रस से स्थूल, अनेकविध शब्दादि विषयोंके अनुभवरूपी सुगन्ध से समन्वित तथा चित्त के आस्वाद से मनोहर था ।।८।। पूर्वोक्त महान् ब्रह्मरूपी कल्पतरु में आविर्भूत सूक्ष्म जगत्की सत्तारूपी करोड़ों लताओं के अन्तर्गत वह फल लगा था और अहंकाररूपी महान् वृंत से युक्त वह फल साक्षी चेतन से उज्ज्वल था ।।९।। ज्ञानरूपी विकसित मुखवाला, अनेक नदी और समुद्ररूपी नाड़ियोंसे आवृत पंचतन्मात्ररूपीकोश में स्थित, ऊपर में तैर रहे नक्षत्रोंरूपी हिमकणों से परिपूर्ण, महाकल्प के अवसान में पककर गिरने में उन्मुख, तदनन्तर मूर्खरूपी कौवों या विवेकी जनरूपी कोकिलों से भक्ष्यमाण गिरने पर शान्ति को प्राप्त तथा कहीं पर वासनामात्र शेषस्वरूप नाश या ब्रह्मभाव को प्राप्त होनेवाला वह फल था ।।१०,११।। उस गूलर के भीतर तीनों भुवन का स्वामी देवताओं का ईश इन्द्र ऐसे रहता था, जैसे क्षौद्रकुम्भ के भीतर स्थित मधुमक्खियों का स्वामी ।।१२।। अपने अन्तःकरण में आत्मा का निरन्तर विचार करनेवाला पूर्वापरवेत्ताओं में श्रेष्ठ वह महात्मा गुरु के उपदेश तथा अपने अभ्यास से अविद्यारूपी आवरण से रहित हो गया था ।।१३।। इसके बाद अपने पराक्रम से सुशोभित नारायण आदि जब कहीं क्षीर-सागर में शयन कर रहे थे तब अकेले उस सुरेश्वर ने शस्त्रों की ज्वालारूपी अग्नि को धारण करनेवाले बड़े-बड़े पराक्रमी असुरों के साथ युद्ध किया और बाद में उनसे पराजित होकर वह शीघ्र युद्धभूमि से भागा ।।१४,१५।। और शत्रु उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। शत्रुओं के पीछा करने पर दसों दिशाओं में बड़े वेग से भागते हुए उसने कहीं पर भी अपने विश्राम का स्थान ऐसे नहीं प्राप्त किया जैसे पापी पुरुष उत्तम परलोक नहीं प्राप्त करता ।।१६।। इसके पश्चात् जब उसके शत्रुओं की दृष्टि इधर-उधर कहीं थोड़ी देर के लिए भ्रान्त हो गयी तब अपने छिपने का किंचित्

अवसर पाकर वह अपने स्थूलाकार संकल्प को अपने अन्तःकरण के अन्दर ही सूक्ष्मभूत में विलीन करके अत्यन्त अणु बनकर बाहर सूर्य की किरणों के कोश में स्थित किसी एक त्रसरेणु के भीतर अपने संविद्रूप प्रवेश संकल्प से ऐसे प्रविष्ट हो गया, जैसे पद्मकोश के भीतर मधुकर प्रविष्ट हो जाता है ॥१७,१८॥ वहाँ जाते ही वह शीघ्र विश्राम करने लगा। चिरकाल के बाद उसने वहाँ शान्ति प्राप्त की। तदनन्तर बहुत दिनों तक वहीं पड़े रहने के कारण वह अपने संग्राम को भूल गया, जिससे बाहर निकलने की उसकी स्मृति भी समाप्त हो गई। वहाँ पर उसने अपने रहने के लिए एक घर की कल्पना की और तत्काल ही उसका अनुभव किया। उस अपने कल्पित घर के भीतर पद्मासन के ऊपर बैठकर उसने ऐसे रमण किया, जैसे कि अपने स्वर्गलोक में स्थित प्रसिद्ध सिंहासन के ऊपर बैठकर रमण करता था ॥१९,२०॥ उस गृह के भीतर स्थित इन्द्र ने एक ऐसा कल्पित नगर देखा, जहाँ पर चहारदीवारियों से घिरे मणि–मुक्ता और प्रवालों से विरचित अनेक मन्दिर चमचमा रहे थे ॥२१॥ उसके बाद उस नगर के भीतर पहुँचकर इन्द्र ने एक देश देखा, जिस देश के भीतर अनेक प्रकार के पर्वत, ग्राम, गौशालाएँ, नगर और बहुत–से जंगल विराजमान थे ॥२२॥ इसके अनन्तर उसी तरह के संकल्प से युक्त इन्द्र ने भूलोक का अवलोकन किया जो, अनेक पर्वतों, समुद्रों, भूमियों, नदियों, राजाओं तथा उनकी राज्यसीमाओं से युक्त और क्रिया एवं काल आदि की कल्पनाओं से समन्वित था ॥२३॥ इसके पश्चात् वैसे ही संकल्प से युक्त इन्द्र ने तीनों जगत् का अनुभव किया, जो पाताल, पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, सूर्य, पर्वत आदि अनेक पदार्थों से युक्त था ॥२४॥ तदनन्तर अनेक तरह के भोगों से परिपूर्ण वह इन्द्र देवताओं के अधीशपन के पद पर देवलोक में अधिष्ठित हो गया और कुछ काल बीत जाने के बाद उसे कुन्द नामक एक महापराक्रमी पुत्र पैदा हुआ ॥२५॥ तत्पश्चात् अनिन्दित वह इन्द्र जीवन के अन्त में इस पांचभौतिक शरीर का त्याग कर, तैलरहित दीपक की नाईं, निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो गया ॥२६॥ उसका पुत्र कुन्द तीनों लोक का राजा हुआ और पुत्र उत्पन्न करके समय से जीवन का अन्त आने पर वह भी परम पद को प्राप्त हो गया ॥२७॥ उस कुन्द का भी लड़का अपने पिता के ही समान बहुत वर्षों तक राज्य करके अपने पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठाकर जीवन के अन्त में परमपावन पद को प्राप्त हो गया ॥२८॥ हे सुन्दर, इस तरह उस सुरेश के हजारों पुत्र–पौत्र आदि हो गये। आज भी उनके उस राज्य में अंशक नाम का राजा राजसिंहासन पर स्थित है ॥२९॥

हे विद्याधर, इस रीति से जैसा कि मैंने तुमसे वर्णन किया, सूर्य प्रकाश से पवित्र उस त्रसरेणु के आकाश प्रदेश में कहीं, क्षत, गलित, हत या सर्वथा नष्ट हो जाने पर भी इन्द्र के संकल्पित त्रसरेणु के अन्दर स्थित जगत् में उस अमरेश्वर का वंश ही इन्द्र के राज्य का अब भी पालन कर रहा है ॥३०॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चौदहवाँ सर्ग

उस कुल में उत्पन्न इन्द्र की बिस तन्तु में जगत् की रचना तथा सब तरह के विचारकर देखने पर ब्रह्मदृष्टि आकाश की इन्द्रता का वर्णन।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, पूर्वोक्त उस इन्द्र के कुल में उत्तम गुणों से पूर्ण श्रीसम्पन्न कोई इन्द्र हुआ। उस देवलोक में उसका वह अन्तिम शरीर था ॥१॥ कुछ दिनों के बाद उस देवलोक में इन्द्र के वंश में उत्पन्न हुए लड़के को बृहस्पति की उपदेशवाणी से आत्म–तत्त्वसाक्षात्कार ज्ञान की प्राप्ति हुई ॥२॥ तदनन्तर वेद्यवस्तु का ज्ञान प्राप्त करानेवाले तथा प्रारब्धानुसार प्राप्त कार्यों का सम्पादन करनेवाले देवताओं के उस अधीश्वर ने समस्त जगत् का राज्य किया ॥३॥ उसने दानवों के साथ युद्ध किया, अपने शत्रुओं को जीता तथा अज्ञान को पार कर चुके मनवाले उस राजा ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये ॥४॥ उसने अपने किसी कार्यवश कमलदण्ड के कोमलतन्तु के अन्दर चिरकाल तक निवास किया। उस बिसतन्तु के भीतर कल्पित ब्रह्माण्ड में राज्य करना तथा युद्ध में जय–पराजय प्राप्त करना आदि भिन्न–भिन्न सैकड़ों वृत्तान्तों का भी उसने खूब अनुभव किया, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥५॥ ज्ञान–बल युक्त उस राजा को कभी अचानक ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं भलीभाँति ध्यान लगाकर मायाशबलित ब्रह्म का स्वभाव देखूँ ॥६॥ इसके बाद उसने एकान्त में स्थित होकर बाहर और भीतर के सम्पूर्ण विक्षेप कारणों के त्याग से शान्तबुद्धि होते हुए समाधि लगा करके सर्वविध शक्तियों से सम्पन्न, सर्ववस्तुमय, सर्वत्र व्याप्त, सब तरह से सर्वदा सर्वरूप और सबके साथ, सर्वगामी परब्रह्म को देखा, जो अनेक हाथ और पैरों से युक्त था, चारों तरफ जिसकी आँखें, मस्तक और अनेक मुख थे, सभी ओर अनेक श्रोत्रेन्द्रियों से युक्त तथा लोक में सबको आवृत करके जो स्थित था ॥७–९॥ वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों से निर्मुक्त होता हुआ भी उनके रूप आदि गुणों के ग्रहण करने की शक्तियों से समन्वित था। परमार्थ में सबसे अलग रहता हुआ भी वह व्यवहार में सबको धारण किये हुए था। निर्गुण रहने पर भी वह सम्पूर्ण गुणों का भोक्ता था ॥१०॥ समस्त प्राणियों के बाहर–भीतर स्थित अचर तथा चर, सूक्ष्म होने से अविज्ञेय एवं दूरस्थ होने पर भी वह समीप में ही स्थित था ॥११॥ सर्वत्र चन्द्र–सूर्यमय, सर्वत्र पृथिवीमय,सर्वत्र पर्वतमय, सर्वत्र सागरमय, सर्वत्र चित्सार, गुरुरूप, सर्वत्र आकाशमय, सर्वत्र संसृतिमय,सर्वत्र जगन्मय, सर्वत्र मोक्षरूप, सर्वत्र आद्यचिन्मय, सर्वत्र सर्वपदार्थमय तथा सर्वत्र वह सबसे रहित था ॥१२–१४॥ घट, पट, वट, शकट, दीवार, वानर, तेज, गृह, आकाश, वृक्ष, पर्वत, वायु, जल और अग्नि आदि सब पदार्थों में तथा परमाणु के एक अंशमात्र में भी नानाप्रकार के प्राणियों के शारीरिक आचारों तथा मानसिक विचारों से युक्त एवं स्वर्ग, नरक आदि के गमनागमनादि से समन्वित उसने तीनों जगत् को देखा ॥१५,१६॥ मिर्च के भीतर तीक्ष्णता तथा आकाश के भीतर शून्यता की नाईं तीनों जगत् सदसद्रूप (आविर्भावकालात्मक एवं तिरोभावकालात्मक) चिन्मय परमात्मा में विद्यमान हैं ॥१७॥ इस तरह जीवभाव से शून्य शुद्ध

ज्ञान से देखता हुआ वह इन्द्र पूर्ववासना कल्पित उसी शरीर से क्रमशः वैसे ही ध्यानवान् हो गया ॥१८॥ महामति उदारबुद्धि उस इन्द्र ने ध्यान लगाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मायाशबलितब्रह्म में देर तक देखते हुए हम लोगों के द्वारा अनुभूयमान इस ब्रह्माण्ड को देखा ॥१९॥ तदनन्तर हम लोगों के इस ब्रह्माण्ड में पाताल, भूमि आदि लोकों के क्रम से इन्द्र–लोक के भीतर मन से विचरण करता हुआ वह इन्द्र के समीप पहुँचा। वहाँ इन्द्र को देखते ही 'मैं इन्द्र हूँ' इस संस्कार के उद्‌बुद्ध होने तथा पूर्व में किये गये सैकड़ों वृत्तान्तों से शोभित अनेक भुवनों का राज्य किया ॥२०॥

हे विद्याधर कुलाधीश, इस रीति से उस त्रसरेणु के अन्तर्गत इन्द्र के कुल में उत्पन्न वह इस ब्रह्माण्ड में भी देवों का राजा बनकर स्थित है, यह तुम जान लो ॥२१॥ इस ब्रह्माण्ड का इन्द्र बन जाने के बाद, उसने हृदय में बीज के सदृश संस्काररूप से स्थित पूर्वकाल के ज्ञानयोगाभ्यासरूप योग से बिसतन्तु के भीतर स्थित अपने प्राक्तन वृत्तान्तों का स्मरण किया ॥२२॥

सर्वशक्ति सम्पन्न ब्रह्म में सर्वत्र सबका सद्भाव होने से इस तरह के सैकड़ों इन्द्र विद्यमान हैं, यह कहते हैं।

त्रसरेणु के उदर में बिसतन्तु के भीतर अपना निवास बनाकर कान्तिमान् जैसे यह इन्द्र कहा गया है, वैसे ही इधर–उधर उस तरह के सैकड़ों हजारों व्यवहार चिदाकाश में हो चुके हैं और हो भी रहे हैं ॥२३,२४॥ हे विद्याधर, जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, तब तक प्रबल यह दृश्यरूप नदी अविच्छिन्नरूप से चिरकाल तक बहती ही रहती है और चौथी भूमिका से लेकर छठी भूमिकाओं तक उस ब्रह्मपद के अर्धरूढ़ तथा अर्ध अनारूढ़ होनेपर बहुत दूर तक लम्बी–चौड़ी फैली हुई यह माया–मायारूप से अनुभव में आ जाती है। एकमात्र विलास में ही तत्पर रहनेवाली यह माया केवल सत्य परमात्म साक्षात्कार से विलय को प्राप्त होती है ॥२५,२६॥

चूँकि यह माया है, इससे इसके वैचित्र्य में कोई विशेष हेतु ढूँढ़ने की जरूरत नहीं है, यह कहते हैं।

हे अनघ, यह माया जिस किसी कारण से जहाँ कहीं यथा कथंचित् उत्पन्न हुई दिखाई देती है, अतः इसकी विचित्रताओं के विषय में विशेष चिन्ता नहीं करना चाहिए ॥२७॥

अथवा एकमात्र अहंकाराध्यास ही इसके वैचित्र्य में निश्चित हेतु है, यह कहते हैं।

मेघ से वृष्टि के सदृश अहंभावरूप चमत्कार से कुहरे के जैसी यह माया उत्पन्न होती है और आत्मा के साक्षात्कार मात्र से क्षण भर में ही शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥२८॥ चूँकि सर्वसाक्षिब्रह्म का रूप परमार्थतः समस्त विकल्पों से रहित ही है, इसीलिए अहंकार के वश से विस्तृत हुए मानस विकल्पों तथा द्रष्टा, दर्शन, दृश्य–इस त्रिपुटीरूप इन्द्रिय के विकल्पों से मुक्तस्वभाव (जाग्रदावस्था से शून्य) होने के कारण वासनामय स्वाप्निक पदार्थों से रहित है। शून्यरूप एकमात्र आकाश की तरह पूर्ण अवभासवाला एक चिद्रूप आत्मतत्त्व ही परिशिष्ट है ॥२९॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

जगत् की भ्रान्ति का बीज तथा स्वरूप अहंभाव है, इसके परिमार्जन से जगत् के अभाव द्वारा शुद्ध परमात्मा के शेष रह जाने से कृतार्थता सिद्ध हो जाती है, यह वर्णन ।

'अहंभावचमत्कारमात्राद्वृष्टिरिवाम्बुदात्' यह जो ऊपर कहा गया है, इसमें उपपादकरूप से इन्द्र और त्रसरेणु की आख्यायिकाकी योजना करते हैं।

भुशुण्डजी ने कहा : हे विद्याधर, जहाँ पर अहन्ता रहती है वहाँ पर जगत् पहले ही से (🕮) आकर ऐसे बैठा रहता है, जैसे त्रसरेणु के भीतर परमाणु के अन्दर इन्द्र का साम्राज्य आदि प्रपंच ॥१॥ आकाश के वर्ण के सदृश आविर्भूत इस जागतिक भ्रम का अभिमानकर्ता अहंभाव ही आद्य मूल कहा गया है ॥२॥ वासनारूपी रस से सींचे गये अहंभावरूपी बीजकण से ब्रह्मरूपी पर्वत के ऊपर अव्याकृत आकाशरूपी जंगल में यह त्रिलोकरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है ॥३॥ इस वृक्ष के सभी तारे पुष्प समूह हैं, मेघमिहिकारूपी वन से ढके समस्त पर्वत इसके पल्लव हैं, गंगा आदि सब नदियाँ इसकी नाड़ियों के प्रवाह हैं तथा हे विद्याधर, वासनारूपी बीजांशों से परिपूर्ण अनेकविध भोग ही तो इसके सुन्दर फल हैं ॥४॥

अब अहंकार का महाजलरूप से तथा जगत् का उसके कार्यभूत तरंग आदि रूप से वर्णन करते हैं ।

हे विद्याधर, यह जगत् अहंकाररूपी जल का स्पन्द (विलास) कहा गया है। चिति के वैषयिक सुखरूपी माधुर्य से परिपूर्ण वासनाओं का प्रसार ही इसका द्रव है ॥५॥ तारों के समूहरूपी सीकरों की मूसलाधार वृष्टि करनेवाला तथा आकाश के कारण अनन्त सरोवरों से परिपूर्ण यह जगत् अहंकाररूपी महाजल का विलास है। नाना प्रकार के अनेक पर्वतोंरूपी तरंगों से समन्वित इसमें सम्पत्तियों और विपत्तियों के अनेक आवर्त उठते–रहते हैं ॥६॥ इसमें चित्रलिखित रेखाओं की नाईं तीनों लोक के जनसमूहरूपी रेखाएँ आविर्भूत हो रही हैं तथा सूर्य और चन्द्र आदि के प्रकाशों के कारण वह फेनयुक्त हो गया है। इसमें अनेकों ब्रह्माण्डरूपी बुलबुलों के उद्‌भेद उपस्थित है तथा कपाट की नाईं मोक्षद्वार को रोक रखनेवाले मोह से यह अभिवृद्ध है ॥७॥ भूपीठरूपी दृढ़ समुद्रफेन के पिण्ड से युक्त, अनेक जीवों के कारण जलकाकों से समन्वित तथा उनके नाना प्रकार के वेगपूर्वक ऊपर, नीचे, तिरछे भ्रमणों के कारण यह मज्जन और उन्मज्जनरूप है ॥८॥ यह जरा–मरण और मोहादिरूपी तरंगों के समूहरूप चमत्कार से परिपूर्ण है तथा उत्पत्ति और विनाशशील देहादि पदार्थरूपी बिन्दुओं के वृन्द से अत्यन्त सुन्दर है ॥९॥

(🕮) अभिनव स्वप्नप्रपंच में भी मैं पूर्वसिद्ध जगत् को ही देख रहा हूँ। यह सबको अनुभव भी है, इस अभिप्राय से 'पूर्वमागत्य तिष्ठति' यह उक्ति है ।

अब दूसरी रीति से जगत् का वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, तुम इस जगत् को अहंकाररूपी पवन का स्पन्द समझो तथा यह भी जान लो कि यह जगत् अहंकाररूपी कमल की सुगन्ध है ॥१०॥ पवन तथा उसके स्पन्द, जल और उसके द्रवत्व एवं अग्नि तथा उसकी उष्णता के सदृश यह अहंकार और जगत् सदा अभिन्नरूप है ॥११॥

परस्पर बीजता का वर्णन करते हैं।

हे विद्याधर, अहंकार के अन्दर यह जगत् तथा उस जगत् के अन्दर अहंकार स्थित है । ये दोनों परस्पर एक दूसरे को उत्पन्न करनेवाले तथा परस्पर एक दूसरे के अधीन स्थितिवाले हैं ॥१२॥

यही कारण है कि अहंकार के परिमार्जन से जगत् का परिमार्जन हो जाता है, यह कहते हैं।

जो मनुष्य जगत् के बीज इस अहंकार को अनहंभावरूप ज्ञान से नष्ट कर देता है मानों वह मल से परिपूर्ण जगद्रूपी चित्र को उसी ज्ञानरूपी जल से बिलकुल धो डालता है ॥१३॥

तत्त्वदृष्टि से अहंकार को असद्रूप देखना ही इसका परिमार्जन है।

इसलिए हे विद्याधर, परमार्थ में यह अहंभाव कुछ नहीं है। अवस्तुरूप होने से खरगोश के सींग के समान बिना कारण ही यह उदित है ॥१४॥

यह कैसे, इस पर कहते हैं।

सर्वत्र, व्याप्त, अनन्त, संकल्पों के उल्लेखों से शून्य ब्रह्म में अहंकार का कोई कारण ही नहीं है, अतः वह कभी भी सद्रूप नहीं है ॥१५॥ कारण रहते भी लोक में अवस्तु के लिए वह कुछ नहीं कर सकता, प्राकृत सर्ग आदि में तो कारण का संभव ही नहीं है । इसलिए वन्ध्या स्त्री के पुत्र की नाईं अहंभाव आदि कहीं पर हैं ही नहीं ॥१६॥ अहंभावादिरूप बीज के अभाव से यह जगत् भी नहीं है और इस जगत् के अभाव से कैवल्यरूपी निर्वाण ही चिन्मात्र अवशिष्ट है । अतः हे विद्याधर, शान्त ब्रह्मस्वरूप होकर तुम सुखपूर्वक बैठे रहो ॥१७॥ इस प्रकार उपपत्ति में प्रतिष्ठित जगत् और अहंकार के अभाव से बाह्यरूप, आलोक आदि संसार तथा आभ्यान्तर मानसिक संसार सब तुम्हारे शान्त हो चुके। इन तीनों से अतिरिक्त हेय कोई दुःख अब तुम्हें नहीं है, अतः हे विद्याधर, तुम शान्त बैठे रहो ॥१८॥ जो नहीं है वह तो सर्वथा नहीं है ही अतः विक्षेपादि दुःखरहित शान्त ब्रह्मरूप ही तुम हो। हे विद्याधर, इसमें सन्देह नहीं कि अब तुम अच्छी तरह प्रबुद्ध हो चुके हो, अब फिर तुम निर्मूल भ्रान्ति को मत अपनाओ ॥१९॥ बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यप्रपंच के कल्पनारूपी कलंक से शून्य अतएव शुद्ध, शिव, शान्त, नित्य ईश्वररूप ही तुम हो । हे विद्याधर, अध्यारोपदृष्टि से आकाश भी पर्वत के सदृश होता है तथा अपवाददृष्टि से तो ब्रह्माण्ड भी परमाणुरूप आकाश ही हो जाता है ॥२०॥

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ सर्ग

इस उपदेश को सुनकर विद्याधर की समाधि में लीनता तथा अनहंभाव की प्रशंसा द्वारा कथा की समाप्ति का वर्णन ।

भुशुण्डजी ने कहा : हे मुने, मैं यों कह ही रहा था कि उस विद्याधर नायक का समस्त दृश्यज्ञान शान्त हो गया नीर क्षीर के समान समाधिरूपी चित्त के परिणाम से युक्त हो गया यानी समाधि में लीन हो गया ॥१॥ तदनन्तर बार–बार मैंने उसे इधर–उधर से जगाया, लेकिन परम निर्वाणपद को प्राप्त वह फिर शब्दादि विषयों की ओर न गिरा ॥२॥ हे महर्षे, मुख्य अधिकारी होने के कारण मेरे सिर्फ उतने उपदेश से ही प्रबोधवान् होकर वह परमपदरूप स्थान को प्राप्त हो गया। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि किसी और अधिक अतिशयशाली यत्न से नहीं ॥३॥

अब महाराज वसिष्ठजी अपने पूर्वोक्त अर्थ में विद्याधर के चित्त का उदाहरण देकर वर्णन में शीघ्रता होने के कारण भुशुण्डजी की उक्ति को छोड़ करके भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के प्रति कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए पहले मैंने आपसे कहा था कि शुद्ध चित्त में उपदेश ऐसे फैलता है, जैसे कि जल में तैलबिन्दु ॥४॥

वह कौन–सा उपदेश है ? यह पूछने पर उसको कहते हैं।

हे श्रीरामजी, आपके चिदेकरस प्रत्यगात्मा में अहंकार का अंश बिलकुल नहीं है, अतः आप अपनी शान्ति के लिए असद्रूप इसकी भावना कभी मत कीजिये, बस यही मेरी सर्वोत्तम सारसंग्रहभूत उपदेश वाणी है और कुछ अन्य नहीं ॥५॥ यही अभव्य पुरुष के चित्त में पड़कर ऐसे नहीं ठहर पाती, जैसे कि उलटे चिकने साफ दर्पण में निर्मल मुक्ताफल नहीं ठहर पाता ॥६॥ परन्तु भव्य शान्तपुरुष के मन में जाकर शीघ्र लग जाती है और खूब चिपक जाती है तथा उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर यह सम्पूर्ण मोहरूपी जंगल को जलाने में समर्थ विचारनामक अग्निशिखा ऐसे पैदा करती है, जैसे कि सूर्यकान्त मणि के भीतर प्रविष्ट होकर सूर्य की किरण अग्निशिखा पैदा करती है ॥७॥ इस संसार के दुःखरूपी सेमर के वृक्ष का महान् बीज अहंभावना ही है तथा उस अहंभावना के समान ही 'यह मेरा है' यह भावना भी इस वृक्ष की मूल है, क्योंकि रागादिरूपी शाखाओं के प्रसार की कारण वही है ॥८॥

उसीको बतला रहे हैं।

बीजावस्था के स्थान में तो अहंभाव, इसके कार्यभूत वृक्ष के स्थान में ममभाव (यह मेरा है, यह भाव) तथा इस वृक्ष की शाखाओं के स्थान में इच्छा प्रवृत्त होती है, जो कि इदमर्थरूप अनेक अनर्थों तथा संसार को प्रदान करनेवाली है ॥९॥

इस तरह अपने पूर्वकथन का प्रकृत सम्मति से समर्थन करके फिर भुशुण्डीजी की कथा का ही

अनुसरण करते हुए महाराज वसिष्ठजी विद्याधर की कथा का उपसंहार करते हैं।

हे मुनिश्रेष्ठ, इस तरह मूढ़ भी कभी–कभी चिरंजीवी होते हैं, अतः दीर्घायु का कारण तत्त्वज्ञान है, यह कोई नियम नहीं है ॥१०॥

परन्तु शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष के ज्ञान में चिरकालिक अभ्यास ही कारण है, यह नियम तो है ही, इस आशय से कहते हैं।

चिरकाल के अभ्यास से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे महानुभाव तो थोड़ा भी उपदेश पाकर अभयप्रद परम पद को (ज्ञान को) प्राप्त कर लेते हैं ॥११॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरु पर्वत के शिखर पर इस तरह मुझसे कहकर विहंगों के अधिपति मुक्तात्मा भुशुण्डीजी ऐसे चुप हो गये, जैसे कि ऋष्यमूक पर्वत के ऊपर मतंग ऋषि के आश्रम में उनके शाप के भय से मूक होकर मेघ चुप हो जाते हैं ॥१२॥ हे श्रीराम, तदनन्तर उस सिद्ध भुशुण्डीजी से पूछकर उनकी आज्ञा से मैं उस विद्याधर के पास उक्त संवाद के विषय में पूछताछ करने के लिए चला गया। वहाँ से सारी बातें ठीक–ठीक जानकर मैं फिर मुनिमण्डलमण्डित अपने आश्रम में आ गया ॥१३॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, आज मैंने आपसे काकभुशुण्डीजी के द्वारा कही गई कथा से प्रतिपादित विद्याधर की परम विश्रान्ति, जो तत्त्व ज्ञान के कारण तत्काल ही उत्पन्न हुई थी, सुनाई। हे रामचन्द्रजी, इस वर्णित मेरे विहंगेन्द्र भुशुण्डजी के समागम के अनन्तर इस कल्प के ग्यारह दिव्य युग बीत चुके हैं ॥१४॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ सर्ग

अनहंभावरूप अग्नि से अहंभावरूप बीज के दग्ध हो जाने पर
देहादिसंसार का पूर्णरूप से बाध हो जाने के बाद यह संसार बिलकुल मिथ्या भासने लगता है, यह वर्णन।

सम्पूर्ण संसृति का मूल काम ही है, इसलिए अनहंभाव द्वारा सबसे पहले उसी की निवृत्ति कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इस तरह अनहंभाव के ज्ञान से शुभ और अशुभ फल देनेवाली तथा संसाररूप फल से परिपूर्ण इच्छा अन्तःकरण में ही शान्त हो जाती है, यह निश्चित है ॥१॥

काम का उपरम हो जाने पर लोभ आदि दोषों के क्षय से वैराग्य आदि सम्पत्ति द्वारा सम्पूर्ण मानसिक दुःखों का क्षय हो जाता है, यह कहते हैं।

अनहंभावज्ञान के अभ्यास से ढेला, पत्थर और सुवर्ण को एक–सा समझनेवाला मनुष्य सांसारिक पीड़ाओं से शान्त होकर फिर किसी की इच्छा नहीं करता ॥२॥

साधन सम्पन्न पुरुष को श्रवण आदि के द्वारा ज्ञानोदय होने पर ब्रह्म से अतिरिक्त अहमर्थ का, बाधसे असत्त्व ही पर्यवसित होता है, इस आशय से कहते हैं।

श्रवण आदि के द्वारा ज्ञाननिर्मथन के अभ्यास से अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्र के पुटक से अग्निज्वाला की नाईं आविर्भूत परब्रह्म साक्षात्काररूपी बोध के बल से फेंका गया अहमादि दृश्य पदार्थरूपी पाषाण, अग्नियन्त्र द्वारा फेंके गये पाषाण की तरह, उड़कर शीघ्र ही न जाने कहाँ चला जाता है ॥३॥

अन्तिम साक्षात्कारवृत्ति में आरूढ़ हुआ ब्रह्म ही अज्ञान, अहंकार आदि के निरास में समर्थ है, इस आशय से कहते हैं।

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटक से आविर्भूत ब्रह्मसाक्षात्काररूपी वीर के बल से फेंका गया अहमादि दृश्यपदार्थरूपी पाषाण न जाने कहाँ शीघ्र उड़कर चला जाता है ॥४॥

अज्ञान और अहंकार की नाईं व्यष्टिसमष्टिरूप स्थूल देह का भी निवर्तक ब्रह्म ही है, इस आशय से कहते हैं।

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटक से आविर्भूत हुए ब्रह्मसाक्षात्काररूपी वीर के बल से फेंका गया शरीरयन्त्ररूपी पाषाण उड़कर न जाने कहाँ शीघ्र चला जाता है ॥५॥

अथवा अनहंभावनावृत्ति में प्रतिफलित चिति से ही अहन्ता का नाश होता है, यही पक्ष रहे, इस आशय से कहते हैं।

अहमर्थरूप हिम अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्नि से भीतर विलीन होकर मानों उड़ करके न जाने कहाँ शीघ्र चला जाता है ॥६॥ अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्नि की ज्वाला से ब्रह्मविद्या के अधिकारी उत्कृष्ट ब्राह्मण आदि वर्ण तथा परिपाक के कारण पाण्डुवर्ण शरीररूपी पत्ते से अहंभावरूप रस अन्तःकरण में ही गल कर न जाने शीघ्र कहाँ चला जाता है ॥७॥

अथवा बाधित अहन्तादि की शून्यता नहीं है, किन्तु ब्रह्मता ही है, इस आशय से कहते हैं।

शरीररूपी पत्ते से भलीभाँति पिया गया अहंभावरूपी रसासव अनहन्तारूपी सूर्य की किरण द्वारा अपने कारणभूत सूक्ष्मरूपता को प्राप्त हो जाता है ॥८॥

तत्त्वज्ञान के बिना तो कहीं कभी किसी अवस्था में भी देह या अहंकार का आत्यंतिक उच्छेद नहीं हो सकता, क्योंकि परस्पर एक दूसरे के बीज होने के कारण परस्पर में उनकी भीतर सत्ता है, अतः जगद्भाव से इन दोनों की सर्वत्र उत्पत्ति है, यह कहते हैं।

तत्त्वज्ञान के बिना स्थूल, सूक्ष्म, निराकार, रूपान्तर को प्राप्त सुप्त, प्रबुद्ध, भस्मीभूत, घृत, आनीत, निमग्न, दूरस्थ या निकट में रहकर शयन, कर्दम, शैल, गृह, आकाश, स्थल तथा जल में जहाँ–तहाँ कहीं भी स्थित शरीररूपी वटधाना (बटबीज), जिसके भीतर अहंभावरूपी नवीन अंकुर उद्भूत है, क्षणभर में ही शीघ्र सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो जानेवाले इस संसाररूपी

शाखासमूह का विस्तार कर देती है ॥९–११॥

इस तरह अहंभावरूपी वटबीज के भीतर शरीररूपी महान् वृक्ष भी स्थित है, यह समझना चाहिए, यह कहते हैं।

अहन्तारूपी वटबीज के भीतर महान् शरीररूपी वृक्ष स्थित होकर जहाँ–तहाँ संसाररूपी शाखासमूह का खूब विस्तार करता रहता है ॥१२॥

वटादिबीज के दृष्टान्त से ही पूर्वोक्त अर्थ का अनुभव कराते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह प्रसिद्ध है कि जैसे बीज के भीतर सैकड़ों शाखाओं से विराजमान दलों, पुष्पों और फलों से समन्वित वृक्ष हैं, क्योंकि उसके रहने से ही तो अंकुरादि के रूप में निकलते हुए उसे सब लोग अपनी आँखों से देखते हैं वैसे ही अहंकाररूपी सूक्ष्म बीज के भीतर समस्त दृश्यों से युक्त यह देह है, इसे सूक्ष्मबुद्धिरूपी अपनी आँखों से विद्वान् पुरुषों ने ही देखा है ॥१३॥

इस तरह अविचार के फल सर्वत्र अनिर्मोक्ष को बतलाकर अब विचार के फल मोक्ष को बतलाते हैं।

श्रवण आदि विचारों से तत्त्वबोध होने पर चिदाकाशमात्र शरीरधारी जीवनमुक्त पुरुष के अहन्ता को न प्राप्त किये हुए विद्यमान भी शरीर से या निरतिशयानन्द पद में प्रतिष्ठित हुए विदेहयुक्त पुरुष के बोधरूपी महाग्नि से दग्ध हुए असद्भूत अहन्तारूपी बीज के जठर से यह संसाररूपी वृक्ष फिर कहीं नहीं पैदा होता ॥१४॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अठारहवाँ सर्ग

सर्वत्र आकाश में पवन द्वारा उड़ाये जा रहे मृत जीव के मन में स्थित अनन्त जगत् का वर्णन ।

'देहोऽस्त्यहन्त्वकणिकान्तरशेषदृश्यसंवित्परीत इति बुद्धिदृशैव दृष्टम्' यह जो ऊपर कहा गया है, उसमें कैसे और किस तरह की बुद्धिदृष्टि है ? इन दोनों का मृत जीव के वासनामय अनन्त जगत् के व्युत्पादन द्वारा समर्थन करने के लिए भूमिका रचते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, पामर मन ही, बुद्धि, अहंकार आदि समस्त वस्तुओं के नाश को मरणरूप से समझते हैं, वह वास्तव में मरण स्वरूप नहीं है। यदि वैसा मान लिया जाय, तो कृतहानि आदि दोषों की प्राप्ति अवश्य होने लगेगी। किन्तु मनुष्यादि शरीरों में आत्मभाव के कारण प्रारब्ध का क्षय होने पर उसके अनुरूप संकल्प के तिरोभाव के बाद देवादिशरीर में अहंभावादि के जनक कर्म की उत्पत्ति हो जाने पर उसके अनुरूप अपने दूसरे संकल्प का, उसके भोजक अदृष्ट क्षयपर्यन्त स्थिर रहना ही, मरण कहलाता है यानी अपने सम्पूर्ण संकल्पों का रूपान्तर में स्थित रहना ही मृत्यु है ॥१॥

ठीक है, ऐसा ही सही, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

हे श्रीरामजी, इस तरह तत्–तत् जीवों के संकल्प से कल्पित जगत् के भीतर स्थित हुए भी ये मन्दराचल और सुमेरु आदि दिशाओं में वायु द्वारा सर्वत्र इधर–उधर उड़ाये जा रहे, नदियों में प्रतिबिम्बित पर्वतों की नाईं, मेरे आगे दिखाई दे रहे हैं, आप भी देखिये न ॥२॥ केले के स्तम्भ के भीतर–भीतर छील–छीलकर देखने से प्राप्त दल के समान एक दूसरे के ऊपर–ऊपर स्थित हुए समान अदृष्टवाले जीवों के परस्पर मिले हुए तथा भिन्न अदृष्टवालों के न मिले हुए भी आकाश में अनेक संसार अवस्थित दिखाई देते हैं ॥३॥

उक्त अर्थ की असंभावना करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिनायक, 'पश्यमे पुरः उह्यन्त' इस वाक्य का पूर्ण अर्थ मैं कुछ भी नहीं जान रहा हूँ। अतः कृपाकर मुझे ठीक–ठीक समझाइये ॥४॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यह तो लोक और वेद में सब जगह प्रसिद्ध ही है कि मृत प्राणियों के प्राण आकाश में उत्क्रमण करते हैं। तो ऐसी दशा में यदि प्राण हैं, तो उनके भीतर चित्त और चित्त के भीतर विविधाकार जगत् भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि बीज के अन्दर वृक्ष *(इसकी आप संभावना कर सकते हैं)* ॥५॥

ठीक है, रहें, किन्तु वे दिशाओं में वायु द्वारा इधर–उधर कैसे पहुँचाये जाते हैं ? इस पर कहते हैं।

पुरुष के मर जाने पर उसके शरीर से उत्क्रान्त हुऐ प्राणवायु बाह्याकाश में पूर्ण पवनों के साथ ऐसे मिल जाते हैं, जैसे स्वरूपतः द्रुत होने के नदियों के जल समुद्र के साथ मिल जाते हैं ॥६॥ अतः आकाशवायु से विशेषतः आकृष्ट हुए उन प्राणों के अन्तर्गत एकमात्र संकल्परूप से स्थित अनेक जगत् भी इधर–उधर खूब भ्रमण करते हुए जो दिखाई दे रहे हैं वे ही मानों वायु द्वारा इधर–उधर उड़ाये जा रहे प्रतीत हो रहे हैं ॥७॥ स्फुरित हो रहे संकल्पों से परिपूर्ण प्राणवायु के सहित पवनों से इन सब दिशाओं को मैं चारों ओर से परिपूर्ण देख रहा हूँ ॥८॥ यहाँ मैं देख रहा हूँ कि इस संकल्प कल्पित आँगन में मेरे सामने ये अनेक मन्दराचल और सुमेरु पर्वत उड़ रहे हैं। हे श्रीरामजी, आप भी अपनी बुद्धिदृष्टि से देखिये ॥९॥ आकाश में विद्यमान वायु के भीतर मृत प्राणियों के प्राण, उन प्राणों में उनका मन और उसी मन में जगत् को हे श्रीरामजी आप ऐसे स्थित जानिये, जैसे तिल में तैल स्थित रहता है ॥१०॥

इतने बड़े वजनदार ये जगत् भला वायु द्वारा कैसे उड़ाये जा रहे है, इस पर कहते हैं।

आकाशवायु के द्वारा आकाशवायु के समान (लघु) मनोमय प्राण जैसे उड़ाये जा रहे हैं वैसे ही मन के अंगभूत ये अनेक जगत् भी उड़ाये जा रहे हैं ॥११॥ चार प्रकार के प्राणियों के तथा आकाश, पृथिवी आदि समूहों के सहित अप्रतिष्ठित ये तीनों लोक भी एक देश से

दूसरे देश में ऐसे सर्वत्र मेरे सामने उड़ाये जा रहे हैं, जैसे कि गन्ध ॥१२॥ हे रघुनन्दन, अपने स्वप्न में देखे गये नगरसमूह के तुल्य ये संकल्पकल्पित जगत् बुद्धिचक्षु से ही सामने दिखाई देते हैं, चर्मचक्षु से नहीं ॥१३॥ आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म संकल्पकल्पित ये मनोमय जगत् सब जगह सर्वदा ही हैं और कल्पनामात्र सार होने से तनिक भी कहीं नहीं पहुँचाये जाते हैं ॥१४॥ यद्यपि वे सब कल्पनामात्रसार होने से असत्यरूप ही हैं, अतः कहीं इधर उधर नहीं उड़ाये जाते, तथापि वे उन तत्–तत् जीवों के भोग्यरूप अपने अपने स्वर्ग, नरक, पृथिवी आदि लोकों में उनका दृढ़भाव होने के कारण एवं सुख, दुःख आदि भोगों की क्रिया में समर्थ होने के कारण सत्यरूप ही है क्योंकि उनकी सत्यता के सम्पादक अधिष्ठान चिदंश तो सर्वगामी ही है। इसलिए हे रघुनन्दन, जिस तरह मेरी दृष्टि से श्रवण आदि अर्थक्रिया में समर्थ मेरे सामने आप सत्यरूप दिखते हैं उसी तरह ये भी दिखते हैं ॥१५॥ सामने स्थित प्राणरूप नदी में वेग में प्रतिबिम्बित नगरों की ही नाईं वासनामात्र होने से अनाविर्भूत तथा आविर्भूत हुए ये अनेक जगह इधर–उधर पहुँचाये जाते हैं और नहीं भी पहुँचाये जाते ॥१६॥ हे राघव, जैसे वायु में स्थित सुगंध इधर–उधर ले जायी जाती हैं वैसे ही प्राणवायु में स्थित आकाशात्मक जगत् भी इधर–उधर ले जाये जाते हैं ॥१७॥

यही कारण है कि तीनों जगत् के भ्रमरूप से चित्त में स्पन्दन और भेद रहने पर भी आत्मा में स्पन्दन और भेद नहीं है, यह कहते हैं।

घट को देशान्तर में पहुँचा देने पर भी जैसे घट के अन्तर्गत आकाश में कोई भेद नहीं है, वैसे ही स्पन्दनमय चित्त में तीनों जगत् का भ्रम रहने पर भी आत्मा में स्पन्दन और भ्रम नहीं है ॥१८॥ जैसे मृत प्राणियों के प्राण में स्थित जगत् संकल्पमात्र होने से असद्रूप है, इसी तरह हे श्रीरामजी, आपका भी यह जगत् असद्रूप ही है। एकमात्र भ्रान्ति ही उदित हुई–सी है। परमार्थ में तो वह भ्रान्ति भी न तो नष्ट होती है और न उदित ही होती है। अर्थात् तत्त्वदृष्टि से देखने पर तो वह भ्रान्ति भी एकमात्र ब्रह्मरूपिणी ही है ॥१९॥

व्यवहार दृष्टि से जगत् और इसकी भ्रान्ति दोनों यदि वायु के भीतर उड़ते हुए ही उदित हैं, तो फिर हम लोग इस पृथिवी को निश्चलरूप से कैसे देख रहे हैं ? इस आशंका पर कहते हैं।

जगत् और इसकी भ्रान्ति ये दोनों उदित नहीं हैं, यह तो परमार्थ में निश्चित ही है। अथवा व्यवहार दृष्टि से यदि उदित हैं, तो भी वायु द्वारा किये गये इस पृथिवी के तत्–तत् भ्रमण, परिवर्तन आदि को इसके भीतर बैठे हुए हम लोग ऐसे नहीं देख रहे हैं, जैसे कि नौका में उत्पन्न हो रहे स्पन्द को उसके भीतर बैठे हुए मनुष्य नहीं देखते ॥२०॥

इसीको पुनः स्पष्टरूप से बतलाते हैं।

जैसे अंग में संलग्न नौका के भीतर स्थित मनुष्यों तथा उसमें जटित कील आदिकों को उसकी

गति लक्षित नहीं होती, वैसे ही पृथिवी के भीतर स्थित पार्थिव देहादिमय होते हुए भी हम लोगों को इसकी गति लक्षित् नहीं होती ॥२१॥

इस तरह 'पश्येमे पुरः उद्यन्त इव मन्दरमेरवः' इस अपनी उक्ति का श्रीरामचन्द्रजी से उपपादन करके, उपर्युपर्यन्तरन्तः कदलीदलपीठवत्' इस उक्ति में भी छोटे में बड़े के समावेश को पहले बड़े में अल्पत्व की कल्पना करके दिखलाते हैं।

छोटे–से वृक्ष स्तम्भ में विचित्र व्यूहरचनापूर्वक निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील शिल्पकार की बुद्धि से अल्पत्व की कल्पना द्वारा जैसे योजनों दूर तक विस्तीर्ण हुआ घर अनुभूत होता है, वैसे ही भीतर–भीतर अत्यन्त सूक्ष्म भी परमाणु में यह संसार बुद्धि से कल्पना द्वारा अनुभूत होता है ॥२२॥

अथवा परमाणु आदि में बृहद्रूप की कल्पना करके उसमें बृहत् जगत् के समावेश का अनुभव नहीं करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

तुच्छ विचारवान् पुरुष छोटी–सी भी वस्तु को बहुत बड़ी मान बैठता है, जैसे कि रत्नों के भण्डार में प्रविष्ट हुई धनसम्बन्धशून्य मूषिकाएँ (चूहियाँ) रत्नों को बहुत नहीं मानतीं, किन्तु सिर्फ एक अंजलीभर अन्न को ही वहाँ अपने बड़े भाग्य से प्राप्त हुआ बहुत समझती हैं अथवा छोटे–छोटे बच्चे पहने हुए अपने बहुमूल्य आभरणों को भी अधिक आदर की दृष्टि से नहीं देखते, किन्तु मृग या पक्षी के आकार के बने हुए नवीन नानाविध रंगों से रंगें गये चमकते हुए मिट्टी के पिण्ड को ही अपने खेलने की बहुत बड़ी चीज समझते हैं जिससे कि वे उस मिट्टी के खिलौने से लुब्ध होकर अपने बहुमूल्य आभरणों को भी उसके बदले में दे डालते हैं ॥२३॥

छोटे में बड़े का समावेश वस्तुतः नहीं हो सकता, भ्रान्ति से तो हो ही सकता है, इस आशय से कहते हैं।

अज्ञान से आवृत चिति के जगन्नामक भ्रम में असद्रूप ही पदार्थ में जीवित को यह लोक, मृत को परलोक तथा उनमें धर्माधर्म फल की जो कल्पना है वह वृद्धिदशा को प्राप्त चित्त की संकल्परूप एकमात्र भावना ही है। इसका तात्पर्य यह है कि भावना को वस्तु का अन्यथा भाव रोक नहीं सकता ॥२४॥

मूर्खों को भीतर–भीतर जगद्भ्रम की भावना बनी रहे, कोई हानि नहीं, परन्तु आप–जैसे सर्वज्ञ महानुभावों को भला भीतर–भीतर एक जगत् के पीछे दूसरा जगत् विद्यमान है, यह भ्रान्ति कैसे, इस शंका पर कहते हैं।

यह वस्तु हेय है और यह वस्तु उपादेय है, इस तरह की भेदभरी अज्ञता जिसके अन्दर उपस्थित है, सर्वज्ञ होते हुए भी उस पुरुष की, व्यवहार चलाने के लिए जब तक प्रारब्ध का बिलकुल क्षय नहीं हो जाता तब तक कुछ–न–कुछ, मूढ़ता उसके पीछे लगी ही रहती है ॥२५॥

यही कारण है कि सर्वज्ञ रहते हुए भी समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भ को अपने अवयवों की नाईं

भीतर में ही तीनों जगत् का दर्शन होता है, यह कहते हैं।

जैसे सचेतन लौकिक व्यष्टिपुरुष अपने हाथ, पैर आदि अवयवों का अपने भीतर ही अवलोकन करता है, वैसे ही समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भ भी अपने ही भीतर व्याप्त तीनों जगत् का अवलोकन करता है ॥२६॥

परन्तु माया उपहित ईश्वर ही इस तरह देखता है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, संविदात्मक, परमाकाश अनन्त, अज एवं अविनाशी ईश्वर है। उसी माया उपहित परमाकाशरूप ईश्वर के अवयवस्वरूप ये समस्त जगत् है ॥२७॥

प्रलयकाल में ईश्वर अपने अन्तर्गत समस्त जगत् को कैसे देखता है। इस आशंका पर कहते हैं।

यदि लोहे का गोला सचेतन हो, तो वह भी अपने अन्दर सूक्ष्मरूप से स्थित छूरे, सुई, कैंची आदि अपने भावी विकार को जैसे देख सकता है, वैसे ही समष्टिजीवात्मक ईश्वर भी अपने में लीन किये समस्त संस्कारों से समन्वित होकर तीनों जगत् के भ्रम को देखता है ॥२८॥ अधिष्ठान सद्रूप की प्रधानता से चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूप के प्राधान्य की विवक्षा से अचितिरूप मिट्टी का पिण्ड सकोरा आदि को जैसे अपना अंग मानता है वैसे ही सृष्टिजीवरूप ईश्वर भी जगत् को अपना अंग मानता है ॥२९॥ उपहित के प्राधान्य से चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूप के प्राधान्य से अचितिरूप अंकुर अपनी देह में जैसे वृक्षत्व मानता है, वैसे ही वृक्ष शब्दार्थ से रहित ब्रह्म इन तीनों लोकों को अपने में ही बाधित मानता है (卐) ॥३०॥

परिणामदृष्टि से जीव और ईश्वर के सृष्टि और सृष्टि के अभावकाल में जगत् के अवलोकन में दृष्टान्त कहकर विवर्तदृष्टि से भी कहते हैं।

जैसे चिति या अचितिरूप दर्पण बिम्बित या प्रतिबिम्बित नगर को अपने भीतर जानता है वैसे ही ब्रह्म भी तीनों जगत् को जीव और ईश्वर की उपाधि से उपहित दृष्टि से जानता है तथा अनुपहित शुद्ध दृष्टि से नहीं भी जानता है (▲) ॥३१॥

इस तरह श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्नों का समाधान देकर प्रासंगिक सभी बातें समाप्तकर, नाहन्त्वजगती भिन्ने पवनस्पन्दने यथा' इस पूर्व प्रस्तुत अर्थ का प्रकारान्तर से समर्थन करने के लिए अनुसन्धान करते हैं।

हे श्रीरामजी, देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही ये तीनों जगत् हैं और अहंकार भी इन देश,

---

(卐) विशेषता यही है कि जीवसंस्कारउपहितरूप से वृक्षशब्दादिसहित ब्रह्म अपने को मानता है तथा जीवसंस्कार से अनुपहित ईश्वररूप से वह अपने को वृक्ष शब्दादि के अर्थ से रहित यानी अनादि सिद्ध विद्या से बाधित मानता है।

(▲) देखिये श्रुति-'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि।

कालादि के साथ अभेद सम्बन्धाभिमान रखने के कारण देश, कालादि रूप ही है, अतः देश–कालादिरूप जगत् और अहंकार इन दोनों में भेद नहीं है ॥३२॥

इसीका अनुभव कराने के लिए श्रुति और मैंने मिट्टी के पिण्ड और लोहे के गोले आदि दृष्टान्त यद्यपि अचेतन है, तथापि उनमें चेतनत्वका आरोप करके एक देश के साम्य से उनका उपन्यास किया है, यह कहते हैं।

कल्पित जडात्मक लोहे आदि के उपमानरूप से जो मैंने उपदेश दिया है, वहाँ उपमा के केवल एक अंश से उपमेय के साथ सधर्मता, समानता है ॥३३॥ जो कुछ यह स्थावर–जंगमरूप जगत् दिखाई दे रहा है वह सब अपनी वास्तविक ब्रह्मभावरूप परमसूक्ष्मता का त्याग न कर रहे जीव का विवर्तरूप स्थूल शरीर ही है ॥३४॥

यही कारण है कि अधिष्ठानदृष्टि से समस्त विवर्तों का ज्ञान से बाध होने पर सब ओर शुद्धात्मा का प्रसार करनेवाले पूर्ण पद में किसी तरह से तनिक भी जीव जगत् का भेद नहीं है, यह कहते हैं।

सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान से बाध होने पर शुद्ध संस्पन्दन प्रदान करनेवाले आत्मपद में निःसंग पाषाणकोष की नाईं तनिक भी भेद नहीं है ॥३५॥

परन्तु ज्ञान से समस्त पदार्थों का बाध न होने पर तो सर्वदा सर्वत्र सम्पूर्ण विकल्पों के रूप से ही चिति विवर्तित होती है, यह कहते हैं।

अबाध दशा में जो–जो विकल्पांश जहाँ–तहाँ जैसे–जैसे जब–जब जिस–जिस रूप से मूढ़ों से दिया जाता है वह उसी रूप से चिति ही विवर्तित होती है ॥३६॥

मन में भी चिति का अनुप्रवेश रहने से ही विचित्र संकल्पों की सामर्थ्य होती हैं, स्वतः नहीं, इसलिए यह निश्चित है कि चिति में ही सम्पूर्ण विवर्त की स्वतन्त्रता निहित है, यह कहते हैं।

आकाश में अंकुर की नाईं चिति का अभाव रहने पर मन में किसी तरह का संकल्प नहीं उठता। चिति के उसमें अधिष्ठित रहने से ही नाना प्रकार से संकल्प मन में उठते रहते हैं, इसलिए हे श्रीरामजी, आप यह जान लीजिये कि इस संसार में जितनी कल्पनाएँ मन में उदित होती हैं वे सबकी सब चिति स्वरूप ही है ॥३७॥ अज्ञानी के हृदय में जो–जो विकल्पश्री उदित होती है वह सब चिदाकाश के सर्वगामी और अनन्त होने से सद्रूप नहीं है ॥३८॥ अज्ञानी में जिस तरह विकल्पश्री उदित होती है उस तरह प्रबुद्ध में वह उदित नहीं होती, यह निश्चित है। चिदाकाश के सर्वव्यापक तथा देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद से शून्य होने के कारण वह सद्रूप नहीं है ॥३९॥

यदि विकल्पश्री असद्रूप ही है, तो फिर बाल–गोपाल तक सभी को सत्य–सी इसकी प्रतीति कैसे होती है, इस आशंका पर कहते हैं।

जाग्रत काल की कल्पनाएँ ही सत्य प्रतीत होती हैं, यह बात नहीं है, किन्तु स्वप्नकाल आदि

की भी सभी कल्पनाएँ सत्यरूप प्रतीत होती हैं। यह बात बालक तक जानते हैं। परन्तु हे श्रीरामजी, स्वप्न में भ्रान्ति आदि में उपलब्ध हुए गज, रजत आदि पदार्थ किसी के भी द्वारा अपने भीतर सत्यरूप से गृहीत नहीं होते ॥४०॥

सत्यस्वरूप यह संसार भला असत्यरूप कैसे होगा ? इस आशंका पर कहते हैं।

जाग्रत् और स्वप्न के संकल्प, वासनामय सुषुप्ति तथा इन दोनों में प्रतिबिम्बित चिद्रूप भोक्ता जीव–ये दोनों पदार्थ सत्यकूटस्थ चिति के द्वारा अपने स्वरूप में चित्र की नाईं चित्रित हुए हैं, इसलिए चित्र संसार के सदृश यह संसार अधिष्ठानसत्ता से सत्यस्वरूप अनुभूत होता हुआ भी असत्यरूप जीव की ही दृष्टि में सत्यरूप हैं, अधिष्ठान सत् की दृष्टि में नहीं, क्योंकि उसके साथ तो उसका स्पर्श नहीं है। तात्पर्य यह कि जैसे चित्र में प्रतिबिम्बित या स्वप्न में देखे गये घोड़े, चित्र या स्वप्न के पुरुषों के ही चढ़ने के काम में आते हैं, इन दोनों के बाहर रहनेवाले सत्य पुरुष के चढ़ने के काम नहीं आते वैसे ही असत्पुरुष के लिए ही यह असद्रूप संसार भी है, सत्पुरुष के लिए नहीं है ॥४१॥ अथवा 'ब्रह्म वा इदमग्र् आसीत्' इत्यादि श्रुति से सत्यपुरुष में ही यह असद्रूप संसार, अपने अबोध के कारण, भले ही बना रहे, तथापि वह पुरुष तो नित्यमुक्त ही कहा गया है क्योंकि जिस तरह तत्त्वज्ञान के पहले सत्यस्वरूप वह ब्रह्म अपनी सत्यता को जगत् में संक्रमितकर स्वयं सत्यत्वनाम को प्राप्त होता है, वैसे ही तत्त्वज्ञान के बाद भी वह बाधित हुए जगत् से अपनी सत्ता को अपने ही में उपसंहार करके उसके असत्य नाम को भी स्वयं प्राप्त होता है। इसीलिए यह निश्चित है कि अधिष्ठानमात्र के परिशेष से अन्य दूसरी कोई प्रपंच की असत्यता कदापि नहीं कही जा सकती, क्योंकि आतिवाहिक देह के सहित अकेले एकमात्र अपने ज्ञान का परिक्षय होने पर पूर्णतारूप विकास से युक्त प्रत्यगात्मा ही शिवस्वरूप शेष रह जाता है ॥४२॥

यही कारण है कि अज्ञानदृष्टि से ही ये जगत् इधर–उधर उड़ाये जा रहे है, तत्त्वदृष्टि से नहीं यह जो पहले कहा है, उसका अब उपसंहार करते हैं।

इसलिए सेमल की रुई के समान आकाश में ये जगत् इधर–उधर वायु द्वारा उड़ाये जा रहें हैं, यह उक्ति भी अज्ञानियों की दृष्टि से ही है। परमार्थ में तो कल्पनामात्र होने से न तो ये जगत् हैं और न पत्थर की तरह इधर–उधर वायु द्वारा उड़ाये जा रहें हैं ॥४३॥ इस वर्णित रीति से अखिल पदार्थ–समूहों का ज्ञेयभूत अज्ञात प्रत्यगात्मरूप, परमार्थतः सर्वत्र व्याप्त तथा शून्याकाश के सदृश चिदाकाश में अविद्या द्वारा अनन्त जगत् स्थित हैं। वे कितने तो कुछ जीवों के भोजक अदृष्ट का साम्य होने पर जाग्रतअवस्था में ब्रह्माण्ड की एकता से परस्पर मिले हुए रहते हैं एवं अदृष्ट का वैषम्य होने पर तो ब्रह्माण्डभेद और स्वप्नावस्था में परस्पर मिले हुए नहीं भी रहते हैं ॥४४॥

उन्हींको विशेषरूप से कहते हैं।

ब्रह्म के सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण गुण, वस्तु, क्रिया और जात्यादि से अनन्तरूप,

नानाविध कार्यों का आरम्भ किये हुए दिगन्तों में संस्थित जनों से परिपूर्ण, चंचल जलाशय के भीतर प्रतिबिम्बित नगर के समान क्षणभंगुर अतएव अपने अन्तःकरण में स्थित, सम्पूर्ण सामग्रियों से भरे देव, गंधर्व आदि के नगरों के समान ये सब संसार हैं ॥४५॥ अनुवृत्त वस्तु के (ब्रह्म के) स्वरूप से निरन्तर स्थैर्ययुक्त भी व्यावृत्तभावविकारों के कारण क्षणभंगुर एवं जाग्रत्अवस्था में व्यक्ताक्ष (इन्द्रियों से प्रकट हुए) भी निमीलित (तत्त्वतः अप्रकट) तथा आत्मज्योति से प्रकाशयुक्त होने पर भी उसके अज्ञानरूपी तम से आवृत होने के कारण चारों ओर अन्धकार से आवृत हुए ये संसार चिद्रूपी समुद्र के तरंगों के विवर्तनरूप हैं ॥४६॥

पृथक्रूप से स्थित हुए इनके एकत्र मिलकर रहने में तथा एकत्र मिले हुए इनके पृथक्रूप से स्थित रहने में क्रमशः दो द्रष्टान्त कहते हैं।

जैसे नदीरूपी पात्र में पृथक्रूप से स्थित हुए भी जल सागर में बिलकुल मिले हुए रहते हैं तथा आकाश में एक ही समय में उदित हुए भी सब तारों के प्रकाश 'यह इसका प्रकाश है' इस तरह से विवेचन करने में अशक्य होने के कारण एक में सर्वथा मिले हुए भी एक के चलने पर दूसरे के न चलने में पृथक् स्थित हुए रहते हैं, वैसे ही पृथक्-पृथक्रूप से स्थित हुए भी ये सब संसार आत्मा में एकरूप से स्थित हैं ॥४७॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

जीव का स्वरूप, उसका तत्त्व, समष्टि-व्यष्टि शरीरों की कल्पना तथा
स्थान एवं कारणों की भिन्नता से भोग भेद - इन सबका वर्णन।

श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, जीव का जो स्वरूप है यानी शास्त्रीय व्यवहार में उपयोगी तथा जैसा पारमार्थिक उसका रूप है, उसकी स्थूल देह की जैसी कल्पना होती है, जिस रीति से उसकी परमात्मरूपता है तथा जो उसका स्थान हो, वह सब हमसे कहिए ॥१॥

मोक्षशास्त्र में जो समष्टिजीव प्रसिद्ध है, उसका परिशोधन हो जाने पर वह ब्रह्म के साथ अभिन्न बन जाने में योग्य हो जाता है, यह पहले बतलाते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अनन्त व्यापक जो चेतन ब्रह्म है, वही अपने संकल्प से प्राण द्वारा 'जीव' (📖) यों व्यवहृत होकर तथा चक्षु आदि द्वारा दूसरा 'चित्' नामवाला होकर

(📖) 'हन्ताहमिमास्तिस्रमो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि' इत्यादि श्रुति में प्रदर्शित निजी संकल्प द्वारा अपने से प्रकाशित होनेवाले सूक्ष्म भूतरूप उपाधि में प्रवेश से उसके स्तम्भक प्राणों के धारण से तथा 'जीव प्राणधारणे' इस धातु के अर्थ के अनुगम से प्राण के द्वारा परब्रह्म का जीवशब्द से व्यवहार किया गया है, यह भाव है।

जीवशब्द से कहा जाता है ॥२॥

उसका पारमार्थिक स्वरूप बतलाते हैं।

भद्र, जो परम अणुरूप नहीं है, जो स्थूल नहीं है, जो न शून्यस्वरूप है, जो शून्य आकाश के अन्तर्गत है, जो चिन्मात्र, अनुभवस्वरूप है और सर्वत्र व्यापक है, वही जीव कहलाता है ॥३॥ जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं से भी सूक्ष्म है, जो गुरुतर वस्तुओं में सबसे बढ़-चढ़कर गुरुतर (स्थूलतम) है, जो तुच्छरूप नहीं है और जो सर्वात्मक है, उसीको पण्डित लोग जीव कहते हैं ॥४॥

जीव की सर्वव्यापकता को अनुभव पर चढ़ाते हैं।

जिस–जिस पदार्थ का जो असाधारण स्वरूप है, उस–उस पदार्थ में उस–उस रूप से स्थित उसी जीव को ही आप जानिए, इसलिए उस–उस पदार्थ के रूप में जीव ही भासमान होता है क्योंकि बार–बार देखने पर तत्–तत् पदार्थों के आकार में ही उसका अनुभव होता है, यह अकाट्य नियम है। तात्पर्य यह है कि घट और चक्षु का सम्बन्ध होने पर चक्षु के द्वारा निकला हुआ अन्तःकरण स्ववृत्ति में सम्बद्ध घटावच्छिन्न जीवचैतन्य को ही 'यह घट प्रकाशित होता है' इस रूप से घटस्वभाव के तादात्म्यरूप से ही अनुभव कराता है ॥५॥ हे श्रीरामजी, अतएव समष्टिजीव जहाँ पर जिस रूप से संकल्प करता है, वहाँ पर उस रूप का हो जाता है, क्योंकि समष्टिजीव जो संकल्प करता है, वह सत्य ही होता है और व्यष्टिजीव जैसा रहता है, वैसा ही संकल्प करता है ॥६॥

ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकला कि जो चित्रविचित्र समस्त वस्तुओं का समष्टिजीव को भास होता है, वह भासरूप सर्ग पवन के स्पन्द की नाईं समष्टिजीव का स्वानुभव सिद्ध स्वभाव है, न कि बालक की यक्षभ्रान्ति के सदृश उपदेशाभ्यास से उत्पन्न है, यह कहते हैं।

जैसे पवन की संचलन क्रिया स्वभाव सिद्ध है, वैसे ही समष्टिजीव का चित्रविचित्र वस्तुओं का अनुभवात्मक सर्ग (संसार) स्वभाव ही है, यह अपने अनुभव से निर्णय कर लेना चाहिए, बालक की यक्षभ्रान्ति के सदृश इसका इस उपदेश से साधन करना नहीं चाहते ॥७॥

इसलिए मुक्ति, सुषुप्ति और महाप्रलय–काल में बाह्य आभ्यन्तर सभी पदार्थ चेतन में, जीवभाव के रहते भी, शान्त हो जाते हैं, यह कहते हैं।

जैसे संचलन क्रिया के न होने से अपना अस्तित्व रहते भी वायु असद्रूप बन जाता है, वैसे ही चित्र–विचित्र पदार्थों का प्रकाश न होने से मुक्ति आदि अवस्थाओं में अपना अस्तित्व रहते भी जीव ब्रह्मरूप बन जाता है ॥८॥

अब जीव किस–किस तरह के आकारों को ग्रहण करता है, इसको बतलाने के लिए सबसे पहले अनेक प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए तथा समस्त कल्पनाओं के मूलस्तम्भस्वरूप समष्टि अहंकार के अध्यास का दिग्दर्शन कराते हैं।

जो समष्टिजीव है, वह असल में चैतन्यघन का ही स्वरूपभूत है और 'अहम्' रूप से स्फुरित होता है, इसी से देश, काल, क्रिया और द्रव्य की असीम शक्ति का निर्माण (आविर्भाव) कर वह अवस्थित रहता है ॥९॥

अब सूक्ष्मभूतों के संस्कारों की उत्पत्तिरूप समष्टिचित्त की कल्पना बतलाते हैं।

अनन्तर देश, काल, क्रिया और द्रव्य से युक्त (संस्काररूप से थोड़ा–सा आविर्भाव होने के कारण युक्त) एवं उनसे अयुक्त (स्थूलरूप से भलीभाँति आविर्भाव न होने के कारण अयुक्त) स्वयं असत्य होती हुई भी सत्य वस्तु के सदृश स्फुरित हो रही, केवल असत्य स्वरूपवाली समष्टिचित्तरूपता के कारण तथा सूक्ष्मतम जल का सम्बन्ध होने के कारण हिम परमाणु के सदृश, असदाकार परमाणुरूपता का आत्मा में अवलोकन करता है यानी आत्मा को परिच्छिन्न समझ बैठता है। अपनी आत्मरूपता के विषय में, स्वप्न में अपने मरण के सदृश तथा स्वप्न में बाघ आदि रूपता के दर्शन से प्रतीयमान अपने हाथ, पैर आदि अवयवों की अन्यरूपता के सदृश उसकी (समष्टि चित्तरूप विष्णुरूपता की) भावना करता हुआ चेतन सत्ता को भूलकर उसी की कल्पना के पीछे–पीछे दौड़ता रहता है ॥१०–१२॥ अनन्तर इस तरह का जाना गया उक्त चेतन अपने स्वरूप में तत्काल स्थूलरूपता का (पंचीकरण से स्थूलता सम्पादन कर स्थूल समष्टि विराट्रूप होकर स्थूलरूपता का) अनुभव करता है और उसमें अपने समष्ट्यात्मक द्रवस्वभाव मन को चन्द्रबिम्ब के सदृश समझने लग जाता है, यही उसकी बुद्धिसमष्टिरूप ब्रह्मरूपता है ॥१३॥

विराट् देह में उसके भोग की उपपत्ति के लिए समष्टिरूप मन से आदित्यादि रूप पाँच इन्द्रियों और उनके स्थलभेद की कल्पना को कहते हैं।

अनन्तर चन्द्रबिम्बस्वरूप अपने स्वरूप में काकतालीय न्याय के सदृश अकस्मात् उत्पन्न हुई भिन्न–भिन्न पांच इन्द्रियों के रूप में यह स्वयं प्रकाशित होने लगता है ॥१४॥ इसके बाद पाँच इन्द्रियों के अलग–अलग पांच स्थानों के रूप में यह अपना अनुभव करता है और उनके स्थानभूत अलग–अलग रूप आदि के उपभोगद्वारों का भी अनुभव करता है ॥१५॥ पीछे आदित्य, दिशा, जल, वायु और पृथिवीरूप पाँच इन्द्रिय–स्थानरूप अवयवों से युक्त होकर रूप आदि पाँच विषयों का उपभोग कर रहा विराट पुरुष बन जाता है, यह विराट् पुरुष अनेक मानसिक विकल्पों के कारण अनन्त आकार की कल्पनाओं द्वारा अनन्त आकारों के विज्ञान से युक्त रहता है, इसका स्वरूप अव्यक्त है तथा समस्त विकारों से शून्य है ॥१६॥

उनके मनोमयरूप होने पर भी स्वतःसिद्ध ज्ञानैश्वर्य से एवं सब शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण वह जीव और ईश्वर दोनों रूप है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

यह मनोमयरूप से उदित हुआ हिरण्यगर्भ सर्वप्रथम परब्रह्म से आविर्भूत है, अतः आकाश के समान विशद, शान्त, नित्य, आनन्दस्वरूप एवं प्रकाशमय है ॥१७॥ समस्त प्राणियों का

समष्टिरूप अद्वय विराट् पुरुष परम परमेश्वररूप है और पंचभूतात्मा न होने पर भी पंचभूतात्मा के सदृश भासमान है ॥१८॥

ईश्वररूप होने से वह अपने आविर्भाव और तिरोभाव में बिलकुल स्वतन्त्र है, यह कहते हैं।

सर्वशक्ति–सम्पन्न होने से वह शीघ्र ही स्वयं आविर्भूत होता है, स्वयं विलीन हो जाता है, स्वयं विस्तार को प्राप्त होता है तथा स्वयं ही संकोच को भी प्राप्त हो जाता है ॥१९॥ अपने संकल्प से कल्पित अनेक कल्पों में तथा क्षणभर में वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं उदित होता है तथा पुनः पुनः उदित हो होकर वह फिर–फिर शान्त भी हो जाता है ॥२०॥ केवल मनोमात्रस्वरूपात्मक यह जीव ही सबके उपादानभूत ईश्वररूप प्रकृति का शरीर है और यही व्यष्टिरूप से सब जीवों का पुर्यष्टक (सूक्ष्म) शरीर भी कहा गया है ॥२१॥ यही अव्यक्त अनन्त आकाशात्मा परमेश्वर पिपीलिकादि सूक्ष्म देहों में सूक्ष्म, स्थूल पदार्थों में स्थूल, सबके बाहर और भीतर व्यक्तअव्यक्त, परमार्थ में किंचिद्रूप न होने पर भी व्यवहार में किंचिद्रूप यानी परिच्छिन्नरूप है ॥२२॥ हे श्रीरामजी, मूर्त एवं अमूर्तस्वरूप पंचज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियसहित प्राण, षष्टेन्द्रिय मन और अहंकार ये आठ उस पुरुष के अंग हैं ॥२३॥ उसीने अपने चार मुखों से शब्दार्थों की कल्पना से युक्त इन चारों वेदों का गान किया है। उसीने शास्त्रीय सदाचार आदि की मर्यादा इस ढंग से स्थापित की है कि आज भी ज्यों–की–त्यों व्यवस्थितरूप से चली आ रही है ॥२४॥ अनन्त आकाश इस पुरुष का मस्तक है, पृथिवी इसके पैर का तलवा है, मध्याकाश इसका उदर (♣) है तथा यह ब्रह्माण्ड इसका शरीर है ॥२५॥ अनन्त लोक इस विराट् पुरुष के पार्श्व के अवयव हैं, जल रक्त हैं, समस्त पर्वत मांसपेशियाँ हैं और निरन्तर बह रही ये नदियाँ इसकी नाड़ियाँ हैं ॥२६॥ ये सब समुद्र रक्तसंचय की पेशियाँ हैं, सभी द्वीप छः कोशों के वेष्टन हैं, दिशाएँ बाहु हैं और ये चमकते तारे (📖) रोमसमूह हैं ॥२७॥ आवह, प्रवह आदि उनचास पवन इसी प्राणवायु, मार्तण्डमण्डल इसकी क्रूर आँखें और बडवानल इसका चित्त है ॥२८॥ चन्द्रमण्डल ही इस विराट् पुरुष का जीव, श्लेष्मा, वीर्य, बल, चर्बी और संकल्पात्मक मन है तथा ब्रह्म ही साररूप आत्मा है ॥२९॥

बीजादिभाव भी मन का ही होता है, यह कहते हैं।

चन्द्ररूपी मन ही शरीररूपी वृक्ष का मूल, कर्मरूपी वृक्ष का बीज तथा सम्पूर्ण भाव पदार्थों का उत्पादन करने एवं अन्नादिरूप से वर्धन करने से आनन्द का कारण है ॥३०॥

वही विराट् शरीर में जीव है, क्योंकि अन्नरूप उसी से समष्टि प्राणों का धारण होता है, इस

(♣) देखिये यह श्रुति–'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ'।

(📖) यद्यपि छान्दोग्य श्रुति में 'लोमानि बहिः' यह कहा गया है तथापि दूसरी श्रुति के अनुरोध से यहाँ 'तारका' यह उक्ति हैं।

आशय से कहते हैं।

जो यह चन्द्रमण्डल है वही सम्राट जीव कहलाता है। अन्नमय व्यष्टि शरीरों का वह बीज है, प्राणहेतुक सम्पूर्ण कर्मों का मूल है और व्यष्टि मन का वही कारण (@) है ॥३१॥

उसीको फिर स्पष्टरूप से कहते हैं।

इस चन्द्ररूपी विराट् जीव से इन तीनों लोकों में सब जीव कर्म, मन, विषयभोग तथा मोक्ष प्रवृत्त होते हैं ॥३२॥ इस चन्द्ररूपी विराटजीव के संकल्पस्वरूप ही ये ब्रह्मा (%) विष्णु और भगवान् शंकर आदि देवता हैं तथा उसी के चित्त के चमत्काररूप ये सुर, असुर और पक्षी आदि नाना प्रकार के जीव-समुदाय हैं ॥३३॥

चित्तउपहित चिति के विवर्तरूप से चित्त की चमत्कारता को प्रकट करते हैं।

सृष्टि के आदि में चन्द्रमा की अत्यन्तसूक्ष्म अमृत कलात्मता को साक्षीरूप से जान रहा विराट् प्रजापति जब देवतादि के शरीराकार का संकल्प करता है, तब शीघ्र वह चतुर्मुखादि शरीरभाव में ही स्वयं सिद्ध की नाईं स्थित हो जाता है, तात्पर्य यह कि वह सत्यसंकल्पवाला होने से शीघ्र संकल्पितरूप में ही परिणत हो जाता है ॥३४॥ इसलिए, हे रघुद्वह, इस चन्द्रमण्डल को ही आप सम्पूर्ण जीवसमष्टिरूप विराट् जीव का स्थान और अपंचीकृत पंचभूतावयवयुक्त शरीर समझिये इसी का जाग्रदवस्थारूप से सबको अनुभव होता है ॥३५॥

चन्द्ररूपी विराट् जीव से व्यष्टि जीव का प्रसार जो पहले कहा गया है उसका उपपादन करते हैं।

चन्द्रमारूपी विराट्जीव से प्राणियों के जीवन के साधनभूत अन्न आदि सब पदार्थ, जो औषधियों में चन्द्रकलाओं के प्रसाररूप हैं, सर्वत्र प्रसृत होते हैं ॥३६॥ वे ही जीवित प्राणियों के शरीरों में जीव होकर जीते हैं और मन हो करके अनेक जन्मों के कारणभूत कर्म किया करते हैं ॥३७॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह नानाविध आचारों से युक्त असंख्य विराट् के शरीर तथा असंख्य महाकल्प बीत चुके हैं, आगे चलकर होंगे और इस समय हैं भी ॥३८॥ हे श्रीरामजी, ब्रह्म से अभिन्न, अतएव अवधिशून्य एवं महान् व्यष्टि और समष्टि के देहसम्बन्ध से युक्त इस अनुभवरूप अधिष्ठान-सत्ता से ही 'तद्विवर्तो विराट् पुरुषः' इस वर्णित रीति से सब देश और सब कालों में परम विराट पुरुष इस मायावृत ब्रह्म में अवस्थित रहता है ॥३९॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

(@) इसमें 'चन्द्रमा मनसो भूत्वा हृदयं प्राविशत्' यह श्रुति प्रमाण है।

(%) ब्रह्मा आदि के शरीर भी चन्द्ररूपी अमृत के परिणाम ही हैं। देखिये इस विषय में श्रुति क्या कह रहीं है - सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

बीसवाँ सर्ग

वासना, कर्म और इच्छा के अनुसार संकल्पों के सर्जन से व्यष्टिजीवों की समष्टि के साथ समता का वर्णन।

ब्रह्म विराट् पुरुष के सत्यसंकल्प के अनुसार ही विवर्त धारण करता है, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, पंचभूतात्मा विराट् पुरुष स्वयं जिस–जिस तरह की कल्पना करता है, उस–उस तरह से ब्रह्मरूप आकाश भी विवर्तभाव को धारण कर लेता है ॥१॥ चूँकि ब्रह्म पूर्व की उपासना से मिश्रित वासना से सृष्टि के आरम्भ में पंचभूतात्मक विराट्–स्वरूप बनकर उपासना के फलभूतपंचमहाभूतात्मक विषय–समष्टि का उपभोग करने में तत्पर हुआ है, अतः विद्वान् पुरुष समस्त जगत् को विराट् पुरुष का एक संकल्प ही मानते हैं ॥२॥ अतः मिट्टी आदि हेतुओं से उत्पन्न सकोरे आदि मिट्टी के स्वभाव से ही ओत–प्रोत रहते हैं, यह देखा गया है, अतः समस्त जगत् के पदार्थों का कारण विराट् होने से जगत् भी विराट् के स्वभाव से ओत–प्रोत है ॥३॥ जैसे विराट् पुरुष (समष्टिजीव) समस्त जगत् का निर्माण करता है, वैसा ही व्यष्टिजीव भी अपने में समस्त जगत् का निर्माण करता है क्योंकि मानसिक वृत्ति के अनुसार जब व्यष्टि जीव को बाह्याकार विज्ञान उत्पन्न होता है, तब व्यष्टिजीव भी समष्टिजीव के अनुसार तत्–तत् पदार्थों के स्वरूपज्ञान से युक्त रहता ही है ॥४॥ भद्र, तुच्छ से तुच्छ कीटादि तक और बड़े से बड़े रुद्र तक इस तरह का जगत्–रूपी भ्रम जो उत्पन्न हुआ है, वही यह सृष्टि है। जैसे छोटे से बीज में बड़ा वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही छोटे से छोटे अणुरूप आत्मा में यह विशाल पर्वतरूप भ्रम उत्पन्न हुआ है ॥५॥

ऐसा भले ही हो, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

कीट तक और रुद्र तक जितने व्यष्टिजीव हैं, वे सब अपने में जगत् का निर्माण करते हैं और ये सब परम सूक्ष्म शरीर के रहते भी अनन्त आत्मस्वरूप को समझकर ही, न कि समझे बिना निर्माण करते हैं ॥६॥ जैसे विराट् आत्मा में इस समस्त जगत् का विस्तार कल्पनावश हुआ है, वैसे ही सभी इन मच्छर आदि सूक्ष्म भूतों में जगत् का विस्तार हुआ है ॥७॥ भद्र, परमार्थतः न स्थूल है और न कुछ कहीं सूक्ष्म ही है, परन्तु भ्रान्ति से जहाँ कहीं जो कुछ बन जाता है, वहाँ वह तत्क्षण ही अनुभूत हो जाता है ॥८॥

व्यष्टिमन और व्यष्टिमन से उपहित जीव – इन दोनों का तो विराट् कारण है, अतः उनकी समानता कैसे ? इस पर कहते हैं।

मन चन्द्रमा से उत्पन्न हुआ है और मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है, समष्टि जीव से व्यष्टिजीव उत्पन्न हुआ है अथवा समष्टिजीव और व्यष्टिजीव दोनों की सत्ता एक ही है, अतः भेद का अवसर ही नहीं है, इसलिए उसमें कारणत्व का प्रसंग कैसे हो सकता है ? ॥९॥

इस तरह उपाधिरूप मन की कारणता का निरास कर अब उपहितजीव के प्रति कारणता का निरास करने के लिए उपाधि का स्वरूप बतलाते हैं।

सबसे पहले हिमकण के सदृश तथा शुक्र (वीर्य) रूप उपाधि से युक्त जीव होता है, यह मुनियों का मत है। इस शुक्रोपहित जीव से ही माता–पिता के मैथुन काल में अचल पूर्णानन्द ब्रह्म का भोगाकार वृत्ति में प्रतिबिम्ब पड़ने से रतिरूप आनन्द प्रवृत्त होता है, इसी आनन्द की एक मात्रा को लेकर दूसरे प्राणी अपने–अपने आनन्द का निर्वाह करते हैं। इस अर्थ की प्रतिपादक श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है ॥१०॥ उसी ब्रह्म के आभासरूप आनन्द का, जो शुक्रयुत जीवात्मक चैतन्य में स्थित् है, वीर्यरूप स्वभाव के द्वारा अनुभव करता है, उसी में तादात्म्याध्यासरूप तन्मयता धारण कर चिति तद्रूप बन जाती है ॥११॥ अनन्तर यह जीव चिति उस वीर्य में पंचभूतात्मक देहरूपता को धारण करती है, यही इसकी उपहितता है, ऐसी स्थिति में उसमें न तो कोई कारणता है और न कोई कार्यरूपता ही है ॥१२॥

यदि उपाधियुक्त स्वरूप में कोई भी कारण नहीं है, तो वह जीवों का अनागन्तुक स्वरूप स्वभावरूप ही माना जायेगा, स्वभाव तो किसी का चला जाता नहीं, ऐसी स्थिति में जीवों की मुक्ति ही नहीं होगी, इस प्रकार की आशंका कर कहते हैं।

आप जो इस औपाधिक रूप के विषय में कहते हैं कि वह अनागन्तुक जीव का स्वभाव ही है, वह आपका कथन किसी अर्थ से पूर्ण नहीं है यानी वह कोई मूल्य ही नहीं रखता, क्योंकि स्व और स्वभाव में कोई प्रतियोगी और व्यवच्छेद है ही नहीं। सारांश यह है कि स्वशब्दार्थ से युक्त जो भाव है, यही तो स्वभावशब्द का अर्थ है, यहाँ स्वशब्द का अर्थ यदि शुद्ध आत्मा मान लिया जाय, तो शुद्ध वस्तु अद्वितीय है, अतः न तो वह प्रतियोगी है और न उसका कोई व्यवच्छेद ही है, इसलिए अव्यावर्तक (किसी से भिन्नता न करनेवाले) स्वशब्दार्थ से भिन्न भावशब्दार्थ का निरूपण न हो सकने के कारण स्वशब्दार्थविशिष्ट भावशब्दार्थ का (स्वभावार्थ का) साधन करना ही नहीं बन सकता ॥१३॥

यदि स्वशब्द का अर्थ उपाधि से युक्त आत्मा मान लिया जाय, तो भी यह स्वशब्दार्थ से पृथक् भावशब्दार्थ नहीं पा सकता, जिससे कि स्वशब्दार्थ से भावशब्दार्थ में कोई विशेष बात आ जाय, यह कहते हैं।

उपाधि से युक्त जीव भी स्वयं उपहित–स्वरूप ही है, क्योंकि उसमें जीवत्वरूप उपहितरूपता ही विराजमान है अतः उपहितरूप को छोड़कर और कोई दूसरारूप, जो कि भावशब्द का अर्थभूत तथा स्वविशेष्यता के लिए योग्यता रखता हो, भीतर या बाहर यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। यही रूप– जैसे 'वायु बहती है' यहाँ पर क्रियारूप ही वायु का विकल्पवृत्ति से भेद मानकर 'बहती है' कहा जाता है वैसे ही 'जीवो जीवत्वम्' आदि द्वारा – धर्मधर्मिभावरूप भेद मानकर कहा जाता है ॥१४॥

यदि नित्य या अनित्य स्वभावभूत जीवस्वरूप नहीं है, तब वह है क्या चीज, जो संसार में फँस जाती है ? यदि यह कोई प्रश्न करे, तो इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह चीज अनिर्वचनीय अज्ञान से आवृत ब्रह्म ही है यानी अपने विपरीत स्वरूप का अवलोकन ही उक्त चीज है और यही संसार में फँसती है, यह कहते हैं ।

जैसे कुहरे से आच्छादित वस्तु का स्वरूपतः ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है, वैसे ही नीहार के सदृश स्वरूप–आच्छादन करनेवाले अज्ञान से आवृत आत्मा का भी स्वरूपतः ज्ञान न होकर जो विपरीत अवलोकन है, वही जीव का स्वरूप है, इसी से विषयात्मक वस्तुओं की ओर उसकी प्रवृत्ति झुकी हुई रहती है। जड़ इन्द्रिय आदिरूप अपने को मानकर जैसे जन्मान्ध पुरुष मार्ग को नहीं देखता, वैसे ही वह अपने स्वरूप को नहीं देखता ॥१५॥ जगत् के रूप में वर्धित अविद्याशक्ति के प्रभाव से तिरस्कृत अतएव अपनी एकता की द्वैतरूप में (द्रष्टा–द्रश्यरूप में) कल्पना कर उसीमें अभिनिवेश करके जीवात्मा बैठा रहता है । इसीलिए पवन जैसे अपनी स्पन्दनशक्ति नहीं देखता, वैसे ही अविद्याशक्ति से आवृत वह आत्मा अपने स्वरूप को नहीं देखता ॥१६॥

इसीलिए विद्या से अविद्या का विनाश सम्भव होने के कारण अनिर्मोक्ष दोष नहीं आ सकता, यह कहते हैं ।

मिथ्या विषयरूप, असत् तथा 'अयम्' रूप अज्ञानरूपी सबसे बड़ी गाँठ का जो भेदन है, वही मोक्ष है, यह मुनियों द्वारा कहा गया है ॥१७॥ इसलिए हे श्रीरामजी, सबसे पहले आप अज्ञानरूप घनमेघ से छुटकारा पाये हुए चैतन्य प्रकाशरूप बन जाइए, फिर अपने को अहंकार की उपाधि से परिच्छिन्न न समझिए यानी शोधित त्वंपदार्थरूप हो जाइए, फिर मूर्त, अमूर्त और मूल अज्ञान के बाध से युक्त निरन्तर उदितस्वभाव होकर नामशून्य, आनन्दैकरसघन एकमात्र चेतनरूप (शोधित तत्पदार्थरूप) हो जाइए और इस प्रकार होकर आप चारों ओर से पूर्ण बनकर स्थित रहिए ॥१८॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

शुभ और अशुभ दो तरह की ज्ञानबन्धुता है, इनमें शुभ ग्राह्य है और अशुभ हेय है, इसका यत्नपूर्वक लक्षणों द्वारा वर्णन ।

इन दोनों में पहले हेय ज्ञानबन्धुता का वर्णन करने के लिए भूमिका रचते हैं ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, मनुष्य को सदा ज्ञानी (卐) ही होना चाहिए, ज्ञानबन्धु (ᴥ) नहीं होना चाहिए । मैं अज्ञानी को अच्छा समझता हूँ, परन्तु ज्ञानबन्धुता को

(卐) ज्ञानी का लक्षण आगे चलकर बतलाया जायेगा ।

(ᴥ) ज्ञान के बहाने सत्कर्मों में श्रद्धा के त्याग से भोगों में लम्पट बनाकर जो अपने को और दूसरे को अनर्थों के द्वारा बाँध देता है, वह ज्ञानबन्धु कहा गया है ।

अच्छा नहीं समझता ॥१॥

श्रीरामजी ने कहा : हे मुने, ज्ञानबन्धु किसे कहते हैं और ज्ञानी कौन कहा जाता है तथा ज्ञानबन्धु होने में कौन फल मिलता है और ज्ञानी होने में कौन फल मिलता है, यह सब आप कृपाकर मुझे बतलाइए । प्रश्न करने का मेरा आशय यह है कि किस स्वरूप को प्राप्त करके मनुष्य ज्ञानबंधु होता है और किस स्वरूप को प्राप्त करके ज्ञानी कहा जाता है तथा इन दोनों के फल क्या हैं ? यह सब भलीभाँति मुझे बतलाइये ॥२॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, जो शास्त्रों को केवल अपने भोग के लिए शिल्पी की तरह पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है, परन्तु स्वयं जो ज्ञान के उपायभूत साधनचतुष्टय के सम्पादन और मनन आदि में प्रयत्न नहीं करता वह पुरुष ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥३॥ जिसका शास्त्राभ्यासजनित शाब्दिक बोध भोग–व्यवहारों में वैराग्योपरम आदि फलों से फलित नहीं दीखता वह तत्त्वकथाओं द्वारा दूसरों को ठगने के लिए चातुर्यपूर्ण बोधरूपी शिल्पकारी से अपना जीवन–निर्वाह करनेवाला होने से ज्ञानबन्धु कहा गया है ॥४॥ एकमात्र भोजन, वस्त्र आदि से सन्तुष्ट होकर भोजन आदि की प्राप्ति को ही जो शास्त्राध्ययन का फल मानते हैं, उस शास्त्रार्थ कथा का अभिनय करनेवालों को नटादि शिल्पियों के समान ही समझना चाहिए ॥५॥

शुभानामक दूसरी ज्ञानबन्धुता को लक्षण बतलाकर दिखलाते हैं।

जो शास्त्रार्थज्ञान के उचित, किये जानेवाले वेदान्तश्रवण में चित्तशुद्धि द्वारा अनुकूल निष्काम अग्निहोत्र आदि धर्मों में अथवा श्रुतिबोधित अपने अधिकार और कुलाचार आदि के उचित(📖) सत्कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है वह तत्त्वज्ञान का निकटवर्ती होने के कारण ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥६॥

अनात्मशास्त्रों के अभ्यास में तत्पर हुए भी पुरुष तत्–तत् अर्थज्ञानों से सम्बद्ध होते दिखाई देते हैं, उनके तुल्य ये श्रीरामचन्द्रजी न हों, इसलिए आत्मज्ञान में विशेषता दर्शाते हैं।

आत्मज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं, आत्मज्ञान से भिन्न जो अन्य ज्ञान हैं वे सब जगत् और जीव के अधिष्ठानभूत ब्रह्म के बोधरूप न होने से ज्ञानावभास ही हैं ॥७॥

अतएव उस तरह के ज्ञानावभास की प्राप्ति से सन्तुष्ट रहनेवालों में अशुभ ज्ञानबन्धुता ही है, यह कहते हैं।

दुष्ट अभिमान आदि दोष तथा पारलौकिक अनर्थरूप फल के लिए कष्ट चेष्टापूर्वक कर्म करते हुए जो आत्मज्ञान को न प्राप्त कर अन्य ज्ञानलेश की प्राप्ति से सन्तुष्ट रहते हैं वे अशुभज्ञानबन्धु कहे गये हैं ॥८॥

इसलिए जब तक सप्तमभूमिका की स्थिरता नहीं हो जाती तब तक मुमुक्षु को सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहना चाहिए, यह कहते हैं।

(📖) इसमें 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

बाह्य और आभ्यन्तर विषयों की अनेक वृत्तिरूप अज्ञान, इन वृत्तियों के कारण एवं आश्रय प्रमाता तथा इनके शब्दादि विषय और इन विषयों के प्रकाश–इन सबकी आत्यन्तिक शान्ति से होनेवाली पूर्णानन्दैकरस, स्वप्रकाश, ब्रह्मात्मैक्य की प्रतिष्ठा के बिना सिर्फ अवान्तर भूमिकाओं के लाभ से ''अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ' इस तरह सन्तुष्टबुद्धि होकर उत्तरोत्तर भूमिकाओं में पहुँचानेवाले प्रयत्नों से मुमुक्षु पुरुष को यहाँ शिथिल नहीं हो जाना चाहिए। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सम्पूर्ण विद्याओं में कुशल होते हुए भी अध्यात्मशास्त्र को छोड़ करके अन्य शास्त्रों में चातुर्यपूर्ण आसक्ति से ज्ञान की उपेक्षा द्वारा या अनधिकारी पुरुषों में ज्ञानोपदेश देने के कौशल के प्रदर्शन के द्वारा ज्ञानबन्धुता को प्राप्तकर उस ख्यातिलाभ आदि के द्वारा भोगरूपी सांसारिक रोगों में रमण न कीजिये ॥९॥

तब मुमुक्षु को किस तरह रहना चाहिए, इस पर कहते हैं।

इस संसार में मुमुक्षु पुरुष को अपने आहार की (हित, मित और मेध्य भोजन की) प्राप्ति के लिए श्रुति–स्मृति तथा शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित अनिन्द्य कर्म करना चाहिए तथा वह आहार भी अपने प्राणों के धारण के लिए ही करना चाहिए एवं प्राणों का धारण तत्त्वजिज्ञासा के लिए करना चाहिए और ऐसे तत्त्व की जिज्ञासा करनी चाहिए, जिससे कि फिर जन्म, मरण आदि दुःख की प्राप्ति न हो ॥१०॥

इक्कीसवाँ सर्ग संमाप्त

बाईसवाँ सर्ग

सबसे पहले अनेक युक्ति–प्रयुक्तियों से ज्ञानियों के लक्षणों का वर्णन तथा
प्रसंग से जीव, जगत् और ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन।

निष्क्रिय ज्ञान और उसका फल पहले बतलाया गया है, अब 'ज्ञानी चैव किमुच्यते', 'ज्ञानित्वेऽपि च किं फलम्' (ज्ञानी किसे कहते हैं और ज्ञानी बन जाने पर क्या फल होता है) इन प्रश्नों का उत्तर कहने के लिए सबसे प्रथम ज्ञानी के लक्षण कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, क्रमशः एक–एक के पीछे दूसरी–तीसरी भूमिकाओं के ऊपर चढ़ने से परिपक्व हुए तत्त्वज्ञान से ज्ञातव्य ब्रह्ममात्र में दृढ़ निष्ठा हो जाने के कारण जो पुरुष प्रारब्ध फल को भोग करते हुए भी शब्द आदि विषयों को और शब्दादि विषयाकारों मे एवं काम–संकल्पादि वृत्तियों में परिणत अन्तःकरण को वस्तुसत् नहीं समझता, *(क्योंकि तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाने के कारण उनकी केवल अनुवृत्तिमात्र ही रहती है)* वह ज्ञानी कहलाता है ॥१॥ जो ज्ञानी पुरुष अन्तःकरण के भोग्य विषयों में तथा उसकी चक्षु आदि द्वारा निर्गत ज्ञानात्मक वृत्तियों में साक्षीरूप से स्थित चैतन्यमात्र को यथार्थरूप जानकर बाधित दृश्य को वासनात्मना भी नहीं

देखता वह ज्ञानी है अथवा जिस तत्त्व के ज्ञात होने से चित्त की समस्त वासनाएँ निकल जाती हैं, उस तत्त्व को भलीभाँति जानकर स्थित हुए जिसकी सब प्राणियों के यथेष्ट व्यवहारों में भी अनुज्ञा (सम्मति) ही देखी जाती हो अर्थात् अपना धन आदिका अपहरण करनेवाले चोरों की प्रवृत्ति का भी जो अनुमोदन करता हो, वह ज्ञानी है ॥२॥ स्वाभाविक एकमात्र स्वात्मलाभ से युक्त जिस पुरुष की व्यवहारों में भीतर से शीतलता बुद्धिमानों द्वारा अनुभूत होती है वह ज्ञानी कहा जाता है ॥३॥

पुनर्जन्म का कारण जो अनादि अज्ञान है उसका निवर्तक तत्त्वज्ञान है, दूसरा नहीं, यह कहते हैं।

जो बोध पुनर्जन्म का हेतु नहीं है वही ज्ञानशब्द के लिए योग्य है, इसको छोड़कर दूसरा जो शब्दज्ञान का चातुर्य है वह केवल अन्न–वस्त्र प्रदान करनेवाला है, इसलिए इस तरह का ज्ञान शिल्पज्ञान के सदृश 'जीविका' शब्द के लिए योग्य है, न कि ज्ञान शब्द के लिए ॥४॥ प्रारब्ध के प्रवाह में जो भी कार्य आ जाय, उसके लिए जो मनुष्य काम और संकल्प को छोड़कर तत्पर रहता है और शरत्काल के आकाश के सदृश जिसका हृदय आवरणशून्य प्रकाशमान रहता है, वही ज्ञानी कहा जाता है ॥५॥

ये जो ज्ञानी के लक्षण बतलाये गये हैं उनकी युक्तिपूर्णता बतलाने के लिए तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण द्वैतवासनाओं की निवृत्ति कर देता है, इसका समर्थन करते हैं और इसी समर्थन के लिए असत्य अविद्यारूपता ही आखिर में बच जाने के कारण जगत् में न तो किसी तरह की हेतुता है और न सत्ता ही है, यह बतलाते हैं।

ये जो जगत् के नानाविध पदार्थ हैं वे किसी तरह के कारण के बिना ही उत्पन्न होते हैं और चूँकि कारण के अभाव रहते भी उत्पन्न हैं, इसलिए उनका अस्तित्व है ही नहीं। ये सब अविद्यमान ही विद्यमान की नाईं स्थित हैं ॥६॥

आगे के वृद्धि आदि भावविकारों में भी कारण के न रहने से ही असत्त्व समझना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

कारण के न रहने से अविद्यमान भी वे आविर्भाव, तिरोभाव, सत्ता, असत्ता, उत्पत्ति, नाश आदि विकारों से युक्त होकर विद्यमान–से हुए स्थित हैं, पीछे सृष्टिकाल में कारण के व्यापारों से वे परस्पर कारणता को प्राप्त होते हैं। यह बात सृष्टि के प्रारम्भ में नहीं हो सकती, क्योंकि प्रलय में बीज और अंकुर दोनों का भी अभाव है ॥७॥

इस समय दिखाई दे रहा भी बीज सद्रूप अंकुर का कारण है या असद्रूप अंकुर का कारण है ? सद्रूप अंकुर का कारण तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि सत् को कारण की अपेक्षा ही नहीं रहती, असद्रूप का भी कारण नहीं हो सकता, यह कहते हैं।

खरगोश के सींग आदि तथा मृगतृष्णा जल के समान विचार से अलभ्य इस जगत् का कारण

कैसा होगा ? जो पुरुष असत् खरगोश के सींग आदि के कारण की खोज करते हैं, वे वन्ध्यापुत्र के या उसके पौत्र के कन्धे के ऊपर मानों आरोहण करते हैं ॥८,९॥

द्वैत का निष्कारण अस्तित्व मानने पर अनिर्मोक्ष-प्रसक्ति एवं मोक्षशास्त्र में अप्रमाण्य आ जायेगा, इसलिए इन दोनों दोषों की निवृत्ति करने के लिए किसी कारण की अवश्य कल्पना करनी चाहिए, यदि यह कहिए, तो इस पर यही समाधान हो सकता है कि एकमात्र ज्ञान से निवृत्त होनेवाला मिथ्याभूत अज्ञान ही कारण है, यही कल्पना करना चाहिए, दूसरे किसी सद्रूप की नहीं, क्योंकि सद्रूप वस्तु की ज्ञान से निवृत्ति न हो सकने के कारण आपका अनिर्मोक्ष-प्रसंग ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, इस आशय से कहते हैं।

भद्र, मिथ्याभूत जो पदार्थ हैं उनका यही एकमात्र कारण है, जिसका कि नाम अनावलोकन यानी अज्ञान है और इस अज्ञान का ज्ञान-क्षण में तत्काल ही विनाश हो जाता है ॥१०॥

संसार अज्ञान का कार्य है और तत्त्वसाक्षात्कार क्षण में ही वह विनष्ट हो जाता है, इन दोनो बातों का अनुभव कराते हैं।

हे श्रीरामजी, यह जीव-जड़ अहंकार, देह आदि को स्वभिन्न जानकर तत्काल ही तद्रूपत्व के अध्यास-संस्कारों के उद्बोध से उनको आत्मा समझ बैठता है, वह यही इसका संसार है और जब अपने को सभी उपाधियों से विनिर्मुक्त चैतन्य-स्वरूप समझता है तब यही जीव सम्पूर्ण जगत् के सारभूत निरतिशय आनन्दरूप होकर बैठ जाता है, यही इसका मोक्ष है (📖) ॥११॥

उपर्युक्त श्लोक के पूर्वार्ध का विवरण करते हैं।

पूर्वोक्त रीति से अचेतन को यानी अहंकारादि शून्यरूपता को ही अपनी आत्मा में जान रहा यह जीव जागरुक होकर परमात्मरस के आवेश से परमात्मरूपता को ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे कि हेमन्त ऋतु में एक तरह से सोया हुआ आम वसन्त ऋतु में रसावेश के कारण पल्लवित एवं पुष्पित होने के बाद प्रबुद्ध-सा होकर सहकारशब्दवाच्यता को प्राप्त होता है ॥१२॥

उत्तरार्ध का भी विवरण करते हैं।

(📖) अथवा अचेतन यानी बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास इन तीनों से रहित कूटस्थ अद्वितीय चैतन्मात्रस्वरूप अपने को समझकर जीव ब्रह्मस्वरूप बनकर स्थित रहता है और अपने को चेतनरूप यानी बुद्धि, स्थूल देह एवं चिदाभासरूप समझकर तो जीव ही बनकर बैठता है यानी पूर्णभाव को प्राप्त नहीं करता । चेतन शब्द के जो तीन अर्थ (बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास हैं, वे व्युत्पत्तिभेद से किये गये हैं - (१) जीवः चेत्यते अनेन, (२) जीवः चेत्यते अस्मिन् और (३) चेत्यते इति चेतनम् । अथवा यह जीव अचेतनरूप घटादि विषयों में चक्षु आदि की वृत्तियों से जनित फलसम्बन्ध से शून्य होकर अपने को स्वप्रकाशचैतन्यरूप समझता हुआ परमात्मा बन जाता है और उससे शून्य न हुआ जीव ब्रह्मभावापन्न नहीं होता ।)

परन्तु चेतन को अपनी आत्मा में जानता हुआ यह जीव तो जीव ही बनकर जीवनों से जीर्ण बन ज़ानेवाले नानाविध योनियों के जन्मों में जर्जर होकर अवस्थित रहता है ॥१३॥

यही कारण है कि तत्त्ववेत्ताओं की चेष्टाएँ अभिमानरहित होने से अस्पन्दरूप ही हुआ करती हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, यह आप जान लीजिये कि जो परादृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं उनकी दृश्य–दर्शनाभिमानशून्य चेष्टाएँ, जल के नीचे की ओर बहने की नाईं प्रारब्ध कर्म का एकमात्र अनुसरण करनेवाली, अतः वे सदा अस्पन्दरूप ही रहती हैं ॥१४॥

जैसे दग्ध पट का दर्शन पटदर्शनरूप कभी नहीं होता किन्तु भस्मदर्शनरूप ही होता है, वैसे ही बाधित दृश्य श्री का दर्शन दृश्यातीत ब्रह्मदर्शनरूप ही होता है, अतः उनको द्वैतवेदन नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

दृश्य–सौंदर्य के पारदर्शी जो परादृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं उन्हें विद्यमान भी विस्तृत दृश्य प्रपंच का ज्ञान नहीं होता ॥१५॥

दृश्यदर्शन के अभाव में भी जल दृष्टान्त दिये गये हैं, इस आशय से कहते हैं।

हे श्रीरामजी, जो यहाँ ब्रह्मरूपी सर्वोत्कृष्ट दृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं, उनका स्पन्दन भी, जलकी नाईं, दृश्यप्रपंच का ज्ञान होने से स्पन्दनशून्य ही रहता है ॥१६॥

इसीलिए उन्हें कर्मबन्धन के सम्बन्ध का अभाव रहता है, यह कहते हैं।

चूँकि दृश्यदर्शन के अभिमान से वेष्टित वे नहीं होते, इसीलिए मुक्तबन्धन वृषभ के समान वे सांसारिक कर्मबन्धन के सम्बन्ध से शून्य रहते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रारब्धानुसार प्राप्त कर्मों में ऐसी चेष्टा किया करते हैं, जैसे वृक्षों के पत्तों में पवन ॥१७॥

पारलौकिक कर्मों की अपेक्षा तो उनसे बहुत दूर ही रहती है, इस आशय से कहते हैं।

जो इस संसार के पारदर्शी महानुभाव सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मदृष्टि को प्राप्त हो चुके हैं, वे कर्मों की उस तरह प्रशंसा नहीं किया करते, जिस तरह गंगाजी के तट पर निवास करनेवाला कूप की प्रशंसा नहीं करता ॥१८॥

अज्ञ पुरुषों के लिएं तो एकमात्र कर्म ही शरण है, यह कहते हैं।

हे निष्पाप श्रीरामजी, जो मूर्ख सांसारिक विषयवासनाओं में बँधे हुए रहते हैं, वे श्रुति एवं स्मृति से प्रतिपादित उचित कर्म की प्रशंसा किया करते हैं तथा तत्त्वज्ञान के अभाव से उसी कर्म के द्वारा फल का भोग पाते हैं ॥१९॥

क्या उनके लिए एकमात्र कर्म ही शरण है, इस आशंका पर कहते हैं।

अज्ञानियों की इन्द्रियाँ अधःपतन (卐) के हेतुभूत अर्थों के ऊपर इस प्रकार गिरती हैं, जिस

(卐) तात्पर्य यह कि सत्कर्म का अवलम्बन न रहने से अज्ञानियों का इन्द्रियों के द्वारा

प्रकार नीचे गिरे हुए मांस के ऊपर गीध गिरता है। इसलिए हे श्रीरामजी, विद्वान् को चाहिए कि वह अपनी उन सभी इन्द्रियों का मन से निग्रह करके आत्मज्ञान के समापन में लग जाय और उसीमें सदा तत्पर हो अवस्थित रहे ॥२०॥

जले हुए तथा न जले हुए पट में अवयवसाम्य की नाईं बाधितअबाधित जगत् के अवयवसाम्य का भान अज्ञानियों की तरह यद्यपि तत्त्वज्ञानियों को भी होता रहे, तथापि तत्त्वज्ञानियों के लिए तो वह एकमात्र ब्रह्मरूप ही है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे कटक, केयुर आदि रचनाविशेषरूप अर्थों से भिन्न सुवर्ण नहीं रहता, वैसे ही सृष्टिरूप अर्थ से रहित ब्रह्म भी नहीं रहता यों ज्ञानी-अज्ञानी को मान-साम्य है। किन्तु तत्त्वज्ञानी को सृष्टि आदि शब्दार्थ से रहित एकमात्र शिवरूप ही वह भासित होता है ॥२१॥

सृष्टिशब्दार्थ से रहित होने में प्रलय दृष्टान्त है, यह कहते हैं।

जिस तरह कल्प के अन्त में एकमात्र अंधकार के रहते ब्रह्मघन में निर्विभाग और निराभास ही सृष्टि रहती है उसी तरह तत्त्वज्ञानियों को असद्रूप भी यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही भासता है ॥२२॥

प्रलय में स्पन्दन की सत्ता नहीं है, यों असम्भावना करनेवाले के प्रति दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे आकाश में इधर-उधर चल रहे मेघों के उदर में उदर के अवयवों की अविभाग से उनकी अस्पन्दमयी तथा दिशाओं के विभाग से स्पन्दमयी-स्वानुभव चैतन्यरूप ही सत्ता, विरुद्ध धर्मों का एक काल में सम्भव होने के कारण, मानी जाती है वैसे ही प्रलयकाल में भी भूतों की ईश्वर की स्पन्दमयी सत्ता है, यह सम्भावना करना चाहिए ॥२३॥

वहाँ पर चिदाभास का स्पन्दन है, इसमें भी दृष्टान्त कहते हैं।

जैसे तालाब आदि के भीतर स्थित तरल जल तथा उसके अंशों का स्पन्दन द्वैताद्वैतमय है, क्योंकि तरलता के कारण भेद और अभेद का निर्वचन करना अत्यन्त कठिन है, वैसे ही ब्रह्म में तत्-तत् जीवरूप आभास भी ब्रह्मसंविदात्मक ही है ॥२४॥

निरवयव ब्रह्म में अवयवयुक्त जगत् के सद्भाव में भी दृष्टान्त देते हैं।

जैसे निरवयव आकाश में दिशाभेदरूप आकाश के अवयवों की अभिन्न सृष्टि भासती है, वैसे ही अवयवरहित ब्रह्मरूप आत्मा में यह द्वैताद्वैत सृष्टि भी अभिन्न रूप से विद्यमान है ॥२५॥

इसी रीति से पूर्वोक्त अहंकार और जगत्-ये दोनों एक-दूसरे के अन्दर स्थित हैं, यह समझ लेना चाहिए, यह कहते हैं।

इसी रीति से जगत् के अन्तर्गत अहंकार और अहंकार के अन्तर्गत जगत् ये दोनों परस्पर एक दूसरे में, केले के पत्तों के स्तर के समान, वेष्टित हैं ॥२६॥

अधःपतन हो ही जाता है। देखिये श्रुति क्या कहती है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अहंकारात्मक जीव अपने भीतर स्थित जगत् को बाहर देखता है, इसमें भी दृष्टान्त देते हैं।

जैसे हिमालय पर्वत अपने छिद्रों से निकले हुए जल को बाहर मानसरोवर आदि रूप में स्थित देखता है वैसे ही यह जीव भी अपने अन्तर्गत जगत् को इन्द्रियों तथा मानसिक वृत्तियों से बाहर स्थित-सा देखता है ॥२७॥ जैसे आपाततः भ्रान्ति से सुवर्णपिण्ड में भूत और भावी कटक, केयूर आदि आकार दिखाई पड़ते हैं, किन्तु सुवर्णमात्र दृष्टि करने पर दिखाई नहीं पड़ते, वैसे ही यह जीव बिना कारण के यानी एकमात्र भ्रान्ति से अपने को जगद्रूप से देखता है ॥२८॥

यही कारण है कि जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानियों की जन्म-मरणादिरूप सांसारिक स्थितियाँ अन्य दृष्टि से विद्यमान रहती हुई भी नहीं ही रहती हैं, यह कहते हैं।

इस जगत् के पारावारदर्शी जीवन्मुक्त महापुरुष जीवन धारण करते हुए भी वस्तुतः जीवन धारण नहीं करते एवं मरे हुए नहीं रहते भी वे मरे हुए-जैसे तथा उपस्थित रहते हुए भी नहीं-से रहते प्रतीत होते हैं ॥२९॥ जैसे घर के अन्दर स्थित भी पुरुष गोशाला आदि में आसक्तचित्त हो गृह कार्यों को नहीं देखता, वैसे ही ब्रह्म में आसक्तचित्त तत्त्वज्ञानी पुरुष देहयात्रा के निर्वाह के लिए कर्मों को करते हुए भी उन्हें नहीं देखता ॥३०॥

प्रासंगिक बातें समाप्तकर अब प्रस्तुत का अनुसन्धान कर रहे हैं।

जैसे ब्रह्माण्ड के हृदय में विराट्जीव चन्द्रमा स्थित है, वैसे ही प्रत्येक व्यष्टिदेह में हिमकण के सदृश वीर्यरूप जीव स्थूल में स्थूल एवं लघु में लघु रूप से स्थित है ॥३१॥

उस जीव के देहधारण का प्रकार बतलाते हैं।

पिता के हृदय में वीर्यरूप से अवस्थित अहंकारात्मा जीव माता की त्रिकोणाकार योनि में पिता के द्वारा निषिक्त होकर त्रिकोणाकार परिच्छिन्न कल्पना को प्राप्त होता है। तदनन्तर उस योनि में स्थित रक्त से मिल करके कललबुद्बुद् तथा पिण्ड आदि आकार-क्रम से आविर्भूत हो असद्रूप शरीर में सद्आकार 'अहम्' इत्याकारक अभिमान को चेतन होने के कारण मानने लग जाता है ॥३२॥ इस प्रकार त्रिकोणाकारोपलक्षित माता के गर्भ में, एकमात्र शुक्र ही, जिसमें सत् यानी अस्थि, स्नायु आदि कठिनांशरूप से स्थित रहता है ऐसे अपने कर्मों द्वारा निर्मित शरीर में कोशाकार कृमि की नाईं बद्ध होकर 'मैं जीव हूँ' इत्याकारक अभिमान से युक्तगत इस तरह अवस्थित रहता है, जिस तरह फूलों में सुगन्ध ॥३३॥

उसमें भी, चन्द्रकलाओं के चन्द्रबिम्ब की नाईं, हृदय में स्थित वीर्यकणों के भीतर अहंभाव की स्फुर्तियों की विशेषरूप से व्याप्ति होती है और उसके द्वारा सारे शरीर में सामान्यतः अहंभाव का विस्तार होता है, यह सब अपने एकमात्र अनुभव से ही सिद्ध है, यह कहते हैं।

वीर्य कणों के अन्दर स्थित संवित् पैर से लेकर मस्तक तक सारे शरीर में अहंभावरूप से इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्डमण्डप में चन्द्रमा की किरण ॥३४॥

उसके बाह्य पदार्थों के अवलोकन में द्वार बतलाते हैं ।

इन्द्रियों के छिद्ररूपी पनाले से बाहर निकला हुआ आभाससहित अन्तःकरणात्मक ज्ञानरूपी जल तीनों लोकों में स्थित सन्निकृष्ट बाह्य पदार्थों को ऐसे व्याप्त कर लेता है जैसे धूम्र मेघरूप से सारे आकाश को ॥३५॥

समस्त देह की अपेक्षा वीर्य में इसका विशेषाभिमान अनुभवसिद्ध है, यह बतलाते हैं ।

यद्यपि समस्त शरीर में बाहर और भीतर सर्वत्र वह ज्ञान रहता है, तथापि इस वीर्य में इसको सबसे अधिक अहमभिमान रहता है ॥३६॥

यही कारण है कि हार्दिक संकल्पपूर्वक ही सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों के व्यवहार प्रवृत्त होते हैं यह कहते हैं ।

इसी हेतु से संकल्पात्मक यह जीव हृदय के अन्दर रहकर जिस किसी वस्तु का संकल्प करता है, शीघ्र उसी रूप से बाहर स्पष्ट प्रसृत होने लग जाता है ॥३७॥

और इसी कारण से उस जीव का वह अहंभाव चित्त की ब्रह्माकार स्थिति के बिना हजारों अन्य उपायों से भी शांत नहीं होता, यह कहते हैं ।

यथास्थित यानी स्वभावसिद्ध चित्तवर्जित स्थिर ब्रह्मैकरसस्थितिरूपी ज्ञानदशा को छोड़कर और किसी भी दूसरी स्थिति से 'अहम्' इत्याकारक भ्रम शांत नहीं होता ॥३८॥ इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा निरंतर चिंतन की जा रही भी अपनी ब्रह्मचिंता अहंभाव की आत्यंतिक शांति के लिए उत्तरोत्तर भूमिकाओं में निर्विकल्प समाधि के परिपाक क्रम से चरम भूमिका तक आकाश के समान आपको बना देनी चाहिए । अतः इतने से ही संतुष्ट होकर आप बैठ मत जाइये ॥३९॥

तो क्या आप जैसे महानुभावों को भी वह वैसी ही सम्पादनीय है, इस पर नहीं यह कहते हैं ।

ब्रह्मज्ञानी लोग इस संसार में बाह्य तथा मानसिक दृश्य-दर्शन के अभिमान से शून्य कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से रहित एवं भाव्य और भावन से वर्जित ऐसे व्यवहार करते हैं, जैसे काष्ठ के पुरुष ॥४०॥ जिसके अंदर तुच्छ प्रपंच की भावना नहीं है, वह जीते-जी आकाश के समान विशाल, श्रृंखला आदि के बंधन से निर्मुक्त हुए की नाईं, स्पष्ट रूप से मुक्त कहा जाता है ॥४१॥

शुक्रांश के सम्बंध के वश से ही समस्त शरीर में अहंभाव का सम्बंध भी रहता है यह कहते हैं ।

वीर्यकणों के अंदर स्थित संवित् पैर से लेकर मस्तक तक समस्त शरीर में अहंभाव रूप से इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में सूर्य की प्रभा ॥४२॥

चक्षु आदि इन्द्रियों के रूप से तत्-तत् स्थानों में सम्बंध भी शुक्रात्मभूत ही जीव का रहता है, यह कहते हैं ।

चक्षु इन्द्रिय और चक्षुगोलक, स्वादेन्द्रिय और जिह्वास्थान, श्रवणेन्द्रिय और श्रवणस्थान-

इत्यादि सब वीर्य में स्थित वह संवित् ही होती है, इसीलिए स्त्री आदि का दर्शन, स्पर्शन, श्रवण आदि होने पर पहले की रूपादि पाँच वासनाएँ बांध कर समस्त इन्द्रियों के द्वारा जननिक कामोद्दीपन से उनमें निमग्न हो जाती है ॥४३॥ अज्ञानावृत चिति की विपरीत भावना ही सबसे पहले मन बनती है, फिर वीर्य में अहंभावरूप एक देश के द्वारा सारे शरीर में व्याप्त होकर तत्-तत् इन्द्रियभाव से इस तरह उदित होती है, जिस तरह पृथिवी में सर्वगामी भी रस अंकुर के रूप से वसन्त ऋतु में उदित होता है ॥४४॥

इसीलिए उसके प्रतिकूल यथार्थ भावना के बिना उस जीव के दुःखों का उपरम नहीं होता, यह कहते हैं।

जो पुरुष इस संसार में उत्पन्न मन, अहंकार, देहादि जगत्-पदार्थों में 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् नेह नानास्ति किंचन, अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा दिखलाई गई अभावरूप की भावना नहीं करता, फिर मोक्ष के अनुकूल यत्न से रहित उस पुरुषरूपी गदहे के जन्मादि अनन्त दुःखों की शान्ति कभी नहीं होती ॥४५॥

सारे सांसारिक पदार्थों में ब्रह्मरूप की भावना कर रहे पुरुष को तो बाह्य सर्वस्व का त्याग होने पर भी प्रारब्ध के कारण आकृष्ट हुए मनुष्यों के द्वारा भोजन, वस्त्र आदि के मिल जाने से तथा अपने भीतर स्वानन्दामृत-तृप्ति रहने से वैराजपद तक साम्राज्य सुख है ही, यह कहते हैं।

जिस किसीके द्वारा वस्त्र आदि से ढक दिया गया, जिस किसी के द्वारा खिला दिया गया तथा जहाँ कहीं सो जानेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष सम्राट् के समान शोभित होता है ॥४६॥ समग्र ब्रह्माकार वासनाओं से अथवा जले हुए वस्त्रों के तन्तुओं के आकार के सदृश जागतिक समस्त वासनाओं से युक्त हुआ भी तत्त्वज्ञानी पुरुष वासनारहित ही रहता है तथा अन्तःशून्य होता हुआ भी परिपूर्णात्मा वह आकाश के सदृश प्राणवायु से समन्वित रहता है ॥४७॥ षष्ठ आदि भूमिकाओं में प्रविष्ट होने के कारण आसन, शयन या यान में स्थित, निर्वाणदशा को प्राप्त अतएव मानसिक चिन्ताओं से सर्वथा अलग हुआ तत्त्वज्ञानी पुरुष निद्रालु की नाईं, अनेक तरह के यत्नों से जगाने पर भी नहीं जागता ॥४८॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वत्र व्याप्त भी संविन्मात्र वह पुरुष शरीर के स्फुटसार में (वीर्य में) इस तरह अवस्थित रहता है, जिस तरह पद्मकोश में गन्ध ॥४९॥

इस तरह व्यष्टि और समष्टि जीव-भावादि के वर्णन को परम प्रस्तुत विषय में संयोजित करके अपने उपदेशरूप सर्वस्व को संक्षिप्त करते हुए महाराज वसिष्ठजी कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संविद्मात्र ही जीव कहा गया है और उसी के विस्तार को तत्त्वज्ञानी लोग 'जगत्' समझते हैं यानी यह जो जगत् है, वह एकमात्र संविद्रूप जीव का विस्तार ही है। जब यह जीव आत्मनिष्ठ हो जाता है तब अजगद्रूप अपने परम पद को प्राप्त हो जाता है, बस यही सर्वोत्कृष्ट उपदेशस्थिति है ॥५०॥

दृढ़ वैराग्य होना ही साधन–रहस्य है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, समस्त सांसारिक विभव आदि भाव पदार्थों में विरक्त हो जाइये तथा पाषाण के समान अपने हृदय को बना करके ऐश्वर्य–प्राप्ति के लिए आप जिसरूप से तैयार हो रहे हैं वैसा ही सन्नद्ध रहिये ॥५१॥

'पाषाण के समान अपने हृदय को बना करके' यह जो ऊपर कहा है, उसे और साफरूप से कहं रहे हैं।

हे साधो, राघव, जैसे अचित्त्वशरीर पत्थर के हृदय का पोलापन अचिद्रूप होने से ही चिति के निवेश के लिए अवकाशअभावरूप अपोलापन प्रसिद्ध है वैसे चिन्मात्रशरीर आपका दहराकाशरूप हृदय सौर्षिय (हृदय पोलापन) चिद्रूप होने से ही अचिति के निवेश के लिए अवकाशअभावरूप चिति से निबिड़ित (सघन) अपोलापन की नाईं हो जाय (ꢀ) ॥५२॥

यही कारण है कि स्फटिक पत्थर में प्रतिबिम्बित मनुष्यों के व्यवहार कर्मों के सदृश ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में प्रतीति साम्य रहने पर भी सत्यत्व वासनाभावकृत विशेष है, यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी– दोनों के सम्पूर्ण भाव और अभाव रूप कर्मों में एकमात्र वासनाभाव के सिवा और कोई दूसरा विशेष नहीं रहता ॥५३॥ और इस तरह स्फटिक पत्थर में द्रष्टापुरुष की दृष्टि की नाईं चैतन्य की जो सत्ता है वही वासनाओं से दीपित होकर जगद्रूप हो जाती है और वासनाओं के अभाव से निमिषित यानी शान्त हो करके तो अपरिच्छिन्न परमतत्त्व–मोक्षरूप हो जाती है, जिसका दूसरा कोई नाम ही नहीं है ॥५४॥

इसलिए एकमात्र चिति की सत्ता ही नित्य है, यह कहते हैं।

यह सारा दृश्य प्रपंच पहले नष्ट होता है और नष्ट होकर फिर पुनः उत्पन्न होता है । परंतु हे श्रीरामचन्द्रजी, जो न तो कभी नष्ट हुआ, न उत्पन्न ही हुआ और सद्रूप है वही आप हैं ॥५५॥ हे श्रीरामजी, इस तरह के बोध से मूलअज्ञान का नाश होने पर अन्वेषण करने पर भी कहीं जगत्भ्रान्ति अस्तित्व नहीं रखती, और मृगतृष्णा जैसे जल प्रदान नहीं करती, वैसे ही यह संसार में अंकुर नहीं प्रदान करती ॥५६॥ आत्मपदार्थ के साक्षात्कार से काटी गई अहंभावना दिखाई देने पर भी भीतर में संसार को इस तरह उत्पन्न नहीं कर पाती, जिस तरह दग्ध कर दिया गया बीज अंकुर उत्पन्न नहीं कर पाता ॥५७॥

(ꢀ) अथवा हे साधो श्रीरामचन्द्रजी, आज तक चिदात्मा के अभिमान से शून्य होने के कारण अचित्त्व शरीर हुए आपका–अचिद्रूप अज्ञान से स्फटिक पत्थर के अन्दर कल्पित आकाश की नाईं–करोड़ों घनादिरूप भोग सामग्रियों के लाभ से भी परिपूर्ण नहीं हो रहा कामरूपी मन–छिद्र अब नित्यनिरतिशंयानन्द पूर्णात्मा के लाभ से पूर्ण काम हो जाने के कारण, बाधित हुए वास्तविक स्फटिकछिद्र की माईं, एकमात्र आनन्दघन हो जाय, यह आशय है ।

इसीलिए विहित कर्मों का अनुष्ठान करने या न करने पर तत्त्वज्ञानियों के लिए कोई विशेष बात नहीं निकलती, यह कहते हैं।

वीतराग, मानसिक विकारों से रहित तत्त्वज्ञानी पुरुष चाहे कर्म करे या न करे, इससे उसमें कोई नयी बात नहीं आती, वह तो सर्वदा ही संकल्पशून्य एवं नित्यमुक्त होकर अपनी आत्मा में ही स्थित रहता है ॥५८॥

मनयुक्त हठयोगी लोग शान्ति आदि गुणों के कारण अपनी आत्मा में क्यों नहीं स्थित रहते ? इस आशंका पर कहते हैं।

जो हठयोग से शान्त बने योगी लोग रहते हैं वे भी चित्त की उपशान्ति हो जाने पर ही भलीभाँति शान्त हो पाते हैं, अन्यथा नहीं क्योंकि उनकी भोगवासनाएँ बिलकुल मूल से छिन्न हुई नहीं रहतीं, इसमें कारण यह पड़ जाता है कि सम्पूर्ण वासनाओं का आधारभूत उनका चित्त तो बना ही रहता है ॥५९॥

चित्त, देह आदिरूप से जीव की जो एकरूपता है, वही ब्रह्म से जीव को भिन्न बनानेवाली और उसको संताप देनेवाली है और उसके अभाव में तो यह जीव ब्रह्म से अभिन्न एवं संतापशून्य ही बना रहता है, यह कहते हैं।

जीव ज्ञानी (शोधित त्वंपदार्थ), मूर्तिशून्य, (चित्त, देह आदि स्वरूप न हुआ) एवं शुद्ध चैतन्यप्रकाशरूप बनकर ही परमात्मा के साथ एकता प्राप्त करने के लिए योग्य हो जाता है। वही जीव अन्य होता हुआ भी उस परमात्मा से ऐसे अनन्य है, जैसे मध्याह्नकाल में सूर्य का प्रकाश सूर्य से अनन्य है ॥६०॥

आत्मा के उसी मूर्तिशून्य केवल चिदालोकस्वरूप का अनुभव कराते हैं।

पुरुष के शरीर से बहुत दूरी पर स्थित सूर्य, चन्द्र आदि मण्डलतक चक्षु आदि के द्वारा गये हुए चित्त की जो वृत्ति है, उसका मध्य में विच्छेद न रहने के कारण देह से लेकर सूर्यादिमण्डल पर्यन्त अविच्छिन्नरूप से अपरोक्ष चिति उसमें अभिव्यक्त है ही। यह वृत्ति देहप्रदेश तथा चन्द्रप्रदेश में यद्यपि विषयसहित है, तथापि मध्यभाग में उसका निर्विषयक जो रूप प्रसिद्ध है उसी रूप को परमात्मा का पूर्ण रूप समझना चाहिए (📖) ॥६१॥

निर्विषयक चिति का ही यह जगत् एक मायिक चमत्कार है, यह कहते हैं।

असीम और अनभिव्यक्त सुन्दर चिदाकाशरूप कपूर जो अपने भीतर स्वयं चमत्कार करता है, उसी को वह जगद्रूप से जानता है ॥६२॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह से यह संसार तत्त्वज्ञानी पुरुष को सांसारिक भ्रम के दूर हो जाने से प्रकाशमय, उपेक्षित दीप की नाईं, निर्वाण को प्राप्त अक्षय (परिपूर्ण) ब्रह्मरूप ही भासता है और अज्ञानी को तो परमार्थतः आकाश के उदर में स्थित

(📖) देखिये यह श्रुति – 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्'।

भी यह संसार सर्वनियन्ता परमेश्वर की समस्त नियन्त्रण व्यवस्थाओं से तथा भोगप्रीतियों से अनुगत ही भासता है। कहने का तात्पर्य यह कि यह जगत् भिन्न-भिन्न दृष्टिरूप ही है ॥६३॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

मरुभूमि के महावन में महाराज वसिष्ठ के साथ मंकिनामक ब्राह्मण का समागम तथा वैराग्य आ जाने से तत्त्वजिज्ञासु हुए उसका उपदेश, यह वर्णन।

'नीरसो भव भावेषु सर्वेषु विभवादिषु' इससे जो वैराग्य की दृढ़ता के लिए आवश्यकता बतलाई गई है उसको खूब स्थिर करने के लिए मंकि ब्राह्मण का उपाख्यान आरम्भ करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामचन्द्रजी, भलीभाँति आँखों के सामने दिखाई दे रहे इस स्वाभाविक अज्ञानादिरूप संसार से तत्त्वबोध द्वारा निकलकर आप मंकि के सदृश उत्तम लक्षणों से युक्त और वैराग्य की वासना से समस्त सांसारिक वासनाओं से निर्मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त हो जाइये ॥१॥ बहुत दिन पहले की बात है, प्राचीन काल में एक उत्तमव्रती मंकि नामक ब्राह्मण हुए थे, हे श्रीरामचन्द्रजी उन्होंने मेरे उपदेश देने पर कैसे निर्वाण पद की प्राप्ति की, उसे आप सुनिये ॥२॥ किसी समय पहले आपके पितामह अज ने किसी यज्ञादि रूप कार्य से मुझे निमन्त्रण दिया था, इसलिए आकाशमण्डल से इस पृथिवी पर मैं आया ॥३॥ आपके पितामह की नगरी अयोध्या में आ रहा मैं पृथिवी पर विचरते हुए महान् आतपों से युक्त किसी एक बड़े महाजंगल में पहुँच गया ॥४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह महाजंगल अविच्छिन्नरूप से धूलि उड़ने के कारण धूसर हो रहा था, वहाँ पर तप्त हुई रेत खूब चमक रही थीं, उसका और छोर कहीं नहीं दिखाई दे रहा था तथा वह कहीं-कहीं निकृष्ट ग्रामों से चिह्नित था ॥५॥ धूलि आदि के उड़ने से अक्षुब्ध हुए आकाश, झंझावात, धूप, मृगतृष्णा के जल और तप्त हुई पृथिवी की शान्ति से शोभायमान, विस्तृत, शून्य तथा दुर्गम होने के कारण जानेवालों के द्वारा किये गये महान् प्रयत्नों से युक्त निर्मल ब्रह्म सत्ता की नाईं वह महाजंगल था ॥६॥ मोह पैदा करनेवाली मृगतृष्णा-सी अविद्या के सदृश, भ्रम के कारण जड़ता को प्राप्त, बहुत दूर तक फैला हुआ, प्राणियों के संचार से शून्य तथा दिग्भ्रमरूपी कुहरा से वह व्याप्त था ॥७॥ उस महाजंगल में पहुँचने के बाद ज्यों ही मैं इधर-उधर विहार करने में प्रवृत्त हो रहा था, त्यों ही श्रम के मारे एक पथिक को कुछ कहते देखा ॥८॥

वह पथिक कह रहा था : अहो, जैसे दुर्जन पापी का समागम परिताप के लिए ही होता है वैसे ही प्रचण्ड तापयुक्त यह सूर्य भी अत्यन्त खेद पहुँचाने के लिए ही उदित हुआ है ॥९॥ सभी अंग एक तरह से गलते जा रहे हैं, इस ताप में मानों अग्नि प्रदीप्त हो रही है तथा संकुचित हो रहे

पल्लवोंवाली वनराजियाँ सन्तप्त हो रही हैं ॥१०॥ इसलिए छोटे-से इस अगले गाँव में प्रविष्ट होकर कुछ देर तक रहूँ। यहीं पर जल्दी थकावट मिटाकर फिर शीघ्रगामी मैं अपना रास्ता पकड़ लूँगा ॥११॥ ऐसा विचारकर जब वह आगे स्थित किरातों के एक छोटे-से गाँव में प्रवेश करने की इच्छा कर रहा था, तब तक मैंने उससे यह बात पूछ दी (☙) ॥१२॥ हे अकिंचन पुरुषों के संचारयोग्य मार्ग का परिज्ञान न रखनेवाले मरुमार्ग के, महाजंगल के पथिक, हे शुभकृते मेरे मित्र, *(यहाँ मेरे दर्शन से सभी दुःखों के मूल का क्षय हो जाने के कारण)* तुम्हारा स्वागत हो ॥१३॥ हे निम्नमार्ग के पथिक (△) पूर्व के गाँवों में अन्न-पान-आश्रय आदि के लाभ द्वारा कुछ विश्रान्तिसुख पा जाने पर भी अतिथियों का सत्कार करनेवाले पुरुषों से शून्य गाँव में रहकर इस मनुष्यदेहरूपी देश में आगे चलकर चिरकाल तक विश्रान्ति नहीं प्राप्त कर सकोगे (卐) ॥१४॥ पामरजनों के निवासस्थान गाँव में (📖) विश्रान्तिसुख नहीं मिलता। हे श्रीरामजी, यह निश्चित है कि नमक का पानी (▲) पीने से तृष्णा और बढ़ती जाती है, उससे प्यास नहीं बुझती ॥१५॥ ये सब पुलिन्द जाति के जन्तु लोग जंगली एक छोटे-से गाँव में रहते हैं, जनपद के स्पन्द से बहुत डरते हैं तथा उटपटांग मार्ग मे इधर-उधर मृगों की तरह घूमते-फिरते हैं (☘) ॥१६॥ पत्थर की बनी मूर्तियों की नाईं वे विचारों में स्फुरित नहीं होते यानी मूढ़ होते हैं, अनुभूतियों में खूब जलते हैं तथा दुराचार से वे कतई नहीं डरते (☾) ॥१७॥ काम और अर्थ में ही इनका सम्पूर्ण पौरुष परिनिष्ठित रहता है तथा मुग्ध बुद्धि वे आपातरमणीय कर्मों में ही रमण किया करते हैं ॥१८॥ दोनों कुल की

(☙) अर्थात् मैंने उसका भाग्योदयकाल जानकर उसके सम्पूर्ण श्रम का मूलोच्छेद करने के लिए आगे कही जानेवाली बातें पूछ दीं।

(△) हे अधराध्वग, इस सम्बोधन से उस समय महाराज वसिष्ठजी का आकाशमार्ग से गमन सूचित होता है।

(卐) यह ऊपरी अर्थ है। इसका मनोगत अर्थ यह है - हे अधरकर्म के पथिक, कर्मोपासना से लब्ध होनेवाले इस दक्षिणायन-उत्तरायन मार्गरूपी पथमें, स्वर्ग आदि भूमियों में कुछ-कुछ विश्रान्ति को प्राप्त करते हुए भी जन्मसमूहरहित मोक्ष की नाईं चिरकाल तक विश्रान्ति न प्राप्त कर सकोगे।

(📖) वास्तविक अर्थ यह है : कामद्वेष, आदिकों के निवासस्थान कर्तृ-करण संघात के आलय देव-मनुष्य आदि देह में विश्रान्तिसुख नहीं मिलता।

(▲) नमकीन विषयों के सेवन से विषयाभिलाषा और बढ़ती जाती है। सुनिये ययाति ने क्या कहा है-'न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥'

(☘) वास्तविक अर्थ यह है- ये काम आदि पल्लव की नाईं स्नेह-राग से युक्त है, विवेक स्पन्द से सदा डरते हैं तथा अशास्त्रीय मार्ग में खूब घूमते हैं।

(☾) विवेकज्ञान होने पर वे काम आदि स्फुरित नहीं होते, तत्त्वज्ञान का अनुभव हो जाने पर ये जलने लगते हैं तथा दुराचार से कभी तनिक भी भय नहीं करते।

विशुद्धता से विस्तृत, शीतल, उदार, ब्रह्मानन्दैकरसशालिनी प्रज्ञा इन लोगों में ऐसे विश्वास नहीं करती, जैसे मरुस्थल में मेघ माला ॥१९॥ अन्धकारावृत गुहा में अजगर होना अच्छा है, पत्थर के भीतर कीट होना अच्छा है तथा मरुस्थल में पंगु मृग होना अच्छा है, परन्तु ग्रामीणजन का (📖) साथ अच्छा नहीं है ॥२०॥ निमेषमात्र के लिए आस्वाद में मधुर, क्षणभर में ही बिगाड़ कर देनेवाले तथा प्राण लेने में सदा तैयार रहनेवाले ये ग्रामीणजन, मधुमिश्रित विषकण के समान हैं ॥२१॥ धुलिधूसर, तृण, पर्ण तथा वन में व्यग्र गाँव में होनेवाले ये अधार्मिक जनरूपी पवन जीर्ण–शीर्ण घरों में संचार करते हैं ॥२२॥

हे अनघ श्रीरामजी, इस तरह मेरे कहने के बाद मेरा आशय जानकर 'ये मेरा अवश्य उद्धार करेंगे' इसलिए मेरे वाक्य से भलीभाँति आश्वासन पाकर अमृतरूपी जल से स्नान किये हुए के सदृश उस मंकि ने मुझसे यह कहा ॥२३॥

उस पथिक ने कहा : भगवन्, आप कौन हैं ? आप पूर्णात्मा आत्मज्ञानी कोई महात्मा प्रतीत हो रहे हैं, क्योंकि आप अनाकुल होकर इस लोक को ऐसे देख रहे हैं, जैसे कोई पथिक ग्रामयात्रा को देखता हो ॥२४॥

पूर्णात्मा को ही हेतुओं के वितर्क द्वारा प्रकट करते हैं।

भगवान् क्या आपने अमृत का पान किया है या आप सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर है अथवा विराट् पुरुष है ? आप सब अर्थों से रिक्त होते हुए भी परिपूर्ण चन्द्रमा की नाईं शोभते हैं ॥२५॥ सांसारिक दोष दुःखों से शून्य हैं, निरतिशयानन्द होने से आप जीवन्मुक्तों के गुणों से परिपूर्ण हैं, देह आदि का कुछ भी अनुसन्धान न रहने से आप मदघूर्णित से मदोन्मत्त के समान है, आप स्थिर–से हैं, समष्टि में अपवाद तथा अध्यारोप दृष्टि से आप सब कुछ होते हुए भी नहीं है एवं व्यष्टि में अपवाद और अध्यारोप दृष्टि से आप सब कुछ नहीं होते हुए भी सब कुछ हैं ही ॥२६॥

इस प्रकार का मैं हूँ, यह तुमने कैसे जाना, यदि यह कहिये, तो इसका उत्तर यह है कि 'आपके रूप के अवलोकन से ही', यह सूचित करते हुए कहते हैं।

हे मुने, शान्त, रमणीय, प्रदीप्त, प्रतिघातरहित, सर्वथा निवृत्त तथा समस्त सामर्थ्ययुक्त जो रूप (๖) रहता है वैसा यह आपका रूप क्यों भासता है ? ॥२७॥ आप पृथिवी पर स्थित हुए भी समस्त लोकों के ऊपर आक़ाश में स्थित–से हैं। आस्थाशून्य रहते हुए भी आप मेरे समान लोगों का उद्धार करने में सघन आस्था से युक्त–से मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥२८॥ चन्द्रमा की नाईं विशुद्ध आपका अमृतमय मन चन्द्रमा की किरणों की तरह पदार्थों में प्रसृत नहीं है और न औषधि, वनस्पति, सोम, घी, दूध, अन्न आदि पदार्थों के रूप से उपभोग के योग्य

(📖) अज्ञानीजन का – यह तात्पर्यार्थ है ।

(๖) इसमें यह श्रुति प्रमाण है–'रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे'।

हैं जिससे नष्ट हो जायेगा । अतः आपका मन सदा ही परिपूर्ण स्थित है । तात्पर्य यह कि चन्द्रमा से भी बढ़कर आपका मन है ॥२९॥

और दूसरा भी चन्द्रमा के साथ साम्य तथा विशेषता बतलाते हैं ।

मुने, आप कलावान्, कलंकशून्य, भीतर से शीतल, प्रकाशमय, समरूप तथा रसायनप्रवाह पूर्ण , पूर्ण चन्द्रमा के सदृश भासते हैं (▲) ॥३०॥

इसी तरह हिरण्यगर्भ के साथ आपका सादृश्य तथा उससे बढ़कर आपमें विशेष गुण है, यह कहते हैं ।

अंकुर में काण्ड आदि फलपर्यन्त स्थित वृक्ष के रूप की नाईं हे भगवान्, सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमानता आदि गुणों से सम्पन्न आपकी आत्मा में ही यह संसारमण्डल सृष्टि योग्यरूप से स्थित मैं देखता हूँ। परन्तु इस संसारमण्डल की सृष्टि के लिए सत् और असद्भाव को मैं आपकी इच्छा में ही स्थित जानता हूँ। यदि आप चाहें तो आप भी संसार की सृष्टि अवश्य कर सकते हैं, परन्तु आप चाहते नहीं, बस यही तो आपमें हिरणयगर्भ से बढ़कर एक विशेष गुण है ॥३१॥

इस तरह प्रशंसा द्वारा अभिमुख किये गये महाराज वसिष्ठजी को अपनी वैराग्य आदि साधनसम्पत्ति से उपदेशयोग्यता दर्शाने के लिए अपने गोत्र, नाम आदि का बखान करता है ।

हे महाभाग, मैं शाण्डिल्य गोत्र में उत्पन्न मंकि नामधारी ब्राह्मण हूँ । तीर्थयात्रा करने की इच्छा से बहुत दूर तक जाकर मैंने अनेक तीर्थों के दर्शन किये । अनन्तर अब मैं बहुत देर से अपने घर को जाने के लिए उद्यत हूँ ॥३२,३३॥ हे मुने, इस ब्रह्माण्ड के उदर में बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर भूतों को देखकर विरक्तमन मुझे घर जाने की इच्छा नहीं होती ॥३४॥ भगवन्, इस दीन के ऊपर दया करके अपना नाम, गोत्र आदि कथनपूर्वक ठीक-ठीक इसे परिचय दीजिये (△) क्योंकि महात्माओं के चित्तरूपी सरोवर गम्भीर और निर्मल रहते हैं ॥३५॥ अपने दर्शन से ही मित्र बना लेनेवाले (आपके सदृश) महात्माओं के सामने सभी प्राणी, कमलों की नाईं, विकसित और आश्वासित हो जाते हैं ॥३६॥ कुछ विवेकसम्पन्न हुआ भी मेरा यह मन अज्ञानजनित प्रबल सन्देह बना रहने से बिना गुरुउपदेश के सिर्फ एकमात्र अपने विचारकौशल से संसार के भ्रम से उत्पन्न दुःख को समूल नष्ट करने में समर्थ नहीं है, यह मैंने बार-बार मनन करके निश्चय कर लिया, इसलिए पूर्ववर्णित मेरा उद्धार करने में सामर्थ्य रखनेवाले आप रहस्यज्ञान के अनुकूल उपदेश की अनुकम्पाओं से मोहजनित मेरे संशयों का उच्छेद कर दुःखनाश करने योग्य इस मेरे मन को बना दीजिये ॥३७॥

(▲) पूर्ण चन्द्रमा में भी कलंक रहता है, परन्तु आप कलंकशून्य हैं, यह एक आपमें अधिक गुण है ।

(△) कृपया सत्य आत्मा का मुझे उपदेश दीजिये, यह वास्तविक अर्थ है ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे महाबुद्धे, मैं ब्रह्मलोकवासी वसिष्ठमुनि हूँ। राजर्षि अज के याजनादिरूप किसी काम से आ रहा मैं इस मार्ग में उपस्थित हूँ ॥३८॥ हे पथिक, विषाद मत करो, तुम मनीषियों के रास्ते पर अब आ गये हो, लगभग तुम संसारसागर के दूसरे किनारे लग चुके हो ॥३९॥

मैं मनीषियों के रास्ते पर आ गया हूँ, इसमें कौन–सा मेरा परिचायक चिह्न है ? इस पर कहते हैं।

ज्ञानाधिकार प्राप्ति के भाग्य से हीन मनुष्य की वैराग्यविभव से उदार ऐसी मति, उक्ति तथा शान्तस्वरूप आकृति नहीं हो सकती ॥४०॥ जैसे धीरे–धीरे शाणपर घिसने से मणि निर्मलरूपता को प्राप्त होती है वैसे ही काषायों के परिपाक से चित्त विवेकता को प्राप्त होते हैं ॥४१॥ हे विप्र, तुम क्या जानना चाहते हो और कैसे संसार को छोड़ना चाहते हो, क्योंकि शिष्य गुरु से उपदिष्ट अर्थ को बार–बार परिशीलन करके ज्ञातांश को फिर प्रश्नावधारण आदि कर्मों से चूँकि सफल बनाता है, वह मैं समझता हूँ, अतः तुम्हें जो अपना अज्ञात और जिज्ञासितांश हो, वह कहो ॥४२॥ चूँकि शिष्य रागादिमलंशून्य वासना से युक्त रहता है, इसीलिए वह उत्तम वैराग्य आदि तीन साधनों से सम्पन्न मानस तथा नित्यअनित्य एवं सारअसार के विवेक में निपुण मति युक्त होता है। वही गुरुजनों के उपदेशरूपी तेज से शोकशून्य आत्मतत्त्व पद प्राप्त करने के योग्य है, दूसरा नहीं। इसलिए जन्मादि सम्पूर्ण दुःखों से तैर जाने की इच्छायुक्त बुद्धिवाले तुमसे सम्भाषण आदि करके मैंने अच्छी तरह समझ लिया है कि तुम मेरे उपदेश के अधिकारी अवश्य हो, इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ। अतः तुम अपना पूर्वोत्तर वृत्तान्त मुझसे बतलाओ ॥४३॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि के दोषों के सहित सांसारिक अपने दुःखसमूह का मंकि द्वारा वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, यों मेरे कहने पर उस ब्राह्मण मंकि ने मेरे चरणों पर लोटकर आनन्दजलपरिपूर्ण आँखों से युक्त हो मुझे मार्ग में ले चलते हुए यह कहना आरम्भ किया ॥१॥ मंकि ने कहा : हे भगवन्, संशय के उच्छेद के लिए उपदेश देने में कुशल साधु पुरुष के अन्वेषण में तत्पर हो मैंने दसों दिशाओं में, दृष्टियों की नाईं, खूब भ्रमण किया, परन्तु संशय का विनाशक कोई सज्जन पुरुष मुझे न मिला ॥२॥ आज आपको पा जाने से सुर, असुर, पशु, पक्षी आदि समस्त देहों के सारभूत ब्राह्मणदेहों में श्रेष्ठ अपने इस ब्राह्मण शरीर का फल ज्ञानाधिकारसम्पत्ति से मैंने पा लिया। हे भगवन्, दोषप्रद सांसारिक दशाओं को देखते–देखते खिन्न हो गया हूँ ॥३॥

हेतुओं के साथ खेद का ही विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

बार–बार जन्म और बार–बार मरणरूप संसार सदा दुःख के भ्रम से युक्त है ॥४॥

सदा दुःखभ्रमयुक्त ही यह संसार है, यह कैसे ? क्योंकि सुख भी तो संसार में अनुभूत होते हैं, इस आशंका पर कहते हैं।

संसार के सभी सुख भी आखिर में अवश्य दुःखदायी होने से अत्यन्त दुःसह दुःखरूप ही है। इसलिए हे मुने, मैं सांसारिक सुखों की अपेक्षा दुःखों को ही अच्छा समझता हूँ। जलचरों से जल की शीतलता जैसे निरन्तर अभ्यास के कारण सह ली जाती है वैसे ही अविच्छिन्न दुःखपरम्परा भी सुख के अभाव के अधिक अभ्यास के कारण दुःखपूर्वक मनुष्यों से सह ली जाती है, यह भाव है ॥५॥

अथवा अत्यन्त प्रबलदुःख का अनुबन्धी होने के कारण कोदो (एक प्रकार का मोटा अन्न) खाकर जीवन धारण करने में मनुष्यों को जो दुःख है उसकी अपेक्षा विष मिले हुए मिष्ठान्न भोजन के आस्वादजनित सुखो में कम दुःख है। विष मिले हुए उपभोगजनित सुखों में बुद्धिमान् को अधिक द्वेषबुद्धि रखना ही उचित है, यह कहते हैं।

हे सौम्य, आखिर में दृढ़ दुःखदायी होने से ये सुख ही मुझे ऐसे दुःखदायी हो रहे हैं, जैसे कि मानों मेरे लिए दुःख ही सुख हो गया हो। दाँत, केश और नाड़ियों के साथ अब मेरी अवस्था भी जीर्ण हो गयी ॥६॥ उत्तरोत्तर भोगों के उत्कर्ष स्थान में अभिलाषाएँ बाँधकर बैठी हुई मेरी बुद्धि परम पुरुषार्थ के साधन में किसी तरह का अभी उद्योग नहीं कर रही है तथा मेरा मन भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे रागरूपी पल्लवों से पल्लवित तथा अतीतकाल के करोड़ों बीत चुके भोगों के लिए शोक, मोह आदि कुत्सित संकल्पों के उपस्थित रहने से विवेकज्ञानशून्य हो गया है, यही कारण है कि वह अपने-अपने दोषादि के साक्षी के विवेक द्वारा प्रकाशित नहीं होता ॥७॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं।

हे मुने, मेरा यह मन पीपल आदि के उड़ रहे सूखे पत्तों आदि के संचय से गन्दे गाँवों के मध्य भाग की नाईं हो गया है तथा मेरी जीविका भी नानाविध भोगवासनारूपी दुर्गन्धों को अपने अंग में धारण करनेवाली गीधतुल्य इन इन्द्रियों द्वारा निकृष्ट गन्दे गाँव की स्थिति-सी हो गयी है ॥८॥ करंज आदि काँटेदार वृक्षलता के समान मेरी बुद्धि महाभयानक तथा कुटिल है एवं आयासयुक्त अज्ञानान्धकार से आच्छादित निरन्तर विषयों की चिन्ता से ब्रह्मसाक्षात्काररूपी प्रकाश के बिना ही मैंने अपनी सारी आयु व्यर्थ में ऐसे गँवा दी, जैसे दीपक आदि के प्रकाश को प्राप्त किये बिना अन्धकार से आवृत रात को आँखें व्यर्थ में गँवा देती हैं। हे मुने, शुष्कलता के सदृश यह तृष्णा न फूलती है, न फलती है और न विवेकरूपी रस को ही कुछ ग्रहण करती है, बार-बार व्यर्थ होने से यह नष्ट होकर भी नष्ट नहीं होती ॥९,१०॥

तुम्हारा कर्मों से ही उद्धार क्यों नहीं हो सकता, इस आशंका पर कहते हैं।

जो कुछ मैंने नित्य-नैमित्तक कर्म किया है वह पूर्वजन्म के दुष्कर्म की राशि में निमग्न हो

गया तथा भोगवासनारूपी बीज तो उत्तरोत्तर अनर्थ के हेतुभूत काम्यनिषिद्ध कर्म में ही मुझे प्रवृत्त करता है ॥११॥ पुत्र, कलत्र, बान्धव, चाकर आदि में आसक्ति रखने से यह जीवन भी जीर्ण हो चला, परन्तु हे भगवन्, मैं संसारसागर के पार न पहुँचा तथा भयदायिनी मेरी भोगों की आशा दिनों–दिन बढ़ती ही जाती हैं ॥१२॥ गड्ढे में उत्पन्न हुए कण्टक वृक्ष की नाईं, पुत्र, मित्र, पशु, धन आदि से कभी पूर्ण और कभी अपूर्ण स्वरूप घर में चिन्तारूपी ज्वर से विकार पैदा करनेवाली लक्ष्मी से समुत्पन्न महाविपत्तियाँ मैंने निःसन्देह गँवा दीं ॥१३॥ प्रचुर धन आदि से सम्पन्न तथा शस्त्र आदिकों के द्वारा घायल न हुए पुरुष को भी यह लक्ष्मी बार–बार लुभाकर बहुत दूर तक खींच जाकर के शत्रुओं तथा चोरों आदि के अधीन में पहुँचाती हुई सारी सम्पत्तियों के नाश एवं अस्त्र–शस्त्रों के आधातादि के द्वारा आखिर में दुःखप्रद बनकर धोखा देने में ऐसे समर्थ रहती है, जैसे सर्प के मस्तकमणि से प्रकाशमय हो रहा अन्धकारयुक्त गड्ढा, हृदय के भीतर रत्न लेने की स्फुरित हुई अभिलाषावाले तथा अपने अन्दर स्थित सर्प को न देखनेवाले पुरुष को अपने भीतर घुसाकर साँप के डँसने आदिरूप धोखा देने में समर्थ रहता है ॥१४॥ यह मेरा चित्त हजारों आशारूपी तरंगों से अस्वच्छ, चारों ओर इधर–उधर खूब दौड़–धूप लगाने पर भी अर्थ प्राप्ति से शून्य है, इसी से सूखे समुद्र के सदृश दुष्कर होने से भाग्यहीन तथा एकमात्र इन्द्रियों के वशीभूत हुए मुझे विवेकी लोग अपने समीप नहीं फटकने देते – मेरी उपेक्षा करते हैं ॥१५॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं।

कण्टकयुक्त, अपवित्र स्थान में रहनेवाला भीलावा के वृक्ष के समान असत् होने पर भी बड़े – बड़े कर्मों का आरम्भ करनेवाला, अर्जुनवात के समान सदा ही भ्रमणकारी मेरा यह मन मेरे अनेक बार मर जाने पर भी मरण को प्राप्त नहीं हुआ यानी इच्छितार्थ शून्य हो एकमात्र दुःख के लिए ही दौड़ता–फिरता है ॥१६॥

शास्त्रों तथा सज्जनों की संगति आदि उपायों से मन को रोक रखो, यदि ऐसा कहें, तो इस पर मेरा यह कहना है कि ज्ञानफलविवेकरूपी सूर्य के उदय से अज्ञानरूपी रात जब तक बीत नहीं जाती, तब तक शास्त्र तथा सज्जनों के सम्पर्करूपी चन्द्रमा एवं तारे आत्यन्तिक मनका भ्रम दूर करने में समर्थ नहीं हो सकते, इस आशय से कहते हैं।

हे मुनिवर, शास्त्र एवं सज्जन महानुभावों की संगतिरूप चन्द्रमा और तारों को धारण करनेवाली, अहंकाररूपी उल्लसित हो रहे बालकल्पित यक्ष से युक्त यह मेरी अज्ञानरूपी रात अभी तक क्षीण नहीं हुई है, क्योंकि अज्ञानान्धकाररूपी मतवाले हाथी के लिए सिंह तथा कर्मरूपी तृण के लिए अग्नि एवं वासनारूपी रात का विनाशक विवेकरूपी सूर्य का अर्थात् वासनारूपी रात के लिए सूर्यरूप विवेक का अभी उदय नहीं हो पाया है ॥१७,१८॥ हे भगवन्, यही कारण है कि चित्तरूपी

मतवाले हाथी ने अवस्तु को ही वस्तुवत् मान लिया है। हे मुने, ये इन्द्रियाँ मुझे काट खा रही हैं, न जाने मेरी क्या दशा होगी ? ॥१९॥ सेवादि के द्वारा वश में लाये गये प्राज्ञों या अन्यान्य उपायों से मैंने भवसागर तैर जाने के लिए जिस शास्त्रदृष्टि का आश्रय नहीं किया, वह शास्त्रदृष्टि भी वासना में आसक्त करानेवाली होकर दृष्टिविघात की नाईं मुझे अन्धा बनाने के लिए ही है ॥२०॥ इसलिए इस तरह चारों ओर से अनर्थों के कारण भयंकर भारी मोह में फँसे मेरे लिए संसारसागर से उद्धार पाने में कल्याणकारक जो कर्तव्य हो, सो कृपाकर कहिये, मैं आपसे विनयपूर्वक पूछ रहा हूँ ॥२१॥ हे भगवन्, शरत्काल के सदृश निर्मल, स्वच्छज्ञान, विवेकादि ज्योतिर्गणमण्डित साधु गुरु के प्राप्त होने पर आकाशतुल्य शिष्य के मोहरूपी कुहरे शान्त हो जाते हैं तथा सारी दिशाएँ-जैसे आशाएँ (मनोरथ) धूलि आदि मलों-जैसे रागादि-मलों से रहित हो जाती हैं, यह लोक में प्रसिद्ध साधुजनों के द्वारा कही गयी वाणी संसार के शान्तिदायक आपके उपदेश से मेरे लिए सत्य हो ॥२२॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पचीसवाँ सर्ग

अविद्या से उत्पन्न संवेदन आदि चार संसार के बीज हैं और
परमात्मा का तत्त्वज्ञान ही संसार और उन बीजों का विनाशक है, यह वर्णन।

इस तरह मंकि मुनि ने अपने संसाररूपी अनर्थ का वर्णन कर जब उसके निरास का उपाय पूछा तब 'उसके बीजों को जाने बिना संसार निरास के उपाय प्राप्त नहीं किये जा सकते' इस अभिप्राय से संसार के चार बीजों का महाराज वसिष्ठजी उपदेश देते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे मुने, संवेदन, भावन, वासना और कलना ये चार ही इस संसार में अनर्थ पैदा करनेवाले हैं। ये जितने शब्दों के अर्थ हैं, वे मिथ्याभूत अर्थों का ही अवलम्बन करते हैं और स्वयं भी मिथ्या हैं, इसलिए वे सब एकमात्र अविद्या में ही स्फुरित होते हैं। पहले पहले इन्द्रियों से जो विषयों का उपभोग होता है, यह उपभोग ही संवेदन कहलाता है, विषयों को जानने पर उनका जो बार-बार चिन्तन होता है, वह चिन्तन 'भावन' कहलाता है, बार-बार चिन्तन करने पर चित्त में एक तरह का जो दृढ़ विषयलांछन उत्पन्न हो जाता है, वही विषयलांछन वासना कहलाती है और उस वासना से मरणकाल में भावी शरीर के लिए जो स्मरण होता है, उसको कलना कहते हैं ॥१॥

जो ये चार संसार के बीज हैं, उनमें आदि के दो तो अत्यन्त अनर्थरूप है और अन्तिम के दो उनके पीछे-पीछे चलने के कारण अनर्थरूप हैं, यह कहते हैं।

मुनिवर, वेदन और भावन- ये दो तो समस्त दोषों के आश्रय हैं यानी अत्यन्त ही अनर्थरूप हैं, तथापि भावन में तो उस प्रकार सब आपत्तियाँ विद्यमान रहती हैं, जिस प्रकार पुष्प, पल्लव आदि से

समृद्ध लताएँ मधुमास के लतारस में विद्यमान रहती हैं ॥२॥ यह अतिगहन जो संसारमार्ग है, उस पर वासना के आवेश से चल रहे जीव के प्रति ही चित्र–विचित्र अर्थों के समूह से परिपूर्ण टेढ़े–मेढ़े अनेक वृत्तान्त आते–जाते रहते हैं ॥३॥

इसीलिए विवेकी पुरुष का विषयों में दोषभावना और ब्रह्मभावना से इन बीजों का विनाश हो जाने पर वासना के साथ–समस्त संसार नष्ट हो जाता है यह कहते हैं।

विवेकी पुरुष का संसारसम्भ्रम तो, वसन्त के अन्त में पृथिवी के रस के सदृश, धीरे–से वासना के साथ नष्ट हो जाता है ॥४॥

वासना ही आगे का संसार भी बनाती है, यह कहते हैं।

जिस प्रकार वसन्त ऋतु की रसलेखा वन में फैलनेवाली कदली का विस्तार करती है, उसी प्रकार इस संसाररूपी कण्टकपूर्ण गुल्म का वासना ही विस्तार करती है ॥५॥ जैसे पृथ्वी में मधुमास का रस वन बनकर स्थित रहता है, वैसे ही चिति में (अज्ञानाश्रय जीव–चैतन्य में) वासनारूपी रस संसाररूप अन्धकार बनकर उदित होता है ॥६॥

परमार्थ वस्तु का अपलाप करनेवाले अज्ञान को बतलाने के लिए पहले परमार्थ वस्तु का कथन करते हैं।

द्वैतरहित निर्मल चैतन्यमात्र वस्तु को छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ जगत् में नहीं है, क्योंकि चैतन्य की सत्ता और चैतन्यप्रकाश इन दोनों से ही जगत् की सत्ता और जगत् का प्रकाश होता है, यह सर्वानुभव सिद्ध बात है। जैसे आकाश शून्यरूपता को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, वैसे ही असीम आत्मा में स्वतः सत्ता–स्फूर्ति को छोड़कर दूसरी कोई चीज प्रसिद्ध नहीं है ॥७॥ इस तरह चारों ओर निरन्तर प्रकाशित हो रहा 'चिन्मात्ररूप वेदनात्मा देह–इन्द्रिय आदि से भिन्न नहीं है, इस प्रकार उसकी सत्ता का भान न करानेवाली अनादि जो प्रतिभारूप भ्रान्ति है, वह भ्रान्ति ही आवरणशक्ति की प्रधानता से अविद्या, विक्षेपशक्ति की प्रधानता से भ्रम और फलरूप से वस्तुतः संसाररूप हुई है ॥८॥

अविद्या से साधित वस्तु का परिणाम दिखलाते हैं।

बालक को वेताल की तरह, सत् की नाईं भासित हो रहा असद्रूप यह संसार परमात्मतत्त्व के अज्ञान से सिद्ध है। अतः वह परमात्मतत्त्व के ज्ञानरूप प्रकाश से ही क्षणभर में नष्ट हो जाता है ॥९॥

भेद पैदा करनेवाली दृश्यरूप उपाधियों का बाध हो जाने पर सभी ज्ञानों में एकता आ जाती है, यह दिखलाते हैं।

भेद पैदा करनेवाली दृश्यरूप उपाधियों का आत्मतत्त्व के ज्ञान से बाध हो जानेपर सम्पूर्ण दृश्य, पदार्थों के ज्ञान बोधरूप से ऐसे एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जैसे धरातल के सम्पूर्ण नदियों

के प्रवाह सागर में जाकर समुद्ररूप से एकता को प्राप्त हो जाते हैं ।।१०।।

'चिन्मात्रादमलाच्छून्याद्दते किंचिन्न विद्यते' यह जो कहा है इसका दृष्टांतों से उपपादन करते हैं ।

जैसे मिट्टी के बर्तन मिट्टी से शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते, वैसे ही सत्‌चिन्मात्रमय सांसारिक विषय भी चिति से शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते ।।११।।

विचार करने पर चिन्मयरूप से स्फुरित हो रहे पदार्थों की चिदैकरसता ही अन्त में चलकर प्राप्त हो जाती है, इस आशय से कहते हैं ।

जो वस्तु तत्त्वज्ञान से ज्ञात होती है वह ज्ञानस्वरूप ही कही जाती है, क्योंकि विरुद्धरूप होने से ज्ञान का अभाव ज्ञानरूप से नहीं जाना जाता । इसलिए ज्ञेय और ज्ञान, ये दोनों एकरूप हैं ।।१२।।

यदि द्रष्टा आदि त्रिपुटी के बोध से आध्यासिक अभेद कोई कहे, तो उसके मिथ्याभूत होने से एकमात्र अधिष्ठान ज्ञानैकरसता ही उसमें सिद्ध हो सकती है, इस आशय से कहते हैं ।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों में प्रत्येक में एकमात्र बोध (ज्ञान) ही सार है, इसलिए उससे अन्य, आकाश में फूल की नाईं, कुछ भी नहीं है ।।१३।।

जो एक जाति के पदार्थ हैं, वे ही एक दूसरे में मिल जाने पर एकरूप हो जाते हैं, यह बात जल के साथ जल के मिल जाने पर देखी गई है, इस स्थिति में जगत् जब जगदनुभवरूप है और सभी अनुभव जब एकरूप हैं, तब तो अन्त में चैतन्य की एकता ही सिद्ध हुई, यह कहते हैं ।

जल आदि एक जाति के पदार्थ अपनी जाति के दूसरे जल आदि के साथ मिल जाने पर एकता को प्राप्त करते हैं, यह बात सिद्ध है । इसलिए अनुभव भी परस्पर मिल जाने से एकरूप हो जा सकते हैं, अतः चिदेकत्व निश्चय सिद्ध है ।।१४।।

काष्ठ आदि दृश्य पदार्थों का स्फुरण के साथ अभेद न मानने पर खरगोश के सींग के समान उनका अत्यन्त असत्त्व ही हो जायेगा, यह कहते हैं ।

यदि लकड़ी, पत्थर आदि को बोधरूप न माना जाय, तो उनका खरगोश के सींग के सदृश, कभी ज्ञान ही, नहीं हो सकेगा ।।१५।।

अपने सिद्धान्त में तो दोष नहीं है, यह कहते हैं ।

यद्यपि अपने सिद्धान्त से यह दृश्यप्रपंच एकमात्र बोधरूप अतएव बोध से अनन्य ही सिद्ध है, तथापि अज्ञान के कारण अन्य के सदृश होकर बोध से प्रकाशित होता है ।।१६।।

ऐसी स्थिति में 'जगत् बोधरूप ही है, बोधानतिरिक्त (बोधरूप) प्रकाशवाला होने से जो जिससे अनतिरिक्त (अभिन्न) प्रकाशवाला होता है, वह तद्रूप ही होता है, जैसे वायु का स्पंदन वायुरूप होता है' यह अनुमान फलित हुआ, यह कहते हैं ।

जैसे वायु स्पन्दनरूप है और समुद्र जलरूप है, वैसे ही समस्त जगत् में स्थित यह समस्त विस्तृत दृश्य भी बोधरूप ही है ।।१७।।

यदि यह शंका हो कि क्रिया और क्रियावान् एवं अवयव और अवयवी इन दोनों का तो समवायसम्बन्ध से केवल सम्मेलन ही मात्र होता है, न कि उनकी आत्यन्ति एकता होती है, तो इसका समाधान यह है कि लाख और लकड़ी का बाहर से मिश्रण करने पर भी भेद के अनुभव में मिश्रण दिखाई नहीं देता और इस स्थल में मिश्रण दिखाई पड़ता है इसलिए दोनों में विषमता है और समवायसिद्ध भी नहीं है, इस आशय से कहते हैं।

इन लाख, लकड़ी आदि के परस्पर मिश्रित हो जाने पर भी जैसे भेद का अनुभव होने के कारण उनकी एकता नहीं है, वैसे यहाँ पर नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर ऐक्यरूप मिश्रण दिखाई देने से इनमें ऐक्य ही मानना चाहिए ॥१८॥ दूध और जल की नाईं अन्योन्य एक रूप बन जाना ही एकता है। द्रष्टा और दृश्य पदार्थों का भी अन्योन्य ज्ञानरूप ऐक्य विद्यमान है ही लाख और काठ की नाईं अन्योन्य संयोगमात्र नहीं है ॥१९॥

उपर्युक्त युक्तियों से जब यह सिद्ध हो चुका कि सब दृश्य चिन्मात्रस्वरूप हैं और तत्पदार्थ चिति अपरिच्छिन्न (व्यापक) होने के कारण नित्य मुक्त है, तब त्वंपदार्थ की अहंरूप से परिच्छिन्न बुद्धि ही संसार की कारण और परिच्छिन्न बुद्धि का परित्याग मुक्ति का कारण फलित हो जाता है, यह कहते हैं।

भद्र, 'अहम्' बुद्धि ही बन्धरूप संसार को पैदा करती है और अहम्बुद्धिका अभाव मुक्ति को पैदा करता है। जब इतने बन्धन को अपने अधीन रख सकते हैं, तब भला अशक्ति ही किस बात की ? ॥२०॥

इसी विषय का उपपादन करते हैं।

एक चन्द्र में दो चन्द्रमा की बुद्धि या मृगतृष्णा में जलबुद्धि के समान यह असत् अहंकार क्या उत्पन्न हुआ है ? उत्पन्न हुआ ही नहीं है ॥२१॥

अहन्ता त्याग होने पर ममता स्वयं ही त्यक्त हो जाती है, यह कहते हैं।

'यह मेरा है' यह ममता ही बन्धन प्रदान करती है और 'मैं नहीं हूँ' यह ममता का अभाव मुक्ति प्रदान करता है। जब इतनी वस्तु अपने अधीन हो जाय, तब अज्ञान ही कहाँ रहा ? ॥२२॥

असल में असत्य अहंकार अन्दर बैठ कर सत्य आत्मा को वैसे नहीं ढक सकता, जैसे कि (भीतर बैठकर बैर) कुण्ड को ढक सकता है या वैसे न परिच्छिन्न बना सकता है, जैसे कि घड़ा आकाश को परिच्छिन्न बना सकता है, इसे कहते हैं।

जो कुण्डबदरन्याय है यानी जैसी कुण्डे (प्याले) की और बैर की स्थिति है या जैसी घट और आकाश की स्थिति है, तात्पर्य यह है कि जिस सम्बन्ध से बैर कुण्डे के अन्दर प्रविष्ट होकर उसको दबा सकता है या घड़ा आकाश को छोटा बना सकता है वह सम्बन्ध भी आत्मा के साथ नहीं है, जो कि अत्यन्त भिन्न अहंकारकल्पना की सामर्थ्य रखता है, ऐसी स्थिति में वास्तविक ऐक्य ही है,

वह ऐक्य अन्योन्य वेदनरूप है यानी चन्द्र में द्वैतपन की नाईं भेद से अविद्या द्वारा कल्पित भेदरूप आत्मा का जो स्वप्रकाश के बल से स्फुरण है, वह अन्योन्य वेदन-सा हो जाता है ॥२३॥ जड़ और ज्ञान की वास्तविक एकता है और वही आत्मरूप है, यों जो जैमिनिमतावलम्बी लोग मानते हैं, उनके मत में भी वह ऐक्य जड़वस्तुगत जड़ और ज्ञानगत अजड़ होगा, यों किसी एक रूप को वह कभी छोड़ ही नहीं सकता, ऐसी स्थिति में जड़ अंश में उसका स्फुरण न होते हुए भी चिदंश में स्फुरित हो रहा वह अन्योन्यवेदनरूप निर्विषयक ऐक्य आ ही जाता है ॥२४॥

क्यों किसी एक रूप को नहीं छोड़ता ? इस पर कहते हैं।

जो अजड़ वस्तु है, वह जड़ता कभी धारण नहीं कर सकती, क्योंकि धर्म (स्वभाव) कभी भी छुटनेवाले होते नहीं। जो आत्मतत्त्व अजड़ है उसे आपने जड़रूप अंशान्तर से देखा, पर वह तो कोई दूसरी ही चीज है, उसकी अजड़ के साथ एकता है ही नहीं, ऐसी स्थिति में जड़ और बोध की एकता कैसे हो सकती है ? ॥२५॥

जब ऐसी ही स्थिति है, तब आत्मवादी लोग एक दूसरे के विरुद्ध तरह-तरह के आत्मा के स्वरूप क्यों मानते हैं, इस पर कहते हैं।

सैकड़ों कुत्सित विकारों से, वासनाओं से तथा अभिमानों से भरे लोग बाह्यदृष्टियों से ही आत्मतत्त्व की समीक्षा करते-करते ऐसे नीचे-से-नीचे की ओर दौड़ते हुए जाते हैं जैसे पर्वत से च्युत हुई पाषाण शिला नीचे से नीचे की ओर दौड़ती हुई जाती है ॥२६॥ इसीलिए स्व-स्व वासनारूपी वायुओं द्वारा इधर-उधर उड़ाये गये उपनिषद्दृष्टि से च्युत पुरुषरूपी तिनकों के ऊपर वे सब दुःख गिरते हैं, जो कि लोक में तथा शास्त्रों में वर्णित हैं। कितने गिरते हैं, इस विषय में कोई कह ही नहीं सकता ॥२७॥

उसीका वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं।

अपनी वासना और अपने-अपने अभिमान के अनुसार राग आदि रसों से रंगे गये लोग करतल से ताड़ित गेंद के सदृश इधर-उधर खूब घूम-फिरकर नरकों में गिरते हैं वहाँ पर दीर्घकाल तक तरह-तरह की यातनाओं के क्लेशों से सब ओर से जर्जर होकर कालान्तर में स्थावर, कृमि, कीट आदि जन्म लेकर अन्य-से हो जाते हैं, फिर मनुष्यजन्म उनके लिए दुर्लभ ही बना रहता है ॥२८॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

भावनाजनित रागादि दोषों से अनर्थों का आना तथा
विवेकजनित तत्त्वज्ञान से रागादि दोषों के विनाश द्वारा उनका निकल जाना : यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, स्थावर आदि योनिरूप संसारमार्ग में गिरे हुए जीव के ऊपर, मेघ के आने पर लाखों कीटों के आगमन के सदृश, छेदन, भेदन, दहन, क्षुधा आदिरूप

लाखों बातें आती–रहती हैं ॥१॥

इन सारे वृत्तान्तों में एकमात्र भावना ही मूल है, यह कहते हैं।

ये जितने संसार के पदार्थ हैं, वे सब एक दूसरे से सम्बन्ध कुछ नहीं रखते, जैसे कि जंगल में बिखरे हुए पत्थर के टुकड़े। परन्तु उन सबको मिलानेवाली (गुँथने में हेतु) जंजीर के सदृश भावना ही है ॥२॥

भावना में मूल कारण रागादि दोषों से दूषित, पक्की वासनाओं से भरा विवेक शून्य चित्त है, यह आशय लेकर कहते हैं।

लोक में यह चित्त एक तरह से वसन्तकाल का भयंकर अरण्य है, अनेक तरह के वृत्तान्तरूपी वृक्षों को लेकर अन्धकार पैदा करने के लिए गहन–सा बन स्थित है, राग आदि दोषरूपी जल से सींचा भी गया है ॥३॥ अहो, महान् आश्चर्य है कि वासना के बल से पराधीन होकर ये अज्ञानी भूत सब चित्रविचित्र सुख–दुःखों का जन्मों में अनुभव करते हैं ॥४॥ अहो, यह वासना अतिविषम है, जिसके वश से मनुष्य मिथ्याभूत द्रष्टा आदि त्रिपुटीरूप अर्थों से अपने भीतर यह संसारभ्रम का अनुभव करने लग जाते हैं ॥५॥

यही कारण है कि संसार–भ्रम को तैर गये तत्त्ववेत्ता पुरुष सुखी रहते हैं, यों उनकी प्रशंसा करते हैं।

भद्र, ज्ञानी और चन्द्र इन दोनों में क्या अन्तर है ? कुछ भी नहीं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष भी आह्लाद देनेवाला है, अमृत से पूर्ण है, शुद्ध है, ज्ञानरूप प्रकाश करता है और सभी अर्थों में शान्त है ॥६॥

अविवेकी की निन्दा करते हैं।

अज्ञानी (मूर्ख) और बालक में क्या अन्तर है ? अर्थात् कुछ भी नहीं, क्योंकि जो अज्ञानी है, वह पूर्वापरका (आगे–पीछे का) कुछ भी विचार किये बिना जिस किसी की भी इच्छा करने लगता है, उसकी कोई मर्यादा ही नहीं है ॥७॥ भद्र, कहो मछली और मूर्ख (अज्ञानी) में क्या अन्तर है ? ये दोनों मरणपर्यन्त पकड़े हुए अभिलाषारूपी विषयों को नहीं छोड़ते, *(मछली के पक्ष में बंसी में लगाया गया आमिष और मूर्ख के पक्ष में रागादिविषयरूप आमिष समझना चाहिए)* चाहे वह शुभ हो या अशुभ ॥८॥ शरीर, नारी, धन, आदि जितने ये पदार्थ हैं, वे सब शुष्क बालू से बनाये गये कसोरे के सदृश जल्दी ही नष्ट हो जानेवाले हैं ॥९॥

अब श्रोता के चित्त को लक्ष्य कर कहते हैं।

हे चित्त, ब्रह्मा से लेकर गुल्म (एक प्रकार का पौधा) तक सैकड़ों योनियों में कल्पपर्यन्त घूम रहे तुम्हें शम को प्राप्त किये बिना शान्ति नहीं मिल सकती ॥१०॥ केवल विवेकमात्र से संसार की गन्ध ऐसे निकल नहीं सकती जैसे केवल अपने पैर रखने की जगह पर दृष्टि रखनेवाला गमनकर्ता पुरुष मार्ग की विषमता नहीं निकाल सकता ॥११॥ यदि तुम्हारा चित्त विवेक और अवधान से युक्त नहीं है, तो उसे कामरूप पिशाच अपने वश में कर लेगा। परन्तु जो सावधान और सदा

जागरूक है, उसके चित्त का वह कामरूप पिशाच क्या करेगा ? ॥१२॥

अहंकारयुक्त जगत् केवल विवेक और अप्रमाद से शून्य ज्ञान का विस्तारमात्र है, दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं।

जैसे चक्षु का प्रसरणरूप व्यापार केवल रूपका अवलोकनमात्र ही है, इससे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है, वैसे ही अहंकारयुक्त जगत अविवेक और प्रमादयुक्त संवित का प्रसरणरूप व्यापारमात्र ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥१३॥ हे कामादि शत्रुओं के नाशक, जैसे आँख का आवरण सभी रुप के प्रकाश की शान्ति है, वैसे ही बहिर्मुख ज्ञान का आवरण यानी बाह्य ज्ञानों को आत्माकी ओर लगाना समस्त दृश्यों की शान्ति है॥१४॥ भद्र, जैसे पवन शीघ्र स्पन्दन का विस्तार करता है, वैसे ही विशुद्ध संवित् अविवेकजनित कुछ साधारण स्फुरणरूप व्यापार से अज्ञातस्वस्वरूप चिदाकाश में अहंकारयुक्त असद्रूप जगत का विस्तार करती है ॥१५॥ यह जगत असल में असत्य है, परन्तु सत्य की नाईं प्रतीत होता है, वास्तव में ब्रह्मचिति अन्यका निर्माण न करती हुई यों ही जगत–रूप में स्फुरित होती है। जगत् असत्य है, इसमें दृष्टान्त यही है कि जैसे मिट्टी या सोने में कल्पित घड़ा या कड़ा मिट्टी या सोने से अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता, वैसे ही आत्मा में कल्पित यह जगत् आत्मा से अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि जगत् सत्य होता, तो आत्मा से अलग होकर उपलब्ध होता॥१६॥

जो अलग हो प्राप्त नहीं होता, उसकी अलग सत्ता नहीं रहती, यह सोने आदि में नियम बताते हैं।

जैसे आकाश शून्यमात्र है, जैसे वायु स्पन्दनमात्र है, जैसे तरंग आदि जलमात्र हैं, वैसे ही यह जगत् भी संविन्मात्र है ॥१७॥ जैसे जल में प्रतिबिम्बित पर्वत या पर्वततुल्य तरंग जलरूप ही है, वैसे ही आत्मा में प्रतीत ये तीनों जगत् शान्त, आकाशरूप तथा सभी तरह के भेदों से शून्य संवित्स्वरूप (आत्मस्वरूप) ही हैं ॥१८॥

इस प्रकार जगत् के स्वरूप को जान रहे ज्ञानी को सांसारिक सन्ताप की प्राप्ति कभी नहीं होती, यह कहते हैं।

सभी तरह के विकारों से निर्मुक्त अतएव परमशान्त ज्ञानी पुरुष के अन्दर ऐसी सबसे उत्तम शीतलता उत्पन्न हो जाती है, जिसकी तुलना में ये अनेक चन्द्रमा भी प्रदीप्त अग्नि के कणों के सदृश प्रतीत होने लगते हैं ॥१९॥

उसमें दूसरे किसी अन्य प्रकाश की प्रसक्ति भी नहीं है, यह कहते हैं।

जब यह जगत् अत्यन्त शान्त व्यापक प्रकाशरूप शिवस्वरूप शून्य हो गया, तब उसमें दूसरा प्रकाश ही कौन ? वह किस क्रिया या साधन से कैसे उत्पन्न किया जा सकता है ? ॥२०॥

वही सब पदार्थों का किसी काल में बाधित न होनेवाला स्वरूप है, यह कहते हैं।

ब्रह्मशब्द से जो सत्ता कही जाती है, वह सत्ता ही सब पदार्थों का निजी स्वरूप है, उसमें किसी तरह की बाधा नहीं है और समस्त जगत् तन्मय है अतएव वह अव्ययरूप है ।।२१।।

तब कौन स्वरूप बाधित होता है, इस शंका पर कहते हैं।

जो ये नाम–रूपात्मक पदार्थ हैं, उनमें बाध देखा जाता है, परन्तु उनका बाध या उनकी उत्पत्ति आदि विकृतियाँ जो दिखाई देती है, उनके विषय में विचार करने पर भी आकाशपुष्प के सदृश हमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे तुच्छ हैं।।२२।।

असली बात यह है कि वह सब रूप केवल मन की कल्पना है, अतः मनके शान्त हो जानेपर वह स्वयं अपने–आप विलीन हो जाता है, इसलिए तुम चुपचाप बैठे रहो, यह कहते हैं।

जैसे बड़ा पत्थर अपने स्थान में चुपचाप शान्तिपूर्वक बैठा रहता है, वैसे ही तुम भी मन को हटाकर चुपचाप शान्तिपूर्वक अपने प्रमातारूप में स्थित रहो। मन के चले जाने पर प्रमातारूप आत्मा नहीं चला जाता, क्योंकि उस मन के चले जाने पर नामरूपात्मक मनन (विकल्प) एवं चक्षु आदि प्रमाण चले जाते हैं, परंतु प्रमातारूप आत्मा न मनन है और न चक्षु आदि प्रमाणरूप ही है, वह तो असीम, अज और अविनाशी ब्रह्मरूप है ।।२३।। भद्र, आकाश के सदृश निर्मल आत्मा के अन्दर मन को विलीन कर स्थित हुए योगी को नाम और रूप की प्रतीति ही नहीं होती, क्योंकि नामरूपकी प्रतीति तो अपने स्वरूप में स्थिति के लिए अभ्यास जब दृढ़ नहीं रहता, तब स्वप्न के सदृश मन में उत्पन्न होती है।।२४।।

जगत् केवल मन का ही संकल्प है, यह किस तरह जाना जा सकता है ?

भद्र, यह जो हिरण्यगर्भ का मन है, वही जगद्रूपी चित्र का निर्माण करता है, इसके पास न रंग है, न चित्रनिर्माण की कूँची है और न तो कोई चित्र का आधार ही है । इतना होने पर भी उस चित्र को अपने–आप देखने लग जाता है। क्या कहीं किसीने स्वप्न में मन के सिवा किसी दूसरे को कर्ता और कार्य देखा है ? ।।२५।। मनोराज्य के सदृश मन जिस किसीका निर्माण करता है, वहाँ सर्वत्र उन–उन वस्तुओं की प्रतीति बनकर स्वयं ही स्थित हो जाता है। इस प्रकार नामरुपात्मक प्रपंच के : मन से भिन्न कोई अन्य चीज–न होने से कौन, कहाँ किस प्रकार जगत् का निर्माण कर सकता है ? ।।२६।।

यों सुख–दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय कल्पना का विनाश हो जानेपर शून्यरूप या आत्मरूप हो जाते हैं, यह कहते हैं।

'मैं सुखी हूँ' इस तरह भासमान सुख, 'मैं दुःखी हूँ' इस तरह भासमान दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय सब मनकी कल्पना के शान्त हो जाने पर आत्मरूप हो जाते हैं या शून्यरूप बन जाते हैं।।२७।।

स्वप्नपर्वत की नाईं पार्थिव विषय भी पार्थिवरूप नहीं है, यानी मिथ्या हैं यों भावना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

जितने पदार्थ हैं, वे सब यद्यपि परमार्थ में चिदाकाशरूप ही हैं, तथापि उनमें स्वप्न के पदार्थ के सदृश पार्थिवरूपता मिथ्या ही स्थित है॥२८॥

ऐसी स्थिति में जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं।

अहन्ता की लकीर जब ब्रह्मसत्ता में आ जाती है, तभी संसारभ्रमरूप विकार पैदा करती है और जब वह लकीर हट जाती है, तभी वह शान्ति प्रदान करती है तथा अपनी स्वरूपावस्था को प्राप्त हो जाती है॥२९॥ जैसे सुवर्णनिर्मित कटकशब्दार्थ यानी कड़ा तुम्हें सुवर्ण से पृथक् भासता है, पर वह सत्य नहीं है, वैसे ही आत्मा से जनित अहन्ता शान्तात्मा परमात्मा से पृथक् भले ही भासे, पर वह सत्य नहीं है ॥३०॥ कर्तारूप आत्मा वास्तव में चारों ओर से जब परिपूर्णभाव से लक्षित हो जाता है, तब शान्त ही रहता है। उसमें किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है वह शून्य, मोक्षरूप, मनरहित, मौनी, अकर्तारूप और शीतल है ॥३१॥ जैसे किसी यन्त्र से बनाई गयी प्रतिमा वासनाशून्य होने के कारण स्पन्दनशून्य है, यानी स्पन्दन के अभिमान से रहित है, वैसे ही आत्मा भी वास्तव में वासनाशून्य होने के कारण स्पन्दनशून्य ही है। अतः व्यवहार कर रहा भी ज्ञानी अपने असलरूप में ही स्थित रहता है ॥३२॥

शरीर की चहल-पहल दशा में भी आत्मा में चहल-पहल नहीं होती, इस बात की संभावना में दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

जैसे झूले में सोये हुए बालक के अंग चहल-पहल करते ही नहीं, वैसे ही आत्मतत्त्वदर्शी विद्वान् में अपने स्वरूपानुभव के सिवा चहल-पहल कोई है ही नहीं ॥३३॥

ज्ञानी का निरन्तर चल रहा जो स्व-स्वरूप ज्ञान है, वही देह आदि का ज्ञान है, यह क्यों न माना जाय, इस पर कहते हैं।

भद्र, आशा, चेष्टा, स्नेह और प्रार्थना आदि से शून्य तथा बाह्यवृत्तियों से रहित जो अखण्ड स्व-स्वरूप परिज्ञान है, वह शान्त अनन्त आत्मस्वरूप ही है, अतः उसे शरीर आदि का परिज्ञान कहना कैसे संभव है ? ॥३४॥

उक्त स्वस्वरूपानुसन्धान में द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटी रहती ही नहीं, इसलिए भी उसको शरीर का परिज्ञान नहीं होता, यह कहते हैं।

समस्त अभिलाषाओं से मुक्त ज्ञानी पुरुष को, जो द्रष्टा, दृश्य और ज्ञानरूप त्रिपुटीरहित निराकार वस्तु को देख रहा है, शरीर का अनुसन्धान कैसे हो सकता है ? ॥३५॥ सर्वान्वित अपेक्षा यानी सभी विषयों की अभिलाषा ही दृढ़ बन्धन है और सभी तरह की इच्छाओं का परित्याग ही मुक्ति है। ऐसी स्थिति में जो पूर्णकामता में विश्रान्त हो चुका है, वह क्या चाहेगा ? ॥३६॥ इस शरीर की पार्थिवरूपता होने पर भी यह अपने स्वप्न में शरीरांगों के सदृश असत् और केवल भ्रममात्रस्वरूप ही है, अतः अपने शरीर के लिए भी किस बुद्धिमान् को कहाँ,

किससे, किसकी इच्छा हो सकती है ? ॥३७॥

अब उपसंहार करते हैं।

ज्ञानी पुरुष केवल अपने स्वरूप में ही स्थिति रखता है, इस स्थिति में उसकी सारी इच्छाएँ विलीन हुई रहती हैं, सारी उत्कण्ठाएँ चली गयी रहती! है और शरीर का भान भी नहीं रहता ॥३८॥

मुख्य अधिकारी होने के कारण सिर्फ एक बार उपर्युक्त विषयों के श्रवण से ही मंकि की मोहनिवृत्ति हो गई, यह कहते हैं।

इस तरह के मेरे उपदेश को सुनते ही उस मंकि ब्राह्मण ने अपने असीम महान मोह को भी उसी समय, पूर्णरूप से ऐसे छोड़ दिया, जैसे सर्प अपनी केंचुल को छोड़ देता है ॥३९॥ प्रारब्धवश से जो कुछ भी समय–समय पर कर्तव्य आ जाता था, उसे वह वासना छोड़कर करता हुआ सौ वर्षों के बाद उसी पर्वत पर समाधि में स्थित हो गया ॥४०॥ आज भी उस पर्वत पर पाषाण के सदृश निश्चल होकर वह स्थित है। उसके चक्षु आदि समस्त करण शान्त हो चुके हैं। कदाचित् दूसरों द्वारा जगाये जाने पर वह योगी समाधि से बाहर भी हो जाता है ॥४१॥

हे श्रीरामभद्र, आप इस मंकि ब्राह्मण द्वारा स्वीकृत उपाय का अवलम्बन कर ज्ञान में उन्नतिशील विवेकी मन से स्वात्मानन्द में विहार करने के लिए शान्ति प्राप्त कीजिए। आपकी बुद्धि रागयुक्त बनकर, जलरहित शरत् के मेघों के सदृश, विवेक रहित हो दीन न बन जाय ॥४२॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

चित्त का स्पन्दन होने पर आत्मा में स्पन्दन का भ्रम हो जाता है,
इससे जगत् की सारी विभूतियाँ उत्पन्न होती है, चित्त की शान्ति से आत्मा में
स्पन्दनभ्रम की शान्ति होती है और इससे अपने असली स्वरूप में अवस्थान होता है – यह वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, आप लौकिक पचड़ों से परे हो जाइए, अपनी आत्मा को शान्त बनाइए और जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसका अनुसरण करते चलिए। हे सौम्य, जैसे स्फटिक पत्थर से बनाया गया चाँदनी में स्थित प्रतिमापुरुष सत् है तो भी उसमें दृष्टि का निरोध न होने से असत् के तुल्य ही रहता है वैसे ही आप सत् होते हुए भी आत्मा की अद्वैतदृष्टि का निरोध न करने के कारण असत् के सदृश ही बने रहिए ॥१॥ यह जो असीम आत्मा है, वह जब तक ज्ञान नहीं रहता, तब तक स्वयं एक होता हुआ भी सबके रूप में यानी अनेक रूपों में स्थित है, परन्तु ज्ञान हो जाने पर न तो वह एक है और न सर्वात्मक अनेक है यानी न वह व्यष्टिरूप है और न समष्टिरूप ही है, क्योंकि ज्ञानकाल में सभी बाधित हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में उसमें अनेकरूपता की कल्पना ही कहाँ रही ? ॥२॥

प्रत्येक शरीर की उत्पत्ति और विनाश तथा सात बित्ते के नाप से आत्मा का नाप अनुभव में आता है, अतः आत्मा की नानारूपता मान ली जाय, इसमें कौन-सी आपत्ति है ? इस पर कहते हैं ।

जो चेतन आत्मवस्तु है, वह परिपूर्ण, आदि-अन्त से रहित, व्यापक तथा आकाश के तुल्य निर्मल है, इसलिए शरीर की उत्पत्ति एवं नाश होने पर उसकी उत्पत्ति या विनाश कैसे हो सकता है ? उसका क्या बन-बिगड़ सकता है ? ॥३॥ भद्र, चिति के चमत्काररूप इस चंचल मन की एकमात्र चपलता के कारण ही ये सब जड़ संसार के खेल स्फुरित होते हैं और उसकी चंचलता न रहने से आत्मा में ऐसे दिखाई पड़ते हैं, जैसे जल में तरंग ॥४॥ भद्र, शुभ्र मेघों में कल्पित वस्त्ररूपता वस्तुतः जैसे पहनने के काममें नहीं आती, वैसे ही इस देह में कल्पित आत्मरूपता भी वस्तुतः कुछ काम में नहीं आती ॥५॥ श्रीरामजी, आप अनेक तरह के प्रपंच को देनेवाली अवस्तु में यानी मिथ्या पदार्थों में डूबिये मत। मुख्य भव्य अनन्त वस्तु की मुक्तिरूप अनन्तसुख के लिए उपासना कीजिए ॥६॥

वह कौन वस्तु है, जिसकी भावना करनी चाहिए, इस पर कहते हैं ।

चित्रूपी अनन्त आकाश ही असली वस्तु है, उसका किसी तरह नाप नहीं हो सकता । जिनका आत्मा एकरूप बन गया है, उनके लिए यही सबसे बढ़-चढ़कर उत्तम वस्तु है। श्रीरामजी, इसी एक वस्तु में आपका चित्त सदा रमण करे ॥७॥

उसका क्या फल है, इस पर कहते हैं ।

इस प्रकार के निश्चय से युक्त हुए आप ही अज्ञानरूप बन्धन से निर्मुक्त निरंजन हैं। उक्त निश्चय ध्याता, ध्यान और ध्येय से शून्य (त्रिपुटीशून्य) है, त्रिकाल में बाधित होनेवाला नहीं है। ध्याता, ध्यान और ध्येय-इनमें कोई भी सत्य नहीं है यानी त्रिकालाबाधित नहीं है ॥८॥

दर्शनादि त्रिपुटी उसकी बाधक कैसे ? क्योंकि वह त्रिपुटी भी ध्यान-त्रिपुटी के ही समान है, इस शंका पर कुछ विशेष कहते हैं ।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन चित्त की ही विभूतियाँ है, तात्पर्य यह कि दर्शन प्रमाण से उत्पन्न तथा वस्तु के अधीन है, पुरुष के अधीन नहीं, इसलिए वृत्ति से अभिव्यक्त परमार्थ चिति की उसमें प्रधानता तथा अज्ञान की बाधकता (निवर्तकता) ही विद्यमान है, इस परिस्थिति में द्रष्टा आदि परमार्थ भी चैतन्य की ही विभूति ठहरी । ध्यान न तो प्रमाणजन्य है और न वस्तु के ही अधीन है, किन्तु पुरुष की इच्छा का अनुसरण करनेवाला है । इस स्थिति में ध्यान आदि क्रियाविशेषरूप होने के कारण अविद्या की विभूतिरूप ही हैं, अतः ध्याता आदि बाधित हो जाते हैं । दूसरी बात यह है कि जो जो जड़ वस्तु है, वह सब ज्ञान से भिन्न (पृथक्) दिखाई नहीं देती अतः जितने दृश्य हैं, वे सब दर्शन का ही अनुसरण करनेवाले हैं । ध्येय तो ध्यान के

बिना भी अलग रहता है, अतः वह ध्यानानुसारी नहीं होता, यह विशेष है ॥९॥

सबसे विशेष तो यह है कि ज्ञान निर्विकारी है, यह कहते है।

जैसे प्रतिपदा के चन्द्रमा के उदित होने पर समुद्र क्षुब्ध होता है और जैसे प्रलयकाल की वायु बहने पर समुद्र सूख जाता है, वैसे आत्मतत्त्व न क्षुब्ध होता है और न सूख जाता है, वह सदा एकरूप और सौम्य रहता है ॥१०॥

तब चिति की विभूति द्रष्टा आदि त्रिपुटी कैसे ? इस प्रश्न पर एकमात्र विवर्तभाव से यह उत्तर देते हैं।

जैसे नाव पर यात्रा कर रहे पुरुष को तीरस्थ स्थिर वृक्ष, पर्वत आदि कम्पित हो रहे-से प्रतीत होते हैं अथवा जैसे शुक्ति में रजत-बुद्धि होती है, वैसे ही चिति में यह देह आदि अन्तःकरण को प्रतीत होते हैं ॥११॥

इस रीति से देहदृष्टि चित्त की कल्पना करती है, देह और चित्त की दृष्टि जीव की कल्पना करती है और जीवदृष्टि देह-चित्त की कल्पना करती है, यों सभी शुद्ध चैतन्य में ही विवर्त हैं, यह कहते हैं।

जैसे देह आदि चित्त के हैं वैसे ही चित्त भी देहादि का है, इसी तरह जीव भी है, इस परिस्थिति में परम ब्रह्मपद में द्वैत ही कहाँ रहा ? ॥१२॥

ब्रह्मदृष्टि से तो सब एक ही हैं, यह कहते हैं।

आत्मतत्त्व के ज्ञान से तो यह सब केवल शान्त ब्रह्मस्वरूप ही है, दूसरा जगत् आदि पदार्थ कुछ भी नहीं है, और न कोई दूसरी भ्रान्ति ही है ॥१३॥ हे श्रीरामजी, जैसे आकाश में अरण्य नहीं रहता अथवा जैसे बालू में तेल नहीं रहता या जैसे चन्द्रबिम्ब में बिजली नहीं रहती, वैसे ही चित्त में देह आदि कुछ नहीं रहते ॥१४॥ हे सत्यज्ञानियों में श्रेष्ठ श्रीरामजी, यह जगत् की भ्रान्ति अविद्यमान ही है, अतः इससे आप भय मत कीजिये। यही बात परम सत्य है, यह आप जानिये ॥१५॥ भद्र, अभी तक जो आपको भ्रम रहा कि जगत्-वस्तु की ही सत्ता है और ब्रह्म सत्ता है ही नहीं, वह आज ही मेरे उपदेश से शान्त हो गया। अब दूसरा बन्धन देनेवाला क्या रहा अर्थात् कुछ नहीं ॥१६॥ थाली, पुरवा, घड़ा आदि जैसे केवल मिट्टी ही है, वैसे ही यह जगत् केवल चित्त ही है। यह विचार से तो क्षीण हो चुका है ॥१७॥ हे श्रीरामजी, अब आप मेरे सौम्य उपदेश से अहंकार से पहले अलग हो जाइए, फिर सम्पत्तियों में इच्छा, हर्ष और आपत्तियों में विषाद से रहित हो जाइए, वैभवों के उत्कर्ष और अपकर्ष में (बढ़ने-घटने पर) भी एक-से रहिए। कभी भी मेरे उपदेश का विस्मरण कर यानी अपने स्वरूपस्थिति की दृढ़ता का परित्याग कर स्थिर मत बैठिये ॥१८॥

तत्त्वज्ञान के बाद यदि प्रमाद हो जाय या प्रबल प्रारब्ध रह जाय, तो उससे हर्ष-शोक भी होते रहेंगे और उनके कारण फिर संसार भी होगा ही ? इस पर नहीं, यह उत्तर देते हैं।

हे अपने कुलरूप आकाश के चन्द्रमा श्रीरामजी, यदि आप ब्रह्मात्मा की एकतारूप वस्तु को भलीभाँति जानकर अवस्थित हैं, तो चित्त में सन्ताप पहुँचानेवाले हर्ष शोक, इच्छा आदि दोषों को छोड़कर रहिये या उनका अनुसरण करते रहिये, आपको फिर संसार आ ही नहीं सकता ॥१९॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

बीजरूप और कार्यरूप तथा जन्म के हेतुभूत पुरुषकर्मों के,
जो अदृष्टरूप निमित्त से सम्बद्ध हैं, स्वरूप का पुनः वर्णन।

श्रीरामभद्र ने कहा : हे विभो, बीजरूप तथा कार्यरूप पुरुष के कर्मों का, जो जन्मरूप संसार अनर्थ के उत्पादक तथा दैव से (अदृष्ट) सम्बद्ध हैं, स्वरूप मुझसे फिर कहिए यानी यद्यपि आपने इन कर्मों का तत्त्व पहले यत्र–तत्र कहा है परन्तु फिर भी एक साथ मिलाकर कहिए ॥१॥

सबसे पहले दैव का तत्त्व कर्म है, कर्म का तत्त्व पुरुष है, पुरुष का तत्त्व मनोरूप चितिस्पन्दन है और चितिस्पन्दन का तत्त्व चिदात्मा है। यही चिदात्मा प्राथमिक संकल्परूप चितिस्पन्दन से समष्टि–व्यष्टि मनरूप बन जाता है, जिसका कि 'बहुस्यां प्रजायेय' इस श्रुति में उल्लेख है। इसके बाद लोक में देहाकार के अध्यास से (भ्रम से) पुरुष हो जाता है। फिर कर्म करते–करते पुण्य – पापरूप अदृष्टात्मक दैवरूपता प्राप्तकर पुण्य–पाप का भोग करने के लिए घट आदि रूप एवं घटादिगत गुणक्रियारूप से घटत्वादिसामान्यरूप बन जाता है, इसी से जगत्–रूप विवर्त में आ जाता है, इन सब बातों से सार यह निकला कि दैव, कर्म आदि कारणशब्दरूप और घट से लेकर घटत्वधर्मपर्यन्त कार्यरूप जो कुछ है, वह सब तत्त्वदृष्टि से चितिस्पन्द के ही अलग–अलग नाम हैं, इस अभिप्राय को लेकर भगवान् वसिष्ठजी कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, घट से लेकर घटत्वतक कार्यरूप और दैव, कर्म आदि कारणरूप जो कुछ भी है वह सब चिति का स्पन्दन ही है, और यही लोक में पुरुषरूप बन गया है ॥२॥ भद्र, संवित् के (चिति के) स्पन्दन के बिना पुरुष का रूप और कर्म कैसे हो सकता है ? संवित् का स्पन्दन ही घट, पट, वट आदि का स्वरूप है। इसी ने समस्त जगत् को उत्पन्न किया है ? यही कारण है कि पुरुष के कर्म आदि और घट–पटादि के अस्तित्व या परिज्ञान आदि चिति के अस्तित्व और प्रकाश के ही बदौलत होते हैं, यह सभी को विदित है। यदि इन सबको संवित् का यानी चिति का विवर्त न माना जाय, तो न उनका अस्तित्व मालूम पड़ सकता है और न उनका प्रकाश ही हो सकता है, ऐसी स्थिति में उनका स्वरूप कैसा होगा ? अर्थात् असत् ही होगा, यह भाव है ॥३॥

यद्यपि सभी पदार्थ चिति के स्पन्दनरूप ही हैं तथापि उनके वैचित्र्य में और विनाश में कारण कहते हैं।

सारे जगत् की यह विचित्र शोभा वासनायुक्त संवित् के स्पन्दन से उत्पन्न होती है और वासना से निर्मुक्त हुए संवित् के स्पन्दन से निवृत्त होती है ॥४॥ महात्माओं का यह निश्चय है कि संवित्ति का (चितिका) स्पन्दन यदि वासनारहित है, तो वह अस्पन्दन ही है। लोक में स्पन्दनशील भी तरंग आदि जब भँवर आदि के द्वारा अपने अन्दर समाविष्ट कर लिये जाते हैं, तब उनमें स्पन्दन का परिज्ञान नहीं होता, फलतः उनकी अस्पन्दनशीलता ही तर्कित होती है ॥५॥

अतएव चिति का स्पन्दन ही पुरुष आदि आकाररूप है और चितिमें स्पन्दन की निवृत्ति ही निराकारता है, ऐसी स्थिति में विमर्श करने पर स्पन्द और पुरुष में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, इस सृष्टि में संवित् और संवित्–स्पन्दमय पुरुष एवं कर्म (स्पन्द) दोनों में कल्पानांश को छोड़कर तनिक भी भेद नहीं है ॥६॥ भद्र, जैसे संकल्प से जनित जल और तरंग का भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही संकल्पजनित पुरुष और कर्म का (संवित्स्पन्दनका) भेद नहीं है ॥७॥ हे श्रीरामजी, कर्म ही पुरुष है और पुरुष में ही कर्मरूपता है, आप इन दोनों की हिम और शीतता की नाईं अभिन्नरूपता ही जानिए ॥८॥ भद्र, जो हिम है वही जैसे शीतता है और जो शीतता है, वही जैसे हिम है, वैसे ही जो कर्म है वही पुरुष है और जो पुरुष है वही कर्म है, इसलिए किये जानेवाले पुण्य–पाप भावि देह और उस देह से जो भोग्य होनेवाला है इन दोनों की पूर्वावस्था है ॥९॥

एवं यह जो कहा गया था कि दैव, कर्म आदि एक ही वस्तु के भिन्न नाम हैं, यह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं।

दैव, कर्म, पुरुष आदि संवित् के स्पन्दनरूप रस के ही पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिए संवित्स्पन्दन से पृथक् कर्म आदि तनिक भी अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखते ॥१०॥ स्पन्दन के कारण ही संवित् जगत् की बीज हो जाती है और स्पन्दन के प्रभाव से अबीजरूप हो जाती है। उसीके अन्दर सूक्ष्मरूप से अंकुर श्री भी स्थित है, अतः वही बाहर निकलकर स्थूल अंकुररूप हो जाती है ॥११॥ असीम चित्स्वभाव ही ऐसा है कि कहीं पर अपने स्वभाववश देश–काल क्रम में स्थित स्पन्दन से शून्य हो जाता है और कहीं पर स्पन्दनरूप बन जाता है ॥१२॥ यद्यपि संवित् का स्पन्दन वास्तव में अकारण है, तथापि यहाँ वासना से युक्त होकर देह आदि अंकुरों का वह कारणरूप बीज बन जाता है ॥१३॥

अवान्तर बीजों के रूप में स्थित वही संवित्–स्पन्दन सर्वत्र कारण है, उसी स्पन्दन की विशेष–विशेष कार्यों की व्यवस्था के लिए अवान्तर बीजों के रूपों में स्थिति है, इस आशय से कहते हैं।

अन्यान्य अवान्तर तृण, वल्ली, लता, गुल्म आदि के बीजों की जो व्यवस्थित अंकुर आदि कार्य

करने की प्रवृत्ति है, उसमें भी वही संवित्स्पन्द कारण है, उसका अन्य कोई बीज नहीं है ॥१४॥

यदि बीज के अन्दर रहनेवाली शक्ति ही अंकुर है, यों मानें, तो भी शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

बीज और अंकुर में, अग्नि और उष्णता के सदृश, कोई भेद नहीं है। हे श्रीरामजी, आप बीज को ही अंकुर जानिये और कर्म ही को मानव जानिये ॥१५॥ स्पन्दनशील हो रही चिति ही भूमि में वट आदि वृक्षों के अंकुर को स्थूल पदार्थ, सूक्ष्म पदार्थ, कठिन पदार्थ एवं मृदु पदार्थ जल में बुलबुलों की नाईं बनाती है ॥१६॥ चिति के बिना ऐसा कौन शक्तिमान् है, जो इस पृथ्वीतल से, अत्यन्त मृदु अंकुर से वज्र के सदृश दृढ़ प्रवाल आदि को निकाल सके ॥१७॥

यही न्याय रजवीर्य से शरीर सम्पादन में भी लगाना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जैसे लता में स्थित रस पुष्प और फल का विस्तार करता है, वैसे ही यह चिति प्राणियों के वीर्यरस में स्थित होकर इन असीम जंगम वस्तुओं का विस्तार करती है ॥१८॥ श्रीरामजी, भला, बतलाइये तो सही कि यदि सर्वत्रस्थित यह संवित् अत्यन्त बलवती न होती तो, इन देव, असुर एवं राजाओं के निर्माण में कौन शक्तिशाली होता ? ॥१९॥ भद्र, स्थावर तथा जंगम पदार्थों का यही एक आदिम संवित्स्फुरण कारण है। और इसका कोई कारण नहीं है ॥२०॥ बीज, अंकुर आदि विकल्पों का परस्पर; क्रिया, पुरुष एवं दैव का परस्पर तथा ऊर्मि, वीचि और तरंगों का परस्पर तनिक भी भेद नहीं है एवं अधिष्ठान में भी कुछ भेद नहीं है ॥२१॥

इस तरह के वेदसंमत अभेद को जो पुरुष नहीं देखता, उसकी निन्दा करते हैं।

भद्र, ऐसा होने पर भी पुरुष और कर्म में तथा बीज और अंकुर में जिस पुरुष को भेद वास्तविक भासता हो, उस महान् पण्डितपशु को निरन्तर नमस्कार ही करना चाहिए ॥२२॥

वासना के सम्बन्ध से जनित संसारबीजता वासना के विनाश से नष्ट हो जाती है, यह कहते हैं।

जन्म के कारण संवित्स्पन्दन में जो भीतर का वासनारस है, वही बाहर अंकुर फेंकता है, इसलिए उस वासनारस को असंगरूप अग्नि से आप जला दीजिये ॥२३॥ पण्डित लोग कहते हैं कि पुरुष कुछ करे चाहे कुछ भी न करे, परन्तु उसका शुभ-अशुभ कार्यों में मन से जो आसक्त न होना है, वही असंग है ॥२४॥

यदि वासना ही संग है और वासना का उच्छेद ही असंग है, यह मानें, तो तत्त्वज्ञान के अभ्यास से ही वासना को जला दीजिए, यह कहते हैं।

भद्र, अथवा वासना का उच्छेद ही असंग है, यह भी पण्डितों का मत है, इसलिए आप उसी का (वासनोच्छेदरूप असंग का ही) जिस किसी युक्ति से भीतर सम्पादन कीजिए ॥२५॥ वह युक्ति चाहे पहले कही गई राज-योगरूपा हो या हठयोगरूपा हो, परन्तु पुरुष प्रयत्न से दीर्घकालतक

वह अभ्यस्त होनी चाहिए। आप अपनी वासना का उच्छेद जिस युक्ति से सरल समझते हों, उसी से उसका उच्छेद कर डालिए क्योंकि यह वासनांकुर का उच्छेद ही परम कल्याण है ॥२६॥

समस्त वासनाओं का चिद्‌ग्रन्थिरूप अहंकार ही मूल है, अतः उसी का आप विनाश कीजिए, यह कहते हैं।

श्रीरामभद्र, पुरुष प्रयत्न से आप जिस तरह की युक्ति जानते हों, उस तरह की दृढ़ अभ्रान्त युक्ति से अहंकाररूपी अंश का त्याग कर दीजिए, क्योंकि यह अहंकारांश का त्याग ही वासना का क्षय है ॥२७॥ वासनाक्षयनामक इस निरहंकाररूप संसारतरण में अपने पुरुषार्थ के सिवा दूसरी कोई गति है ही नहीं ॥२८॥

अनादि अनन्त प्रत्यगात्मरूप चैतन्य की सत्ता से ही बीज, अंकुर आदि की सत्ता है, स्वतः नहीं, यह कहते हैं।

असल में यहाँ सबसे मुख्य तो संवित् की ही एकमात्र सत्ता है, वही अंकुर है, वही बीज है, वही कर्म है, वही पुरुष है और वही पुण्य–पापरूप दैव है ॥२९॥ सबसे प्रथम न तो कोई चिति के सिवा दूसरा बीज है, न अंकुर है, न पुरुष है, न कर्म है और न दैव आदि ही कुछ है, केवल चिति का ही यह सब कुछ विलास है ॥३०॥

जब बीज आदि की स्वतः सत्ता स्थिर नहीं होती, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि एकमात्र चिदात्मा ही असत्यभूत बीजादि के आकारों में जगद्रूप बनकर विलास करता है, यह कहते हैं।

हे साधो, न तो कोई बीज है और न कोई अंकुर ही है। इसी तरह न तो कोई कर्म है और न कोई पुरुष ही है। जैसे नाटक का पात्र समय–समय पर देव, नर, दानव आदि नामों की शोभा धारण कर नृत्य करता हैं, वैसे ही एकमात्र चित्स्वभाव ही इन बीज, अंकुर आदि नामों की शोभा धारण कर विलास करता है ॥३१॥ हे अविकार श्री रामचन्द्रजी, उक्त प्रकार के निश्चय को अपने मन में स्थिर कर पुरुष, कर्म आदि मिथ्या विचार–जनित शंका का बिलकुल परित्याग कर वासनाशून्य, समस्त विकल्पों से रहित एवं चैतन्यमय बन जाइए। फिर आप अपनी अभिमत इच्छा के अनुसार समाधिस्थ होकर या व्यवहाररत होकर स्थित रहिए। इससे आपका कुछ भी बिगड़ेगा नहीं, यह सार है ॥३२॥

इसीका स्पष्टीकरण करते हुए उपसंहार करते हैं।

हे रामभद्र, सब इच्छाओं से निर्मुक्त एवं अशेष शंका से रहित होकर सब कर्म करते हुए भी आप चैतन्यमात्र में स्थित रहिए। एकमात्र अपनी आत्मा में ही रमण कीजिए। समस्त कामनाओं से परिपूर्ण होकर आप निर्भय हो जाइए और परमशान्ति का अवलम्बन कर सब ओर चमकने लग जाइये ॥३३॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

व्यवहारकाल में जो भी कुछ कर्तव्य आ जाय उसे निभाते हुए अपने स्वरूप में सदा स्थिर रहना चाहिए, यों रामजी के प्रति महाराज वसिष्ठजी का उपदेश।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्री रामभद्र, शत्रु, मित्र आदि सबके लिए प्रारब्ध से जो कुछ कार्य आ जाय, उसे यथायोग्य करते हुए भी आप निरन्तर अन्तर्मुख ही रहिए। राग छोड़ दीजिए, वासनाओं से परे हो जाइए और सर्वत्र निर्मल शान्त चैतन्यमात्र की भावना कीजिए ॥१॥ भद्र, आकाश के सदृश विशद हो जाइए। प्राज्ञ बनिए। एक चिन्मात्र में अपनी दृढ़ स्थिति (निष्ठा) बनाइए। सम, सौम्य एवं पूर्णानन्द से युक्त हो जाइए तथा अपने अन्तःकरण को ब्रह्मसदृश आनन्दरस में सराबोर कीजिए ॥२॥ रामजी, प्रारब्धवश प्राप्त हुए छोटे–बड़े शोक, आपत्ति, घोर संकट, अवट (गर्त) आदि सभी प्रसंगों में भीतर दुखी होकर देशधर्मों के अनुसार एवं क्रमानुसार रुदन–अश्रुपात आदि पर्यन्त दुःखों का और शीतोष्ण आदि से युक्त वस्त्रादिभोगरूप सुखों का अनुभव करते चलिए ॥३,४॥

संक्षेप से जिस अर्थ को कहा, उसी को विस्तारपूर्वक कहते हैं।

कमनीय (रमणीय) विषयों की प्राप्ति के अवसरों में, उत्सवों में एवं उदयकाल में आप सौम्य (शान्त) मूर्ति होकर ऐसे आनन्द मनाइए, जैसे कि भोगवासनाओं से आक्रान्त कर्मठ मूढ पुरुष ॥५॥ वासनाओं से आक्रान्त मूढ़ पुरुषों के सदृश अधार्मिक प्राणियों को मृत्यु के हेतु संग्राम आदि में डालकर जैसे तृण को अग्नि जला डालती है वैसे जला दीजिए ॥६॥ प्रारब्ध कर्मों के अनुसार प्राप्त हुए धर्मअविरोधी धन आदि के उपार्जन आदि कार्यों का बगुले के सदृश ऐसे अखिन्न होकर चिन्तन और अर्जन कीजिए, जैसे वासनायुक्त कर्मठ पुरुष ॥७॥ हे शत्रुनाशक श्रीरामजी, वासनायुक्त मूढ़जन के सदृश आप बलपूर्वक समस्त शत्रुओं का ऐसे विनाश कर दीजिए, जैसे वायु जलशून्य बादलों का विनाश कर देती है ॥८॥ वासना से आक्रान्त कर्मकुशल मनुष्यों के सदृश करुणापात्र जनों में उदारता का और महात्माओं के विषय में निन्दा न करने का अवलम्बन कीजिए तथा अपनी आत्मा में मन को रमने दीजिए ॥९॥ हर्ष करने योग्य स्थानों में हर्षित होइए, दुःख करनेयोग्य स्थानों में दुःखी बनिये, दीनों पर दया कीजिए और वीरों में वीर बनकर रहिए ॥१०॥

कुछ करने पर मूढ़जनों को तो दोष लगता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष को कुछ करने पर दोष नहीं लगता, यह कहते हैं।

हे अनघ, जो पुरुष अपनी वृत्तियों को आत्मा के अन्दर लगाकर स्थित रहता है, सदा आनन्द में मग्न रहता है, अपनी आत्मा में ही आराम करता है तथा जो शान्ति और औदार्य से युक्त है, वह कर्ता नहीं होता, इसलिए पूर्वोक्त विषयों में आप कभी कर्ता नहीं होंगे और न उनसे आपको दोष ही लगेगा ॥११॥ हे साधो श्रीरामजी, आत्मा की भावना से निरन्तर अन्तर्मुख वृत्ति बना कर स्थित

हुए आपके ऊपर यदि इन्द्र की भी वज्रधारा गिर जाय, तो भी वह व्यर्थ हो जायेगी ॥१२॥

समस्त संकल्प-विकल्पों से निर्मुक्त अपनी संविन्मात्ररूप अन्तरात्मा में, स्वेच्छा से जो स्थित रहता है, वह आत्मारामी महान् ईश्वर ही है ॥१३॥ ऐसे पुरुष को शस्त्र छेदते नहीं, अग्नि जलाती नहीं, जल भिगाते नहीं और पवन सुखाता नहीं ॥१४॥ जिसमें चित्त भलीभाँति प्रकाशित होता है, ऐसे नित्य निरतिशयानन्दरूप, जन्मशून्य, जरा-मरणरहित, स्वात्मा का दृढ़ खम्भेवाले मन्दिर की नाईं अवलम्बन कर निश्चल होकर स्थित रहिए ॥१५॥ हे रामभद्र, जगद्रूपी वृक्ष के पदार्थरूपी पुष्पों की सुगन्धशोभा के सदृश सारभूत स्वस्थ ब्रह्मसंवित्ति का (आत्मज्ञानका) अवलम्बन कर समस्त बाह्यवृत्तियों को सदा अन्तर्मुख बनाकर स्थित रहिए ॥१६॥ अन्तर्मुखता से निरन्तर बाहर के कार्यों का सम्पादन कर रहे भी प्राणियों में वासना ऐसे उत्पन्न नहीं होती, जैसे कि पत्थरों में नहीं होती ॥१७॥ भद्र, कछुए के अंगों के सदृश भीतर और बाहर के सब वृत्तियों से विरत होकर सारे कर्म करते हुए भी आप अपने मन को भीतर लीन कर दीजिए ताकि फिर वह बाहर न निकलने पावे ॥१८॥ अन्दर की सुख-दुःखादिवृत्ति से शून्य, बाहर की घटादिवृत्ति से युक्त-से तथा प्रायः आधे जगे हुए चित्त से आप कार्य करते चलिए ॥१९॥ जैसे बालक एवं मूक आदि का विज्ञान अंदर की वासना से रहित होता है, वैसे ही अन्दर की वासना से शून्य अतएव आकाश के सदृश निर्मल हुआ चित्त कार्य कर रहे आपको बन्धनकारक नहीं होगा ॥२०॥ भद्र, आप समस्त चिन्ताओं को तिलांजलि देकर ऐसे चित्त से युक्त रहिए, जो कि निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से बाधित हो चुका हो, कुछ कुछ बाहर की ओर प्रतिभासरूप से निकल सकता हो तथा भीतर से मर गया हो ॥२१॥ हे निष्पाप रामजी, ज्ञान से चित्त का विनाश हो जाने पर बची हुई संकल्परूपी कलंक से निर्मुक्त विशुद्ध ब्रह्मचिति में बैठकर आप कुछ कीजिये या न कीजिये दोनों एक-से हैं ॥२२॥ जागते हुए, व्यवहार करते हुए या जाते हुए भी आप सोये हुए पुरुष के सदृश वृत्ति के कारण न तो अभीष्ट का ग्रहण करें या न अनिष्ट का परिहार ही करें ॥२३॥ जाग्रत की अवस्था में भी यदि आप सब प्रकार की उपाधियों का विलयकर सुषुप्ति अवस्थावाले हो जाते हैं तो सुषुप्ति अवस्था में भी आप जाग्रत अवस्थावाले ही हैं क्योंकि अज्ञान आवरण उस समय रहेगा ही नहीं। जाग्रत और सुषुप्ति को अलग करनेवाले अज्ञान और अज्ञानकार्य का बाध हो जाने पर ये दोनों अवस्थाएँ एक हो जाती हैं और एकता हो जाने पर जो सन्मात्ररूप बच जायेगा, वही निर्विकार सन्मात्र-स्वरूप आप हैं ॥२४॥ इस तरह धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा आप आदि-अन्त से रहित ऐसा पद प्राप्त कीजिए, जो समस्त शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों से रहित तथा सब वस्तुओं से परे हैं ॥२५॥ न तो द्वैतात्मक जगत् है और न एकात्मक ही जगत् है, इस तरह के निश्चय से युक्त होकर आप आकाश के सदृश विशद् आशय (मन) वाले होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कीजिए ॥२६॥

समस्त द्वैत का अपलाप हो जाने पर तो आपका भी अहंकार (वसिष्ठजी का अहंभाव) रहेगा

नहीं, इस स्थिति में आपके वक्तापन आदि व्यवहार कैसे, इसी आशय से श्री रामभद्र पूछते हैं।

श्री रामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनिशार्दूल गुरुवर, यदि ऐसी बात है, तो अहम्भावरूप वसिष्ठनाम के आप ही यहाँ स्थित है क्या ? यानी आपके व्यवहार कैसे, यह कहिये, क्योंकि द्वैत के अपलाप से आपमें भी अहम्भाव तो रहा नहीं ॥२७॥

वसिष्ठजी को तो अहम्भाव आदि हैं ही नहीं, परन्तु हमारी और श्रोताओं की अज्ञान–दृष्टि के ही कारण उन्होंने उसका अवलम्बन किया था, जब सबको तत्त्वज्ञान हो चुका तब तो मेरे प्रश्न का मौन ही उत्तर है, इस आशय से वसिष्ठजी की चुपचाप स्थिति कहतें हैं।

वाल्मीकि मुनि ने कहा : जब श्रीरामजी ने ऐसा प्रश्न किया, तब वक्ताओं में अग्रणी महाराज वसिष्ठजी आधे मुहूर्त तक चुपचाप स्थित रहे। उनकी ऐसी चेष्टा स्पष्ट विदित हो रही थी ॥२८॥ महाराज वसिष्ठजी तो मौन धारणकर स्थित रहे और इधर सभ्य महाजन अब क्या होगा, इस संशय–सागर में पड़ गये, यह देखकर श्रीरामभद्र फिर कहने लगे ॥२९॥

अब गुरुजी के पास उत्तर देने की युक्ति रही ही नहीं, यों मान रहे श्रीरामभद्र कहते हैं ।

भगवन्, मेरे–जैसे आप चुपचाप क्यों स्थित हैं ? जगत् में शिष्यों का ऐसा कोई तर्क ही नहीं है, जो विद्वान गुरुओं के लिए उत्तरयोग्य न हो ॥३०॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे अनघ, मुझमें कहने की शक्ति नहीं है, इसलिए उत्तर–युक्ति न रही, यह बात नहीं है, किन्तु यह प्रश्न चरम सीमा का होने के कारण चुपचाप स्थित रहना ही इसका उत्तर है ॥३१॥

प्रश्न की चरम सीमा बतलाने के लिए भूमिका बाँधते है ।

भद्र, प्रश्नकर्ता दो तरह के होते हैं एक तो तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी। इनमें अज्ञानी प्रश्नकर्ता को अज्ञ बनकर उत्तर देना पड़ता है और ज्ञानी को ज्ञानी बनकर ॥३२॥ हे महामते, इतने समय तक तो आप तत्पद को (ब्रह्मात्मा को) जानते ही नहीं थे, इसलिए आप सविकल्प उत्तरों के ही पात्र रहे ॥३३॥ अब तो आप तत्त्वज्ञ बन गये और परम पद में स्थिति भी आपने प्राप्त कर ली, इसलिए स्पष्ट है कि विकल्पवाले उत्तरों के योग्य नहीं रहे ॥३४॥ हे वक्ताओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, यह जितना वाणीरूप भाषण है, वह चाहे सूक्ष्म अर्थवाला हो, चाहे परम अर्थवाला हो, चाहे थोड़ा हो अथवा अधिक हो, परन्तु हे साधो, वह सब प्रतियोगी, भेद, संख्या, मुख्यभूत अर्थ, साधन, वाचन बोध, प्रमाण आदि की कल्पनाओं से ऐसे मिला–जुला रहता है जैसे जालों के अंदर सूर्यकिरणें त्रसरेणुओं से (सूक्ष्म रजकणों से) मिली–जुली रहती है ॥३५,३६॥ हे मनोरम, जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसके लिए कलंकपूर्ण उत्तर होता नहीं, क्योंकि जितनी वाणियाँ हैं, वे सब कलंकपूर्ण ही हैं, आप तो तत्त्वज्ञ बनकर स्थित हैं ॥३७॥ हे भद्र, ज्ञानी शिष्य के सम्मुख मुझे जो यथावत् सत्य है, उसे ही कहना चाहिए, परन्तु समस्त कलंकों से निर्मुक्त यथावत् सत्य तो काठ की तरह मौन

ही है ॥३८॥ भद्र, जो परमपद है, वह तत्त्वज्ञान के पूर्व अज्ञान से उपदेशवाणी के योग्य है, वह कल्पनाकर ससंकल्प बनता है यानी वाणी के व्यवहाररूप संकल्प का विषय हो जाता है और विचार से ज्ञात हो जाने पर मौन यानी वाणी का अविषय हो जाता है, यों विद्वानों का निश्चय है, इसलिए तत्त्वज्ञानी हुए आपको अब यह मौन ही मैंने सुन्दर उत्तर दिया ॥३९॥ हे प्रिय, वक्ता पुरुष जिस रूप का होता है, उसी रूप का कथन करता है, मैं तो तत्त्वसाक्षात्कार से बोधित होनेवाली जो वस्तु (ब्रह्मरूप) है, तन्मय बनकर वाणी से परे परमपद में स्थित हूँ ॥४०॥ जो वाणी से अतीत पद में बैठा है, वह वाणीरूप मल को कैसे ग्रहण करेगा ? इसलिए मैं अवाच्य (कहने के अयोग्य वस्तु) नहीं कहता, क्योंकि वाणी संकल्परूप कलंक से युक्त ही रहती है ॥४१॥

श्री रामजी ने कहा : भगवन्, वाणी में जो-जो भिन्नता, विरोधिता आदि से होनेवाले दोष प्रवृत्त होते हैं, उनका अनादरकर यानी उनमें तात्पर्य न रखकर भागत्यागलक्षणा द्वारा मुझसे कहिए कि आप कौन हैं ? ॥४२॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे राघव, हे तत्त्वज्ञों में श्रेष्ठ, जब आप भागत्यागलक्षणा से कुछ कहलाने के लिए उद्यत हैं, तब आप यथार्थरूप से स्थित इस विषय को सुनिये कि आप कौन है, मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है ॥४३॥ हे तात, जो 'अहम्' यह वस्तु है, वह यह निरामय (विकारशून्य चैतन्याकाश) ही है । वह बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयों से रहित है और समस्त कल्पनाओं से परे हैं ॥४४॥ मैं स्वच्छ चिदाकाशरूप हूँ, आप चिदाकाशरूप हैं और सम्पूर्ण यह जगत् भी आकाशरूप ही है, अधिक क्या कहें, समस्त केवल आकाश ही है ॥४५॥ विशुद्ध ज्ञानमय आत्मा में मैं विशुद्ध साक्षीरूप आत्मा ही हूँ, मुझमें भेदज्ञान की दृष्टि ही नहीं है और न प्रत्यागात्मा से भिन्न कुछ अणुमात्र भी कहने की इच्छा रखता हूँ ॥४६॥

तब अज्ञानियों को बोध देने के लिए तथा प्रतिवादियों पर विजय पाने के लिए निरहंकारी विद्वानों की प्रवृत्ति कैसे होगी, इस पर कहते हैं।

शिष्यों का सन्देह दूर करने के लिए या प्रतिवादियों पर विजय पाने के लिए उद्यमशील विद्वान श्रुति, युक्ति आदि प्रमाणों के द्वारा अपने पक्ष के समर्थन में तत्पर होकर बाधित का भी आहार्यारोप कर अहन्तारूप एक ही आत्मा को बढ़ाते हैं और उनका अनेक शाखाओं में विस्तार करते हैं, परन्तु अज्ञानी के सदृश मोहित नहीं होते ॥४७॥

इतनी बात से विद्वानों का पाण्डित्य बतलाना ही परमपद है, यह नहीं जानना चाहिए, किन्तु कोई दूसरा ही है, यह कहते हैं।

यद्यपि जी रहा है और यद्यपि व्यवहार भी कर रहा है, तथापि परम शान्तिरूप ब्रह्म में विश्रान्त पुरुष की मुर्दे के सदृश जो स्थिति है, वही परमपद कहलाती है ॥४८॥

परमपद का ही विशेषरूप से वर्णन करते हैं।

भद्र, जो बाहर के साधनों से निर्मुक्त है, जो अन्दर के साधनों से शून्य है, जो कर्तापन एवं भोक्तापन से रहित है, जो सुखरूप नहीं है, जो दुःखरूप नहीं है, जो अन्यरूप नहीं है, जो शान्त और सम है तथा जो सबका आदि है, वही स्वप्रकाश-निरतिशय आनन्दरूप शिवपद है ॥४९॥

परमपद को स्वप्रकाशस्वरूप क्यों मानना चाहिए, उसे विषयसुख के सदृश भोग्य ही क्यों न माना जाय, इस पर कहते हैं।

यह जो अहम्भाव है, वह मुक्ति का अभाव है अर्थात् मुक्ति का पूर्वकालिक अभाव है। इसलिए अहम्भाव से मुक्ति की भावना कहाँ होगी ? अभाव से किसी प्रतियोगी का अनुभव तो हो नहीं सकता। मुक्तरूपता द्वारा भी मुक्ति की भावना नहीं हो सकती, क्योंकि मुक्तरूपता और मुक्ति तो एक ही है, इसलिए दोनों पक्षों में जन्मान्ध पुरुष चित्र देखता है, यही न्याय आ जाता है ॥५०॥

वृक्ष, मृग आदि में चहल-पहल हो या न हो, पर पर्वत की शिला निश्चल स्थित होने से जैसे जड़ है, वैसे ही अहंकार प्राण आदि में चहल-पहल हो या न हो, पर परमपद निश्चल स्थित है, अतः उसे जड़ क्यों न माना जाय, इस पर कहते हैं।

अहंकारादि का स्पन्दन (चहल-पहल) या अस्पन्दन होने पर भी जो पाषाण के सदृश जिसका निश्चल अवस्थान है, वह अजड़ का ही है, जड़ का नहीं है, यह आप जानिए। वही परमपद, अजर (क्षीणता आदि दोषों से रहित) मोक्ष है ॥५१॥

अतः अन्तिम स्थिति में वह स्वप्रकाशरूप ही फलित होता है, यह कहते हैं।

जैसे लौकिक आत्मा में प्रसिद्ध ज्ञातापन लोकैषणावर्जित ज्ञातापुरुष के द्वारा स्वयं ही अनुभूत होता है, वैसे ही परमप्रकाशरूप निर्वाणपद स्वतः ही अनुभूत होता है, दूसरे के द्वारा नहीं ॥५२॥ वहाँ पर (परमपद में) न अहन्ता है, न त्वत्ता है, न अहन्ता का अभाव है, न अन्यरूपता है। वह निर्वाणपद केवल विशुद्ध शिवरूप कैवल्य ही है ॥५३॥

उसका दूसरे से प्रकाश होना ही संसार है, यह कहते हैं।

इस चेतन का यानी निर्वाणरूप स्वप्रकाशपद का विषयों की ओर झुक जाना ही परप्रकाश (विषयसम्बन्धरूप क्रिया) कहा गया है और यही संसार है, यह भयानक महान् कष्ट को देनेवाला बन्धन है ॥५४॥

विषय सम्बन्ध के अभाव से प्राप्त अचेतनता तो मोक्ष में इष्ट ही है, यह कहते हैं।

चेतन की विषयों की ओर प्रवृत्ति न होना ही अचेतनता है, इसी को आप मोक्ष जानिए। मोक्ष ही अविनाशी शान्त परमपद है ॥५५॥

मोक्ष में विषयों की स्थिति का निवारण करते हैं।

भद्र, देश, काल आदि से अपरिच्छिन्न, शान्तस्वरूप ही जब मोक्ष स्थित है, उस शान्तरूप में चेत्य की सम्भावना ही नहीं हो सकती, ऐसी स्थिति में कौन किसका, किस तरह प्रकाश करेगा ? ॥५६॥

इस तरह केवल अन्तर्मुखतामात्र से स्वतः सिद्ध मुक्ति का उपपादन कर अब बर्हिमुखतामात्र से ही जगत् का विस्तार होता है, इसका उपपादन करते हैं।

हे श्रोतागण भूपसमूह, जैसे स्वप्न के संसार में चेतनगत तत्–तत् वासनानुसारी संकल्प चेतनरूप होता हुआ भी चेतनरूपताका परित्याग कर चेतनभिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही यह आत्मा जब बहिर्मुख होता है, तब वही प्रपंचरूप होकर अन्य जड़ के सदृश भासने लग जाता है ॥५७॥ इसी तरह ये जो मन, बुद्धि, अहंकार आदि हैं, वे सब अन्तर्मुखदशा में चेतनरूप हैं और मन, बुद्धि आदि शब्दार्थों में भावना करने पर यानी बहिर्मुखदशा में चेतनभिन्न जड़रूप हैं ॥५८॥

इसी रीति से आन्तर और बाह्य जितना जगत् है, वह सब चैतन्यैकरस ही सिद्ध हो जाता है, ऐसी स्थिति में चिति की बहिर्मुखतारूप जो भेदबुद्धि है, वही केवल व्यर्थ और अनर्थ की हेतु है, इसे कहते हैं।

यह विस्तृत जितना बाह्य–आभ्यन्तर जगत् है, वह सब सम, स्वच्छ एवं अभिन्न संविद्रूप ही है, इसमें जो भेदबुद्धि की जाती है, वह अनर्थ के लिए ही विकसित होती है ॥५९॥

समस्त दृश्यों का विनाश हो जाने पर अन्त में बच जानेवाला संविन्मात्रस्वरूप जो आत्मा है, वह शून्यरूप नहीं है, किन्तु निरतिशयानन्दरूप ही है, यह विद्वानों का अनुभव है, यह कहते हैं।

अन्त में अवशिष्ट विशुद्ध संविन्मात्रस्वरूप आत्मा में और शून्य में क्या अन्तर है, यह हम लोग नहीं जान सकते। जो अन्तर है, उसे तो विद्वान् कहते हैं कि वह वाणी का विषय नहीं है, स्वानुभववेद्य है अर्थात् निरतिशयानन्दरूप है, उसका वर्णन कैसा कर सकते हैं ? ॥६०॥

तब विवेकियों की यौक्तिक दृष्टि से जगत् कैसा है। इसे कहते हैं।

जैसे आँख के प्रणिधानरूप (एकाग्रता) प्रयत्न से अन्धकार में कुछ सद्–असद्रूप आभास दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्म में जो आभास दिखाई देता है वह आभास ही यह जगत् है ॥६१॥ यह मैं चिदाकाशस्वरूप ही हूँ, इस प्रकार निश्चयकर वासनानिर्मुक्त हो उत्तमशान्ति से सम्पन्न हो गया हूँ। आप भी यदि वासना को कहीं न बाँध लें, तो चिदाकाशरूप ही होकर स्थित हैं ॥६२॥ यह चिदाकाशरूप ही मैं हूँ, इस प्रकार के निश्चय से युक्त जो भी दूसरा पुरुष है वह तत्त्वज्ञ ही है। वह व्यवहार से अज्ञानी के सदृश विद्यमान होता हुआ भी चैतन्यस्वरूप ही है और देहादि की स्थिति होने पर भी उन्हें असत्–सा मानकर स्वयं शान्त ही रहता है ॥६३॥

क्या जीवों की अविद्या को चिदात्मा नष्ट कर देता है या जड़ ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि चिदात्मा तो अविद्या का साधक है, इसलिए उससे विरोध ही नहीं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सारा जड़ अविद्या का कार्य है, इसलिए अविद्या का जड़ भी विरोधी नहीं है, इस आशंका पर कहते हैं।

'मैं अज्ञानी हूँ', इस प्रकार का साक्षी ज्ञान ही अज्ञान की सिद्धि करता है। यद्यपि जीवों

की संसाररूप अविद्यात्मक अग्नि 'मैं संसारी हूँ' इस तरह से साक्षिज्ञान से रक्षित अज्ञानरूप वायु से जलती रहती है तथापि 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस तरह के प्रबुद्ध जीवों की अन्तिम साक्षात्कार वृत्तिरूप में परिणत साक्षि-रक्षित अज्ञानवायु से मानों नष्ट हो जाती है, तीसरे किसी की अपेक्षा नहीं करती ॥६४॥

क्या मुक्त पुरुष जगत् को जानते हैं या नहीं ? यदि जानते हैं, तो संसारी और मुक्त दोनों में कोई विशेष नहीं रहा। दूसरे पक्ष में यानी नहीं जानते हैं, तो इस पक्ष में एक आत्मा के अज्ञान का परिहार करते हुए आपने जगत् के अनन्त अज्ञान स्वीकृत कर लिये। सूखे काठ के जैसे स्थित उन पुरुषों में मुक्तत्व ही कैसा ? इस पर कहते हैं।

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्द आत्मा के स्वरूपभूत हुए उन मुक्त पुरुषों की सांसारिक ज्ञानों से रहित दुःखरूप क्षोभ से शून्य जो स्थिति है वही मोक्ष है और वही अविनाशी पद है। इनमें अनन्त अज्ञानों की आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि एक ही के विज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाने के कारण उनमें किसी तरह के अज्ञान की प्राप्ति ही नहीं है और भ्रमात्मक ज्ञान का अभाव भी आत्मरूप ही है, इसलिए उसमें तत्त्वज्ञान से कोई विलक्षणता ही नहीं रही ॥६५॥

जब मूलअज्ञान रहता है तभी उसके बल से बाह्य अर्थों के अज्ञान मूर्खता के सम्पादक होते हैं। मूलअज्ञान का नाश हो जाने पर तो बाह्य अर्थों के अज्ञान मुनित्व के सम्पादक हो जाते हैं, इस आशय से कहते हैं।

आत्मज्ञान के द्वारा सांसारिक पदार्थों का अज्ञान प्राप्तकर पुरुष मुनि बन जाता है, परन्तु आत्मा के अज्ञान द्वारा सांसारिक पदार्थों का अज्ञान प्राप्त कर पुरुष पशु तथा वृक्ष बन जाता है ॥६६॥

ब्रह्मज्ञान और जगद्भ्रम सभी अज्ञानरूप ही हैं, परन्तु अज्ञाननिवृत्ति तो अज्ञान नहीं है, जिससे मुक्ति न हो, इस आशय से कहते हैं।

'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार का ब्रह्मज्ञान तथा यह जगत् सब अविद्यामय असत्य भ्रम है। यह ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति से, दीपक से अन्धकार की नाईं, निकल जाता है ॥६७॥

तब जीवन्मुक्तों की मुक्तता ही न रही, क्योंकि उन्हें चक्षु आदि इन्द्रियों से बाह्य पदार्थों का विज्ञान होता है, यही दृष्ट है, इस पर कहते हैं।

जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष है उसकी समस्त इन्द्रियाँ हैं पर वे संकल्पशून्य हैं और सविकल्प ज्ञान से रहित हैं। इसलिए शान्तबुद्धि यह महात्मा बाह्य और आन्तर किसीका अनुभव नहीं करता ॥६८॥ जिस तरह सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न का विलय हो जाता है उसी तरह तत्त्वज्ञान होने पर समाधि में समस्त दृश्य विलीन हो जाता है और भीतर केवल आत्मा ही लक्षित होता है ॥६९॥

समस्त दृश्य क्यों विलीन हो जाता है इस प्रश्न पर वे भ्रान्तिरूप है, यह उत्तर देते हैं।

जैसे आकाश में नीलरूप विलीन हो जाता है। वैसे ही पृथिवी आदि रूप समस्त दृश्य आत्मा

में विलीन हो जाता है। जैसे आकाश में नीलरूप केवल भ्रान्ति छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है उसी तरह आत्मा में पृथिवी आदिरूप भ्रान्ति छोड़कर और कुछ नहीं है, इसलिए नीलरूप जैसे आकाश है वैसे ही पृथिवी आदिरूप के प्रति आत्मा है ॥७०॥

अतएव बाधित अर्थ की वासना वासना ही नहीं है, ऐसी स्थिति में ज्ञानी वासनारहित ही है, यह कहते हैं।

जिस पुरुष को यह बुद्धि रहती है कि यह सब असत् ही है वह वासना से युक्त होता हुआ भी समस्त वासनाओं से रहित ही है ॥७१॥

चित्र-विचित्र भुवन, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, विहित, निषिद्ध अनेक कर्म एवं विहित निषिद्धकर्मफलों की भोगस्थिति तथा ईश्वर इन सबका जहाँ पर अस्तित्व है ऐसे इस अद्भूत जगत् को आप कैसे असत्, अनृत और संकल्पस्वरूप पूर्वोक्त युक्तियों से मानकर खण्डित करते हैं? संकल्प, मनोरथ आदि स्थलों में तो उस तरह के पदार्थ है नहीं, ऐसी आशंका कर वहाँ पर भी (संकल्प आदि स्थलों में भी) अद्भूत अर्थसत्ता का दिग्दर्शन कराते हैं।

हे भव्य श्रीरामजी, संकल्पजनित पदार्थों में स्वप्न, माया, इन्द्रजाल जैसे चित्रविचित्र अद्भुत अर्थ विद्यमान हैं, वैसे ही ये सब संसार अद्भुत ही हैं। प्रत्यक्षतः दिखाई देनेवाले स्वप्न आदि अर्थों में क्या आस्था बाँधकर बैठे रहना अच्छा है एवं संसार में भी आस्था बाँधकर बैठे रहना क्या अच्छा है? ॥७२॥

जब आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सत्ता हो, तब तो समस्त सुख-दुःख के भोग के लिए पुण्य-पाप की व्यवस्था हो सकती है। आत्मा में जब कर्तृत्व-भोक्तृत्व का संभव ही नहीं, तब पुण्य-पाप की व्यवस्था ही क्या? इस पर कहते हैं।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व का ही जब आत्मा में असम्भव है तब न दुःख है, न सुख है, न पुण्य है, न पाप है और न किसी का कुछ बिगड़ा ही है ॥७३॥ जिस अहंकार में हम लोगों को यह ममताबुद्धि होती है उसका भी कहीं अस्तित्व नहीं है। इसलिए समस्त शून्यरूप अवलम्बनरहित एवं दो चन्द्रमा या स्वप्ननगर के सदृश मिथ्या है ॥७४॥ भद्र, समस्त द्वैत से शून्य तत्त्ववेत्ता पुरुष चाहे व्यवहार में रहे या काष्ठपाषाण के सदृश निश्चल होकर समाधि में स्थित रहते हुए, चाहे लकड़ी के सदृश मौन धारण करे। सभी स्थिति में वह ब्रह्मरूपता प्राप्त करता ही है ॥७५॥

इस तरह मायिक विवर्तवाद के सिद्धान्त को लेकर आरोपित जगत् के अपवाद से तत्त्ववेत्ता पुरुष की परमपुरुषार्थ में निष्ठा बतलाई, परन्तु दूसरे तार्किक जो जुदे-जुदे सिद्धान्त की कल्पना करते हैं उनके पास जगत् के उत्पत्ति आदि व्यवहार में एवं परम पुरुषार्थरूप परमार्थ में कोई युक्ति नहीं है, यह कहते हैं।

भद्र, यह शिवस्वरूप जो अन्तरात्मा है वह प्राण, बुद्धि, मन, देह आदि के साथ एकरूप

बनकर अनेकरूप भिन्न स्वभाव तथा संसार के अनेक अर्थों से आक्रान्त प्रत्यक्षतः दिखाई देता है, इस आत्मा में दिखाई दे रही अनेकरूपता, भिन्न स्वभावता आदि का निराकरण कर दुःखरहित निरतिशय अद्वितीय आत्मा में आनन्दरूपता बचानी है। इसमें अध्यारोप अपवादप्रणाली को छोड़कर दूसरी कोई युक्ति है नहीं। कल्याणरूप अन्तरात्मा को सदा शान्तस्वरूप माना जाय, तो भी निर्विकार अन्तरात्मा का-संचलन एवं परिच्छिन्न स्वभावयुक्त चित्तस्वरूपता धारणकर देह, इन्द्रिय आदि अनेक-अनेक तरह के भावों द्वारा-जो संसार में आना है, इसमें अध्यारोप अपवादप्रणाली को छोड़कर किसी के पास और कोई युक्ति नहीं है। इन सब बातों को सिद्ध करने के लिए आत्मा को परिच्छिन्न, परिणामी एवं सावयव मान लिया जाय, तो भी इस आत्मा को जिन अवयवों को लेकर सावयव स्वीकार करेंगे, इसमें कोई युक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि यदि अवयवों को चेतनरूप मानेंगे, तो कभी उनका एकमत न होगा, ऐसी स्थिति में अवयवों का विच्छेद हो जाने के कारण अवयवी का विनाश ही प्राप्त है। यदि अवयवों को जड़ मानेंगे, तो अवयवी भी जड़ हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अनित्य आत्मा पूर्व के पुण्य-पापों का भोग कैसे करेगा ? इसी तरह आत्मा को जगत् का कारण मानकर शान्त एवं निर्विकार कोई मान ले, तो भी इसकी जगत् बनाने में अनुकूल संकल्पात्मक चित्तरूपता आदि में अध्यारोप अपवाद को छोड़कर और कौन-सी युक्ति हो सकती है ? इसलिए विवर्तदृष्टि ही एकमात्र सब वादियों के लिए शरण है ॥७६॥

यद्यपि स्वभावतः आत्मा शान्त ही है तथापि प्रलय के बाद चित्तत्व, एकत्व, अनेकत्व, सावयवत्व आदि विलक्षण-विलक्षण धर्मों से युक्त पदार्थों का आर्विभाव होगा ही, क्योंकि प्रलय के समय ब्रह्म में सारे पदार्थ लीन होकर बैठे हैं। इसलिए उन पदार्थों का अपना-अपना जो विचित्र स्वभाव है वह तो ब्रह्म में से कहीं गया नहीं, इस पर कहते हैं।

श्रीरामजी, अर्थों की विचित्रता का कारणभूत जो स्वभाव है वह परमात्मा में अर्थों के कारण आया है या स्वतःसिद्ध है ? अर्थों के कारण आया है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि दूसरे स्थान से आनेवाले अन्याधीन धर्म को दूसरे का स्वभाव माना नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि जो स्वभावतः असंग और अद्वय है, ऐसे निर्मल परमात्मा में दूसरे का विचित्र स्वभावरूप मल किसी तरह सम्बद्ध हो ही नहीं सकता। जितने ये पदार्थ हैं वे प्रलयकाल में स्वतन्त्ररूप से अपना अस्तित्व नहीं रखते, जिससे कि प्रलय के बाद अपने-अपने स्वभाव के बल से ही चित्र-विचित्ररूप में आविर्भूत हो सकें, इसलिए इस स्वभाव को अनागन्तुक ही कहना चाहिए। परन्तु यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस पक्ष में ब्रह्म के सर्वगत होने के कारण सब पदार्थ सभी तरह की विचित्रताओं से परिपूर्ण होने लगेंगे ब्रह्म के सर्वगत होने पर 'इस वस्तु का यही स्वभाव है' इसकी व्यवस्था करनेवाला कौन रहेगा ? प्रत्येक वस्तु में सभी तरह की विचित्रताओं को मान लेंगे, तो इस संसार

से विचित्रता का नाम ही उठ जायेगा। सर्वसाधरण धर्म में न तो विचित्रता रहती है और न वह किसी का पार्थक्यकारक ही होता है। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण जगत् की एकरूपता हो जायेगी ॥७७॥

सबके अनुभव पर चढ़ी हुई जगत्–विचित्रता का यदि युक्ति के अभाव में आप खण्डन करते हैं, तो ज्ञान का भी आप खण्डन क्यों नहीं करते, क्योंकि ज्ञेय के बिना ज्ञान तो कहीं होता नहीं। ऐसी स्थिति में शून्यवाद ही आ गया, इस पर कहते हैं।

विषयों के खण्डन के प्रसंग में जो पुरुष यह कहता है कि ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं है, वह अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि ज्ञान के अस्तित्व का खण्डन करनेवाला जो पुरुष है, वह अपने आपका ज्ञान रखता है, इसलिये ज्ञान की सत्ता नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं ? और खण्डन करनेवाला पुरुष अपने से भिन्न ज्ञान और विषय का खण्डन करेगा, अपना तो करेगा नहीं, जब सभी ज्ञान उसी की आत्मा है, तब स्वभिन्न विषय का खण्डन करते हुए वह ज्ञान को आखिर बचा ही लेता है। जो निषेध किया जाता है वह किसी आधार पर ही किया जाता है, निराधार निषेध नहीं किया जाता है। इससे ज्ञान करनेवाला एवं जानने योग्य विषय दोनों का स्वयंप्रकाश, ज्ञाता और ज्ञेय से शून्य आधारभूत आत्मा में ही निषेध करना चाहिए, यही उसकी आत्मा है। ऐसी स्थिति में अविनाशी स्वात्मा में ही ग्राह्य–ग्राहकदृष्टि के असम्भवप्रतिपादन में पर्यवसान से खण्डनकर्ता के मत में समस्त प्रतिषेधों के आधारभूत कोई अज वस्तु सिद्ध हो गई और यही वस्तु परब्रह्म है ॥७८॥

हे श्रीरामजी, आप ब्रह्मज्ञानियों द्वारा प्रेमपूर्वक सेवित तथा छोड़ने लायक नहीं जो अज, अविनाशी, कल्याणरूप, परमार्थसत्यभूत, नित्यसिद्ध, निर्मल, शान्त, सम शिवपद है, तद्रूप ही बनकर स्थित हो जाइये। व्यवहार में साधारणजनों के सदृश यद्यपि आप खाइये, पीजिये, खेलिये, तो भी आप मुक्त ही हैं, क्योंकि आपको दृश्य प्रपंचरूप बन्धन है ही नहीं ॥७९॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

तीसवाँ सर्ग

जिस दृष्टि से अविद्याजनित नानात्वभ्रान्ति की शान्ति द्वारा
धीर पुरुष परमब्रह्म में स्थिर हो जाता है, उस दृष्टि का वर्णन।

जब तक अहम्भाव परित्यक्त नहीं होता, तब तक ब्रह्मविचार भी नहीं हो सकता, फिर ब्रह्मलाभ तो दूर ही है, इस आशय से कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अहम्भाव ही सब अविद्याओं की मूलभूत अविद्या है, यही मोक्षस्थान को आवृत करनेवाली है। जो मूढ़ पुरुष हैं, वे उसी अविद्या से परमपद की अन्वेषणा करते हैं, यही उनकी उन्मत्तों की–सी चेष्टा है ॥१॥ भद्र, जैसे धूम्रज्ञान अग्निज्ञान का हेतु पर्याप्त

है, वैसे ही अज्ञान से उत्पन्न अहन्ता ही अज्ञान की सत्ता में हेतु पर्याप्त है, जो तत्त्वज्ञानी शान्तपुरुष है, उसे ममता या अहन्ता नहीं रहती ॥२॥ हे श्रीरामजी, इस अहन्तारूपी मल का सर्वथा त्यागकर निर्मल हो चिदाकाश की नाईं मोक्षस्वरूप ज्ञानी पुरुष सांसारिक सर्वविध सन्तापों से शून्य स्थित रहता है। चाहे वह सदेह रहे या बिना देह का ॥३॥

अहन्ता के दूर चले जाने से ज्ञानी पुरुष निर्मल और विक्षेपशून्य परिपूर्ण हो जाता है, यह वर्णन करते हैं।

जैसा अहन्ता से रहित ज्ञानीपुरुष सुशोभित होता है वैसा न तो शरत्काल का आकाश, न प्रशान्त सागर और न परिपूर्ण चन्द्रमा का मध्यभाग ही शोभित होता है ॥४॥ जैसे चित्रलिखित युद्ध में परस्पर प्रहार कर रही भी सेनाएँ क्षुब्ध–सी प्रतीत होने पर भी अक्षुब्ध ही रहती है, वैसे ही व्यवहार में निरत भी ज्ञानी पुरुष में समता (अक्षुब्धता) ही रहती है ॥५॥ जो ज्ञानी पुरुष है उसकी वासना वासना ही नहीं है, क्योंकि वह निर्वाण स्वरूप बन गया है। जैसे जले हुए वस्त्र में तन्तुओं की रेखाएँ प्रतीत होती हैं, परन्तु असल में तन्तुओं की रेखाएँ हैं ही नहीं, वैसे ही व्यवहार से ज्ञानी में अनुमित वासना बाधित होने के कारण वासनारूप नहीं है। जैसे समुद्र के तरंग जल से अन्य कुछ नहीं हैं वैसे ही परमात्मा से इतर कुछ भी नहीं है ॥६॥ जैसे तैर रहे तरंगों से युक्त समुद्र पूर्णरूप से जल ही है, वैसे ही दृश्य से वर्द्धित ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥७॥

ज्ञानी पुरुष में भीतर–बाहर सबकी वासनाएँ बाधित हो चुकी हैं, इसमें क्या प्रमाण ? इस शंका पर अक्षोभ, शम आदि ही प्रमाण हैं, इस आशय से कहते हैं।

जो पुरुष भीतर के मानसिक तरंगों से क्षुब्ध नहीं होता और बाहर के तरंगों से भी क्षुब्ध नहीं होता, जो शान्ति से शोभित है और जो सदा प्रसन्न रहता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥८॥ ज्ञानस्वरूप अज्ञात आत्मा में अहन्ता की सृष्टि के रूप से ज्ञानरूप आत्मा ही ऐसे भासित होता है जैसे जल में जल तरंगरूप से भासित होता है, इसलिए इस अनेकता का रूप ही क्या ? ॥९॥ जैसे आकाश में स्फुरित हो रहे नीहारधूम्र के हाथी, रथ आदि आकार दिखाई देते हैं, परन्तु वे आकार नीहारधूम्र से पृथक् नहीं हैं, वैसे ही परमपद में ये सर्ग भी हैं अर्थात् परमपद से भिन्न यह सृष्टि नहीं है ॥१०॥

अब महाराज वसिष्ठजी सभी श्रोताओं को सम्बोधित कर कहते हैं।

हे उपस्थित विद्वानों, आप लोग किसी तरह का विषाद न करें, किन्तु मेरे कथन के अनुसार विषाद के हेतु सम्पूर्ण प्रपंच संवित् की एकमात्र भ्रान्ति (विवर्त) है, यों विचारकर भ्रान्ति और उसके विषय की तत्त्वतः परीक्षा करने पर निःस्वरूप सिद्ध होने के कारण उनकी किसी तरह प्राप्ति न हो सकने से तेजस्वी होते हुए आप लोग सबके ऊपर अपना स्थान जमाइये। क्योंकि मेरे उपदेश से सचमुच आप लोग वस्तुतत्त्व को जान गये हैं। तात्पर्य यह है कि आप लोगों

में अब अज्ञता नहीं रही ॥११॥

किस तरह की वह संविद्-भ्रान्ति अज्ञानियों द्वारा अनुभूत होती है, यह कहते हैं।

जैसे अंकुर अपनी आत्मा में ही वासनात्मक वृक्ष, पत्र, फल आदि का अनुभव करता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष वस्तुतः आत्मस्वरूप होता हुआ भी आकाश के सदृश स्वच्छ और विशाल अपनी आत्मा का जगत् और अहंकाररूप से भलीभाँति अनुभव करता है ॥१२॥

उसमें किस तरह का विचार होता है, यह कहते हैं।

बाह्य रूपालोक की सत्ता तथा आन्तरिक मन की सत्ता ये सब अधिष्ठानरूप से सत्य होती हुई भी अपने स्वरूप से ऐसे सत्य नहीं हैं, जैसे भ्रमणशील हो रहे अलात की ज्वालार्चि में दण्डचक्रादिरूपता या विधुर पुरुषों के चित्त में कल्पित कामिनी महिलाएँ अपने स्वरूप से सत्य नहीं हैं ॥१३॥ इसलिए हे श्रोताओं, यह सारा संसार जैसे उत्पन्न होता है, जैसे स्थित है, जैसे अपने कार्यों का आरम्भ करता है, जैसे सुख-दुःख का अनुभव करता है, जैसे नष्ट होता है और जिस तरह के इसके देश-काल हैं इन सब बातों का उत्पत्ति-स्थिति आदि प्रकरणों में कही गयी युक्तियों से निश्चय कर यानी ये सब मिथ्या हैं, यह निश्चय कर अज़र होते हुए शान्तरूप से आप लोग स्थित रहिये ॥१४॥ इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिए व्यवहार कर रहा भी मुक्त पुरुष मुर्दे के सदृश अन्यता का अनुभव नहीं करता, किन्तु अपनी आत्मा में चित्त का समर्पण कर स्वस्वरूप का ही अनुभव करता है ॥१५॥ जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं उनकी अहन्ता मनोजनित वासना से रहित ही है। वह अहन्ता देहनाश-पर्यन्त जो जगत् धारण करती है और उसका भोक्ता जब तक जीवन धारण करता है, वह सब चिद्रूप जीव ही है उसमें तनिक भी जड़ता नहीं है, यही परमपद है ॥१६॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यही निकला कि जीव जगत् की जड़रूप से सत्ता मान लेना ही अनर्थ है, इस आशय से कहते हैं।

जैसे समुद्र में जहाजों के भार-वहन के लिए आधारभूत जलसत्ता ही केवल कारण है वैसे ही संसाररूपी फन्दे से बँधे गये मनुष्यों को दुःखरूपी भार ढोने के लिए जीव-जगत् की जड़रूपसत्ता ही कारण है ॥१७॥ जो मृत पुरुष के द्वारा प्राप्त किया जानेवाला स्वर्ग है, वह क्या जीवित पुरुष द्वारा किसी तरह प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् मृत पुरुष लभ्य स्वर्ग जैसे जीवित पुरुष का जीवन अपराध से मानों आश्रय नहीं लेता, वैसे ही मोक्ष सत्ता अज्ञानी पुरुष का अज्ञानगत जड़तानुभव के अपराध से मानों आश्रय नहीं लेती ॥१८॥

मोक्षरूप परमपुरुषार्थ मानने की आवश्यकता क्या है ? सांकल्पिक स्वर्ग आदि फलों मे से किसी एक को नित्य पुरुषार्थ रूप मान लीजिये, इस पर कहते हैं।

जो-जो पदार्थ संकल्प से सिद्ध होता है, वह सब संकल्प से हीन नष्ट भी होता है।

इसलिए जहाँ इस संकल्प का सम्भव नहीं है, वही अक्षय पद मोक्ष सत्य है ॥१९॥ न तो अन्य कोई है और न मैं ही हूँ, इस तरह की अनहंभावना से आप निर्भय हो जाइये। अज्ञदृष्टि यद्यपि इस अनहंभावना को भयावह समझकर ग्रहण नहीं कर सकती, तथापि परमार्थ दृष्टि उसे सत्य अमृतरूप समझकर ग्रहण ऐसे कर सकती है, जैसे अज्ञदृष्टि से भयंकर विष समझकर छोड़े गये अमृत को परमार्थ दृष्टि ग्रहण करती है ॥२०॥

इसमें सत्यता का उपपादन करते हैं।

जड–देहादि से लेकर चित्तपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर विचारकर देखने से अहंरूप उपलब्ध नहीं होता। अतः जड़ देहादिरूप 'मैं नहीं हूँ' एकमात्र यही सत्यता है ॥२१॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण शान्ति की सीमारूपी मोक्षता अहंकार की शान्ति ही है। जैसे जमे हुए घी के पिघल जाने पर घी का कुछ नाश नहीं होता, वैसे ही अहन्ता का नाश होने पर आत्मा का अणुमात्र भी कुछ नाश नहीं होता। अहन्ता के नाश से सर्वनाश हो जायेगा, यों विचारकर भय नहीं करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

विचार करने से जिन पुरुषों के सम्पूर्ण विशेष शान्त हो चुके हैं उनके लिए अहन्ता का नाश करनेवाली केवल मुक्तता उदित होती है। उनका वस्तुतः कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥२२॥ इस मुक्ति में, भोगों का त्याग, विचार, इन्द्रिय, तथा मनका निग्रहरूप पौरुष इन तीनों के सिवा और कोई दूसरा उपयोगी नहीं है, यह निश्चय करके हे अज्ञ, मुमुक्षुओं, आत्मभिन्न सबका त्यागकर शीघ्र अपनी आत्मा की ही शरण में जाओ ॥२३॥ इस प्रकार अहन्ता के नाशक सम्पूर्ण द्वैतनाशपूर्वक जो ब्रह्मभाव से मन की स्थिति है, उसी को श्रुतियाँ और विद्वान् लोग मोक्ष कहते हैं और वह मोक्ष तत्त्वज्ञान के बिना कभी भी नहीं होता। सर्वोत्तम ज्ञान भी यही है कि यह जगद्भ्रम परमार्थ कभी नहीं हो सकता, यह मोक्षशास्त्र में प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि यह जगत् तो एकमात्र भ्रम है, सद्रूप आत्मा ही परमार्थ है। चूँकि इस ज्ञान में 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति से कराया जा रहा भी विश्वास पुरुष के प्रबल रागादि दोष के कारण तथा जगत् में दृढ़ सत्यत्वभ्रम हो जाने के कारण जम नहीं पाता, इसीलिए चिरकाल तक जीव को संसारबन्धन बार–बार हुआ करता है ॥२४॥ इसलिए शास्त्रों में दृढ़ विश्वास करके 'जगत् और अहन्ता–ये दोनों असत् हैं, इसको' श्रवण, मनन आदि के अभ्यास द्वारा भलीभाँति जानकर अपने धन, जन, स्त्री तथा शरीर आदि में आसक्तिशून्य हो परमार्थ तत्त्व को जानकर उपाधि से परिच्छिन्न चिदाकाश जीव और जगत् चिन्मात्रस्वरूप हो जाता है। वही इस जीव की मुक्ति है, यही इसका उपाय है। इस ज्ञान से भिन्न किसी दूसरे ज्ञान से इसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती ॥२५॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

इकतीसवाँ सर्ग

अचिद्रूप वस्तु असत् हो या सत्, सभी चिति से ग्रस्त है, इसलिए कुछ भी नष्ट नहीं होता, इस विषय में निर्वाण की स्थिति का वर्णन।

नित्य निरतिशयानन्द से पूर्ण अद्वय चिदाकाशरूप निर्वाणस्थिति का अनुभव कराने के लिए दृश्यानुभव दृश्यभावना के अभ्यास के अधीन है, इस पूर्वोक्त का स्मरण कराते हैं।

महराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, अपने भीतर जिस किसी असद्रूप वस्तु या अवस्तु की भावना की जाती है, तत्काल उसीका सर्वात्मक चिदाभास में अनुभव होने लग जाता है ॥१॥ वही बाह्य पदार्थों के अनुभवरूप से दृढ़ अभ्यास होने के पहले बाहर में जगत् के रूप से मानों स्फुरित होता है, इस विषय में अपना स्वप्न ही दृष्टान्त है ॥२॥

ठीक है, ऐसा ही रहे, किन्तु इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

यह सारा संसार चिति का ही रूप (कल्पित आकार) है। वह चिति आकाश से भी स्वच्छ है। चूँकि घृत जैसे अपनी आत्मा में ही काठिन्य को धारण करता है वैसे ही चिति जगत्-रूप आकार को धारण करती है, इसलिए यह सब चिद्रूप ही है। चिति से भिन्न और कुछ भी कहीं नहीं है ॥३॥

ऐसा ही सही, इससे भी प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

न तो नाश है, न अस्तिता है, न अनर्थ है, न जन्म है, न मरण है, न आकाश है, न शून्यता है और न अनेकता ही है, किन्तु अधिष्ठानरूप से सब कुछ एकमात्र ब्रह्म ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥४॥

जगत् तथा अहंकार आदि के जड़ांश का तत्त्वज्ञान द्वारा हुआ नाश तो सभी को इष्ट है ही, फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इस पर कहते हैं।

इस जगत् और अहन्ता आदि का नाश इष्ट होने पर भी वस्तुतः कुछ भी नहीं बिगड़ता, क्योंकि असद्रूप स्वप्नादि का भी तो नाश इष्ट है, उससे क्या बिगड़ सकता है ? क्योंकि नाश का स्वरूप ही क्या रहा ? ॥५॥ मिथ्या अवभासित हो रहे असत् संकल्प नगर का नाश ही क्या (मिथ्या) है ? ठीक इसी तरह असद्रूप जगत् और अहंकार आदि का नाश ही क्या ? असत् का वस्तुतः नाश नहीं है ॥६॥ यदि यह जगत् असद्रूप है, तो फिर अनर्थरूप से इसका वर्णन करके इसकी निन्दा तथा हेयरूप से इसका निर्णय शास्त्रों में क्यों किया जाता है ? यदि यह आप आशंका करें, तो यह आपकी आशंका एक तरह से ठीक ही है, क्योंकि अवस्तुभूत पदार्थों के विषय में न तो किसी प्रकार की निन्दा की और न उनके फल, विचार या किसी तरह के निर्णय की ही सम्भावना है। कहिये, आकाश के फलों की कोई कभी निन्दा या उसके विषय में किसी तरह का निर्णय करता है ? बस, ठीक इसी तरह इसे भी जान लीजिये ॥७॥

तब क्या वे शास्त्र सब व्यर्थ है ? इस पर 'नहीं' यह कहते हैं।

स्वाभाविक स्वरूपस्थिति की सिद्धि के लिए असद्रूप होते हुए भी सत् की नाईं कल्पना करके निन्दा आदि के द्वारा शास्त्रों में वैराग्य एवं विवेक से लेकर तत्त्व साक्षात्कार पर्यन्त उपायों की कल्पना की गई है – यही सब शास्त्रों में निर्णय है, इसलिए हे श्री रामजी, जो ये सब वस्तुएँ सत्-सी प्रतीत हो रही हैं, इन्हें सद्रूप से भावना न करते हुए यानी इन्हें आप मिथ्या समझते हुए शास्त्र और (ज्ञान) सम्प्रदाय के अनुसार भूमिकाओं के क्रम का अभ्यास करके पाषाण के समान स्थित रहिये ॥८॥

ठीक है, आत्मतत्त्व के विषय में यह निर्णय ऐसा ही रहे, किन्तु स्वर्ग आदि जगत् के स्वरूप के विषय में कौन-सा सफल निर्णय हुआ है ? उसे कहते हैं।

हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त स्थिति में सांसारिक पुरुषार्थाभासयुक्त आपका एकमात्र संकल्पस्वरूप यह जगत् एक क्षण में ही पूर्णतः नष्ट हो जाय, बस इतना ही इस सृष्टि के विलास में सफल निर्णय हुआ है ॥९॥

सुषुप्ति और प्रलय में सर्ग तो अपने आप ही नष्ट हो जाते है, अतः उसमें ब्रह्मरूपता के परिज्ञान से कौन-सा लाभ हुआ ? इस शंका पर कहते हैं।

जगत् में ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से उसका मूलोच्छेदपूर्वक अर्थात् पुनः उत्पन्न न होना, क्षय है। इसके विपरीत कोई दूसरे मार्ग से वैसा क्षय नहीं होता, क्योंकि प्रलय और सुषुप्ति आदि में जो क्षय होता है उसमें यह सृष्टि बीजरूप से रहती है, कार्यरूप से नहीं रहती अथवा ऐन्दव आख्यान की रीति से प्रलय में भी कार्य बने ही रहते हैं ॥१०॥

तब सृष्टि के रहते भला प्रलय व्यवहार कैसे ? इस पर कहते हैं।

स्वप्नपुरुष के तुल्य जिन असत् पुरुषों की दृष्टि में यह सृष्टि है, वह सृष्टि तथा वे पुरुष मृगतृष्णाजल के तरंग के समान हैं। तात्पर्य यह है कि प्रलय का संकल्प करनेवाले की दृष्टि से उन सबकी सत्ता न होने के कारण अपने संकल्पित सम्पूर्ण जगत् के नाश से ही उसका प्रलय व्यवहार होता है ॥११॥

यही कारण है कि जीव और जगद्रूपों के विषय में कोई निर्णय न हो सकने से अनिर्वचनीयता कही गई है, यह कहते हैं।

जो लोग असत्पदार्थों का ही सद्भाव-सा मानते हैं, वन्ध्या-पुत्र की वाणी की तरह हम लोग उनका कोई निर्णय नहीं जानते। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव और जगद्रूप अनिर्वचनीय ही है ॥१२॥

इसीलिए तो तत्त्वज्ञानी पुरुष-सादा ही अद्वितीय चिदानन्द से परिपूर्ण रहते हैं यह कहते हैं।

परिपूर्ण समुद्र के समान तत्त्वज्ञानियों में कोई अपूर्व ही अद्वितीय चिदानन्द की परिपूर्णता रहती है, क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांश की दृष्टि में गिरते नहीं ॥१३॥ वे ज्ञानी लोग पर्वत के समान अकम्पनीय, वातरहित स्थान में स्थित दीपक की नाईं सदा समप्रकाशयुक्त तथा

आचारशून्य होते हुए भी आचारयुक्त स्वस्थ ही बने रहते हैं ॥१४॥ तत्त्वज्ञानी पुरुष के हृदय के भीतर उदित हुई परिपूर्ण समुद्र के समान कोई अनिर्वचनीय ही पूर्णता रहती है तथा ज्ञानरूपा भीतरी शीतलता भी कोई अपूर्व ही लक्षित होती है ॥१५॥

तब अज्ञपुरुष का स्वरूप क्या है, इस पर कहते हैं।

इस संसार में अज्ञानी पुरुष तो वासनारूप ही है। तत्त्वदृष्टि से विचार कर देखने पर तो वह वासना कुछ है ही नहीं। कोई भी विचार कर उसे देखता नहीं है और इसीं से यह संसार उपस्थित हुआ है ॥१६॥ जिस पदार्थ की प्रतीति प्रकाश की अस्फूर्ति से सिद्ध है यानी प्रकाश के बिना जिस पदार्थ की प्रतीति होती है वह पदार्थ प्रकाश से विद्यमान नहीं रहता। इस विषय में बिलकुल स्पष्ट दृष्टान्त तो प्रकाश की उपस्थिति में अन्धकार और उसमें अपना काम करनेवाले चोर आदि की उपलब्धि का अभाव ही है ॥ १७॥

प्रकाश के बिना प्रतीत हो रहे पदार्थों की स्थिति किस तरह के प्रकाश में विद्यमान नहीं रहती ? इस पर वह कहते हैं।

देह, मांस आदि स्थूल शरीर पंचीकृत भूतमय, असद्विभ्रम से युक्त एवं जड़रूप है तथा मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीर भी पंचीकृत भूतों के विकारभूत ही हैं, अन्य नहीं ॥१८॥

ठीक है, ऐसा ही सही, परन्तु इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते है।

उस बुद्धि आदि घटित सूक्ष्म शरीर में अहंभाव से प्रविष्ट हुआ चिदात्मा उसके द्वारा स्थूल देह को भी अविद्या के कारण 'यह मैं ही हूँ' ऐसा मानता है। विवेक द्वारा बुद्धि, अहंकार और चित्त की भूतादिरूपता को 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुति में दिखलाये गये उपाय से छोड़कर यदि उसकी स्वप्रकाश चिन्मात्रस्वभाव से स्थिति हो जाय, तो फिर मुक्तता भी आविर्भूत हो ही गई, यह समझ लेना चाहिए। उसीको मैंने आलोक कहा है, यह तात्पर्य है ॥१९॥

इस प्रकार आत्मप्रकाश के प्रसृत होने पर वासना भी बाधित हो जाती है, इसलिए उस वासना से भी संसारबन्ध की प्रसक्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं।

विषयों की ओर उन्मुख होने के कारण चिति लिंग शरीररूपी उपाधि में यदि मिलित है, तो उसकी वासना भी उस लिंग शरीर के सदृश ही मिथ्या है, अतः मुक्तता–अवस्था में उसका बाध होने से वह वासना कैसी, कहाँ से, कहाँ पर और किस स्वरूप की हो सकती है ? ॥२०॥

तत्त्वज्ञान होने पर बद्ध जीव की ही जब उपलब्धि नहीं होती, तब भला किसके द्वारा किसके बंधन की प्रसक्ति ? यह कहते हैं।

जिस जीव को इस संसार का भ्रम है, वह असत् ही है जो असत् होता है, वह तत्त्वदृष्टि से देखनेपर मृगतृष्णा जल की नाईं लक्षित ही नहीं होता, इससे किसको कहाँ से कौन–सा संसार ? ॥२१॥

आत्मप्रकाश के मन्द पड़ जाने पर तो फिर चित्त का उदय हो जाने से संसार हो ही सकता है, इसलिए आत्मप्रकाश को तब तक दृढ़ बनाये रखना चाहिए जब तक कि संसार की बिलकुल विस्मृति न हो जाय यानी उसकी पुनःस्मृति का अवसर न आने पाये, यह कहते हैं।

इससे इस तरह आत्मज्ञान के लिए प्रवृत्त हुए पुरुष के विषयों का स्मरण करने से जो पुनः चित्त का उदय होगा, वही फिर संसाररूप से प्रवृत्त हो जायेगा ॥२२॥ इसलिए हे श्रीरामजी, सबको छोड़कर आकाश के समान निर्मल आत्मा की ही एकमात्र आप उपासना कीजिये। विषयों का पुनः स्मरण न होना ही श्रेय है, अतः भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा एकमात्र सांसारिक विषयों की विस्मृति को ही इस व्यावहारिक जगत् में सिद्ध करना मुमुक्षु पुरुषों का परम कर्तव्य है ॥२३॥

भूमिकाओं के अभ्यास में तत्पर मुमुक्षु किस तरह देखे, यह बतलाते हैं।

न द्रष्टा है, न भोक्ता है, न अस्तिता है और न नास्तिता है, किन्तु सदा समुद्र के समान परिपूर्ण, प्रारब्ध प्राप्त बाधित व्यवहार के निमित्तभूत, एक, शान्तस्वरूप यथास्थित यह सब ब्रह्म ही है॥२४॥ यह सारा दृश्य जगत सद्रूप ब्रह्म ही है, ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर बिम्ब और बिम्बी यानी चिदाभास और उसकी उपाधि दोनों के नाश से जल सूखने से बिम्बरूपता की नाईं, एकमात्र शिवस्वरूपता ही उदित होती है ॥२५॥ परमपद में विश्रान्त समदर्शी तत्त्वज्ञानी की समाधि या राग–द्वेष से शून्य व्यवहार दोनों ही प्रतीत होते हैं ॥२६॥

अथवा निर्वाणरूप सप्तम भूमिका में प्राप्त इस ज्ञानी की शान्तरूपता ही अवशिष्ट रहती है, क्योंकि वासनारहित मुनि कैसे व्यवहार कर सकता है ॥२७॥ जब तक उस ज्ञानी की सप्तम भूमिका में विश्रान्ति परिपोषता को यानी दृढ़ता को प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक राग–द्वेष और भय के उदय से रहित हो वह व्यवहार करता है ॥२८॥ सप्तम भूमिका में प्राप्त ज्ञानी राग–द्वेष भय और क्रोध से शून्य, निर्वाणरूप, शान्तमन पर पत्थररूप न बना हुआ भी पत्थर की नाईं नित्य निश्चल स्थित रहता है ॥२९॥

इस तरह ब्रह्म में स्वाभाविक भावना के अनुसार जगद्रूप है तथा शास्त्रीय तत्त्वभावना के अनुसार तात्त्विकरूप भी है, इसलिए अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य अनर्थ या पुरुषार्थ दोनों प्राप्त कर सकता है, उसके लिए दोनों ही सुलभ हैं, इस आशय से कहते हैं।

जैसे कमल के बीज कोष के अन्दर ही अभिन्नरूप से सम्पूर्ण कमलिनियाँ स्थित है, वैसे आत्मा में ही सवप्नभ्रान्ति रूप यह जगत अनन्य होकर स्थित है, आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं ॥३०॥

'बाहर है' यह प्रतीति आत्मा में बाह्यरूपता की भावना से ही है, न कि इसका दूसरा कोई आधार होने से यह कहते हैं।

आत्मा ही बाह्यरूपता की भावना से बाह्यरूप हो जाता है तथा आत्मतत्त्व की भावना करते रहने से आत्मरूप ही रहता है, इसलिए परब्रह्मतत्त्व में तत्–तत् भावना ही बाह्यत्व और

आभ्यान्तरत्व है ॥३१॥

यही कारण है कि स्वप्न और जाग्रदवस्था में प्रतीति से कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

जो अन्तःकरण में भीतर स्वप्न की विभ्रान्ति है वही यह बाह्य-जगद्रूप से उदित हुई है। दो पात्रों में स्थित दूध के समान स्वप्न तथा जाग्रदवस्था में तनिक भी भेद नहीं है ॥३२॥

जाग्रत और स्वप्नावस्था के पदार्थों में स्थिरता और चंचलतारूप भेद तो प्रत्यक्ष ही उपलब्ध होता है, उसकी क्या दशा होगी, यदि यह आशंका करें, तो उस पर कहते हैं।

एवं जाग्रदवस्था के पदार्थों में स्थिरता तथा स्वाप्निक पदार्थों में जो अस्थिरता प्रतीत होती है वह भी एकमात्र विस्तृत भ्रान्ति ही है तथा जाग्रतकालीन शरीर में आधारता और स्वप्न में आधेयता की जो प्रतीति होती है वह भी जल और तरंग के तुल्य ही है ॥३३॥

जैसे स्वप्नकाल के पदार्थों में जब तक एकमात्र आत्मरूपता का अनुसन्धान नहीं होता, तभी तक उनका भान होता है। आत्ममात्रस्वरूपता का अनुसन्धान होने पर तो जागरणरूप बोध से आत्मैक्यता ही सिद्ध होती है वैसे ही जाग्रदवस्था के पदार्थों में भी समझना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

जैसे स्वप्नकाल के पदार्थों में आत्मा के अन्यत्वज्ञान से अन्यरूपता का भान होता है। आत्मैक्यता का अवबोध होने पर तो उससे अन्य कुछ भी नहीं भासित होता, वैसे ही जाग्रदवस्था के पदार्थों में भी जब तक शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता तभी तक पदार्थों में अन्यत्व भासता है। शुद्ध आत्मा का ज्ञान हो जाने पर तो वे सब के सब पृथक् आविर्भाववाले ही नहीं होते एकरूप ही अवभासित होते हैं ॥३४॥

इसीलिए वास्तविक भी ब्रह्मभाव अपनी भावना के अधीन ही है, यह जो कहा गया है वह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं।

कल्पनाओं से रहित, शान्त जो परमात्मा का रूप है वह तत्-तत् रूपों में परिणत हो जाता है तथा भावना न करने से तत्-तत् रूपों में परिणत नहीं होता ॥३५॥ स्वप्नादिज्ञान के शान्त होने पर जो विशुद्ध ईश्वर का रूप अवशिष्ट रहता है वह 'अस्तितता' के निरूपक काल और देश आदि के आधार का अभाव रहने से 'वह है' यह नहीं कहा जा सकता तथा स्वरूप का बाध न रहने से 'वह नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए वह वाणी का विषय कदापि नहीं है ॥३६॥

तब वाणी के द्वारा गुरु लोग उसका उपदेश कैसे देते हैं, इस आशंका पर कहते हैं।

भ्रम का आत्यन्तिक लय हो जाने पर समाधि में स्थित योगी लोग ही अपने एकमात्र अनुभव से उसका स्वरूप जान पाते हैं। कान्तासम्भोगसुख की नाईं, दूसरे के प्रति वह उपदेश का विषय नहीं है। वह विद्वानों के अनुभव का ही विषय है। उसमें श्रोता की बुद्धि को प्रवृत करना ही उपदेश का फल है ॥३७॥

इसलिए हे श्रीरामजी, अहंकार छोड़कर भय, मान, विषाद, लोभ, मोह, आत्मा, देह, मन, इन्द्रिय, चित्त, जड़ता से शून्य, शान्त, समस्त भेदों से रहित अविनाशी, निर्वाणस्वरूप एकमात्र ब्रह्म होकर सर्वदा ही समाधि में स्थित रहना ही युक्त है, व्यवहार विषयों में पड़ना उचित नहीं है ॥३८॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

साधुओं के समागम और सत् शास्त्रों का विचार करनेवाले पुरुष को मोक्ष अवश्य ही होता है, इसलिए मोक्ष स्वाधीन है, इसका युक्ति पूर्व कथन।

यदि मनुष्य के पास विद्या या अविद्या है, तो उसके लिए मोक्ष या संसार स्वाधीन है, यह वर्णन करने की इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पहले अविद्या से चित्त का विस्तार और फिर उससे स्वाधीन संसार को दिखलाते है।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, जब यह चितिशक्ति स्पन्दित होती है, यानी अविद्या से विषयों की ओर झुकने के लिए उसमें हलचल पैदा होती है, तब अहम्भावरूप जगत् का भ्रम उत्पन्न-सा हो जाता है, जो कि असद्रूप ही है। स्पन्दन से भी तो वायुरूपता उत्पन्न-सी हो जाती है, यद्यपि वह कुछ भिन्न नहीं है ॥१॥ श्रीरामजी, भले ही वह जगद्भ्रम उत्पन्न-सा हो जाय, परन्तु उसमें ब्रह्मरूपता का ज्ञान यदि कर लिया जाय, तो किसी तरह से भी वह खेद का कारण नहीं होता। यदि उसमें जगद्रूपता का ही ज्ञान कर लिया जाय, तो अवश्य ही वह महान् खेद का कारण होगा ॥२॥ जैसे आँख अपनी चहल-पहल से रूप का अनुभव प्राप्त करती है, वैसे ही चिति चहल-पहल से ही जगत् का भ्रम प्राप्त करती है ॥३॥

उत्पन्न होते हुए भी संसारभ्रम खेद का कारण नहीं है, यह जो कहा गया है, उसका उपपादन करते हैं।

भद्र, जो यह चिति शक्ति है, वह तो स्वाभवतः ही सत्यरूप है, अतः वह विषयों की ओर जो झुकती है, वह व्यर्थ ही है, क्योंकि विषयों की सत्यरूपता तो है ही नहीं। ऐसी स्थिति में असत् विषयों की ओर वह झुकती है, यह कैसे हो सकता है ? क्या कहीं वन्ध्या का पुत्र नृत्य करता है ? निष्कर्ष यह निकला कि विषयों की तीनों काल में सत्ता न होने के कारण अज्ञान से ही चिति की विषयों की ओर प्रवृत्ति है, वह जब ज्ञान से बाधित हो जाती है, तब विषय खेद के कारण हो ही नहीं सकते ॥४॥ यह जो चिति का बाह्य पदार्थों की ओर प्रसरण है, वह तो अनुभव से ही सिद्ध है, विद्या से जब उसका बाध हो जाता है, तब असत्य अर्थ का पुरुष को अनुभव नहीं होता, उस समय यह अनुभव करता है कि इतने काल तक मैं व्यर्थ ही, बालक जैसे असत्य यक्ष का अनुभव कर स्थित रहता है वैसे ही, असत् अर्थ का अनुभव कर स्थित रहा ॥५॥

कथित न्याय भीतर के अहम्भाव में भी समान ही है, यह दिखलाते हुए बन्ध और मोक्ष में स्वाधीनता सिद्ध हो गई, यह कहते हैं।

भद्र, जब भीतर अहम्भाव ज्ञान होने लग जाता है, तब उससे अहम्भाव भी दुःख का ही कारण होता है और जब अहम्भाव का परिज्ञान नहीं होता तो वह दुःख का कारण नहीं होता, अतः बन्धन और मुक्ति अपने ही अधीन है ॥६॥

अब मोक्ष में स्वाधीनता का उपपादन करते हैं।

वही ध्यान और समाधि है, जो कि विद्या से मूलभूत जड़ता के हट जाने के बाद चिदात्मा के साथ एकरस हो जाने के कारण अजड़ मन, बुद्धि आदि पदार्थों की पत्थर के सदृश निश्चय वेद्यवेदन निर्मुक्त स्थिति है। सम, शान्त और निर्विकार यही स्थिति मुक्ति है ॥७॥

यही सिद्धान्त एकमात्र शान्ति का कारण है, दूसरी–दूसरी कल्पनाओं में तो केवल वादियों का कलहमात्र होने के कारण मिथ्या कण्ठशोषण ही है, इस आशय से उन वादियों को लक्ष्य कर कहते हैं।

हे पण्डितमानी वादिगण, आप मूर्खों के सदृश द्वैत, अद्वैत आदि अनेक तरह के संकल्पों से तरह–तरह के कलहरूप वचनों का विचार कर दुःख के लिए व्यर्थ के कण्ठशोषण रूप विषाद को मत प्राप्त कीजिये। परम पुरुषार्थ के हेतुभूत इसी सिद्धान्त का आप अवलम्बन कीजिए॥८॥

जिस पुरुष की वृत्ति बहिर्मुख है, वह पुरुष उस तरह असत् भी दुःख का निवारण नहीं कर सकता, जिस तरह असत् रूपादि के अनुभव का निवारण नहीं कर सकता अर्थात् उस पुरुष के लिए दुःख दुर्निवार ही है, परन्तु जिस पुरुष की अन्तर्मुख वृत्ति है, वह पुरुष तो प्रारब्ध प्राप्त दुःख का अनुभव करते हुए भी अपने आत्मानन्द में ही मस्त रहता है, अतःआत्मानन्द के अनुभव से आच्छादित हुआ दुःख भोगा जा रहा भी उसके लिए अभुक्त–सा ही रहता है, यह कहते है।

भद्र, दृढ़ वासना से युक्त पुरुष स्वप्न के सदृश असत् दुःख का उस तरह अनुभव करता है, जिस तरह संकल्प से रचित असत् रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदि का यानी बाह्य एवं आभ्यन्तरिक पदार्थों का अनुभव करता है ॥९॥ जिस पुरुष की वासना हट गई है, वह पुरुष तो नींद ले रहे पुरुष के सदृश प्रारब्ध प्राप्त दुःख का भी अनुभव उस तरह नहीं करता, जिस तरह संकल्पशून्य रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदि का अनुभव नहीं करता ॥१०॥

उपर्युक्त सिद्धान्त से यही झलका कि वासनाओं की वृद्धि से जैसे संसार का अनुभव होता है, वैसे ही वासनाओं के ह्रास से ही देशकाल के क्रम से मुक्ति का अनुभव सिद्ध होता है, यह कहते हैं।

अत्यन्त ह्रास को प्राप्त हुई वासना ही देश, काल और क्रिया के सम्बन्ध से मुक्ति को ऐसे प्राप्त होती है, जैसे पदार्थ में भावना पदार्थ रूपता को प्राप्त होती है ॥११॥ अत्यन्त तनुता को (क्षीणता को) प्राप्त वासना ही ऐसे मुक्तिरूप बन जाती है, जैसे आकाश में मेघ, कुहरा आदि

अत्यन्त सूक्ष्म बनकर आकाशरूप बन जाते हैं ॥१२॥

वासना के उच्छेद में कौन उपाय है ? इस प्रश्न पर कहते है।

जैसे पण्डितों के संसर्ग से बढ़े हुए अभ्यास से मूढ़ता क्षीण होकर विद्वत्ता के रूप में परिणत हो जाती है, वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना से दिन-पर-दिन अत्यन्त क्षीणता को प्राप्त हुई वासना ही मुक्ति के रूप में परिणत हो जाती है ॥१३॥

कहाँ तक आत्मा के ज्ञान को बढ़ाना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जब तक आत्मा का ज्ञान दृढ़ न बन जाय, तब तक, इस अभिप्राय को लेकर दृढ़ बोधका (दृढ़ आत्मज्ञान का) लक्षण कहते हैं।

भद्र, मेरी युक्ति का अवलम्बनकर यानी 'मैं' ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार की दृढ़ अभ्यस्त ब्रह्मभावना का अवलम्बनकर इस संसार में जीवित या परलोकगत योगी के अन्दर 'अहंशब्दार्थ जीव नहीं है' यह जो शमात्मक निश्चय उत्पन्न होता है, वही रूढ़ बोध कहा गया है ॥१४॥ वायु में कल्पित द्रव्य और क्रिया की नाईं इस आत्मा में यह सब जगत् जीव आदि कल्पित ही है। वह सब 'मैं कौन हूँ ' यह कैसे उत्पन्न हुआ इस विचार से नष्ट हो जाता है ॥१५॥ अहंकार आदि की सत्ता का त्रैकालिक अभाव ही मोक्ष है, अतः इतने को लेकर मूढ़ता का अवलम्बन क्यों किया जाय ? इसका परिज्ञान सत्संग और अभ्यास से तत्काल ही किया जा सकता है ॥१६॥ जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, जैसे दिवस से रात्रि नष्ट हो जाती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी के सत्संग से अहम्भावरूपी बन्धन तत्काल ही नष्ट हो जाता है ॥१७॥ भद्र, मैं कौन हूँ यह प्रपंच किस तरह आया, जीव कौन है, प्राणधारणरूप जीवन का क्या स्वरूप है इन सबका तत्त्वज्ञ के संग से जीवनपर्यन्त विचार करना चाहिए ॥१८॥

वह विचार गुरुजी की सेवा करने से सफल हो जाता है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, जो तत्त्वज्ञरूपी सूर्य है उसका सेवन (संग) करने से यह सारा ही जगत् ज्ञान से प्रकाशमान हो जाता है, सब पदार्थों का स्वरूप ढँक देनेवाला अहम्भावरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है, वस्तु का असली स्वरूप एक ही क्षण में भासने लग जाता है, अतः तत्त्वज्ञरूपी सूर्य की आप सेवा (संगति) करें ॥१९॥

जब अनेक विद्वान् और अनेक तार्किक पुरुषों की मण्डली जुट जाय, तब मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि यह विद्वान् है और यह तार्किक है ? इस पर कहते हैं।

हे भद्र, जो-जो अपने से अधिक ज्ञानवान् हों उन-सबकी अलग-अलग संगति कीजिये। उनका संगम होने पर परस्पर विरुद्ध युक्ति का जब कथन होगा, तब उससे वादरूपी पिशाचिनी उत्पन्न होगी ॥२०॥

भले ही वादरूप पिशाचिनी उत्पन्न हो, इसमें क्या दोष है ? इस पर कहते हैं।

जब वादरूपी यक्ष उत्पन्न होगा, तब बालक के सदृश ज्ञानी श्रोता को भी तर्कयुक्त यानी तार्किकों के द्वारा प्रतिपादित हो रहा आत्मा का स्वरूप ही मुख्य है और वही मुख्य मेरे लिए पर्याप्त है, ऐसा भ्रम हो जाता है, अन्धगोलांगूल न्याय से उसका अवलम्बन करना अनर्थ का ही कारण होगा ॥२१॥ इसलिए प्रत्येक पण्डित के पास जाकर एकान्त में बुद्धिमान् पुरुष को उसकी सेवा करनी चाहिए, प्रश्न करना चाहिए और फिर उनके द्वारा कथित अर्थों को मिलाकर अपनी बुद्धि से विचार करना चाहिए ॥२२॥ पण्डितों की उक्तियों के (वचनों के) अर्थों की अपनी बुद्धि द्वारा श्रुति, युक्ति स्वानुभव एवं अन्य विद्वानों के अनुभवों को मिलाकर बुद्धि की शुद्धि के लिए खूब बार–बार परीक्षा करनी चाहिए। अनन्तर समस्त संकल्पों से निर्मुक्त जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीका अवलम्बनकर तन्मय बन जाना चाहिए ॥२३॥

इसीसे तत्त्वज्ञान का उदय और उससे अज्ञान का उच्छेद हो जाता है, यह कहते हैं।

तत्त्वज्ञानियों के सम्बन्ध से बुद्धि को अत्यन्त तीक्ष्ण बनाकर केवल उस अज्ञानरूपी लता को खूब छोटे–छोटे कणों में बना दीजिए ॥२४॥

मेरे कहे गये वचनों में आप असम्भव की शंका न करें, यह कहते हैं।

हे रामभद्र, मैंने जो कुछ अर्थ कहा है, वह सब सम्भव ही है, असम्भव नहीं, इसीलिए मैंने इस अपने अनुभूत अर्थ का आपसे वर्णन किया है। यह आप ध्यान रखिए कि हम लोग असम्बद्ध कहनेवाले बालक नहीं है ॥२५॥

जो समस्त कल्पनाओं से परे है, वही असली तत्त्व है, असली वस्तु की तन्मयता बन जाने पर सारे जगत् का व्यवहार करें, तो भी उससे ज्ञानी के लिए किसी इष्ट वस्तु की क्षति या अनिष्टवस्तु की प्राप्ति नहीं होती, यह कहते हैं।

हे राघव, जैसे आकाश में मेघ या कुहरे आदि का ढेर हो जाय अथवा जल में अनेक तरह के तरंगों का आविर्भाव हो जाय, तो भी उनसे आकाश या जल में किसी इष्ट की क्षति या अनिष्ट की प्राप्ति नहीं होती, ठीक इसी तरह सम्पूर्ण संकल्पों से निर्मुक्त हुए ज्ञानी पुरुष को सभी तरह के व्यवहारों से, न तो किसी इष्ट की क्षति होती है और न किसी अनिष्ट की प्राप्ति ही होती है ॥२६॥

आकाश एवं समुद्र स्थल में द्वैतपन रहता है, इसलिए उनमें इष्ट क्षति एवं अनिष्ट प्राप्ति की किसी तरह शंका हो भी सकती है, परन्तु विद्वान् पुरुष तो कूटस्थ अद्वय परमात्मरूप हो गया है, अतः उसमें इन भ्रमात्मक पदार्थों से इष्टक्षति एवं अनिष्ट प्राप्ति की शंका ही नहीं हो सकती, इस आशय से कहते हैं।

समस्त विकारों से शून्य एवं परिपूर्णस्वरूप आत्मा का जब विचार कर लिया यानी तत्त्वज्ञान हो गया, तब यह सारा जगत् और अहम्भाव मृगतृष्णा जल के सदृश अस्तित्व रख ही नहीं

सकता, ऐसी स्थिति में इस तत्त्वज्ञ पुरुष में मनन आदि भ्रान्ति कहाँ से आ सकती है या कहीं पर क्यों रह सकती है ? ॥२७॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

तैंतीसवाँ सर्ग

संवित् की बाह्यमुखता के वारण से भ्रान्तिरूप कल्पना की प्रतिकल्पना (भ्रान्तिकल्पना के निवर्तक शास्त्रीय उपाय) और परलोक की चिकित्सा का वर्णन।

सबसे पहले प्रतिकल्पना को बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : श्रीरामजी, सत्समागम से विकास को प्राप्त स्वबुद्धि रूप अपना ही पुरुषार्थ यदि पुरुष को तत्त्वज्ञान प्राप्त करा दे, तो फिर भिन्नतारूप कोई संसार का कारण रहता ही नहीं ॥१॥ ये जितने कल्पना से बने हुए तथा कल्पना के कारण अविद्या, वासना आदि अशास्त्रीय पदार्थ हैं, वे सब अपनी शास्त्रीय प्रतिकल्पना से बन्धन हेतुता छोड़कर मोक्षोपयोगी ऐसे बन जाते हैं, जैसे कि स्वभावतः मरणहेतु विषय रसायनशास्त्रों में दर्शित उपायरूप प्रतिकल्पना से विषपने को छोड़कर अमृतरूप बन जाता है ॥२॥

कब तक प्रतिकल्पना करनी चाहिए, इस पर 'समस्त कल्पनाओं की निवृत्ति जब तक न हो, तब तक' यह कहते हैं।

अतः आत्मा की मुक्तता कल्पना से शून्य है, अतः सब कल्पनाओं की निवृत्ति जब तक न हो जाय, तब तक प्रतिकल्पना करना चाहिए। यह कल्पनाशून्य मुक्तता पहले तो भोगत्याग से यानी वैराग्य और संन्यास से ही सिद्ध होती है, दूसरे किसी अन्य उपाय से नहीं। इससे वैराग्यरूप और संन्यासरूप प्राथमिक प्रतिकल्पना अत्यन्त आवश्यक है ॥३॥

अनन्तर श्रवण, मनन से आत्मतत्त्व का निश्चय कर वाणी और मन का निरोधरूप प्रतिकल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

अनन्तर वाणी और मन से शब्द और शब्दार्थों की भीतर भावना न करते हुए जो स्थित रहता है, उसकी कल्पना धीरे–धीरे शांत होती जाती है ॥४॥

अनन्तर अनहम्भावरूप प्रतिकल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं।

एकमात्र अहम्भाव को छोड़कर दूसरी कोई अविद्या है ही नहीं, इसलिए समस्त भावनाओं को दूर कर देनेवाले तत्त्वसाक्षात्कार से इस अहम्भाव के बाधित हो जाने पर दूसरा कोई मोक्षनामक पदार्थ प्राप्त करने लायक रहता ही नहीं यानी अहम्भाव का नाश ही मोक्ष है ॥५॥ भद्र, तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने के बाद भी यदि आप पहले के जगत्–जीवरूप संसार में रुचि रखकर स्थूलदेह के विनाशकाल तक कुछ थोड़े–से अहम्भाव का आश्रय करेंगे, तो अपरिच्छिन्न

आत्मा के विस्मरण से संसारताप से अवश्य तपेंगे और यदि अहम्भाव का त्याग कर देंगे, तो समस्त दुःखों से छुटकारा पा जायेंगे तथा नित्य निरतिशयानंद स्वभाव से सिद्ध हो जायेंगे ॥६॥ पत्थर के सदृश अचल जिसको बहिर्मुखवृत्ति के अज्ञान से यह सब जगत् असद्रूप होता हुआ भी शान्त सत् की नाईं स्थित है, उस महात्मा को प्रणाम है ॥७॥ परब्रह्म अशेषरूप से विलीनचित्त का – पत्थर के सदृश बाहर का परिज्ञान न होने से और भीतर चितिरूपता की भावना होने से शून्यरूप संज्ञा को प्राप्त कर यह सब द्रश्य प्रपंच शान्त हो जाता है ॥८॥

सुख और दुःख के लिए विषयों की सत्ता या असत्ता उपयोगी नहीं है किन्तु विषयों का दर्शन या अदर्शन उपयोगी है, इसलिए विषयप्रकाश के लिए प्रवृत्ति करनेवाले चित्त का ही प्रथम निरोध करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं।

यह दृश्य रहे चाहे न रहे, परन्तु प्रकाशित दृश्य यानी दृश्यदर्शन ही दुःख की वृद्धि का कारण है। अचेतित दृश्य यानी विषय का अदर्शन तो सुखका कारण है। पर विषयों का अदर्शन चित्तक्रिया के निरोध से जब तक ब्रह्माकारता की सिद्धि न हो जाय, तब तक की प्रतिकल्पना से होता है ॥९॥

परलोक की चिकित्सा का वर्णन करने के लिए उपक्रम करते हैं।

शरीरधारियों के लिए महाभयंकर दो व्याधियाँ हैं – एक तो यह लोक और दूसरा परलोक। क्योंकि इन्हीं दोनों के कारण पीड़ित होकर मनुष्य आध्यात्मिक आदि भावों से अनेक दुःख भोगता है॥१०॥ इस लोक में अज्ञानी पुरुष क्षुधा, तृष्णा आदि व्याधियों के लिए अन्न, पान आदि भोगरूप निकृष्ट औषधियों का अवलम्बनकर जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, परन्तु परलोक में नरक आदि व्याधियों के लिए भोगों से कुछ भी चिकित्सा नहीं होती ॥११॥ जो उत्तम पुरुष हैं, वे परलोक की महाव्याधि की चिकित्सा के लिए शान्ति, सत्संगति तथा आत्मविचाररूप अमृततुल्य उपायों से प्रयत्न करते हैं ॥१२॥ जो पुरुष परलोक की चिकित्सा के लिए सावधान यानी अपथ्य भोगों के त्याग और सत्समागम आदि औषध के सेवन में सावधान रहते हैं, वे मोक्षमार्ग की महती इच्छा में अपने शमगुण की बड़ी शक्ति के कारण सर्वदा विजयी होते हैं ॥१३॥

परलोक की चिकित्सा परलोक में जाकर ही करेंगे, यहाँ पर उसकी चिन्ता करने से क्या फल ? इस पर कहते हैं।

जो पुरुष यहीं पर नरकरूप व्याधि की चिकित्सा नहीं करता, वह व्याधिग्रस्त पुरुष औषधरहित नरक आदि प्रदेश में जाकर क्या चिकित्सा करेगा ? ॥१४॥ हे अज्ञानीजनों, तुम लोग इस लोक की चिकित्सा में निरत होकर अपना जीवन क्षीण मत करो, परन्तु आत्मज्ञान के औषधों से परलोक की चिकित्सा करो ॥१५॥ आयु तो ऐसी क्षणभंगुर (एक क्षण में नष्ट हो जानेवाली) है जैसा कि वायु से कम्पित हो रहा पत्ते का छोटा टुकड़ा और जल कण। इसलिए बड़े यत्न से परलोकरूप महाव्याधि की शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करने में तत्पर हो जाओ ॥१६॥

इस लोक की व्याधि की चिकित्सा के लिए दूसरे यत्न की आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं।

परलोकरूप व्याधि की यत्नपूर्वक तत्काल ही चिकित्सा करने पर इस लोक की व्याधि स्वयं अपने-आप ही शान्त होने लग जाती है ॥१७॥

परलोक की व्याधि के लिए यद्यपि तपश्चर्या, तीर्थाटन, यज्ञ आदि चिकित्सा बतलाई गई है, तथापि उनसे उक्त व्याधि निर्मूल नष्ट नहीं होती, किन्तु आत्मज्ञान से ही निर्मूल नष्ट होती है। आत्मज्ञान तो श्रवणादिपूर्वक समाधि के अभ्यास से यानी चिति की बहिर्मुखता के निरोध से होता है, इस आशय से आत्मज्ञान का उपाय बतलाने के लिए भूमिका बाँधते हैं।

जितने जन्तु हैं, वे सब संविन्मात्ररूप (आत्मा के ही स्वरूप) हैं, इस संवित् की बहिर्मुखता ही जगत् है। यह सारा जगत् एक छोटे से परमाणु के उदर में भी सैकड़ों पर्वतों के विस्तार में विद्यमान है, क्योंकि वहाँ पर भी संवित् बैठी ही है ॥१८॥ जो आत्मचिति का बहिर्मुखता से विस्तार है, वही बाह्य विषय और भीतरी विषय (काम, संकल्प आदि) हैं। ये चिदाकाश में ही अनुभूत होते हैं, इसलिए जगत् का भ्रम कभी सत्य नहीं हो सकता ॥१९॥

जगत् का रूप मिथ्या ही है, इसलिए हजारों प्रलयों से भी वह नष्ट नहीं होता या हजारों सृष्टियों से अपना अस्तित्व भी नहीं रखता। यदि नष्ट होता है, तो आत्मा के ज्ञान से ही, इस आशय से कहते हैं।

देखे गये प्रलयों में भी जगत्-भ्रम का न विनाश ही होता है या न देखी गई सृष्टियों में उसकी उत्पत्ति ही होती है, क्योंकि उसका असलीरूप एकमात्र भ्रान्ति ही है ॥२०॥

आत्मज्ञान सम्पादन में कौन-कौन उपाय है ? इस प्रश्न पर वैराग्य ही पहला उपाय है, यह कहते हैं।

यदि पुरुष अपने पौरुषरूप चमत्कार से भोगरूप कीचड़ में फँसी हुई अपनी आत्मा का उद्धार नहीं करता, तो फिर दूसरा कोई भी उपाय उसके उद्धार का रहता ही नहीं ॥२१॥ जिसने अपने मन के ऊपर विजय पाई नहीं है, भोगरूपी कीचड़ में फँसा हुआ वह मूढ़ पुरुष आपत्तियों का ऐसे पात्र बन जाता है, जैसे जलों का समुद्र ॥२२॥ जैसे आयु की सबसे पहली सीढ़ी बाल्यावस्था दिखाई पड़ती है, वैसे ही मोक्ष की पहली सीढ़ी रागों से शान्ति देनेवाला भोग त्याग ही है ॥२३॥

'राग से शान्ति देनेवाला' यह जो विशेषण कहा गया है, उसका तात्पर्य ज्ञानी और अज्ञानी की आयुरूप नदी की विलक्षणता वर्णन से दिखलाते हैं।

जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसकी आयुरूप नदी कल-कल ध्वनि करती हुई (प्रारब्ध प्राप्त अनेक प्रवृत्तिरूप तरंगों से युक्त होती हुई) भी जगत्भ्रमों से शून्य है। अतएव चित्र में चित्रित जलशून्य नदी के सदृश एकरूप एवं सौम्य (उपद्रवरहित) होकर बहती-रहती है ॥२४॥ और जो अज्ञानी हैं, उनकी आयुरूप नदियाँ तो अनेक तरह की दुःख क्रन्दनों की ध्वनियों से अत्यन्त

भयंकर रहती हैं। बाह्यवृत्तियों से उत्पन्न अनेक विक्षोभरूप कल्लोल ही उनके साथ-साथ बहनेवाले आवर्त रहते हैं ॥२५॥

अज्ञानियों को अविचार से ही सृष्टि के प्रतिभासरूप विक्षेप उत्पन्न होते हैं, यही संवित्ति की एक बहिर्मुखता है, यह कहते हैं।

अज्ञानियों के लिए चिति की बहिर्मुखता के एक लेशमात्ररूप अनेक तरह के सर्ग ऐसे निकलते-रहते हैं, जैसे दो चन्द्रमा, बालवेताल, मृगतृष्णा के जल तथा स्वप्नमोह - ये अज्ञान से निकलते-रहते हैं ॥२६॥ भद्र, संवित्-रूपी जल के तरंग ही हजारों सृष्टियों के रूपों में भासते हैं। जब उनके विषय में विचार किया जाता है, तब वे असत्य बन जाते हैं और जब विचारित नहीं होते तब अज्ञानियों के अनुभव से सत्य भासने लग जाते हैं ॥२७॥ आत्मा की बहिर्मुखता के भ्रम से ही आकाश में भी अनेक तरह के गन्धर्वनगर आदि जगत् सत्य-से भासने लगते हैं, परन्तु विचार करने पर वे सत्य नहीं ठहरते ॥२८॥ आत्मा की बर्हिमुखतारूप जो जल है, उसी का यह जगत्भ्रम एक तरह से बुदबुद है और उसमें जो रूप है, वह अहंकार आदि सद्रूप भावविकारों के आधारों से ही आया है ॥२९॥ आत्मा की बहिर्मुखता न होना ही समस्त जगत् की निवृत्ति है और आत्मा की बहिर्मुखता ही सम्पूर्ण जगत् है। वास्तव में न कुछ भीतर है, न बाहर है, न असत्य है, न सत्य है। जो कुछ है, वह सर्वात्मक ब्रह्म ही है ॥३०॥ चिद्रूप, अज, अव्यक्त, एक, अविकार, ईश्वर, स्वत्व और भावत्व से रहित ब्रह्म ही सर्वत्र है, वह आकाश से भी अत्यन्त शान्त है ॥३१॥

आत्मा की जो बहिर्मुखता है, वह मिथ्याभूत अविद्या का ही विलास है, न कि सत्यरूप ब्रह्म के स्वभाव से उत्पन्न है, यह कहते हैं।

हे भद्र, जिसमें किसी तरह का कोई स्वभाव ही नहीं है, उस ब्रह्म में अपने को सृष्टि का जो ज्ञान होता है, उसमें पवन के स्पन्दन की नाईं, कोई कारण ही नहीं है, केवल अज्ञान ही है ॥३२॥ जैसे आत्मा में स्वप्न का अनुभव भ्रान्ति है, वैसे ही ब्रह्मरूपी समुद्र में अविद्याजनित सर्गरूपता ब्रह्म की तरंगें भी भ्रान्तिरूप ही हैं और कुछ नहीं। वस्तुतः आत्मा में न स्वप्न है एवं न सर्गरूपता ही है ॥३३॥

परमार्थदशा में ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? इसे कहते हैं।

ब्रह्म एक ही है, उसमें न कोई आभास है, न कोई चित्तस्वरूप दूसरा धर्म है, न जड़ता है, किन्तु समता है। वह न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् उभयरूप है। केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह अविकार है और दूसरे से रहित है ॥३४॥

इस प्रकार के ब्रह्मरूप की प्राप्तिकर स्थित रहना ही योगियों के लिए बहिर्मुखता का अभाव और मौन (मननित्व) है, यह कहते हैं।

भद्र, जिस तरह की मैंने स्थिति बतलाई, उस तरह की स्थिति से ही स्थित रहे जिस महामति को बाह्यविषयों का अज्ञानरूप आत्मशमन उत्पन्न हो गया है, उसीको सब मनुष्यों में उत्तम मुनि

कहते हैं ॥३५॥ उसी महात्मा को उत्तम मुनि कहते हैं, मिट्टी की मूर्ति के सदृश जिसका शरीर रहते भी विषयवेदनाशून्यरूप जीवभाव के साथ जगत् नष्ट हो गया है ॥३६॥

असंकल्प ही जैसे संकल्परूप सृष्टि का निवारण है, वैसे ही अदृष्टि ही दृष्टिसृष्टि का निवारण है, यह कहते हैं।

जैसे संकल्पजनित नगर सृष्टि असंकल्प से लीन हो जाती है, वैसे ही विषयवेदन से जनित अहंकारूप समस्त जगत्सृष्टि अवेदन से चिति में लीन हो जाती है ॥३७॥ स्वभाव को छोड़कर यानी सब जड़ वस्तुओं में अनुगत जड़तारूप मूल अविद्या को छोड़कर जितने नाम-रूपात्मक पदार्थ हैं, उन सभी के प्रति वह मूल अविद्या ही कारण है, परन्तु मूल अविद्या का जो साक्षीरूप से कारण है, उसका अनुभव करना यानी अपने में तद्रूपता का अनुसन्धान करना ही मुक्ति है ॥३८॥ परमार्थ में तो किसी पदार्थ का यहाँ कोई स्वभाव ही नहीं है, जितने ये अनुभव हैं, वे सब महाचितिरूप जल के द्रवस्वरूप हैं ॥३९॥ ये सभी अनुभव महाचितिरूपी वायु के स्पन्दन ही हैं, इसलिए वे सब अनुभव ब्रह्मरूप गगन की शून्यरूपता का ही सेवन करते हैं, यह आप जानिये ॥४०॥ भद्र, जैसे वायु और वायु के स्पन्दन में कोई भिन्नता विद्यमान नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और ब्रह्म की सृष्टि में भी कोई भिन्नता नहीं है। अपने स्वरूप की भ्रान्ति हो जाने पर ही उनमें विभिन्नता भासती है, पर वह स्वप्न में स्वमरण के सदृश असत्यरूप है ॥४१॥

कब तक वह भ्रान्ति रहती है, इस पर कहते हैं।

जब तक तत्त्वार्थ का विचार विस्पष्ट नहीं हो जाता, तब तक ही यह भ्रान्ति रहती है और जब विचार स्पष्ट हो जाता है, तब तो यह सारी भ्रान्ति ब्रह्मरूपता को ही प्राप्त कर लेती है ॥४२॥

भ्रान्ति कैसे ब्रह्मरूपता को प्राप्त कर लेती है, इस पर कहते हैं।

भ्रान्ति तो असत्य और अवस्तुरूप ही है, अतः विचार करने पर भी खरगोश के सींग की नाईं वह प्राप्त नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में अतिनिर्मल ब्रह्म ही बच जाता है। तात्पर्य यह निकला कि भ्रान्ति में जो सत्ता स्फूर्तिरूप अंश है, वही ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है, दूसरी चीज तो कोई है नहीं, अतः दूसरे अंश के अभिप्राय से भ्रान्ति ब्रह्मरूपता को प्राप्त करती है, यह नहीं कहा जा सकता है ॥४३॥

समस्त भ्रमों का जब बाध हो चुका, तब आखिर में बचे हुए ब्रह्मरूप को बतला रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजी को ब्रह्मरूपता की स्थिति में स्थापित करते हैं।

हे श्रीरामजी, देह के सम्बन्ध से प्राप्त हुई सभी जरा, मोह, विकार आदि भारस्वरूप भ्रान्तियों को छोड़कर आप अब उस ब्रह्माकाशरूपता को प्राप्त कर लीजिए, जो आदि, मध्य और अन्त से शून्य है, अनन्त, स्वच्छ, सम, शिव, नित्य एवं अद्वितीय ही है ॥४४॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

दृष्ट पदार्थों की सृष्टि ही जगत् है, यह जगत् अदर्शन से ही नष्ट हो जाता है;
इस प्रस्तुत विषय में युक्तियों का वर्णन।

'यह अहंकारात्मक जगत् दृष्टिरूप वेदन से उत्पन्न हुआ है, अतः अदृष्टिरूप अवेदन से ब्रह्मचिति में लीन हो जाता है, यों जो पहले कहा गया था, उसमें युक्तियों को दिखलाने की इच्छा से महाराज वसिष्ठजी सबसे पहले विनाशशील दुःखादि त्रिपुटियों से अलगकर अविनाशशील आत्मा को दिखलाते हुए 'सम्पूर्ण शास्त्रों की सफलता आत्मा के दर्शन से ही है' यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र श्रीरामचन्द्रजी, सुख–दुःखों के आने पर जो नष्ट हो जाता है वही नष्ट होता है और जो नष्ट नहीं होता, वही यह अविनाशी आत्मा है, बस, इससे और अधिक शास्त्रों का उपदेश करना व्यर्थ ही है ॥१॥

जो इच्छावाला है, वह नित्य दुःखी है और न वह आत्मा ही है, किन्तु इच्छा त्याग आदि उपायों का अवलम्बनकर प्रतिकार करने योग्य संसाररूपी रोग की कोटि में प्रविष्ट कोई दूसरा ही है, इस आशय से कहते हैं।

जिस प्राणी को इच्छा आदि विद्यमान हैं, उसीको सुख आदि अवश्य होते रहते हैं। यदि सुख आदि रोगों की भलीभाँति चिकित्सा करना अभीष्ट है, तो सबसे पहले इच्छा का ही परित्याग कर देना चाहिए ॥२॥

जो अविनाशी आत्मा है, उसमें इच्छा आदि का अभिमानी और अभिमान का विषय जगत् दोनों की सम्भावना नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं।

अहंकार और यह जगत् दोनों तरह की भ्रान्ति परम पद परमात्मा में है ही नहीं, यह तो शान्त, निरालम्बन (आश्रयरहित), सर्वात्मक विनाशशून्य मोक्षरूप ही है ॥३॥

ऐसी स्थिति में वह 'अहम्' आदि शब्दों का विषय ही नहीं है, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, 'अहम्', ब्रह्म और जगत्' यह जो शब्दजालरूप भ्रम है, इसकी सर्वात्मक, शान्त चिदाकाश में किसने कल्पना की ? यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥४॥

जब शब्द की गति ही नहीं है, तब कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की तो कथा ही क्या ? यह कहते हैं।

परमार्थ में तो, न अहम् है, न जगत् है और न ब्रह्म आदि शब्द ही हैं, क्योंकि जो शान्त अद्वितीय वस्तु है, वह तो सर्वात्मकरूप है। ऐसी स्थिति में उसमें कर्तृता और भोक्तृत्व कैसी और कहाँ से रह सकते हैं ? ॥५॥

सब कुछ का बाध करने पर उपदेश आदि का भी बाध हो ही जायेगा, इस परिस्थिति में आपत्ति यह आ जायेगी कि आत्मज्ञान का कोई उपाय ही न बच पायेगा, यह शंका यदि हो, तो भले ही हो,

इससे कुछ बिगड़ेगा नहीं, क्योंकि एक तो जिसका हमें उपदेश करना है, उस ब्रह्म का तो बाध होता ही नहीं, दूसरी बात यह है कि ब्रह्म में बाधित होनेवाले समस्त अनर्थों की अपेक्षा त्रिकालाबाधित सत्य प्रत्यगात्मरूप अतिशय है और तीसरी बात यह है कि बाधोपाय से आत्मज्ञान हो जाने के बाद उपदेश आदि की आवश्यकता ही नहीं रहती, इस आशय से कहते हैं।

उपदेश्य ब्रह्म में दूसरे अर्थों की अपेक्षा त्रिकालाबाधित्वरूप अतिशय है, इससे सबका बाध होने पर यह आत्मा सत्यस्वरूप ही किया जाता है, ऐसी स्थिति में बाध से वही तुम्हारा यह अहंरूप आत्मा विशिष्टरूप (परिशिष्टरूप) एवं सर्वातिशायी ही सिद्ध किया जाता है ।।६।।

यह ठीक है, परन्तु अदर्शनमात्र से दृश्य की शान्ति कैसे हो सकती है ? इस पर कहते हैं।

जैसे सामने ही रहनेवाले, परन्तु अन्तर्धानशक्ति से अदृष्ट बड़े–बड़े सिद्ध पुरुषों का एवं पिशाचों का व्यवहार आदि भयंकर होता हुआ भी दिखाई नहीं पड़ता अथवा जैसे एक ही शयन पर सोये हुए दो पुरुषों मे एक को स्वप्न में जोर से हुए मेघगर्जन को दूसरा पुरुष नहीं जान पाता यानी वह हम लोगों की दृष्टि से है ही नहीं, वैसे ही यहाँ पर भी जान लीजिये। अर्थात् चूँकि अपनी दृष्टि में नहीं आता, इसलिए पुरुष सामने स्थित सिद्ध व्यवहार को नहीं देख पाता, क्योंकि सभी का यह स्वभाव है कि अपनी दृष्टि में आनेवाले पदार्थ का सब अनुभव करते हैं ।।७,८।।

इससे अपनी इन बातों में क्या आया, इस प्रश्न पर कहते हैं।

ज्ञप्ति पदार्थ भी आत्मरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह तद्रूप ही दीखता है। इससे अहंकार के सहित सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से अभिन्न है ।।९।। संकल्प और स्वप्न के सदृश ही ज्ञप्ति जगत् के रूप से भासती है। और वह यद्यपि अनेक अवयवोंवाली नहीं है, परन्तु जल ऊर्मियों के रूप से जैसे अनेक अवयववाला भासता है, वैसे ही अनेक अवयवोंवाली भासती है ।।१०।। अनेकरूप–सा होकर आया हुआ एक आत्मा ही दृष्टि के अज्ञान से विवर्तरूप उदय है यानी संसार है। यह संसार स्वयं अवस्तुरूप होने के कारण तत्त्वदृष्टि से भलीभाँति देखा गया भी प्राप्त नहीं किया जा सकता ।।११।। जैसे यह जीव अवयवरहित होता हुआ भी हाथ, पैर आदि अपने अवयवों की कल्पना कर स्वप्नमनोरथ आदि में अवयववाला हो जाता है, वैसे ही सदा से अवयवशून्य, स्वभावतः शान्त यह ब्रह्म ही जगद्रूप अवयव से अवयववाला बन जाता है ।।१२।। यह चितिरूपी कुलाली जब स्मरण करती है, तभी जगत् को देखने लगती है और अपने भीतर लाखों की संख्या में बड़े–बड़े बर्तन धारण करने लग जाती है ।।१३।। भद्र, चितिरूप होने के कारण यह ब्रह्म ही अपनी सत्ता से सुन्दर जगत् के रूप में ऐसे भासता है, जैसे द्रवरूप होने के कारण सागर तरंगों के रूप में भासता है।।१४।। जिस–जिसका अपने अध्यास से प्रकाश करता है, उस उस को ब्रह्म मानों देखता है। यद्यपि ब्रह्म अरूप है, तथापि उसे अपना रूप मान बैठता है और अपने अन्दर जिसका अध्यास नहीं करता उसे नहीं देखता ।।१५।। ब्रह्म में चेतनता और अचेनता को लेकर जो कुछ वचन प्रयोग

किया जाता है, वह तो मायाशबल होने से सर्वशक्ति सम्पन्न होने के कारण ब्रह्म के विषय में नहीं है, किन्तु स्वदेहभूत माया के ही विषय में है यानी चेतनत्व अचेनत्व मायागत ही है। वह वचन केवल उपदेश देने के लिए ही कहा जाता है, वह वस्तुतः परमार्थ विषयक नहीं है, ब्रह्म का कुछ भी स्पर्श नहीं करता है ॥१६॥ भद्र, जगत् न सत् है और न असत् है, केवल चितिशक्ति में बहिर्मुखवृत्ति के कारण भासता है। यदि बहिर्मुखवृत्ति का त्याग हो जाय, तो वह भासता ही नहीं, इसलिए हम लोगों को इन विषयों के लिए आग्रह ही क्या ? ॥१७॥

ऐसा भले ही हो, इससे हुआ क्या, इस पर कहते हैं।

आत्मा का चेतनत्व और अचेतनत्व स्वाधीन है, इसमें किसी यत्न की आवश्यकता नहीं है, जैसे अपने स्वरूप में स्थित स्फटिक पत्थर के सैकड़ों बिम्ब–प्रतिबिम्बरूप स्पन्दन और अस्पन्दन स्वाधीन है, इनमें किसी दूसरे प्रयत्न या श्रम की आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही आत्मा के चेतनअचेतन के विषय में भी जानना चाहिए ॥१८॥

समस्त कल्पनाओं के मूलभूत एक अहंकार की ही परीक्षा कर लेने से मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर समस्त जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, इस आशय से कहते हैं।

ठीक–ठीक देखने पर जिसकी सत्ता नहीं मिलती, जिसका आधारभूत कोई नहीं और जिसका कोई कारण नहीं है, वह 'अहम्' रूप यक्ष कहाँ से उत्पन्न हुआ, यह जाना नहीं जा सकता ॥१९॥ जिस अहंकाररूप यक्ष की वस्तुतः सत्ता ही नहीं है, उसीने इन आप सब लोगों को पराधीन बना डाला है, यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥२०॥ ब्रह्म में काकतालीय न्याय से अकस्मात् ही भ्रान्त यह अहंकार ऐसे भासता है, जैसे कि दृष्टि की भ्रान्ति होने पर आकाश में अपना ही रूप केशोण्ड्रक के रूप में भासता है ॥२१॥

पूर्वोक्त वचनों से जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं।

मैं और यह जगत् दोनों ब्रह्मरूप ही हैं, अतः इस दशा में जगत् की उत्पत्ति एवं नाश दोनों कहाँ से ? इससे हर्ष और विषाद का स्थान ही क्या और किस तरह से ? ॥२२॥

वर्णित दृष्टिसृष्टि कल्पनाओं का अनुवाद कर फलित कहते हैं।

सर्वेश्वर होने के कारण यानी माया शबल होने के कारण ही ईश में प्रचेतित (दृष्ट) हुआ यह संसार भासता है और अचेतित (दृष्टि न हुआ) नहीं भासता है। इसलिए आपको यह जगत् सदा अचेतित ही रहे ॥२३॥ बतलाई गई रीति से यह जगत् भी चिद्रूप है, अतः ब्रह्माकाश ही उस रूप से स्वप्ननगर या संकल्पनगर के सदृश अकस्मात् काकतालीय की नाईं भासता है वस्तुतः वह जगत् ब्रह्म से किस तरह अलग हो सकता है ? यदि ब्रह्म से अलग मान लिया जाय, तो सत्ता का लाभ न होने से अलीक (अत्यन्त असत्) ही हो जायेगा ॥२४॥ जैसे शान्त जल में अप्रकाश्य तरंग आदि हैं, या न खोदे गये काठ में अदृश्य कठपुतलियाँ हैं अथवा भूमि

में अदृश्य घट आदि हैं, वैसे ही ब्रह्म में यह सृष्टि का रूप है ।।२५।। जिसका कोई आकार नहीं है, जो अवयवों से रहित है और स्वच्छ है, उसमें जो कुछ दिखाई देता है, वह तद्रूप ही होता है, इसलिए यह उत्पन्न हुआ अहंकार क्या है और ये जगत् ही क्या है ? ।।२६।।

अलग सत्ता न होने से भी वह वही है, यह कहते हैं।

जैसे पवन का स्पन्दवैचित्र्य पवनसत्ता के ही अधीन है, वैसे ही अविद्यारहित ब्रह्म के अहम् आदि और जगत् आदि उसकी सत्ता के अधीन हैं ।।२७।। जैसे आकाश में वृक्ष, हाथी, घोड़े आदिका रूप दिखाई पड़ता है, वैसे ही अवयव एवं आकाररहित ब्रह्म में सृष्टि एवं अहंकार का रूप दिखाई पड़ता है ।।२८।। हे श्रीरामभद्र, परब्रह्म में यह सारा जगत् वृक्षशाखा के सदृश भासता है। वट आदि वृक्षरूप कार्य एवं उसके बीज आदि कारण के सदृश जैसे लोक में सूक्ष्म अर्थों के लिए सादृश्य प्रसिद्ध हैं वैसे ही संसार और ब्रह्म का सादृश्य जानिये ।।२९।। हे श्रीरामजी, आप भीतर से शान्त, प्रयत्नों से निर्मुक्त, उपाधि से रहित, भ्रम से शून्य होकर आकाश के समान निर्विक्षेप हो स्थित रहिये, क्योंकि वर्णित रीति से आपसे भिन्न कोई दूसरा जगत् है ही नहीं ।।३०।। न आप हैं, न हम हैं, न जगत् हैं, न आकाश आदि हैं, किन्तु अशेषरूप से परिपूर्ण सर्वोपद्रववर्जित अपरोक्ष ब्रह्म ही स्थित है ।।३१।।

हे भद्र, चैतन्य से अतिरिक्त किसी भी अन्य स्वरूप का निरूपण न हो सकने से सभी पदार्थ जब एकरूप ही सिद्ध हुए, तब विशेष विभ्रम को छोड़कर उक्त परमार्थ सत्यस्वरूप चितिशक्ति ही मैं हूँ, ऐसी मोक्ष के लिए तत्काल ही भावना करनी चाहिए ।।३२।। भद्र, बाह्य पदार्थों के ज्ञान को बन्धन और बाह्य पदार्थों के अज्ञान को मोक्ष जानिये। इसलिए आप भूमिका के अभ्यासरूप विद्वानों के आचरण का उल्लंघन न कर यथास्थित शान्त अवेदनरूप हो जाइये ।।३३।।

तत्त्वज्ञान की दृढ़ता होने पर जड़ अर्थ चेतनरूप ही नहीं होते, यह कहते हैं।

द्रष्टा कभी दृश्य रूप नहीं होता और चितिशक्ति चेत्यरूप नहीं होती चेत्य के अभाव से जगत्–शून्य ब्रह्म में कौन, क्या और किस प्रकार चेतित (प्रकाशित) होगा ? ।।३४।। हे भद्र, द्रष्टा, दृश्य की दशा न रहने से जाग्रदवस्था में ही सुषुप्ति के सदृश तथा शरदाकाश के सदृश शून्य की तरह आप स्थित रहिये ।।३५।। जैसे अज्ञान से पवन और स्पन्दन में भेदप्रतीति होती है वैसे ही अद्वितीय ब्रह्मचैतन्य में अज्ञान से भेद प्रतीत होता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि चिति और अचिति का भेददर्शन ही सृष्टि है तथा ब्रह्मैक्यदर्शन मोक्ष है ।।३६।। जहाँ ब्रह्मरूप वायु से चिति का स्पन्दन होता है वहीं पर सर्ग नाम पड़ जाता है अतः यहाँ जब चिति का स्पन्दन नहीं होगा, तभी वह निर्वाण कहा जायेगा ।।३७।।

द्वैतदर्शन ही सृष्टिरूप है, यह दृष्टान्तों से प्रतिपादन करते हैं।

जैसे बीज अपने भीतर पल्लव आदि स्वरूप का परिज्ञान करता है, वैसे ही महाचैतन्यरूप ब्रह्म अपने भीतर सृष्टिरूप स्वरूप का अनुभव करता है ।।३८।।

ज्ञानकाल में ही ब्रह्मभावनिष्ठा हो जाती है, इसमें भी ये ही दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं।

जैसे पत्र आदि के ज्ञान से बीज पत्र आदिरूप से स्थित हो जाता है, वैसे ही परमचैतन्यरूप ब्रह्म सृष्टिज्ञान से सृष्टिरूप हो जाता है ॥३९॥

वृक्ष के छः भावविकार भी यहाँ दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं।

जैसे चैतन्य के आश्रित भावविकारों के क्रमिक प्रतिभास ही सृष्टिरूप हैं, वैसे ही सभी बीज दृष्टान्त हैं, अतः बीज आदिरूप से स्थित चैतन्य के ही विकाररूप होने के कारण सृष्टियाँ तन्मय हैं ॥४०॥ हे श्रीरामजी, निर्विकार परब्रह्ममय ही यह सब जगत् है, अतः विकाररहित, आदि-अन्त शून्य निरामय चिति ही सब कुछ है, यह आप जानिये ॥४१॥ संकल्पनगर के सदृश यह द्वैत-अद्वैतात्मक जगत् केवल अपना संकल्परूप ही है, अतः अपना संकल्प जब नष्ट हो जाता है, तब यह भी नष्ट हो जाता है ॥४२॥ भद्र, शून्यता और आकाश का भेद जैसा आपने तुच्छ जाना, ब्रह्म और जगत् का भी भेद वैसा ही तुच्छरूप जानिये ॥४३॥ पूर्वसिद्ध महाचैतन्यरूप जो ब्रह्म की सत्ता है, वही अज्ञानसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस आकार को धारण कर अहंकार के रूप से एवं जगत् के रूप से विवर्तित हो जाती है ॥४४॥ इस जगत्-रूप ब्रह्म में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। जल तरंग के सदृश उत्पन्न हुआ भी वास्तव में उत्पन्न नहीं होता है और नष्ट हुआ भी वास्तव में वह नष्ट नहीं होता है ॥४५॥ पदार्थों के रूप से या ब्रह्मरूप से अपने स्वरूप में ब्रह्म ही स्थित है। जैसे कि अपने अवयवों में अवयवी (वृक्ष आदि), आकाश में आकाश और जल में जल स्थित रहता है ॥४६॥

चिति की वास्तविक स्थिति तो निर्विषयक ही है, यह कहते हैं।

एक निमेष के अर्धभाग से एक देश से देशान्तर की स्थिति में जो मध्य में ज्ञान की स्थिति है, उस स्वभाव की ही आप उपासना कीजिए ॥४७॥ हे श्रीरामजी, शास्त्रज्ञ विद्वान् संवित् का एकरूप तो संक्षुब्ध यानी अज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध विवर्तवाला है, यह कहते हैं और दूसरा अक्षुब्ध यानी विवर्तरहित कूटस्थ पूर्णानन्दैकरस है, यों कहते हैं। इन दोनों रूपों में आप अपना कल्याण जिससे चाहते हों, उसमें एकनिष्ठ हो जाइये। बिना परीक्षा किये किसी का ग्रहण कर अविवेकी मत बन जाइए ॥४८॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतीसवाँ सर्ग

प्रपंचसहित तथा प्रपंचरहित ब्रह्मतत्त्व की अखण्ड एक दृष्टि के लिए सत्य और असत्य दोनों तरह के भासमान ब्रह्म के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन।

विरोधाभासोक्तियों से संक्षुब्ध और अक्षुब्ध दो रूपों से युक्त ब्रह्म का विस्तारपूर्वक वर्णन करने की इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पूर्वोक्त उपाय से परिचित अक्षुब्धरूप का उसमें

अपनी दृढ़ स्थिति बनाने के लिए पहले स्मरण कराते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, क्षणभर में ही क्रमशः एक देश से दूसरे अत्यन्त दूर देशतक प्राप्त संवित् का (ज्ञान का) दोनों देशों के बीच में जो निर्मल निर्विषयकरूप है वही परब्रह्म परमात्मा का वह सर्वोत्कृष्ट अक्षुब्धरूप है ॥१॥ हे श्रीरामजी, निरामय होने के लिए यानी निर्वाणपद की प्राप्ति के लिए चलते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, जागते तथा हँसते हुए आप इसी निर्विषय नित्य चिद्रूप में अवश्य तन्मय हो जाइये ॥२॥ जीवन्मुक्तों की स्थिति तथा अपने कुल के आचार के अनुसार सब व्यवहार करते हुए उसी निराभास, सत्य तथा वासना और इच्छादि से शून्य चितिस्वरूप से सुमेरु पर्वत के समान, कदापि चलायमान न होना ही अर्थात् उसमें दृढ़ स्थित रहना ही विद्या है ॥३॥

आगे कही जानेवाली बातों में उपयोगी होने के कारण उस विद्या के विरुद्ध अविद्या का निरूपण करते हैं।

हे श्रीरामजी, अविद्या का एकमात्र यही स्वरूप है कि प्रमाणों द्वारा भलीभाँति विचारपूर्वक देखने से वह कहीं उपलब्ध न हो और विचारपूर्वक देखने से यदि उपलब्ध हो, तो फिर वह परा विद्या ही है ॥४॥ अविद्या के न रहने से चिति और चेत्य (विषय) के भेद का संभव कहाँ ? और भेद न रहने से वह चिति अपने भीतर किस को कैसे प्रकाशित करे ? इसलिए विचारकर देखने से यही प्रतीत होता है कि शान्त, विषयशून्य चिन्मात्रस्थिति ही बलात् उदित है ॥५॥

विद्या और अविद्या दोनों से मिले-जुले रहने के कारण मध्य की भूमिका में आरूढ विवेकी पुरुष की दृष्टि से नियत एक रूपवाला होते हुए भी वह ब्रह्म अनियत-विरुद्ध नाना स्वभाव से युक्त-सा स्थित रहता है, इस तरह के अनेक विरोधाभासों तथा प्रमाण, युक्ति और अनुभव आदि से सर्ग समाप्ति पर्यन्त उसका विस्तृत वर्णन करते हैं।

ब्रह्म और जगत् परमार्थतः एक ही है, परन्तु अज्ञान के कारण अनेक-सा यानी विरुद्ध रूप से स्थित भासता है एवं सर्वत्रव्याप्त, परिपूर्ण और शुद्ध होने पर भी ब्रह्म अपूर्ण और अशुद्ध-सा अज्ञान के कारण ही भासता है ॥६॥ अशून्य होने पर भी प्रलय में शून्य के समान तथा शून्य होने पर भी सृष्टि-काल में अशून्य के समान वह स्पष्ट भासता है। देश और काल से अपरिच्छिन्न होने पर भी वह परिच्छिन्न के सदृश तथा अविस्फारित (विशाल देश, काल आदि से शून्य) होने पर भी वह विस्फारित (विशाल देशकालादि) के समान सद्रूप स्थित है ॥७॥ विकारशून्य होने पर भी वह विकारी के समान, शान्त और समरूप होने पर भी वह अज्ञान के कारण अशान्त तथा असम के समान सा, सत् होने पर भी वह चक्षु आदि से देखने के अयोग्य होने के कारण असत् के सदृश एवं तद्रूप होने पर भी वही ब्रह्म अतद्-रूप-सा उदित जान पड़ता है ॥८॥ विभागशून्य होने पर भी वह भागसहित के तुल्य, जाड्यरूपता को न प्राप्त होने पर भी वह जड़ के समान, विषयों से शून्य होने

पर भी वह विषयभाव को प्राप्त हुए के समान, अंशशून्य होने पर भी वह अंशयुक्त के समान सुशोभित दीखता है ॥९॥ अहंकाररहित होने पर भी अहंकारसहित के समान, अविनाशी होने पर भी नाशवान् के सदृश, कलंकशून्य होने पर भी कलंकयुक्त के समान, विषयरहित होने पर भी विषयसहित के तुल्य वह ब्रह्म भासता है ॥१०॥ स्वप्रकाश होने पर भी सघन अन्धकारयुक्त के समान, पुरातन होने पर भी नवीन के समान, परमाणु से भी सूक्ष्म तथा अनेक जगत् को अपने उदर के भीतर धारण किये हुए वह ब्रह्म स्थित है ॥११॥ सर्वात्मक होने पर भी जिसने यज्ञ, दान, तप, चित्तशुद्धि, वैराग्य, श्रवण, मनन आदि महान् कष्टस्वरूप अपने पुरुष प्रयत्न से सम्पूर्ण दृश्यसमूह का त्याग कर दिया है तथा सांसारिक प्रपंचजाल से शून्य होने पर भी जो सांसारिक प्रपंचजाल से बँधे हुए के समान है एवं अनेक तरह से स्थित होने पर भी जो द्वितीय परिशेषशून्य है ॥१२॥ मायारहित होने पर भी जो मायारूपी किरणसमूह का निर्मल सूर्य है। जलों के स्वामी सागर की नाईं वेदनमात्रस्वरूप होने पर भी जो सम्पूर्ण वेदनों का मानों स्वामी है सर्वज्ञ है। हे श्रीरामजी, उसी को आप ब्रह्म जानिये ॥१३॥ ब्रह्माण्डात्मना जगद्रूप रत्नों का महाकोश अर्थात् अत्यन्त वजनदार होने पर भी विवेक की तराजू पर तौलने से रुई से भी अत्यन्त लघु (हलका) तथा मायारूपी किरणजाल का चन्द्रमा होने पर भी वह ब्रह्म ईक्षणगोचर (दृष्टिका विषय) नहीं है ॥१४॥ काल और देश से अनन्त तथा अपार होने पर भी कहीं एक नियत स्थानपर स्थित न रहनेवाला एवं शून्यस्थान में भी वनविन्यास तथा पर्वत आदि की रचना में तत्पर वह ब्रह्म है ॥१५॥ अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों में वह अत्यन्त सूक्ष्म है, स्थूल पदाथों में वह सबसे अत्यन्तस्थूल है, वजनदार पदार्थों में वह सबसे बढ़कर वजनदार है तथा श्रेष्ठ जितने पदार्थ हैं उन सबमें भी वह सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है ॥१६॥ कर्ता, कर्म और करण से रहित, कारणशून्य, कारक तथा अन्तःशून्य होने के कारण ही यह ब्रह्म चिरकाल से कर्ता आदि से परिपूर्ण स्थित है ॥१७॥ जगद्रूपी रत्नों की पिटारी होने पर भी नित्य जंगल के समान शून्य तथा अनन्त पर्वतों के तुल्य कठिन होने पर भी आकाश के लेश से भी बढ़कर कोमल वह ब्रह्म स्थित है ॥१८॥ प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक कालस्वरूप होने पर भी प्रायः सबसे रहित, पुराण होने पर भी कोमल और नूतन, स्वयंप्रकाशस्वरूप होने पर भी अन्धकार के सदृश तथा जगत् का तिरोभाव करनेवाला होने के कारण अन्धकारस्वरूप होने पर भी स्वयंप्रकाश सर्वत्र व्याप्त वह ब्रह्म स्थित है ॥१९॥ प्रत्यक्ष होने पर भी वह इन आँखों से दुर्लक्ष्य तथा परोक्ष होने पर भी वह साक्षीरूप से सामने स्थित है। चिद्रूप भी जड़ यानी जगद्–रूप से विवर्तित तथा जड़ जगत् आदि के रूप से भासित हो रहा भी वह ब्रह्म वस्तुतः शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप ही स्थित है ॥२०॥ अनहंभाव (युष्मदर्थ का विषय) होने पर भी अहंभावरूप तथा अहंभावरूप से भासित होने पर भी वह अनहंभावरूप एवं इदमर्थ का विषय अन्यरूप होने पर भी वह आत्मरूप ही है तथा अहंरूप (आत्मरूप) होने पर भी वह ब्रह्म अन्य के समान स्थित है ॥२१॥ इस परिपूर्ण

चिद्-रूप सागर के भीतर ये त्रिभुवनरूपी तरंगें द्रवतारूप स्वभाव से स्फुरित हो रही-सी अवस्थित हैं ॥२२॥ जैसे तुषार अपने अंग में शुक्लता धारण करता है, वैसे ही यह चेतन स्थावर-जंगमात्मक सारी सृष्टि को अपने भीतर धारण करता है। जैसे तुषार से शुक्लता सुशोभित होती है, वैसे ही इस चेतन से ही यह सारी सृष्टि शोभित हो रही है ॥२३॥ देश-कालादि के अवयवों से रहित भी यह चिद्रूप देव-रात-दिन असद्रूप जगत् का ऐसे विस्तार करता-रहता है, जैसे कि जल तरंगों का ॥२४॥ इस विस्तृत आकाशरूपी जंगल में प्रसार को प्राप्त हो रहे पंचभूतरूप पत्तों के सहित ये जगद्रूपी पुरानी मंजरियाँ विकसित हो रही हैं ॥२५॥ अत्यन्त निर्मल आकारवाला चिद्रूप यह परमात्मा स्वयं अपना प्रतिबिम्ब (वर्णित जीवजगत् स्वरूप दूसरा आकार) देखने की इच्छा से दर्पणरूपता को प्राप्त हो गया है ॥२६॥ अपरिच्छिन्न ब्रह्मसंवित् में आकाशरूपी गूलर के वृक्ष के फल के सदृश इस ब्रह्माण्ड के अपनी इच्छा से कल्पित तीनों लोक के अवयव में देदीप्यमान सूर्य-चन्द्र आदि अपने से उदित हो रहे चक्षु आदि इन्द्रिय तथा किरणजाल को जीवभूत आत्मा के रूपादिदर्शन में उपकरण बनकर चमत्कृत करते हैं ॥२७॥ वह परमात्मा ही भीतर स्थित वासनामय प्रपंच से बाहर स्थित जगत्स्वरूप से, जाग्रत्-स्वप्न में नानारूप से और सुषुप्ति में एकरूप से भाव और अभाव की यानी आविर्भाव और तिरोभाव की भावना करके स्वयं अपनी आत्मा में ही बाहर और भीतर भासता है, इससे भिन्न अणुमात्र भी दूसरा कुछ नहीं भासता ॥२८॥

अब इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

इस चितिरूप आत्मा में इस चिति की ही इच्छा से चितिरूप पदार्थों की शोभा अपने ही लिए ऐसे चमत्कार कर रही है, जैसे जीभ अपने मुखरूप कोटर में ॥२९॥ इस चितिरूपी जल का जो द्रवत्व है वही यह जगत् है, जिस जगत् के संवित् से ही स्वादपूर्वक उपलब्ध हो रहे रूप, रस आदि एक अंग हैं तथा भुवनरूप आवर्त की जिसमें अनेक वृत्तियाँ हैं ॥३०॥ सूर्य, चन्द्र, अग्निकण आदि सभी प्रकाशों की रूपादि पदार्थशोभा इसी चितिरूपी सूर्य में सुषुप्ति और प्रलय में शान्त हो जाती है तथा जाग्रत् और स्वप्न में, सूर्य आदि के तेज से अपने प्रभामण्डल की नाईं, इसीसे उदित होती है ॥३१॥ तुषार में शुक्लता की नाईं यह ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् है। अतः इसी चितिरूपी ब्रह्म से ये समस्त पदार्थों की शोभाएँ, चन्द्रमा से किरणों की नाईं, प्रवृत्त होती है - विस्तार को प्राप्त होती हैं ॥३२॥ इसी निरवयव चितिरूप रंग से चित्रित यह सम्पूर्ण जगत्स्वरूप चित्र स्थित है। इसलिए हे श्रीरामजी, इस जगत् को आप जन्मादि भावविकारों तथा स्वगत विचित्रताओं से शून्य एवं शान्त चिन्मय ही जानिये ॥३३॥

इसी चितिरूप जंगलीवृक्ष से आकाशरूप आँगन में उत्पन्न लता अनेक जगज्जालरूपी गुच्छों से सुशोभित ये सब दृश्यप्रपंचरूपी शाखाएँ प्रसृत हो रही हैं ॥३४॥ इसी चितिरूपी अचल पर्वत के ऊपर वृद्धि तथा ह्रास से युक्त एवं नाना प्रकार के भिन्नतारूपी अनन्त फूलों से सुशोभित

दृश्यरूपी नदी बह रही है। हे श्रीरामजी, आप इसमें तनिक भी सन्देह न कीजिये ॥३५॥ इसी चिदाकाशरूपी रंगभूमि में भुवन की रचनारूप अभिनय के भ्रमों से युक्त निरन्तर कार्यारम्भ कर रही नियतिरूपी नर्तकी कल्पभेदरूप वासनाओं तथा नित्य महोत्सव के दिनों से नृत्य कर रही है ॥३६॥ जिसके नेत्रों के उन्मेष और निमेष में अनेक ब्रह्माण्डों के महाप्रलय और अवान्तर प्रलय हुआ करते हैं ऐसे कालरूपी अपने बालक को ब्रह्मरूपी रंगभूमि के मायामण्डप के भीतर यही नियतिरूपी नर्तकी बार-बार उपसंहार तथा पुनः-पुनः उत्पन्न कर नाच रही है ॥३७॥ उत्पन्न हो रहे अनेक ब्रह्माण्डों के रहते हुए भी यह चिद्-रूपी परमात्मा इच्छादि विकारों से शून्य शान्त ही ऐसे स्थित रहता है, जैसे सैकड़ों प्रतिबिम्बों के उदित होते हुए भी दर्पण ॥३८॥ जैसे भौतिक सृष्टियों के कारण पंचभूत हैं, वैसे ही स्वयं कारणशून्य यह चिद्-रूप परमात्मा भूत,भविष्य एवं वर्तमान सृष्टियों का कारण है ॥३९॥ इस परब्रह्म परमात्मा का उन्मेष ही जगत् का सौन्दर्य है तथा निमेष ही प्रलय का आगम है। हे श्रीरामजी, सच पूछिये तो, जिसके उन्मेष और निमेष वस्तुतः एक-से हैं वह परब्रह्म परमात्मा अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है ॥४०॥ परिणामतः महान होते हुए भी जो काल, देश और वैभव आदि से भी महान् हैं उन अनेक महामहाब्रह्माण्डों के तथा उनके भीतर अनेक तरह के पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय एवं उनके भीतर प्राणियों के जन्म बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ, जाग्रतादि दशाएँ तथा उत्कर्ष और अपकर्ष की दशाएँ-ये सबके सब इस चिदाकाश में उदित होते-रहते हैं। वे सभी अपरिच्छिन्नस्वरूप इस चिदाकाश के ही रूप हैं, जैसे कि वायु के सभी स्पन्दन वायुरूप ही है, वायु से भिन्न किसी दूसरी वस्तु के स्वरूप नहीं हैं। हे श्रीरामजी, ऐसे समझकर आप शान्त स्थित रहिये ॥४१॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

छत्तीसवाँ सर्ग

इच्छारहित तुच्छ पुरुष का भोग बन्धन के लिए नहीं होता,
एकमात्र इच्छा ही बन्धन है तथा इसका त्याग मुक्ति है, इन सबका वर्णन।

इस संसार में जितने पदार्थ हैं वे सभी एक दूसरे से विरुद्ध और अनेक रूपवाले हैं, परन्तु अविरुद्ध और एकरूप से भासित होते हैं। इनमें इनका प्रथम रूप तो राग-द्वेष आदि के उदय से दुःख का हेतु होने के कारण अनर्थरूप है। परन्तु द्वितीय रूप राग-द्वेष आदि के उपशम द्वारा मोक्ष में अत्यंत उपयोगी है, यह दिखलाते हैं।

सांसारिक जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब, जल में आवर्त की नाईं, भिन्न-भिन्न स्वरूप के होकर पहले चमत्कार पैदा करते हैं यानी इच्छाओं के उत्पादन द्वारा चित्त को भ्रम में डाल देते है। उसके बाद वे राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति होने से नरक आदि के रूप में पर्यवसित हो जाते हैं। जैसे

सभी तरंग एकमात्र जलस्वरूप हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः एक स्वभाव के हैं और एकरूप के होते हुए ये न तो किसी तरह का भ्रम पैदा करते हैं और न किसी तरह का अनर्थ ही पैदा करते हैं ॥१॥

उसका वह अविरुद्ध रूप क्या है, जिस रूप से वे एक स्वभाव के होते हैं, यह दिखलाते हैं।

इस सम्पूर्ण विश्व की सत्तामात्ररूप परमाकाशता ही उनका रूप है। और वह सम्पूर्ण विषयरूप ज्ञेय पदार्थों से निचोड़कर जो सन्मात्र ज्ञेय वस्तु रहती है उसी रूप की है। यही कारण है कि वह परम समाधिरूपी उपशम से ही लक्षित होती है ॥२॥

प्रसिद्ध आकाश में बालबुद्धिवेद्य यक्ष, पिशाच आदि का भीषणरूप तथा बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धि से वेद्य शुद्ध रूप दृष्टान्तरूप से प्रसिद्ध ही है यह कहते हैं।

हे श्रीरामजी, बालक के चिंतन से कल्पित यक्ष, पिशाच आदि का रूप जैसे सामने आकाश में प्रौढ़ विद्वान् की दृष्टि में कुछ भी नहीं है वैसे ही मुझ विद्वान् की दृष्टि में् तत्त्वतः यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है। परन्तु यही संसार अज्ञानियों की दृष्टि में सत्य प्रतीत होता है ॥३॥ पत्थर में खुदी गई चित्रगत सेना की नाईं यह सारा विश्व बाह्य आन्तर विषय से रहित है। अतः विद्वानों की दृष्टि से यहाँ विश्वता कैसी ? परन्तु अज्ञानियों की दृष्टि से तो यहाँ रूपालोक, मनन आदि सब कुछ भासते ही हैं ॥४॥

रूपालोक और मनन आदि का यानी बाह्य और आभ्यन्तर सबका तत्त्वतः विचार करने पर जब चिन्मात्र से अतिरिक्त रूप ही दुर्लभ है तब इनसे विश्वता की सिद्धि तो बहुत दूर ही है, यह कहते हैं।

विचार कर देखने से रूपालोक और मनस्कार अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थों का सार चिन्मात्र ही है। क्योंकि चिन्मात्र से अतिरिक्त, द्वितीय आकाश की नाईं, वह उपलब्ध नहीं होता। इसलिए यहाँ विश्वता (संसारता) ही कहाँ ? ॥५॥ इसलिए ज्ञाता पुरुष का जगत् को जगद्रूप से जानना ही जगत् की भ्रान्ति है तथा जगत् को जगद्रूप से न जानना ही सारे भ्रमों की शान्ति है। अतः हे श्रीरामजी, स्मृति और विस्मृति जैसे आपके अधीन है, वैसे ही इस संसार को जानना और न जानना भी आपके अधीन है ॥६॥

यह जो ऊपर कहा गया है, इसको विशदरूप से कहते हैं।

विस्तृत आकारवाले चिदाकाश के परमाकाशरूप होने से उसके स्वभाव में किसी तरह का कोई परिवर्तन कहीं पर भी संभव नहीं है। इसमें कारण यह है कि चिति कदापि जड़ नहीं हो सकती और न आकाश ही मूर्तिमान् हो सकता है ॥७॥

चूँकि यह जगत् ब्रह्मसाक्षात्कार से बाध्य है, इसलिए भी यह ब्रह्म का विकार नहीं हो सकता, यह कहते हैं।

चिन्मय इस विश्व की स्वभावविकारिता कुछ भी नहीं है, क्योंकि जो विकारिता विचारदृष्टि से

देखने पर भी दिखाई नहीं पड़ती, वह इसकी क्या हो सकती है ? ॥८॥

जिस न्याय से अभिमन्तव्य के विकार का निरास किया गया है, उसी न्याय से अभिमन्ता के विकार का भी निरास करना चाहिए, यह कहते हैं।

जो कुछ 'तुम, मैं' इत्यादिरूप यह संसार दिखाई दे रहा है, वह सब सद्रूप चिदाकाश ही है। इस चिदात्मा में अहंकार आदि विकार और बाध कुछ भी नहीं है, इसलिए चिति से व्यतिरिक्त कोई पदार्थ कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता ॥९॥ त्वत्ता और अहन्तादि सब विभ्रम शान्त, शिव तथा शुद्ध ब्रह्मरूप ही हैं अतः आकाश में उत्पन्न जंगल की तरह उन्हें मैं कुछ भी नहीं देखता ॥१०॥ हे श्रीरामजी, इस तरह जो मेरा उपदेश वचन है उसे भी आप संविदाकाशरूप शून्य ही समझिये, क्योंकि यह मेरा वचन आपकी संविदाकाशरूप आत्मा में ही स्वयं स्थित रहता है, जड़स्वरूप में नहीं ॥११॥ इस तरह प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता–इन तीनों के चिन्मात्ररूप सिद्ध होने पर, चित्र, में स्थित पुरुष के तथा पाषाण के भीतर खुदे गये पुरुष के आसन की तरह, इच्छा और विषय आदि के अभाव से इच्छा के उदय के बिना जो अवस्थान है उसी को ब्रह्मरूप परमपद कहते हैं ॥१२॥

इच्छा के अभाव में भी जीवन के हेतुभूत व्यवहार की सिद्धि बतलाते हैं।

वही विश्रान्तचित्त जीवन्मुक्त मुनि है, जिसकी चेष्टा प्रारब्ध प्राप्त कर्मों में इच्छाशून्य तथा बिना व्याकुलता के, कठपुतली के समान होती रहती है ॥१३॥

इस तरह के व्यवहार से जीवन–धारण कर रहे ज्ञानी पुरुष को जगत् की प्रतीति कैसे होती है, यह कहते हैं।

जीवन्मुक्त ज्ञानी को बाहर और भीतर से शून्य, रसहीन, वासनारहित; बाँस की नली के सदृश, इस जगत् का जीवन भासता है ॥१४॥ जिसे यह दृश्यप्रपंच नहीं रुचता और चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अपने हृदय के भीतर रुचता है वह बाह्य और आभ्यन्तर से शान्तमुनि संसार सागर से मानों पार हो गया ॥१५॥ प्रस्तुत प्रारब्धशेषक्षय के अनुपयोगी शब्दों के उच्चारण से रहित, व्यवहारों में तथा उन व्यवहारों के अंगभूत देहादि में अहन्ता, ममता के सम्बन्ध से रहित, माधुर्यरस से परिपूर्ण, बाँसुरी की ध्वनि के समान, वासनात्यागपूर्वक आप लोग वाणी से शब्दों का उच्चारण करते रहें ॥१६॥ नट, भट, वेश्या आदिकों के निवासगृह के समान इच्छारहित, मन के उदय से शून्य, वासनारहित तथा अक्षुब्ध हो आप लोग प्रारब्धप्राप्त स्रक्, चन्दन, वनिता आदि स्पर्शनीय विषयों का स्पर्श करते चलें ॥१७॥ इच्छा, भय और एषणाओं से शून्य तथा राग और अभिलाषाओं से रहित हो आप लोग दर्वी (कलछी) के तुल्य अनेक तरह के प्रारब्ध प्राप्त रसों का आस्वाद लेते रहे ॥१८॥ पुनः हे श्रोताओं, आप लोग इच्छारहित, वासनाओं से शून्य तथा अभिमान से रहित हो, वासनाशून्य चित्रगत नेत्र के सदृश, प्राप्त रूपसमूहों का अवलोकन करते रहें ॥१९॥ इच्छा और वासनाओं से रहित होकर घ्राणेन्द्रिय के नजदीक ले जाकर गन्धप्रचुर पुष्पों को, वनवायु के

सदृश, त्याग के लिए सूँघते रहें ॥२०॥ इस रीति से न कहे गये भी कर्मेन्द्रियों से प्राप्त विषयों में पहले की नाईं निःसाररूप से मन को बोधित करके भोगरूपी रोगों की यदि चिकित्सा न की गई, तो फिर दुःख-निवृत्ति की कथा ही क्या है ? बल्कि अनर्थ परम्परा की उत्पत्ति होती ही रहेगी ॥२१॥ जो मनुष्य भोगरूपी विष का आस्वाद लेते हुए प्रसन्नता को प्रतिदिन प्राप्त होता है वह प्रज्वलित हो रही अग्नि में अपनी मूर्तिरूपी तृणपुंज को निरन्तर फेंकता रहता है ॥२२॥

अतः भोगेच्छा का त्याग ही मन की शान्ति में मुख्य हेतु है, यह कहते हैं।

भोगों की इच्छा के त्याग को ही आगमालंकारों ने (वेदान्तवेत्ताओं ने) समाधि कही है। इच्छा के त्याग से जैसा मन शान्त होता है वैसा सैकड़ों उपदेशों से भी शान्त नहीं होता ॥२३॥ इच्छा के उदय से जैसा दुःख होता है वैसा दुःख नरक में भी प्राणी को नहीं होता और इच्छा की शान्ति से जैसा सुख मिलता है वैसा ब्रह्मलोक में भी अनुभूत नहीं होता। (&) ॥२४॥ इच्छामात्र को दुःखदायक चित्त कहते हैं और इच्छा की शान्ति ही मोक्ष कहलाता है। एकमात्र इसी में सकल शास्त्र, तप, नियम और यम पर्यवसित हैं ॥२५॥ जितनी-जितनी और जैसे-जैसे जन्तु को इच्छा उदित होती है, उतनी ही उतनी दुःखों की बीजमुष्टि बढ़ती जाती है ॥२६॥ जैसे-जैसे विवेकज्ञान द्वारा जन्तु की इच्छा सूक्ष्म होती-जाती है, वैसे-वैसे दुःखों की चिन्तारूप विषूचिका (हैजा) भी शान्त होती जाती है ॥२७॥ और जैसे-जैसे मनुष्य की भोगों में इच्छा रागतः सघन बनती-जाती है वैसे-वैसे दुःखों की चिन्तारूपी विषैली तरंगें बढ़ती ही जाती हैं ॥२८॥

उसकी चिकित्सा के लिए धैर्यरूपी पुरुष प्रयत्न ही एकमात्र औषध है और दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं।

यदि अपने पौरुष प्रयत्नरूपी ओषध से धैर्यपूर्वक इच्छारूपी व्याधि की चिकित्सा न की जा सकती, तो यह मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि व्याधि से छुटकारा पाने के लिए दूसरा कोई भी उत्तम औषध इस संसार में विद्यमान नहीं है ॥२९॥ यदि एक ही काल में सभी इच्छाओं का पूर्णरूप से त्याग न किया जा सके, तो फिर थोड़ा-थोड़ा करके उसका धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए, क्योंकि सन्मार्ग का पथिक कभी दुःख नहीं पाता ॥३०॥ जो नराधम, अपनी भोगों की इच्छा को सूक्ष्म बनाने में यत्न नहीं करता, वह प्रतिदिन मानों अपनी आत्मा को अन्धकूप में फेंकता है ॥३१॥

भोग की इच्छा का आत्यन्तिक नाश तो ज्ञान द्वारा उसके मूल का नाश होने से ही हो सकता है, यह कहते हैं।

दुःखरूपी पुष्प और फूल आदि से सुशोभित संसाररूपी लता का बीज इच्छा ही है। वह आत्मज्ञानरूपी अग्नि से भलीभाँति दग्ध हो जाने पर फिर नहीं अंकुरित होती ॥३२॥ इच्छामात्र ही

(&) सुनिये, इस विषय में ययाति ने क्या कहा है :
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

यह संसार है और इच्छा का अवेदन असंत्त्वापादन यानी अभाव ही निर्वाण है। इसलिए भोगों की इच्छा उत्पन्न न हो, इसमें आप लोग यत्न करें और दूसरे नानाविध यत्नों से क्या ? मतलब इधर–उधर भटकते–फिरना बेकार है ॥३३॥

इच्छा की शान्ति में यत्न न होने पर शास्त्रादि के उपदेश भी सब व्यर्थ ही है, यह कहते हैं।

यदि आपकी इच्छा की शान्ति नहीं हुई है, तो फिर शास्त्रों के उपदेश और गुरुओं की प्रतीक्षा निरर्थक क्यों कर रहे हैं ? इच्छा के अभावरूप चित्त को शान्त करने के उपाय का आश्रय आप लोग क्यों नहीं कर रहे हैं ? ॥३४॥ जिसको अपने विवेक से सिर्फ इच्छा का अनुसन्धान न करना दुःसाध्य हो रहा है, उसके लिए गुरुओं के उपदेश तथा शास्त्र आदि सब निरर्थक है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३५॥ जैसे व्याघ्र आदि से भरे जंगल में हरिणी की मृत्यु निश्चित है वैसे ही नानाविध दुःखों का विस्तार करनेवाली इच्छारूपी विषके विकार से युक्त इस संसार में मनुष्यों की मृत्यु बिलकुल निश्चित है ॥३६॥ यदि इच्छा से यह मनुष्य लड़कों–जैसा चंचल न बना दिया जाय, तो उसे आत्मज्ञान के लिए बहुत थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए आप लोग भलीभाँति इच्छा की उपशान्ति ही कर डालें, उसी से वह परमपद ज्ञान प्राप्त होता है ॥३७॥ इच्छा का न होना ही निर्वाण है और इच्छासहित रहना ही मनुष्य के लिए बन्धन है, इसलिए यथाशक्ति इच्छा के ऊपर आप लोग विजय प्राप्त करें। सिर्फ इतना करने में कौन–सी कठिनाई है ? ॥३८॥ जरा, मरण, जन्मादिरूप करंज और खैर की पंक्तियों का बीज इच्छा ही है। उसको अपने भीतर अभ्यस्त शमरूपी अग्नि से आप लोग जला डालें ॥३९॥ जहाँ–जहाँ इच्छा का अभाव है वहाँ–वहाँ मुक्ति है ही। जब तक विवेक वैराग्य आदि उपायों की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक अपने में जितना धैर्य और बल हो, उसके अनुसार उठी हुई इच्छा का नाश करते चलें ॥४०॥ जहाँ–जहाँ इच्छा है वहाँ–वहाँ पुण्य–पापमय दुःखों की राशि तथा निरन्तर फैल रहे करुण क्रन्दन से युक्त बन्धन के पाश हैं ही ॥४१॥ यदि साधु पुरुष का एक क्षण भी भोगों की इच्छा के अभाव के बिना बीत गया, तो चोरों से जिसका सर्वस्व अपहृत हो गया है ऐसे मनुष्य के समान, उसे चिरकालतक रोते रहना ठीक ही है ॥४२॥ जैसे–जैसे इस पुरुष, की इच्छा शान्त होती–जाती है, वैसे–वैसे मोक्ष के लिए कल्याणदायक साधन चतुष्टय उसका बढ़ता ही जाता है ॥४३॥ विवेकशून्य आत्मा की इच्छा को भलीभाँति भोगों के द्वारा जो पूरण करना है वही संसाररूपी विषैले वृक्ष को सींचना है ॥४४॥ हृदयरूपी वृक्ष से यानी आश्रयभूत लकड़ी से उत्पन्न तीक्ष्ण अग्रभागवाली इच्छारूप दुष्कृत अग्नि की शिखाएँ हृदय के अन्दर स्थित चिदाभासस्वरूप जीवरूप पशु को, उनके आश्रयभूत हृदय में किये गये पुण्य–पाप से अर्थात् उनके आश्रय में किये गये दोषअपराध से ही उत्पन्न मानों वैर के कारण, मोहरूपी धुएँ से अन्धा बनाकर तथा स्नेहपाशों से खूब बाँधकर नीचे पटक करके उसके सुख–

दुःखों के कुत्सित बीजों के पात्रभूत अण्डकोशों को चारों ओर से बैंगन की तरह खूब पकाती हैं। पकाते समय उससे छांय–छांय शब्द निकलता है ॥४५॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

भोगों की इच्छा जिससे उत्पन्न ही न हो या उत्पन्न होने पर वह केवल ब्रह्मरूप ही समझी जाय, उस ज्ञानयोग का युक्तियों से वर्णन।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, इच्छारूपी विष का विकार दूर करनेवाले स्पष्टरूप से पहले वर्णित हुए भी योगनामक उपाय को इच्छामूलक सम्पूर्ण अनर्थों की शान्ति के लिए आप फिर सुनिये ॥१॥ हे श्रीरामजी, यदि आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ यहाँ हो, तो आप उसकी बेरोक–टोक इच्छा कीजिये *(उसके लिए हम आपको कुछ नहीं कहते परन्तु आत्मा से भिन्न जब किसी दूसरे पदार्थ की सत्ता ही नहीं है, तो भला बतलाइये तो सही)* आप अपनी इस आत्मा से भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ? कहने का तात्पर्य यह कि जब तक आत्मतत्त्व का भलीभाँति ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक द्वितीय वस्तु में सत्यता की भ्रान्ति से इच्छा का उदय होता है, इसलिए हे श्रीरामजी आत्मज्ञानयोग ही उसकी निवृत्ति में एकमात्र उपाय है ।

यह जगत् सत्य ब्रह्मरूप ही है, मिथ्या नहीं है, यदि ज्ञान से आप ऐसा मानते हों, तो भी ब्रह्म और जगत् इन दोनों में अत्यन्त अभेद होने से त्रिपुटीघटित इच्छा की कभी सिद्धि नहीं हो सकती, यह कहते हैं ।

त्रिपुटी के विभाजक उपाधियों के भेद तथा विभक्त होनेवाले अवयवों के भेद से रहित, सूक्ष्म और आकाश से भी अत्यन्त शून्यरूप जो चिति है, सत्यस्वरूप वही अहमाकार तथा जगदाकार से स्थित है । तो फिर आप उससे भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ॥३॥ वह चिति आकाशरूप है । आकाश ही आकाशरूप विषय और उसका ज्ञाता है । यह जगत् का आभास भी आकाशरूप ही है, तब भला इसमें इच्छा का विषय ही कौन है ?॥४॥

ज्ञान से विषयों के गृहीत न होने पर इच्छा का उदय न होने के कारण, ग्राह्य और ग्राहक के सम्बन्ध के अभाव में ग्रहण की भी सिद्धि न हो सकने से ज्ञानियों को इच्छा होती ही नहीं, यह कहते हैं ।

अज्ञानियों की दृष्टि में प्रसिद्ध ग्राह्य और ग्राहक का सम्बन्ध प्रशान्तचित्त हम लोगों की दृष्टि में किसी भी निमित्त या प्रमाण से विद्यमान नहीं है। इसलिए भी हे श्री रामजी, बतलाइये आप किसकी इच्छा कर रहे हैं ? जिन अज्ञानियों की दृष्टि में वह है, उन्हें भी मैं आत्मा से अलग नहीं जानता, तात्पर्य यह कि सत्त्वदृष्टि से वे भी अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं ॥५॥ यदि किसी तरह ग्राह्य–

ग्राहक सम्बन्ध को स्वनिष्ठ (आत्मनिष्ठ) भी मान लिया जाय, तो भी वह उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि असत् का लाभ कैसे हो ? आज तक किसने चन्द्रमा को काले वर्ण का देखा है ? ॥६॥ तात्त्विक आत्मा में जो अविश्रान्ति है यानी आत्मा में परायण न होना है, बस यही एकमात्र ग्राह्य–ग्राहक आदि त्रिपुटियों की सत्ता है। अशास्त्रीय दृष्टि की अपेक्षा से वे ग्राह्य–ग्राहक अदि सत्य होते हुए भी शास्त्रीय तत्त्वदृष्टि का उदय होने पर न जाने कहाँ चले जाते है ॥७॥ और तत्त्वज्ञान का भी यही स्वभाव है कि असत्यरूप अहन्ता आदि अपना तत्त्व जानकर उस आत्मा में ही चले जाते हैं – लीन हो जाते हैं। द्रष्टा और दृश्य का वह सम्पूर्ण नाश ही विशिष्ट निर्वाण है॥८॥

दृश्यादि और निर्वाण – इन दोनों का परस्पर असहभाव भी स्वभावतः ही है, यह कहते हैं।

निर्वाण में दृश्य आदि नहीं हैं और दृश्य आदि में निर्वाण नहीं है। छाया और धूप की नाईं इन दोनों का परस्पर अनुभव यानी सहानुभव नहीं है॥९॥

क्यों सहानुभव भी नहीं है ? इस पर कहते हैं।

यदि ये दोनों साथ होते, तो परस्पर द्वारा बाधित हो जाने से दोनों असत्य हो जाते। असत्य में निर्वृति नहीं है, क्योंकि विद्वानों को निर्वाण अजर, अमर तथा दुःखशून्य अनुभूत होता है॥१०॥

तब तो सर्वजनप्रसिद्ध दृश्यादि महाकौतुक निर्वाण में दुर्लभ ही होगा, इसका परिहार करते हुए कहते हैं।

दृश्य आदि भ्रमभूत है एवं यहाँ वह कभी सुखप्रद नहीं है। इसलिए हे श्रीरामजी, असत् और अनर्थरूप दृश्यादि की आप भावना न कीजिये, अब निर्वाण में स्थित रहिये ॥११॥ शुक्तिका में चाँदी के समान, विचारकर देखने से जो कुछ उपलब्ध नहीं होता, वह पुरुषार्थ का सम्पादक कभी नहीं है। इस तरह के दृश्य में अपह्नव से क्या हुआ ॥१२॥ दृश्य के सद्भाव में महादुःख है और असद्भाव में महान् सुख है। निदिध्यासन से मननसहित अभाव शब्दज्ञानकृत बाध दृढ़ता को प्राप्त हो जाता है ॥१३॥

अब परम कारुणिक भगवान् वसिष्ठजी दृश्य कौतुक में आसक्त अधम अधिकारियों की, जो श्रोता हैं, बलात् भर्त्सना कर उनकी दृश्यासक्ति का त्याग कराने की इच्छा से कहते हैं।

हे अधम प्राणियों, सम्पूर्ण विकारों की अनाश्रयरूप परमार्थ वस्तु के स्वप्रकाशस्वरूप होने के कारण शास्त्रों एवं आचार्यों के उपदेश से हाथ में स्थित आमलक के समान स्पष्ट स्फुरित रहते उसका अदर्शन क्यों पाते हो, दर्शन क्यों नहीं करते ? क्या अपनी आत्मा को बन्धन में डालने के लिए ही उस दृश्यसमूह को भस्मीभूत नहीं करते ? ॥१४॥ जब कार्यकारणभावादि सब ब्रह्म ही है, तभी तो देहादिपरिच्छिन्न पदार्थों के बाध से विस्तार को प्राप्त चिन्मात्रात्मक प्रत्यगात्मा में ब्रह्मता सिद्ध होती है ॥१५॥ अतएव आकाशस्वरूप सर्वात्मक परिपूर्ण ब्रह्म में कार्य–कारण आदि दृश्य सत्ता को स्वीकार कर जो लोग ब्रह्मज्ञान के लिए अनेक साधन ढूँढ़ते–फिरते हैं उन तार्किक मृगों या

शिष्य मृगों से हमें कोई प्रयोजन नहीं है ॥१६॥ तथा कार्यकारण से परिपूर्ण उक्तियों में ही सर्वस्वभावस्वरूप अविद्या के सिवा और दूसरा क्या हेतु है ? जो वायु के स्पन्दन में हेतु है तथा जो हेतु जल के स्पन्दन में तथा आकाश की शून्यता में है वही हेतु, हे सौम्य, चिदात्मा के सृष्टि आदिरूप होने में है ॥१७॥

यही कारण है कि विद्वान् महानुभावों को, आगे चलकर उसका बाध हो जाने से, सृष्टि आदि के हेतु के निरूपण में निर्लज्ज बनना पड़ता है, यह कहते हैं।

जब कार्यकारण भावादिरूप सब ब्रह्म ही है, तो फिर ब्रह्म में सृष्टियों की कारणता का प्रतिपादन करना निर्लज्जता है ॥१८॥ न तो दुःख है और न सुख है, किन्तु शान्त शिवमय यह जगत् है। जब चिन्मात्रता से भिन्न कुछ है ही नहीं, तब भला इच्छा का उदय कहाँ से ? ॥१९॥ जैसे मिट्टी की देहवाली योद्धाओं की सेना में एकमात्र मिट्टी से अन्य कुछ नहीं है वैसे ही सदात्मक जगत् और अहन्तादिरूप दृश्य में सत् ब्रह्म से इतर और कुछ नहीं है ॥२०॥

यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो फिर उसकी इच्छा भी तो ब्रह्म ही ठहरी, उसकी उत्पत्ति मानने में क्षति क्या है, यों विद्वानों की दृष्टि से श्रीरामचन्द्रजी आशंका करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा : हे मुनीश्वर, यदि बात ऐसी है, तो फिर इच्छा का उदय हो या न हो, (कोई हानि नहीं है,) क्योंकि वह भी तो ब्रह्म ही ठहरी । इसकी विधि और निषेध में कौन-सा मतलब सिद्ध होगा ? (यह कहिये) ॥२१॥

'इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियताम् किं वृथा भ्रमैः' (इच्छा उत्पन्न न हो, इसी में यत्न कीजिये, व्यर्थ भ्रमों से कौन-सा मतलब है), इस पूर्वोक्त यत्न में विधि और निषेध का निवारण रहते हुए भी सचमुच तत्त्ववेत्ताओं की इच्छा का उदय होने पर भी कोई हानि नहीं है। परन्तु विद्या से बाधित उस इच्छा का उदय होना ही दुर्लभ है, यह कहते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : हे श्रीरामजी, आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर संप्रबुद्ध हो जाने पर इच्छा ब्रह्मस्वरूप ही ठहरी है, ब्रह्म से अन्य नहीं । जैसा आपने समझा है, वह सब बिलकुल सत्य है, किन्तु फिर भी आप यह सुन लीजिये कि ॥२२॥ जब-जब आत्मतत्त्वज्ञान उदित होता है तब-तब सांसारिक विषयोपभोग की इच्छा शान्त हो जाती है ॥२३॥ क्योंकि यही वस्तु का स्वभाव है । सूर्य के उदित होने पर जैसे रात बिलकुल शान्त हो जाती है, उदित नहीं होती, वैसे ही ज्ञान का उदय होने पर इच्छा आदि सब शान्त हो जाते है ॥२४॥ जैसे-जैसे ज्ञान का उदय होता है, वैसे-वैसे द्वैत की शान्ति और वासना का विलय होता है, तब भला इच्छा का उदय कैसे हो ? ॥२५॥

मूल का उच्छेद होने से भी तत्त्ववेत्ताओं की इच्छा के उदय का संभव नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं।

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों में वैराग्य आ जाने से जिस पुरुष की इच्छा कहीं उदित नहीं होती,

उसकी यह सांसारिक अविद्या शान्त हो गयी और निर्मल मुक्ति उदित हो गयी ॥२६॥ उस पुरुष को न तो इन दृश्य पदार्थों में वैराग्य उत्पन्न होता है और न उसको राग ही उदित होता है। केवल स्वभाव से ही द्रष्टा और दृश्य की शोभा उसे नहीं रुचती ॥२७॥ काकतालीय योग से यानी आकस्मिक घटना से या अन्य किसी की प्रेरणा से यदि कदाचित् कुछ इच्छा करता भी है, तो फिर वह देहमात्रधारण में साधनभूत शास्त्रों से अनिषिद्ध अन्न आदि की कुछ इच्छा करता है या नहीं भी करता है ॥२८॥ ऐसी परिस्थिति में उस आत्मतत्त्वदर्शी की वह इच्छा या अनिच्छा दोनों ब्रह्मस्वरूप ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अथवा बात यह है कि उस तत्त्वज्ञानी को अभिनवभोग चमत्कार विषयक इच्छा अवश्य नहीं उदित होती या पूर्वकाल में अभ्यस्त हुए लोगों का अनुसरण करने के कारण उसकी स्थिति नियत है ॥२९॥ भद्र, यदि किसी जीव को तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया, तो उसकी इच्छा तत्काल ही निवृत्त हो जाती है, क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के सदृश तत्त्वज्ञान और इच्छा दोनों की स्थिति एक जगह हो नहीं सकती ॥३०॥

इसीलिए रागप्राप्त विधिनिषेध शास्त्रों में वह इच्छाशून्य तत्त्वज्ञानी अधिकृत नहीं होता, यह कहते हैं।

भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष कहीं पर भी विधि-निषेध शास्त्रों का अधिकारी नहीं है, क्योंकि समस्त इच्छाओं से शून्य उस तत्त्वदर्शी को किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये कौन क्या उपदेश दे सकता है ? क्या कहीं अन्ध पुरुष देखनेवाले को 'कूप में नहीं गिरना चाहिए', ऐसा उपदेश दे सकता है ? ॥३१॥

बाह्य इच्छा की निवृत्ति और स्वात्मानन्दानुभव में तृप्ति ये दोनों आत्मज्ञान की प्राप्ति के चिह्न हैं, यह कहते हैं।

सब इच्छाओं का सर्वथा निरास होना और सब लोगों को अभयदान द्वारा प्रसन्न रखना एवं अपने आत्मानन्दानुभव में स्थित रहना तत्त्वज्ञान का चिह्न है ॥३२॥ जब सारा प्रपंच नीरस हो जाता है तब कहीं पर भी तत्त्वदर्शी स्वाद नहीं लेता, तब इच्छा भी बढ़ती नहीं और तभी उसकी मुक्ति भी रहती है ॥३३॥ तत्त्वज्ञान से एकता और अनेकता के झगड़े को छोड़कर जो पुरुष चुपचाप स्थित हो जाता है उस पुरुष के इच्छा, अनिच्छा आदि सभी भाव परब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं।॥३४॥ तत्त्वज्ञान से जिसकी द्वैतबुद्धि नष्ट हो गई है एवं द्वैतनाशरूप वस्तु तथा एकत्वसंख्या से रहित होकर जो पुरुष स्वच्छ, व्यग्रतारहित और शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है उस पुरुष को यहाँ न तो किसी कर्तव्य से प्रयोजन है और न अकर्तव्य से ही प्रयोजन है एवं न तो सब भूतों में किसी प्रयोजन की प्राप्ति ही है ॥३५,३६॥ न तो इच्छा से, न अनिच्छा से, न सद्वस्तु से, न असद्वस्तु से, न अपने से, न दूसरे से और न इन जीवन-मरणों से तत्त्वदर्शी को किसी भी

समय अर्थ का लाभ होता है ॥३७॥ अपना मुक्तस्वरूप जाननेवाले तत्त्वदर्शी को कभी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती । यदि उत्पन्न होती है, तो उसकी वह इच्छा अविनाशी ब्रह्मरूपिणी ही रहती है ॥३८॥ न दुःख है और न सुख ही है, किन्तु यह सारा जगत् अज, आनन्दस्वरूप, शान्त परब्रह्म ही है, इस तरह के निश्चय से जो अपने भीतर पत्थर के सदृश अटल रूप से रहता है उसी को पण्डित लोग तत्त्वज्ञ कहते हैं ॥३९॥ भद्र, पूर्ववर्णित आत्मतत्त्व का निश्चय कर दुःख को निरतिशयानन्दरूप आत्मा की भावना से, विष को अमृत की नाईं, सुखस्वरूप बना रहा धीरात्मा योगी ही प्रबुद्ध कहा जाता है ॥४०॥

तत्त्वबोध के अनुसार जो स्थिति है वही समस्त वस्तुओं की अभ्रान्त स्थिति है, ऐसी स्थिति अज्ञानियों में प्रसिद्ध नहीं हैं, यह कहते हैं ।

जब ब्रह्म में जगत् स्थित हो जाता है, तब आकाश में आकाश, शान्त में शान्त, शिव में शिव, शून्य में शून्य, और सत् में सत् स्थित हो जाता है, विपरीत रूप से कोई पदार्थ किसी में स्थित नहीं रहता ॥४१॥ उक्त रीति से जगत् नहीं है, इस भावना से जब व्यापक विषयशून्य संविद्-रूप आकाश स्थित हो जाता है, तब सबमें एकरूप से रहनेवाला सौम्य शान्त आनन्दमय आत्मा में अहन्ताभ्रम नष्ट हो जाता है ॥४२॥ भद्र, जो यह कुछ स्थावर-जंगमात्मक जगत् दिखाई दे रहा है शान्त आकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है और जो कुछ दिखाई दे रहा है वह दूसरे के मनोराज्य नगर के सदृश तुच्छ है ॥४३॥ अन्य पुरुष के मनोराज्य के कल्पित नगर में तुम्हें भीतर जाने-आने में जैसे किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती, वैसे ही इस जगद्रूप भ्रम में किसी प्रकार की रुकावट तत्त्वज्ञ को नहीं होती ॥४४॥ चूँकि समुद्र, आकाश, पृथिवी, नदी, पर्वत आदि से शून्य आत्मा में द्रष्टा का अन्तःकरण ही समुद्र आदि की शोभा के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए पूर्वोक्त बात सिद्ध है । *(इस विषय में दृष्टान्त है-मृगतृष्णा जलतरंग)* क्योंकि तृषार्त एवं श्रान्त पुरुष का नेत्ररूप करण ही जलशून्य सामने के प्रदेश में मृगतृष्णा-जलतरंगरूप में परिणत हो जाता है ॥४५॥ जो कुछ यह दिखाई दे रहा है वह स्वप्न में बने हुए नगर के सदृश एवं बालक द्वारा कल्पित उन्नत वेताल के सदृश मिथ्या ही है । ऐसी स्थिति में उसमें असत्य को छोड़कर दूसरा सत्यत्व ही क्या है ? ॥४६॥

भ्रान्तिग्रस्त पुरुष स्वयं मिथ्या है, इससे भी भ्रान्ति में मिथ्यात्व है, यह कहते हैं ।

चूँकि सत्यभूत ब्रह्म ही 'अहम्' 'इदम्' इत्यादिरूप से असत्य होकर ही भासता है, इसलिए भ्रान्तिग्रस्त पुरुष के बिना ही यह भ्रान्ति भासती है, अतः भ्रान्ति असत्य (मिथ्या) है ॥४७॥ यह जो जगत् है, वह न सत् है और न असत् तथा न तो सत्-असत् उभयरूप है, इसका तत्त्व भी किसी इन्द्रिय से निर्धारित नहीं किया जा सकता, यह अनिर्वचनीय ही है, इस रूप का होने पर भी गन्धर्वनगर आदि से क्षुब्ध आकाश के सदृश प्रतीत होता है । सारंश यह है कि यदि जगत् को अत्यन्त ही असत् मान लिया जाय, तो शून्यवादियों के मत में ही अपनी गिनती होने

लगेगी, यदि अत्यन्त सत् मान लिया जाय, तो श्रुति और तत्त्ववेत्ताओं के अनुभव के साथ विरोध होगा । यदि सत्–असत् उभयरूप मान लें, तो विरोध होने के कारण एक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म कैसे रह सकते हैं, इस सब बातों से अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत् का स्वरूप अनिर्वचनीय ही मानना होगा ॥४८॥ हे श्रीरामभद्र, यद्यपि तत्त्वबोध के बल से ही भलीभाँति शान्त हो रहे विषयों की इच्छा या अनिच्छा दोनों तत्त्वज्ञानी के लिए समान हैं यानी दोनों का फल समान है, तथापि अनिच्छा का उदय ही विक्षेपशून्य सुखाभिव्यक्ति का हेतु होने से कल्याणकारक है, यह मेरा मन्तव्य है ॥४९॥ भद्र, आकाश में आकाश की नाईं अविकृत चिदाकाश में ही 'आकाशाद् वायुः' (आकाश से वायु) इत्यादि श्रुति–दर्शित क्रम के अनुसार 'अहं जगत्' इत्याकारक चिदात्मा की कलना स्थित है, इसमें वायु में स्पन्दन की नाईं दूसरे किसी कारण की खोज नहीं करना चाहिए ॥५०॥

इन सब बातों से निष्कर्ष यह निकला कि चिति की बहिर्मुखता ही इच्छा, चित्त और संसार है तथा अन्तर्मुखता ही मुक्ति है, यह कहते हैं।

भद्र, चिति की जो बाह्यविषयों की ओर उन्मुखता है, वही चित्त है, वही संसार है और वही इच्छा है तथा बाह्य विषयों की ओर से उन्मुखता को जो हटा देना है, वही मुक्ति है, इस युक्ति को जानकर आप शान्त हो जाइए ॥५१॥

इस स्थिति में सृष्टि या प्रलय दोनों अवस्थाओं में जैसे ईश्वर को कोई हानि या लाभ नहीं होता, वैसे इच्छा या अनिच्छा दोनों अवस्थाओं में तत्त्वज्ञ को कोई हानि या लाभ नहीं होता, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, इच्छा हो या अनिच्छा हो, सृष्टि हो या प्रलय हो, इससे यहाँ किसीकी कुछ भी न क्षति है या न कुछ फल है ॥५२॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं।

इच्छा–अनिच्छा, सत्–असत्, भाव–अभाव तथा सुख–दुःख ये सब कल्पनाएँ उस तत्त्ववेत्ता के स्वरूपभूत चिदाकाश में कुछ हो ही नहीं सकती ॥५३॥ भद्र, जिस महामति को दिन–पर–दिन समस्त इच्छाओं की कमी होती जाती है, विवेक–शम से सन्तुष्ट उस महामति को ही तत्त्वज्ञलोग मोक्षभागी कहते हैं ॥५४॥ इच्छारूपी छुरी से विद्ध हुए हृदय में ऐसी वेदना उत्पन्न होती है कि जिसके लिए ये प्रसिद्ध मणि–मन्त्र आदि महौषध सब कुण्ठित हो जाते हैं ॥५५॥ ब्रह्माजी ने प्राणियों के दुःखों की चिकित्सा करने के लिए जिन औषध, मन्त्र, यन्त्र आदि कार्य–करणों का निर्माण किया है उनकी परीक्षा के लिए पहले ही मैंने विचारपूर्वक प्रयत्न किया, परन्तु उनको मैंने मिथ्याभ्रान्ति के भार से आक्रान्त पुरुष की चिकित्सा करने में समर्थ नहीं पाया ॥५६॥

यदि शंका हो कि भ्रमसिद्ध किसी उपाय से ही भ्रम की चिकित्सा करेंगे, तो इस पर कहते हैं।

यदि यह कहिये कि भ्रान्तिसिद्ध यानी हमारी भ्रान्ति से सिद्ध अवस्तुरूप किसी उपाय से अन्य भ्रान्तिसिद्ध दुःख आदि का निवारण आदि व्यवहार हम कर लेंगे, तो इस पर हमारा यही उत्तर है कि हम लोगों के मनोरथ से सिद्ध अत्यन्त विस्तृत मुख से दूसरे के स्वप्न में सिद्ध विस्तृत पर्वत क्यों नहीं निगला जाता ? ॥५७॥

भ्रान्तिसिद्ध वस्तु असल में असत् होने के कारण पारमार्थिक दुःखनिवारण में सामर्थ्य नहीं रखती, यह कहते हैं।

जिसका विचारमात्र से विनाश हो जाता है, ऐसे भ्रान्तिसिद्ध असत् पदार्थ से यदि व्यवहार मान लें, तो खरगोश के सींग से आकाश क्यों नहीं आच्छादित होता, इससे तत्त्वज्ञानाभिव्यक्त पारमार्थिक ब्रह्म ही सर्वविध भ्रमों के निवारण का उपाय है, दूसरा नहीं, यह भाव है ॥५८॥

अमूर्त मन की भ्रान्तिमात्र यह जगत् मूर्त देहादिभाव को कैसे प्राप्त हो जाता है, इस पर कहते हैं।

जिस प्रकार जाड्यातिशय के कारण यानी अत्यन्त शीतलता के कारण जल पाषाणरूप (बर्फ) को प्राप्त हो जाता है वैसे ही चिदाकाश मन के कारण देहाकारहंभाव से अर्थात् देहादि में अहन्ता के अभिमान से देहाकारता को प्राप्त हो जाता है ॥५९॥ जड़ देहरूप होने पर भी वस्तुतः चितिशक्ति अक्षत ही रहती है, विनष्ट नहीं होती, यही कारण है कि चिद्रूप होने से इस असत्य ही देहिता का वह ऐसे अनुभव करती है, जैसे स्वप्न में अपनी मृत्यु का ॥६०॥

प्रातिभासिक जड़ता का अस्तित्व प्रतिभास के अधीन है, इसलिए प्रातिभासिक जड़ता अनिर्वचनीय है, यह कहते हैं।

जैसे आकाश में नीलत्व अवस्तुरूप होने से असत् है, प्रतिभास के कारण सत्य–सा भासता है, परन्तु वस्तुतः सत्य ही नहीं है वैसे ही इस परमात्मा में यह सृष्टि सत्य–सी भासती है, वस्तुतः वह न तो सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु अनिर्वचनीय है ॥६१॥

यही कारण है कि जगत् और ब्रह्मसत्ता के एकरूप होने से इन दोनों में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं।

जैसे आकाश और शून्यता में एवं जैसे स्पन्दन और वायु में कोई भेद नहीं है वैसे ही एकरूप ब्रह्म और सृष्टि में भी कोई भेद नहीं है ॥६२॥

स्वप्नादिक पदार्थों की नाईं प्रतिभास से अतिरिक्त प्रातिभासिक पदार्थों की उत्पत्ति आदि कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं।

इस परमात्मा में वस्तुतः जगत् आदि कुछ भी न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है। किन्तु केवल निद्राग्रस्त प्राणी के स्वप्न के सदृश भासता है ॥६३॥

इसलिए इसके त्याग और ग्रहण में मनुष्य को अभिनिवेश रखना युक्त नहीं है, यह कहते हैं।

चिदाकाश में पृथिवी आदि के अविद्यमान रहते तथा सृष्टि के एकमात्र प्रतिभासस्वरूप सिद्ध होने पर मनुष्य को उसके त्याग और ग्रहण में भला कौन-सा आग्रह ?॥६४॥

देह के लिए तो पृथिवी आदि का त्याग और ग्रहण हो सकता है, परन्तु जब वे ही दोनों (पृथ्व्यादि और देह) एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होने से असत् हैं, तब तो वे त्याग और ग्रहण भी असत् ही ठहरे, इस आशय से कहते हैं।

पृथिवी आदि कारण सहित यह देह भी एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होने से है ही नहीं, केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अपनी आत्मा में स्थित है ॥६५॥ इसी प्रकार बुद्धि आदि में अपने प्रतिभासक चैतन्यात्मा की अपेक्षा से भेद और अभेद का संभव न होने के कारण 'इससे यह किया जाता है' इस तरह के व्यवहार की असत् भी कारणता आखिर में परमार्थ वस्तु को ही प्राप्त करती है, क्योंकि एकमात्र उसीका संभव है ॥६६॥ इस चिति में कल्प, महाकल्प एवं उनमें होनेवाली सब क्रियाएँ अहेतुक तथा अक्रमिक हैं और वे ऐसे भासित होते हैं, जैसे स्वप्न में क्षणभर में ही अहेतुक तथा अक्रमिक जन्म-मरण आदि शीघ्र भासित होते हैं ॥६७॥

इसका फलितार्थ यह हुआ कि सब चिदाकाश ही है, यह कहते हैं।

चूँकि चिति को सृष्टि का संवेदन अपनी ही आत्मा में होता है और दूसरी जगह नहीं, इसलिए यह सारी पृथिवी चिदाकाशस्वरूप ही है, ये पर्वत सब चिदाकाशरूप हैं, ये अत्यन्त दृढ़ दीवारें और ये सब लोक चिदाकाशरूप ही हैं एवं स्पन्द भी चिदाकाश ही है ॥६८॥ चिदाकाशरूप दीवार में जगद्रूपी महान् चित्र चितिरूपी रंग से ही व्याप्त है। न तो यह चित्र उदय को प्राप्त होता है, न अस्त को प्राप्त होता है, न तो शान्त होता है और न मलिनता को ही प्राप्त होता है ॥६९॥ जगद्रूपी महातरंगों से युक्त द्रवशील चितिरूपी जल में कौन-सा पदार्थ कैसे उत्पन्न हुआ या कौन-सा पदार्थ कब कैसे शान्त ही हुआ ?॥७०॥

तब तो जगत्-रूप से चिति के ही उदय और अस्त होते रहें, हानि क्या है, इस पर 'नहीं' ऐसा कहते हैं।

जब विषयों का सर्वथा असंभव होने से जगत् ही नहीं है, तो फिर जगत् की शून्यता से शोभित, शान्त, महाचिदाकाश में जगद्रूप से चिति के उदय और अस्त ही कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? ॥७१॥

परन्तु यदि मायाविलास दृष्टि से देखते हैं, तो फिर सभी पदार्थों में सर्वरूपता की यथेच्छ उपपत्ति हो जाती है, यह कहते हैं।

ब्रह्मा के सृष्टिरूप में विवर्तित होने पर संवेदन के प्रयोग से यानी विचित्र वासनाओं के अनुसार उत्पन्न संकल्प से तो पर्वत भी आकाशरूप में परिणत हो सकते हैं और आकाश भी पर्वत बन सकते हैं ॥७२॥ संविद्रूप सिद्धौषधचूर्ण के प्रयोग से तो योगीजन आधे निमेष में जगत् को आकाशरूप और आकाश को तीनों जगत् के रूप में कर डालते हैं ॥७३॥ जैसे इस प्रसिद्ध आकाश में असंख्य

सिद्ध संकल्पों से कल्पित नगर परस्पर असंलग्न एवं अन्तर्हित हैं, वैसे ही चिदाकाश में (ब्रह्म में) हजारों वे सृष्टियाँ हैं ॥७४॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं।

जैसे महासमुद्र में अनेक आवर्त परस्पर मिले हुए भी पृथक्–से अवस्थित हैं, वास्तव में वे जल से अतिरिक्त नहीं हैं, वैसे ही महाचिति में असंख्य बड़ी–बड़ी सृष्टियाँ यानी ब्रह्माण्ड परस्पर मिले हुए भी पृथक्–से अवस्थित हैं। पर वास्तव में वे उससे अलग नहीं हैं ॥७५,७६॥ परस्पर छिपे हुए सिद्धों के भिन्न–भिन्न लोकों के अवलोकन के लिए इच्छा से प्रबुद्ध योगी की पहले अपनी उपाधि का मूल चेतन में प्रविलापनकर फिर दूसरे के चित्त में प्रवेश कर उसके लोक में जो अनुप्रवेशरूप प्राप्ति है, वही एक सृष्टि से दूसरी सृष्टि के अवलोकन के लिए भी है, यह विद्वान् लोग (卐) बतलाते हैं ॥७७॥

इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों एवं उनके भोग्य सृष्टियों की विवर्तरूप स्थिति शाश्वत ब्रह्म में ही है, यह कहते हैं।

अविनाशी परम शिव में ये सभी भूत स्थित हैं। उसी में ये सारी सृष्टियाँ बेरोक–टोक ऐसे स्थित हैं, जैसे आकाश में शून्यता के उल्लास ॥७८॥ परमार्थ चिदाकाश के अपने आमोदरूप स्वाभाविक ये सृष्टि के विभ्रम हैं। ये स्फटिकमणि के भीतर दिखाई दे रही रेखाओं की नाईं न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं ॥७९॥ पुष्पों की गन्ध और सिद्धों की भूमि जैसे परस्पर मिली हुई रहने पर भी मिली हुई नहीं रहती, वैसे ही चिदाकाशरूप ये सृष्टियाँ भी हैं ॥८०॥

यही कारण है कि स्थूल संकल्प और मोहवाले पामरजनों की दृष्टि से इस प्रपंच की स्थूल अनुभव के समान स्थिति है तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम संकल्प एवं मोहवाले योगियों की दृष्टि से सूक्ष्मादिभाव से इस प्रपंच की स्थिति है। ऐसी स्थिति में सबको अनुभव एक–सा न होने के कारण अपने–अपने अनुभव के अनुसार सबकी उक्तियाँ सत्य ही हैं, यह कहते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रपंच की स्थिति संकल्पाकाशरूप होने से जिसका जैसा अनुभव है वैसी ही है। इसलिए सूक्ष्म संकल्प एवं मोहवाले योगियों की मननपूर्वक जगत् के विषय में जो कुछ उक्तियाँ हैं, वे बिलकुल सत्य हैं ॥८१॥

अतएव भिन्न–भिन्न वादियों की जो नाना प्रकार की कल्पनाएँ हैं वे भी तत्–तत् वासनाओं से परिपूर्ण संकल्पों के अनुसार ही सत्य हैं। सबके संकल्पों के अनुसार या परमार्थरूप से वे सत्य नहीं हैं, यह भिन्न–भिन्न वादियों को सम्बोधित कर कहते हैं।

न तो विज्ञानवादी बौद्धों की आन्तर विज्ञानमात्र परमार्थवादिता (@) सत्य है और न वैशेषिक

(卐) इस तरह का वर्णन लीलोपाख्यान में हो चुका है।

(@) विज्ञानवादी बौद्धों का सिद्धान्त हैं कि एकमात्र आन्तर विज्ञान ही परमार्थ वस्तु है और कुछ नहीं।

की बाह्यअनर्थवादिता (%) ही सत्य है, किन्तु आप लोगों के संकल्प के अनुसार ये सभी ज्ञान फलीभूत होते हैं ॥८२॥

तब इनमें कौन-सा पक्ष प्रामाणिक है, उसको बतलाते हैं।

वस्तुतः चिति में जो चित्त्व है यानी त्रिपुटी प्रकाशन की (&) शक्ति है, वही भीतर भावित होने पर 'जगत् रूप से भासती है। इसलिए चिति और जगत् में भेद ऐसे उपपन्न नहीं होता, जैसे जल और द्रवत्व में ॥८३॥

कहे हुए का अनुवाद कर प्रकृत में उसकी योजना करते हुए उपसंहार करते हैं।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वाधारकाल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड, उसके अन्तर्गत चौदह भुवन, उन भुवनों के अन्तर्गत अहम् तथा त्वम् आदि भोक्ता, भोक्ताओं के भोगों के उपकरणभूत इन्द्रियसमूह, शब्द, स्पर्श आदि भोग्य विषय और उनमें विचित्र भोग यह सब कुछ ईश्वरात्मक यानी मायिक सर्वज्ञता, सर्वशक्ति आदि से सम्पन्न और परमार्थतः शान्त, एक, अज, अविनाशी चिदाकाशरूप ही है। ऐसा निश्चय होने पर राग आदि किसी का भी सम्भव नहीं है ॥८४॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अड़तीसवाँ सर्ग

चित् और चेत्य (विषय) दोनों के सम्बन्धभ्रम के निरास द्वारा उत्तम युक्तियों से चेतन ही जगत् है यह वर्णन।

चेत्यरूप समस्त जगत् चेतनस्वरूप ही है, इस विषय का उपपादन करनेवाले महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा : भद्र, अपने में मिथ्या ज्ञान से यानी अब्रह्मरूपता के भ्रम से विक्षिप्त हुई चिति जगत् को उस प्रकार देखती है, जिस प्रकार मायादर्शन हेतु अंजन से युक्त आँख आकाश में पर्वतरूपता को और पर्वत के शिखर, वन, हाथी आदि को देखती है ॥१॥

भ्रान्ति से कल्पा गया यह संसार चित्रसृष्टि के सदृश केवल मन की कल्पना से ही क्षुब्ध-सा भासता है, वस्तुतः नहीं, यह कहते हैं।

श्रीरामजी, ब्रह्मसृष्टि और चित्तसृष्टि दोनों समान ही मानी जाती हैं, क्योंकि दोनों सृष्टियाँ असल में परमार्थ ब्रह्म से न भिन्न हैं और न उनमें किसी तरह का क्षोभ ही है ॥२॥

वैसा भले ही हो, इससे प्रकृत में क्या आया ? इस पर कहते हैं।

जैसे दीवार में रहनेवाला चित्र वास्तव में दीवार से अलग नहीं है, परन्तु भ्रान्तपुरुषों के अनुभव से अलग-सा भासता है, वैसे ही ज्ञान में कल्पा गया संसार वास्तव में ज्ञानरूप होने

(%) वैशेषिकों का मत है कि दुःख के हेतुभूत द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात बाह्य ही सत्य हैं।

(&) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के प्रकाशन की।

के कारण ज्ञान से अलग नहीं है, किन्तु भ्रान्त पुरुषों के अनुभवरूप से अलग–सा भासता है। जब यही असली स्थिति है, तब बाह्यअर्थरूपता को भी, ज्ञान की सत्यता के कारण, ज्ञानरूप से सत्यरूप ही मानना चाहिए, यह आप जानिये ।।३।। ऐसी स्थिति में हम लोगों के मत से बाह्य अर्थवाद और विज्ञानवाद में कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों की उक्तरीति से एकता ही है । किसी भी समय चेतन से भिन्न असत् बाह्य प्रपंच की सत्ता हो ही नहीं सकती, यह अकाट्य सिद्धान्त है ।।४।।

जब सम्पूर्ण प्रपंच चिदेकरस है, चिति निरन्तर ही अक्षुब्ध है और समस्त विशेषणों से निर्मुक्त है, तब क्षुब्ध हुए आकाश आदि पंचभूतों की भी शान्ति अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इससे अन्त में पूर्णब्रह्मरूपता ही बच गई, यह कहते हैं ।

क्षोभशून्य तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी से शून्य एवं पूर्णशान्ति से विराजमान, बड़े–बड़े आरम्भों से युक्त, वास्तव में शून्यरूप ब्रह्मसत्ता ही चारों ओर विस्तृत है ।।५।।

यों समस्त क्रियाकारक फलरूप ब्रह्मीभूत जगत् को ही प्रणाम करते हैं ।

यह सब कुछ ब्रह्म के लिए ही है, उसीसे सब कुछ उत्पन्न हुआ है । वही सर्वरूप है, वही चारों ओर व्याप्त होता है, वही सबमें ओत–प्रोत है, नित्य भी वही है, ऐसे सर्वात्मक ब्रह्म को नमस्कार है ।।६।।

व्यवहारकाल में भी चिति के साथ ऐक्यप्राप्ति के बल से ही विषयों का अस्तित्व और प्रकाशन होता है, किसी दूसरे तरीके से नहीं, यह कहते हैं ।

चिन्मय होने के कारण ही घटादिरूप विषय जब प्रमातारूप चैतन्य के साथ वृत्ति द्वारा एक हो जाते हैं, तभी दृश्यरूप देहवाली उस चिति के बल से ही इन घट आदि पदार्थों का प्रकाशन होता है, अन्यथा नहीं ।।७।। इस तरह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन–ये सभी, चिति की एकता के बल से ही जब सिद्ध होते हैं, तब ये चिन्मात्रस्वरूप ही हैं, ऐसी स्थिति में सब जगत् का स्वरूप केवल अनुभवमात्र ही परमार्थ से सिद्ध होता है, यह अर्थ निकलता है ।।८।।

द्रष्टा और दृश्य की एकता में अनुकूल तर्क बतलाते हैं ।

द्रष्टा और दृश्य यदि चिदात्मक साक्षी में एकता प्राप्त नहीं करते, तो ईख खाने में प्रवृत्त पुरुष ईख देखकर और चूसकर भी पत्थर के सदृश उसके स्वाद या माधुर्य का अनुभव नहीं करता, क्योंकि जड़ तो रस का अनुभव कर नहीं सकता और न जड़ रस ही उसके प्रति प्रकाशित हो सकता है ।।९।। जब द्रश्य और द्रष्टा को चिन्मय मानते हैं, तब अनुभव करनेवाली चिति में ही चेत्य (विषय का) अनुभव होगा । जल में गिरा हुआ जलबिन्दु जैसे जल में प्रवेशकर डूब जाता है, वैसे ही चिति में विषय प्रवेश कर डूब जाता है, इसी से 'ईख का माधुर्य चखता हूँ' इस त्रिपुटी का चेतन में प्रवेश होकर ही अनुभव होता है इस प्रकार को छोड़कर दूसरा प्रकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि

जड़ होने पर दो काठ के सदृश अनुभव नहीं होगा ॥१०॥

'दो काठ के सदृश' यह जो व्यतिरेक दृष्टान्त दिया है, उसकी समानता दार्ष्टान्तिक में बतलाते हैं।

एक काठ दूसरे काठ को, अपना जातीय होने पर भी, चेतन की एकता न होने पर जैसे नहीं जान सकता, वैसे ही द्रष्टा भी चेतन की एकता से शून्य दृश्य को नहीं जान सकता ॥११॥

द्रष्टा और दृश्य की जड़ता मान लेने पर कोई भी दो काठ की अपेक्षा उनमें कुछ अधिकता नहीं जान सकते, यह कहते हैं।

काठ की जैसी स्थिति अपने सामने है, वही उनका जड़ रूप है, इससे अतिरिक्त दूसरे किसी रूप को कोई नहीं जानते। अतः कथित तर्क के आधारपर समस्त दृश्य और द्रष्टा चिद्रूप से ही चिद् अभिन्न है, यह सिद्ध हो गया ॥१२॥

यों द्रष्टा और दृश्य जब चेतनरूप सिद्ध हुए, तब दृश्यात्मक जगत् में पृथिवी, वायु, जल आदि का भेद निकल गया और द्रष्टा में स्पन्दन, बुद्धि आदि का भेद निकल गया, इस स्थिति में समस्त जगत् की ब्रह्म के साथ एकता ही सिद्ध हो गई, यह कहते हैं।

दृश्यों में जल, वायु, पृथिवी, पत्थर आदि तथा द्रष्टा में जो स्पन्दन, बुद्धि आदि एवं प्राण जीव आदि भेद हैं, वह महाचेतनरूप से है ही नहीं, क्योंकि महाचेतन में उनका तीनों काल में अस्तित्व नहीं है ॥१३॥

भावनामात्र से कल्पित होने के कारण प्राण आदि भेद मिथ्या हैं, यह कहते हैं।

भद्र, प्राण, बुद्धि आदि जो कुछ अपना अस्तित्व रखते हैं, वह केवल भावना के बल पर ही। भावना तो एक चिति का चमत्कार है, वह इच्छा के अनुसार उदित होता है, अतः भावनामूलक प्राण आदि मिथ्या हैं ॥१४॥ जगत्-रूप से एवं सुषुप्ति-प्रलयरूप से ब्रह्मसत्ता ही स्थित है। आत्मा ही प्रसवशक्ति से आक्रान्त होकर वीर्य और वटबीजरूप में मानों बन गया है अर्थात् सभी भेद ब्रह्म के विवर्तरूप ही हैं, अतः वे मिथ्या हैं ॥१५॥

वट के बीज में प्रसवशक्ति से युक्त सूक्ष्म अविकृत ब्रह्मसत्तावालाभाग और उसमें वटादिविवर्त दिखलाते हैं।

सबके सारभूत अत्यन्त सूक्ष्म भाग से सम्पन्न बीज में जो-जो सारभूत अति सूक्ष्म वस्तु है, वह सब परमात्मा ही है। इसी सारभूत वस्तु से शाखा आदि में तत्-तत् उत्तरोत्तर कार्य में अग्रस्थानीय बीज होता है और वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है ॥१६॥

जो-जो जिससे सूक्ष्म होकर कारणरूप से प्रसिद्ध है, वह सब तो ब्रह्मकोटि में है और जो स्थूल होकर कार्यरूप से प्रसिद्ध है, वह मायाकोटि में है तथा मिथ्या है, यह जानना चाहिए, यह कहते हैं।

ब्रह्म ही सबसे परमअणुरूप है, इसलिए जो-जो जिस-जिस अर्थ से अत्यन्त अणु है, वह सब

तत्-तत् सूक्ष्मवस्तु है, ऐसी स्थिति में सर्वत्र ब्रह्मवस्तु ही स्थित है ॥१७॥

जैसे घट आदि एक-एक द्रव्य अगल-बगल से, ऊपर से नीचे से यानी सभी ओर से द्रव्य रूप ही है, उससे तनिक भी भिन्न पदार्थ नहीं है, वैसे ही सभी पदार्थ यानी जगत् जिस पुरुष के द्वारा जिस किसी रीति से परीक्षा द्वारा देखा गया वह सब सन्मात्ररूप ब्रह्मरूप ही देखा गया, दूसरे रूप का नहीं ॥१८॥

अविकारिता में दृष्टान्त कहते हैं।

सैकड़ों सुवर्ण के रूपों में जैसे सुवर्णत्व ही रहता है, दूसरा नहीं, वैसे ही शान्त ब्रह्म के सैकड़ों जगद्भाव और जीवभावों में शान्त ब्रह्मरूपत्व ही रहता है ॥१९॥

सत् ब्रह्म का सर्गरूप विवर्तों से अलोप नहीं होता, यह बतलाते हैं।

समीपस्थ पुरुष के स्वप्न के मेघ जैसे आपके कुछ नहीं हैं यानी उनसे आपका कुछ लोप नहीं होता, वैसे ही चिदाकाशरूप मेरे सृष्टि, प्रलय आदि महाआरम्भ कुछ भी नहीं हैं, यानी आत्मा में कुछ भी उनसे नहीं होता ॥२०॥ आकाश में कल्पित मलिनता और उसी में कल्पित गन्धर्वपुत्रों की सेना जैसे आकाशरूप ही है, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित यह सारा जगत् एकमात्र शान्त ब्रह्मरूप ही है ॥२१॥ जैसे जल से भूमितल में आर्द्र वट आदि का बीज महान् वट आदि के वृक्षों के रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही हृदय के भीतर संकल्परूप भ्रम ही पहले पुष्प बनकर फिर बाहर जगत्-रूप फल बनकर स्थित हो जाता है ॥२२॥

'यदि परम सूक्ष्म ब्रह्म है और ब्रह्मभाव में स्थिति ही मोक्ष है, तो अणिमा आदि सिद्धियों के सदृश ही मोक्ष हुआ, इस शंका पर कहते हैं।

अहन्ता आदि प्रतिबन्धकों के दूर हो जाने पर आविर्भूत हुए निरतिशयानन्दरूप, एक स्वभावापन्न, सत् ज्ञानी की दृष्टि में ये सब अणिमा आदि सिद्धियाँ जीर्ण-शीर्ण तृण के टुकड़े के सदृश भासती हैं ॥२३॥ तीनों लोकों में देवता, असुर और मनुष्य से युक्त ऐसी किसी वस्तु को मैं नहीं देखता, जो एक रोमांश के सदृश सारे विश्व को समझनेवाले महात्मा के लोभ के लिए हो ॥२४॥ जिस किसी तरह की स्थिति करनेवाले तथा जहाँ कहीं जानेवाले आत्मतत्त्ववेत्ता पुरुष को किसी तरह के द्वैत संकल्प होते ही नहीं ॥२५॥ जिस महामति की दृष्टि में सारा विश्व ही चिदाकाशरूप तथा शून्यात्मक है, ऐसे भोगादिनिमित्त से शून्य तत्त्वज्ञ को किस निमित्त से किसकी इच्छा उत्पन्न होगी ? ॥२६॥ जिसको अशेष विशेषों से शान्ति हो चुकी है तथा जो इच्छाओं से रहित हो गया है, ऐसे वैभव एवं दरिद्रता दोनों को समान देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी की महिमा कौन जान सकता है ? ॥२७॥

भाई, पुत्र आदि के मरणजीवन से उसको हर्ष या शोक नहीं होता, इस आशय से कहते हैं।

ज्ञानवान न मरण-साधनों से मरता है और न जीवन-साधनों से कुछ जीता है । परन्तु

विशुद्ध संवित्स्वरूप, आत्मप्रकाश सम्पन्न तथा चिदाकाशस्वरूप हुए इस महात्मा के असत् भी मरण–जनन अज्ञानीजनों की ही भ्रान्ति से मृगतृष्णा नदी के तटों के सदृश भ्रान्त आत्मा में भासते हैं ॥२८,२९॥ उत्तम परीक्षा कर लेने के बाद, न तो भ्रान्ति रहती है, न परीक्षक रहते हैं और न जन्म–मरण ही रहते हैं, केवल कुछ रहता है, तो वह अविनाशी प्रशान्त ब्रह्म ही रहता है॥३०॥

तत्त्वज्ञानी परीक्षक के उपस्थित रहते आप कैसे कहते हैं कि परीक्षक नहीं रहते ? इस पर कहते हैं ।

जो शान्त आत्माराम सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच से वैराग्य को प्राप्त होकर उपशम को प्राप्त हो गया है, संसारसागर से पार हुआ वह ब्रह्मभाव से विद्यमान भी देह इन्द्रिय आदि से युक्त परीक्षकरूप से असत् के ही (अविद्यमान के ही) समान भासता है ॥३१॥ जिसके मन की गति अस्त हो चुकी है और जो आत्मा में शान्त है उसके ब्रह्मरूप से विद्यमान रहते हुए भी विद्वान् लोग दीपनिर्वाण की नाईं उसको निर्मल निर्वाण समझते हैं ॥३२॥

इसीलिए उसको यह संसार नहीं रुचता, यह कहते हैं ।

बुद्धि आदि से लेकर सम्पूर्ण यह जगत् दृश्य जिसे स्वतः नहीं रुचता आकाश के सदृश शान्त उस पुरुष को उत्तम लोग मुक्त कहते हैं ॥३३॥

यदि आप तत्त्वज्ञ हैं, तो दीपनिर्वाण के सदृश आप निर्वाणस्वरूप है, आप वसिष्ठरूप से कैसे हैं ? इस आशंका पर कहते हैं ।

अविचार से अहं है, विचार से अहं नहीं है । तात्पर्य यह कि अविचार से मैं वसिष्ठरूप से प्रतीत हो रहा हूँ, विचार से कदापि नहीं । अहंभाव के अर्थ का अभाव होने से कहाँ यह जगत् और कहाँ जन्ममरण आदिरूप संसृति ? ॥३४॥

अहमर्थ का अभाव कैसे ? इस आशंका पर कहते हैं ।

वस्तुतः चिदाकाश ही अपने स्वरूप के अन्यथा ज्ञान से ही बुद्धि आदि के आकार से युक्त हो स्थित है और वही रूपालोकमनोरूप (बाह्य एवं आभ्यन्तर) जगत् को जानता है ॥३५॥ हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे ही समान यथार्थवस्तु के ज्ञान से भ्रान्ति का नाश हो जाने पर आपका मन भी जब सम्पूर्ण पदार्थों से शून्य हो जायेगा, तब सद्रूप सर्वात्मक आपको भी यह सम्पूर्ण आचरण सर्वात्मक शिवस्वरूप ही (निर्वाणरूप ही) अवभासित होगा ॥३६॥

समस्त आचरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं ।

जो कुछ आप कर्म करते हैं, जो कुछ भक्षण करते हैं, जो कुछ हवन करते हैं, जो दान देते हैं, जो तप करते हैं और जो हनन–गमन करते हैं, उन सबको आप अविनाशी शिवरूप ही समझिये ॥३७॥

आचारग्रहण समस्त जगत् का उपलक्षण है, यह कहते हैं।

जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ और दिशाएँ हैं, जो-जो काल, क्रिया और आकाश आदि हैं तथा जो लोकालोक आदि पर्वत हैं, वे सब शिवस्वरूप चिदाकाशरूप ही हैं ॥३८॥ जो कुछ बाह्य और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीन काल है तथा जो जरा, मरण, पीड़ा आदि हैं, वे सब महाचैतन्यरूप शिवमय आकाशरूप ही हैं ॥३९॥ दुःखशान्ति के उपायों के अन्वेषण से रहित, भ्रमशून्य, इच्छारहित, मन वर्जित, मुनि एवं अहंभावरहित होकर जिस प्रकार से मोक्षरूप बनकर आपसे स्थित रहा जा सकता है, उस तरह से स्थित रहिए ॥४०॥ हे श्रीरामभद्र, जिस तरह पवन का स्पन्दन और अस्पन्दन के द्वारा व्यवहार या अव्यवहार होता है, उसी तरह आपका भी इच्छा-मनन से रहित, शान्त, अनन्त ब्रह्म में स्थित तथा भावनारहित ही व्यवहार हो या न हो ॥४१॥ भद्र, जैसे काठ की पुरुषोचित चेष्टा का यन्त्ररूपी घोड़े से निर्वाह होता है और वह जैसे वासनाशून्य, संकल्पशून्य एवं उपद्रवरहित होती है, उसी तरह शास्त्ररूपी घोड़े से आपकी वैसी ही पुरुषोचित चेष्टा का निर्वाह हो ॥४२॥ हे श्रीरामजी, माता, पिता, बन्धुजन आदि के साथ होनेवाला आपका बाह्य-व्यवहार न तो अत्यन्त स्नेह से पूर्ण हो या न एकदम स्नेह से रहित ही हो, किन्तु वह व्यवहार ऐसा हो कि देखनेवालों को यह पता न लगे-है या नहीं, यानी अनिर्वचनीय हो। आप चित्रदीप के सदृश रहिए। चित्रगत दीप चित्रगत तेज से पूर्ण है, परन्तु परमार्थतः तेल से पूर्ण नहीं है, अतः उसका प्रकाश स्नेह (तेल) से पूर्ण है या नहीं, इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता ॥४३॥

उपसंहार दर्शाते हैं।

भद्र, जिसकी वासना मिट चुकी है, जिसको वर्तमान भोगों में कुछ रस नहीं रहा और जिससे भावी भोगों की तृष्णा भी निकल गई - ऐसे विद्वान् के लिए उत्तम शास्त्र के सिवा दूसरा कौन-सा पदार्थ आत्मसुख में विश्रान्ति देनेवाला हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। शरीरधारण तक अंततोगत्वा प्राप्त होनेवाले आवश्यक व्यवहार-काल में उत्तम शास्त्रों का अनुसरण ही चित्तदोषनिवारण तथा विवेकादि के उद्‌बोध द्वारा तत्त्वज्ञान में प्रतिष्ठाकारक है। इसलिए इच्छाशून्य निर्मल तत्त्ववेत्ता का प्रारब्धप्राप्त व्यवहारिक प्रसंगों में वर्णाश्रमोचित आचरण करना एवं शम-दमादि साधनों में भलीभाँति लगा रहना ही - असाधारण चिह्न है, न कि यथेष्टाचरण ॥४४॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त



आध्यात्मिकता का आखिरी सोपान है – **श्री वसिष्ठजी का उपदेश**। यह एकदम ऊँचा है, विहंग मार्ग है। यह अगर जम जाय न, तो सुनते-सुनते बात बन जाय और अगर नहीं जमता तो बार-बार सुनें, बहुत फायदा होगा। धनवान या निर्धन होना, विद्वान या अविद्वान होना, सुंदर या कुरूप होना – ये शाश्वत नहीं हैं। सुरूपता या कुरूपता यह २५-५० साल के खिलवाड़ में दिखती है। शाश्वत तो आत्मा है और उस पर न कुरूपता का प्रभाव है न सुरूपता का, न विद्वत्ता का प्रभाव है न अविद्वत्ता का। तरंग चाहे कितनी भी बड़ी हो लेकिन है तो अंत में सागर में ही लीन होनेवाली और चाहे कितनी भी छोटी हो लेकिन है तो पानी ही। ऐसे ही बाहर से आदमी चाहे कितना भी बड़ा या छोटा दिखता हो किंतु उसका वास्तविक मूल तो चेतन परमात्मा ही है। उस चेतन परमात्मा के ज्ञान को प्रकट करने का काम यह ग्रंथ करता है।

यह वह ग्रंथ है जिससे स्वामी रामतीर्थ को, घाटवाले बाबा को, मेरे गुरुजी (स्वामी श्री लीलाशाहजी महाराज) [illegible] और दूसरे अच्छे-अच्छे उच्चकोटि के महापुरुषों [illegible] अपने आत्मा की मुला[illegible] हुई। इसे पढ़ने-सुनने एवं विचारने से श्रीरामजी [illegible] अनुभव, मेरे गुरुजी [illegible] अनुभव तुम्हारा अनुभव हो जायेगा और '**सत्यं [illegible] अनन्तं ब्रह्म**'। ब्रह्म सत[illegible]रूप, ज्ञानस्वरूप और अनंत है तथा मेरा ही स्वरू[illegible] – ऐसा साक्षात्कार हो [illegible]गा।

स्वा[illegible] रामतीर्थ बोलते थे : '[illegible] (स्वामी रामतीर्थ) के विचार से अत्यंत आ[illegible]चर्यजनक और सर्वोपरि [illegible]ष्ठ ग्रंथ, जो इस संसार में सूर्य के तले कभी लिखे गये, उनमें से 'श्री योगवासिष्ठ' एक ऐसा ग्रंथ है जिसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति इस मनुष्यलोक में आत्मज्ञान पाये बिना नहीं रह सकता।''

– परम पूज्य संत

श्री आसारामजी बापू